कृष्णदास संस्कृत सीरीज

८९

****

महाकविशूद्रकप्रणीतम्

मृच्छकटिकम्

सविमर्श 'भावप्रकाशिका' संस्कृतहिन्दीव्याख्योपेतम्

व्याख्याकारः सम्पादकश्च

प्रो० जयशङ्करलाल त्रिपाठी

एम० ए०, आचार्यः, (लब्धस्वर्णपदकः), पी-एच्० डी०, डी० लिट्०

प्रोफेसर, संस्कृत-विभागः, कलासङ्कायः,

काशी हिन्दू विश्वविद्यालयः, वाराणसी

प्रस्तावकः

डॉ० विश्वनाथ भट्टाचार्यः

भू० पू० प्रोफेसर, संस्कृत-विभागः, कलासङ्कायः,

काशी हिन्दू विश्वविद्यालयः, वाराणसी



कृष्णदास संस्कृत सीरीज

८९

****

महाकविशूद्रकप्रणीतम्

मृच्छकटिकम्

सविमर्श 'भावप्रकाशिका' संस्कृतहिन्दीव्याख्योपेतम्

व्याख्याकारः सम्पादकश्च

प्रो० जयशङ्करलाल त्रिपाठी

एम० ए०, आचार्यः, (लब्धस्वर्णपदकः), पी-एच्० डी०, डी० लिट्०

प्रोफेसर, संस्कृत-विभागः, कलासङ्कायः,

काशी हिन्दू विश्वविद्यालयः, वाराणसी

प्रस्तावकः

डॉ० विश्वनाथ भट्टाचार्यः

भू० पू० प्रोफेसर, संस्कृत-विभागः, कलासङ्कायः,

काशी हिन्दू विश्वविद्यालयः, वाराणसी



कृष्णदास अकादमी, वाराणसी

प्रकाशक : कृष्णदास अकादमी, वाराणसी
मुद्रक : चौखम्बा प्रेस, वाराणसी
संस्करण : चतुर्थ, सम्बत् २०५९, सन् २००२
मूल्य : १२५.००

पोस्ट बॉक्स नं० १११८
के. ३७/११८, गोपाल मन्दिर लेन
गोलघर (मैदागिन) के पास, वाराणसी–२२१ ००१ (भारत)
फोन : ३३५०२०
e-mail : cssoffice@satyam.net.in

अपरं च प्राप्तिस्थानम्

चौखम्बा संस्कृत सीरीज आफिस

पुस्तक प्रकाशक एवं वितरक
पोस्ट बॉक्स नं० १००८, के. ३७/९९, गोपाल मन्दिर लेन
वाराणसी–२२१ ००१ (भारत)
फोन : ३३३४५८ (आफिस), ३३४०३२ एवं ३३५०२० (आवास)
e-mail : cssoffice@satyam.net.in

KRISHNADAS SANSKRIT SERIES

89

*****

MṚCCHAKAṬIKA

OF

ŚŪDRAKA

Edited With

'Bhavaprakasika' Sanskrit-Hindi Commentaries

by

Prof. Jaya Shankar Lal Tripathi

M. A., Acharya (Goldmedalist), Ph. D., D. Litt.

Professor Department of Sanskrit, Faculty of Arts

Banaras Hindu University, Varanasi

Foreword by

Dr. Bishwanath Bhattacharya

Ex. Professor, Department of Sanskrit,

Banaras Hindu University, Varanasi



KRISHNADAS ACADEMY

VARANASI

Publisher : Krishnadas Academy, Varanasi.
Printer : Chowkhamba Press, Varanasi.
Edition : 4th, 2002

Oriental Publishers & Distributors
Post Box No. 1118
K. 37/118, Gopal Mandir Lane
Varanasi-221 001
Phone : 335020
e-mail : cssoffice@satyam.net.in

Also can be had from

CHOWKHAMBA SANSKRIT SERIES OFFICE
K. 37/99, Gopal Mandir Lane
Near Golghar (Maidagin)
Post Box No. 1008, Varanasi-221 001 (India)
Phone : Off. 333458, Resi. : 334032 & 335020
e-mail : cssoffice@satyam.net.in

प्राक्कथन

महाकवि शूद्रक का मृच्छकटिक संस्कृत नाट्यसाहित्य में अपनी विलक्षणता के लिए विश्वविख्यात है। इस विलक्षणता का प्रधान आधार है इस नाट्यकृति के कथानक का वस्तुवादी स्वरूप। भास, कालिदास, भवभूति, हर्ष-जैसे सुप्रसिद्ध नाट्यकारों से अलग हटकर शूद्रक ने जीवन का जो चित्र इसमें प्रस्तुत किया वह सर्वथा नवीन है। नाट्यकार इसमें समकालिक जीवन का एक वास्तविक चित्र प्रस्तुत करना चाहते थे, अतः उन्होंने नाट्य की 'प्रकरण' विधा को चुना, जिसमें कथानक प्रख्यात इतिहास की सीमा में बँधा नहीं होता और कवि की कल्पना को पूर्ण स्वतन्त्रता रहती है। इस स्वतन्त्र कवि-कल्पना के कारण मृच्छकटिक अद्वितीय महत्त्व का अधिकारी है।

नेपथ्य में एक राष्ट्रविप्लव को पृष्ठभूमि के रूप में रख कर इस प्रकरण में उदार व्यापारी चारुदत्त की कथा प्रस्तुत की गई है। चारुदत्त व्यापारी तो अवश्य है, पर अत्यन्त हृदयवान् और दानशील है। दारिद्र्य उसको इसीलिए पीड़ाकर है कि वह किसी की धन से सहायता नहीं कर सकता। दरिद्र चारुदत्त को नायक बनाकर शूद्रक ने गतानुगतिक राजा या देवता के जीवन का इसमें बहिष्कार किया है। उनकी कल्पना क्रान्तिकारी थी। एक गणिका यदि वास्तविक प्रेमवती गृहिणी बनना चाहे तो समाज की क्या प्रतिक्रिया होती है, इसका सुन्दर चित्रण इस प्रकरण में हुआ है। गणिका की माँ से लेकर उसे बलपूर्वक भोगने की इच्छा रखने वाले 'राजश्याल' शकार तक के मनोभाव और कार्यकलाप इस प्रकरण में नाटकीय स्थितियों को उत्पन्न करते हैं और मध्यमवर्ती जन-समाज के साथ राजानुगृहीत लोगों के दुराचरण का एक पूर्णाङ्ग चित्र उभर कर सामने आता है। मूलभूत इस कथानक के समान्तराल राजद्रोह की कथा प्रवाहित है। भ्रष्ट राजा पालक सामने नहीं आता है, पर जुआड़ी, वेश्यागामी, ढोंगी, संन्यासी और चोरों का प्राबल्य—उस भ्रष्ट राजा के कुशासन को उजागर करते हैं। कानून पर भी किस प्रकार दबाव पड़ सकता है इसका भी एक स्वाभाविक चित्रण इस प्रकरण की विशेषता है।

मध्यम और अधम वर्ग के जनसमाज की प्रधानता के कारण यह स्वाभाविक था कि इसमें प्राकृत भाषा का आधिक्य हो। किसी भी दूसरे संस्कृत नाट्य में इतने प्रकार की प्राकृत भाषा का प्रयोग नहीं हुआ है। इससे शूद्रक की

वस्तुवादिता स्पष्ट होती है। वस्तु, नेता तथा रस की दृष्टि से उत्तम कोटि का यह 'प्रकरण' समाज के वास्तविक दर्पण का भी कार्य करता है, अतः शूद्रक को सर्वश्रेष्ठ वस्तुवादी सामाजिक नाट्यकार का सम्मान अवश्य प्राप्य है।

हमारे सहयोगी डॉ० जयशङ्कर लाल त्रिपाठी ने इस प्रकरण का रंगीन संस्करण प्रस्तुत कर प्रशंसनीय कार्य किया है। देशी तथा विदेशी कई विद्वानों ने इसके संस्करण तथा अनुवाद प्रस्तुत किये हैं। उनको ध्यान में रखते हुए ही विद्वान् संपादक ने इस प्रकरण का नया अनुवाद तथा समीक्षात्मक व्याख्यान प्रस्तुत किया है। संपादक-व्याख्याकार डॉ० त्रिपाठी ने रसिक विद्वान् तथा जिज्ञासु छात्र दोनों को ध्यान में रखा है और इसी का सुपरिणाम यह हुआ कि मृच्छकटिक संबन्धी कोई भी ऐसा प्रश्न इसमें छूटा नहीं है, जो जिज्ञासा का विषय हो। विवरणात्मक अनुवाद के साथ-साथ व्याख्यात्मक विश्लेषण के होने से प्रस्तुत संस्करण नितान्त उपयोगी बन गया है। प्रस्तुत संस्करण के प्रत्येक वैशिष्ट्य को अलग-अलग न गिनाते हुए मैं विद्वान् तथा विद्यार्थी दोनों से आग्रह करता हूँ कि वे इस संस्करण को अपनाकर स्वयं इसके उत्कर्ष का निरूपण करें। मैं अपनी ओर से डॉ० त्रिपाठी को इस सारस्वत श्रम के लिए धन्यवाद प्रदान करता हूँ।

—विश्वनाथ भट्टाचार्य

सम्पादकीय

संस्कृत-वाङ्मय में रूपकों का एक विपुल संग्रह है। अति प्राचीन काल से लेकर अद्यावधि अनेक कवियों ने इस दिशा में सराहनीय प्रयास किया है। विदेशों में संस्कृत भाषा के प्रति रुचि जगाने में रूपकों का विशेष योगदान रहा है, इस तथ्य से सभी विद्वान् परिचित हैं।

संस्कृत के अधिकांश रूपक रामायण, महाभारत और किसी महाविभूति के जीवनवृत्त पर आधृत हैं। सामान्य जीवन की यथार्थ घटनाओं को उद्देश्य मानकर लिखे गये रूपकों की संख्या अत्यल्प है। इस सन्दर्भ में महाकवि शूद्रक का 'मृच्छकटिक' सर्वोपरि है। अपने रचनाकाल में इसकी जो भी स्थिति रही हो परन्तु उत्तर काल में इसकी प्रतिष्ठा अनवरत बढ़ती ही गयी। फलतः इसकी गणना एक विशेष श्रेणी के रूपकों में होने लगी।

महाकवि ने 'प्रकरण' के रूप में इसकी रचना की है, जिससे नायक और नायिका के जीवन की सत्य घटनाएँ चित्रित करने में किसी प्रकार की बाधा न हो सके। स्वकालीन समाज के प्रायः प्रत्येक वर्ग की कलई खोलने में कवि ने जिस निर्भीकता का परिचय दिया है, वह सराहनीय है।

इस 'प्रकरण' के लेखक और काल के विषय में बहुत अधिक विवाद है। परन्तु इसकी भाषा, शैली आदि की समीक्षा करने पर यह महाकवि कालिदास से कुछ पूर्व की या समकालीन रचना प्रतीत होती है। यह दश अङ्कों का एक विपुल-काय प्रकरण है। समय-समय पर विभिन्न विद्वानों ने इसकी व्याख्याएँ लिखीं। पृथ्वीधर की व्याख्या अति प्राचीन है। इसमें कहीं विस्तार और कहीं संक्षेप है। जीवानन्द विद्यासागर की व्याख्या अति उपयोगी है। एम. आर. काले का अंग्रेजी अनुवाद और टिप्पणियों के साथ सुन्दर संस्करण है। हिन्दी भाषा में अनेक व्याख्याएँ प्रकाशित हो चुकी हैं।

विगत अनेक वर्षों से अध्यापन-काल में छात्रों की असुविधाओं का अनुभव कर रहा था। एक ऐसे संस्करण की आवश्यकता थी जिसमें ग्रन्थ को शब्दशः समझने में सुविधा हो, गम्भीर स्थलों का तात्पर्य ज्ञात हो सके और समीक्षायोग्य सभी विषयों का व्यवस्थित रूप में ज्ञान हो सके। इन सभी उद्देश्यों को ध्यान में रखकर प्रस्तुत संस्करण बनाया गया है। इसमें प्रत्येक श्लोक के प्रत्येक पद

का अर्थ अलग-अलग लिखा गया है और पूरे श्लोक का वाक्यार्थ अलग से लिखा गया है। इसी प्रकार कठिन गद्यांशों के भी पदार्थ और वाक्यार्थ अलग-अलग लिखे गये हैं। इससे छात्रों को अर्थज्ञान में पूरी सुविधा हो जायगी। जहाँ भी कोई विशेष विचारणीय विषय है उसका विवेचन 'विमर्श' के अन्तर्गत स्वतन्त्र रूप से किया गया है। संस्कृत-व्याख्या में परम्परागत रीति का अनुसरण करते हुए प्रत्येक पद का पर्याय शब्द लिखा गया है। भावार्थ स्पष्ट किया गया है। अलंकारों और छन्दों का भी निर्देश किया गया है। प्रारम्भ में एक विस्तृत भूमिका है। इसमें प्रायः समस्त अपेक्षित विषयों का प्रतिपादन किया गया है। इस संस्करण से जिज्ञासु और छात्र दोनों का यदि अपेक्षित लाभ हो सका तो मैं अपने परिश्रम को सफल समझूँगा।

प्रस्तुत संस्करण के सम्पादन में जिन व्याख्याकारों और समीक्षकों की सहायता ली गयी है उनका मैं हृदय से कृतज्ञ हूँ।

नाट्यशास्त्र-मर्मज्ञ और समीक्षक आदरणीय डॉ० विश्वनाथ भट्टाचार्य, प्रोफेसर संस्कृत-विभाग, कलासंकाय, काशी हिन्दू विश्वविद्यालय ने प्रस्तुत संस्करण सम्पादित करने की प्रेरणा दी और 'प्राक्कथन' लिखकर अनुगृहीत किया। अतः सर्वप्रथम उनके प्रति मैं अपनी हार्दिक कृतज्ञता व्यक्त करता हूँ।

संस्कृत ग्रन्थों के प्रकाशन में अग्रणी 'कृष्णदास अकादमी' के संचालकों का आभारी हूँ, जिन्होने इस विपुलकाय संस्करण को प्रकाशित करवाया। इसके सम्पादनकार्य में प्रिय मित्र डॉ० सुधाकर मालवीय ने बहुत सहयोग दिया। अतः उन्हें भूरिशः धन्यवाद देता हूँ।

मेरा पूरा प्रयास रहा है कि यह संस्करण सर्वातिशायी बने। तथापि प्रमाद, अनवधान, अज्ञान या अन्य किसी कारण से कुछ त्रुटि रह जाना संभव है। निर्मत्सर विद्वान् उन्हें सूचित करके अनुगृहीत करेंगे।

दीपावली
१९४३

विनीत—
जयशङ्कर लाल त्रिपाठी

विषयानुक्रमणी

शब्दसंक्षेप-संकेत

द्र० = द्रष्टव्य
वा०रा० = वाल्मीकीयरामायण
पा०सू० = पाणिनीयसूत्र
पृ० = पृष्ठ
सा०द० = साहित्यदर्पण
मनु० = मनुस्मृति
अ०को० = अमरकोश

भूमिका

संस्कृत-साहित्य में अभिनय-प्रदर्शन के स्रोत वैदिक काल से ही प्राप्त होते हैं। वेदों में स्थित संवादसूक्तों में इस कला के स्पष्ट दर्शन होते हैं। परिशीलन से स्पष्टतया ज्ञात होता है कि रामायण और महाभारत-काल में इस मनोरम कला की ओर लोगों की पर्याप्त रुचि हो चुकी थी।[1] वे इस कला से अच्छी तरह परिचित हो चुके थे। वाल्मीकीय रामायण के अनुसार राजविहीन जनपद में 'नट' और 'नर्तक' प्रसन्न नहीं दिखाई देते थे। इसमें नटों द्वारा सामाजिकों के मनोरंजन का उल्लेख है।[2]

नटसूत्रों की प्रामाणिकता का स्पष्ट उल्लेख पाणिनि (ई. पू. ५००) की अष्टाध्यायी में है।[3] पतंजलि (ई. पू. १५०) के महाभाष्य में क्रिया की वर्तमान-कालिकता का उपपादन करने के लिये 'कंसं घातयति' 'बलिं बन्धयति' आदि में नटों (शोभनिक या शौभिक) का उल्लेख है।[4] महाभाष्य में 'कंसवध' और 'बलिबन्ध' नामक नाटकों का स्पष्ट उल्लेख है। इससे यह कहा जा सकता है कि पतंजलि के समय (ई. पू. १५०) में भारतीय समाज नाटयकला से सुपरिचित होकर इसका आनन्द उठाने लगा था।

आचार्य भरत ने अपने नाटयशास्त्र में यह लिखा[5] है "सांसारिक मनुष्यों को अति खिन्न देखकर इन्द्र आदि देवताओं ने ब्रह्मा के पास जाकर ऐसे वेद के निर्माण करने की प्रार्थना की जिससे वेद के अनधिकारी स्त्री, शूद्र आदि सभी लोगों का मनोरंजन हो। यह सुनकर ब्रह्मा ने चारों वेदों का ध्यान करके ऋग्वेद से पाठ्य, सामवेद से गान, यजुर्वेद से अभिनय और अथर्ववेद से रस लेकर 'नाटयवेद' नामक

---

१. द्र० संस्कृत-साहित्य का इतिहास (बलदेव उपाध्याय) पृ० ४६५
२. नाराजके जनपदे प्रहृष्टनटनर्तकाः। (वा० रा० २।६७।१५)
३. पाराशर्यशिलालिभ्यां भिक्षुनटसूत्रयोः। (पा० सू० ४।५।११०) कर्मन्दकृशाश्वादिनिः। (पा. सू. ४।३।१११)
४. ये तावदेते शोभनिका नामैते प्रत्यक्षं कंसं घातयन्ति, प्रत्यक्षं च बलिं बन्धयन्ति। वर्तमाने लट् (३।२।१११) पर महाभाष्य
५. द्र० संस्कृत-साहित्य का इतिहास पृ० ४६९

पंचम वेद की रचना की ।[1] और इन्द्र से कुशल, प्रगल्भ देवताओं में इसका प्रचार करने को कहा । इन्द्र ने कहा कि देवता लोग नाट्यकर्म में कुशल नहीं हैं । वेदों का मर्म जानने वाले मुनि लोग इसका ग्रहण और प्रयोग करने में समर्थ हैं । तब ब्रह्मा के कथनानुसार भरत मुनि ने अपने पुत्रों को इसकी शिक्षा दी । नाटक में सभी वस्तुओं का प्रदर्शन संभव है ।[2] सर्वप्रथम 'त्रिपुरदाह' और इसके बाद 'समुद्रमन्थन' का अभिनय किया गया । यह विवेचन सिद्ध करता है कि भारत में अति प्राचीन काल में नाटकों की उत्पत्ति दिखाई देती है ।

कुछ विद्वानों ने भारतीय नाटकों के विकास में ग्रीकप्रभाव माना है । इसका प्रमाण 'यवनिका' शब्द का प्रयोग कहा है । परन्तु संस्कृत में 'जवनिका' शब्द का प्रयोग सामान्य पर्दा के अर्थ में प्राप्त होता है । यूनानी शब्द यकारादि है, संस्कृत शब्द जकारादि है । अतः इस आधार पर ग्रीकप्रभाव की कल्पना ठीक नहीं है ।[3]

ग्रीक में सुखान्त और दुःखान्त दो प्रकार के नाटक हैं । किन्तु संस्कृत में केवल सुखान्त नाटक ही लिखे गये । परिमाण की दृष्टि से भी संस्कृत नाटक ग्रीक नाटकों से भिन्न हैं । प्रस्तुत 'मृच्छकटिक' अकेला ही ग्रीक के तीन-चार नाटकों के बराबर है ।

संस्कृत-नाटकों में संस्कृत भाषा के साथ विभिन्न प्राकृत भाषाओं का प्रयोग भी इन नाटकों का साधारण जन तक प्रचार सिद्ध करते हैं । संस्कृत नाटकों में अंकों के द्वारा विभाजन किया जाता है और अंक के अन्त में सभी पात्रों का रंग-मंच से निकालना आवश्यक है । परन्तु ग्रीक नाटकों में ऐसी व्यवस्था नहीं है ।

विदूषक की कल्पना संस्कृत नाटकों की अपनी विशेषता है । यह पात्र केवल मजाक के लिये नहीं होता है अपितु कभी-कभी महत्त्वपूर्ण भूमिका भी निभाता है । मृच्छकटिक का विदूषक भी इसी श्रेणी का है ।

संस्कृत नाटकों की कथावस्तु मौलिक है । ये रामायण और महाभारत पर प्रमुख रूप से आधृत हैं । इनमें ख्यातवृत्त को महत्त्व दिया जाता है ।

---

१. एवं संकल्प्य भगवान् सर्ववेदाननुस्मरन् ।
नाट्यवेदं ततश्चक्रे चतुर्वेदाङ्गसम्भवम् ॥
जग्राह पाठ्यमृग्वेदात् सामभ्यो गीतिमेव च ।
यजुर्वेदादभिनयान् रसानाथर्वणादपि ॥ (नाट्यशास्त्र १।१६,१७)

२. न तज्ज्ञानं न तच्छिल्पं न सा विद्या न सा कला ।
नासौ योगो न तत्कर्म नाट्येऽस्मिन् यन्न दृश्यते ॥ (नाट्यशास्त्र १।११४)

३. द्र० संस्कृत साहित्य का इतिहास पृ० ४७२–७३

ग्रीक नाटकों में (१) स्थानान्विति, (२) कालान्विति और (३) कार्यान्विति प्राप्त होतीं हैं। परन्तु संस्कृत नाटकों में केवल 'कार्यान्विति' पर बल दिया जाता है। ग्रीक नाटकों में 'कोरस' [एक साथ गाने नाचने वालों की टोली] का महत्त्व है। जब कि संस्कृत नाटकों में इसका अभाव है। अकेला सूत्रधार ही नान्दीपाठ के बाद नाटक प्रारम्भ करा देता है।

रंगमंच की दृष्टि से भी दोनों में बहुत अन्तर है। ग्रीक (यूनान) में नाटकों को खुले आसमान में सामान्य जनता के लिये खेला जाता था। जब कि संस्कृत नाटक प्रारंभिक काल से ही कलात्मक प्रेक्षागृहों में खेले जाते थे। इनके निर्माण की दक्षता की जानकारी प्राचीन काल से ही मिलती है। संस्कृत नाटकों का उद्देश्य केवल मनोरंजन कराना ही नहीं है, साथ-साथ शिक्षा देना भी रहा है। इसी प्रकार के ऐसे अनेक अन्तर हैं जो संस्कृत नाटकों पर ग्रीकप्रभाव का खण्डन करते हैं।[1] अतः संस्कृत नाटकों पर ग्रीकप्रभाव मानना अनुचित और अप्रामाणिक है।

संस्कृत में काव्य को सामान्यरूप से दो भेदों में बांटा गया है—(क) दृश्य और (ख) श्रव्य।[2] श्रव्य की अपेक्षा दृश्य का महत्त्व अधिक है। रंगमंच पर जिनका अभिनय करना संभव होता है उन्हें 'दृश्य' काव्य कहते हैं। इसके दो भेद होते हैं—(क) रूपक और (ख) उपरूपक। रूपक को रस, भाव, आदि का आश्रय माना जाता है।[3] इसके दश भेद होते हैं—

नाटकमथ प्रकरणं भाणव्यायोग-समवकारडिमाः।
ईहामृगाङ्कवीथ्यः प्रहसनमिति रूपकाणि दश॥[4]

१–नाटक, २–प्रकरण, ३–भाण, ४–व्यायोग, ५–समवकार, ६–डिम, ७–ईहामृग, ८–अंक, ९–वीथी, १०–प्रहसन।

उपरूपक के भी नाटिका आदि १८ भेद माने गये हैं। कुछ बातों को छोड़कर इनमें भी वे सभी बातें होतीं हैं जो नाटक में मानी जातीं हैं।[5]

---

१. संस्कृत-साहित्य का इतिहास पृ० ४७४–७८

२. दृश्यश्रव्यभेदेन काव्यं द्विधा मतम्। साहित्यदर्पण ६।१

३. अवस्थानुकृतिर्नाट्यं रूपं दृश्यतयोच्यते।
रूपकं तत्समावेशाद्दशधैव रसाश्रयम्॥ दशरूपक १।७

४. साहित्यदर्पण ६।३

५. अष्टादश प्राहुरुपरूपकाणि मनीषिणः।
विना विशेषं सर्वेषां लक्ष्म नाटकवन्मतम्॥ साहित्यदर्पण ६।६

दृश्य काव्य के भेद, उपभेद—वस्तु, नेता और रस के आधार पर किये जाते हैं। परन्तु आधुनिक समीक्षक नाटक में इन तत्त्वों पर भी महत्त्व देते हैं—कथानक, पात्र, उनका चरित्रचित्रण, संवाद, देश तथा काल का निर्णय, भाषा, शैली और अभिनययोग्यता आदि। इन सभी की दृष्टि से मृच्छकटिक की समीक्षा करनी आवश्यक है। परन्तु इन पर विचार करने के पहले इसके विवादग्रस्त विषय 'रचयिता' पर विचार कर लेना अच्छा है।

मृच्छकटिक का रचयिता

यद्यपि उपलब्ध सभी हस्तलेखों और प्रकाशित संस्करणों की भूमिका में मृच्छकटिक का रचयिता 'शूद्रक' नृप को ही माना गया है। परन्तु अभी तक विद्वान इसके रचयिता के विषय में सन्देह करते आ रहे हैं। इस सम्बन्ध में उपलब्ध मत और उनकी समीक्षा यहाँ प्रस्तुत है—

मृच्छकटिक दण्डी की रचना है—पिशेल आदि का मत—

श्री पिशेल महोदय का मत है कि मृच्छकटिक दण्डी की रचना है। उनका यह कहना है कि राजशेखर ने दण्डी के तीन प्रबन्ध माने हैं—

"त्रयो दण्डिप्रबन्धाश्च त्रिषु लोकेषु विश्रुताः।"[१]

इन तीनों में (क) दशकुमार-चरित और (ख) काव्यादर्श के अतिरिक्त तीसरी रचना (ग) 'मृच्छकटिक' है। पिशेल ने अपने मत के समर्थन में ये तर्क दिये हैं—

(१) 'लिम्पतीव तमोऽङ्गानि वर्षतीवाञ्जनं नभः।'[२] यह पद्य उदाहरण के रूप में काव्यादर्श (२।२२६) में है। यही पद्य मृच्छकटिक के प्रथम अंक (१।३४) में भी है। इससे दोनों रचनाओं का एक कर्ता प्रतीत होता है।

(२) दशकुमार-चरित में सामाजिक अवस्था का जैसा वर्णन मिलता है वैसा ही मृच्छकटिक में भी है। दोनों की यह समानता भी दोनों का एक ही कर्ता होना सिद्ध करती है।[३]

पिशेल के उपर्युक्त मत का समर्थन मैकडानल आदि ने भी किया है।

उपर्युक्त मत का खण्डन

दूसरे विद्वानों के मत में पिशेल के मत में कोई ठोस आधार नहीं है 'लिम्पतीव' यह पद्य तो सर्वप्रथम भास के 'चारुदत्त' में मिलता है। वहीं से अन्य कृतियों

१. राजशेखर

२. काव्यादर्श २।२२६, मृच्छकटिक १।३४

३. मृच्छकटिक-भूमिका M. R. काले पृ० १७

में उद्धृत है। सामाजिक अवस्था के वर्णन की समानता भी उक्त मत सिद्ध नहीं कर सकती क्योंकि कभी-कभी परिस्थितिवशात् दो लेखकों के समय में भी एक जैसी सामाजिक दशा मिलना संभव है। और जब से 'अवन्तिसुन्दरीकथा' नामक ग्रन्थ मिल गया है तब से विद्वान इसे ही दण्डी की तीसरी रचना के रूप में स्वीकार करते हैं। अतः पीटर्सन आदि विद्वान पिशेल का मत नहीं मानते हैं।[1]

मृच्छकटिक भास की रचना है—

कुछ विद्वानों की धारणा है कि मृच्छकटिक महाकवि भास की रचना है। महाकवि भास ने अपने 'चारुदत्त' नामक नाटक को ही बाद में परिवर्द्धित करके 'मृच्छकटिक' नाम से प्रसिद्ध कर दिया।[2]

उक्त मत का खण्डन

किन्तु उपर्युक्त मत में कोई ठोस आधार नहीं है। कारण यह है कि जब भास ने अपनी अन्य सभी कृतियों में कर्ता के रूप में अपना उल्लेख किया है तब मृच्छकटिक को 'शूद्रक' नाम से क्यों लिखा? भास को शूद्र मानने की कल्पना भी निराधार है। क्योंकि प्रस्तुत मृच्छकटिक की प्रस्तावना में इसके रचयिता को एक समर्थ और सम्पन्न राजा बताया गया है। वह अनेक विषयों का प्रौढ़ विद्वान भी था। अतः उसे जात्या शूद्र मानना तर्कसंगत नहीं है।

मृच्छकटिक किसी अज्ञात कवि की रचना है—

वास्तव में मृच्छकटिक के रचयिता का ज्ञान करना संभव नहीं है। यह किसी अज्ञात कवि की रचना है। यह मत डा॰ सिल्वालेवी ने प्रस्तुत किया था।[3] इनका यह कहना है कि शूद्रक मृच्छकटिक के रचयिता नहीं हो सकते अपितु किसी अन्य कवि ने इसकी रचना करके अपनी इस रचना की प्राचीनता सिद्ध करने की भावना से शूद्रक की कृति घोषित कर दी। उस कवि ने अपनी कृति को शूद्रक के नाम से क्यों घोषित किया? इस शंका का उत्तर देते हुये सिल्वालेवी का यह कहना है कि वह लेखक वास्तव में कालिदास से अर्वाचीन था किन्तु अपनी कृति को कालिदास से प्राचीन सिद्ध करना चाहता था। अतः कालिदास के आश्रयदाता राजा विक्रमादित्य से भी प्राचीन राजा शूद्रक के नाम से अपनी कृति को प्रसिद्ध कर दिया।

---

१. मृच्छकटिक-भूमिका श्रीनिवास शास्त्री पृ॰ ३
२. मृच्छकटिक-भूमिका M. R, काले पृ॰ १७
३. मृच्छकटिक-भूमिका पं॰ कान्तानाथ शास्त्री तैलंग पृ॰ १०

डा० कीथ आदि कुछ विद्वान भी इस मत का अंशतः समर्थन करते हैं। उनके अनुसार कोई अज्ञात व्यक्ति ही मृच्छकटिक का रचयिता था। शूद्रक कोई वास्तविक व्यक्ति न होकर केवल कल्पित व्यक्ति था।[1]

उपर्युक्त मत का खण्डन

परन्तु अधिकांश समीक्षक उपर्युक्त मत को नहीं मानते हैं। उनके अनुसार मृच्छकटिक को किसी अज्ञात कवि की रचना सिद्ध करने के लिए ठोस आधार और प्रमाणों का होना आवश्यक है। परन्तु इसमें केवल कल्पना के अतिरिक्त कोई प्रमाण नहीं दिखलाई देता है। उपलब्ध सभी प्रकाशित और हस्तलिखित संस्करणों की प्रस्तावना में शूद्रक को ही इसका रचयिता कहा गया है।[2] इसके अतिरिक्त शूद्रक को ऐतिहासिक व्यक्ति न मानकर केवल कल्पित मानना भी प्रमादपूर्ण है।

पं० कान्तानाथ शास्त्री तेलंग का मत

"हमारे[3] विचार से भी शूद्रक 'मृच्छकटिक' के कर्ता नहीं हैं। इसके कर्ता कोई दूसरे ही कवि हैं। ऐसा प्रतीत होता है कि किसी कवि ने भास का 'दरिद्र-चारुदत्त' देखा। उन्हें वह अपूर्ण प्रतीत हुआ। उन पर उसे पूर्ण करने की धुन सवार हुई। उन्होने आवश्यकता और अपनी रुचि के अनुसार 'दरिद्रचारुदत्त' में परिवर्तन किये। उसकी कथा के साथ अपनी कल्पना से रची हुई अथवा गुणाढ्य की 'बृहत्कथा' से ली हुई गोपालदारक आर्यक के विद्रोह की कथा वट थी। इस प्रकार 'मृच्छकटिक' तैयार हुआ। कवि ने अपना नाम जानबूझ कर छिपाया। प्रस्तावना में शूद्रक के साथ 'किल' का प्रयोग यही सूचित करता है। कवि ने इस शब्द का प्रयोग जानबूझ कर किया है। यह भी एक दो बार नहीं, चार-चार बार। तीन बार तो इसका प्रयोग शूद्रक के साथ किया गया है और एक बार चारुदत्त के। प्रस्तावना में शूद्रक का नाम बताने वाले पद्य देने के पहले ही कवि ने लिखा है--"एतत्कविः किल।" इसके बाद पुनः पांचवें पद्य में शूद्रक के साथ 'किल' शब्द है। इस अव्यय का प्रयोग प्रायः 'ऐतिह्य' 'अलीकता' या 'सम्भावना' सूचन करने के लिये पाया जाता है। यह अधिकतर अनिश्चय व्यक्त करता है। यह भी नहीं कहा जा सकता कि यहाँ इसका प्रयोग 'इदं किलाव्याज-

---

१. Sanskrit Drama पृ० १२६

२. मृच्छकटिक-भूमिका श्रीनिवास शास्त्री पृ० २

३. मृच्छकटिक-भूमिका पं० कान्तानाथ शास्त्री तेलंग पृ० ११–१२

मनोहरं वपुः' (शाकु०) की तरह ऐतिह्यादि अर्थों से भिन्न अर्थ का ज्ञान कराने के लिये किया गया है। "लब्धा चायुः शताब्दं दशदिनसहितं शूद्रकोऽग्निं प्रविष्टः', 'बभूव',और 'चकार' के प्रकाश में यहाँ 'किल' शब्द 'ऐतिह्य' आदि अर्थों का ही बोध कराता है। कवि को अपनी आयु का निश्चित प्रमाण कैसे मालूम हो सकता है ? वह कैसे जान सकता है कि आगे चलकर उसकी मृत्यु कैसे और कब होगी ? 'बभूव' और 'चकार' का लिट् लकार भी परोक्ष भूत का बोधक होने के कारण ऐतिह्य आदि अर्थों का ही समर्थन करता है।"

"यहाँ यह भी नहीं कहा जा सकता कि नाटक तो शूद्रक का है, केवल प्रस्तावना के श्लोक दूसरे कवि के द्वारा प्रक्षिप्त हैं। ऐसा मानने का यह अर्थ होगा कि शूद्रक ने अपना नाटक बिना नाम डाले ही चला दिया। इसके अतिरिक्त 'बभूव' और 'चकार' के प्रकाश में यह भी मानना पड़ेगा कि शूद्रक के मरने के बहुत बाद प्रस्तावना के श्लोक डाले गये। ऐसी स्थिति में यह प्रश्न उठेगा कि आखिर शूद्रक ने अपना नाटक अपना नाम दिये बिना ही क्यों चला दिया ? वह तो राजा था। उसे किसी का डर तो था नहीं। इसके अतिरिक्त बहुत दीर्घकाल तक किसी को उसका नाम डालने की क्यों नहीं सूझी ? बहुत लम्बे काल के बाद यह प्रश्न क्यों खड़ा हुआ ? इन प्रश्नों का कोई समुचित उत्तर नहीं मिलता। हमारे विचार से ये श्लोक यदि प्रक्षिप्त होते तो इनका स्वरूप ही दूसरा होता। यदि सच्चे दिल से केवल कवि का नाम स्थायी बनाने तथा उसका परिचय देने के लिये ही ये श्लोक प्रक्षिप्त होते तो इसमें सन्देह उत्पन्न करने वाली विचित्र बातें तथा परोक्षभूत की क्रिया न रखी गयी होती। जिस प्रकार अन्य प्रसिद्ध नाटकों के कवि अपना परिचय देते हैं वैसे ही सच मालूम होने काले श्लोक बना कर मेल मिला दिया होता। अतः हम तो यही मानना श्रेयस्कर समझते हैं कि यह नाटक शूद्रक का नहीं है। किसी दूसरे कवि ने इसे रचकर शूद्रक के नाम से चला दिया है। शूद्रक इतिहासप्रसिद्ध व्यक्ति थे या नहीं, इससे कोई मतलब नहीं है।"

आगे उन्होंने अपना पक्ष प्रस्तुत करते हुये लिखा है कि उस कवि ने अपना नाटक शूद्रक के नाम से क्यों चला दिया--इसके दो कारण हो सकते हैं—(१) उसने सोचा होगा कि इसमें आधा भाग भास का है। यदि इसे मैं अपने नाम से चलाऊँगा तो लोग मुझे चोर कहेंगे। (२) इस नाटक का घटनाचक्र तत्कालीन सामाजिक परिस्थितियों तथा मान्यताओं के विपरीत जान पड़ता है। चारुदत्त तथा शर्विलक जैसे ब्राह्मणों का वेश्याओं के साथ विवाह, ब्राह्मणों का चोर होना, चन्दनक और वीरक जैसे शूद्रों का राज्य के उच्च पदों पर स्थित होना—इत्यादि घटनायें क्रान्तिकारी विचारों की सूचक हैं। अतः यदि वह कवि अपने नाम से

इस नाटक को प्रचलित करता तो समाज और राजा उसकी दुर्गति कर देते। इसी कारण से उसने एक प्राचीन राजा के नाम से अपनी रचना को प्रसिद्ध किया होगा।

उपर्युक्त मत में अनुपपत्तियाँ

माननीय तेलंग जी के उपर्युक्त मत से तो ऐसा प्रतीत होता है कि शूद्रक का 'मृच्छकटिक' के साथ कोई सम्बन्ध ही नहीं है। किसी कवि ने श्रम एवं प्रतिभा से इतनी विशाल और महत्त्वपूर्ण कृति की रचना की हो और वह बिना किसी विशेष कारण अपना नाम छोड़कर अन्य 'शूद्रक' के नाम से प्रसिद्ध कर दे, ऐसी बात बुद्धिगम्य नहीं हैं। ऐसा कोई उदाहरण नहीं दिखाई देता। यह कहा जाय कि क्रान्तिकारी विचार प्रस्तुत करने के कारण उसे राजा या समाज का भय था, तो यह भी तर्कसंगत नहीं है, क्योंकि क्रान्तिकारी को किसी से भय नहीं होता है। 'किल' 'चकार' 'बभूव' आदि शब्दों के प्रयोग अवश्य विचारणीय हैं।

मृच्छकटिक शूद्रक की ही रचना है-परम्परावादी मत

परम्परावादी विद्वानों का मत है कि शूद्रक ही मृच्छकटिक के रचयिता हैं। प्रत्येक नाटक में उसके रचयिता का नाम उसकी प्रस्तावना में प्राप्त होता है। ठीक यही स्थिति मृच्छकटिक में भी है। इसकी भी प्रस्तावना में स्पष्ट शब्दों में 'शूद्रक नृप' को ही इसका रचयिता लिखा है।[1] यहाँ परोक्ष भूतकालिक क्रिया के वाचक 'चकार' 'बभूव' 'अग्नि प्रविष्टः' आदि पदों का प्रयोग सन्देह अवश्य पैदा करता हैं। इन प्रयोगों की उपपत्ति का प्रयास विभिन्न टीकाकारों ने किया है। यहाँ यह भी कहा जा सकता है कि कुछ श्लोक प्रक्षिप्त हों। अथवा लिपिकर्ता आदि के प्रमाद से अशुद्ध हो गये हों। अतः जब तक कोई ठोस आधार और प्रबल प्रमाण उपलब्ध नहीं होता तब तक शूद्रक को ही मृच्छकटिक का रचयिता मानना उचित है।

शूद्रक नृप के पुत्र के आश्रित कवि की रचना है—

ऊपर विभिन्न कल्पनाओं के साथ मेरा एक विनम्र परामर्श है कि मृच्छकटिक का रचयिता शूद्रक नहीं है। ऐसा लगता है कि शूद्रक का पुत्र जब राजा बना तो उसे अपने पिता की प्रसिद्धि स्थिर बनाने का विचार आया और उसने अपने आश्रित किसी महाकवि द्वारा यह रचना करायी। बाद में धनादि देकर अपने पिता का नाम उसमें जुड़वा दिया। चूँकि उस समय राजा शूद्रक नहीं थे। अतः उस कवि ने

---

१. द्र० प्रस्तुत संस्करण की प्रस्तावना के श्लोक।

उनका नाम तो जोड़ दिया किन्तु भूतकालिक क्रियावाची पदों का प्रयोग करके भ्रम उत्पन्न करा दिया। संभव है उसे यह आभास न हुआ हो कि भविष्य में उसके प्रयोगों की समीक्षा करने पर अनेक समस्यायें खड़ी हो जायेंगी।

यदि वास्तव में शूद्रक ही रचयिता होते तो वे आत्मप्रशंसा में इतने श्लोक न लिखते। यदि आत्मप्रशंसा-प्रेमी होते तो 'मृच्छकटिक' की समाप्ति में भी अपना नाम अवश्य लिखते। मुझे जितने भी प्रकाशित संस्करण उपलब्ध हुए, उनमें 'संहारो नाम दशमोङ्कः' इतना ही लिखा है।

अस्तु, जो भी हो, अभी तक यह समस्या ही बनी है। इस विषय में 'इदमित्थम्' कह सकना दुस्साहसमात्र है।

शूद्रक—

जब तक कोई ठोस आधार नहीं प्राप्त होता तब तक शूद्रक को ही मृच्छकटिक का कर्ता मानना चाहिये। परन्तु ऐसा मान लेने पर दूसरा प्रश्न उठता है शूद्रक के व्यक्तित्व के विषय में। मृच्छकटिक की प्रस्तावना में यह स्पष्ट है कि शूद्रक एक प्रौढ़ विद्वान और बलशाली राजा था। वह अनेक विषयों का मर्मज्ञ और वैदिक परम्परा का अनुयायी था। उसने इस प्रस्तुत प्रकरण की रचना की।

भारत में ऐसे अनेक राजा हुये हैं जिनकी साहित्यिक गतिविधियाँ भी उच्च-कोटि की थीं। इनमें समुद्रगुप्त, हर्षवर्धन, यशोवर्मा, मुञ्ज तथा भोज आदि प्रमुख हैं। इन्होंने राजकार्य की व्यस्तता में भी उत्कृष्ट रचनायें कीं। अतः शूद्रक भी राजा होकर इस प्रकरण की रचना कर सकता है, इसमें सन्देह नहीं करना चाहिये। प्रस्तावना में 'शूद्रको नृपः' यह स्पष्ट लिखा है।

परन्तु भारतीय समाज में ऐसे भी अनेक कवियों की चर्चा है जिन्होंने राजा द्वारा पुरस्कृत होने पर कृतज्ञतास्वरूप अपनी कृति को उस राजा के नाम से प्रसिद्ध कर दिया। इस बात का स्पष्ट उल्लेख आचार्य मम्मट के काव्य-प्रकाश में काव्य-प्रयोजन की चर्चा के प्रसंग में है "काव्यं यशसे, अर्थकृते' की व्याख्या में लिखा है—"श्रीहर्षादेर्धावकादीनामिव धनम्।" सम्भव है यह स्थिति शूद्रक या उसके पुत्र की राजसभा के किसी पण्डित की भी रही हो। राजशेखर ने इस प्रकार के कुछ राजाओं का उल्लेख भी किया है—"वासुदेव-शातवाहन-शूद्रक-साहसांकादीन् सकलान् सभापतीन् दानमानाभ्यामनुकुर्यात्।" (काव्यमीमांसा) उपर्युक्त तथ्य के आधार पर यह कहा जा सकता है कि स्वयं शूद्रक ने अथवा उसके आश्रित किसी कवि ने या शूद्रक के पुत्र के आश्रित किसी कवि ने मृच्छकटिक की रचना की है और शूद्रक के नाम से प्रसिद्ध कर दी है।

कुछ समय पहले मद्रास में 'अवन्तिसुन्दरी-कथा' नाम का एक ग्रन्थ मिला जिसे विद्वानों ने दण्डी की तीसरी कृति माना। उसमें शूद्रक की प्रशंसा में निम्न श्लोक है—

शूद्रकेणासकृज्जित्वा स्वच्छया खड्गधारया।
जगद् भूयोऽवष्टब्धं वाचा स्वचरितार्थया ॥[1]

इसमें शूद्रक को एक वीर योद्धा कहा गया है। 'वाचा स्वचरितार्थया' इन पदों से यही प्रतीत होता है कि शूद्रक ने अपनी रचना में आत्मकथा प्रतिबिम्बित की है। कुछ विद्वानों का कहना है कि मृच्छकटिक में शूद्रक के जीवन की कुछ प्रमुख घटनाओं का संकेत है। यहाँ का चारुदत्त शूद्रक के मित्र बन्धुदत्त का दूसरा रूप है। और गोपालपुत्र आर्यक के रूप में शूद्रक ने स्वयं को प्रस्तुत किया हैं। परन्तु इस कल्पना में कोई ठोस तर्क या प्रमाण नहीं दिया गया। केवल यही कहा जा सकता है कि शूद्रक एक वीर योद्धा था।

वामन की काव्यालंकार-सूत्रवृत्ति से भी यह संकेत मिलता है कि शूद्रक नाम का कोई कवि था। उसकी रचनायें लोककथाश्रित थीं। अर्थगुणों के विवेचन के प्रसङ्ग में वामन ने श्लेष (घटना) का उल्लेख किया है और शूद्रक की रचनाओं में इस श्लेष का विशेष प्रयोग बताया है "शूद्रकादिरचितेषु प्रबन्धेषु अस्य भूयान् प्रपञ्चो दृश्यते।" (काव्यालङ्कार-सूत्रवृत्ति ३।२।४) इस उल्लेख मे शूद्रक का कवि होना और श्लेष में उसकी दक्षता ये दो बातें प्रमाणित होती हैं।

परन्तु उपर्युक्त उल्लेख से यह अनुमान लगाना कठिन है कि वामन शूद्रक को मृच्छकटिक के रचयिता के रूप में जानता था अथवा नहीं। कारण यह है कि मृच्छकटिक को विशेष रूप से श्लेषगुणयुक्त कहना कठिन है। परन्तु वामन ने सूत्रवृत्ति में ऐसे कई उदाहरण दिये हैं जिनसे यह स्पष्ट है कि वह भी मृच्छकटिक से सुपरिचित था। यह श्लेष गुण श्लेष अलंकार से सर्वथा भिन्न है। अतः वामन के उपर्युक्त कथन से भी यह अनुमान करना सम्भव है कि शूद्रक ने मृच्छकटिक के अतिरिक्त और दूसरी भी रचना की थी।

शूद्रक के विषय में ऐतिहासिक उल्लेख :

संस्कृत-साहित्य में अनेक शूद्रकों का उल्लेख प्राप्त होता हैं। अतः इसको केवल काल्पनिक व्यक्ति मानना ठीक नहीं है। यह शूद्रक विभिन्न प्रसंगों और विभिन्न कालों में चर्चित है। अतः इन शूद्रकों में कौन शूद्रक मृच्छकटिक का रचयिता है—यह कहना कठिन है। इस विषय में निम्न विवेचन उपयोगी होगा—

---

१. मृच्छकटिक भूमिका M. R. काले पृ० २१ में उद्धृत।

(१) स्कन्दपुराण में कुमारिका-खण्ड में यह लिखा है कि कलि सम्वत् ३२९० अर्थात् १९० ई० में शूद्रक नाम का कोई राजा हुआ था।[1] कुछ विद्वान स्कन्द-पुराण में निर्दिष्ट शूद्रक को आन्ध्रवंशीय प्रथम राजा 'सिमुक' से अभिन्न मानते हैं। उनके कथन का आधार है भागवतपुराण में आन्ध्रवंश के प्रथम राजा को 'शूद्र' कहना। यह भी सम्भव हैं कि सिमुक का वास्तविक नाम 'शूद्रक' ही रहा हो। M.R. काले महोदय ने आन्ध्रवंश का प्रथम राजा 'शूद्रक' ही माना है। उसका यह समय आन्तरिक प्रमाणों से भी पुष्ट होता है और उसके पूर्ववर्ती कवि भास के समय से भी मेल खाता है।[2]

(२) आन्ध्रवंश का राज्य दक्षिण भारत में था और वामन की काव्यालंकार-सूत्रवृत्ति के एक टीकाकार के अनुसार 'शूद्रक' भी दक्षिण का था। इस कथन की पुष्टि मृच्छकटिक के अन्तःसाक्ष्यों से भी होती है। दूसरे अंक में 'खुण्डमोटक' शब्द का प्रयोग दक्षिण भारत का है। दशम अंक में चारुदत्त के वध के समय चाण्डालों द्वारा 'सह्यवासिनी' का स्मरण "भगवति सह्यवासिनि ! प्रसीद प्रसीद" भी दाक्षिणात्य होने में प्रमाण है। भवभूति ने भी दुर्गा को इसी नाम से लिखा है। इसके विपरीत उत्तर भारत में विन्ध्यवासिनी' शब्द प्रयुक्त होता है। छठे अंक में वीरक और चन्दनक के कलह में 'दाक्षिणात्य' तथा 'कर्णाटककलहप्रयोग' आदि शब्द यही सिद्ध करते हैं। पैसा के अर्थ में 'नाणक' का प्रयोग भी उक्त कथन की पुष्टि करता है। इससे शूद्रक का दाक्षिणात्य होना सिद्ध होता है।[3] परन्तु कुछ विद्वान उज्जयिनी का विशेष वर्णन देखकर वहीं का मानते हैं। अथवा दक्षिण से आकर वहाँ रहने लगा हो, ऐसा कहते हैं।

राजशेखर के अनुसार 'रामिल' और 'सोमिल' नामक कवियों ने 'शूद्रककथा' नाम का ग्रन्थ लिखा था[4]। यह 'सोमिल' वही प्रतीत होता है जिसका उल्लेख कालिदास ने 'सोमिल्लक' नाम से किया है। इससे ऐसा प्रतीत होता है कि

---

१. त्रिषु वर्षसहस्रेषु कलेर्यातेषु पार्थिव।
त्रिशतेषु दशन्यूनेष्वस्यां भुवि भविष्यति॥
शूद्रको नाम वीराणामधिपः सिद्धिमत्र सः।
चर्चितायां समाराध्य लप्स्यते भूभयापहः॥

२. मृच्छकटिक भूमिका M.R. काले पृ० १९।

३. द्र० मृच्छकटिक-भूमिका श्रीनिवासशास्त्री पृ० १३।

४. तौ शूद्रककथाकारौ रम्यौ रामिलसौमिलौ।
काव्यं ययोर्द्वयोरासीदर्धनारीनरोपमम्॥

'सोमिल' कालिदास से प्राचीन था और शूद्रक इसका समकालीन या इससे पूर्ववर्ती था।

प्रो० कोनो ने आभीरवंश के राजा शिवदत्त को ही शूद्रक बताया है। इनका राज्यकाल ई० की तीसरी शती है। इसका आधार 'गोपालदारक' शब्द है।[१] अन्य कुछ विद्वानों ने भी कुछ शब्दों के साम्यादि को आधार मानकर अनेक कल्पनायें की हैं जिनका कोई विशेष महत्त्व नहीं है।

साहित्यिक उल्लेख :

कुछ ऐसे साहित्यिक उल्लेख यह सिद्ध करते हैं कि उदयन तथा विक्रमादित्य के समान शूद्रक भी एक साहित्यानुरागी राजा था। शूद्रक के नाम से 'विक्रान्त-शूद्रक' 'शूद्रकवध', 'शूद्रकचरित' आदि ग्रन्थों का उल्लेख मिलता है। परन्तु अभी तक ये ग्रन्थ उपलब्ध नहीं हुये हैं। अतः इनके द्वारा किसी प्रकार का निर्णय करना कठिन है। कल्हण ने अपनी 'राजतरंगिणी' में और सोमदेव ने अपने 'कथासरित्-सागर' में 'शूद्रक' का उल्लेख किया है। वाण ने अपनी 'कादम्बरी' में शूद्रक को विदिशा का राजा बताया है और 'हर्षचरित' में इसे चन्द्रकेतु का शत्रु कहा है। दण्डी ने भी 'दशकुमारचरित' में शूद्रक का उल्लेख किया है। 'वेताल-पंचविंशतिका' में शूद्रक की राजधानी 'वर्धमान' या 'शोभावती' कही गयी है। वामन ने अपने काव्यालंकारसूत्र में शूद्रक का कवि के रूप में स्पष्ट उल्लेख किया है और मृच्छकटिक के कुछ उदाहरण भी दिये हैं।[२]

उपर्युक्त विवेचन से यह प्रतीत होता है कि शूद्रक नाम के कई राजा और कवि हुये थे। परन्तु मृच्छकटिक का रचयिता कौन सा शूद्रक है—यह कहना कठिन है।

मृच्छकटिक का रचनाकाल

जिस प्रकार मृच्छकटिक के कर्ता शूद्रक का व्यक्तित्व विवादग्रस्त है ठीक इसी प्रकार इनका काल भी। इनका काल ई० पू० ३०० से लेकर ई०अ० ६०० तक के मध्य में दोलायमान है।

(क) ई० पू० ३०० से लेकर ई० प्रथम शती तक :

कुछ विद्वान यह कहते हैं कि मृच्छकटिक का रचयिता शूद्रक आन्ध्रवंशीय प्रथम राजा से अभिन्न है। अतः इसका काल ई० पू० तीसरी शती से लेकर ई०

---

१ मृच्छकटिक-भूमिका श्री कान्तानाथ शास्त्री तेलंग पृ० ८।

२. मृच्छकटिक-भूमिका श्रीनिवास शास्त्री पृ० ८।

अ० प्रथम शती का मध्य हो सकता है। इस काल की पुष्टि अन्तःसाक्ष्य और बाह्य साक्ष्य दोनों से होती है। इस वक्तव्य में M.R. काले के विचार ध्यान देने योग्य हैं —

(१) इस नाटक के कथानक के अनुसार उस समय बौद्ध धर्म उन्नत अवस्था में था। जनता में बौद्ध भिक्षुओं का सम्मान था। भिक्षु भी अपने धर्म का पालन सावधानी से करते थे। ईसा की पहली शती से ही बौद्धधर्म ह्रासोन्मुख हो चला था। अतः इसकी रचना इस काल के पहले की होनी चाहिये, जैसा कि भण्डारकर ने बताया है कि आन्ध्रवंशीय राजाओं के समय बौद्ध धर्म उन्नत अवस्था में था।[1]

(२) नवम अंक में अधिकरणिक ने 'अङ्गारकविरुद्धस्य' [९।३३] इस श्लोक में मंगल को बृहस्पति का शत्रु ग्रह बताया गया है। यह मान्यता वराहमिहिर से पहले की थी। वराहमिहिर का काल ई० ५०० के लगभग माना जाता है। अतः इससे काफी पहले ही इस मृच्छकटिक की रचना हो जानी चाहिये।

(३) "वैशिकी कला"[2] का उल्लेख तथा किसी वेश्या के नायिका बनने की कल्पना वात्स्यायन के कामसूत्र की रचना के समकालीन या उसके बाद होनी चाहिये। कामसूत्र की रचना ई० १०० के अनन्तर नहीं मानी जा सकती। अतः मृच्छकटिक भी इसी के समीप का होना चाहिये।

(४) नाटचकला के ऐसे अनेक नियम बाद में प्रचलित हुये जिनसे मृच्छकटिक का कर्ता परिचित नहीं प्रतीत होता है। उदाहरणार्थ—किसी पात्र के विशेष प्राकृत बोलने का नियम, रसों की प्रधानता का नियम आदि। इसके अतिरिक्त मृच्छकटिक में भास के समान सादगी और सरलता है। इसकी शैली कालिदास के समान न तो परिष्कृत है और न भवभूति के समान कलापूर्ण। अतः ऐसा प्रतीत होता है कि मृच्छकटिक की रचना संस्कृत नाटकों के आरम्भिक काल की है।

(५) मृच्छकटिक की प्राकृत भाषायें व्याकरण के नियमों के सर्वथा अनुकूल नहीं प्रतीत होती हैं। वे प्राकृत भाषा के प्रारम्भिक विकास को सूचित करती हैं। इससे कालिदास की अपेक्षा शूद्रक की प्राचीनता सिद्ध होती है।

उपर्युक्त विवेचन के आधार पर यह निष्कर्ष निकलता है कि शूद्रक कालिदास से प्राचीन हैं। क्योंकि रामिल तथा सोमिल ने 'शूद्रककथा' लिखी थी और कालिदास ने सोमिल का उल्लेख किया है। यहाँ शंका हो सकती है कि कालिदास

---

१. मृच्छकटिक भूमिका M.R. काले पृ० ३२ में।

२. मृच्छकटिक १।४।

ने शूद्रक का उल्लेख क्यों नहीं किया ? उत्तर है कि उस समय तक शायद शूद्रक की उतनी अधिक प्रसिद्ध नहीं हो पायी होगी ।

(ख) ३०० ई० से लेकर ७०० ई० के मध्य :

कुछ विद्वान उपर्युक्त प्राचीनता नहीं मानते हैं । उनका तर्क यह है कि भास के 'चारुदत्त' नाटक की खोज के बाद यह सिद्ध हो गया है कि 'मृच्छकटिक' की रचना 'चारुदत्त' के आधार पर हुई है । अतः मृच्छकटिक के कर्ता शूद्रक की सीमा भास का समय हो सकती है और भास का समय अभी तक अनिर्णीत है । उनका समय ई० पू० ३०० से लेकर ई० अ० ६०० के मध्य माना जा सकता है । मृच्छ-कटिक के नवम अंक में अधिकरणिक ने चारुदत्त को दण्ड देने के लिये मनु का यह आदेश उद्धृत किया है ।

"अयं हि पातकी विप्रो न वध्यो मनुरब्रवीत् ।
राष्ट्रादस्मात्तु निर्वास्यो विभवैरक्षतैः सह ।।"[1]

मनु का काल ई० पू० २०० है । अतः मृच्छकटिक की पूर्व सीमा ई० पू २०० के लगभग हो सकती है ।[2]

डा० कीथ का मत है कि यह सन्देहास्पद है कि मृच्छकटिक कालिदास से प्राचीन है या अर्वाचीन । जैकोबी का मत है कि मृच्छकटिक कालिदास से अर्वाचीन है । कुछ समालोचकों का यह मत है कि कालिदास के नाटकों पर मृच्छ-कटिक का कोई प्रभाव दृष्टिगोचर नहीं होता है, अतः कालिदास मृच्छकटिक की अपर सीमा नहीं हो सकते ।

इनकी अपर सीमा क्या है ? वामन ने अपनी काव्यालंकार-सूत्र-वृत्ति में शूद्रक का कवि के रूप में उल्लेख किया है और मृच्छकटिक के कई पद्य भी उद्धृत किये हैं । अतः मृच्छकटिक की अपर सीमा यही है । दण्डी के काव्यादर्श में "लिम्पतीव" (१.३४) यह पद्य मिलता है । अतः ई० ७०० अपर सीमा है, ऐसा भी कुछ लोग मानते हैं । डा० देवस्थली के अनुसार पंचतन्त्र के दो पद्य मृच्छ-कटिक में हैं और पंचतन्त्र का समय ई० अ० ५०० है । अतः यह अपर सीमा हो सकती है । किन्तु इसका खण्डन कुछ विद्वानों ने किया है । उनके अनुसार पंचतन्त्र का काल अभी तक अनिर्णीत है ।[3] अतः दण्डी ही इसके अपर सीमा हो सकते हैं ।

---

१. मृच्छकटिक ९।३९ ।
२. मृच्छकटिक-भूमिका श्री कान्तानाथ शास्त्री तैलंग पृ० १७ ।
३. मृच्छकटिक-भूमिका श्री कान्तानाथ शास्त्री तेलंग पृ० १६ ।

मृच्छकटिक के अन्तःसाक्ष्य भी इसी की पुष्टि करते हैं। गुप्त-साम्राज्य के बाद हर्षवर्धन ही एक सार्वभौम सम्राट् हुये। उनके बाद की पतन-अवस्था का चित्रण इसमें सम्भव है। अतः इसका समय पांचवीं या छठी शती हो सकता है।

ऊपर यह स्पष्ट किया गया है कि मृच्छकटिक के कर्ता की पूर्व सीमा ई० पू० ३०० है और अपर सीमा ई० अ० ३०० से लेकर ७०० तक है। यह कष्ट का विषय है कि अभी तक एक सर्वसम्मत काल का निर्णय नहीं हो सका है।

शूद्रक का परिचय :

ऊपर यह दिखाया जा चुका है कि संस्कृत-साहित्य में कई शूद्रक हैं। उनमें से मृच्छकटिक का रचयिता कोई 'शूद्रक नृप' है यही जानकारी प्रस्तावना से होती है। वह बड़ा विद्वान और शक्तिशाली योद्धा था। उसने एक सौ वर्ष और दश दिन की आयु व्यतीत की। अपने पुत्र का राज्याभिषेक करके अग्नि में प्रवेश किया।[1] इस उल्लेख के विषय में पैदा होने वाली शंकाओं का संकेत पहले किया जा चुका है। इसके अतिरिक्त कोई जानकारी नहीं प्राप्त होती है।

शूद्रक का निवास स्थान :

मृच्छकटिक का कर्ता दाक्षिणात्य था। कुछ के अनुसार महाराष्ट्रीय था। कुछ लोग उज्जैन का मानते हैं। इस विषय में पहले लिखा जा चुका है।

शूद्रक की रचनायें :

दण्डी तथा वामन के उल्लेख से ऐसा प्रतीत होता है कि शूद्रक ने कुछ और भी रचनायें कीं थीं। परन्तु आजकल एकमात्र मृच्छकटिक ही उनकी रचना उपलब्ध होती है। इसी पर कीर्तिपताका फहरा रही है।

मृच्छकटिक का मूल-स्रोत :

संस्कृत-साहित्य में कई ऐसे ग्रन्थ हैं जिनका घटनाचक्र मृच्छकटिक से मिलता जुलता है। इस प्रकार के ग्रन्थों में भास का 'दरिद्रचारुदत्त' दण्डी का 'दशकुमार-चरित' सोमदेव का 'कथासरित्सागर' है। कालिदास के 'शाकुन्तल' और विशाखदत्त के 'मुद्राराक्षस' की भी कुछ घटनाओं में समानता है। अतः इसका मूलस्रोत निश्चित करना आवश्यक है।

मृच्छकटिक की कथावस्तु को दो भागों में बाँटा जा सकता है—(१) चारुदत्त और वसन्तसेना का प्रेम और (२) आर्यक की राज्यप्राप्ति।

---

१. द्र० मृच्छकटिक-प्रस्तावना श्लोक ३-७।

भास के 'चारुदत्त' नाटक की कथा को देखने पर यह स्पष्ट प्रतीत हो जाता है प्रथम भाग की कथा इसी से प्रभावित है। चारुदत्त में केवल चार अंक हैं। मृच्छकटिक की प्रारम्भिक कथा इससे बहुत अधिक मिलती जुलती है। दोनों की सूक्ष्मता से तुलना करने पर यह स्पष्ट हो जाता है कि 'मृच्छकटिक' के कर्ता ने 'दरिद्रचारुदत्त' को देखा और बड़ी सावधानी से उसे कुछ परिवर्तित करके और अधिक आकर्षक रूप दे दिया। इसीलिये अधिकांश विद्वान यह मानते हैं कि 'मृच्छकटिक' 'दरिद्रचारुदत्त' का ही परिवर्द्धित और परिष्कृत संस्करण है। भाषा शैली की दृष्टि से भी 'मृच्छकटिक' अधिक परिष्कृत है। उदाहरणार्थ—

दरिद्रचारुदत्त	मृच्छकटिक
१–शृणोमि गन्धं श्रवणाभ्याम्। अन्धकारपूरिताभ्यां नासापुटाभ्यां सुष्ठु न पश्यामि।	शृणोमि माल्यगन्धम्। अन्धकारपूरितया पुनर्नासिकया न सुव्यक्तं पश्यामि भूषणशब्दम्।
२–स्वरान्तरेण हि दक्षा व्याहर्तुं तन्न मुच्यताम्।	वंचनापण्डितत्वेन स्वरनैपुण्यमाश्रिता।
३–तव मम च दारुणः क्षोभो भविष्यति।	मरणान्तिकं वैरं भविष्यति।
४–उत्कण्ठितस्य हृदयानुगुता सखीव।	उत्कण्ठितस्य हृदयानुगुणा वयस्या।
५–शतसहस्रमूल्या।	चतुःसमुद्रसारभूता।
६–कोप्युपचारोऽपि नैतया भणितः।	अहो गणिकाया लोभोऽदक्षिणता च यतो न कथापि कृताऽन्या।

इसी प्रकार के और भी अनेक उदाहरण देखे जा सकते हैं। उनसे यह प्रतीत हो जाता है कि शूद्रक को भाषा शैली पर पूरा अधिकार है। साधारण बात भी इस रूप में प्रस्तुत है कि पाठक आकृष्ट हुये बिना नहीं रहता। किसी वस्तु के वर्णन-विस्तार में इनकी दक्षता देखने योग्य है। चाहे वसन्तसेना के भवन का वर्णन हो या वर्षा ऋतु का, शूद्रक की कल्पना अव्याहत रूप से उड़ती है।

मृच्छकटिक नामकरण का अभिप्राय :

किसी भी ग्रन्थ के आकर्षक नाम से अध्येता पर अच्छा प्रभाव पड़ता है। इसीलिये साहित्यदर्पण में यह लिखा "नाम कार्यं नाटकस्य गर्भितार्थप्रकाशकम्।" (सा० द० ६।१४२)। प्रकरण के नामकरण के विषय में यह लिखा है "नायिका-नायकाख्यानात् संख्या प्रकरणादिषु। (सा० द० ६।१४३) इसके अनुसार यहाँ वसन्तसेना या चारुदत्त के आधार पर नाम होना चाहिये था। परन्तु ऐसा न

करके षष्ठ अंक की एक घटना के आधार पर नाम रखने का औचित्य विचारणीय है।

घटना इस प्रकार है—चारुदत्त का पुत्र अपने किसी पड़ोसी के पुत्र की सोने की गाड़ी से खेल कर आया है और अपने घर पर उसी प्रकार की सोने की गाड़ी से खेलने की जिद कर रहा है। रदनिका उसे बहलाने के लिये मिट्टी की गाड़ी देती है। वह लेने से इनकार कर देता है। तब वह उसे वसन्तसेना से पास ले जाती है। वसन्तसेना को जब उसके रोदन का कारण मालूम होता है और उससे बातें करती है तब प्रेमार्द्र होकर अपने सारे गहने उतार कर दे देती है और कहती है कि इनसे गाड़ी बनवा लो। [मृत्=मिट्टी की शकटिका=छोटी गाड़ी है वर्णित जिसमें—इस प्रकार का अर्थ 'मृच्छकटिकम्' का होता है।]

प्रस्तुत प्रकरण का घटनाचक्र इन गहनों से अधिक प्रभावशाली बन जाता है। जब चारुदत्त को इस घटना का ज्ञान होता है। तब वह विदूषक द्वारा गहने वापस भेज देता है। किन्तु किन्हीं कारणों से विदूषक उन्हें वसन्तसेना के पास नहीं ले जा पाता है। उधर चारुदत्त को न्यायाधिकरण में बुला लिया जाता है। यह जानकारी मिलने पर विदूषक पहले न्यायाधिकरण ही पहुँचता है। वहाँ शकार के साथ उसका झगड़ा होने पर वे गहने उसके पास से जमीन पर गिर जाते हैं और चारुदत्त अपराधी सिद्ध हो जाता है। उसे मृत्युदण्ड दे दिया जाता है। इस प्रकार यह एक महत्त्वपूर्ण घटना बन जाती है।

यह कहा जाय कि उक्त आधार पर तो 'सुवर्णशकटिकम्' यह नाम रखना चाहिये था? इसका उत्तर यह है कि नाम आकर्षक और उत्कण्ठाजनक होना चाहिये। 'मिट्टी की गाड़ी' यह नाम 'सोने की गाड़ी' से अधिक उत्कण्ठा पैदा करने वाला है।

इस नामकरण के औचित्य को सिद्ध करने के लिये कुछ[1] विद्वानों ने कई तर्क प्रस्तुत किये हैं—(१) इस नाम के द्वारा कवि जीवन के लिये शिक्षा देना चाहता है। रोहसेन अपनी मिट्टी की गाड़ी से सन्तुष्ट नहीं है। वह पड़ोसी के पुत्र की सोने की गाड़ी लेना चाहता है। परन्तु अपनी वास्तविक परिस्थिति से असन्तोष और दूसरों की उन्नत अवस्था से ईर्ष्या करना दोष है। ऐसे दोषों के कारण मनुष्य को आपत्ति का सामना करना पड़ता है। इसी प्रकार चारुदत्त भी अपनी पत्नी धूता से पूर्णतया सन्तुष्ट नहीं हो पाता है वह वसन्तसेना की ओर भी आकृष्ट होता है। इसी कारण उसका जीवन कष्टमय हो जाता है। (२) दो प्रकार की

१. द्र० मृच्छकटिकभूमिका कान्तानाथ शास्त्री तेलङ्ग पृ० ३२।

गाड़ियों की घटना आगामी प्रवहणविपर्यय की घटना को सूचित करती है जो इस प्रकार की एक अति महत्त्वपूर्ण घटना है। (३) भासकृत 'चारुदत्त' नाटक 'मृच्छकटिक' का मूल स्रोत है। इस समय उसमें केवल चार अंक ही मिलते है। वसन्तसेना चारुदत्त से मिलने के लिये उद्यत है—इतनी कथा से ही नाटक समाप्त हो जाता है। कुछ विद्वानों के अनुसार यह नाटक अपूर्ण है। इसमें कम से कम एक अंक और रहा होगा। इसकी कथा मृच्छकटिक के पंचम अंक तक की कथा के बराबर रही होगी। यदि यह स्थिति मान ली जाय तो कहा जा सकता है कि इससे आगे की कथा शूद्रक द्वारा कल्पित है। षष्ठ अंक में ही मिट्टी की गाड़ी वाली घटना आती है। इसलिये कवि ने अपनी कल्पना के आरम्भ को प्रकट करने की अभिलाषा से इस घटना के नाम पर ही 'प्रकरण' का नाम रख दिया।

अब एक ही प्रश्न है लक्षणग्रन्थों से विरोध ? इसका सीधा समाधान यह है कि नाटकादि के जो भी लक्षण बनाये गये हैं वे इनकी रचना को देखकर ही बाद में बनाये गये। सम्भव है मृच्छकटिक की ओर इन लक्षणकारों की दृष्टि न गयी हो। अतः इस प्रकरण का नाम 'मृच्छकटिकम्' उचित प्रतीत होता है। नायक या नायिका का नाम आधार बनाने पर श्रोता को अधिक उत्कण्ठा नहीं हो पाती, क्योंकि पहले से ही 'चारुदत्त' नाटक प्रसिद्ध था। अतः प्रस्तुत नाम की कल्पना उचित है।

मृच्छकटिक एक प्रकरण (रूपकविशेष) है :—

पहले रूपक के दश भेद लिखे जा चुके हैं। इनमें 'नाटक' के बाद 'प्रकरण' आता है। मृच्छकटिक भी एक प्रकरण है। प्रकरण के लक्षण साहित्यदर्पण में इस प्रकार हैं—

'भवेत् प्रकरणे वृत्तं लौकिकं कविकल्पितम्।
शृङ्गारोऽङ्गी नायकस्तु विप्रोऽमात्योऽथवा वणिक्॥
सापायधर्मकामार्थपरो धीरप्रशान्तकः।
नायिका कुलजा क्वापि, वेश्या, क्वापि द्वयं क्वचित्॥
तेन भेदास्त्रयस्तस्य तत्र भेदस्तृतीयकः।
कितवद्यूतकारादि - विट - चेटक - संकुलः॥

[अस्य नाटकप्रकृतित्वात् शेषं नाटकवत्······।][1]

रूपकों में 'प्रकरण' का वृत्त (कथानक) लौकिक तथा कविकल्पित होता है। शृङ्गार मुख्य रस होता है, ब्राह्मण, अमात्य या वणिक् में से कोई एक नायक होता

१. साहित्यदर्पण ६।२४१-४३

है। वह नायक धीरप्रशान्त होता है तथा विपरीत परिस्थितियों में भी धर्म, अर्थ तथा काम में परायण होता है। प्रकरण की नायिका कुलस्त्री या वेश्या होती है। कहीं-कहीं दोनों नायिकायें होती हैं। इस प्रकार नायिकाभेद से इसके भी तीन भेद बन जाते हैं। इसमें धूर्त, विट और चेट आदि रहते हैं। यह प्रकरण नाटक का ही परिवर्तित रूप है। अतः सन्धि, प्रवेशक इत्यादि शेष बातें नाटक के समान ही होती हैं।

मृच्छकटिक में समन्वयः--प्रस्तुत प्रकरण का कथानक लोकाश्रित है। इसमें कवि की कल्पना अधिक है। इसका मुख्य रस शृङ्गार है। करुण, हास्य, बीभत्स रस अङ्ग रस के रूप में हैं। इसका नायक चारुदत्त ब्राह्मण है। वह अति दरिद्र होने पर भी धर्म, अर्थ और काम की सिद्धि में लगा रहता है। इसमें दो नायिकायें हैं--वेश्या (वसन्तसेना) और कुलस्त्री (धर्मपत्नी धूता)। इसलिए यह तीसरा भेद है। यहाँ धूर्त, द्यूतकर, विट, चेट आदि भी हैं। इस कारण यह 'संकीर्ण प्रकरण' समझना चाहिये।

यहाँ यह ध्यान रखना आवश्यक है कि 'मृच्छकटिक' में लक्षणग्रन्थों के सभी नियम पूरी तरह लागू नहीं होते हैं। कारण स्पष्ट है कि इसकी रचना के समय तक ये नियम मान्यताप्राप्त रूप नहीं ले सके होंगे। सामान्यतया नायक या नायिका के नाम पर ही इस प्रकरण का नाम होना चाहिये था। परन्तु ऐसा नहीं है। यहाँ षष्ठ अंक की घटना को ही महत्त्व दिया गया है। इसके प्रत्येक अंक में नायक 'चारुदत्त' की उपस्थिति नहीं है। नाट्यशास्त्र और दशरूपक के अनुसार कुलस्त्री और वेश्या एक साथ रंगमंच पर नहीं आनी चाहिये, परन्तु इसमें ऐसा नहीं है। दशम अंक में दोनों आमने सामने आती हैं और एक दूसरे का स्वागत करती हैं। परस्पर मिलती हैं। ऐसी ही कुछ और भी अनियमिततायें हैं। फिर भी, विद्वानों का मत है कि मृच्छकटिक को छोड़कर संकीर्ण-प्रकरण का दूसरा अच्छा उदाहरण मिलना कठिन है।

मृच्छकटिक का संक्षिप्त कथानक

प्रस्तावना--मृच्छकटिक एक 'प्रकरण' है। इसका प्रारम्भ नान्दी-पाठ के बाद प्रस्तावना से होता है। चिरकाल तक संगीत का अभ्यास करने से क्षुधार्त्त सूत्रधार अपने घर पहुँचकर वहाँ होने वाली अभूतपूर्व तैयारी देख कर आश्चर्यचकित हो जाता है। इसका रहस्य जानने के लिये वह अपनी पत्नी से पूछता है। वह उसे 'अभिरूपपति' नामक व्रत के अनुष्ठान की तैयारी बताती है। इसे सुनकर वह क्रुद्ध हो जाता है। परन्तु वस्तुस्थिति जानकर वह भी उस अनुष्ठान में सहयोग देने के

लिये ब्राह्मण को निमन्त्रित करने के विचार से चल पड़ता है। वह उज्जयिनी-वासियों की सम्पन्नता और अपनी निर्धनता से चिन्तित है कि उसके यहाँ भोजन करने के लिये किसी भी ब्राह्मण का तैयार होना कठिन है। उस समय अकस्मात् उसे आता हुआ मैत्रेय दिखाई देता है किन्तु उसके घर भोजन के लिये मैत्रेय किसी भी प्रकार नहीं तैयार होता है। दुःखी होकर सूत्रधार दूसरे ब्राह्मण की खोज में निकल जाता है। और इस प्रकार रंगमंच पर मैत्रेय के आने की सूचना के साथ प्रस्तावना समाप्त हो जाती है।

प्रथम अङ्क—

प्रथम अंक के प्रथम दृश्य में मैत्रेय (विदूषक) रंगमंच पर आता है। वह चारुदत्त की बीती हुई सम्पन्नता और वर्तमान अतिनिर्धनता को याद करके दुखी हो जाता है। वह प्रिय मित्र जूर्णवृद्ध द्वारा दिया गया जातीकुसुमवासित दुपट्टा देने के लिये चारुदत्त के पास जाता है। चारुदत्त अपने घर की दशा देखकर दुखी होकर बैठा है। विदूषक को आया देखकर चारुदत्त उसका स्वागत करता है। विदूषक वह दुपट्टा उसे दे देता है। चारुदत्त अपनी निर्धनता के कारण लोगों के परिवर्त्तित व्यवहार को देखकर बहुत दुःख प्रकट करता है। वह विदूषक को मातृदेवियों के लिये बलि समर्पित करने को कहता है। किन्तु वह जाने से कतराता है। तब चारुदत्त उसे वहाँ ठहरने के लिये कह कर समाधि सम्पन्न करने लगता है।

दूसरे दृश्य में वसन्तसेना का पीछा करते हुये विट, चेट और शकार का प्रवेश होता है। वसन्तसेना भागती है। ये तीनों उसका पीछा करते हैं। तेज चलने से वह आगे निकल जाती है उसके परिजन पीछे छूट जाते हैं। शकार (राजा का शाला) उससे अपना प्रेम प्रकट करता है और वसन्तसेना से प्रेम के लिए आग्रह करता है। विट भी वसन्तसेना को समझाता है किन्तु वह किसी भी तरह उसे नहीं चाहती है। मूर्खता से शकार यह कह देता है कि चारुदत्त का घर समीप में ही है। यह सुनकर वसन्तसेना खुश होकर अन्धकार में गायब हो जाती है। वह चारुदत्त के घर के पास पहुँचती है। वहाँ दरवाजा बन्द है।

तृतीय दृश्य में पुनः चारुदत्त और विदूषक सामने आते हैं। चारुदत्त जप समाप्त करके पुनः विदूषक को बलि देने के लिये कहता है। उसका इनकार सुन कर चारुदत्त बहुत दुखी होता है। तब विदूषक रदनिका के साथ जाने के लिये राजी होता है। विदूषक दरवाजा खोलता है। बाहर खड़ी वसन्तसेना अपने आंचल से दीप बुझा देती है। विदूषक रदनिका से बाहर चलने को कहता है और स्वयं दीप जलाने के किये अन्दर चला जाता है। अवसर का लाभ उठाकर वसन्तसेना भीतर

चली आती है। इधर उसको खोजते हुये शकार आदि भी वहीं पहुँच जाते हैं। शकार अंधेरे में खड़ी रदनिका को ही वसन्तसेना समझकर उसके बाल पकड़ लेता है। वह प्रतिवाद करती है। इसी बीच दीप लेकर विदूषक आ जाता है। रदनिका के अपमान से वह बहुत नाराज होता है किन्तु विट द्वारा सारी स्थिति बताने और प्रार्थना करने पर शान्त हो जाता है। विट वहाँ से चलने के लिए कहता है। किन्तु शकार वसन्तसेना को लिए बिना नहीं जाना चाहता है। कुछ देर बाद वह चारुदत्त को धमकी देकर वापस चला जाता है। विदूषक रदनिका को समझा बुझा कर भीतर ले जाता है।

प्रथम अंक के चतुर्थ दृश्य में चारुदत्त वसन्तसेना को रदनिका समझ लेता है और पुत्र रोहसेन को भीतर ले जाने के लिए उससे कहता है। वह पुत्र को ठंड से बचाने के लिये दुपट्टा ओढ़ने के लिए देता है। उसकी पुष्पगन्ध सूंघकर वसन्तसेना प्रसन्न हो जाती है। वह अभी भी उसके यौवन के प्रभाव को समझती है। वह चुपचाप खड़ी रहती है। अपने आदेश का पालन न होते देखकर चारुदत्त पुनः अपनी निर्धनता के लिये दुःखी होने लगता है। इतने में विदूषक और रदनिका वहाँ आ जाते हैं। तब वसन्तसेना की सारी घटना चारुदत्त को मालूम हो जाती है। वे दोनों परस्पर क्षमायाचना करने लगते हैं। वसन्तसेना अपने सारे गहने उसके पास धरोहर के रूप में रख देती है। चारुदत्त और विदूषक दोनों वसन्तसेना को उसके घर छोड़ कर वापस लौटते हैं। चारुदत्त उस सुवर्ण-भाण्ड की रक्षा का भार दिन में वर्धमानक पर और रात में विदूषक पर डाल देता है।

द्वितीय अङ्क—

द्वितीय अङ्क के प्रथम दृश्य में वसन्तसेना और मदनिका रंगमंच पर आती हैं। एक चेटी वसन्तसेना की माता का आदेश लेकर वसन्तसेना से स्नान और पूजन करने के लिये कहती है। किन्तु वह इनकार कर देती है। वह चेटी वापस चली जाती है। मदनिका वसन्तसेना की उदासी देखकर इसका कारण पूछती है। वह चारुदत्त के प्रति अपने प्रेम का रहस्य प्रकट कर देती है। जब मदनिका चारुदत्त की अति निर्धनता कहती है तो वह अपना निर्लोभ प्रेम और रमणेच्छा प्रकट करती है।

द्वितीय अंक के दूसरे दृश्य में जूये में हारा हुआ संवाहक रंगमंच पर आता है। वह जुये की खूब निन्दा करता है और अपनी रक्षा के लिये मूर्तिरहित मन्दिर में जाकर देवता के समान निश्चल होकर खड़ा हो जाता है। उसको खोजते हुये सभिक माथुर और द्यूतकर भी वहीं पहुँच जाते हैं। वे अपनी हानि के लिये चिल्लाते

हुये उसी मन्दिर में घुस कर फिर जुआ खेलने लगते हैं। जुआ देखकर संवाहक अपनी इच्छा नहीं रोक पाता है और अचानक खेलने आ जाता है। वे दोनों उसे पकड़ लेते हैं और अपनी उधार दी गयीं दश सुवर्ण-मुद्रायें माँगते हैं। न देने पर पीटने लगते हैं। तब संवाहक अपने को बेचकर ऋण चुकाना चाहता है। इसी बीच दर्दुरक आ जाता है। वह संवाहक का पक्ष लेता है। माथुर और दर्दुरक में झगड़ा होता है। मौका देखकर दर्दुरक माथुर की आँखों में धूल झोंक कर संवाहक से भागने का इशारा करता है। जब तक माथुर आँखों से धूल निकालता है तब तक वे दोनों भाग जाते हैं।

द्वितीय अंक के तीसरे दृश्य में माथुर और द्यूतकर के भय से भागा हुआ संवाहक वसन्तसेना के घर पहुँच जाता है। उसका पीछा करते हुये वे दोनों भी वहाँ पहुँच जाते हैं। संवाहक वसन्तसेना को अपना परिचय देकर अपने को चारुदत्त का पुराना सेवक (संवाहक) बताता है। इससे वसन्तसेना प्रसन्न होकर उसके भय का कारण पूछती है। वह जुये में हार और कर्ज की घटना बता देता है। सारी बातें सुन कर वसन्तसेना अपनी सेविका द्वारा आभूषण भेजकर उन दोनों को दिला देती है जिससे वे प्रसन्न होकर वापस चले जाते हैं। किन्तु जुये में हारने के कारण हुये अपमान की ग्लानि से वह संवाहक बौद्ध संन्यासी बनना चाहता है। वसन्तसेना द्वारा मना किये जाने पर भी वह अपना निश्चय नहीं बदलता है और संन्यासी बनने के लिये चला जाता है।

द्वितीय अंक के चौथे दृश्य में कर्णपूरक प्रवेश करता हैं। वह वसन्तसेना से उसके खुण्डमोटक नामक मतवाले हाथी के उपद्रव और उससे परिव्राजक को बचाने के लिये किये गये अपने पराक्रम की चर्चा करता है। वह भीड़ में खड़े हुये किसी व्यक्ति (चारुदत्त) द्वारा दिये गये दुपट्टा को दिखाता है। वसन्तसेना पहचान कर उसे ओढ़ लेती है और कर्णपूरक को पुरस्कार में आभूषण दे देती है। कर्णपूरक खुश होकर चला जाता है। उसके मुख से चारुदत्त के जाने की बात सुनकर वह सेविका के साथ ऊपर छत पर चढ़ कर चारुदत्त को देखने के लिये चली जाती है।

तृतीय अङ्क—

तृतीय अंक के प्रथम दृश्य में चारुदत्त का चेट रंगमंच पर आता है। आधी रात बीत चुकी है। संगीत का आनन्द उठाने के लिये गया हुआ चारुदत्त अभी तक वापस नहीं आया है। चेट स्वाभाविक दोष की निन्दा करके सोने के लिये चला जाता है।

तृतीय अंक के दूसरे दृश्य में चारुदत्त और विदूषक रंगमंच पर आते हैं। वे रेभिल का गाना सुनकर वापस लौटते हैं। चारुदत्त रेभिल के संगीत की प्रशंसा करता है। किन्तु विदूषक को अच्छा नहीं लगता है। वह शीघ्र ही घर चलने को कहता है। दोनों घर पहुँच कर वर्धमानक को बुलाते हैं। वह दरवाजा खोलता है। वे दोनों भीतर प्रवेश करते हैं। पैर धोने के प्रश्न पर विदूषक और वर्धमानक में कुछ विवाद होता है। चारुदत्त और विदूषक पैर धोकर सोने की तैयारी करते हैं। चेट कहता है कि रात में स्वर्णभाण्ड की रखवाली विदूषक को करनी है। अतः उसे सौंप देता है। स्वर्णभाण्ड लेकर मैत्रेय और चारुदत्त सोने लगते हैं।

तृतीय अंक के तीसरे दृश्य में शर्विलक प्रवेश करता है। वह चौर्यकला में अपनी निपुणता की प्रशंसा करता है। वह सेंध काट कर चारुदत्त के घर में प्रविष्ट हो जाता है। विदूषक स्वर्णभाण्ड की रक्षा की दुश्चिन्ता में परेशान है। वह स्वप्न में बड़बड़ाता है और चोरी हो जाने के भय से वह स्वर्णभाण्ड चारुदत्त को देना चाहता है। किन्तु शर्विलक चोर उस स्वर्णभाण्ड को ले लेता है। वापस निकलते समय अचानक रदनिका आ जाती है। वहं वर्धमानक को न देखकर विदूषक को बुलाने के लिये जाती है। शर्विलक उसे मारना चाहता है किन्तु स्त्री समझकर उसे छोड़ कर घर से बाहर हो जाता है। रदनिका शोर मचाती है। विदूषक और चारुदत्त जागते हैं। चारुदत्त उस कलात्मक सेंध को देख कर उसकी प्रशंसा करता है। विदूषक स्वप्न में चारुदत्त को दिये गये स्वर्णभाण्ड की चर्चा करके अपनी बुद्धिमानी बताता है। सुनकर चारुदत्त प्रतिवाद नहीं करता है क्योंकि उसे यह जानकर सन्तोष है कि परिश्रम करके घर में घुसनेवाला चोर खाली हाथ नहीं गया है। किन्तु जब उसे यह स्मरण कराया गया कि वह स्वर्णभाण्ड तो वसन्तसेना की धरोहर है तो वह मूर्च्छित होकर गिर जाता है। वह होश में आकर सोचता है कि लोग घटना की सत्यता पर विश्वास नहीं करेंगे क्योंकि वह निर्धन है। वह दुखी हो जाता है। इस घटना की जानकारी उसकी धर्मपत्नी धूता को होती है। वह भी बहुत दुखी हो जाती है। अपने पति को लोकापवाद से बचाने के लिये वह अपने मातृगृह से प्राप्त कीमती रत्नमाला विदूषक को दे देती है। विदूषक चारुदत्त के पास ले जाता है और वसन्तसेना को देने के लिये रोकता है। परन्तु चारुदत्त अपनी प्रतिष्ठा सुरक्षित रखने के लिये वह रत्नमाला वसन्तसेना के पास भेज ही देता है। वह चोरी की घटना की निन्दा बचाने के लिये वर्धमानक से सेन्ध बन्द करने के लिये कहता है और स्नानादि करके सन्ध्या-वन्दनादि के लिये चला जाता है।

चतुर्थ अङ्क—

चतुर्थ अङ्क के प्रथम दृश्य में वसन्तसेना और मदनिका चारुदत्त का चित्र देखती हुयीं प्रवेश करतीं हैं। उसी समय एक चेटी वसन्तसेना की माता का आदेश देती है कि राजश्यालक संस्थानक द्वारा भिजवायी गयी गाड़ी वसन्तसेना को लेने आयी है। उसने दश सहस्र स्वर्णमुद्रायें भी भेजीं हैं। राजश्यालक (शकार) का नाम सुनते ही वसन्तसेना अतिक्रुद्ध हो जाती है और उस समय तथा आगे कभी भी जाने से इनकार कर देती है।

चतुर्थ अंक के द्वितीय दृश्य में सबसे पहले शर्विलक प्रविष्ट होता है। वह अपने चौर्यव्यवसाय की चर्चा करता हुआ मदनिका को छुड़वाने के लिये वसन्तसेना के घर की ओर चल पड़ता है। उधर वसन्तसेना चारुदत्त का चित्र अपने शयनकक्ष में रखने के लिये मदनिका को भेजती है। इसी बीच में शर्विलक भी वहाँ पहुँच जाता है और शयनकक्ष की ओर जाती हुई मदनिका से उसकी भेंट हो जाती है। वह शंकित होता हुआ चुराये गये गहने मदनिका को देता है। उन्हें देखकर मदनिका आश्चर्य में पड़ जाती है। पूछे जाने पर शर्विलक उन गहनों को चारुदत्त के घर से चुराने की बात कहता है। मदनिका गहनों को पहचान लेती है। वह उन्हें वापस लौटाने को कहती है। किन्तु शर्विलक अपनी असमर्थता व्यक्त करता है। तब मदनिका चारुदत्त का सम्बन्धी बनकर वसन्तसेना को देने की बात कहती है। कुछ देर विवाद करने के बाद शर्विलक वसन्तसेना को गहनें देने के लिये तैयार हो जाता है। यह सारी घटना छिपकर बैठी हुई वसन्तसेना सुन लेती है। वह चारु-दत्त के शरीर को किसी प्रकार की हानि न होने की बात जानकर प्रसन्न है। मदनिका वसन्तसेना के पास जाकर यह खबर देती है कि चारुदत्त का कोई सम्बन्धी आया हैं। मुस्कराकर वसन्तसेना भीतर आने के लिये कह देती है। शर्विलक भीतर जाकर वसन्तसेना के सामने मदनिका को सारे गहने सौंप देता है। रहस्य जानने वाली वसन्तसेना अपनी वाक्पटुता से शर्विलक को मूक बनाकर मद-निका को वधू बनाकर उसे सौंप देती हैं। वह अपनी गाड़ी में बैठाकर भेजती है। मदनिका रोकर वसन्तसेना के प्रति कृतज्ञता प्रकट करती है। प्रणाम करके गाड़ी पर बैठ जाती है।

चतुर्थ अंक के तीसरे दृश्य में नेपथ्य में यह घोषणा होती है कि भयभीत राजा पालक ने गोपालपुत्र आर्यक को उसके घर से पकड़वा कर घोर जेलखाने में बन्द करा दिया है। यह सुनकर शर्विलक को अपने मित्र की दुःखद स्थिति जानकर बहुत कष्ट होता है। वह अपने मित्र की रक्षा के लिये व्यग्र हो जाता है। मदनिका

उसकी नवपत्नी होने पर भी बाधक नहीं बनती है। अतः शर्विलक गाड़ीवान को समझाकर चेट के साथ मदनिका को सार्थवाह रेभिल के घर भेज देता है और स्वयं अपने मित्र को छुड़ाने के लिये चल पड़ता है।

चतुर्थ अंक के चौथे दृश्य में एक चेटी वसन्तसेना को यह समाचार देती है कि चारुदत्त के पास से एक ब्राह्मण आया है। यह सुनकर प्रसन्न होकर वसन्तसेना उसे शीघ्र ही भीतर लाने की अनुमति दे देती है। चेटी विदूषक को लेकर वसन्तसेना के पास जाती है। मार्ग में आठ प्रकोष्ठों को देखकर उनकी महिमा कहता हुआ विदूषक प्रसन्न होता है। वसन्तसेना के पास पहुँचकर विदूषक यह कहता है कि आपके गहने अपने मानकर आर्य चारुदत्त जुये में हार गये हैं। अतः उनके बदले में यह रत्नमाला भेजी है, आप इसे ले लीजिये। वसन्तसेना रत्नमाला लेकर विदूषक को वापस भेजती है और सायंकाल चारुदत्त से मिलने का सन्देश देती है। रत्नमाला ले लेने से विदूषक नाराज होकर चला जाता है। वसन्तसेना भी चारुदत्त से मिलने के लिये चल पड़ती है।

पञ्चम अङ्क—

पंचम अंक के प्रथम दृश्य में उत्कण्ठित चारुदत्त के पास आकर विदूषक उससे कहता है कि वसन्तसेना ने रत्नावली स्वीकार कर ली है और सायंकाल उससे मिलने के लिये आने वाली है। वसन्तसेना द्वारा उसका अपेक्षित सम्मान न होने से और बहुमूल्य रत्नावली स्वीकार कर लेने के कारण विदूषक उस वेश्या से सम्पर्क समाप्त करने पर जोर देता है।

पंचम अंक के द्वितीय दृश्य में चेट आकर वसन्तसेना के आगमन की खबर देता है। यह जानकर चारुदत्त बहुत खुश हो जाता है।

पंचम अंक के तृतीय दृश्य में विट के साथ वसन्तसेना चारुदत्त के घर की ओर जाती हुई दिखाई देती है। वे दोनों वर्षा का सुन्दर वर्णन करते हैं। वसन्तसेना वर्षा और विजली दोनों को बाधा पहुँचाने के कारण कोसती है। चारुदत्त के घर पहुँच कर विट इशारे से विदूषक को बुलाता है और वसन्तसेना के आगमन की सूचना देता है। विदूषक यह शुभ समाचार चारुदत्त को बताता है। वह सुनकर बहुत प्रसन्न हो जाता है। वसन्तसेना चारुदत्त के पास जाते समय छत्रधारिणी के साथ विट को वापस भेज देती है।

चतुर्थ दृश्य में चेटी और वसन्तसेना वाटिका में पहुँचते हैं। वहाँ चारुदत्त प्रसन्न होकर उसका स्वागत करता है। विदूषक वसन्तसेना से उसके आगमन का कारण पूछता है। चेटी उत्तर देती है कि आपकी भेजी हुई रत्नावली का मूल्य क्या है?

उसके बदले में आप यह स्वर्णभाण्ड ले लीजिये। चारुदत्त और विदूषक उस स्वर्णभाण्ड को देखकर बड़े आश्चर्य में पड़ जाते हैं। इसके बाद चेटी विदूषक के कान में स्वर्णभाण्ड प्राप्त होने की सारी कथा सुना देती है। विदूषक सुनकर खुश होता है और चारुदत्त से भी कह देता है। सभी लोग प्रसन्न हो जाते हैं। उसी समय वर्षा होने लगती है। विदूषक वर्षा की निन्दा करता है किन्तु चारुदत्त प्रशंसा करता है। वह और वसन्तसेना प्रेमलीला में लीन हो जाते हैं। वर्षा के अधिक तेज हो जाने पर वे दोनों भीतर चले जाते हैं और वसन्तसेना वह रात वहीं बिताती है।

षष्ठ अङ्क—

षष्ठ अंक के प्रथम दृश्य में सोती हुयी वसन्तसेना को जगाती हुई चेटी प्रवेश करती है। जागने पर उसे बताती है कि आर्य चारुदत्त जीर्णोद्यान में गये हैं और यह आदेश दे गये हैं कि रात में ही गाड़ी तैयार रखी जाय। प्रातः होते ही वसन्तसेना को भी जीर्णोद्यान पहुँचा दिया जाय। यह सुनकर वसन्तसेना बहुत खुश हो जाती है। वह अपने को चारुदत्त के महल में पाकर चकित है। वह चेटी द्वारा रत्नावली चारुदत्त की पत्नी धूता के पास वापस भेजती है। और कहती है कि मैं श्रीमान् चारुदत्त की गुणनिर्जिता दासी हूँ अतः आपकी भी। अतः यह रत्नावली आप के ही कण्ठ की शोभा बढ़ाये। किन्तु धूता उसे वापस नहीं लेती है और कहती है कि आर्यपुत्र ही मेरे सबसे बड़े आभूषण हैं। अतः उनके द्वारा दी गयी रत्नावली आप अपने ही पास रखिये।

द्वितीय दृश्य में रदनिका चारुदत्त के पुत्र रोहसेन को गोद में लेकर प्रवेश करती है। वह सोने की गाड़ी से खेलने की जिद करता है। रदनिका मिट्टी की गाड़ी बनाकर देती है। [इसी मृत्शकटिका (=मिट्टी की गाड़ी) के नाम पर इस 'प्रकरण' का नाम रखा गया है।] वह बालक मिट्टी की गाड़ी लेने से इनकार करता है। सोने की गाड़ी के लिये रोने लगता है। वह उसे लेकर वसन्तसेना के पास जाती है। वसन्तसेना उसे चारुदत्त का पुत्र जानकर प्रेम प्रदर्शित करती हुई रोने का कारण पूछती है। उसकी भोली-भाली बातों से वसन्तसेना का हृदय प्रेम से उमड़ पड़ता है। वह बच्चे को सोने की गाड़ी बनवाने के लिये अपने सभी गहने उतार कर दे देती है।

तृतीय दृश्य में चारुदत्त का गाड़ीवान वर्धमानक गाड़ी लेकर आता है। रदनिका गाड़ी आने की सूचना वसन्तसेना को देती है। वह स्वयं को सजाने तक के लिये गाड़ीवान को प्रतीक्षा करने के लिये कहती है। गाड़ीवान को अचानक याद आता है कि वह गाड़ी का बिछावन भूल आया है। उसे लेने के लिये वह गाड़ी

लेकर फिर चला जाता है। इसी बीच शकार का गाड़ीवान स्थावरक चेट शकार की गाड़ी चारुदत्त के दरवाजा के पास खड़ी कर देता है और आगे एक गाड़ीवान की सहायता करने के लिये चला जाता है। इधर तैयार होकर आई वसन्तसेना भ्रमवश उसी गाड़ी में बैठ जाती है। वापस आकर स्थावरक गाड़ी लेकर चल देता है। उधर कारागार से बन्धन तुड़ाकर भागा हुआ गोपालपुत्र आर्यक वहाँ मार्ग में घूमने लगता है। अपनी रक्षा के लिये वह चारुदत्त की वाटिका में घुस जाता है। घर से बिछावन लेकर वापस आया हुआ वर्धमानक चारुदत्त की गाड़ी वहाँ पक्षद्वार में खड़ी कर देता है। आर्यक छिप कर उस गाड़ी में बैठ जाता है। वर्धमानक यह समझता है कि वसन्तसेना आकर बैठ गयी है। अतः वह गाड़ी लेकर पुष्पकरण्डक जीर्णोद्यान की ओर चल पड़ता है।

चतुर्थ दृश्य में राजा के सेनाधिकारी वीरक और चन्दनक वर्धमानक से गाड़ी रोकने को कहते हैं। उसके भीतर छिपा हुआ आर्यक बैठा है। आपसी वाद-विवाद के बाद पहले चन्दनक चढ़ कर गाड़ी देखता है। आर्यक उससे आत्मरक्षा की प्रार्थना करता है। वह अभयदान दे देता है। गाड़ी से उतर कर वह वीरक से कहता है कि इसमें वसन्तसेना बैठी हुई चारुदत्त के पास जीर्ण पुष्पकरण्डक उद्यान में जा रही है। किन्तु उसके बोलने में कुछ घबड़ाहट दिखाई देने से वीरक को उसकी बात में सन्देह हो जाता है। वह स्वयं भी गाड़ी देखने का आग्रह करता है। इस बात को लेकर उन दोनों कुछ गरमागरमी हो जाती है। वीरक जैसे ही गाड़ी पर चढ़ता है, चन्दनक उसे खींचकर अपने पैर से मार देता है। वह वसन्तसेना के रूप में छिपे हुये आर्यक को आत्मरक्षार्थ तलवार दे देता है। और गाड़ीवान से कहता है कि किसी के पूछने पर कह देना कि वीरक और चन्दनक गाड़ी देख चुके हैं। वर्धमानक गाड़ी चला देता है। गाड़ी से आगे जाता हुआ आर्यक राजा बनने के समय चन्दनक को याद रखने का वादा करता है।

सप्तम अङ्क—

सप्तम अङ्क के प्रथम दृश्य में चारुदत्त और विदूषक वसन्तसेना की गाड़ी की प्रतीक्षा करते हुये दिखाई देते हैं। गाड़ी आने में होने वाले विलम्ब के लिये अनेक तर्क-वितर्क करते हैं। उसी समय छिपकर बैठे हुये आर्यक को लाने वाली गाड़ी की आवाज सुनाई देती है। आर्यक चारुदत्त की प्रशंसा सुन चुका है। अतः अब वह उसके दर्शन करके ही भागना चाहता है। जब गाड़ी आ जाती है तो चारुदत्त विदूषक से वसन्तसेना को गाड़ी से उतारने के लिये कहता है। विदूषक गाड़ी में चढ़कर उसमें बैठे आर्यक को देख कर डर जाता है। तब चारुदत्त स्वयं

चढ़कर देखता है। उसमें बैठे हुये सुन्दर रूप वाले उसको हथकड़ी और बेड़ियों से बंधा देखकर उसका परिचय पूछता है। वह अपना परिचय देकर राजा द्वारा कारागार में बन्द करने की बात कहता है। वहां से भागने की बात सुनकर चारुदत्त उसे अभयदान देता है। और हथकड़ी बेड़ियों से मुक्त करा कर उसे शीघ्र ही अपनी गाड़ी से घर जाने के लिये कहता है। आर्यक के चले जाने पर राजा पालक के भय से चारुदत्त और विदूषक भी हथकड़ी-बेड़ियाँ अंधे कुएँ में फिकवाकर चल देते हैं।

अष्टम अङ्क—

अष्टम अंक के प्रथम दृश्य में गीले चीवर को लिये हुये एक बौद्ध भिक्षु प्रवेश करता है। वह धर्म का उपदेश देता है। उसी समय विट और शकार भी वहीं बगीचे में आ जाते हैं। शकार भिक्षु को डाँटता है। और जन्म लेते ही संन्यासी न बनने का आरोप लगाकर पीटता है। किन्तु विट उसे बचाता है। वह भिक्षु चला जाता है। शकार बैठकर वसन्तसेना को याद करने लगता है। वह अपनी गाड़ी की प्रतीक्षा करता है। दोपहर का समय है। वह भूख से व्याकुल है। समय बिताने के लिये वह गाना गाने लगता है।

द्वितीय दृश्य में गाड़ी लिये हुये स्थावरक चेट दिखाई देता है। गाड़ी की आवाज सुनकर शकार गाड़ी आने की कल्पना करने लगता है। तभी चेट आकर गाड़ी ले आने की सूचना देता है। शकार गाड़ी को चहारदीवारी से लंघवा कर ही लाने की जिद करता है। गाड़ी आ जाने पर शकार उस पर चढ़कर भीतर बैठी हुई वसन्तसेना को देखकर घबड़ा जाता है और विट को पकड़ लेता है। बाद में विट गाड़ी पर चढ़कर उसमें बैठी हुई वसन्तसेना को देखता है। वह उससे अपनी रक्षा की प्रार्थना करती हैं। विट उसे सान्त्वना देता है। वह गाड़ी से नीचे उतर कर शकार से कहता है कि गाड़ी में सचमुच राक्षसी बैठी है। अतः वह शकार से पैदल ही चलने को कहता है। किन्तु वह गाड़ी से ही जाने का आग्रह करता है। तब विट बता देता है कि गाड़ी में सचमुच वसन्तसेना बैठी है। वह तुम्हारे साथ अभिसार के लिये आई है। यह सुनकर प्रसन्न होकर शकार वसन्तसेना के पैरों पर गिर जाता है। और अपनी गलतियों के लिये क्षमा माँगने लगता है। किन्तु वसन्तसेना उसे स्वीकार करने के स्थान पर पैर से मार देती है। इससे शकार क्रुद्ध हो जाता है। वह चेट से पूछता है कि उसे वसन्तसेना कहाँ से मिली? चेट गाड़ी बदल जाने की बात कहता है। शकार वसन्तसेना से उसी समय गाड़ी से उतरने को कहता है। फिर उसे उतार देता है। शकार विट को प्रलोभन देकर वसन्तसेना

को मारने की बात कहता है किन्तु विट वैसा करने से इनकार कर देता है। इसके बाद शकार चेट से वसन्तसेना को मारने के लिये कहता है और अनेक प्रलोभन देता है। तब भी चेट परलोक के भय से वसन्तसेना को मारने से इनकार कर देता है। शकार क्रुद्ध होकर उसे पीटने लगता है। फिर चेट से एकान्त में जाकर बैठने की बात कहता है। वह चला जाता है। तब शकार स्वयं ही वसन्तसेना को मारने के लिये तैयार होता है किन्तु विट उसका गला पकड़ कर गिरा देता है। शकार एक चालबाजी करता है। वह विट से कहता है कि तुम्हारे सामने वसन्तसेना मुझे चाहने में लजा रही है। अतः तुम भी जाओ और चेट को पकड़ कर लाओ। विट शकार की बात पर विश्वास कर लेता है। वह वसन्तसेना को धरोहर के रूप में शकार को सौंप कर चला जाता है। शकार वसन्तसेना को फिर से खुश करने की कोशिश करता है। किन्तु वह हर हालत में चारुदत्त की ही प्रशंसा करती रहती है। तब क्रुद्ध होकर शकार उसका गला दबा देता है। वसन्तसेना मूछित होकर गिर जाती है। शकार अपने पराक्रम पर बहुत खुश होता है। वह अपने को छिपाकर बैठ जाता है।

तृतीय दृश्य में चेट के साथ विट पुनः प्रवेश करता है। वह शकार से अपनी धरोहर वसन्तसेना को वापस माँगता है। शकार कहता है कि वह तुम्हारे पीछे-पीछे ही चली गयी थी। बाद में वह कहता है कि उसने वसन्तसेना को मार दिया है। ऐसा कहकर मरी पड़ी हुयी वसन्तसेना को दिखाता है। विट दुखी होकर विलाप करने लगता है। चेट उसे समझाता है। उसे यह भय हो जाता है कि शकार उस हत्या का आरोप उस पर न लगा दे। अतः वह वहाँ से चला जाता है। शकार चेट को पकड़ कर अपने घर में बन्दी बना देता है और जाने से पहले सूखे पत्तों से वसन्तसेना को ढँक देता है। इसके बाद में चारुदत्त पर हत्या का आरोप लगाने के लिये न्यायालय जाने की कहकर निकल जाता है।

चतुर्थ दृश्य में शकार के जाते समय ही एक बौद्ध भिक्षु प्रवेश करता है। वह अपने गीले चीवरखण्ड को सुखाने के लिये उपयुक्त स्थान खोजता है। इसी बीच उसे पत्तों के बीच में किसी के साँस लेने का पता लगता है। उधर कुछ होश में आकर वसन्तसेना अपना हाथ दिखलाती है। भिक्षु पत्ते हटाकर देखता है कि वही बुद्धोपासिका है जिसने उसे जुआरिओं के ऋण से मुक्त कराया था। उसका दूसरा भी हाथ देखकर उसे पूर्ण विश्वास हो जाता है। वसन्तसेना पानी माँगती है। वह अपना चीवर निचोड़ कर उसको पानी दे देता है और अपने कपड़े से हवा करने लगता है। वसन्तसेना द्वारा पूछे जाने पर वह पहले ऋणमुक्त कराये जाने की सारी

बात बता कर अपना परिचय देता है। वह पास की लता झुकाकर उसके सहारे से उठने के लिये कहता है और वहीं पास में एक बौद्ध विहार में अपनी धर्मभगिनी के पास चलने के लिये कहता है। ऐसा कहकर साथ में लेकर आश्रम की ओर चल देता है।

नवम अङ्क—

नवम अङ्क के प्रथम दृश्य में शोधनक (सफाई कर्मचारी) प्रवेश करके न्यायालय की सफाई तथा कुर्सी लगाने आदि की व्यवस्था की सूचना देता है। इसी बीच उज्ज्वलवेश धारण किये हुये शकार प्रवेश करता है। वह वसन्तसेना के हत्यारूपी अपने पाप को चारुदत्त के शिर पर मढ़ देने की बात करता है। वह न्यायाधिकारियों की प्रतीक्षा करने लगता है। उसी समय श्रेष्ठी तथा कायस्थ आदि से घिरे हुये न्यायाधीश का प्रवेश होता है। न्यायाधीश सही न्याय करने की दुष्करता बताता है। न्यायाधिकरणिक के आदेश से शोधनक प्रार्थियों को अपना मुकदमा प्रस्तुत करने के लिये सूचित करता है। सबसे पहले शकार अपना मुकदमा प्रस्तुत करना चाहता है। किन्तु पहले अस्वीकार करके पुनः इस दुष्ट के भय से इसका मुकदमा प्रस्तुत करने के लिये आदेश कर दिया जाता है। वह अपनी सफलता पर गर्व करने लगता है। वह न्यायालय में आकर कहता है कि उसने अपने पुष्पकरण्डक जीर्णोद्यान में एक मरी हुई स्त्री का शरीर देखा है। वह स्त्री वसन्तसेना है। वह कहता है कि किसी ने धन के लोभ से वसन्तसेना का गला दबाकर मार डाला है। वसन्तसेना किसके पास गयी थी—यह जानने के लिये न्यायाधिकारी पहले उसकी माता को बुलाते हैं। उसकी माता आकर बताती है कि उसकी बेटी अपने मित्र चारुदत्त के घर पर अभिसार के लिये गयी है। यह सुनकर न्यायाधिकारी चारुदत्त को भी बुलाते हैं। न्यायालय के कर्मचारी के साथ आते हुये चारुदत्त को मार्ग में अनेक अपशकुन दिखाई देते हैं जिनसे वह घबड़ा जाता है। न्यायालय में पूछे जाने पर वह बता देता है कि वसन्तसेना के साथ उसका प्रेमव्यवहार है। वह बताता है कि वसन्तसेना अपने घर गयी है। किन्तु वह यह नहीं बता पाता कि गाड़ी से गयी है या पैदल। इसी बीच अपमानित होने से क्रुद्ध वीरक न्यायालय में आता है। वह अपने कर्तव्यपालन के समय चन्दनक द्वारा किये गये अपमान की बात कहता है। वह यह भी कहता है कि चारुदत्त की गाड़ी में बैठी हुई वसन्तसेना पुष्पकरण्डक जीर्णोद्यान की ओर जा रही थी। वीरक की बात सुनकर न्यायाधिकारी पुष्पकरण्डक उद्यान में यह पता लगाने के लिये वीरक को भेजते हैं कि वहाँ कोई स्त्री मरी पड़ी है अथवा नहीं।

इसी बीच रेभिल द्वारा यह जानकर कि चारुदत्त को न्यायालय में बुलाया गया है विदूषक चिन्तित हो जाता है। वह वसन्तसेना के गहने देने के पहले न्यायालय चल पड़ता है। वहाँ शकार के साथ उसका वाद-विवाद बढ़ जाता है। और मार पीट होने लगती है जिससे विदूषक के पास रखे हुये वसन्तसेना के गहने जमीन पर गिर पड़ते है। शकार घबड़ा कर उन गहनों को उठा कर दिखाता है और कहता है कि इन गहनों के कारण ही चारुदत्त ने वसन्तसेना का वध किया है।

उन गहनों को देखकर चारुदत्त यह स्वीकार करता है वे गहने वसन्तसेना के ही हैं। परन्तु वह यह नहीं वता पाता कि वे गहने वसन्तसेना से अलग कैसे हुये। गहनों को देखकर न्यायाधिकारी और अधिक चिन्तित हो जाते हैं। और चारुदत्त से सब सच-सच बोलने की कहते हैं। चारुदत्त कहता है कि मैं निष्पाप लोगों के कुल में उत्पन्न हुआ हूँ और मैं स्वयं भी निरपराध हूँ किन्तु यदि मुझ पर पाप की सम्भावना की जाती है तो मेरे निष्पाप होने से भी क्या लाभ ? वह सोचने लगता है कि वसन्तसेना से रहित उसका जीवन व्यर्थ है। न्यायाधिकारी चारुदत्त को अपराधी घोषित करके राजा 'पालक' के पास दण्डनिर्णय के लिये भेजते हैं और अपनी सम्मति देते हैं कि यह चारुदत्त ब्राह्मण है। अतः इसे मृत्युदण्ड न देकर धनसहित राज्य से बाहर कर दिया जाय। परन्तु राजा 'पालक' कठोर दण्ड की आज्ञा देता है कि इन्हीं गहनों के साथ ही इसको दक्षिणश्मशान लें जाकर शूली पर चढ़ाकर मृत्युदण्ड दे दिया जाय। जिससे कोई भी दूसरा ऐसे पाप कर्म का साहस न कर सके। दण्ड सुनकर चारुदत्त दुखी हो जाता है। वह विदूषक से कहता है कि मुझे प्रिय बेटा रोहसेन का मुख दिखा दो। वह अविवेकी राजा पालक को मृत्युदण्ड देने के लिये कोसने लगता है।

दशम अङ्क—

दशम अङ्क के प्रथम दृश्य में दो चाण्डाल चारुदत्त को वधस्थान की ओर लें जाते हुये दिखाई देते हैं। चारुदत्त को मृत्युदण्ड की वेशभूषा पहना दी गई है। मार्ग में अपार भीड़ चारुदत्त को देखने के लिये खड़ी है। चाण्डाल लोगों को हटा रहे हैं और चारुदत्त का वध न देखने का परामर्श दे रहे हैं। महलों में झरोंखों से स्त्रियाँ भी दुखी होकर आँसू गिरा रहीं हैं। चाण्डाल चारुदत्त के कुल गोत्र का परिचय देते हुये उसके अपराध और मृत्युदण्ड की घोषणा करते हैं। उसे सुन कर चारुदत्त बहुत दुःखी हो जाता है। उसी समय विदूषक चारुदत्त के पुत्र को लेकर वहाँ आ जाता है। वह लड़का अपने पिता को देखने के लिये रोने लगता है।

मृत्यु के समय चारुदत्त अपने पास केवल जनेऊ देखकर उसे ही पुत्र को देना चाहता है। विदूषक और चारुदत्त का पुत्र रोहसेन चारुदत्त को छोड़ने की और उसके बदले में अपने अपने वध करने की प्रार्थना करते हैं। इसी समय शकार द्वारा अपने ऊपरी महल में कैद किया गया स्थावरक चेट दिखाई देता है। वह चाण्डालों की घोषणा सुनकर चारुदत्त का वध जानकर अति दुखी है। वह चिल्ला चिल्ला कर कहता कि चारुदत्त ने वसन्तसेना का वध नहीं किया है किन्तु दूरी के कारण कोई उसकी आवाज नहीं सुन पाता है। वह अपने जीवन की अपेक्षा चारुदत्त का जीवन अधिक महत्त्वपूर्ण समझता है। अतः वह झरोखे से नीचे कूद पड़ता है। उसकी बेड़ियाँ खुल जाती हैं। वह सभी के सामने चाण्डालों से कहता है कि इस चारुदत्त ने वसन्तसेना का वध नहीं किया है अपितु मेरे स्वामी शकार ने ही किया है। और मुझे बांधकर कैद कर रक्खा था जिससे मैं किसी से न कह सकूं। इसी बीच कोलाहल सुनकर अपने महल में बन्दी स्थावरक चेट को न देखकर उसको खोजता हुआ शकार भीड़ में पहुँच जाता है। वह सबके सामने स्थावरक को झूठा सिद्ध करके उसे वापस ले जाता है। निराश स्थावरक चेट चारुदत्त के पैरों पर गिर पड़ता है। चाण्डाल शकार की बात सच मानकर स्थावरक को पीट कर बाहर कर देते हैं। शकार चाण्डालों से चारुदत्त को शीघ्र ही मारने के लिये कहता है। वह उसे पुत्र-सहित मारने को कहता है। किन्तु चाण्डाल उसकी बात अस्वीकार कर देते हैं। मित्रशोक में मरने के इच्छुक विदूषक को चारुदत्त मना करता है और पुत्र रोहसेन को उसकी माता के पास ले जाने के लिये कहता है। इसी बीच वे दोनों चाण्डाल, वध करने की किसकी पारी है, इसका निर्णय करने लगते हैं। और चारुदत्त को दक्षिण श्मशान का भीषण दृश्य दिखाते हैं।

दशम अङ्क के द्वितीय दृश्य में घबड़ायी हुई वसन्तसेना और भिक्षु चारुदत्त के घर की ओर जाते हुये दिखाई देते हैं। मार्ग में भारी भीड़ देखकर वसन्तसेना भिक्षु से उस भीड़ का कारण जानने के लिये कहती है। इतने में चाण्डालों की आखिरी घोषणा सुनाई देती है।

वे चारुदत्त को अतिशीघ्र ही मारने वाले प्रतीत होते हैं। यह सुनकर भिक्षु घबड़ा जाता है। और वसन्तसेना से जल्दी ही चलने को कहता है। वे दोनों अपनी पूरी शक्ति से चलकर वहाँ अति शीघ्र पहुँचने का प्रयास करते हैं। इसी बीच एक चाण्डाल चारुदत्त पर तलवार से प्रहार करता है किन्तु तलवार उसके हाथ से गिर जाती है। वह इसे अच्छा शकुन मानकर अपनी कुल देवी सह्यवासिनी से चारुदत्त की रक्षा करने की प्रार्थना करता है। दूसरा चाण्डाल राजाज्ञा का पालन

करने को कहता है। वे दोनों चारुदत्त को शूली पर चढ़ाना चाहते हैं। यह देख कर भिक्षु और वसन्तसेना उन्हें ऐसा करने से मना करते हैं। वसन्तसेना कहती है कि मैं ही वह अभागिनी हूँ जिसके कारण आर्य चारुदत्त को मृत्युदण्ड दिया गया है। यह सुनकर उधर देखकर चाण्डाल सोचने लगते हैं। इसी बीच में दौड़ती हुई वसन्तसेना चारुदत्त के वक्षस्थल पर गिर जाती है। और भिक्षु पैरों पर गिर जाता है। चाण्डाल हट जाते हैं। और चारुदत्त का वध न करने से प्रसन्न दिखाई देते हैं। वे राजा पालक को वसन्तसेना के जीवित होने की सूचना देने के लिए चले जाते हैं। वहाँ वसन्तसेना को जीवित देखकर शकार घबड़ा जाता है और वहाँ से भागता है। चारुदत्त वसन्तसेना को पहचान कर आनन्दमग्न हो जाता है। अचानक आयी हुई वसन्तसेना को पाकर चारुदत्त अपनी वध्य वेशभूषा को और चाण्डालों के साथ बजाये जाते हुए वाद्यों को विवाह की वेषभूषा और वाद्यों के समान समझने लगता है। भिक्षु का परिचय जान कर चारुदत्त बहुत खुश होता है।

दशम अंक के तृतीय दृश्य में शर्विलक प्रवेश करता है। वह सूचना देता है कि आभीरपुत्र 'आर्यक' ने राजा 'पालक' का वध कर दिया है। वह चारुदत्त को वसन्तसेना के साथ देखकर बहुत प्रसन्न हो जाता है। वह आर्यक का और अपना परिचय देता है। वह चारुदत्त से प्रार्थना करता है कि 'कुशवती' नगरी का राज्य स्वीकार कर लें। वह शकार को पकड़ने का आदेश देता है। सब लोग शकार को पकड़ कर लाते हैं। शर्विलक उसे मृत्युदण्ड देना चाहता है, किन्तु वह चारुदत्त की शरण में आ जाता है और उदार चारुदत्त उसे क्षमा कर देता है।

दशम अंक के चतुर्थ दृश्य में चन्दनक यह सूचना देता है कि अपने पति के मृत्युदण्ड से दुखी होकर उसकी धर्मपत्नी धूता आग में कूद कर अपना प्राण-परित्याग करने जा रही है। यह सुनते ही चारुदत्त मूछित हो जाता है। वसन्तसेना उसे होश में लाती है। सभी लोग धूता के पास पहुँचते हैं। वहाँ सभी के रोकने पर भी धूता आग में प्रवेश करने का प्रयास करती है। इधर शर्विलक चारुदत्त से जल्दी-जल्दी चलने को कहता है। धूता अपने पुत्र रोहसेन को समझा रही है। उसी समय चारुदत्त आकर बोलता है। उसकी आवाज पहचान कर धूता प्रसन्न हो जाती है। पुत्र अपने पिता चारुदत्त का आलिंगन करता है। विदूषक सती की महिमा का वर्णन करता है और चारुदत्त का आलिंगन करता है। धूता और वसन्तसेना भी परस्पर आलिंगन करती हैं। शर्विलक वसन्तसेना से कहता है कि प्रसन्न राजा आर्यक आपको 'वधू' शब्द से अलंकृत करते हैं। वसन्तसेना इस अनुग्रह से अपने

को अनुगृहीत मानती है। भिक्षु को सभी विहारों का कुलपति बना दिया जाता है। स्थावरक को शकार की दासता से मुक्त करा कर स्वतन्त्र नागरिक बना दिया जाता है। दोनों चाण्डालों को सभी चाण्डालों का प्रधान बना दिया जाता है। चन्दनक को 'पृथ्वीदण्डपालक' का पद दे दिया जाता है। शकार को उसी प्रकार स्वच्छन्द विचरण करने के लिए छोड़ दिया जाता है।

भारत-वाक्य के साथ नाटक (प्रकरण) का दशम अङ्क समाप्त हो जाता है।

पात्रों का चरित्र-चित्रण

मृच्छकटिक एक जीते जागते पात्रों का सजीव चित्रण है। प्रायः प्रत्येक पात्र अपनी कुछ विशेषताओं के साथ दिखाई देता है। वह सामाजिक को भली-भाँति प्रभावित करने में पूर्णतया सफल है। इसमें पुरुष पात्रों में चारुदत्त, शकार, शर्विलक और विदूषक के अतिरिक्त विट, चेट, भिक्षुक तथा आर्यक आदि प्रधान हैं। स्त्रीपात्रों में वसन्तसेना, धूता, मदनिका तथा रदनिका प्रधान हैं। इन पात्रों की चरित्र-सम्बन्धी विशेषताओं का विवेचन यहाँ किया जा रहा है।

चारुदत्त

मृच्छकटिक में चारुदत्त को सुन्दर, युवक, परोपकारी, गुणग्राही, उदार, भावुक, पवित्रप्रेमी, सत्यवक्ता, शरणागतवत्सल, परम क्षमाशील आदि रूपों में चित्रित किया गया है। यह इस 'प्रकरण' का धीरप्रशान्त नायक है।

(१) व्यक्तित्व

उज्जयिनी नगरी के अति सम्पन्न वंश में चारुदत्त ने जन्म लिया है। उसके वंशज यद्यपि ब्राह्मण थे तथापि व्यापार के माध्यम से उन्होंने प्रचुर सम्पत्ति अर्जित की थी। अतः वे धनिकों में प्रतिष्ठित थे। परन्तु चारुदत्त एक निर्लोभ और अतिशय उदारवृत्ति का है। वह किसी को निराश नहीं करना चाहता। अतः दान देना उसका स्वाभाविक गुण बन गया है। उसका व्यक्तित्व आकर्षक है। वह जितना गुणी है उतना ही सुन्दर। द्वितीय अङ्क में संवाहक वसन्तसेना को जब चारुदत्त का परिचय देता है तो वह कहता है "यस्तादृशः प्रियदर्शनः······ (पृ० १६२)। इसी प्रकार जेल से भागा हुआ आर्यक छिपकर चारुदत्त की गाड़ी में बैठा हुआ उसके सामने पहुँच कर उसको देखता है तो उसके मुख से चारुदत्त की प्रशंसा अचानक निकल पड़ती है—" न केवलं श्रुतिरमणीयो दृष्टिरमणीयोऽपि।" (पृ० ४१८) वसन्तसेना की हत्या के आरोप में जब उसे न्यायालय में बुलाया जाता है तो न्यायाधिकारी उसकी दिव्य आकृति देखकर

उसके द्वारा हत्यारूपी पाप कर्म होने की सम्भावना ही नहीं करते हैं—"घोणोन्नतं मुखमपाङ्गविशालनेत्रम्"। (९।१६) वहीं मुकदमें के सन्दर्भ में बुलायी गयी वसन्तसेना की माता जब चारुदत्त को देखती है तो अपनी बेटी के प्रेमसमर्पण से सन्तुष्ट हो जाती है—"अयं स चारुदत्तः। सुनिक्षिप्तं खलु दारिकया यौवनम्। (पृ० ५३३)

वह अभी यौवनसम्पन्न है। प्रथम अंक में चारुदत्त भ्रमवश जब वसन्तसेना पर चादर फेंक देता है तो वह सुगन्धित चादर सूंघकर कहती है "अनुदासीनमस्य यौवनं प्रतिभासते।" (पृ० ११६) आगे चारुदत्त के पुत्र रोहसेन को देखकर कहती है "अनुकृतमनेन पितू रूपन्।" (पृ०३७१) उसका शरीर सुकोमल भी है। न्यायालय में सत्य बोलने के लिये न्यायाधिकारी कहते हैं—

"इदानीं सुकुमारेऽस्मिन् निःशंकं कर्कशाः कशाः॥ ९।३६

(२) परम उदार

वह परम उदार है। वह किसी को निराश नहीं करना चाहता। यहाँ तक कि सेंध लगाकर उसके घर में घुस आने वाले चोर का ज्ञान होने पर वह दुखी हो जाता है क्योंकि वह जानता है कि उसके घर में चुराने लायक कुछ भी नहीं है। चोर का परिश्रम व्यर्थ ही हुआ होगा—"सन्धिच्छेदनखिन्न एव सुचिरं पश्चान्निराशो गतः।" (३।२३) कर्णपूरक जब मत्त हाथी को मार देता है तो उसके पराक्रम से प्रसन्न होकर उसे अंगूठी देना चाहता है किन्तु अंगुली में अंगूठी न होने से वह अपना दुपट्टा ही दे देता है। ("एकेन शून्यान्याभरणस्थानानि परामृश्य ऊर्ध्वं निःश्वस्यायं ममोपरि निक्षिप्तः।" (पृ० १७८) पंचम अंक में चेट जब वसन्तसेना के आगमन का समाचार देता है तो वह अति प्रसन्न होकर अपना दुपट्टा दे देता है—"भद्र! न कदाचित् प्रियवचनं निष्फलीकृतम्, तद्गृह्यतां पारितोषिकम्। (इत्युत्तरीयं प्रयच्छति।) (पृ० ३१८)"

(३) अतिशय दयालु—

चारुदत्त के मन में प्राणिमात्र के लिये दया है। वह किसी को कभी भी कष्ट नहीं देना चाहता है और न किसी को दुखी देखना चाहता है। इस विषय में चेट द्वारा अपने स्वामी के लिये कही गयीं बातें ध्यान देने योग्य हैं—"सुजनः खलु भृत्यानुकम्पकः।" (३।२)

चारुदत्त अपनी आराम के लिये किसी को कष्ट देना पसन्द नहीं करता है। इसी लिये देर रात में सोती हुई रदनिका को जगाने का निषेध कर देता है।

"अलं सुप्तजनं प्रबोधयितुम् ।" (पृ० १९१) ऊपर आराम से बैठे हुये कपोतदम्पती को विदूषक जब मारने के लिये दौड़ता है तो वह रोकता हुआ कहता है 'वयस्य ! उपविश, किमनेन, तिष्ठतु दयितासहितस्तपस्वी ।" (पृ० ३१४) दूसरी परम दयालुता उस समय देखने योग्य है जब वह अपनी मृत्यु का जाल रचने वाले शकार को भी मुक्त करा देता है । (पृ० ६४०)

(४) शरणागतरक्षक—

चारुदत्त शरण में आये हुये की रक्षा करने में अपने प्राणों को भी न्यौछावर करने से नहीं डरता है । जब कारागार से भागा हुआ आर्यक छिपा हुआ उसी की गाड़ी से आकर उसके सामने आता है और कहता है—"शरणागतो गोपालप्रकृतिः आर्यकोऽस्मि" यह सुनकर चारुदत्त प्रसन्न होकर उत्तर देता है—

विधिनैवोपनीतस्त्वं चक्षुर्विषयमागतः ।
अपि प्राणानहं जह्यां न तु त्वां शरणागतम् ॥ ७।६ ॥

शरणागतरक्षण की पराकाष्ठा तब होती है जब षड्यन्त्र रचा कर हत्या के अभियोग में चारुदत्त को मृत्युदण्ड दिलाने वाला शकार भी उसकी शरण में आकर प्राणरक्षा की भीख मांगता है "तत्कमिदानीमशरणः शरणं व्रजामि ? भवतु तमेवाभ्युपपन्नवत्सलं गच्छामि । आर्य चारुदत्त ! परित्रायस्व, परित्रायस्व ।" चारुदत्त शकार के महापराध को भुला कर कहता है "अहह ! अभयमभयं शरणागतस्य ।" (पृ० ६३६) शर्विलक आदि उस दुष्ट शकार का वध करना चाहते हैं किन्तु चारुदत्त अपना स्वभाव नहीं छोड़ता है । वह कहता है—

शत्रुः कृतापराधः शरणमुपेत्य पादयोः पतितः ।
शस्त्रेण न हन्तव्यः उपकारहतस्तु कर्तव्यः ॥१०।५५

वह शकार को मुक्त करा देता है ।

(५) सत्यवक्ता

चारुदत्त सत्यभाषण का प्रेमी है । वह हर परिस्थिति में सत्य ही बोलना चाहता है । जब वसन्तसेना के आभूषणों की चोरी हो जाती है और चारुदत्त को इसकी सूचना दी जाती है तब चिन्तित चारुदत्त से विदूषक यह कहता है कि थोड़ा झूठ बोलकर इस कष्ट से बचा जा सकता है । इस पर चारुदत्त उत्तर देता है—"अहमिदानीमनृतमभिधास्ये ।"

भैक्ष्येणाप्यर्जयिष्यामि पुनर्न्यास-प्रतिक्रियाम् ।
अनृतं नाभिधास्यामि चारित्रभ्रंशकारम् ॥३।२६

वसन्तसेना के गहनों के बदले में जब उसकी पत्नी धूता अपनी बहुमूल्य रत्नावली दे देती है तब प्रसन्न होकर चारुदत्त कहता है।

विभवानुगता भार्या सुखदुःखसुहृद् भवान्।
सत्यं च न परिभ्रष्टं यद्दरिद्रेषु दुर्लभम्॥ ३।२८

न्यायालय में जब वसन्तसेना की हत्या के लिये उसे अपराधी सिद्ध किया जा रहा है उसी समय शकार के साथ झगड़ा करने वाले विदूषक की कुक्षि से गहने गिर पड़ते हैं। उनके बारे में वह सच ही बोलता है कि ये गहने वसन्तसेना के हैं। (पृ० ५५९) वह झूठ बोलकर अपनी रक्षा नहीं करना चाहता है।

(६) धर्माचारपारायण—

मृच्छकटिक के प्रारम्भ से ही चारुदत्त एक धर्म-कर्मनिरत व्यक्ति के रूप में दिखाई देता है। वह देवी, देवताओं की पूजा और उनके लिये बलिप्रदानादि कार्य में प्रमाद नहीं करता है। उनको नित्य कर्तव्य मानता है। वह सन्ध्यावन्दन और समाधि भी लगाता है। जब विदूषक इसके धर्माचार की आलोचना करता है तब वह कहता है "वयस्य ! मा मैवम्, गृहस्थस्य नित्योऽयं विधिः।" (पृ० ५२)

तपसा मनसा वाग्भिः पूजिता बलिकर्मभिः॥१।१६

उसको अपने धर्माचरण पर पूर्ण विश्वास है। दशम अंक में उसे जब मृत्युदण्ड दे दिया जाता है तब भी वह धर्म पर विश्वास नहीं छोड़ता है।

"प्रभवति यदि धर्मो दूषितस्यापि मेऽद्य॥१०।३४

(७) प्रतिष्ठाप्रेमी—

चारुदत्त को अपने कुल की और अपनी मान-प्रतिष्ठा का ध्यान सदा रहता है। वह ऐसा कोई आचरण नहीं करना चाहता है जिससे उसकी अथवा उसके वंश की मान-प्रतिष्ठा को धक्का लगता हो। वसन्तसेना के गहनों की चोरी के सम्बन्ध में विदूषक द्वारा झूठ बुलवाये जाने के उत्तर में कहता है—"अनृतं नाभिधास्यामि चारित्रभ्रंशकारकम्।" (३।२६)

जब उस पर वसन्तसेना की हत्या का अपराध सिद्ध हो जाता है तो उसको अपनी मृत्यु का कोई कष्ट नहीं है अपि तु केवल चरित्रपतन का ही है—

"न भीतो मरणादस्मि केवलं दूषितं यशः। (१०।२७)
तेनास्म्यकृत-वैरेण क्षुद्रेणात्यल्पबुद्धिना।
शरेणेव विषाक्तेन दूषितेनापि दूषितः॥ १०।२८

प्राप्यैतद्व्यसन - महार्णव - प्रपातं ।
.........वक्तव्यं यदिह मया हता प्रियेति ।। १०।३३

अपनी प्रतिष्ठा की रक्षा के लिये वह एक झूठ भी बोलता है। जब वसन्तसेना के गहनों की चोरी हो जाती है तो वह उन गहनों को जुये में हार जाने की बात वसन्तसेना से कहलवाता है और गहनों के बदले में बहुमूल्य रत्नावली भेजता है। वह जानता है कि सत्य बात जानने पर वसन्तसेना रत्नावली नहीं लेगी। और समाज के लोग उसकी गरीबी के कारण सच घटना पर विश्वास नहीं करेंगे। फलस्वरूप चारों ओर उसकी बदनामी होगी। वह विदूषक से कहता है--

"कः [श्रद्धास्यति भूतार्थं सर्वो मां तुलयिष्यति ।" ३।२४
"यं समालम्ब्य विश्वासं न्यासोऽस्मासु तया कृतः ।
तस्यैतन्महतो मूल्यं प्रत्ययस्यैव दीयते ।।" ३।२९

(८) कलाप्रेमी---गुणग्राही —

वह एक गुणग्राही के रूप में सामने आता है। वह हर अच्छी कला का सम्मान करता है। संगीत के प्रति उसकी विशेष रुचि है। कामदेवायतन उद्यान में इसी प्रसंग में उपस्थित उसको देखकर वसन्तसेना उस पर आकृष्ट हुई थी। उसकी इस आदत से चेट प्रसन्न नहीं है। वह इसे स्वाभावकि दोष मानता है।

"योऽपि स्वाभाविकदोषो न शक्यो वारयितुम् ।" ३।२

वह वीणा को बहुत पसन्द करता है। रेभिल के यहाँ संगीत सुनने के बाद भी वह उसका आनन्दानुभव करता रहता है।

शर्विलक द्वारा लगायी गयी कलापूर्ण सेंध को देखकर उसकी प्रशंसा करने लगता है-"अहो, दर्शनीयोऽयं सन्धिः। कथमस्मिन्नपि कर्मणि कुशलता ?" (पृष्ठ २१७)

(९) आदर्श प्रेमी---

मृच्छकटिक में चारुदत्त को एक उच्च कोटि का आदर्श प्रेमी चित्रित किया गया है। वह एक सर्वश्रेष्ठ परम सुन्दरी गणिका को चाहता है किन्तु प्रेम-व्यवहार के प्रदर्शन में वह गणिका ही पहले कदम उठाती है। चारुदत्त को शकार द्वारा कहलाये गये विदूषक के माध्यम से यह ज्ञात होता है कि वसन्तसेना उस पर अनुरक्त है "एसा वसन्तसेना कामदेवाअदणुज्जाणादो पहुदि भवन्तमणुरत्ता।" (पृ० ८०) परन्तु वह अपनी निर्धनता से खूब परिचित है। अतः अपने घर आई हुई भी वसन्तसेना को देखकर प्रसन्न होकर भी सोचता है कि मेरा प्रेम मुझ तक ही सीमित रहने वाला है--

यथा मे जनितः कामः क्षीणे विभवविस्तरे ।
क्रोधः कुपुरुषस्येव स्वगात्रेष्वेव सीदति ।। १।५५

आगे जब विदूषक वसन्तसेना के घर जाकर उसे रत्नावली देकर उसके व्यवहार से रुष्ट होकर लौटता है और चारुदत्त से वेश्या-सम्बन्ध तोड़ने को कहता है, तब वह अपनी स्थिति समझता हुआ उत्तर देता है "वयस्य ! अलमिदानीं परीवादमुक्त्वा । अवस्थयैवास्मि निवारितः ।"

वेगं करोति तुरगस्त्वरितं प्रयातुं
... ... पुनर्विशन्ति ।। ५।८

यस्यार्थास्तस्य सा कान्ता धनहार्यो ह्यसौ जनः ।
वयमर्थैः परित्यक्ता ननु त्यक्तैव सा मया ।। ५।९

न्यायालय में जब उसकी मित्रता वसन्तसेना के साथ पूछी जाती है तो वह कुछ लज्जित होकर उत्तर देता है "भो अधिकृताः ! मम मित्रमिति । अथवा यौवनमत्रापराध्यति ।" (पृ० ५३५) वह वसन्तसेना के बिना अपने जीवन को व्यर्थ समझता है । वह मृत्युदण्ड स्वीकार करते हुये कहता है -"न च मे वसन्तसेना-विरहितस्य जीवनेन कृत्यम् ।" (पृ० ५६०)

वह यद्यपि गणिका वसन्तसेना से प्रेम करता है किन्तु अन्यत्र इस विषय में सावधान है । वह स्त्रीलम्पट नहीं है । प्रथम अंक में जब भ्रमवश रदनिका समझकर वसन्तसेना पर अपना दुपट्टा (अपने पुत्र को उढ़ाने के लिये) फेंक देता है तब अन्य स्त्री का ज्ञान होते ही पश्चात्ताप करने लगता है—"न युक्तं परकलत्र-दर्शनम् ।" (पृ० ११८)

(१०) पत्नी का महत्त्व समझने वाला—

यद्यपि प्रारम्भ से ही वह गणिका वसन्तसेना पर अनुरक्त दिखाई देता है तथापि वह अपनी धर्मपत्नी धूता पर पूरी निष्ठा और अटूट प्रेम रखता है । वह हर समय उसको सम्मान देता है। वह उसका स्थान सदैव ऊँचा समझता है । वसन्तसेना के गहनों की चोरी का समाचार जब धूता को मिलता है तो वह मूछित हो जाती है । वह अपने पति की प्रतिष्ठा की रक्षा के लिये अपनी बहुमूल्य रत्नावली दे देती है । उसको पाकर पहले चारुदत्त कुछ चिन्तित होता है परन्तु उसी समय अपनी पत्नी की बुद्धिमत्ता को समझते हुये उसके ऊपर गर्व करता हुआ कहता है—

'विभवानुगता भार्या ... ... ।। ३।२८

दशम अंक में चारुदत्त के मृत्युदण्ड के समाचार से दुखी धूता के आत्मदाह का समाचार जानकर चारुदत्त घबड़ा जाता है। वह वसन्तसेना को प्राप्त करके भी अपनी धर्मपत्नी का वियोग नहीं चाहता है। वह उसका अकेले स्वर्ग जाना अच्छा नही मानता है।

न महीतलस्थितिसहानि भवच्चरितानि।
... ... तव विहाय पतिम्॥ १०।५६

जब अचानक वहाँ पहुँच कर अपने पुत्र रोहसेन को उठाकर आलिंगन करने लगता है। तब अपनी पत्नी से कहता है--

हा प्रेयसि! प्रेयसि विद्यमाने
कोऽयं कठोरो व्यवसाय आसीत्।
अम्भोजिनी - लोचनमुद्रणं किं
भानावनस्तंगमिते करोति? ॥ १०।५८

(११) **पुत्रस्नेही**—

चारुदत्त अपने एकमात्र पुत्र पर अपार स्नेह करता है। प्रथम अंक में वह उसे सायंकालीन शीतल हवा से बचाने के लिये अपना दुपट्टा देता है। (पृ० ११५) आगे नवम अंक में अपनी मृत्यु के पश्चात् अपने समान ही पुत्र से भी प्रेम करने के लिए विदूषक से आग्रह करता है।

नृणां लोकान्तरस्थानां देहप्रतिकृतिः सुतः।
मयि यो वै तव स्नेहो रोहसेने स युज्यताम्॥ ९।६२

दशम अंक में मृत्युदण्ड के समय चाण्डालों से पुत्रदर्शन की याचना करता है--"नापरीक्ष्यकारी दुराचारः पालक इव चाण्डालः, तत्परलोकार्थं पुत्रमुखं द्रष्टु-मभ्यर्थये।" (पृ० ५८५-८६)

अल्प अवस्था वाले पुत्र के हाथों से भविष्य में दिये जाने वाले तर्पणजल के विषय में कहता है--

चिरं खलु भविष्यामि परलोके पिपासितः।
अत्यल्पमिदमस्माकं निपावोदकभोजनम्॥ १०।१७

मृत्यु का समय सोचकर ब्राह्मणों का विभूषण, देवकार्य तथा पितृकार्य का उपयोगी साधन 'यज्ञोपवीत' पुत्र को देता है। (१०।१८)

वहीं पुत्र का आलिंगन करता हुआ कहता है--

इदं तत् स्नेहसर्वस्वं सममाढ्यदरिद्रयोः।
अचन्दनमनौशीरं हृदयस्यानुलेपनम्॥ १०।२३

पुत्र को शीघ्र ही घर जाने के लिये कहता हुआ सावधान करता है—

आश्रमं वत्स गन्तव्यं गृहीत्वाद्यैव मातरम् ।
मा त्वयि पितृदोषेण त्वमप्येवं गमिष्यसि ॥१०।३२

(१२) आदर्श मित्र

चारुदत्त एक आदर्श मित्र है। वह अपने हर मित्र के हर सुख-दुःख में साथ देने को तैयार रहता है। वह मित्रता की कसौटी को जानता है। वह किसी की विपन्नता में मित्रता छोड़ने की निन्दा करता है।

सत्यं न मे विभवनाशकृतास्ति चिन्ता
भाग्यक्रमेण हि धनानि भवन्ति यान्ति ।
एतत्तु मां दहति नष्टधनाश्रयस्य
यत्सौहृदादपि जनाः शिथिलीभवन्ति ॥ १।१६

यदा तु भाग्यक्षयपीडितां दशां नरः कृतान्तोपहितां प्रपद्यते ।
तदास्य मित्राण्यपि यान्त्यमित्रतां चिरानुरक्तोऽपि विरज्यते जनः ॥१।५३

वह अच्छे मित्र की प्रशंसा करता है। विदूषक को वह एक अच्छा मित्र समझता है। वह कहता है—

'अये ! सर्वकालमित्रं मैत्रेयः ।' (पृ० ४१)
... . सुख-दुःख-सुहृद्भवान् ॥ ३।२८

अपने शोक में विदूषक को प्राण छोड़ने से मना करता है।

(१३) चारुदत्त की निर्धनता

एक अतिसम्पन्न परिवार में जन्म लेने पर भी अनवरत दान करने के कारण चारुदत्त बहुत अधिक निर्धन हो चुका है। अपनी निर्धनता से उसे कभी-कभी बहुत अधिक मानसिक क्लेश होता है। उसने अपनी निर्धनता में जो अनुभव किये हैं उन्हें सभी को बताना चाहता है। इस सम्बन्ध में प्रथम अंक के ९, १०, ११, १२, १३, १५, और ५३, पंचम अंक के ४०, ४१, ४२, श्लोक ध्यान देने योग्य हैं।

(१४) भाग्यवादी

चारुदत्त कर्म की अपेक्षा भाग्य पर अधिक विश्वास करता है। इसीलिये सम्भवतः वह निर्धन होता चला जाता है। वह धनादि की प्राप्ति और हानि को भाग्याधीन ही मानता है।

"भाग्यक्रमेण हि धनानि भवन्ति यान्ति ।" १।१३

चारुदत्त से स्वयं मिलने के लिये आई हुई वसन्तसेना के विषय में विट का यह कहना महत्त्वपूर्ण है—

अथवा श्रीरेषा प्रहरणमनङ्गस्य ललितं,
कुलस्त्रीणां शोको, मदनवरवृक्षस्य कुसुमम् ।
सलीलं गच्छन्ती, रतिसमयलज्जा-प्रणयिनी,
रतिक्षेत्रे रङ्गे प्रियपथिक-सार्थैरनुगता ।। ५।२२

अष्टम अंक में शकार द्वारा वसन्तसेना का गला दबा दिये जाने पर उसकी मृत्यु से दुखी विट कहता है—

दाक्षिण्योदकवाहिनी विगलिता याता स्वदेशं रति-
र्हा हालङ्कृतभूषणे सुवदने क्रीडारसोद्भासिनि ।
हा सौजन्यनदि प्रहासपुलिने हा मादृशामाश्रये
हा हा नश्यति मन्मथस्य विपणिः सौभाग्यपण्याकरः ।। ८।३८

वह आगे शकार से कहता है—

अपापा पापकल्पेन नगरश्रीर्निपातिता । ८।३९

(२) वेश्या की अपेक्षा गणिका का वैशिष्ट्य

वेश्या शब्द सामान्यतया प्रयुक्त होता है परन्तु गणिका शब्द का प्रयोग सम्मानित तथा उच्चस्तरीय वेश्या के लिये होता है। यहाँ वसन्तसेना को गणिका के रूप में चित्रित किया गया है।

(३) अतुल वैभवशाली

वसन्तसेना उज्जयिनी की एक अतुल वैभव-सम्पन्न गणिका है। चतुर्थ अंक में विदूषक ने उसके भवनों और उनमें विद्यमान पदार्थों का वर्णन करते हुए उसे कुबेर भवन का अंश कहा है। (द्र० यत्सत्यं स्वर्गायित इदं गेहम् । ··· यत्सत्यं खलु नन्दनवनमिव मे गणिकागृहं भासते । ········· किं तावद् गणिकागृहम्, अथवा कुबेरभवनपरिच्छेद इति ।) (पृ० २५२)

उसे धन की लिप्सा नहीं है। जब शकार द्वारा भेजी गयीं दश सहस्र मुद्राओं के कारण उसकी माता उसे शकार के पास जाने के लिये आदेश देती है तो वह तत्काल अस्वीकार कर देती है।

"यदि मां जीवन्तीमिच्छसि, तदेवं पुनरहं न मात्राऽऽज्ञापयितव्या ।" (पृ० २३५)

प्रथम अंक में जब विट उसे वेश्या होने के कारण सभी की सेवा में उपस्थित होने का परामर्श देता है तो वह शकार को ठुकराती हुई कहती है—

"गुणः खल्वनुरागस्य कारणम्, न पुनर्बलात्कारः।" (पृ० ८०)

अष्टम अंक में जब गाड़ी बदल जाने के कारण वह शकार के उद्यान में पहुँच जाती है तब उसे देखकर विट कहता है—

"पूर्वं मानादवज्ञाय द्रव्यार्थं जननीवशात्।" (८।१७)

यह सुनकर वह तुरन्त सिर हिलाकर निषेध करती है—"न"।

(४) निर्लोभता

गणिका होने पर भी वसन्तसेना में लोभ नहीं है। वह धन की चिन्ता नहीं करती है। द्वितीय अंक में जब मदनिका चारुदत्त के साथ उसका प्रेम जानती है तब वह कहती है—"दरिद्रः खलु सः श्रूयते।" इस पर वसन्तसेना तत्काल उत्तर देती है—

"अत एव काम्यते। दरिद्रपुरुषसंक्रान्तमनाः खलु गणिका लोकेऽवचनीया भवति। (पृ० १३३)

चतुर्थ अंक में विदूषक के मुख से चारुदत्त द्वारा गहनों का जुए में हारना मालूम होता है। इसके बदले में उसे रत्नावली प्राप्त होती है। परन्तु इसके पूर्व वह शर्विलक के हाथ से चुराये गये अपने आभूषण प्राप्त कर चुकी है। अतः वह उदारता देख कर चारुदत्त पर और अधिक आकृष्ट हो जाती है "कथं चौरैरपहृतमपि शौण्डीरतया द्यूते हारितमिति भणति। अत एव काम्यते।" (पृ० २६५) शकार द्वारा भेजी गयी दश हजार मुद्राओं को वह बिना किसी सोच-विचार के ठुकरा देती है। वह गहनों के बदले में पाई हुई रत्नावली को वापस देने के लिए स्वयं जाती है। और चारुदत्त की धर्मपत्नी धूता के पास विनयपूर्वक भेजती है कि उसे लेकर उस पर अनुग्रह करें।

द्वितीय अंक में जुआ में कर्ज लेकर हारा हुआ संवाहक जब उसके पास पहुँचता है और पीछे-पीछे कर्जदार। वह संवाहक को चारुदत्त का सेवक जानकर तत्काल सोने के कड़े भिजवा कर उसे ऋणमुक्त करा देती है।

शर्विलक चोरी करने के बाद जव मदनिका को प्राप्त करने की इच्छा से वसन्तसेना के पास जाता है। वह मदनिका से पूछता है कि क्या तुम्हारी स्वामिनी धन लेकर तुम्हें मुक्त कर देगीं। तब वह जवाब देती है कि स्वामिनी का वश चले

तो वह बिना धन के सभी को मुक्त कर दें—"यदि मम छन्दस्तदा विनाऽर्थं सर्वं परिजनमभुजिष्यं करिष्यामि।" (पृ० २४१-४२)

उसकी निर्लोभता और वात्सल्य पर ही इस नाटक (प्रकरण) की आधार-शिला है। षष्ठ अंक में जब दासी चारुदत्त के पुत्र को मिट्टी की गाड़ी से खिलाना चाहती है किन्तु वह पड़ोसी के लड़के की सोने की गाड़ी से ही खेलने की जिद करता है। तब वसन्तसेना उसे देख कर अपने ऊपर नियन्त्रण नहीं कर पाती है। वह उस बच्चे की मार्मिक बातें सुन कर तत्काल अपने गहने उतार कर दे देती है और कहती है कि इन गहनों से अपनी गाड़ी बनवा कर खेलो। (पृ० ३७३)

(५) अतिप्रतिभाशाली

वसन्तसेना एक अति प्रतिभासम्पन्न गणिका है। उसे विविध कलाओं का अच्छा ज्ञान है। वह किसी बात का तात्पर्य समझने में अति कुशल है। प्रथम अंक में जब शकारादि से घिर जाती है और विट रहस्यमय ढंग से कुछ कहता है तो वह उसका आशय समझ कर तदनुसार आचरण करती है। अपनी माला और पैर के नूपुर हटा देती है। चारुदत्त के पास गहने धरोहर रखने के लिये भी वह अकाट्य तर्क देती है "पुरुषेषु न्यासा निक्षिप्यन्ते न पुनर्गेहेषु।" (पृ० १२१) द्वितीय अंक में मदनिका के साथ चारुदत्त के विषय में बातचीत करती हुई भी अपनी बुद्धिमत्ता दिखाती है। चतुर्थ अंक में शर्विलक और मदनिका की गुप्त बातें सुनकर वह तत्काल उसका आशय समझ लेती है। और इसीलिये शर्विलक द्वारा गहने दिये जाने पर वह उसे उसके बदले में मदनिका देती हुई अपनी प्रतिभा प्रदर्शित करती है—"अहमार्यचारुदत्तेन भणिता य इममलङ्कारकं समर्पयिष्यति तस्य त्वया मदनिका दातव्या। तत् स एवैतां ते ददातीत्यार्येणावगन्तव्यम्।" (पृ० २६३-६४) पंचम अंक में जब चारुदत्त के पास अभिसार के लिये जाती है तो मार्ग में विट द्वारा मेघों का वर्णन सुनकर स्वयं भी उसी स्तर का वर्णन करने लगती है। वहाँ का वर्णन गंभीर और प्रभावोत्पादक है। संस्कृतभाषा का प्रयोग करती है। (द्र०५।१५, १६, १८, २०) चारुदत्त से अकेले मिलने के लिये बड़ी चतुरता से छत्रधारिणी को विट के पास ही रहने देती है, जिससे विट कहने लगता है—"अनेनोपायेन निपुणं प्रेषितोऽस्मि।" (पृ० ३४५) षष्ठ अंक में जब चारुदत्त के भवन के भीतर अपने को देखती है तब अपने को गणिका होने से वह प्रवेश की अपराधिनी समझ कर कहती है कि क्या मेरे आने से चारुदत्त के परिजनों को सन्ताप हो रहा है? (पृ० ३६९) आगे रदनिका के साथ लाये गये चारुदत्त के पुत्र के साथ बातचीत करते समय बालक की मार्मिक बातें सुनकर उनका आशय समझ कर तत्काल अपने गहने उतार कर दे देती है और कहती है कि इनसे गाड़ी बनवाकर खेलो। (पृ० ३७३)

अष्टम अंक में जब गाड़ी बदल जाने के कारण शकार के पास पहुँच जाती है और विट इससे अप्रसन्न होकर कुछ कहता है तो उसके प्रश्नों का उत्तर बड़ी कुशलता से देती है। पंचम अंक में विट ने उसकी कलाभिज्ञता स्पष्ट कही है--

'सकलकलाभिज्ञायाः न किंचिदपि उपदेष्टव्यमस्ति।" (पृ० ३४२)

(६) चारुदत्त से अटूट प्रेमभावना

कामदेवायतन उद्यान में जब से चारुदत्त को देखा है तभी से वह उस पर आसक्त हो जाती है। वह हर मूल्य पर चारुदत्त को पाना चाहती है। प्रथम अंक से ही शकार की बातों से उसका चारुदत्त के साथ प्रेम-सम्बन्ध ज्ञात हो जाता है। उसके इस प्रेम के लिये जब शकारादि उससे कहते हैं तो वह अपने को गर्वान्वित समझती है। जुआ में हार कर कर्जदार बना हुआ संवाहक जब उसके पास आता है तब वह उसे चारुदत्त का सेवक जानकर बहुत प्रसन्न होती है और स्नेहभाव प्रदर्शित करके सोने के कड़े भिजवा कर उसे ऋणमुक्त करा देती है। वहीं मदनिका से बात करती हुई चारुदत्त के साथ अपने प्रेमसम्बन्ध को प्रकट कर देती है। जब मदनिका चारुदत्त की निर्धनता का संकेत करती है तो वह जबाव देती है--"अत एव काम्यते। दरिद्र-पुरुष-संक्रान्तमनाः खलु गणिका लोकेऽवचनीया भवति।" (पृ० १३३)

प्रथम अंक में जब चारुदत्त भ्रम से उस पर अपना डुपट्टा डाल देता है और वास्तविकता प्रकट होने पर अपने कृत्य के लिये खेद प्रकट करता हूँ। तब वह अपने मन में इसे अच्छा समझती हुई हर्ष प्रकट करती है। कर्णपूरक को प्राप्त हुआ डुपट्टा जब उसे मिलता है, उसमें चारुदत्त का नाम पड़ती है तो आनन्द से तत्काल ओढ़ लेती है। वह अपने गहने भी इसी लिये चारुदत्त के पास धरोहर रखती है कि उस कारण उसे उससे अधिक मिलने का अवसर प्राप्त होता रहेगा। चारुदत्त द्वारा विदूषक के हाथों भिजवायी गई रत्नमाला वापस देने के लिये स्वयं ही आती है। वह गहनों की चोरी की घटना की सारी बातें कहने के बाद विदूषक के मुख से वर्षा का ज्ञान प्राप्त करके श्रृंगारभाव प्रकट करती हुई पहले स्वयं ही आलिंगन करती है। यह उसके प्रबल अनुराग का स्पष्ट उदाहरण है। वह प्रेम में गुण को प्रमुख कारण मानती है —"गुणः खल्वनुरागस्य कारणम्, न पुनर्बलत्कारः।" (पृ० ८०) इसी लिए अति सम्पन्न राजश्यालक द्वारा प्रेषित विपुल धनरशि को ठुकरा कर निर्धन जानते हुए भी चारुदत्त से विशुद्ध प्रेम करती है। गाड़ी बदल जाने से भ्रमवश जब शकार के सामने पहुँच जाती है और बलपूर्वक प्रेम करने को बाध्य की जाती है तब भी वह मृत्यु की चिन्ता नहीं करती है और

चारुदत्त के साथ ही प्रेम कहती रहती है। इसी कारण क्रुद्ध होकर शकार उसका गला दबा कर मार डालता है। दशम अंक में जब अपनी हत्या के अपराध में चारुदत्त के मृत्युदण्ड का ज्ञान होता है तब अपनी पूरी शक्ति लगा कर दौड़ती हुई आकर उसे मृत्युदण्ड देने से रोकती है और चारुदत्त के वक्षस्थल पर गिर जाती है। उसके इस प्रबल प्रेम के कारण ही नया राजा बना 'आर्यक' उसे चारुदत्त की वधू बना देता है--"आर्ये वसन्तसेने ! परितुष्टो राजा भवतीं बधूशब्देनानुगृह्णाति।" (पृ० ६४७)

(७) धूता के प्रति आदरभावना

वसन्तसेना अपनी सामाजिक मर्यादा के प्रति सदैव सावधान रहती है। वह जब सबसे पहले चारुदत्त के घर अचानक पहुँचती है और उन लोगों द्वारा पहचान ली जाती है तब वह अपराध समझकर क्षमायाचना करने लगती है--"एतेनानुचितभूमिकारोहणेनापराद्धऽयं शीर्षेण प्रणम्य प्रसादयामि।" (पृ० १२१) जब उसके गहनों की चोरी के बदले में चारुदत्त अपनी पत्नी धूता की बहुमूल्य रत्नावली उसके पास भेजता है तब वह उसे स्वीकार तो कर लेती है जिससे चारुदत्त के मन को ठेस न पहुँचे। परन्तु धूता के प्रति सम्मान प्रकट करने के लिए स्वयं वापस लौटाने जाती है और वह उस रात में उसके घर रहती है। प्रातः काल चेटी द्वारा धूता के पास रत्नावली भेजती हुई कहती है--"चेटि ! गृहाणैतां रत्नावलीं मम भगिन्या आर्याधूतायै गत्वा समर्पय। वक्तव्यं च--'अहं श्रीचारुदत्तस्य गुणनिर्जिता दासी तदा युष्माकमपि। तदेषा तवैव कण्ठाभरणं भवतु।'' (पृ० ३६९) इससे धूता के प्रति उसकी अतिशय सम्मानभावना प्रकट होती है। दशम अंक में अग्निप्रवेश के समय जब वह धूता के पास पहुँचती है और चारुदत्त को जीवित देखकर धूता अपना अग्निदाह रोक देती है, वसन्तसेना को साथ में देखकर कहती है "दिष्ट्या कुशलिनी भगिनी।" तब वसन्तसेना कहती है "अधुना कुशलिनी संवृत्तास्मि।" (पृ० ६४७) वह चारुदत्त से प्रगाढ़ प्रेम करती हुई भी धूता के प्रति सदैव सम्मान-भावना और सद्भाव रखती है।

(८) रोहसेन के प्रति वात्सल्य

वसन्तसेना गणिका होने के कारण सन्तानसुख से वंचित है। परन्तु उसके मन में स्त्रीसुलभ मातृत्व विद्यमान है। प्रथम अंक में वह चारुदत्त के पुत्र रोहसेन को जान लेती है। षष्ठ अंक में रदनिका जब गोद में लेकर उसे वसन्तसेना के पास लाती है, तब उसको रोता हुआ देख कर उसके बारे में पूछती है--"रदनिके ! स्वागतं ते, कस्य पुनरयं दारकः अनलंकृतशरीरोऽपि चन्द्रमुख आनन्दयति माम्।"

(पृ० ३७१) जब रदनिका उसे चारुदत्त का पुत्र बतलाती है तब उसका स्नेह उमड़ पड़ता है। वह हाथ फैलाकर कहती है--"एहि मे पुत्रक ! आलिङ्ग।" यह कहकर गोद में उठा लेती है। चारुदत्त के समान सुन्दर रूप देखकर मुग्ध हो जाती है। पूछे जाने पर अपना परिचय देती है "ते पितुर्गुणनिर्जिता दासी"। वहाँ बालक की भोली भाली किन्तु मार्मिक बातें सुनकर उसका हृदय द्रवित हो जाता है। वह अति भावुक होकर बोलती है--"जात ! मुग्धेन मुखेनातिकरुणं मन्त्रयसि।" वह तत्काल बालक की इच्छा पूरी करने के लिये अपने सभी गहने उतार कर दे देती है और कहती है--'एषेदानीं ते जननी संवृत्ता। तदगृहाणैतमलंकारकम्, सौवर्ण-शकटिकां कारय।" (पृ० ३७३) यहाँ मिट्टी की गाड़ी के बदले सोने की गाड़ी से खेलने की जिद पूरी करती है। इसी घटनाचक्र पर यह नाटक (प्रकरण) केन्द्रित है।

(९) धर्माचरण में प्रवृत्ति

गणिका होने पर भी वह सामान्यतया नित्य स्नान और देवतार्चन आदि करती है। द्वितीय अंक में जब माता की आज्ञा होती है कि स्नान करके देवताओं की पूजा सम्पन्न करो। तब उद्विग्नचित्त होने से वह कह देती है--"चेटि ! विज्ञापय मातरम् अद्य न स्नास्यामि। तद् ब्राह्मण एव पूजां निर्वर्तयतु।" (पृ०१२९)

(१०) उपसंहार

इस प्रकार यह ज्ञात होता है कि मृच्छकटिक में वसन्तसेना एक अनुपम सुन्दरी, नवयौवना गणिका के रूप में चित्रित होने पर भी वह अति उदार, सरल, भावुक, बड़ों का सम्मान करने वाली, छोटों पर स्नेह करने वाली, सभी के सुख, दुःख को समझने वाली, पवित्र प्रेम की उपासिका और कुलीन स्त्री के समान आचरण करने का प्रयास करने वाली है। गणिका होने पर भी उसे धन की लिप्सा नहीं है। उसका व्यवहार सभी को प्रभावित करने वाला है। उसका एक-मात्र दोष है गणिका होना, इसी कारण शकार द्वारा चाही जाने पर भी जब उसे नहीं स्वीकार करती है और वह गला दबाकर मार डालता डालता है तब शोकातुर विट कहता है--

"अन्यस्यामपि जातौ मा वेश्या भूस्त्वं हि सुन्दरि।
चारित्र्यगुणसम्पन्ने जायेथाः विमले कुले ॥८।४३

उसी अवसर पर विट के निम्न वचन भी ध्यान देने योग्य है--

दाक्षिण्योदकवाहिनी विगलिता, याता स्वदेशं रति-
र्हा हालंकृतभूषणे, सुवदने, क्रीडारसोद्भासिनि।

हा सौजन्यनदि, प्रहासपुलिने, हा मादृशामाश्रये,
हा हा नश्यति मन्मथस्य विपणिः सौभाग्यपण्याकरः ।। ८।३८

शकार

मृच्छकटिक का चारुदत्त यदि गुणों का निधि है तो शकार अवगुणों की खान। भरत के अनुसार शकार का लक्षण —

उज्ज्वलवस्त्राभरणः कुप्यत्यनिमित्ततः प्रसीदति च ।
अधमो मागधभाषी शकारो बहुबुद्धिमान् ।।

साहित्यदर्पणकार ने जो लक्षण लिखा है वह मृच्छकटिक के शकार को लक्ष्य में रख कर ही किया है—

मदमूर्खताभिमानी दुष्कुलतैश्वर्यसंयुक्तः ।
सोऽयमनूढाभ्राता राज्ञः श्यालः शकार इत्युक्तः ।। सा० द० ३।५४

मृच्छकटिक के शकार का आचरण देखते ही इसकी नीच कुलोत्पत्ति का ज्ञान हो जाता है। यह राजा पालक की रखैल स्त्री का भाई है। अतः इसे राजा का साला होने का बड़ा घमण्ड है। अपने इस सम्बन्ध का दुरुपयोग करने में यह कभी भी नहीं हिचकिचाता है।

प्रथम अंक में विट इसे 'काणेलीमातः' कह कर बुलाता है। विदूषक भी इसी प्रकार 'काणेलीपुत्र' 'कुट्टिनीसुत' आदि गर्हित शब्दों से ही बुलाता है। यह वसन्तसेना को प्राप्त करने के लिये सभी प्रकार के प्रयास करता है किन्तु विट को यह अच्छा नहीं लगता है। अपने लोगों से घिरी हुई वसन्तसेना को विट सांकेतिक शब्दों में भागने का परामर्श देता है। किन्तु जब वसन्तसेना घिर जाती है तब शकार अपने को 'वर-पुरुष-मनुष्य वासुदेव' कहकर आत्मप्रशंसा करता हुआ वसन्तसेना को प्रभावित करना चाहता है।

वास्तव में यह महामूर्ख है परन्तु अपनी बहुज्ञता प्रकट करने के लिये अनेक असंगत पौराणिक बातें कहा करता है। (पृ० ७२, ४९६) इसकी अनर्गल बातों से दर्शकों का मनोरंजन होता है।

यह अत्यन्त डरपोक है किन्तु अपनी बहादुरी की डींग हांकता रहता है। स्त्रियों को मारने में अपनी शूरता मानता है। प्रथम अंक में जब वसन्तसेना अपनी परिचारिकाओं को बुलाती है तो यह मनुष्य का आना समझ कर डर जाता है किन्तु जब स्त्री का आना मालूम पड़ता है तब कहता है—"स्त्रीणां शतं मारयामि।

शूरोऽहम् ।" (पृ० ७२) प्रथम अंक में जब विदूषक से क्षमा मांग कर विट चला जाता है। तब यह भी भय-वश जाने लगता है—"तच्छीघ्र-मपक्रमावः ।" (पृ० १३३)

अष्टम अंक के प्रारम्भ में यह बौद्ध भिक्षु को पीटता हैं। इससे बौद्ध धर्म में इसकी अनास्था प्रतीत होती है।

यह सुरीले कण्ठ का गायक नहीं है किन्तु अपने मधुर कण्ठ की खूब प्रशंसा करता है। (देखिये श्लोक—८।१३–१४)

इसके मूर्खतापूर्ण आचरण का एक अच्छा उदाहरण अष्टम अंक में है। जब स्थावरक चेट गाड़ी ले आने की सूचना देता है तब यह चहारदीवारी को पार कर ही गाड़ी ले आने की जिद करता है। (पृ० ४५३) इसे गाड़ी टूटने, बैल मरने और स्थावरक के मरने की कोई चिन्ता नहीं होती है।

जब वसन्तसेना के आने का ज्ञान होता है तो अपनी प्रशंसा करने लगता है—"भाव, भाव ! मां प्रवरपुरुषं मनुष्यं वासुदेवकम् । ··· ··· तेन ह्यपूर्वा श्रीः समासादिता। तस्मिन् काले मया रोषिता साम्प्रतं पादयोः पतित्वा प्रसादयामि ।" (पृ० ४५३)

किन्तु वसन्तसेना इसकी प्रार्थना नहीं सुनती है और प्रसन्न होने की अपेक्षा इसे पैर से मार देती है। तब यह क्रुद्ध होकर उसको मार डालने की धमकी देता है। पहले तो विट और चेट से मारने के लिये कहता है किन्तु उनके इनकार कर देने पर स्वयं गला दबाकर मार डालता है। विट द्वारा पूछे जाने पर अपने इस पाप कृत्य कीं प्रशंसा करने लगता है। और इसी सन्दर्भ में स्वयं ले जाकर मृत वसन्त-सेना को दिखाता है। जब इस पाप कर्म को विट पर मढ़ना चाहता है तब विट अपनी तलवार खींच लेता है। जिससे यह डर जाता है और बहाना करने लगता है।

इसको स्वर्ग, नरक की चिन्ता नहीं है। मूर्ख होने पर भी इसने बड़ी चतुराई के साथ वसन्तसेना की हत्या का आरोप चारुदत्त पर लगाने में सफलता प्राप्त की। वसन्तसेना द्वारा की गयी उपेक्षा के कारण इसने उसकी हत्या करने में संकोच नहीं किया। साथ ही, उसके प्रेमी चारुदत्त को भी मृत्युदण्ड दिलवा दिया। इसकी निर्दयता असीम है। जब चारुदत्त को मृत्युदण्ड के लिये ले जाया जा रहा था उस समय में उसका पुत्र रोहसेन विदूषक के साथ वहाँ आया था। यह उस पुत्र के साथ ही चारुदत्त के मृत्युदण्ड का आदेश दे देता है—"सपुत्रमेवैतं मारय।"

(पृ० ६०६) अपने षड्यन्त्र में सफल होने से प्रसन्न होता है और अपने सामने ही चारुदत्त का वध देखना चाहता है। "तत् प्रेक्षिष्ये, शत्रुविनाशो नाम मम महान् हृदयस्य परितोषो भवति। श्रुतं च मया, यो हि किल शत्रुं व्यापाद्यमानं पश्यति तस्य अन्यस्मिन् जन्मान्तरे अक्षिरोगो न भवति।" (पृ० ६०१)

अपने पद के दुरुपयोग में यह कभी नहीं चूकता है। नवम अंक में इसके मुकदमा की सुनवाई के लिये न्यायाधिकारी आनाकानी करते हैं तब यह उनके स्थानान्तरण की धमकी देता है जिससे डर कर वे लोग उसी दिन इसका मुकदमा विचार के लिए ले लेते हैं। इससे यह मन में बहुत प्रसन्न होता है कि अब भयभीत न्यायाधिकारियों से अपनी हर बात मनवा लूंगा। "ही, प्रथमं भणन्ति न दृश्यते, सांप्रतं दृश्यते इति। तन्नामा भीतभीता अधिकरणभोजकाः, यद्यदहं भणिष्यामि तत्तत्प्रत्याययिष्यामि।" (पृ० ५१४)

यह चारुदत्त का अपमान करने का निश्चय कर चुका है। न्यायालय में उसको दिये गये आसन का विरोध करता है। और उसे आसन से उतरवा कर जमीन पर बैठवा देता है।

यह बड़ा कायर है। दशम अंक में जब वसन्तसेना आ जाती है। सारी सत्यता प्रकट हो जाती है। लोग शकार को पकड़ने के लिए दौड़ते हैं तब यह भाग जाता है। उसी बीच राजपरिवर्तन हो जाता है। और यह पकड़ लिया जाता है। शर्विलक इसको दण्डित करने के लिये कहता है। वहाँ यह अपनी मूर्खता प्रकट करता हुआ वसन्तसेना से कहता है—"गर्भदासि! प्रसीद प्रसीद, न पुनर्मारयिष्यामि।" (पृ० ६३८) किन्तु अपने को असहाय देखकर यह चारुदत्त की ही शरण में जाना उचित समझता है और तत्काल चारुदत्त की शरण में चला जाता है और अपने प्राणों की रक्षा की प्रार्थना करता है। (पृ० ६३७)

इस प्रकार यह स्पष्ट हो जाता है कि शकार एक दुष्ट, धूर्त, मूर्ख और घमण्डी पात्र है। यह मूर्खता और कुटिलता की मूर्ति है। किन्तु यह अपने इन व्यवहारों से दर्शकों को प्रभावित कर लेता है। आज के खलनायक के दृष्टिकोण से इसका चरित्र उत्कृष्ट कोटि का माना जा सकता है।

विदूषक

मृच्छकटिक में विदूषक का नाम मैत्रेय है। यह निकृष्ट ब्राह्मणकुल का है। द्वितीय अंक में रात में पैर धोने के प्रसंग में यह अपना परिचय देता है—"यथा नागानां मध्ये डुडुभस्तथा सर्वब्राह्मणानां मध्येऽहं ब्राह्मणः।" (पृ० १११) यह

पेटू है। हर समय खान-पान की चिन्ता करता है। चारुदत्त की सम्पन्नता में यह विविध व्यंजनों का आनन्द लिया करता था। उनकी याद करके दुखी हो जाता है। (पृ० ३६) चतुर्थ अंक में वसन्तसेना का वैभव देखकर आश्चर्यचकित हो जाता है। किन्तु उसके द्वारा किये गये केवल मौखिक सत्कार से सन्तुष्ट नहीं होता है। यह चारुदत्त से शिकायत करता है—"एतावत्या ऋद्धया न तयाऽहं भणितः—आर्य मैत्रेय ! विश्रम्यताम्, मल्लकेन पानीयमपि पीत्वा गम्यताम् ।" (पृ० ३०३)

यह भीतर से बड़ा डरपोक है। जब चारुदत्त इसे चौराहे पर बलिसमर्पण के लिये जाने को कहता है तब सायंकाल अकेले जाने में डरता है और इसी लिये इन्कार कर देता है। फिर रदनिका को साथ लेकर जाना स्वीकार करता है। प्रथम अंक में ही जब चारुदत्त वसन्तसेना के साथ जाने के लिये कहता है तब भी यह अस्वीकार कर देता है। (पृ० १३३) जब चारुदत्त चलने लगता है तब यह उसका साथ देता है।

तृतीय अंक में वसन्तसेना के स्वर्णाभूषणों का भाण्ड रखने में यह डरता है किन्तु विवश होकर रखता है।

इसे धर्माचारण में रुचि नहीं है। यह देवी-देवताओं की पूजा आदि में विश्वास नहीं करता है। यह ऐसा मानता है कि इस पूजा पाठ का कोई फल नहीं है। क्योंकि नियमपूर्वक पूजा पाठ करने वाला चारुदत्त क्यों विपत्ति में पड़ जाता है। (पृ० ५२)

यह कभी-कभी बड़ी मूर्खता दिखाता है। जब वसन्तसेना के आगमन के समय विट इसे कुछ प्रश्न देता है तो यह उनका उत्तर नहीं कह पाता है और बार-बार चारुदत्त की सहायता लेता है। (पृ० ३१६) यह मजाकिया स्वभाव का है। प्रथम अंक में जब वसन्तसेना चारुदत्त के घर में अपने प्रवेश के लिए क्षमायाचना करती है, दूसरी ओर उसके साथ दासी के समान व्यवहार करने के कारण चारुदत्त भी क्षमायाचना करता है। इस विचित्र स्थिति में यह विदूषक दोनों के सामने हाथ जोड़कर दोनों से क्षमायाचना का सुन्दर अभिनय करता है। (पृ० १२१)

इसे वेश्यासम्पर्क अच्छा नहीं लगता है। इसी कारण यह चारुदत्त से भी वेश्या का सम्पर्क तोड़ने का आग्रह करता है। (पृ० ३०६) यह वेश्यासम्पर्क को बहुत बड़ा प्रत्यवाय मानता है। इसकी दृष्टि में वेश्यामात्र कुटिल होती है। यह वसन्तसेना को भी एक साधारण वेश्या ही समझता है—"सुष्ठूपलक्षितं दुष्टविलासिन्या।" (पृ० २९६) जब वसन्तसेना के भवन में बन्धुलों [जारजसन्तानों] को बहुत

सुखी देखता है तब इसके मन में भी लालच आता है किन्तु तत्काल ही यह उसकी निन्दा करने लगता है—"मा तावद् यद्यप्येष उज्जलः स्निग्धश्च ।

तथापि श्मशानवीथ्यां जात इव चम्पक वृक्षोऽनभिगमनीयो जनस्य ।। (४।२९)

यह कभी-कभी जानकर भी अनजान बनने का प्रयास करता है। जब पंचम अंक में वसन्तसेना चारुदत्त के पास दुर्दिन में अभिसार के लिये आयी है तब यह जानता हुआ भी, उससे आगमन का कारण पूछता है। (पृ० ३५०)

इसको संगीत आदि कलाओं में कोई रुचि नहीं है। रेभिल के सुन्दर गाने की यह आलोचना कर देता है। (पृ० १८५)

विदूषक के चरित्र की सबसे बड़ी विशेषता है चारुदत्त के साथ अटूट मैत्री। यह अपनी मित्रता की कसौटी पर सदैव खरा रहा है। इसने कभी भी कोई ऐसा व्यवहार नहीं किया है जिससे मित्रता पर कोई दोष लगे। यह चारुदत्त की सम्पन्नता के समय उसके घर पर अनेक प्रकार के व्यंजनों का सुखोपभोग किया करता था किन्तु बाद में चारुदत्त के अतिनिर्धन हो जाने पर भी यह उसका साथ नहीं छोड़ता है। इधर-उधर से अपने भोजन की व्यवस्था करके रात में विश्राम के लिये चारुदत्त के घर पर ही आता है "अथवा मयाऽपि मैत्रयेण परस्यामन्त्रणकानि समीहितव्यानि ।... गृहपारावत इव आवासनिमित्तमत्रागच्छामि ।" (पृ० ३६)

प्रथम अंक में जब सबसे पहले चारुदत्त इसे देखता है तो प्रसन्न होकर कहता है "अये ! सर्वकालमित्रं मैत्रेयः प्राप्तः ।" (पृ० ४१) आगे तृतीय अंक में गहनों की चोरी से यह बहुत दुखी हो जाता है। गहनों के बदले में चारुदत्त की पत्नी धूता जब अपनी रत्नावली चारुदत्त के पास इसके हाथों से भिजवाती है। तब चारुदत्त कहता है—

"विभवानुगता भार्या सुखदुःखसुहृद् भवान् । (३।२८)

दशम अंक में चारुदत्त का मृत्युदण्ड सुनकर उसके द्वारा पुत्र को वापस ले जाने का अनुरोध करने पर यह उससे कहता है—"भो वयस्य ! एवं त्वया ज्ञातं त्वया विनाऽहं प्राणान् धारयिष्यामि ?" (पृ० ६०७) आगे भी यह चारुदत्त के विना अपना जीवन रखना नहीं चाहता है। यही नहीं, जब चारुदत्त की मृत्यु का समाचार सुनकर उसकी पत्नी अग्नि में प्रवेश करना चाहती है तब भी यह उससे पहले अपने प्राण छोड़ने का अनुरोध करता है—"समीहितसिद्धयै प्रवृत्तेन ब्राह्मणोऽग्रे कर्तव्यः । अतो भवत्या अहमग्रणीर्भवामि ।" (पृ० ६४४)

यह चारुदत्त की निर्धनता से बहुत दुखी है। अतः यह उसे सदैव सान्त्वना देता रहता है कि आपकी निर्धनता भी एक प्रकार की शोभा है—"भो वयस्य !

अलं सन्तप्तेन, प्रणयिजनसंक्रामितविभवस्य, सुरजनपीतशेषस्य प्रतिपच्चन्द्रस्येव परिक्षयोऽपि तेऽधिकतरं रमणीयः ।" (पृ० ४४)

चारुदत्त की मानप्रतिष्ठा की रक्षा के लिये यह झूठ बोलने से भी नहीं डरता है । वसन्तसेना के गहनों के चोरी चले जाने के बाद चारुदत्त को अतिखिन्न देखकर यह कहता है—"अहं खलु अपलपिष्यामि —केन दत्तम् ? केन गृहीतम् ? को वा साक्षी ? इति ।" (पृ० २२३) चारुदत्त की आज्ञा से यह वसन्तसेना के पास जाकर झूठ बोल देता है कि चारुदत्त उसके गहनों को जुआ में हार गया है । (पृ० २९६)

यह चारुदत्त के समान ही उसके पुत्र और पत्नी से भी सच्चा अनुराग रखता है । उनके सुख दुख के विषय में सावधान रहता है ।

संक्षेप में, यहाँ विदूषक एक सच्चा मित्र, बुद्धिमान साथी और हर परिस्थिति में साथ निभाने वाला सहयोगी दिखाई देता है । यह केवल हंसी या मजाक का पात्र नहीं है । इसने नाटक के कथानक-संयोजन में महत्वपूर्ण भूमिका निभायी है ।

शर्विलक

यह ब्राह्मणकुलोत्पन्न किन्तु भ्रष्ट संस्कारवाला है । इसके पूर्वज चारों वेदों के ज्ञाता और दान न लेने वाले उत्कृष्ट ब्राह्मण थे । (पृ० २१०) कुसंगति से अथवा परिस्थितिवश यह चोरी की शिक्षा लेकर उसमें अपने को निष्णात मानने लगता है । यह बहुत बुद्धिमान है । किन्तु अपनी बुद्धि का दुरुपयोग भी करता है । वेश्यासंसर्ग के फलस्वरूप वसन्तसेना की परिचारिका मदनिका पर आसक्त हो जाता हैं । यह हर कीमत पर उसे प्राप्त करना चाहता है । शर्त के अनुसार भारी धनराशि देकर मदनिका को मुक्त करा कर पाया जा सकता है । इस काम के लिये यह चोरी करने लगता है । यह सम्भवतः उज्जैन का मूल निवासी नहीं है । कहीं बाहर से आकर रेभिल के घर पर रुका हुआ है । इसी लिये चारुदत्त की निर्धनता से परिचित नहीं है । काफी परिश्रम करके उसके घर सेंध लगाता है । यह चोरी को वास्तव में अच्छा काम नहीं समझता है । फिर भी नौकरी आदि से धनार्जन की अपेक्षा चोरी ही अच्छी मानता है । (३।११)

यह बुद्धिमान है । चोरी करते समय जब सांप ने इसकी अंगुली डँस ली है तब तत्काल अपने जनेऊ का उपयोग करता है और बांध कर विष का प्रभाव रोक लेता है । (पृ० २०५) पुराना किवाड़ खोलने पर आवाज न करें इसके लिये नीचे पानी छिड़क लेता है । घर में स्वयं घुसने के पहले एक पुतला को प्रवेश करा कर निरापद स्थिति जान लेता है तब स्वयं प्रवेश करता है । (पृ० २०६)

चोरी में भी इसके अपने कुछ सिद्धान्त हैं। बलपूर्वक चोरी करना ठीक नहीं मानता है। जहाँ केवल स्त्री है वहाँ चोरी करना या स्त्री पर प्रहार करना अच्छा नहीं समझता है। मदनिका के सामने अपने चौर्यकार्य की भी विशेपता प्रकट करता हुआ कहता है —

"कार्याकार्यविचारिणी मम मतिश्चौर्येऽपि नित्यं स्थिता।" ४।६

यह परिस्थितिवश चोर बना है। अतः जब चारुदत्त के यहाँ घुसकर दयनीय दशा देखता है तो उसके घर चोरी करने का विचार छोड़ देता है— "अथवा न युक्तं तुल्यावस्थं कुलपुत्रजनं पीड़यितुम्, तद् गच्छामि।" (पृ० २०९) किन्तु विदूषक द्वारा शपथ दिलाने पर ही स्वर्णभाण्ड ले लेता है। (पृ० २१०)

यह यद्यपि मदनिका पर आसक्त है तथापि अपनी प्रतिष्ठा की हानि नहीं सहना चाहता है। यह वेश्याओं की सारी गतिविधियों से भली भाँति परिचित है। यह उन पर विश्वास करने के पक्ष में नहीं है। (४।१०-१६)

चोरी करके उन गहनों से मदनिका को छुड़वाने के लिये वसन्तसेना के घर पहुँचता है। वहाँ मदनिका के आचरण पर कुछ शंका होते ही यह उत्तेजित होकर चारुदत्त का वध करने को तैयार हो जाता है। किन्तु जब वस्तुस्थिति का ज्ञान होता है। तब अपने कर्म का पश्चात्ताप करता है। (४।१८) मदनिका द्वारा बहुत समझाये जाने पर यह उन गहनों को लेकर वसन्तसेना के पास जाकर गहने देकर झटपट चला जाना पसन्द करता है। परन्तु वसन्तसेना को सारी घटना का ज्ञान हो चुका है अतः वह मदनिका को वधू बनाकर गाड़ी पर बैठा कर इसके साथ विदा कर देती है। इससे यह बहुत प्रसन्न हो कर कृतज्ञता प्रकट करता है। (पृ० २६६)

यह एक सच्चा मित्र है। यह मित्रता को उच्चकोटि का मानता है। (४।२५) जब नयी पत्नी मदनिका को लेकर जाता है, मार्ग में अपने प्रिय मित्र गोपालपुत्र आर्यक के बन्दी होने का समाचार मिलता है तो बेचैन हो जाता है। यह उसे छुड़ाने की सोंचता है। मदनिका उसमें सहयोगिनी बनती है। और अकेले घर जाना चाहती है। इससे यह बहुत खुश हो जाता है। और गाड़ीवान द्वारा मदनिका को घर भेजकर आर्यक को छुड़ाने की योजना में निकल जाता है। (पृ० २७१)

तीव्रबुद्धि वाला होने के कारण यह तत्कालीन राजा पालक के विरुद्ध षड्यन्त्र करने में सफल हो जाता है। यह यज्ञशाला में स्थित राजा पालक पर आक्रमण करके पशु के समान वध कराने में सफल हो जाता है। (१०।५१)

आर्यक के राजा बनते ही यह सर्वप्रथम चारुदत्त को मृत्युदण्ड से मुक्त कराना चाहता है क्योंकि आर्यक के प्राणों की रक्षा चारुदत्त की गाड़ी में छिप कर बैठने

के कारण हुई थी। पहले तो अपने पूर्वकृत्य के कारण यह चारुदत्त के सामने जाने में संकोच करता है किन्तु चारुदत्त की उदारता जानकर उसके सामने पहुँच कर सारे नये समाचार सुनाता है। अपना परिचय तत्काल कराने के लिये चारुदत्त के घर की गयी चोरी का स्मरण कराता है। (पृ० ६३२) चारुदत्त उस घटना को बुरा नहीं मानता है और इसका आलिंगन कर लेता है।

चारुदत्त के प्राणों की रक्षा के साथ साथ उसकी पत्नी की भी पूरी चिन्ता रखता है। उसके अग्निप्रवेश की खबर से यह व्याकुल है (पृ० ६४२) और चारुदत्त से अति शीघ्र वहाँ पहुँचकर पत्नी के प्राणों की रक्षा करने को कहता है और इसमें सफल भी होता है।

यह 'शठे शाठ्यं समाचरेत्' इस सिद्धान्त को मानता है। जब चारुदत्त मृत्युदण्ड से मुक्त हो जाता है तब यह षड्यन्त्रकारी शकार को प्राणदण्ड देने का आग्रह करता है। परन्तु चारुदत्त की सदाशयता के आगे इसको झुकना पड़ता है और शकार को छोड़ दिया जाता है।

उपर्युक्त विवरण से यह स्पष्ट है कि शर्विलक के व्यक्तित्व में सद्गुणों और दुर्गुणों का अच्छ सामञ्जस्य है। समय-समय पर इसे अपनी कुलीनता का स्मरण होता रहता है। यह सच्चा मित्र और अन्याय का विरोधी है।

धूता

यह चारुदत्त की विवाहिता पत्नी है। इसके सौन्दर्य आदि की कोई चर्चा नहीं की गयी है। अतः यह सामान्य रूपवाली ही प्रतीत होती है। किन्तु इसमें गुणों की कमी नहीं है। यह अपने पति चारुदत्त के सम्मान, सुख और दुःख की पूरी चिन्ता करती है। (पृ० २२४) इसे अपने पति के चरित्र की दुर्बलता का ज्ञान है कि वह गणिका वसन्तसेना से प्रेम करता है किन्तु इसके कारण यह उससे नाराज नहीं होती है। प्रत्युत वसन्तसेना को समुचित आदर देती है। वसन्तसेना के कारण इसके पति को मृत्युदण्ड मिल रहा है, इस पर भी यह वसन्तसेना के लिये अपशब्द नहीं कहती है। दशम अंक में जब वसन्तसेना चारुदत्त के साथ सामने आती है तब यह प्रसन्न होकर उसका आलिंगन करती है। (पृ० ६४७)

वसन्तसेना के गहने इसके पति के पास धरोहर रखे थे। उनकी चोरी हो गयी। यह समाचार पाकर यह बहुत खिन्न हो जाती है। यह समाज में अपने पति की अप्रतिष्ठा नही सहन कर सकती है। वसन्तसेना का मुंह बन्द करने के लिये यह अपने मातृगृह से प्राप्त बहुमुल्य रत्नावली विदूषक को दान में देती है।

(पृ० २२५) इसका उद्देश्य स्पष्ट था कि विदूषक उसे चारुदत्त को देकर वसन्तसेना के पास भिजवा दें। इस कारण चारुदत्त की प्रतिष्ठा सुरक्षित रह जाती है।

यह चारुदत्त का अनिष्ट सुनना भी पसन्द नहीं करती है। दशम अंक में यह स्पष्ट शब्दों में कहती है कि आर्यपुत्र के अमंगल [मृत्यु] सुनने की अपेक्षा अपने प्राण छोड़ना पसन्द करती है। यह अपने प्रिय पुत्र से कहती है "जात! मुञ्च माम्, मा विघ्नं कुरुष्व। बिभेमि आर्यपुत्रस्यामङ्गलाकर्णनात्।" (पृ० ६४३)

यह अपने पति को ही सबसे बड़ा आभूषण मानती है। इसीलिये जब वसन्तसेना इसके घर आकर दासी के द्वारा रत्नावली वापस भिजवाती है तब यह लेने से इन्कार करती हुई कहती है कि आर्यपुत्र ने प्रसन्न होकर आपको भेंट की है अतः यह आपके ही पास रहे। मेरे तो आर्यपुत्र ही सबसे बड़े आभूषण हैं— "आर्यपुत्रेण युष्माकं प्रसादीकृता, न युक्तं ममैतां ग्रहीतुम्। आर्यपुत्र एव ममाभरणविशेष इति जानातु भवती।" (पृ० ३७०)

मृच्छकटिक में दो नायिकायें हैं—(१) निर्धन तथापि कुलीन और विवेकी धर्मपत्नी धूता, (२) अतिसम्पन्न रूपवती गणिका वसन्तसेना। ग्रन्थकार ने वसन्तसेना की तुलना में धूता को अपने चरित्र-सम्बन्धी वैशिष्टय को प्रदर्शित करने का अवसर कम दिया है। फिर भी यह स्पष्ट है कि इसका व्यक्तित्व वसन्तसेना से कम नहीं है। यह अपनी निर्धनता को पूरी तरह जानती हुई भी बिना संकोच के बहुमूल्य रत्नावली वसन्तसेना को दिलवा देती है। उसके द्वारा वापस किये जाने पर भी नहीं लेती है। दूसरी बात, वेश्यासंसर्गी पति और वेश्या दोनों को स्वाभाविक रीति से महत्त्व देती है। निर्लोभता और पति का अन्य स्त्रीसम्पर्क सहन कर लेना—इन दोनों विशेषताओं के कारण धूता एक आदर्श सहनशील भारतीय नारी के रूप में प्रतिष्ठित हो जाती है।

मदनिका

यह वसन्तसेना की दासी है। इस पर वसन्तसेना को बहुत अधिक विश्वास है। इसी लिये वसन्तसेना अपने और चारुदत्त के प्रेम की बात सबसे पहले इसे ही बताती है। मदनिका पूरी कोशिश करती है कि इसकी सखी को अधिक से अधिक सुख प्राप्त हो। यह दासी होने पर भी अच्छे स्वभाववाली है। इसका प्रेमी शर्विलक चतुर्थ अंक में जब इससे मिलता है और चारुदत्त के घर चोरी करने की बात कहता है तो यह चारुदत्त के किसी भी अनिष्ट की सम्भावना से घबड़ा जाती है। (पृ० २४७) बाद में वस्तुस्थिति जानने पर समाश्वस्त होती है। यह वसन्तसेना के गहनें देने का सत्परामर्श देती है। शर्विलक इससे बहुत प्रभावित

शकार की उक्ति है—"भाव ! भाव ! एषा गर्भदासी कामदेवायतनोद्यानात् प्रभृति तस्य दरिद्रचारुदत्तस्य अनुरक्ता।" (पृ० ८०) यह इसका **'बीज'** है। इससे ऐसा प्रतीत होता है कि कामदेवायतन उद्यान में किसी उत्सव में वसन्तसेना ने चारुदत्त को देखा और उस पर आसक्त हो गई। जब किसी अवान्तर घटना के कारण मूल कथा विच्छिन्न सी प्रतीत होने लगती है तो उसको जोड़ने वाला वृत्त **"बिन्दु"** कहा जाता है। द्वितीय अंक में जुआरियों की कथा से मूल कथा विच्छिन्न-सी होने लगती है तभी कर्णपूरक की घटना आती है। कर्णपूरक चारुदत्त से प्राप्त सुगन्धित दुपट्टा वसन्तसेना को देता है। उसे पाकर वह पुनः प्रसन्न होकर उसे ओढ़ लेती है। (पृ० १७९) इस प्रकार टूटी हुई कथा फिर जुड़ जाती है। अतः कर्णपूरक की कथा **'बिन्दु'** है।

शर्विलक का चरित्र तृतीय अंक से प्रारम्भ होता है। शर्विलक को मदनिका की प्राप्ति चतुर्थ अंक में ही यद्यपि हो जाती है किन्तु उसका अभिनय अन्त तक चलता रहता है। वह अन्त में यह घोषणा करता है कि राजा आर्यक ने वसन्तसेना को चारुदत्त की 'वधू' के रूप में माना है। यह लम्बी कथा होने से **'पताका'** है।

द्वितीय अंक में बना हुआ भिक्षुक अष्टम अंक से आगे दशम अंक तक अभिनय करता है। उसकी कथा **'प्रकरी'** समझनी चाहिये।

पञ्चम अर्थप्रकृति है—**'कार्य'**। इस प्रकरण में वसन्तसेना और चारुदत्त का मिलन रूप फल **'कार्य'** है, ऐसा सामान्यतः माना जाता है। परन्तु इस सन्दर्भ में पूज्य श्री कान्तानाथ शास्त्री का यह वक्तव्य ध्यान देने योग्य है कि **'वसन्तसेना के मन में चारुदत्त की बधू बनने की उत्कट अभिलाषा थी, वह दशम अंक में नये राजा आर्यक की घोषणा के साथ पूरी होती है—"शर्विलकः—आर्ये वसन्तसेने ! परितुष्टो राजा भवतीं वधूशब्देनानुगृह्णाति।"** (पृ० ६४७)

'वधू' बनना ही फल मानना तर्कसंगत है क्योंकि वसन्तसेना एक धनी गणिका है। वह किसी से भी मिलने के लिये स्वतन्त्र है। वह चारुदत्त से कई बार मिल भी चुकी है। परन्तु वह समाज में एक प्रतिष्ठित स्थान चाहती है। वह एक पत्नी का पद प्राप्त करना चाहती है। अतः उपर्युक्त फल ही **'कार्य'** समझना चाहिये।

कार्य की पाँच अवस्थायें :

कथावस्तु में जो 'कार्य' [मुख्यफल] होता है उसके लिये पांच अवस्थायें मानी हैं—**१. आरंभ, २. यत्न, ३. प्राप्त्याशा, ४. नियताप्ति, ५. फलागम।**

जहाँ फल की प्राप्ति के लिये उत्सुकता दिखाई दे, वहाँ **'आरम्भ'** माना जाता है। प्रथम अंक में शकार आदि के द्वारा पीछा की जाती हुई वसन्तसेना जब

मौका पाकर अंधेरे में चारुदत्त के घर में प्रविष्ट हो जाती है। तब उसे अपनी दासी समझ कर चारुदत्त अपने पुत्र को ओढ़ाने के लिये उस पर सुगन्धवासित दुपट्टा डाल देता है। उसे सूंघकर वसन्तसेना मन ही मन उसके अनुदासीन यौवन का का ज्ञान करके खुश हो जाती है। वहीं चारुदत्त उससे कही गयीं बातें याद करके उत्सुकता प्रकट करता है। जब वस्तुस्थिति प्रकट होती है तब एक दूसरे से औपचारिता के लिये क्षमायाचना करने लगते हैं और चारुदत्त कहता है—"तिष्ठतु प्रणयः।" (पृ० १२१) वहाँ का दोनों का वार्तालाप परस्पर में उत्सुकताजनक है।

फल की प्राप्ति के लिये शीघ्रतापूर्वक जो उपाय किये जाते हैं उन्हें **'यत्न'** कहते हैं। प्रथम अंक में वसन्तसेना चारुदत्त की प्रणयप्रार्थना यद्यपि नहीं स्वीकार करती है तथापि वह लगातार मिलने जुलने के लिये अपने गहने उसके घर पर धरोहर के रूप में रख देती है। द्वितीय अंक में मदनिका के साथ बातचीत में वसन्तसेना इसी रहस्य को प्रकट भी कर देती है। इस अलङ्कारन्यास की घटना से लेकर पञ्चम अङ्क तक यही स्थिति चलती रहती है। पञ्चम अंक में चारुदत्त के वहाना के समान बहाना बनाकर वह अपनी चेटी से कहलवाती है कि आपकी भेजी हुई रत्नावली जुये में हार गयीं हैं। अतः उसके बदले में यह अलङ्कारभाण्ड ले लीजिये। इससे चारुदत्त से मिलते रहने का अवसर पुनः सुलभ हो जाता है।

उपाय और विघ्नों की आशंका होते-होते जब फलप्राप्ति की सम्भावना हो जाती है तब **'प्राप्त्याशा'** होती है। षष्ठ अंक के आरम्भ से लेकर दशम अंक में जहाँ चारुदत्त का वध करते समय चाण्डाल के हाथ से तलवार छूटकर गिर जाती है और उसी समय वसन्तसेना आकर कहती है "आर्याः! एषा अहं मन्दभागिनी यस्याः कारणादेष व्यापाद्यते।" (पृ० ६१९) इस उक्ति तक **'प्राप्त्याशा'** है। षष्ठ अंक में चेटी के मुख से वसन्तसेना को यह मालूम होता है कि उद्यान में मिलने के लिए उसे जाना है। उसकी मिलने की आशा बन जाती है। परन्तु संयोगवश गाड़ियों का विपर्यय हो जाने से वह शकार के पास पहुँच जाती है। इससे उसकी आशा पुनः निराशा में परिणत हो जाती है। इसी प्रकार चारुदत्त भी गाड़ी में वसन्तसेना के आने की आशा करता है किन्तु गोपालपुत्र 'आर्यक' को देखकर उसकी आशा भी निराशा में बदल जाती है। न्यायालय में उसे वसन्तसेना की हत्या के आरोप में मृत्युदण्ड दिया जाता है तब तो उसकी आशा पूर्णतया समाप्त होने लगती है। किन्तु चाण्डाल के हाथ से तलवार छूटकर गिरती है और उसी समय भिक्षुक के साथ वसन्तसेना वहाँ अचानक आ जाती है इससे उन दोनों का मिलन हो जाता है।

विघ्नों के दूर हो जाने पर जब फलप्राप्ति का पूर्णनिश्चय हो जाता है तब **'नियताप्ति'** कही जाती है। दशम अंक में चाण्डाल की इस उक्ति "त्वरितं का पुनरेषांसपतता चिकुरभारेण।" (१०।३८) के आगे चारुदत्त के प्राणों की रक्षा होती है। उसके बाद राजा पालक के मारे जाने पर असहाय शकार चारुदत्त की शरण में आ जाता है। सभी विघ्न बाधायें दूर हो जाती हैं और फलप्राप्ति का निश्चय हो जाता है।

जहाँ कार्य का सम्पूर्ण फल प्राप्त हो जाता है वहाँ **'फलागम'** होता है। दशम अंक में चारुदत्त उचित समय पर पहुँच कर अपनी पत्नी धूता को अग्निदाह से बचा लेता है और उसी समय वसन्तसेना को लक्षित करके शर्विलक यह कहता है—"आर्ये वसन्तसेने ! परितुष्टो राजा भवतीं वधूशब्देनानुगृह्णाति।" (पृ० ६४७)

पाँच सन्धियाँ :

नाटकीय कथावस्तु की उपर्युक्त पाँच अर्थप्रकृतियाँ तथा कार्यावस्थायें मिलने पर जो भाग बनते हैं उन्हें "पञ्चसन्धि" कहा जाता है—**मुख, प्रतिमुख, गर्भ, विमर्श, निर्वहण**। बीज + आरम्भ = मुख। बिन्दु + यत्न = प्रतिमुख। पताका + प्राप्त्याशा = गर्भ। [इसमें पताका होना सर्वत्र अनिवार्य नहीं माना गया है।] प्रकरी + नियताप्ति = विमर्श। [इसमें प्रकरी होना अनिवार्य नहीं है।] कार्य + फलागम = निर्वहण।

(१) जहाँ 'बीज' नाना रसों की अभिव्यञ्जना के साथ उदित होता है वहाँ **'मुखसन्धि'** होती है। प्रथम अंक में "चतुरो मधुरश्चायमुपन्यासः"। (पृ० १२१) इस वसन्तसेना के स्वगत कथन तक 'मुखसन्धि' है।

(२) जहाँ बीज का उद्भेद इस प्रकार हो कि वह कहीं प्रतीत हो और कहीं नहीं, वहाँ **'प्रतिमुखसन्धि'** होती है। प्रथम अंक में वसन्तसेना के इस कथन से "आर्य ! यद्येवमहमार्यस्य अनुग्राह्या" (पृ० १२२) से लेकर पञ्चम अंक के अन्त तक यह 'प्रतिमुख सन्धि' चलती है। इसमें पताका होना अनिवार्य नहीं है केवल 'प्राप्त्याशा' से भी यह होती है।

(३) दिखलाई देकर नष्ट हो जाने वाले 'बीज' का बार-बार अन्वेषण **'गर्भसन्धि'** है। षष्ठ अंक के आरम्भ से लेकर दशम अंक में चाण्डाल के हाथ से अचानक छटक कर तलवार के गिर जाने पर भाग कर आती हुई वसन्तसेना की इस उक्ति "आर्याः ! एषा अहं मन्दभागिनी, यस्याः कारणादेष व्यापाद्यते।" (पृ० ६१९) तक 'गर्भसन्धि' है।

(४) गर्भसन्धि की अपेक्षा 'बीज' अधिक विकसित हो जाता है और शापादि के कारण विघ्नयुक्त भी दिखाई देता है, वहाँ **'विमर्शसन्धि'** होती है। इसे 'अवमर्श' भी कहा जाता है। इसमें 'प्रकरी' होना अनिवार्य नहीं है। दशम अंक में चाण्डाल की इस उक्ति "त्वरितं का पुनरेषांसपतता चिकुरभारेण।" (१०।३८) से लेकर "आश्चर्यं पुनरुज्जीवितोऽस्मि" (पृ० ६४०) इस शकार की उक्ति तक यह 'विमर्श' सन्धि है।

(५) जहाँ इधर उधर बिखरे हुये अर्थों का एक प्रधान फल में उपसंहार कर दिया जाता है वहाँ **'निर्वहण'** सन्धि होती है। दशम अंक में "नेपथ्ये कलकलः" (पृ० ६४०) से लेकर समाप्ति तक यह 'सन्धि' चलती है।

पाश्चात्य समीक्षकों के अनुसार नाटक की कथावस्तु पाँच भागों में विभक्त की जाती है—आरम्भ, आरोह, केन्द्र, अवरोह, परिणाम। मृच्छकटिक में इसका सुन्दर समन्वय होता है।

मृच्छकटिक में रस

भारतीय समीक्षकों ने काव्य में रस को अत्यधिक महत्त्व दिया है। साहित्य-दर्पणकार ने तो "वाक्यं रसात्मकं काव्यम्' यहाँ तक कह डाला। "एक एव भवेदङ्गी शृङ्गारो वीर एव वा" इस उक्ति के अनुसार शृङ्गार की मुख्यता स्पष्ट है। अन्य रस गौणरूप से होते हैं। विभाव, अनुभाव और संचारी भावों के योग से सहृदयों के मन में एक लोकोत्तर आनन्द की अनुभूति होती है वही 'रस' है। इसी का अनुभव कराना काव्यों के अध्ययन का प्रयोजन है।

मृच्छकटिक एक 'प्रकरण' है। इसमें अङ्गी रस शृङ्गार है। इसके दो भेद होते हैं—(१) संभोग, (२) विप्रलम्भ। इस प्रकरण में सम्भोग शृङ्गार अंगी है। इसके अतिरिक्त विप्रलम्भ शृङ्गार, हास्य, करुण, बीभत्स, वीर तथा शान्त आदि रस अंगरूप से आये हैं।

संभोग शृङ्गार

मृच्छकटिक में चारुदत्त तथा वसन्तसेना के प्रगाढ़ प्रेम का सुन्दर सजीव चित्रण है। इसमें गणिका वसन्तसेना नायिका है। यह 'सामान्या' है। अतः इसका प्रेम 'रस' की कोटि में नहीं आना चाहिये, रसाभास होना चाहिये तथापि इसे एक कुलनारी के रूप में प्रस्तुत करने का प्रयास किया गया है। इसका प्रेम एकमात्र चारुदत्त में है। इसी लिये यह सामाजिक प्रतिष्ठा के अनुरूप 'वधू' बनने की इच्छा रखती है जो अन्त में राजा के आदेश से पूरी हो जाती है।

प्रथम अंक में ऐसा ज्ञात होता है कि कामदेवायतन उद्यान में चारुदत्त को देखने के बाद यह उस पर पूर्णतया आसक्त हो जाती है। जब प्रथम बार इन दोनों का मिलन होता है तब चारुदत्त के मन में भी, सोया हुआ अनुराग जाग उठता है। द्वितीय तथा चतुर्थ अंक में विप्रलम्भ रहता है। इससे संभोग शृंगार और पुष्ट होता है। इसके बाद पञ्चम अंक में वसन्तसेना अभिसारिका बन कर मिलने के लिये आती है। यहाँ मेघों का गर्जन और वर्षा तथा बिजली की चमक उद्दीपन करते हैं। उन्हें देखकर चारुदत्त अति प्रसन्न होने लगता है और उनकी निन्दा करने वाले विदूषक को मना करता है। वर्षा तेज होने पर वे दोनों घर के भीतर चले जाते हैं वहाँ वसन्तसेना का आलिङ्गन करता हुआ चारुदत्त अपने सुन्दर मनोभाव व्यक्त करता है।

षष्ठ अंक में वसन्तसेना पुनर्मिलन के लिये अत्युत्सुक दिखाई देती है। सप्तम अंक में चारुदत्त वसन्तसेना से मिलने के लिये अत्यधिक आतुर दिखाई देता है।

चारुदत्त जिस वसन्तसेना को अपना जीवन मानकर बैठा है उसी की हत्या का आरोप उस पर लगता है और मृत्युदण्ड की स्थिति आ जाती है। वह वसंन्तसेना से रहित अपने जीवन को व्यर्थ समझकर मृत्यु ही अच्छी मानने लगता है। परन्तु करुण विप्रलम्भ की स्थिति से पहले ही अचानक वसन्तसेना आ जाती है और चारुदत्त का आलिङ्गन (वक्षस्थल पर गिरना) करती है। भावाकुल चारुदत्त प्रियासंगम के प्रभाव को कह उठता है। इसके बाद राजा के आदेश से 'वधू' बनाकर वसन्तसेना सदा के लिये उसे प्राप्त हो जाती है।

यहाँ संभोग शृङ्गार के बीच-बीच में विप्रलम्भ के कारण उसका अति सुन्दर परिपाक होता है। अतः यही अङ्गी रस है।

शकार भी वसन्तसेना से प्रेम करता है। इसके लिये वह सभी सम्भव उपायों का सहारा लेता है। परन्तु एकपक्षीय तथा अनुचित ढंग के कारण यह शृङ्गाराभास है।

विप्रलम्भ शृङ्गार

संभोग शृङ्गार के परिपाक के लिए मृच्छकटिक में विप्रलम्भ के अति सुन्दर स्थल हैं क्योंकि विप्रलम्भ के बिना सम्भोग की परिपुष्टि नहीं मानी जाती है।

विप्रलम्भ की सर्वप्रथम प्रतीति द्वितीय अंक में होती है। वसन्तसेना उत्कण्ठित होकर मन में कुछ सोचती है। वह इतनी व्याकुल है कि अपनी माता के स्नानादि के आदेश को भी नहीं मानती है। उसकी इस अवस्था से उसकी सखी प्रसन्न है। क्योंकि अब उसे प्रेमभावयुक्त देखकर उसके भावी सुख की कल्पना करने लगती है। द्वितीय अंक के अन्त में भी कर्णपूरक की सूचना के अनुसार वह चारुदत्त को देखने के लिये अपने भवन के ऊपर चढ़ जाती है।

चतुर्थ अंक के प्रारम्भ में अपनी व्याकुलता दूर करने के लिये वसन्तसेना चारुदत्त का चित्र बनाती है। और मदनिका की सम्मति के लिए उसे दिखाती है। चतुर्थ अंक के अन्त में वह चारुदत्त के पास जाने के लिये निकलना चाहती है।

पञ्चम अंक में जब वसन्तसेना के व्यवहार से क्षुब्ध होकर विदूषक वापस आता है और चारुदत्त से वेश्या का संसर्ग छोड़ने को कहता है तब वह अपनी उत्कण्ठा नहीं छिपा पाता है और कह देता है—"गुणहार्यो ह्यसौ जनः"। (५।९) अपनी दरिद्रता को देखकर विरहवेदना भी व्यक्त करने लगता है।

षष्ठ और सप्तम अंक में विप्रलम्भ का उभयपक्षीय चित्रण है। दोनों एक दूसरे से मिलने को आतुर हैं। इस प्रकार विप्रलम्भ के साथ सम्भोग शृङ्गार का सुन्दर परिपाक दिखाया गया है।

हास्य रस

संस्कृत-रूपकों में हास्य रस की अभिव्यक्ति की ओर ग्रन्थकारों का विशेष ध्यान नहीं रहा है। परन्तु मृच्छकटिक इस आरोप का अपवाद है। दूसरे शब्दों में, हास्य रस की दृष्टि से मृच्छकटिक बेजोड़ है। ग्रन्थकार ने विभिन्न माध्यमों से हास्य रस की अभिव्यंजना का स्तुत्य प्रयास किया है। इसमें 'शकार' तो सम्भवतः इसी उद्देश्य से कल्पित किया गया है। विदूषक ने भी कहीं-कहीं हास्य के अच्छे उदाहरण प्रस्तुत किये हैं। इनका संक्षिप्त विवेचन इस प्रकार है।

शकार यह राजा 'पालक' की रखैल स्त्री का भाई है। राजश्यालक होने का इसको घमण्ड है। अपनी योग्यता दिखाने के लिये यह प्रायः उल्टी सीधी बातें बोला करता है जिससे सामाजिकों का अच्छा मनोरंजन होता है। इस विषय में प्रथम अंक के श्लोक—१८, १९, २१, २२, २५, २८, २९, ३०, ३९, ४१, ४७, ५२, अष्टम अंक में—भिक्षुक के साथ वार्तालाप, अपने कण्ठस्वर की प्रशंसा, गाड़ीवान स्थावरक चेट के साथ बातचीत, वसन्तसेना के साथ वार्तालाप में श्लोक १८, १९, २०, २२, ३४, ३५, ३६, ३७, ४०, ४५, नवम अंक में—न्यायालय के अधिकारियों के साथ वादविवाद, वसन्तसेना की माता को डांटने और विदूषक के साथ झगड़ने में हास्य रस की सुन्दर अभिव्यंजना है। दशम अंक में २९वें श्लोक में और आगे के वक्तव्य में, चारुदत्त को अपने समक्ष दण्ड देने के आदेश मे, राज-परिवर्तन हो जाने पर कर्मचारियों द्वारा बांध कर लाये जाने पर श्लोक ५३ में और अन्त में वसन्तसेना से रक्षा की प्रार्थना करने में "गर्भदासीपुत्रि! प्रसीद, प्रसीद, न पुनर्मारयिष्यामि। तत् परित्रायस्व।" (पृ० ६३८) हास्य रस की अभिव्यंजना दर्शनीय है।

हास्य रस की अभिव्यक्ति में विदूषक का भी योगदान है। प्रथम अंक में विट आदि से बात करते समय, वसन्तसेना के साथ जाने से इन्कार करते समय

(पृ०१२३), तृतीय अंक में चारुदत्त के घर सेंध कट जाने पर सोते समय बड़बड़ाते हुये (पृ० २०८-१०), रदनिका तथा चारुदत्त से बात करते समय (पृ० २१५), चतुर्थ अंक में वसन्तसेना के भवनों में परिचारिकाओं के साथ चलते समय (पृ० २७२), वन्धुलों को देखते हुये, वसन्तसेना की माता को देखते हुये, जो कहा है (पृ० ४।३०) उससे हास्य रस की अनुभूति होती है। पंचम अंक में वसन्तसेना के विट के साथ प्रश्नोत्तरकाल में (पृ० ३१५), वसन्तसेना के आ जाने पर भोली-भाली बातें करते समय भी हास्य है।

द्वितीय अंक में जुआरियों का दृश्य और षष्ठ अंक में वीरक तथा चन्दनक का विवाद भी हास्य-रसजनक है।

शृङ्गार तथा हास्य के अतिरिक्त करुण रस का भी सुन्दर परिपाक दिखाई देता है।

अलङ्कार -योजना

मृच्छकटिक में स्वाभाविक रूप से अर्थालंकारों का प्रयोग है। कहीं भी अनावश्यक रूप से अलंकार प्रयुक्त नहीं है। उपमा, रूपक, उत्प्रेक्षा, अप्रस्तुत-प्रशंसा, काव्यलिङ्ग, विशेषोक्ति, समासोक्ति तथा अर्थान्तरन्यास आदि अलंकारों का प्रयोग दर्शनीय है।

छन्दोयोजना

मृच्छकटिक जैसे विशाल रूपक में सैकड़ों श्लोकों में विभिन्न छोड़े-बड़े छन्दों का प्रसङ्गानुसार सुन्दर प्रयोग है। इन्हें पीछे परिशिष्ट में देखा जा सकता है। संस्कृत के अतिरिक्त प्राकृत के विविध छन्दों का भी प्रयोग है।

भाषा-शैली

मृच्छकटिक में संस्कृत तथा विभिन्न प्राकृत भाषाओं और विभाषाओं का सरल रूप में प्रयोग है। इसमें इनका परिष्कृत रूप कम दिखाई देता है। समास का प्रयोग कम किया गया है। वाक्य छोटे-छोटे हैं। इसी लिये इसमें सैकड़ों सूक्तियाँ बन गयीं हैं। इसकी संस्कृत कहीं-कहीं पाणिनीय व्याकरण से पूर्णतया नियन्त्रित नहीं है। कहीं-कहीं अप्रचलित शब्दों का भी प्रयोग है। श्लोकों में पादपूर्ति के लिए अनावश्यक अव्ययों का भी प्रयोग है।

एक ओर इसकी भाषा नाटक के सर्वथा योग्य है वहीं चतुर्थ अंक में वसन्तसेना के भवनों के वर्णन में कृत्रिमता की बहुलता है। उसे पढ़ने से यह लगता ही नहीं कि यह नाटक की भाषा है। वहाँ का वर्णन प्रवाह का बाधक और उबाऊ है।

प्राकृत भाषाओं के प्रयोग में मृच्छकटिक अपनी समानता नहीं रखता है। इसमें विविध प्राकृतों का प्रयोग है। प्राकृतों के विषय में प्राचीन व्याख्याकार पृथ्वीधर का कथन प्रामाणिक प्रतीत होता है। यहाँ सात भाषा तथा विभाषाओं

का प्रयोग है—(१) शौरसेनी, (२) अवन्तिजा, (३) प्राच्या, (४) मागधी, (५)शकारी, (६) चाण्डाली, (७) ढक्की। पृथ्वीधर ने अपनी व्याख्या के प्रारम्भ में प्राकृत तथा इनके प्रयोक्ताओं के विषय में निम्न विचार व्यक्त किये हैं :—

शौरसेनी—इसको बोलने वालों में—सूत्रधार, नटी, रदनिका, मदनिका, वसन्तसेना और इसकी माता, चेटी, कर्णपूरक, चारुदत्त की पत्नी धूता, शोधनक, तथा श्रेष्ठी—ये ग्यारह पात्र हैं। संस्कृत के तीन ष, श, स, के स्थान पर इसमें केवल 'स' ही होता है।

अवन्तिजा—इसको बोलने वाले दो पात्र हैं—वीरक तथा चन्दनक। इसमें एक मात्र 'स' है।

प्राच्या—इसको बोलने वाला विदूषक है। इसमें भी केवल 'स' मिलता है।

मागधी—(१) संवाहक और (२) चारुदत्त, वसन्तसेना तथा शकार—इन तीनों के ३ चेट लोग—वर्धमानक, कुम्भीलक, स्थावरक, (३) भिक्षु, (४) चारुदत्त का पुत्र रोहसेन—ये मागधी बोलते हैं। इसमें तीनों श, ष, स, के स्थान पर केवल 'श' होता है।

शकारी—इस अपभ्रंश को बोलने वाला अकेला राष्ट्रिय राजश्यालक शकार है। इसमें 'श' का बाहुल्य है। और रेफ का 'ल' होता है।

चाण्डाली—दोनों चाण्डाल इसे बोलते हैं। इसमें भी केवल 'श' है। रेफ का 'ल' होता है।

ढक्की—इसको बोलने वाले माथुर तथा द्यूतकर हैं। इसमें 'व' की प्रचुरता है और 'स' 'श' दोनों हैं।[1]

मृच्छकटिक की घटनाओं का स्थान

प्रस्तावना के छठे श्लोक से यह स्पष्ट है कि प्रस्तुत 'प्रकरण' के नायक चारुदत्त और नायिका वसन्तसेना अवन्तिपुरी (उज्जैन) में रहते थे। अतः इसकी कथा का स्थान उज्जयिनी नगरी है।

प्रथम अंक की कथा का स्थान पहले राजमार्ग है और बाद में चारुदत्त का भवन। द्वितीय अङ्क की घटनायें पहले राजमार्ग पर और बाद में वसन्तसेना के भवन में घटती हैं। तृतीय अंक की सारी कथा चारुदत्त के घर पर ही घटती है। चतुर्थ अंक की घटनाओं का स्थल वसन्तसेना का विशाल भवन है। पंचम अंक की घटनायें राजमार्ग पर और बाद में चारुदत्त के घर पर होती हैं। षष्ठ अंक की

---

१. शौरसेन्यवन्तिजाप्राच्या—एतासु दन्त्यसकारता। तत्रावन्तिजा लोकोक्तिबहुला। प्राच्या स्वार्थिकककारप्राया। मागधी तालव्यशकारवती। शकारीचाण्डाल्यो-स्तालव्यशकारता। रेफस्य च लकारता। वकारप्राया ढक्काविभाषा। संस्कृतप्रायत्वे दन्त्यतालव्य-स-श-कार-द्वययुक्ता च। पृथ्वीधर पृ० ७-८

घटनायें प्रारम्भ में चारुदत्त के घर पर और आगे राजमार्ग पर होती हैं। सप्तम तथा अष्टम इन दोनों अंकों की घटनायें जीर्ण पुष्पकरण्डक उद्यान में ही घटित होती हैं। नवम अंक की घटनाओं का स्थान न्यायालय है। दशम अंक की घटनाओं का स्थान राजमार्ग, वधस्थान और (अग्निप्रवेश के लिये) राजप्रासाद के दाहिनी ओर का मैदान है।

मृच्छकटिक की घटनाओं का समय

मृच्छकटिक की घटनाओं के घटित होने में बहुत अधिक समय नहीं प्रतीत होता है। प्रस्तावना में सूत्रधार का संगीताभ्यास के कारण अति क्षुधार्त्त होना और घर जाकर कुछ भोजन प्राप्त करना वर्णित है। यह सम्भवतः प्रातः आठ बजे के लगभग होना चाहिये। वहाँ सूत्रधार की नटी कहती है कि उसने 'अभिरूपपति' नामक व्रत रखा है। आगे तृतीय अंक में चारुदत्त की पत्नी धूता के 'रत्नषष्ठी' व्रत का उल्लेख। किन्तु इनके विषय में कहीं कोई शास्त्रीय या लौकिक उल्लेख नहीं मिलता है। अतः इनसे समय के निर्धारण में कोई सहायता नहीं मिल सकती।

प्रस्तावना में यह कहा गया कि सूत्रधार के निमन्त्रण को विदूषक अस्वीकार कर देता है। और जूर्णवृद्ध द्वारा प्रदत्त जातीकुसुमवासित प्रावारक (दुपट्टा) चारुदत्त को देने के लिये जाता है। (पृ० ३७) जब चारुदत्त के पास पहुँचता है तब वह सायं समाधि से निवृत्त हुआ रहता है। यह समय सायं ६ या ७ के पास होना चाहिये। अब तिथि पर भी विचार करना आवश्यक है। प्रथम अंक में शकार वसन्तसेना का पीछा करता हुआ कहता है—"भाव ! भाव ! एषा गर्भदासी कामदेवायतनोद्यानात् प्रभृति तस्य दरिद्रचारुदत्तस्य अनुरक्ता न मां कामयते।" (पृ० ८०) यह कामदेव का महोत्सव वही है जिसका अन्य ग्रन्थों में 'वसन्तमहोत्सव' 'मदनमहोत्सव' नाम है। यह माघशुक्ल पञ्चमी='वसन्तपञ्चमी' को होता है। इस दिन वसन्तसेना ने चारुदत्त को देखा। उस पर आसक्त हुई। उसके प्रेम को परिपक्व होने के लिये लगभग पन्द्रह दिन का समय आवश्यक है। अतः फाल्गुन कृष्ण षष्ठी के लगभग इस रूपक की घटना प्रारम्भ होती है। यद्यपि 'न स्याज्जाती वसन्ते' इस परम्परा के अनुसार जातीकुसुमवासित दुपट्टा की बात ठीक नहीं लगती है, ऐसा कहा जा सकता है। परन्तु इसका एक उत्तर यह भी है कि दुर्लभ जातीकुसुम चारुदत्त की सेवा में प्रस्तुत करना एक विशेष बात भी हो सकती है। प्रथम अंक में ही जब वसन्तसेना चारुदत्त के घर में प्रविष्ट हो जाती है। और अंधेरे के कारण पहचान में नहीं आती है तब चारुदत्त कहता है—"मारुताभिलाषी प्रदोषसमय-शीतार्तो रोहसेनः।" (पृ० ११५) यह स्थिति भी फाल्गुन में होती है। आभूषणों के बदले रत्नमाला देने के लिये विदूषक वसन्तसेना के भवन में जाता है और वहाँ अशोक वृक्ष का वर्णन करता है—"एषोऽशोकवृक्षो नवनिर्गमकुसुमपल्लवो भाति।" (४।३१)

अशोक वसन्त में विकसित होता है, इस लिये यह मानना उचित है कि इस नाटक की घटनाओं का आरम्भ फाल्गुन कृष्ण-षष्ठी से है। कुछ विद्वान वैशाख से मानते हैं, वह तर्कसंगत नहीं है। जैसा कि लिखा जा चुका है चारुदत्त देवपूजा कर चुके तब उसे जातीकुसुमवासित दुपट्टा देना है। इसमें 'सिद्धीकृतदेवकार्यस्य' के स्थान पर "षष्ठीव्रतकृतदेवकार्यस्य" यह पाठ भी है। अतः फाल्गुन कृष्ण षष्ठी ही प्रारम्भिक तिथि उचित है। वसन्तसेना का पीछा किये जाते समय प्रदोष वेला है। और उसको घर वापस पहुँचाते समय चारुदत्त चन्द्रोदय का वर्णन करता है। यह लगभग ११ बजे रात का समय होना चाहिये। इस प्रकार सायं ६ बजे से ११ बजे रात्रि तक प्रथम अंक की कथा घटित हो जाती है।

द्वितीय अंक की घटना का काल प्रथम अंक के द्वितीय दिन का है। कारण यह है कि चारुदत्त को जो सुगन्धित दुपट्टा दिया गया था, जिसे वसन्तसेना भी देख चुकी थी, वही भिक्षु की रक्षा करने और दुष्ट हाथी का वध करने में पुरस्कार रूप में चारुदत्त ने कर्णपूरक को दिया था। वह उसी दुपट्टे को वसन्तसेना को देने आया था। उससे पूर्व एक चेटी वसन्तसेना से स्नान करके पूजनादि के लिये कहती है। अतः यहाँ प्रातः काल का समय है। जुये में हारे हुये संवाहक का आना, भिक्षुकरूप धारण करना, कर्णपूरक द्वारा हाथी से उसकी प्राणरक्षा करना—इनमें लगभग चार घण्टे का समय चाहिये। वसन्तसेना का कर्णपूरक से चारुदत्त के गमन का ज्ञान करके ऊपर छत पर चढ़ कर देखना—यह सब प्रातः से दोपहर १२ बजे तक घटित हो जाता है।

तृतीय अंक की घटना लगभग १५ दिनों बाद की प्रतीत होती है। आधी रात के समय चारुदत्त संगीत-कार्यक्रम सुनकर घर वापस आता है। चन्द्रमा अस्त होने जा रहा है। इससे शुक्ल पक्ष अष्टमी की रात लगती है। वह और विदूषक सो जाते हैं। मध्यरात्रि के बाद शर्विलक का सेंध काट कर घुसना और स्वर्णभाण्ड लेकर निकलना, रदनिका के जागने और विदूषक को जगाने तथा चारुदत्त द्वारा सेंध को बन्द करने की आज्ञा में और सन्ध्यावन्दनादि के लिये जाने में प्रातः ४ बजे का समय हो गया होगा। अतः इसमें मध्य रात्रि से प्रातः ४ बजे तक की घटनायें है।

चतुर्थ अंक की घटनाओं का काल तृतीय अंक के दूसरे दिन अर्थात् फाल्गुन शुक्ल नवमी है। क्योंकि प्रातः ६ बजे के लगभग शर्विलक मदनिका से मिलकर कहता है—"अद्य रात्रौ मया भीरु त्वदर्थे साहसं कृतम्" 'अयि, प्रभाते श्रुतं मया'। वसन्तसेना शर्विलक से बातचीत करके मदनिका को उसे दे देती है और वह चल देता है। इसमें लगभग दो तीन घंटे अर्थात् दोपहर तक का समय लगा होगा। उधर विदूषक के आने और वसन्तसेना द्वारा रत्नमाला प्राप्त करके उसी सायं चारुदत्त से मिलने का वादा करने में अपराह्न का समय लगा होगा।

पंचम अंक की घटनायें चतुर्थ अंक के दिन ही घटती हैं। सायं से लेकर मध्य-रात्रि के लगभग की हैं। क्योंकि वसन्तसेना प्रदोष काल में चारुदत्त के घर पहुँच कर वह रात वहीं बिताती है।

छठे अंक की घटनायें पञ्चम अंक की घटनाओं के दूसरे दिन (फाल्गुन शुक्ल दशमी) की हैं। प्रातः काल वसन्तसेना जीर्ण पुष्पकरण्डक उद्यान जाने को तैयार होती है। वह कहती है "सुष्ठु न निध्यातो रात्रौ, तदद्य प्रत्यक्षं प्रेक्षिष्ये।" (पृ० २६८) गाड़ियों का बदलना, वीरक तथा चन्दनक का झगड़ा और आर्यक का आगे पहुँचना आदि में पूर्वाह्ण दश बजे तक का समय बीता होगा।

छठे अंक की घटनाओं के बाद दोपहर से पूर्व सप्तम अंक की घटनाये प्रारम्भ होती हैं। चारुदत्त के गाड़ीवान वर्धमानक का आर्यक को लेकर चारुदत्त के पास जाना वहाँ बातचीत के बाद हथकड़ी बेड़ियों से मुक्त कराना और सभी का चला जाना—इसमें दोपहर ११ बजे तक का समय होना चाहिये।

छठे अंक के दिन ही सप्तम अंक की घटनाओं के बाद चारुदत्त उद्यान से चला जाता है। दोपहर की धूप तेज हो जाती है। अष्टम अंक में एक भिक्षु चीवर सुखाने के लिये पुष्पकरण्डक उद्यान में आता है। शकार उसे पीटकर वहाँ से भगा देता है। वह अपनी गाड़ी की प्रतीक्षा करने लगता है। भूख से व्याकुल है। वह कहता है "नभो मध्यगतः सूर्यः" (८।१०) "माध्याह्निकः सूर्यः।" (पृ० ४४४) शकार की गाड़ी आना, वसन्तसेना को गाड़ी से उतारना, मनाना, अपने विट, चेट से कहना और अन्त में स्वयं वसन्तसेना का गला दबाकर मारना, विट का विलाप—इनमें तीन घण्टे का समय लगा होगा। उसी समय बौद्ध भिक्षुक का आना, चीवर सुखाने के लिये स्थान खोजना, वसन्तसेना को पहचानना, होश में करके ले चलने में कम से कम १ घण्टे का समय लगा होगा। अतः सायं चार बजे तक इस अंक की घटनायें समाप्त हो जाती हैं।

षष्ठ, सप्तम और अष्टम इन तीन अंकों की घटनायें एक ही दिन फाल्गुन शुक्ल पक्ष दशमी की हैं।

नवम अंक की घटनायें अगले दिन (फाल्गुन शुक्ल एकादशी) की हैं। कारण यह है कि शकार और वीरक दोनों ने किसी तरह रात बिता कर प्रातः होते ही न्यायालय में प्रवेश किया है। प्रातः ९ बजे के लगभग इस अंक की घटनायें प्रारम्भ होती हैं। साक्ष्य के लिये वसन्तसेना की माता को बुलाकर गवाही लेना, वीरक का उद्यान में जाकर मरी स्त्री को देखना, विदूषक का आना तथा शकार के साथ झगड़ा करना, विदूषक के पास से गहने गिरना, उनकी पहचान करना,

चारुदत्त का अपराधी सिद्ध होना और राजा के पास दण्डनिर्णय के लिये जाना तथा मृत्युदण्ड की घोषणा—इन सभी में कम से कम ५ घण्टे का समय लगा होगा। अतः इस अंक की घटनायें प्रातः ९ से दोपहर २, ३ बजे तक की हैं।

नवम अंक के दिन (फाल्गुन शुक्ल एकादशी को) ही दशम अंक की घटनायें होती हैं। मृत्युदण्ड के लिये चारुदत्त को ले जाया जाना, इस अशुभ समाचार का पूरे उज्जैन में फैलना, धूता का अग्निप्रवेश का आग्रह करना, भिक्षुक के साथ वसन्तसेना का अचानक आ जाना, यज्ञ करते हुये राजा 'पालक' का वध करके 'आर्यक' का राजा बनना, वधस्थान पर शर्विलक का आना और सबको यथाचित आदेश सुनाना—इन सभी में कई घण्टे का समय लगना चाहिये। अतः दोपहर बाद से लेकर सायं काल तक इस अंक की घटनाओं का समय है, इससे कम समय में इतनी घटनायें असम्भव हैं।

इस प्रकार यह कहा जा सकता है कि मृच्छकटिक की घटनाये माघ शुक्ल षष्ठी से प्रारम्भ होकर फाल्गुन कृष्ण एकादशी तक लगभग २१ दिन में घटित हो जाती हैं। प्रथम अंक और तृतीय अंक की घटनाओं के बीच में करीब १५ दिन का व्यवधान है। तृतीय अंक फाल्गुन कृष्ण अष्टमी का है। नवमी को चतुर्थ तथा पञ्चम अंकों की और दशमी को षष्ठ, सप्तम, अष्टम अंकों की और नवम तथा दशम अंकों की घटनायें एकादशी को घटित होती हैं।

मृच्छकटिक कालीन समाज-व्यवस्था

'साहित्य समाज का दर्पण है' यह उक्ति बहुत अंशों में मृच्छकटिक में चरितार्थ है। स्वकालीन सत्यता व्यक्त करने में कवि ने क्रान्तिकारी कदम उठाये हैं। उसने किसी की आलोचना की चिन्ता के बिना कटु सत्य सामने रखने का प्रयास किया है। इस तथ्य को प्रायः सभी समीक्षक स्वीकार करते हैं। कुछ प्रमुख बातें यहाँ प्रस्तुत हैं—

सामाजिक स्थिति—

मृच्छकटिक एक 'प्रकरण' है। इसमें तत्कालीन समाज के उच्च मध्यमश्रेणी के व्यक्तियों का चित्रण प्रमुखरूप से और निम्न श्रेणी के व्यक्तियों का चित्रण गौण रूप से किया गया है। चूंकि इसका कथानक लोकाश्रित है, अतः ऐसा करना आवश्यक था।

तत्कालीन समाज में जातिप्रथा थी। ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य और शूद्र—यह विभाजन था। उच्चजाति के लोग अपनी जाति का गर्व करते थे। ब्राह्मण का स्थान सर्वोपरि था। शास्त्रानुसार उसे कुछ विशेष सुविधायें प्राप्त थीं। जाति-

प्रथा जन्म से थी। अतः लोग दूसरे कर्म भी करते थे। चारुदत्त के पूर्वज जन्म से ब्राह्मण थे किन्तु व्यापारादि द्वारा उन्होंने विपुल सम्पत्ति अर्जित की थी। वे यज्ञादि अनुष्ठान करते थे तथा कूप, तडाग, धर्मशाला आदि भी बनवाते थे। (पृ० ५५४) चरित्रवान और विद्वान ब्राह्मण समाज में पूजनीय माने जाते थे। (वसन्तसेना—"पूजनीयो मे ब्राह्मणः।" (पृ० १३१) महत्वपूर्ण कार्य में ब्राह्मण को आगे किया जाता था। (विदूषक—"समीहितसिद्ध्यै प्रवृत्तेन ब्राह्मणोऽग्रे कर्तव्यः।" (पृ० ६४४) जघन्य अपराध करने पर भी उसे सम्पत्तिसहित उस राज्य से बाहर कर दिया जाता था। (अयं हि पातकी विप्रो न वध्यो मनुरब्रवीत्। राष्ट्रादस्मात्तु निर्वास्यो विभवै-रक्षतैः सह।) (९।३९) दान लेना, भोजन करना आदि ब्राह्मणों के काम थे। अपने कर्तव्य से भ्रष्ट ब्राह्मण हीनभावना रखते थे। विदूषक भी इसी प्रकार का था। (पृ० १९१) क्षत्रियों के विषय में कोई विशेष उल्लेख नहीं किया गया है।

वैश्य लोग सम्पन्न थे। व्यापार उन्नत अवस्था में था। देश-विदेश तक व्यापार फैला था। नौका आदि से दूर की यात्रायें होती थीं। (पृ० २९१) बैलगाड़ी से सामान इधर उधर भेजा जाता था। लोगों को लाने ले जाने में भी इनका प्रयोग होता था। वसन्तसेना बैलगाड़ी से ही उद्यान गयी थी। व्यापार में अर्जित सम्पत्ति समाज के उपकार में भी लगाई जाती थी। कायस्थ का स्थान अच्छा नहीं था। (कायस्थसर्पास्पदम्)। (९।१४) शूद्र भी उच्च पदों पर नियुक्त थे। वीरक तथा चन्दनक इसी प्रकार के थे। चाण्डाल भी थे। उनका काम दण्डप्राप्त व्यक्तियों का वध करना था। किन्तु वे भी सज्जन का वध करने में हिचकिचाते थे और उस कार्य के लिये राजा या शासन को दोषी मानते थे। (चाण्डालः—दीर्घायुः! अत्र राजनियोगः खलु अपराध्यति, न खलु वयम्।) (पृ० ५९२)

समाज में लोग सजातीयों के साथ अथवा समान कर्मवालों के साथ रहते थे। चारुदत्त के पूर्वज ब्राह्मण होकर भी व्यापार करते थे। अतः श्रेष्ठिचत्वर में रहते थे।

शिक्षा का प्रचार-प्रसार विशेष नहीं था। ब्राह्मण (द्विज) पढ़ते लिखते थे। शर्विलक के पूर्वज चारों वेदों के ज्ञाता और अप्रतिग्राही थे। प्राकृत जनों को वेद पढ़ने का अधिकार नहीं था। (वेदार्थान् प्राकृतस्त्वं वदसि……९।२१) स्त्री-शिक्षा का प्रचलन सम्भवतः नहीं था। वे घरों में ही पढ़ती थीं। शकुन-अपशकुन भी माने जाते थे। चारुदत्त न्यायालय जाते समय अपशकुनों से घबड़ा जाता है। वध करते समय तलवार गिरने को चाण्डाल शुभ मानता है। (पृ० ६१८)

पर्दा-प्रथा प्रचलित नहीं थी। इसी लिये दशम अंक में धूता (चारुदत्त की पत्नी) सबके सामने आती है। वसन्तसेना द्वारा वधू बनाई गई मदनिका भी पर्दा नहीं करती है। उसे 'वधू' शब्द ही अवगुण्ठन दिया गया है। अन्त में वसन्तसेना को भी 'वधू' बनाया गया है परन्तु पर्दा का कोई संकेत नहीं है। सती-प्रथा का संकेत मिलता है। क्योंकि धूता आत्मदाह करने का प्रयास करती है।

वेश्या-प्रथा बहुत अधिक प्रचलित थी। उनके दो भेद थे—गणिका और वेश्या। गणिकायें संगीत आदि के माध्यम से लोगों को खुश करके धन अर्जित करती थीं। वसन्तसेना भी इसी प्रकार की थी। उसके पास अतुल वैभव था। वह ऐश्वर्य में कुबेर के समान थी। वेश्याओं के साथ सम्बन्ध रखना साधारण था किन्तु समाज में प्रतिष्ठित नहीं था। इसीलिये शर्विलक उनकी निन्दा करता है। (४।१०-१७) और न्यायालय में पूछे जाने पर चारुदत्त वसन्तसेना के साथ अपना सम्बन्ध बताने में लज्जा का अनुभव करता है। (पृ० ५३५) कुछ साहसी लोग वेश्याओं को पत्नी बनाना चाहते थे। शर्विलक ने मदनिका को वधू बनाया और चारुदत्त के लिये राजा आर्यक ने वसन्तसेना को 'वधू' बनाकर यह सिद्ध किया है।

दासप्रथा और बंधकप्रथा थी। द्वितीय अंक में जुआ में हारा हुआ संवाहक अपने को बेचकर ऋणमुक्त होना चाहता है। वसन्तसेना के यहाँ अनेक दासियाँ इसी प्रकार बंधक बनाकर रखी गयी थीं। इसी लिये अपनी प्रेयसी मदनिका को छुड़वाने के लिये शर्विलक चोरी करके धन लाता है। शकार का स्थावरक चेट भी इसी प्रकार का था। इसीलिये अन्त में उसे मुक्त करा दिया जाता है।

जुआ खेलने का बहुत प्रचलन था। उसकी विभिन्न चालें और ढंग प्रचलित थे। उसमें हार जीत का हिसाब रखा जाता था। (२।२) जुये में लिये गये ऋण को वापस करना पड़ता था। इसके लिये न्यायालय भी जाया जाता था। मण्डली से घिर जाने पर जुआ खेलना पड़ता था। उसके कुछ नियम भी प्रचलित थे।

मदिरालय भी थे। वहाँ लोग जाकर मदिरापान करते थे। मदिरा के विभिन्न रूप प्रचलित थे। (सीधुसुरासवमत्ता० ४।३०)

राजनीतिक स्थिति—

उस समय की राजनीतिक स्थिति अच्छी नहीं थी। सर्वत्र अराजकता और अव्यवस्था थी। राजा स्वेच्छाचारी था। विलासिता के लिये वह राजमहिषियों के अतिरिक्त कुछ रखैल स्त्रियाँ भी रखता था। 'पालक' राजा ने इसी प्रकार की रखैल शकार की बहिन भी रखी थी। राजा के सम्बन्धी अपने पद का दुरुपयोग करने

में नहीं हिचकिचाते थे। दूसरे लोग उनसे भय खाते थे। उनकी स्वेच्छाचारिता से सभी आक्रान्त थे। सायंकाल से ही राजमार्ग पर निकलना सुरक्षित और सम्मानजनक नहीं था। धूर्त, विट, चेट आदि शाम से ही राजमार्गों पर घूमने लगते थे।

लोगों से कर वसूल किया जाता था। (७।१) न्यायव्यवस्था प्रायः मनु के अनुसार होती थी। न्याय निःशुल्क था। न्याय देने में अधिक समय नहीं लगता था। हत्या जैसे घोर अपराध का भी निर्णय एक दिन में हो जाता था। गवाही के लिये कोई औपचारिकता नहीं थीं। न्यायालय में आवश्यकतानुसार किसी को तत्काल बुलाया जा सकता था। प्रतिष्ठित व्यक्ति अपराध के आरोप में बुलाये जाने पर सम्मानजनक रीति से पूछे जाते थे। उन्हें आसन भी दिया जाता था। न्यायाधीश निष्पक्ष न्याय करना चाहते थे किन्तु अपनी विवशताओं के कारण वे वैसा नहीं कर पाने से दुःखी रहते थे। कभी वादी-प्रतिवादी की धूर्तता से और कभी राजा या उसके सम्बन्धी के हस्तक्षेप से गलत निर्णय भी हो जाते थे। प्रायः एक न्यायाधिकारी होता था। श्रेष्ठी और कायस्थ उसकी सहायता करते थे। लोगों के बयान लिखे जाते थे। न्यायाधीशों का स्थानान्तरण भी होता था। अतः कभी कभी अप्रिय निर्णय हो जाते थे। न्यायाधिकारी केवल निर्णय का परामर्श देता था। अन्तिम निर्णय राजा ही करता था। (अधिकरणिकः—निर्णये वयं प्रमाणं शेषे तु राजा। पृ० ५६४)।

दण्डव्यवस्था मनु के आधार पर होती थी। न्यायाधिकारी के परामर्श का अतिक्रमण करके भी दण्ड दिया जाता था। इसी लिये चारुदत्त को राजा ने अपनी ओर से मृत्युदण्ड दिया था। मृत्युदण्ड प्राप्त व्यक्ति को एक विशेष वेषभूषा में सजाया जाता था। दण्ड देने के पहले उसके कुलगोत्र और नाम का उच्चारण करके उसके अपराध और दण्ड की घोषणा कई बार की जाती थी। (पृ० ६१६)

शासन पर राजा की पकड़ बहुत अच्छी नहीं थी। अधिकारी और कर्मचारी केवल आजीविका के लिये नौकरी करते थे। कर्तव्य-पालन की विशेष भावना नहीं थी। राजा से अपमानित होने पर वे उसका विद्रोह करने वालों के सहायक बनते थे। (४।२६) इसी लिये 'आर्यक' बन्धन तुड़ा कर जेल से भागने में सफल हुआ। आगे वीरक और चन्दनक के कलह से वह सुरक्षित बच निकला। कर्मचारियों के असन्तोष का परिणाम राजसत्ता का परिवर्तन तक होता था। इसी लिये यज्ञशाला में वर्तमान तत्कालीन राजा पालक को मारने में आर्यक के समर्थक सफल हो सके। ऐसे परिवर्तन प्रायः हुआ करते थे। इसी लिये मृत्युदण्ड प्राप्त व्यक्ति का

तत्काल बध करने में चाण्डाल हिचकिचाते थे। (पृ० ६१०) इसी कारण चारुदत्त को शीघ्र नहीं मारा गया था।

धार्मिक-स्थिति--

तत्कालीन समाज में सामान्यतया लोग धर्म-परिपालन करते थे। वैदिक धर्म का प्रचार था। यज्ञानुष्ठान आदि होते थे। चारुदत्त के पूर्वज यज्ञ करने के कारण प्रसिद्ध थे। वह स्वयं भी हर अवस्था में धर्मपालन करता था। दरिद्र होने पर भी धर्म में उसकी पूरी आस्था थी। वह मृत्युदण्ड पाकर भी अपने धर्माचरण के प्रभाव से सुरक्षित रहने की कल्पना करता था। (१०।३४) वह धर्माचरण को नित्य कर्तव्य मानता था। राजा 'पालक' भी यज्ञादि करता था। उसी में उसका वध भी किया गया था। वसन्तसेना की कोटि की गणिकायें भी देवपूजा स्वयं करती थीं और कभीं-कभी ब्राह्मणों से भी पूजा करवातीं थीं। (पृ० १२९) व्रत तथा उपवास का भी खूब प्रचलन था। नटी ने 'अभिरूपपति' व्रत रखा था। चारुदत्त की पत्नी ने 'रत्नषष्ठी' व्रत का पालन किया था।

वैदिक धर्म के साथ बौद्धधर्म भी प्रचलित था। बौद्धभिक्षु अपने आचरण में पूर्णतया सावधान रहते थे। वे स्त्रियों के सम्पर्क से दूर रहते थे। बौद्ध विहार थे। उनमें कुलपति नियुक्त किये जाते थे। संवाहक बौद्ध भिक्षुक को सभी विहारों का कुलपति नियुक्त किया गया था। (पृ०) परन्तु सामान्यतया उनका दर्शन अमंगलसूचक माना जाता था। "कथम् अनाभ्युदयिकं श्रमणदर्शनम् ?" (पृ० ४२५)

कला और संगीत की स्थिति--

मृच्छकटिक-कालीन समाज में विभिन्न प्रकार की कलाओं का विकास हो चुका था। नाट्यकला अपने समुन्नत रूप में थी। इसी लिये मृच्छकटिक जैसे विशाल-काय रूपक को अभिनय करने के लिये लिखा गया। रंगमंच के विषय में लोगों का ज्ञान था। (इयं रङ्गप्रवेशेन कलानां चोपशिक्षया। १।४२)

संगीत का प्रचार-प्रसार खूब था। सूत्रधार स्वयं चिरकाल तक संगीत का अभ्यास करता था। रेभिल जैसे गायक और तन्त्रीवादक को सुनने के लिये चारुदत्त जैसे सम्भ्रान्त व्यक्ति देर रात तक रुके रहते थे। उसके शास्त्रीय ज्ञान की प्रशंसा चारुदत्त ने स्पष्ट शब्दों में की है (३।५) शर्विलक चोर चारुदत्त के घर में घुसकर संगीत शास्त्र के उपकरणों को देखकर उस घर को नाट्याचार्य का घर मानने लगता है। (पृ० २०८) शकार भी अपने को अच्छा गायक समझता है। वह कण्ठ को मधुर बनाने की अनेक विधियाँ बताता है। (८।१३-१४)। वसन्तसेना के

भवन का वर्णन करते समय संगीत के विभिन्न रूपों का भी उल्लेख किया गया है।

चित्रकला का भी विकास हो चुका था। वसन्तसेना ने स्वयं चारुदत्त का चित्र बनाया था। पत्थर तथा काष्ठ की प्रतिमायें भी बनती थीं। हारा हुआ संवाहक मूर्तिरहित मन्दिर में काष्ठप्रतिमा के समान निश्चलभाव से खड़ा हो जाता है।

चौर्य कला का खूब विकास था। लोग उसकी शिक्षा लेते थे, गुरु बनाते थे। उनके कुछ सिद्धान्त होते थे। शर्विलक शिक्षित चोर था।

उपर्युक्त विवेचन का निष्कर्ष यह है कि मृच्छकटिक-कालीन समाज आर्थिक तथा सांस्कृतिक दृष्टि से समृद्ध होता हुआ भी राजनीतिक दृष्टि से अच्छा नहीं था। न्यायव्यवस्था में मनमानापन था। कर्मचारी सन्तुष्ट नहीं थे। सत्ता-परिवर्तन एक सहज कार्य हो चुका था। शासन में अवसरवादिता का बोलबाला था। पद का दुरुपयोग किया जाता था।

उपसंहार

मृच्छकटिक संस्कृत साहित्य के इने गिने रूपकों में से एक है। लोक-कथानक पर आश्रित होने के कारण इसकी लोकप्रियता प्राचीन काल से है। इसीलिये विभिन्न भाषाओं में इसका अनुवाद हो चुका है।

इसमें तत्कालीन समाज का यथार्थ चित्रण है। इसमें उच्च मध्यमवर्ग के ब्राह्मण युवा को नायक के रूप में प्रस्तुत किया गया है जो अपनी उदारता से अतिनिर्धन हो चुका है तथापि उसके स्वभाव में कार्पण्य नहीं है। उसके गुणों से प्रभावित होकर आसक्त होने वाली नवयौवना गणिका वसन्तसेना उससे कुलस्त्री के समान व्यवहार करती है। दूसरी ओर उसकी पत्नी भी अपने व्यक्तित्व का अच्छा प्रदर्शन करती है। इसके अतिरिक्त समाज के साधारण वर्ग के लोगों के दैनिक जीवन की सही झलक दिखाई देती है। रूपक में भय, दया, करुणा, प्रेम और हास्य आदि का सुन्दर निरूपण किया गया है। जीवन की अनेक अवस्थाओं का वास्तविक रूप प्रस्तुत करने से इसका महत्त्व और बढ़ गया है। इसमें एक ओर चारुदत्त जैसे आदर्श चरित्र हैं तो दूसरी ओर शकार जैसे निकृष्ट।

इसकी कथावस्तु की घटनाओं में प्रायः गतिशीलता है। कहीं-कहीं प्रवाह में बाधा भी है; उदाहरणार्थ—चतुर्थ अंक में वसन्तसेना के भवनों के वर्णन में तथा

पंचम अंक के वर्षा के वर्णन में। इन दोनों में अभिनय की दृष्टि से त्रुटि रहने पर भी साहित्यिक दृष्टि से विशेषता प्रतीत होती है।

इतने विशाल रूपक में कुछ त्रुटियाँ स्वाभाविक हैं। उदाहरणार्थ—प्रथम अंक में वसन्तसेना के घर जाने और वापस आने में चारुदत्त को एक क्षण भी नहीं लगता है। वह कहता है 'इदं भवत्या गृहम्।' द्वितीय अंक में हारा हुआ संवाहक वसन्तसेना के द्वारा ऋणमुक्त करा दिया जाता है। वह भिक्षु बनने की बात करता है। कुछ ही देर में कर्णपूरक की बातों से ज्ञात होता है कि उस भिक्षुको हाथी ने पकड़ लिया था। उसने उसे बचाया। वास्तव में उसे भिक्षुक वेश बनाने के लिये कुछ समय देना आवश्यक था। तृतीय अंक में शर्विलक चोर रेभिल के घर में रहता है। वह चोरी के लिए चारुदत्त के घर में सेंध लगाता है। पास रहते हुए भी उसे चारुदत्त की दरिद्रता का ज्ञान नहीं हो पाता है, यह ठीक नहीं है। चतुर्थ अंक में वसन्तसेना के भवन का अति विस्तृत वर्णन अभिनय की दृष्टि से सर्वथा अयोग्य है। षष्ठ अंक में यह नहीं ज्ञात हो पाता है कि चारुदत्त ने वसन्तसेना को छोड़कर अकेले जीर्णकरण्डक उद्यान में इतने सबेरे जाने का प्रयास क्यों किया। सप्तम अंक में प्रवहण–विपर्यय से शकार की गाड़ी वसन्तसेना को लेकर जीर्ण पुष्पकरण्डक उद्यान के लिये पहले चलती हैं और बाद में पहुँचती है। दूसरी ओर चारुदत्त की गाड़ी वसन्तसेना के स्थान पर आर्यक को लेकर बाद में चलती है फिर भी पहले पहुँचती है। एक ही उद्यान में चारुदत्त और शकार का रहना भी उचित नहीं प्रतीत होता है। अष्टम अंक में वसन्तसेना की हत्या करके उसका आरोप चारुदत्त पर लगाने के लिये शकार कहता है—"साम्प्रतम् अधिकरणं गत्वा व्यवहारं लेखयामि।" परन्तु वह उसी दिन मध्याह्न में न जाकर दूसरे दिन प्रातः (नवम अंक में) न्यायालय पहुँचता है। नवम अंक में न्यायाधिकारी चारुदत्त को निरपराध समझते हैं और उससे गहनों के विषय में सच कहने को बार-बार प्रेरित करते हैं परन्तु न तो चारुदत्त ही कुछ बोलता है और न विदूषक। जब हत्या जैसा आरोप सिद्ध हो रहा हो तब दोनों का सही बात न कह पाना उचित नहीं है। दशम अंक में एक ही दिन में अनेक महत्वपूर्ण और समयसापेक्ष घटनाओं का चित्रण भी अभिनय की दृष्टि से अच्छा नहीं कहा जा सकता।

सम्पूर्ण रूपक में कई अवान्तर कथायें जोड़कर अनावश्यक रूप से कलेवर की वृद्धि की गयी है।

परन्तु उक्त कुछ सामान्य दोष रहते हुये भी इसका महत्त्व सर्वविदित है। इसके संवाद छोटे-छोटे सरल और प्रभावकारी हैं। भाषा-प्रयोग की दृष्टि से भी

सुन्दर है। संस्कृत के अतिरिक्त सप्तविध प्राकृत भाषाओं का एक अनूठा प्रयोग हैं। बड़े-बड़े छन्दों का प्रचुर प्रयोग करने की अपेक्षा छोटे छन्दों का प्रयोग करना अच्छा रहता।

कवि को निर्धनता का कटु अनुभव है, परन्तु गुणों की तुलना में वह धन को महत्त्व नहीं देता है। इसी लिये गणिका वसन्तसेना अति वैभवसम्पन्न होकर भी अपने को चारुदत्त की गुणनिर्जिता दासी मानती है। सेवक भी धनी की अपेक्षा गुणी स्वामी की सेवा करना ठीक मानता है।

कवि ने क्रान्तिकारी विचार प्रस्तुत करने का प्रयास किया है। इसमें बहुत अंशों में वह सफल भी हुआ है। अनेक पत्नी रखना, ब्राह्मण का वेश्या को 'वधू' रूप में स्वीकार करना, चोरी करना, राजा और उसके सम्बन्धियों की स्वेच्छाचारिता, न्यायपालिका पर आतंक, राजा द्वारा अपमानित व्यक्तियों का राज-विद्रोह में सम्मिलित होना और स्वेच्छाचारी राजा का विनाश करना--आदि घटनाओं के चित्रण का सफल प्रयास किया गया हैं। इसमें क्षत्रिय वर्ग की किसी महत्त्वपूर्ण बात की चर्चा नहीं की गयी है। ऐसा प्रतीत होता है कि शूद्रक इस विषय में कुछ कहना ठीक नहीं समझता था।

अन्त में यह कहा जा सकता हैं कि मृच्छकटिक में कालिदास की रचनाओं के समान यद्यपि स्वाभाविकता और चमत्कार-जनकता नहीं है और न भवभूति के समान कृत्रिमता। फिर भी इसकी कुछ ऐसी विशेषतायें हैं जिनसे इसको न केवल संस्कृत-साहित्य की अपितु विश्वसाहित्य की उत्कृष्ट कृति मानने में किसी को आपत्ति नहीं होनी चहिये।

पात्र-परिचय

(पुरुषपात्र)

१. सूत्रधार—प्रधान नट, व्यवस्थापक।
२. चारुदत्त—नायक, उज्जयिनी का प्रमुख नागरिक।
३. मैत्रेय—विदूषक, चारुदत्त का मित्र।
४. शकार—प्रतिनायक, राजा पालक का शाला।
५. विट—शकार का सहचर।
६. स्थावरक चेट—शकार का सेवक।
७. संवाहक—चारुदत्त का भूतपूर्व नौकर, जुआरी और वाद में बौद्ध भिक्षु।
८. माथुर—प्रधान जुआरी, सभिक।
९. दर्दुरक—दूसरा जुआरी।
१०. वर्धमानक—चारुदत्त का सेवक।
११. शर्विलक—ब्राह्मण, किन्तु चोर और सच्चा मित्र।
१२. चेट—वसन्तसेना का सेवक।
१३. बन्धुल—वेश्यापुत्र, वसन्तसेना का आश्रित युवक।
१४. कुम्भीलक—वसन्तसेना का सेवक।
१५. विट—वसन्तसेना का सहचर।
१६. रोहसेन—चारुदत्त का पुत्र।
१७. आर्यक—गोपालपुत्र, बन्दी, बाद में राजा।
१८. वीरक—नगररक्षक।
१९. चन्दनक—नगररक्षक।
२०. शोधनक—न्यायालय की सफाई करने वाला।
२१. अधिकरणिक—न्यायाधीश।
२२. श्रेष्ठी—न्याय-निर्णय में सहायक।
२३. कायस्थ—पेशकार, मुकदमालेखक।
२४. चाण्डाल—शूली पर चढ़ाने वाला।

[मंच पर न आने वाले पात्र]

जूर्णवृद्ध—चारुदत्त का मित्र।
पालक—उज्जैन का राजा।
रेभिल—उज्जैन का व्यापारी, चारुदत्त का मित्र, विशिष्ट गायक।
सिद्ध—आर्यक की राज्यप्राप्ति की घोषणा करने वाला महात्मा।

(स्त्रीपात्र)

१. नटी—सूत्रधार की पत्नी।
२. वसन्तसेना—नायिका, गणिका।
३. रदनिका—चारुदत्त की सेविका।
४. चेटी—वसन्तसेना की दासी।
५. मदनिका—बसन्तसेना की प्रिय दासी, शर्विलक की प्रेयसी।
६. धूता—चारुदत्त की धर्मपत्नी।
७. छत्रधारिणी—वसन्तसेना की परिचारिका।
८. वृद्धा—वसन्तसेना की माता।

॥ श्रीः ॥

मृच्छकटिकम्

सविमर्श-'भावप्रकाशिका'-संस्कृत-हिन्दीव्याख्योपेतम्

प्रथमोऽङ्कः

नान्दी—

पर्यङ्कग्रन्थिबन्धद्विगुणितभुजगाश्लेषसंवीतजानो-
रन्तःप्राणावरोधव्युपरतसकलज्ञानरुद्धेन्द्रियस्य ।
आत्मन्यात्मानमेव व्यपगतकरणं पश्यतस्तत्त्वदृष्टया
शम्भोर्वः पातु शून्येक्षणघटितलयब्रह्मलग्नः समाधिः ॥ १ ॥

भावप्रकाशिका

विश्वेशं शारदां ढुण्ढिं नत्वा च पवनात्मजम् ।
व्याख्यां मृच्छकटिकस्य कुरुते जयशङ्करः ॥

अन्वयः—पर्यङ्क-ग्रन्थि-बन्ध-द्विगुणित-भुजगाश्लेष-संवीतजानोः, अन्तःप्राणाव-रोधव्युपरत-सकल-ज्ञान-रुद्धेन्द्रियस्य, तत्त्वदृष्टया, आत्मनि, आत्मानम्, एव, व्यपगत-करणम्, पश्यतः, शम्भोः, शून्येक्षणघटितलय-ब्रह्मलग्नः, समाधिः, वः, पातु ॥ १ ॥

शब्दार्थ—पर्यङ्क-ग्रन्थि-बन्ध-द्विगुणित-भुजगाश्लेष-संवीत-जानोः = [योगासन की] पर्यङ्क नामक ग्रन्थि [गांठ=पलथी] को बांधने के लिये [अथवा बांधने से] दोहरे किये गये सर्प के लपेटने से बंधी हुयी जांघोंवाले, अन्तःप्राणावरोध-व्युपरत-सकल-ज्ञानरुद्धेन्द्रियस्य=[यौगिक प्रक्रिया द्वारा शरीर के] भीतर ही प्राण आदि वायुओं के रोक देने के कारण विषय-ज्ञानशून्य इन्द्रियोंवाले, तत्त्वदृष्टया=सम्यक् दर्शन से अथवा यथार्थज्ञान द्वारा, आत्मनि=अपने में, आत्मानम्=अपने को=परमात्मा को, एव=ही, व्यपगतकरणम्=व्यापाररहित रूप से अथवा कारणरहित रूप से, पश्यतः=देखनेवाले, अनुभव करनेवाले, शम्भोः=योगिराज भगवान् शङ्कर की, शून्येक्षण-घटितलयब्रह्मलग्नः=निराकार के दर्शन=अनुभव से होने वाली तल्लीनता के कारण ब्रह्म में लगी हुयी अथवा शून्य=सृष्टिविमुख दृष्टि से किये गये प्रलय के समय ब्रह्म में लगी हुयी, समाधि=समाधान, चित्त की एकाग्रता, [अर्थात् समाधिस्थ शंकर जी] वः=आप सामाजिकों की, पातु=रक्षा करे ॥ १ ॥

अर्थ—[योगासन की] पर्यङ्कनामक ग्रन्थि [पलथी] को बांधने के लिये अथवा बांधने से दोहराये गये सर्प के लपेटने से बंधी हुयी जंघाओं वाले, [यौगिक प्रक्रिया से शरीर के] भीतर ही प्राण आदि [पाँच] वायुओं को रोक देने से विषयज्ञानशून्य इन्द्रियोंवाले, यथार्थ ज्ञानद्वारा अपने में परमात्मा का ही व्यापार-शून्यरूप से अथवा कारणशून्य रूप से अनुभव करने वाले, [योगिराज भगवान्] शङ्कर की निराकार का दर्शन=अनुभव करने से होने वाली तल्लीनता के कारण ब्रह्म में लगी हुयी समाधि=चित्त की एकाग्रता [अर्थात् समाधिलीन शङ्कर भगवान्] आप सभी सामाजिकों की रक्षा करे ॥ १ ॥

टीका—निर्विघ्नेन प्रारिप्सितग्रन्थपरिसमाप्तिकामः "तथाप्यवश्यं कर्तव्या नान्दी विघ्नोपशान्तये" इत्याप्तवचनमनुसृत्य शम्भोः समाधिवर्णनरूपमङ्गलमाचरति-पर्यङ्केति । पर्यङ्कः=पर्यस्तिका, तस्य ग्रन्थिः=रचनम्, तस्य बन्धार्थम् बन्धेन वा, द्विगुणितः=द्विरावृत्तः, यो भुजगः=सर्पः, तस्य=आश्लेषेण=वेष्टनेन, संवीते=बद्धे=संरुद्धे स्थगिते वा, जानुनी=जङ्घोरुमध्यभागौ यस्य तादृशस्य; अन्तः=शरीराभ्यन्तरे, प्राणानाम्=प्राणापानादिपञ्चवायूनाम्, अवरोधेन=नियमनेन निरोधेन वा, व्युपरतम्=विशेषेण निवृत्तम, सकलम्=निखिलम्, ज्ञानम्=बाह्यविषयज्ञानम् येषां तानि, तथा रुद्धानि=संयतानि, इन्द्रियाणि यस्य तादृशस्य; तत्त्वदृष्टया=अनारोपितज्ञानेन ब्रह्म-दर्शनेन वा, आत्मनि=स्वस्मिन्, आत्मानम्=परमात्मानम्, एव, व्यपगतकरणम्=क्रियाविशेषणमेतत्, करणशब्दोऽत्र व्यापारपरः हेतुपरो वा, एवञ्च व्यापारशून्य-महेतुकं वा यथा स्यात् तथा, पश्यतः=अनुभवतः, साक्षात्कुर्वतः, शम्भोः=योगिराजस्य शङ्करस्य, शून्येक्षणे=निराकारालोचने, घटितः=अत्यन्तसम्बन्द्धः यो लयः=तल्लीनता, तेन, अथवा शून्येन=संहारोन्मुखत्वात् सृष्टिविमुखेन, ईक्षणेन=दृष्टया, घटितः=कृतः, यो लयः=प्रलयः, तस्मिन्, प्रलयकाले इत्यर्थः, ब्रह्मणि=परमात्मनि, लग्नः=निहितः, आसक्तः; समाधिः=समाधानं चित्तैकाग्रय वा; समाधिस्थः शङ्कर इति भावः, [कर्तृपदमेतत्] वः=युष्मान् सामाजिकान्; पातु=रक्षतु । स्रग्धरा वृत्तम् ॥ १ ॥

विमर्श—नाटक के प्रारम्भ में विघ्नशान्ति के लिये मङ्गलाचरण का विधान है । इसे नान्दी कहते हैं । उसके लिये यह प्रथम श्लोक है । पर्यङ्क-ग्रन्थि शब्द के कई अर्थ किये गये हैं । यह एक विशेष योगासन है । इस में एक पैर की जांघ के ऊपर दूसरे पैर को रखकर दोनों को बांध दिया जाता है । उसे और दृढ़ करने के लिये दोहराये गये सर्प को भगवान शङ्कर ने बांध रखा है । प्राण से प्राण, अपान आदि पांच वायुओं को लेना चाहिये । इसमें 'व्यपगतकरणम्'—इसे प्रायः 'आत्मानम्' का विशेषण लिखा गया है परन्तु इसकी अपेक्षा इसे 'पश्यतः' क्रिया का विशेषण मानना अधिक तर्कसंगत है । करण का अर्थ व्यापार है। इस प्रकार—व्यापार-

अपि च,—

पातु वो नीलकण्ठस्य कण्ठः श्यामाम्बुदोपमः ।
गौरीभुजलता यत्र विद्युल्लेखेव राजते ॥ २ ॥

शून्यं यथा स्यात् तथा पश्यतः—यह अर्थ करना चाहिये । जीवानन्द ने 'आत्मानम्' और 'पश्यतः' दोनों का विशेषण लिखा है । क्रियाविशेषण मानते हुये लिखा है—"यद्वा क्रियाविशेषणमेतत्, तथात्वे करणम्=हेतुः, व्यपगतं करणं यत्र तत् व्यपगत-करणम्—अहेतुकं यथा स्यात् तथा इत्यर्थः; शुद्धसत्त्वविग्रहस्य योगज्ञानमयस्य योग-गम्यस्य योगिभिश्चिन्त्यमानस्य हि भगवतः शम्भोः योगकरणे कारणानावश्यकत्वा-दिति भावः ।"

मनोरंजनार्थ किये जाने वाले इस 'प्रकरण' के आदि में शङ्कर की समाधि-अवस्था का वर्णन दर्शकों की चित्त की एकाग्रता सूचित करने के लिये है ॥ १ ॥

अन्वयः—नीलकण्ठस्य, श्यामाम्बुदोपमः, [सः] कण्ठः, वः, पातु, यत्र, गौरीभुजलता, विद्युल्लेखा, इव, राजते ॥ २ ॥

शब्दार्थः—नीलकण्ठस्य=[विषपान से] नीलवर्ण के कण्ठवाले भगवान् शिव का, श्यामाम्बुदोपमः=काले बादल के समान, [सः=वह पुराणादि कथाओं में प्रसिद्ध], कण्ठः=कण्ठ, ग्रीवा, [अर्थात् ग्रीवावाले] वः=आप [समस्त दर्शकों] की, पातु=रक्षा करें; यत्र=जिस [कण्ठ] में, गौरीभुजलता=पार्वती की लतातुल्य बाहें, विद्युल्लेखा=बिजली की पतली रेखा, इव=के समान, राजते=सुशोभित हो रही हैं ॥ २ ॥

अर्थ—[समुद्रमन्थन से निकले हुये विष का पान करने से] नील [काले] वर्ण के कण्ठवाले भगवान् शङ्कर का श्याम=नीले बादल के समान [वह पुराणादि ग्रन्थों में अति प्रसिद्ध] कण्ठ [अर्थात् कण्ठवाले शिव] आप सभी दर्शकों की रक्षा करे; जिस कण्ठ में गौरी=गौरवर्णवाली पार्वती की लतातुल्य भुजायें बिजली की रेखा=पंक्ति के समान शोभित हो रही हैं ॥ २ ॥

टीका—नीलकण्ठस्य:=नीलः=नीलवर्णः=श्यामवर्णः, कण्ठः=गलप्रदेशो यस्य सः, तस्य शङ्करस्येत्यर्थः, श्यामाम्बुदोपमः=श्यामश्चासावम्बुदश्चेति श्यामाम्बुदः=नीलजलदः, तेन उपमा=सादृश्यं यस्य सः, [सः=पुराणादिकथासु प्रसिद्धः] कण्ठः=गलप्रदेशः, तादृशकण्ठवान् इति भावः, वः=युष्मान् दर्शकान् सामाजिकानित्यर्थः, पातु=रक्षतु; यत्र=यस्मिन् कण्ठे, गौरीभुजलता=गौर्याः=गौरवर्णवत्याः पार्वत्याः, भुजः लता इव, पुरुष-व्याघ्र इव समासः, अथवा भुजः=बाहुः एव लता=वल्ली, अत्र कण्ठाश्लेषे वेष्टनधर्मसाम्यात् भुजे लतात्वधर्मस्य आरोपो बोध्यः, विद्युल्लेखा=विद्युतः=तडितः लेखा=रेखा, पंक्तिः, इव=यथा, राजते=शोभते । यथा नीलमेघमध्ये

[नान्द्यन्ते]

विराजमानायाः गौरवर्णाया विद्युल्लेखायाः शोभा दृश्यते तथैव नीलवर्णस्य भगवतः शङ्करस्य कण्ठे स्वयंग्राहितायाः गौर्याः बाहोः शोभा वर्तत इति भावः। उपमालंकारः, पथ्यावक्त्रं वृत्तम् ॥ २ ॥

विमर्शः—प्रस्तुत श्लोक में शिव को नीलकण्ठ कहा है। लोकोपकार के लिये भगवान् शङ्कर ने विषपान तक कर लिया था। इसी प्रकार इस प्रकरण का नायक चारुदत्त भी परोपकार करते करते अत्यन्त विपन्नता को प्राप्त कर गया था। जिस प्रकार जलपरिपूरित मेघों में विद्युत्-लेखा स्वय प्रकट हो जाती है और पार्वती द्वारा शङ्कर के गले में स्वयं भुजाओं का आलिङ्गन कराया जाता है, उसी प्रकार नायक चारुदत्त के प्रति स्वतः आकृष्ट होने वाली वसन्तसेना उसके गले में अपनी भुजाओं का हार पहना देती है, अनुराग प्रकट करती है। इस कथाबीज का संकेत मिलता है "अर्थतः शब्दतो वापि मनाक् काव्यार्थसूचनम्।" नीलाम्बुद यह विशेषण भी भावी घटना का सूचक है जब वसन्तसेना मेघाच्छन्न काल में चारुदत्त के पास अभिसरण करती है। इसमें श्याम वर्ण का उल्लेख संसार की कालिमा का और विघ्नोत्पादन का संकेत करता है जैसा कि आगे संस्थानक (शकार) के चरित्र में स्पष्ट होता है और गौर वर्ण वसन्तसेना के विशुद्ध पवित्र प्रेम का परिचय प्रदान करता है।

नीलकण्ठः—नीलः=नीलवर्णः कण्ठः=गलप्रदेशः यस्य सः - बहुव्रीहिसमास। **श्यामाम्बुदोपमः** श्यामश्चासौ अम्बुदश्च श्यामाम्बुदः, तेन उपमा=सादृश्यं यस्य सः—कर्मधारयगर्भतृतीयातत्पुरुषः। श्यामाम्बुद एव उपमा=सादृश्यं यस्य सः—यह भी कुछ लोग मानते हैं। **गौरीभुजलता** गौर्याः भुजः लता इव—इति गौरीभुजलता—यहाँ पुरुषव्याघ्र के समान उपमितसमास है। अथवा भुजः एव लता यह विग्रह है।

नीलकण्ठस्य कण्ठः—इसमें लाटानुप्रास है। विद्युल्लेखा इव—में उपमा है। भुज एव लता—में रूपक अलङ्कार है। ये परस्पर निरपेक्षरूप से हैं अतः संसृष्टि अलङ्कार है—मिथोऽनपेक्षयैतेषां स्थितिः संसृष्टिरुच्यते।"

इसमें पथ्यावक्त्र छन्द है—युजोश्चतुर्थतो जेन पथ्यावक्त्रं प्रकीर्तितम्।' अर्थात् सम पादों में चतुर्थ अक्षर के बाद जगण से युक्त पथ्यावक्त्र छन्द होता है ॥ २ ॥

अर्थ—

नान्द्यन्ते—नान्दी समाप्त हो जाने पर।

टीका—नान्द्याः अन्ते=समाप्तौ। नन्दन्ति देवता अस्याम् इति नान्दी। अत्र रमन्ते योगिनोऽस्मिन्निति राम इतिवत् अधिकरणे घञ्—नन्दः, ततः स्वार्थेऽणि, ङीपि 'नान्दी' ति सिध्यति। अथवा नन्दयति=प्रसादयति इति नन्दः, पचादित्वा-

द्धि । नन्द एव नान्दः—'प्रज्ञादिभ्योऽण्' इति स्वार्थेऽणि ततो ङीपि 'नान्दी' इति सिध्यति ।

विमर्श—देवता, ब्राह्मण अथवा राजा आदि को प्रसन्न करने के लिये नाटकादि के प्रारम्भ में आशीर्वाद से युक्त जो स्तुतिपाठ किया जाता है उसे नान्दी कहा जाता है । आचार्य भरत ने लिखा है—

आशीर्वचनसंयुक्ता स्तुतिर्यस्मात् प्रयुज्यते ।
देवद्विजनृपादीनां तस्मान्नान्दीति संज्ञिता ॥ [साहित्यदर्पण ६।२४]
देवद्विजनृपादीनामाशीर्वचनपूर्विका ।
नन्दन्ति देवता यस्यां तस्मान्नान्दीति कीर्तिता ॥

नान्दी के विस्तार के विषय में यह है—

अष्टाभिर्दशभिर्वाऽपि नान्दी द्वादशभिः पदैः ।
आशीर्नमस्क्रिया वस्तुनिर्देशो वापि तन्मुखम् ॥

यहाँ अष्टपदा नान्दी है क्योंकि दो श्लोकों में ४+४=८ पाद हैं । यहाँ कथावस्तु के बीज का सङ्केत होने से पत्रावली नामक 'नान्दी' है—

यस्यां बीजस्य विन्यासो ह्यभिधेयस्य वस्तुनः ।
श्लेषेण वा समासोक्त्या नान्दी पत्रावलीति सा ॥

सर्वत्र नाट्य ग्रन्थों में नान्दीपाठ के बाद सूत्रधार का उल्लेख प्राप्त हैं । अतः यह शंका स्वाभाविक है कि तब इस नान्दी का पाठ कौन करता है ? समाधान यह है कि सूत्रधार ही नान्दी का पाठ करता है । परन्तु शास्त्रीय परम्परानुसार सर्वप्रथम मंगलाचरण का उल्लेख होना चाहिये अतः पहले नान्दी श्लोकों का उल्लेख करके सूत्रधार शब्द का उल्लेख किया जाता है ।

रङ्गशाला का प्रधान व्यवस्थापक सूत्रधार कहा जाता है । यह सूत्रधार ही नान्दी का पाठ करता है । सूत्रधार का यह लक्षण है —

नाट्योपकरणादीनि सूत्रमित्यभिधीयते ।
सूत्रं धारयतीत्यर्थे सूत्रधारो निगद्यते ॥

अर्थात् नाट्य के उपकरण एवं अभिनय के निर्देशन आदि को 'सूत्र' कहा जाता है, इसको धारण करने वाला 'सूत्रधार' कहा जाता है । इस प्रकार रंगमञ्च की व्यवस्था का अधिकारी और अभिनेताओं को निर्देशित करने वाला व्यक्ति सूत्रधार कहा जाता है । मातृगुप्ताचार्य ने सूत्रधार का विशद रूप लिखा है—

चतुरातोद्यनिष्णातोऽनेकभूषासमावृतः ।
नानाभाषणतत्त्वज्ञो नीतिशास्त्रार्थतत्त्ववित् ॥
नानागतिप्रचारज्ञो रसभावविशारदः ।
नाट्यप्रयोगनिपुणो नानाशिल्पकलान्वितः ॥

सूत्रधारः——अलमनेन परिषत्कुतूहलविमर्दकारिणा परिश्रमेण। एव-महमार्यमिश्रान् प्रणिपत्य विज्ञापयामि —यदिदं वयं मृच्छकटिकं नाम प्रकरणं प्रयोक्तुं व्यवसिताः। एतत्कविः किल—

छन्दोविधानतत्त्वज्ञः सर्वशास्त्रविचक्षणः।
तत्तद्गीतानुगलयकलातालावधारणः ॥
अविधानप्रयोक्ता च योक्तॄणामुपदेशकः।
एवं गुणगणोपेतः सूत्रधारोऽभिधीयते ॥

महाकवि भास आदि के समय में नान्दीपाठ पर्दे के पीछे से किया जाता था। इसके बाद सूत्रधार प्रवेश करके नाटक की प्रस्तावना करता था। चारुदत्त में लिखा है——"नान्द्यन्ते ततः प्रविशति सूत्रधारः।" यह ब्राह्मण रहने पर 'सूत्रधार' कहा जाता था। अन्यवर्ण का होने पर 'स्थापक' कहा जाता था। किन्तु कालिदास के उत्तरवर्त्ती नाटकों में सूत्रधार ही नान्दीपाठ करता था और प्रस्तावना भी करता था।

शब्दार्थ——परिषत्कुतूहलविमर्दकारिणा=सभा में उपस्थित लोगों की उत्कण्ठा का विघ्न करने वाले, हानि पहुँचाने वाले, अनेन=इस [किये जाने वाले], परिश्रमेण=[अधिक नान्दीपाठ करने के] परिश्रम से, अलम्=बस [करे, अर्थात् अधिक नान्दीपाठ करने की आवश्यकता नहीं है]। अहम्=मैं सूत्रधार, आर्य-मिश्रान्=सम्माननीय सभासदों को, प्रणिपत्य=प्रणाम करके, एवम्=इस प्रकार, विज्ञापयामि=सूचित करता हूँ, यत्=कि, वयम्=हम अभिनेता लोग, इदम्=इस, मृच्छकटिकं नाम=मृच्छकटिक नामक, प्रकरणम्=रूपकविशेष प्रकरण को, प्रयोक्तुम्=अभिनीत करने के लिये, व्यवसिताः=तत्पर [हैं], किल=निश्चय ही, एतत्कविः=इस [प्रकरण] के लेखक कवि——

अर्थ

सूत्रधारः——सभा में विराजमान लोगों की उत्सुकता को भंग करने वाले [हानि पहुँचाने वाले] इस [नान्दीपाठ के विस्तार रूप] परिश्रम को करना व्यर्थ है, अर्थात् इसे समाप्त करो। मैं सम्माननीय विद्वान् दर्शकों को प्रणाम करके इस प्रकार सूचित करता हूँ कि हम [अभिनेता लोग] 'मृच्छकटिक' नामक इस प्रकरण का अभिनय करने के लिये तत्पर हैं। इसके रचयिता कवि——

टीका——परिषीदन्ति अस्यामिति परिषत्, अत्र लक्षणया परिषच्छब्दस्तत्र-स्थान् जनान् सभ्यान् बोधयति। एवञ्च परिषदाम्=परिषत्स्थितानां जनानाम्, कुतूहलस्य=औत्सुक्यस्य, विमर्दकारिणा=बाधकेन, हानिकरेण वा, अनेन=क्रियमाणेन

नान्दीपाठरूपेण, परिश्रमेण=आयासेन, अलम्=व्यर्थम्, अधिकनान्दीपाठेन दर्शकाना-मुत्कण्ठाव्याघातात् तस्माद् विरतिरेवोचितेति भावः। आर्यान्—मान्यान्, मिश्रान्=अभ्यस्तबहुशास्त्रान्,

कुलं शीलं दया दानं धर्मः सत्यं कृतज्ञता।
अद्रोह इति येष्वेतत् तानार्यान् सम्प्रचक्षते ॥

अपि च

कर्तव्यमाचरन् काममकर्तव्यमनाचरन्।
तिष्ठति प्रकृताचारे स वै आर्य इति स्मृतः ॥

मिश्र इत्युपाधिः। प्रणिपत्य=प्रणम्य, एवम्=वक्ष्यमाणरूपेण, विज्ञापयामि=विनिवेदयामि, वयम्=अभिनेतारः, मृच्छकटिकम्=मृदः=मृत्तिकायाः, शकटिका=क्षुद्रशकटं यस्मिन् तत् मृच्छकटिकम्, अथवा मृदः शकटम्—मृण्मयं शकटं षष्ठेऽङ्के चारुदत्तपुत्ररोहसेनस्य क्रीडनार्थमुक्तं मृच्छकटम्, तदंश्आस्ति इति "अत इनिठनौ" [पा० सू० ५।२।११५] इति ठनि, ठस्येकादेशे मृच्छकटिकम्, नाम=अन्वर्थ-नामकम्, प्रकरणम्=रूपकविशेषम्, प्रयोक्तुम् = अभिनेतुम्, व्यवसिताः=उद्युक्ताः कृतनिश्चयाः वा,। एतत्कविः=एतस्य प्रणेता, किल=निश्चयेन, वाक्यालङ्कारे वेदं बोध्यम्।

विमर्श—'अलम् अनेन' यहाँ पर "गम्यमानापि क्रिया कारकविभक्तौ प्रयोजिका' इस नियम के आधार पर साधन क्रिया को गम्यमान मान कर तृतीया हुई है—'अनेन साध्यं नास्ति' अर्थात् इससे लाभ नहीं है, अतः नान्दीपाठ बन्द करो—यह अर्थ प्रतीत होता है। विमर्दकारिणा—इसका तात्पर्य है अनावश्यकरूप से उत्कण्ठा को दबाने के लिये बाध्य करने वाले। विमर्द + √कृ + णिनि। आर्य शब्द का अभिप्राय संस्कृत टीका में दो श्लोकों में लिखा है। मिश्र शब्द सम्मान एवं वैदुष्य का सूचक है। कुछ विद्वानों ने—आर्येषु=श्रेष्ठेषु, मिश्रान्=मुख्याः तान्' यह अर्थ लिखा है। इसकी अपेक्षा यहाँ द्वन्द्व मान कर आर्य और मिश्र यह अर्थ करना उचित है। आर्य=सम्माननीय, मिश्र=बहुतशास्त्रों के ज्ञाता। इससे उस सभा में विद्वानों और अन्य विशिष्ट व्यक्तियों की उपस्थिति सिद्ध होती है।

मृच्छकटिकम्—इसकी व्युत्पत्ति इस प्रकार है—(१) मृदः शकटिका (=मिट्टी की छोटी सी गाड़ी) अस्ति यस्मिन् तत् प्रकरणम्—मृच्छकटिकम् (२) मृदः शकटम् =मृच्छकटम् तद् वर्णितमस्ति अस्मिन्' इस अर्थ में 'मृच्छकट' शब्द से मत्वर्थीय ठन्=इक प्रत्यय करने पर मृच्छकटिकम् यह निष्पन्न होता है।

इस प्रकरण के छठें अङ्क में चारुदत्त के पुत्र रोहसेन का मिट्टी की गाड़ी से खेलना वर्णित है। वहाँ की कथा अत्यन्त मार्मिक है। चारुदत्त अत्यन्त दरिद्र हो

चुका है। उसका पुत्र रोहसेन परिचारिका से सोने की गाड़ी लेकर खेलने का आग्रह करता हुआ रोने लगता है। यह करुण दृश्य देखकर वसन्तसेना का स्त्रीसुलभ वात्सल्य उमड़ने लगता है और वह उस बच्चे को सोने की गाड़ी के लिये अपने सभी स्वर्णाभूषण उतार कर दे देती है। यहाँ कवि ने वसन्तसेना के चरित्र को उत्कृष्टता के शिखर पर प्रतिष्ठित कर दिया है।

यहाँ एक बात ध्यान देने योग्य है कि कालिदास आदि ने अपने नाटकों में अभिनयस्थल का भी संकेत किया है परन्तु इसमें यहाँ ऐसा कोई उल्लेख नहीं है। यह इस प्रकरण की प्राचीनतरता और लेखक की राजानाश्रितता द्योतित करता है।

प्रकरण—रूपक दश होते हैं। उनमें प्रकरण एक है —

नाटकमथ प्रकरणं भाणव्यायोगसमवकारडिमाः।
ईहामृगाङ्कवीथ्यः प्रहसनमिति रूपकाणि दश ॥

साहित्यदर्पण ६।३

प्रकरण के स्वरूप के विषय में दशरूपक और साहित्यदर्पण में प्रायः समान वर्णन है—प्रकरण में वृत्त कविकल्पित एवं लोकाश्रित होता है। इसमें मन्त्री, ब्राह्मण या वणिक् नायक होता है। इसका नायक धीरप्रशान्त होता है जो धर्म, काम एवम् अर्थ – इस पुरुषार्थत्रय से सम्पन्न होता है और विपत्ति में फंसता है। इसमें भी नाटक के समान ही सन्धि आदि होतीं हैं। इसमें नायक की नायिकायें दो प्रकार की होती हैं—(१) कुलस्त्री और (२) गणिका। कहीं केवल कुलीना और कहीं केवला वेश्या और कहीं दोनों होती हैं। कुलजा का क्षेत्र भीतर सीमित होता है। वेश्या बाहरी क्षेत्रवाली होती है। इनका अतिक्रमण नहीं होता है। इसमें धूर्त आदि रहते हैं। यह तीन प्रकार का होता है। प्रथम प्रकार की [कुलीन] नायिका रहने पर (१) शुद्ध, वेश्या नायिका होने पर (२) विकृत, और दोनों प्रकार की नायिकायें रहने पर (३) सङ्कीर्ण होता है। दोनों प्रकार की नायिकायें होने से मृच्छटिक तृतीय प्रकार का है। दशरूपक में यह लिखा है—

अथ प्रकरणे वृत्तमुत्पाद्यं लोकसंश्रयम्।
अमात्यविप्रवणिजामेकं कुर्याच्च नायकम् ॥
धीरप्रशान्तं सापायं धर्मकामार्थतत्परम्।
शेषं नाटकवत् सन्धि-प्रवेशक-रसादिकम् ॥
नायिका तु द्विधा नेतुः कुलस्त्री गणिका तथा।
क्वचिदेकैव कुलजा, वेश्या क्वापि, द्वयं क्वचित् ॥
कुलजाभ्यन्तरा, बाह्या वेश्या, नातिक्रमोऽनयोः।
आभिः प्रकरणं त्रेधा, सङ्कीर्णं धूर्तसङ्कुलम् ॥

[दशरूपक ३।३९-४२]

द्विरदेन्द्रगतिश्चकोरनेत्रः परिपूर्णेन्दुमुखः सुविग्रहश्च ।
द्विजमुख्यतमः कविर्बभूव प्रथितः शूद्रक इत्यगाधसत्त्वः ॥ ३ ॥

इस प्रकरण का नायक चारुदत्त ब्राह्मण धीरप्रशान्त है। वसन्तसेना गणिका नायिका है और धर्मपत्नी धूता भी नायिका है। शकार आदि धूर्त पात्र हैं। शृङ्गार रस प्रधान है।

अन्वयः—द्विरदेन्द्रगतिः, चकोरनेत्रः, परिपूर्णेन्दुमुखः, सुविग्रहः, द्विजमुख्यतमः, अगाधसत्त्वः, च, शूद्रक, इति, प्रथितः, कविः, बभूव ॥ ३ ॥

शब्दार्थ—द्विरदेन्द्रगतिः=गजराज की चाल के समान मस्त चाल वाले, चकोरनेत्रः=चकोर नामक पक्षी की आखों के समान [सुन्दर] आखों वाले, परिपूर्णेन्दुमुखः=परिपूर्ण चन्द्र=पौर्णमासी के चन्द्रमा के तुल्य मुखवाले, सुविग्रहः=सुन्दर शरीर वाले, अगाधसत्त्वः=असीमित बलवाले, च=और, द्विजमुख्यतमः=क्षत्रियों में श्रेष्ठ, शूद्रकः=शूद्रक, इति=इस नाम से, प्रथितः=प्रसिद्ध, कविः=काव्यनिर्माता, बभूव=हुये ॥३॥

अर्थ—गजराज [की मस्त चाल] के समान [मस्त] चालवाले, चकोर नामक पक्षी [की आखों] के तुल्य आखोंवाले, पौर्णमासी के [समस्त कला परिपूर्ण] चन्द्रमा के समान सुन्दर मुखवाले, और सुन्दर [सुगठित] शरीरवाले, असीमित बलवाले, क्षत्रियों में श्रेष्ठ 'शूद्रक' इस नाम से प्रसिद्ध कवि हुये ॥ ३ ॥

टीका—द्विरदेन्द्रगतिः=द्वौ रदौ=दन्तौ [बाह्यदृश्यमानौ] यस्य सः, द्विरदः=गजः, द्विरदेषु इन्द्रः=अधिपतिः, तस्य गतिः इव गतिर्यस्य स; गजपतिरिव मन्दगतिमानित्यर्थः। चकोरनेत्रः=चकोराख्यस्य पक्षिणो नेत्रे इव नेत्रे यस्य सः; चकोरसदृशसुन्दरनयन इत्यर्थः। परिपूर्णेन्दुमुखः=परिपूर्णः=सकलकलायुतः, इन्दुः=चन्द्रः तस्येव सुन्दरं मुखम्=वदनं यस्य सः; पौर्णमास्याश्चन्द्रतुल्यसुन्दरवदन इत्यर्थः। सुविग्रहः—सुष्ठु=शोभनं विग्रहः=शरीरं यस्य सः; सुन्दरदेह इत्यर्थः। अगाधसत्त्वः—अगाधम्=असीमितं सत्त्वम्=बलं यस्य सः; असीमितबलशालीत्यर्थः। द्विजमुख्यतमः—द्विजेषु=क्षत्रियेषु, मुख्यतमः=श्रेष्ठः, शूद्रकः=एतन्नामकः, इति=अनेन रूपेण, प्रथितः=विख्यातः, कविः—काव्यप्रणयननिपुणः, बभूव=अभूत् ॥ ३ ॥

बिमर्श—ब्राह्मण, क्षत्रिय एवं वैश्य ये तीनों ही द्विज कहे जाते हैं। मनु ने लिखा है—

ब्राह्मणः क्षत्रियो वैश्यस्त्रयो वर्णा द्विजातयः। मनु १० । ४ पूर्वार्द्ध

ब्राह्मण, क्षत्रिय एवं वैश्य—इन तीनों का उपनयन संस्कार होने से इन्हें द्विज कहा जाता है।

इस श्लोक में पूर्वार्द्ध के पदों में और अगाधसत्त्वः पद में बहुव्रीहि समास है। इनके विग्रहवाक्य संस्कृत टीका में लिखे जा चुके हैं।

अपि च—

ऋग्वेदं सामवेदं गणितमथ कलां वैशिकीं हस्तिशिक्षां
ज्ञात्वा शर्वप्रसादाद् व्यपगततिमिरे चक्षुषी चोपलभ्य ।
राजानं वीक्ष्य पुत्रं परमसमुदयेनाश्वमेधेन चेष्ट्वा
लब्ध्वा चायुः शताब्दं दशदिनसहितं शूद्रकोऽग्निं प्रविष्टः ॥ ४ ॥

इस श्लोक में कवि की प्रशंसा करके उसके प्रति दर्शकों को आकृष्ट किया गया है अतः यहाँ से प्ररोचना प्रारम्भ होती है ।

उन्मुखीकरणं तत्र प्रशंसातः प्रयोजनम् । दशरूपक ३।६

द्विरदेन्द्रगतिः, चकोरनेत्रः परिपूर्णेन्दुमुखः—इन तीनों में परस्पर-निरपेक्ष होते हुये लुप्तोपमा अलंकार होने से संसृष्टि है ।

इसमें मालभारिणी छन्द है—

विषमे ससजा यदा गुरू चेत् समरा येन तु मालभारणीयम् । वृत्तरत्नाकर परिशिष्ट ॥ ३ ॥

अन्वयः—शूद्रकः, ऋग्वेदम्, सामवेदम्, गणितम्, अथ, वैशिकीम्, कलाम्, हस्तिशिक्षाम्, ज्ञात्वा, शर्वप्रसादात्, च, व्यपगततिमिरे, चक्षुषी उपलभ्य, पुत्रम्, राजानम्, वीक्ष्य, परमसमुदयेन, अश्वमेधेन, च, इष्ट्वा, दशदिनसहितम्, दशाब्दम्, आयुः, च, लब्ध्वा, अग्निम्, प्रविष्टः ॥४॥

शब्दार्थः—शूद्रकः=शूद्रकनामक राजा कवि ने, ऋग्वेदम्=[देवादिस्तुति-प्रतिपादक] ऋग्वेदसंहिता को, सामवेदम्=[गानपरक मन्त्रसमुदायरूप] सामवेद को, गणितम्=अङ्कविद्या और ज्योतिष को, अथ=और, वैशिकीम्=नाट्य शास्त्र को अथवा वैश्य-सम्बन्धिनी कृषिव्यापार रूप कला को, कलाम्=[शास्त्रों में वर्णित ६४] कलाओं को, हस्तिशिक्षाम्=हाथियों को नियन्त्रण में रखने की शिक्षा को, ज्ञात्वा=जानकर, च=और, शर्वप्रसादात्=भगवान् शङ्कर की कृपा से, व्यपगततिमिरे=[अज्ञानरूपी] अन्धकार से रहित, चक्षुषी=नेत्रों को, उपलभ्य=प्राप्त कर के, पुत्रम्=अपने पुत्र को, राजानम्=[राज-सिंहासन पर विराजमान] राजा रूप से, वीक्ष्य=देखकर, च=और, परमसमुदयेन=अत्यन्त उत्थान कराने वाले, अश्वमेधेन=अश्वमेध नामक यज्ञ से, इष्ट्वा=यजन करके अर्थात् अश्वमेध नामक यज्ञ को सम्पादित करके, च=और, दशदिनसहितम्=दश दिनों के सहित, शताब्दम्=एक सौ वर्षों की, आयुः=जीवनकाल, लब्ध्वा=प्राप्त करके, अग्निम्=अग्निहोत्र में, प्रविष्टः=लग गया, अथवा आग में प्रवेश कर गया ॥४॥

और भी—

अर्थ—[इस प्रकरण के रचयिता कवि] शूद्रक ऋग्वेद, सामवेद, गणितशास्त्र [अङ्कविद्या एवं ज्योतिष शास्त्र] चौंसठ कलाओं, नाटचशास्त्र, और हस्तिसंचालन की शिक्षा को प्राप्त करके; भगवान् शङ्कर की कृपा से [अज्ञानरूपी] अन्धकार से रहित नेत्रों को [ज्ञाननेत्रों को] प्राप्त कर के और अपने पुत्र को राजा देखकर अर्थात् अपने पुत्र को अपने राजसिंहासन पर प्रतिष्ठित कर के; अत्यन्त उत्थान कराने वाले अश्वमेधनामक यज्ञ को सम्पन्न करके; और एक सौ वर्ष तथा दश दिनों की आयु प्राप्त करके अग्नि में प्रविष्ट हो गये [अथवा अग्निहोत्रानुष्ठान में लग गये] ॥४॥

टीका—ऋग्वेदम्=एतन्नाम्ना प्रसिद्धं प्राचीनतमं स्तुतिसंग्रहात्मकं वैदिकं ग्रन्थम्, अनेन देवतास्तुतिनैपुण्यमुक्तम्; सामवेदम्=गेयमन्त्रसमूहात्मकं तन्नाम्ना प्रसिद्धं ग्रन्थम्, एतेन मन्त्रगाननैपुण्यमुक्तम्; गणितम्=अङ्कविद्यां ज्यौतिषशास्त्रञ्च; कलाम्=चतुःषष्टिसङ्ख्याकां कलाम्, तत्प्रतिपादकग्रन्थं वा, वैशिकीम्=विशः=वैश्यस्य इयमित्यर्थे ठकि, वैश्यसम्बन्धिनीं वाणिज्यरूपां कलामित्यर्थः, यद्वा "वेशो वेश्याजनसमाश्रयः" [अमरकोषः २।२।२] इति कोशात् वेशशब्दो वेश्यापरः, तत्र भवां विद्यमानां वा कलां वेश्याजनविषयिणीं कलामित्यर्थः, एतेन अस्मिन् विषयेपि नैपुण्यमुक्तम्। यद्वा—'नामग्रहणे नामैकदेशग्रहण' मिति नियमेन वेशः=अग्निवेश इति नामा नृपः, तेन, कृतां कलां चतुःषष्टि कला-प्रतिपादकं ग्रन्थमित्यर्थः। यद्वा—वेशः=नेपथ्यग्रहणं तत्सम्बन्धिनीं कलाम्=नाटचकलामित्यर्थः, हस्तिशिक्षाम्=गजपरिपालन-सञ्चालननैपुण्यम्; ज्ञात्वा=विदित्वा; शिवस्य=शङ्करस्य, प्रसादात्=कृपाबलात्, व्यपगततिमिरम्=व्यपगतम्=दूरीभूतं तिमिरम्=अज्ञानान्धकारम् याभ्यां तादृशे, चक्षुषी=नयने, च, उपलभ्य=सम्प्राप्य, एतेन सर्वपदार्थविषयकयथार्थज्ञानवत्त्वं सूचितम्, भ्रमादीनां निरासश्च कृतः; पुत्रम्=आत्मजम्, राजानम्=राजपदे प्रतिष्ठितम्, वीक्ष्य=विलोक्य, एतेन वार्द्धक्यं पुत्रादिविषये चिन्ताराहित्यं च सूचितम्; परमसमुदयेन=परमः=सर्वाधिकः, समुदयः=अभ्युन्नतिः यस्मात्, येन वा तादृशेन, यद्वा परमः=प्रकृष्टः, समुदयः=समरो यस्मिन् सस्तादृशेन, अश्वमेधेन=एतन्नाम्ना प्रसिद्धेन यागविशेषेण, इष्ट्वा=यागं कृत्वा; दशदिनसहितम्=दशदिनाधिकम्, शताब्दम्=शतवर्षपरिमितम्, आयुः=जीवनकालम्, च, लब्ध्वा=प्राप्य, अग्निम्=अनलम्, प्रविष्टः=गतः, देहपरित्यागः कृत इति भावः। अत्रत्यो विशिष्टविचारोऽग्रे विमर्शे द्रष्टव्यः।स्रग्धरा वृत्तम्॥ ४॥

विमर्श—प्रस्तुत श्लोक में 'वैशिकीम्' शब्द के अनेक अर्थ हैं और यह 'कलाम्' का विशेषण है—(१) विशः=वैश्यस्य इयम्-इस अर्थ में ठक्=इक प्रत्यय करने पर 'वाणिज्यरूपी कला को' यह अर्थ होता है। (२) वेश=वेश्याजनसमाश्रयः=वेश्यालय, इससे सम्बन्धित कला को। (३) वेशः=नेपथ्यग्रहण, इससे सम्बन्धित कला='नाटच-

कला को' यह अर्थ है। (३) वेश:—अग्निवेशनामक राजा, 'नाम का जहाँ ग्रहण होता है, वहाँ उसके एक भाग का भी ग्रहण होता है' इस नियम से 'वैशिकीम्= राजा अग्निवेश द्वारा लिखित चौंसठ कलाओं के प्रतिपादक ग्रन्थ को' यह अर्थ होता है।

'वैशिकी' शब्द तद्धितान्त है अतः इसे 'कला' का विशेषण का मानना उचित है।

इस श्लोक में 'अग्निं प्रविष्ट:' इस भूतकालिक प्रयोग से अनेक शङ्कायें उपस्थित हुई हैं। (१) लेखक स्वयम् अपनी मृत्यु का उल्लेख कैसे कर सकता है? (२) यदि यह अंश लेखक द्वारा नहीं लिखा गया है तो इसे प्रक्षिप्त मानने में क्या बाधा है? (३) मृत्यु रूप अमङ्गल का उल्लेख करना कहाँ तक उचित है?

इनके समाधानार्थ विद्वानों ने कुछ सुझाव रक्खे हैं—(१) ज्योतिष आदि के द्वारा अपनी पूर्ण आयु का ज्ञान होने पर स्वेच्छा से अग्नि में अपनी देह का परित्याग करना सम्भव है। प्रस्तुत श्लोक लेखक के पुत्र अथवा अन्य किसी विद्वान् ने लिखकर जोड़ दिया है। इसका समर्थन अग्रिम श्लोक में प्रयुक्त 'बभूव' पद भी करता है। (२) जिस प्रकार अन्य अनेक कवियों की कृतियाँ धनप्राप्ति के बाद आश्रयदाता राजा के नाम से प्रसिद्ध हुई हैं, सम्भव है उसी प्रकार यह भी किसी आश्रित कवि की कृति है जो राजा शूद्रक के नाम से प्रसिद्ध है। (३) प्रक्षिप्त अंश अथवा अन्य की कृति मान लेने पर अमंगल का उल्लेख उतना अनुचित नहीं रहता है क्योंकि शूद्रक के जीवन की पूर्ण सफलता का चित्रण इसमें किया गया है। इस सन्दर्भ में मेरा यह विनम्र परामर्श है कि यहाँ 'प्रविष्ट:' यह अशुद्ध पाठ मानकर इसके स्थान पर भविष्यत्कालिक लुट् लकार का प्रयोग 'प्रवेष्टा' यह मान लेना चाहिये। इससे स्वयं मरण का उल्लेख करना सम्भव है। ज्योतिष आदि के द्वारा अपनी आयु का ज्ञान हो जाने पर उस निश्चित क्षण में वह अपनी इच्छा से अग्नि में प्रवेश कर जायगा। इस प्रकार समस्त शंकाओं का समाधान हो जाता है। दूसरा सुझाव यह है कि यहाँ भूतत्व की अविवक्षा कर दी जाय। तीसरा समाधान है 'प्रविष्टो भविष्यति' यह अर्थ करने के लिये 'भविष्यति' पद का आक्षेप कर लिया जाय। 'सिद्धस्य गतिश्चिन्तनीया' के अनुसार तर्कसंगत समाधान आवश्यक है।

शर्व—ईश्वरः शर्व ईशानः शङ्करश्चन्द्रशेखरः। अमरकोश १।३०

वीक्ष्य=वि√ईक्ष्+ल्यप्। इष्ट्वा=√यज्+क्त्वा, 'य्' का सम्प्रसारण 'इ' और 'अ' का पूर्वरूप तथा ज् का ष् और त् का ष्टुत्व। अश्वमेध:—अश्वस्य मेध:=पशुत्वेनोपालम्भनं यस्मिन् यागे सः—बहुव्रीहिसमास। स्रग्धरा छन्द है। इसका लक्षण—

म्रभ्नैर्यानां त्रयेण त्रिमुनियतियुता स्रग्धरा कीर्तितेयम् ॥४॥

अपि च—

समरव्यसनी, प्रमादशून्यः, ककुदो वेदविदां, तपोधनश्च ।
परवारणबाहुयुद्धलुब्धः क्षितिपालः किल शूद्रको बभूव ॥ ५ ॥

अन्वयः—शूद्रकः, समरव्यसनी, प्रमादशून्यः, वेदविदां, ककुदः, तपोधनः, परवारणबाहुयुद्धलुब्धः, च, क्षितिपालः, बभूव, किल ॥ ५ ॥

शब्दार्थः—शूद्रकः=[प्रस्तुत प्रकरण के रचयिता] शूद्रक नामक, समरव्यसनी=युद्ध करने के शौकीन=लड़ाकू स्वभाववाले, प्रमादशून्यः=असावधानी से रहित [सदा सावधान रहने वाले], वेदविदाम्=वेदों के ज्ञाताओं में, ककुदः=प्रधान=श्रेष्ठ, तपोधनः=तपस्वी, च=और, परवारणबाहुयुद्धलुब्धः=शत्रुओं के हाथियों की सूड़ों से लड़ने के लोभी, क्षितिपालः=पृथ्वी के पालनकर्ता राजा, बभूव=हुये, किल=ऐसी प्रसिद्धि है ॥ ५ ॥

और भी—

अर्थ—[मृच्छकटिक प्रकरण के रचयिता] 'शूद्रक' युद्ध करने के स्वभाववाले, [सदैव] सावधान, वेद जानने वालों में श्रेष्ठ, तपस्यारूपी धनवाले [महान् तपस्वी], शत्रुओं के हाथियों की सूड़ों के साथ युद्ध करने के लोभी, राजा हुये थे ॥५॥

टीका—शूद्रकः=एतन्नामकः प्रस्तुत-प्रकरणस्य रचयिता, समरव्यसनी=समरेषु=युद्धेषु व्यसनी=विशेषाभिरुचिः निरन्तरसमरसंलग्न इत्यर्थः, अनेन युद्धाभिलाषित्वं द्योत्यते; प्रमादशून्यः=प्रमादेन=अनवधानतया शून्यः=रहितः, एतेन कार्यसाधने दक्षत्वं प्रतीयते; वेदविदाम् = वैदिकसाहित्याभिज्ञानाम्, ककुदः=श्रेष्ठः; तपोधनः=तप एव धनं यस्य सः—तपोनिष्ठ इत्यर्थः; परवारणबाहुयुद्धलुब्धः=पराः=उत्कृष्टाः वारणाः=गजास्तैः सह बाहुयुद्धे = शुण्डयुद्धे, लुब्धः = अभिलाषी, यद्वा, परेषाम्=शत्रूणाम्, वारणानाम्=गजानाम्, बाहुयुद्धे लुब्धः=अनुरागीत्यर्थः; यद्वा परेषाम्=शत्रूणाम्, वारणौ=निवारकौ=अवरोधिनौ यौ बाहू=भुजद्वयम्, ताभ्यां सह युद्धलुब्ध इत्यर्थः; क्षितिपालः=पृथ्वीपालको राजा, बभूव = जातः, किल=इति प्रसिद्धिः ॥ ५ ॥

विमर्श—इस श्लोक में राजा शूद्रक के स्वभाव, शक्ति, पराक्रम आदि का उल्लेख है। 'समरव्यसनी' इसमें तत्पुरुष समास करना ही उचित है। समरेषु व्यसनं यस्य सः यह बहुव्रीहि करने पर 'समरव्यसनः' यही उचित है क्योंकि बहुव्रीहि करने पर मत्वर्थीय प्रत्यय असाधु होता है। ककुदः—प्राधान्ये राजलिङ्गे च वृषाङ्गे ककुदोऽस्त्रियाम्।" (अमरकोश ३।३।९९।) इसलिये कहीं-कहीं 'ककुदं' यह भी पाठ है।

अस्याञ्च तत्कृतौ—

अवन्तिपुर्य्यां द्विजसार्थवाहो युवा दरिद्रः किल चारुदत्तः ।
गुणानुरक्ता गणिका च यस्य वसन्तशोभेव वसन्तसेना ।। ६ ।।

जिस प्रकार चतुर्थ श्लोक में 'शूद्रकोऽग्निं प्रविष्टः यह भूतकालिक' प्रयोग विचारणीय है उसी प्रकार इस श्लोक में भी 'बभूव' पद चिन्तनीय है क्योंकि लेखक अपने लिये लिट् का प्रयोग नहीं कर सकता । अतः पूर्व श्लोक के साथ यहाँ तक का अंश प्रक्षिप्त मान लेना उचित प्रतीत होता है ।

इसमें भी मालभारिणी छन्द है। लक्षण—विषमे स-स-जा यदा गुरू चेत् स-भ-रा येन तु मालभारिणीयम् ।

सार्थक विशेषणों का प्रयोग होने से इसमें 'परिकर' अलङ्कार है ।। ५ ।।

अन्वयः—अवन्तिपुर्याम्, द्विजसार्थवाहः, दरिद्रः, युवा, चारुदत्तः, [आसीत्] च, यस्य, गुणानुरक्ता, वसन्तशोभा, इव, वसन्तसेना, [आसीत्] ।। ६ ।।

शब्दार्थ—अवन्तिपुर्याम्=अवन्तिपुरी उज्जैन नगर में, द्विजसार्थवाहः=ब्राह्मण-समुदाय में श्रेष्ठ, अथवा पालक, अथवा व्यापारसंलग्न ब्राह्मण, दरिद्रः=निर्धन [पहले धनी किन्तु अति उदार, दानी होने से बाद में दरिद्रता को प्राप्त], युवा=यौवनसम्पन्न, तरुण, चारुदत्तः=नामक प्रसिद्ध व्यक्ति, [हुआ था ऐसी] किल=प्रसिद्धि है। च=और, यस्य=जिस [चारुदत्त] के, गुणानुरक्ता=गुणों के कारण अनुराग करने वाली, वसन्तशोभा=वसन्ताख्य ऋतुविशेष की सुन्दरता, इव=के समान, वसन्तसेना=इस नामवाली, गणिका=वेश्या, [उसी उज्जयिनी में थी] ।। ६ ।।

और उस [शूद्रक] की [मृच्छकटिक नामक] इस कृति में—

अर्थ—उज्जैन नगर में ब्राह्मणश्रेष्ठ, अथवा व्यापारी ब्राह्मण [जो पहले धनी था किन्तु दानी होने के कारण बाद में] निर्धन, युवक 'चारुदत्त' [रहा करता था], और जिसके [दया, दाक्षिण्य आदि] गुणों के कारण प्रेम करने वाली, वसन्तऋतु की सुन्दरता के समान [सुन्दरतावाली] वसन्तसेना नामक गणिका [भी वहीं रहा करती थी] ।। ६ ।।

टीका—साम्प्रतमेतत्प्रकरणस्य नायकं वर्णयति अवन्तिपुर्याम् अवन्तिपुरी-उज्जयिनीनगरी तस्याम्, द्विजसार्थवाहः=सार्थम्=समूहम्, वहति=नयतीति सार्थवाहः द्विजश्चासौ सार्थवाहश्च=ब्राह्मणश्रेष्ठः, यद्वा व्यापारलग्न-वणिक्-समूह-प्रधानः, यद्वा द्विजानाम्=ब्राह्मणादिद्विजातीनां सार्थम्=समूहम्, वहति=अन्नादि-प्रदानादिना पालयति, एतेन चारुदत्तस्य ब्राह्मणत्वं सिध्यति, युवा=पूर्णयौवनसम्पन्नः तरुणः, दरिद्रः=निर्धनः, पूर्वं यः धनी आसीत् किन्तु अतीवदानि-स्वभावेन सम्प्रति निर्धनतां

प्राप्तः, चारुदत्तः=एतन्नामा आसीदिति शेषः। यस्य=चारुदत्तस्य, च, गुणानुरक्ता=गुणैः=दयादाक्षिण्यादिभिः अनुरक्ता=अनुरागवती, दत्तचित्ता, वसन्तशोभा=वसन्त-नामकऋतु-विशेषस्य शोभा=श्रीः, कान्तिः, इव=तुल्या, वसन्तसेना=एतन्नामिका, गणिका=वेश्या, आसीत्; यद्वा वसन्तशोभेव वसन्तसेना गणिका यस्य चारुदत्तस्य गुणानुरक्ता जाता। तस्य चारुदत्तस्य दरिद्रत्वेऽपि तस्याद्भुतगुणैरनुरक्ता वसन्त-सेनानामिका गणिका तं प्रति अनुरागवती जातेति भावः ॥ ६ ॥

विमर्श—अयोध्या मथुरा माया काशी काञ्ची अवन्तिका आदि के अन्तर्गत सात पवित्र नगरियों में अवन्ती भी एक थी। इसी का नाम उज्जयिनी था। यह शिप्रा नदी के तट पर स्थित है। इस समय जो उज्जैन नगर है वह प्राचीन अवन्ती नगरी के स्थान से लगभग एक मील दूर है।

द्विजसार्थवाह—शब्द के अर्थ को लेकर विद्वानों में मतभेद है। 'सार्थ' शब्द वणिक्-समुदाय और समुदायमात्र दोनों अर्थों का वाचक है। इस आधार पर इन अर्थों की कल्पना की जाती है—(१) सार्थवाह=व्यापारी, द्विज=ब्राह्मण व्यापारी, द्विजश्चासौ सार्थवाहश्च। (२) द्विजानाम्=ब्राह्मणानां सार्थम्=समूहम् वहति=अन्नदानादिना पालयति इति द्विजसार्थवाहः=ब्राह्मणपालनकर्ता। अनेक व्याख्याकारों ने चारुदत्त को व्यापारी ब्राह्मण माना है। परन्तु प्रस्तुत प्रकरण में उसके चरित्र की उदारता प्रदर्शित की गई है वह व्यापारी चारुदत्त से सम्भव नहीं है। अतः 'द्विजसार्थवाह' का अर्थ ब्राह्मणसमुदाय का नेता=द्विजश्रेष्ठ यही मानना उचित है। यदि द्विज का अर्थ ब्राह्मण, क्षत्रिय और वैश्य—ये तीनों मान लिये जाँय तो इनके समुदाय का पालन अथवा नेतृत्व करने वाला—यह अर्थ भी सम्भव है।

वसन्तसेना की उपमा वसन्त ऋतु की शोभा से करके कवि ने पुष्पों के समान प्रियता और कमनीयता वसन्तसेना की बताई है।

'गुणानुरक्ता' यह पद बहुत महत्त्वपूर्ण है। चारुदत्त यद्यपि अत्यन्त निर्धन हो चुका है तथापि उसमें कुछ अतुलनीय गुण हैं जिनके कारण वसन्तसेना वेश्या होते हुये भी चारुदत्त से प्रेम करने लगती है। इस कथन से वेश्यासामान्य की अर्थ-लोलुपता को छोड़कर गुणप्रियता का प्रतिपादन करना वसन्तसेना के चरित्र की उत्कृष्टता है। वह चारुदत्त के गुणों और यौवन से प्रेम करती है। उसकी निर्धनता प्रेम का बाधक नहीं है।

सार्थो वणिक्समूहे स्यादपि संघातमात्रके। मेदिनी

वारस्त्री गणिका वेश्या रूपाजीवाथ सा जनैः। अमरकोश २। ६। १९

वैदेहकः सार्थवाहो नैगमो वाणिजो वणिक ॥ अमरकोश २। ९ ७८

"दत्ता सेनान्तनामानि वेश्यानां कल्पयेत् सुधीः ॥

इस वचन के अनुसार वसन्तसेना नाम उचित है।

तयोरिदं सत्सुरतोत्सवाश्रयं, नयप्रचारं, व्यवहारदुष्टताम्।
खलस्वभावं, भवितव्यतां तथा चकार सर्वं किल शूद्रको नृपः॥ ७॥

इसमें 'इव' शब्द का प्रयोग होने के कारण श्रौती उपमा है। उपेन्द्रवज्रा छन्द है—

'उपेन्द्रवज्रा प्रथमे लघौ सा।

सा=इन्द्रवज्रा। स्यादिन्द्रवज्रा यदितौ जगौ गः॥ ६॥

अन्वयः—तयोः, सत्सुरतोत्सवाश्रयम्, व्यवहारदुष्टताम्, खलस्वभावम्, तथा, भवितव्यताम्, इदम्, सर्वम्, [अस्यां कृतौ] शूद्रकः, नृपः, चकार, किल॥ ७॥

शब्दार्थ—तयोः=[वसन्तसेना एवं चारुदत्त] उन दोनों के, सत्सुरतोत्सवाश्रयम्=उत्कृष्ट कामलीलारूपी उत्सव पर आश्रित [=आधृत], नयप्रचारम्=नीति के प्रचार, व्यवहारदुष्टताम्=व्यवहार=मुकदमें के निर्णय की सदोषता, खलस्वभावम्=[शकार आदि] दुष्टों के स्वभाव, तथा=और, भवितव्यता=होनी, इदम्=उपर्युक्त यह, सर्वम्=सभी कुछ, शूद्रकः=शूद्रकनामक, नृपः= राजा ने [अस्यां कृतौ=अपनी इस मृच्छकटिक कृति में] चकार=किया है, किल=ऐसी प्रसिद्धि है॥ ७॥

अर्थ—उन [वसन्तसेना एवं चारुदत्त] दोनों की उत्कृष्ट कामलीला पर आश्रित, नीति की गति, मुकदमें के निर्णय की सदोषता, दुष्टों का स्वभाव और होनी [भावी] यह उपर्युक्त सभी कुछ [वर्णन] राजा शूद्रक ने [अपनी इस मृच्छकटिक कृति में] किया है। [इस श्लोक का दूसरा अर्थ आगे 'विमर्श' में देखें।]॥ ७॥

टीका—वर्णनीयविषयान् संक्षेपेणाह-तयोः=चारुदत्त-वसन्तसेनयोः, तयोः सम्बद्धमित्यर्थः, सत्सुरतोत्सवाश्रयम्=सत्=श्लाघनीयम् सुरतम्=कामलीला एव उत्सवः=महः, स आश्रयः=वर्णनीयतया उद्देश्यः यस्य सः तम् प्रशस्यसम्भोगलीलाविषयिकामित्यर्थः, नयप्रचारम्=नीतेः गतिम् [अत्रत्यं तत्त्वं विमर्शे द्रष्टव्यम्] व्यवहारदुष्टताम्=विवादनिर्णयस्य सदोषताम्, वसन्तसेनायाः मृत्युविषयेऽनपराधिनोऽपि चारुदत्तस्य मृत्युदण्डदानात् तस्य दोषयुक्ततामिति भावः, खलस्वभावम्=खलानाम्=शकारादीनां प्रकृतिम्, तथा, भवितव्यताम्=अपरिहार्याया नियतेः प्रभावम्, इदम्=पूर्वोक्तम्, सर्वम्=सकलम्,शूद्रकः=एतन्नामकः, नृपः=राजा, [अस्यां कृतौ=मृच्छकटिके] चकार=कृतवान्, वर्णितवानित्यर्थः॥ ७॥

विमर्श—इस श्लोक का अर्थ विवादग्रस्त है। इसका अर्थ करते समय पूर्व पंक्ति 'अस्यां च तत्कृतौ' पर ध्यान देना बहुत आवश्यक है। अतः श्लोक ६ और ७ को मिलाकर अर्थ करना उचित है। इस प्रकार—"अस्यां च तत्कृतौ इदं सर्वं चकार" यह निराकाङ्क्ष वाक्यार्थज्ञान होता है।

इस श्लोक में 'सत्सुरतोत्सवाश्रयम्' बहुव्रीहि समासयुक्त पद है। इसे कुछ व्याख्याकारों ने 'प्रकरण' का विशेषण बनाकर यह अर्थ किया है —

'यह प्रकरण उन दोनों के उत्कृष्ट सुरत रूपी उत्सव को आश्रय मानकर [बनाया गया] है।'

यहाँ तक एक वाक्य बनाने के लिये 'अस्ति' का आक्षेप किया गया है। परन्तु यह तर्कसंगत नहीं है। 'सत्सुरतोत्सवाश्रयम्' इसे 'नयप्रचारम्' का विशेषण मानना चाहिये और नयेन=न्यायपूर्वकम् प्रचारः=प्रचरणम्, जीवनयापनम्, यह अर्थ करना चाहिये। चारुदत्त और वसन्तसेना न्याय के साथ जीना चाहते थे परन्तु शकार आदि दुष्टों ने उसमें बाधा पहुँचाने की पूरी पूरी चेष्टा की, इस तथ्य का प्रतिपादन यह मृच्छकटिक करता है न कि राजनीति के किसी प्रमुख विषय का। यहाँ नय का अर्थ आचार-संहिता करना चाहिये। व्यवहार=मुकदमा की दुष्टता=सदोषता का प्रतिपादन इसमें है। चारुदत्त ने वास्तव में हत्या नहीं की है किन्तु न्यायकर्ताओं के सामने मृत्युदण्ड देने के अतिरिक्त कोई मार्ग नहीं था क्योंकि साक्ष्यों से यही सिद्ध हो रहा था।

खलस्वभाव=शकार आदि दुष्ट पात्रों के स्वभाव का भी प्रतिपादन है।

भवितव्यता—होनी, भाग्य। पूरे प्रकरण मे भवितव्यता ने अनेक चमत्कार प्रस्तुत किये हैं। निर्धन चारुदत्त पर वसन्तसेना का अडिग प्रेम होना, शकार द्वारा वसन्तसेना का बध कर दिये जाने पर भी उसकी मृत्यु न होना, निरपराध चारुदत्त को मृत्युदण्ड दिया जाना, गोपालदारक आर्यक के राजा बनने का सिद्धादेश होना और अन्त तक राजा बन जाना, मृत्यु के अन्तिम क्षणों में वसन्तसेना का चारुदत्त के पास आना और उसे बचा लेना, पालक राजा का बध तथा आर्यक का राजा बनना—ये अनेक घटनायें भवितव्यता की प्रमाण हैं।

तृतीय श्लोक के सन्दर्भ-वाक्य—"एतत्कविः किल" से लेकर सातवें श्लोक तक का पाठ प्रक्षिप्त मानना चाहिये, ऐसा कुछ विद्वानों का कथन है। अतः सूत्रधार के पाठ के बाद "परिक्रम्य, अवलोक्य च—" यही मूल पाठ है, ऐसा कहा जा सकता है।

सत्सुरतोत्सवाश्रयम्—सत्=उत्कृष्ट जो सुरतरूपी उत्सव, वह है आश्रय=प्रतिपाद्य विषय जिसका—यहाँ बहुव्रीहि समास है। और नयप्रचारम् का विशेषण है—नयेन प्रचारम्=आचारसंहितानुसारं जीवनयापनम् यह अर्थ ही उचित है। प्र+√चर्+घञ्। भवितव्यता=भू+तव्यत्+तल्+टाप्।

इसमें वंशस्थ छन्द है। लक्षण—वदन्ति वंशस्थविलं जतौ जरौ ॥ ७ ॥

[परिक्रम्यावलोक्य च] अये ! शून्येयमस्मत्सङ्गीतशाला ! क्व नु गताः कुशीलवाः भविष्यन्ति ? [विचिन्त्य] आं ज्ञातम् ।

शून्यमपुत्रस्य गृहं, चिरशून्यं नास्ति यस्य सन्मित्रम् ।
मूर्खस्य दिशः शून्याः, सर्वं शून्यं दरिद्रस्य ॥ ८ ॥

शब्दार्थ—परिक्रम्य=[रंगमंच पर] घूमकर, च=और, अवलोक्य=देखकर, अये=अरे, [विषाद का सूचक अव्यय], इयम्=यह, [सामने लक्ष्यमाण], अस्मत्सङ्गीतशाला=हम लोगों की संगीतशाला [संगीत=नृत्य, गीत, वाद्य का अभ्यास करने का स्थान] शून्या=खाली [है]; कुशीलवाः=अभिनेता=नट लोग, क्व=कहाँ, नु=शङ्कासूचक अव्यय, गताः=गये, भविष्यन्ति=होंगे, विचिन्त्य=सोंचकर, आम्=अच्छा [किसी बात के स्मरण में प्रयुक्त अव्यय] ज्ञातम्=समझ गया; [याद आ गया] ।

अर्थ—[घूमकर और चारों ओर देखकर] अरे ! हमारी संगीतशाला [संगीत-अभ्यासगृह] तो खाली है, नट [आदि अभिनेता] लोग [इस समय] कहाँ गये होंगे ? [सोंचकर] अच्छा, याद आ गया ।

टीका—परिक्रम्य=रङ्गमञ्चे परिक्रमणं कृत्वा, च=तथा, अवलोक्य=परितो विलोक्य, अये=विषादसूचकमव्ययम्, इयम्=सम्मुखे लक्ष्यमाणा, अस्मत्संगीतशाला='गीतं नृत्यं च वाद्यञ्च त्रयं संगीतमुच्यते' इति लक्षणलक्षितस्य संगीतस्य अभ्यासार्थं शाला=गृहम्, शून्या=नटादिरहिता वर्तत इति शेषः; कुशीलवाः=नटादयः, क्व=कुत्र, नु=शङ्कासूचकमव्ययम्, गताः=प्रयाताः, भविष्यन्ति; आम्=स्मरणार्थकमव्ययम्, ज्ञातम्=पूर्वं विस्मृतं साम्प्रतं स्मृतमित्यर्थः ।

विमर्श—'अये' यह पद यहाँ विषाद का सूचक है—'अये क्रोधे विषादे च' [मेदिनी कोष] । 'नु'=शङ्कासूचक अव्यय है, अथवा पूछने के अर्थ में अव्यय है—'नु पृच्छायां विकल्पे च' अमरकोष ३।३।२५७। सूत्रधार दर्शकों से पूछने का अभिनय करता है, इसे 'नु' शब्द से सूचित कराया है । आम्=स्मरण अथवा स्वीकृति=निश्चय का सूचक है—'आं स्मृतौ चावधारणे" विश्वकोष ।

जैसा कि पहले लिखा जा चुका है कि प्रारम्भिक वाक्यों के बाद जो श्लोक हैं वे प्रक्षिप्त प्रतीत होते हैं । यहाँ से ही वास्तविक पाठ प्रारम्भ होता है । क्योंकि सूत्रधार इतनी देर तक स्वयं बोलता रहे और नान्दीपाठ बन्द करने को कहे, यह तर्कसंगत नहीं लगता है ।

अन्वयः—अपुत्रस्य, गृहम्, शून्यम्, यस्य, सन्मित्रम्, न, अस्ति, [तस्य], चिरशून्यम्, [अस्ति], मूर्खस्य, दिशः, शून्याः, [सन्ति], दरिद्रस्य, सर्वम्, शून्यम् [भवति] ॥ ८ ॥

शब्दार्थ—अपुत्रस्य=पुत्रहीन [व्यक्ति] का, गृहम्=घर, शून्यम्=सूना [होता है], यस्य=जिस [व्यक्ति] का, सन्मित्रम्=अच्छा मित्र, न=नहीं, अस्ति=होता है, [तस्य=उसका] चिरशून्यम्=चिरकाल अभिमत कार्य से रहित [होता है], मूर्खस्य=मूर्ख, [व्यक्ति] की [समस्त] दिशः=दिशायें [अर्थात् सभी ओर], शून्याः=सूनी [सहारारहित], [हैं], दरिद्रस्य=निर्धन [व्यक्ति] का, सर्वम्=सभी कुछ, शून्यम्=सूना, [होता है] ॥ ८ ॥

अर्थ—पुत्रहीन [सन्तानहीन] का घर सूना [होता है]; जिसका [कोई भी] अच्छा मित्र नहीं होता है, उसका चिरकाल शून्य रहता है; मूर्ख की [सभी] दिशायें शून्य रहती हैं [और] दरिद्र का सब [संसार] सूना=खाली होता है ॥ ८ ॥ [चारुदत्त की निर्धनता को सूचित करने के लिये सूत्रधार यहाँ से उपक्रम बाँधता है ।]

टीका—अपुत्रस्य=अविद्यमानपुत्रस्य, पुत्रहीनस्य, [पुत्रस्य पुत्र्याश्च द्वन्द्वे पुंल्लिङ्गैकशेषे सति पुत्रशब्द एवोभयार्थवाचकः, तेन पुत्ररहितस्य पुत्रीरहितस्य चेत्यर्थ इति केचित् ।] गृहम्=आवासः, भवनम्, शून्यम्=रिक्तम् भवति, पुत्राभावे गृहस्थसर्ववस्तूनां वैयर्थ्यादिति भावः; यस्य=पुरुषस्य, सन्मित्रम्=शोभनं सुहृद्, न=नैव, अस्ति=वर्तते, तस्य=पुरुषस्य, चिरशून्यम्=चिरम्=दीर्घः कालः, शून्यम्=अभिमतकार्यरहितम्, सन्मित्राभावे कदापि कार्यसाधनाभावात् यावज्जीवं सुखं न लभ्यते इति भावः; मूर्खस्य=मूढस्य, बुद्धिरहितस्य, दिशः=सर्वाः ककुभः, शून्याः=सहायकजनरहिताः भवन्तीति शेषः; दरिद्रस्य=निर्धनस्य पुरुषस्य सर्वम्=सकलं जगत्, शून्यम्=रिक्तम्, भवतीति शेषः । निर्धनस्य पुरुषस्य कदापि कुत्रापि कोऽपि सहायको न भवति तेन विपुलसंख्याकजनमपि जगत् तत्कृते अभावमयमेव भवतीति भावः ॥ ८ ॥

विमर्श—समस्त वैभव ऐश्वर्य रहने पर भी यदि गृह-प्राङ्गण में शिशुलीला करने वाला पुत्र नहीं है तो वह घर वास्तव में सूना ही होता है । जिस व्यक्ति का कोई भी अच्छा मित्र नहीं होता है, सहायक नहीं होता है अतः सर्वत्र उसके कार्यों में बाधा पड़ती है, कोई भी अभिमत कार्य नहीं हो पाता है । संसार में सबकुछ रहता है परन्तु मूर्ख उसका उपभोग नहीं करपाता है अतः उसके लिये सभी ओर रिक्तता ही रहती है । इन सबकी अपेक्षा निर्धन की स्थिति और दयनीय होती है क्योंकि सारा संसार ही उसके लिये नहीं के समान है । कोई भी उसका साथ नहीं देता है, न बात सुनता है; न करता है, और न कुछ देता है । अतः दरिद्र होना महा अभिशाप है ।

यहाँ दरिद्रता की निन्दा करते हुये आगे निरूपित होनेवाली चारुदत्त की की दरिद्रता का संकेत किया गया है ।

कृतञ्च सङ्गीतकं मया। अनेन चिरसङ्गीतोपासनेन ग्रीष्मसमये प्रचण्डदिनकरकिरणोच्छुष्कपुष्करबीजमिव प्रचलिततारके क्षुधा ममाक्षिणी खटखटायेते, तत् यावत् गृहिणीमाहूय पृच्छामि—अस्ति किञ्चित् प्रातराशो न वेति। एषोऽस्मि भोः! कार्य्यवशात् प्रयोगवशाच्च प्राकृतभाषी संवृत्तः—

अपुत्रस्य—अविद्यमानः पुत्रो यस्यः सः, बहुव्रीहि है। चिरशून्यम्=चिरंशून्यम्—यह कर्मधारय हैं।

इसमें आर्या छन्द है। लक्षण—

यस्याः पादे प्रथमे द्वादश मात्रास्तथा तृतीयेपि।
अष्टादशद्वितीये चतुर्थके पञ्चदश साऽऽर्या ॥ ८ ॥

शब्दार्थ—मया=मैंने [सूत्रधारने] सङ्गीतकम्=गाना, बजाना और नाचना; कृतम्=सम्पादित कर लिया, अनेन=इस, चिरसङ्गीतोपासनेन=अधिक देर तक सङ्गीत के उपासन=अभ्यास से, ग्रीष्मसमये=गर्मी के दिनों में, प्रचण्ड-दिनकर-किरणोच्छुष्कपुष्कर-बीजम् इव=अत्यधिक तपते हुये सूर्य की किरणों से सूखे हुये कमल के बीज के समान, प्रचलिततारके=चञ्चल पुतलियों वाली, मम= मेरी [सूत्रधार की], अक्षिणी=आखें, क्षुधा=भूख से, खटखटायेते=खट खट [शब्द] कर रहीं हैं, तत्=इसलिये, यावत्=वाक्यालङ्कार में प्रयुक्त अव्यय, गृहिणीम्=घर की मालकिन नटी को, आहूय=बुलाकर, पृच्छामि=पूछता हूँ; किञ्चित्-प्रातराशः=कुछ भी सबेरे का जलपान, अस्ति=है, न वा=अथवा नहीं। भोः=अरे भाइयो !; एषः=यह, [अहम्=मैं], कार्यवशात्=प्रयोजनवश, च=और प्रयोगवशात्=नाट्यप्रयोग के कारण, प्राकृतभाषी=प्राकृत भाषा बोलने वाला, संवृत्तः=बन गया, अस्मि=हूँ।

अर्थ—मैंने संगीतक (गीत, नृत्य और वाद्य का) कार्य पूरा कर लिया है। अधिक देर तक इस संगीत का अभ्यास करने के कारण भूख लगने से चंचल पुतलियों वाली मेरी आखें उसी प्रकार खट खट आवाज कर रहीं हैं जिस प्रकार गर्मी के दिनों में प्रचण्ड सूर्य की किरणों से सूखे हुये कमल के बीज [खट खट] आवाज करते हैं। तो गृहिणी (पत्नी नटी) को बुलाकर पूछता हूँ कि—कुछ जलपान है अथवा नहीं। सज्जनों! अब मैं प्रयोजनवश और [नाटकीय] प्रयोग-वश प्राकृत भाषा बोलने वाला बन गया हूँ—

टीका—मया=सूत्रधारेण, सङ्गीतकम्=गीतं नृत्यञ्च वाद्यञ्च त्रयं सङ्गीत-मुच्यते—इति लक्षणलक्षितम्, कृतम्=सम्पादितम्, अभ्यस्तं वा। चिरसङ्गीतोपासनेन—चिरम्=दीर्घकालपर्यन्तम्, सङ्गीतस्य=गीतादित्रयस्य, उपासनेन=अभ्यासेन, ग्रीष्म-समये=ग्रीष्मतौ, प्रचण्ड-दिनकर-किरणोच्छुष्क-पुष्कर-बीजम्=प्रचण्डः=प्रतप्तः चासौ

दिनकरः=मध्याह्नसूर्यः, तस्य किरणैः=रश्मिभिः, उच्छुष्कम्=सर्वथोपजातशोषम्, पुष्करस्य=कमलस्य, बीजम्=कमलदलमध्ये विद्यमानं बीजम्, इव=तुल्यम्, प्रचलिततारके=चञ्चलतामुपगते तारके=कनीनिके ययोः ते, मम=सूत्रधारस्य, अक्षिणी=नेत्रे, क्षुधा=बुभुक्षया, खटखटायेते=खटत् खटत् इति शब्दं कुरुतः; तत् यावत्=तस्मात् कारणात्, गृहिणीम्=भार्याम्, आहूय=सम्बोध्य, पृच्छामि=पृच्छां करोमि, प्रातराशः=कल्यभोजनम्, प्रातः अश्यते=भुज्यते इति प्रातराशः; कार्यवशात्=कार्यम्=बोधनीयायाः स्त्रियो झटिति ज्ञानम्, तस्य वशात्=कारणात्, स्त्रीत्वेन भार्या प्राकृतभाषां सरलतया शीघ्रमेव ज्ञास्यतीति भावः, प्रयोगवशात्=नाट्यप्रयोगस्य नियमात्, प्राकृतभाषा-भाषी=प्राकृतभाषा-प्रयोक्ता, संवृत्तः=सञ्जातः, अत्र च "स्त्रीषु ना प्राकृतं वदेत् ।" "पुरुषाः संस्कृतजल्पाः प्राकृतगुम्फोऽपि भवति सुकुमारः ।" "कार्यतश्चोत्तमादीनां कार्यो भाषाव्यतिक्रमः ।" इत्यादि-वचनानुरोधेन स सूत्रधारः नटीं प्रति प्राकृतभाषाप्रयोगमेवोचितं मनुते इति बोध्यम् ।

विमर्श—प्रचलिततारके–जिस प्रकार भीषण ग्रीष्मकाल में कमलपुष्प सूख जाते हैं और उनके भीतर के बीज हिलने पर आवाज करने लगते हैं उसी प्रकार कमलतुल्य नेत्रों में रहने वाली पुतलियाँ भी भूखके कारण चलते रहने से शब्द कर रहीं हैं। खट-खटायेते खटत् इस प्रकार के अव्यक्त शब्दानुकरण के लिये इसका प्रयोग है। खटत् भवति—इस विग्रह में "अव्यक्तानुकरणाद् द्व्यजवरार्धादनितौ डाच्" [पा. सू. ५।४।५७] सूत्र से डाच्=आ प्रत्यय होता है और "डाचि विवक्षिते बहुलं द्वे भवतः' इस नियम से द्वित्व होता है –खटत् + खटत् + आ, इस अवस्था में 'नित्यमाम्रेडिते डाचीति वक्तव्यम्' नियम से तकार और खकार का पररूप होने पर 'खटखटत् + आ बनता है डित् प्रत्यय परे होने से टि=अत् का लोप होने पर 'खटखटा' यह निष्पन्न होता है। "लोहितडाज्भ्यः क्यष्" [पा. सू. ३।१।१३] इस नियम से क्यष्=य प्रत्यय होने पर – "वा क्यषः" [पा. सू. १।३।९०] से वैकल्पिक आत्मनेपद होकर प्रथम पुरुष द्विवचन का रूप सिद्ध होता है। पुतलियों में ऐसी ध्वनि नहीं होती है, अतः यह क्रियापद उचित नहीं है, इसकी अपेक्षा और कोई अनुकरण-वाची शब्द रखना चाहिये था। 'बीजम् इव अक्षिणी' इस प्रयोग में उपमान एकवचन और उपमेय द्विवचन का प्रयोग भी अच्छा नहीं है। पृथ्वीधर ने खटखटायते इस पर यह लिखा है—"संगीतकेन चक्षुषी खटखटायेते इत्यसम्बद्धप्रलापेन भाविनः शकारासम्बद्धभाषणस्य सूचनम् ।" अतः इस पद पर विशेष आलोचना अनावश्यक है।

प्रातराशः—प्रातः काले अश्यते इति प्रातराशः–कल्यभोजनम् ।

कार्यवशात्—यहाँ अपनी भार्या के साथ वार्ता करना कार्य है न कि नाटक का कार्य। क्योंकि 'स्त्रीषु ना प्राकृतं वदेत्" पुरुष पात्र को स्त्रियों से प्राकृत भाषा

अविद अविद भो: ! चिरसंगीदोवासणेण सुक्खपोक्खरणालाइं बिअ मे बुभुक्खाए मिलाणाइं अंगाइं, ता जाव गेहं गदुअ आणामि, अत्थि किंपि कटुंबिणीए उववादिदं ण वेत्ति । [परिक्रम्यावलोक्य च] एदं तं अम्हाणं गेहं, ता पविसामि । [प्रविश्यावलोक्य च] हीमाणहे ! किं णु क्खु अम्हाणं गेहे अवरं विअ संविहाणअं वट्टदि ! आआमितंडुलोदअप्पवाहा रच्छा, लोहकड़ाहपरिवत्तणकसणसारा किदविसेसआ बिअ जुअदी अहिअदरं सोहदि भूमी, सिणिद्धगंधेण उद्दीवती विअ अहिअं बाधदि मं बुभुक्खा; ता किं पुब्बविहिदं णिहाणं उववण्णं[1] [उब्बण्णं] भवे ? आद् अहं ज्जेब बुभुक्खादो ओदणमअं जीअलोअं पेक्खामि ! णत्थि किल पादरासो अम्हाणं गेहे, पाणाच्चअं[2] बाधेदि मं बुभुक्खा, इध सब्बं णवं बिअ संबिहाणअं बट्ठदि, एका बण्णअं पीसेदि, अबरा सुमणाइं गुंफेदि। [विचिन्त्य] किं ण्णेदं ? भोदु, कुटुम्बिणीं सद्दाविअ परमत्थं जाणिस्सं। [नेपथ्याभिमुखमवलोक्य] अज्जे ! इदो दाव । (अविद अविद भो: ! चिरसङ्गीतोपासनेन शुष्कपुष्करनालानीव मे बुभुक्षया म्लानानि अङ्गानि, तत् यावत् गृहं गत्वा जानामि, अस्ति किमपि कुटुम्बिन्या उपपादितं न वेति । (परिक्रम्यावलोक्य च) इदं तदस्माकं गृहं, तत् प्रविशामि । (प्रविश्यावलोक्य च)आश्चर्यम् ! किं नु

में वार्ता करनी चाहिये, यह नियम है । प्रयोगवशात्—नाटक में जो अभिनय करना है, तदनुसार सूत्रधार प्राकृत भाषाभाषी बन रहा है । यहाँ सूत्रधार को एक निर्धन व्यक्ति का अभिनय करना है अत: सामान्य जन की भाषा प्राकृत के माध्यम से ही बोलना उचित है ।

शब्दार्थ—अविद अविद=कष्ट है कष्ट है अथवा आश्चर्य है आश्चर्य है, चिरसंगीतोपासनेन=बहुत देर तक संगीतका अभ्यास करने के कारण, शुष्कपुष्करनालानीव=सूखे हुये कमलदण्ड के समान, मे=मेरे, अङ्गानि=अवयव, बुभुक्षया=भूख के कारण, म्लानानि=मुरझा [कुँभला] गये हैं; कुटुम्बिन्या=घर की मालकिन ने, उपपादितम्=बनाया है, न वेति=अथवा नहीं [बनाया है]; अपरम् इव=दूसरा ही, संविधानकम्=आयोजन, कार्यसम्पादन, आयामि-तण्डुलोदकप्रवाहा=चावलों के [धोने में] बहुत अधिक [प्रयुक्त] जल से व्याप्त; रथ्या=गली; लोहकटाह-परिवर्तनकृष्णसारा=लोहे की कड़ाही को [स्वच्छ करने के लिये] घुमाने=रगड़ने से कृष्णवर्णप्रधाना=चितकबरी, भूमि:=पृथ्वी, कृतविशेषका=तिलक लगायी हुयी, युवति:=यौवन-सम्पन्ना स्त्री, इव=के समान, अधिकतरम्=और अधिक, शोभते=

१. उब्बणं—इति पाठे 'उत्पन्नम्' इति संस्कृतम् । २. प्राणाधिअं—इति पाठे 'प्राणाधिकम्' इति संस्कृतम् ।

खलु अस्माकं गृहे अपरमिव संविधानकं वर्त्तते ! आयामितण्डुलोदकप्रवाहा रथ्या, लौहकटाहपरिवर्तनकृष्णसारा कृतविशेषका इव युवती अधिकतरं शोभते भूमिः, स्निग्धगन्धेन उद्दीप्यमानेव अधिकं बाधते मां बुभुक्षा; तत् किं पूर्वविहितं निधानम् उपपन्नम् भवेत् ? अथवा, अहमेव बुभुक्षातः ओदनमयं जीवलोकं प्रेक्षे ! नास्ति किल प्रातराशोऽस्माकं गृहे, प्राणात्ययं बाधते मां बुभुक्षा; इह सर्वं नवमिव संविधानकं वर्त्तते; एका वर्णकं पिनष्टि, अपरा सुमनसो गुम्फति । (विचिन्त्य) किं नु इदम् ? भवतु, कुटुम्बिनीं शब्दायित्वा परमार्थं ज्ञास्यामि (नेपथ्याभिमुखमवलोक्य)आर्ये ! इतस्तावत् ।)

अच्छी लग रही है; स्निग्धगन्धेन=[पकवानों में प्रयुक्त घी की] मनोहर गन्ध से; उद्दीप्यमाना=उद्दीप्त होती हुई, इव=सी, बुभुक्षा=भूख, बाधते=कष्ट दे रही है; पूर्वविहितम्=पूर्वजों द्वारा गाड़ा हुआ, निधानम्=खजाना, उपपन्नम्=प्राप्त, भवेत्=हो गया [सम्भावना में लिङ् है], बुभुक्षातः=भूख के कारण, ओदनमयम्=चावलों से भरा हुआ, प्रेक्षे=देख रहा हूँ; प्राणात्ययम्=प्राणों को लेलेने वाली बुभुक्षा=भूख, बाधते=कष्ट दे रही है, वर्णकम्=सुगन्धयुक्त द्रव्य को, पिनष्टि=पीस रही है, सुमनसः= फूलों को, गुम्फति=गूंथ रही है; शब्दाय्य=बुलाकर, परमार्थम्=वास्तविक स्थिति को, ज्ञास्यामि=जानता हूँ, या जानूंगा; इतस्तावत्=[कृपया] इधर आइये ।

अर्थ—खेद है, खेद है, बहुत देर तक संगीत का अभ्यास करने के कारण मेरे समस्त अंग सूखे हुये कमलनाल के समान म्लान=मुरझाये हुये हो गये हैं। तो तब तक [इस कारण] घर जा कर मालूम करता हूँ कि मेरी पत्नी ने [खाने के लिये] कुछ भी बनाया है अथवा नहीं । (चारो ओर घूमकर और देखकर) तो यह मेरा घर है; इसलिये [इसमें] प्रवेश करता हूँ । (प्रवेश करके और देखकर) आश्चर्य [है] । यह क्या दूसरा ही आयोजन [कार्य की तैयारी] हमारे घर पर हो रहा है । गली चावलों के धोने के पानी से भरी हुई है, लोहे की कढ़ाई [को धोने] के [लिये] रगड़ने से चितकबरी पृथ्वी, टिकली [तिलक] लगायी हुई युवती के समान, अत्यधिक अच्छी लग रही है । [पकवानों में प्रयुक्त] घी की खुशबू से प्रदीप्त हुई सी भूख मुझे और अधिक कष्ट दे रही है । तो क्या पूर्वजों का गाड़ा हुआ खजाना निकल आया ? [मिल गया है] । अथवा मैं ही भूख के कारण सारे संसार को भात से परिपूर्ण देख रहा हूँ । हमारे घर में प्रातः कालीन भोजन [नाश्ता] नहीं है । भूख मुझे प्राणहारिणीरूप में [जान ले लेनी वाली के रूप में] कष्ट दे रही है । यहाँ [घर में] सब नया सा ही आयोजन [तैयारी] हो रहा है । एक (कोई) स्त्री [केशर आदि] सुगन्धित पदार्थ को पीस रही है । दूसरी फूलों को गूंथ रही है । (सोंच कर) यह क्या (हो

रहा है) ? अच्छा, गृहिणी [घर की मालकिन] को बुलाकर वास्तविक स्थिति का पता लगाता हूँ। (नेपथ्य=पर्दे की ओर देखकर) आर्ये ! इधर तो [आना]।

टीका—अविद अविद=खेदाश्चर्ययोः बोधकमव्ययम्, शुष्कपुष्करनालानीव=शुष्काणि=नीरसानि यानि पुष्कराणि=कमलानि तेषाम्, नालानि इव=दण्डानि इव, म्लानानि=शिथिलानि, मे=मम सूत्रधारस्येत्यर्थः; कुटुम्बिन्या=भार्यया 'भार्या जायाऽथ पुंभूम्नि दाराः स्यात्तु कुटुम्बिनी ।' [अमरकोषः २।६।६] उपपादितम्=विरचितं निर्मितं वा, अपरम् इव=अन्यत् किञ्चित् नवीनम् इव, सविधानकम्=आयोजनम्, आयामि-तण्डुलोदकप्रवाहा=तण्डुलानां प्रक्षालने प्रयुक्तमुदकं तण्डुलोदकम्, तस्य प्रवाहः=प्रसारः, आयामी=अतिविस्तृतः तण्डुलोदकप्रवाहो यस्यां सा तादृशी, रथ्या=गृहसम्मुखवर्ती मार्गः; लौहकटाह-परिवर्तन-कृष्णसारा=लौहकटाहस्य=लौह-निर्मितपात्रविशेषस्य प्रक्षालनार्थं विहितेन परिवर्तनेन=इतस्ततः सञ्चालनपूर्वक-घर्षणेन, कृतविशेषका=कृतः=धृतः विशेषकः=तिलको यया सा तादृशी, युवती=युवतिः, इव, भूमिः=पृथ्वी, अधिकतरम्=अतीव, शोभते=शोभायमाना दृश्यते। स्निग्धगन्धेन=स्निग्धानाम्=घृतादौ पक्वानां भोज्यपदार्थानां सुगन्धेन, स्निग्धेन गन्धेन इति व्यस्तः पाठो नोचितः, बहुत्र समस्तपाठस्यैवोपलम्भात्, गन्धे स्निग्धताया अनुभवाभावाच्च; उद्दीप्यमाना=वृद्धिमुपगता, उद्दीप्तेति यावत्, इव=तुल्यम्, बुभुक्षा=प्रबला क्षुधा, बाधते=कष्टायते; (पूर्वार्जितम्=पूर्वजैः अर्जितं भूमौ निहितम्) पूर्वविहितम्=पूर्वजपुरुषैः भूमौ सङ्गोप्य सुरक्षितम्, निधानम्=निधिः, धनादिकोषः, उपपन्नम्=लब्धम्, उत्पन्नमिति पाठे प्रत्यक्षतामुपगतम्, भवेत्=स्यादिति सम्भावनायाम्। ओदनमयम्=ओदनयुक्तम्, अन्नमयमिति पाठे 'अन्नयुक्तम्' इत्यर्थः, प्रेक्षे=पश्यामि, पश्यामि—इति पाठान्तरम्। प्रातराशः=कल्यभोजनम्, प्राणात्ययम्=प्राणानामत्ययो विनाशो यथा स्यात् तथेति क्रियाविशेषणमिदम् 'प्राणाधिकम्' इति पाठे प्राणेषु अधिकं यथा स्यात् तथेति बोध्यम्। बाधते=दुःखाकरोति, संविधानकम्=आयोजनम्, वर्णकम्=कस्तूर्यादिकं समालम्भनम्, पिनष्टि=चूर्णयति, सुमनसः=पुष्पाणि, गुम्फति=ग्रथ्नाति, नु=आश्चर्ये, कुटुम्बिनीम्=पत्नीम्, शब्दा-यित्वा=आहूय पृष्ट्वेति भावः, परमार्थम्=सत्यताम्, ज्ञास्यामि=जानामि, वेत्स्यामि वा, वर्तमानसामीप्ये वैकल्पिको लृट्, इतः=इह आगच्छ, 'तावत्' इदं वाक्यालङ्कारे।

विमर्श—शुष्कपुष्करनालानीव=जिस प्रकार कमलदण्ड सूखने पर अत्यन्त मलिन हो जाता है, उसी प्रकार भूख के कारण सूत्रधार के शरीरावयव शिथिल हो रहे हैं, उसे कुछ भी करने की इच्छा नहीं हो रही है—'बुभुक्षितं न प्रतिभाति किञ्चित्', ठीक ही कहा गया है।

आर्ये !—नियमानुसार शिष्टाचार के लिए पुरुषपात्र स्त्री के लिए 'आर्ये' और स्त्रीपात्र पुरुष के लिये 'आर्य' यह सम्बोधन शब्द प्रयुक्त करते हैं 'वाच्यौ

नटी---[प्रविश्य] अज्ज ! इअं म्हि (आर्य ! इयमस्मि ।)

सूत्र०---अज्जे ! साअदं दे । (आर्ये ! स्वागतं ते ।)

नटी---आणावेदु अज्जो, को णिओओ अणुचिट्ठोअदु त्ति ? (आज्ञापयतु आर्यः, को नियोगोऽनुष्ठीयतामिति ।

नटीसूत्रधारौ आर्यनाम्ना परस्परम् ।" आयामितण्डुलोदकप्रवाहा---अधिक चावलों को धोने के लिये बहुत पानी उपयुक्त होने के बाद सड़कों पर बह रहा है। अथवा पके चावलों से निकाला गया मांड़ सड़क पर फैला हुआ यह भी अर्थ सम्भव है। कृतविशेषका युवती इव---जिस प्रकार कोई युवती टिकली लगाने पर सुन्दर लगती है, उसी प्रकार कड़ाही के नीचे का काला रंग पृथ्वी पर बीच बीच में लग गया है और वे चिह्न सुन्दर दिखाई दे रहे हैं। स्निग्धगन्धेन---विभिन्न प्रकार के पकवान बनाने में प्रचुर घी प्रयुक्त हुआ है, उसकी उत्कृष्ट गन्ध के द्वारा। स्निग्ध=स्नेहयुक्त, घृतादि से निर्मित पदार्थ भी स्निग्ध हैं, तेषां गन्धेन यह समस्त पाठ उचित है। स्निग्धेन गन्धेन-इस पाठ में अर्थ की संगति नहीं है।

पूर्वविहितम्=पूर्वजों द्वारा संचित, पाठान्तर -पूर्वार्जितम्=पूर्वजों द्वारा उपार्जित करके गुप्त रूप से जमीन में गाड़ कर रक्खा गया, निधानम्=खजाना, उपपन्नम्=मिल गया, उत्पन्नम्=इस पाठ में निकल आया। ओदनमयम्=भात से व्याप्त, अन्नमयम् इस पाठ में अन्न से भरा हुआ। ओदनमय---इस कथन से और 'तण्डुलोदक' आदि कथन से उस समय चावलों का अधिक उपयोग सिद्ध होता है।

'प्राणात्ययम्'---प्राणानामत्ययो=विनाशः यस्मिन् कर्मणि यथा स्यात् तथा---जिसमें प्राण निकल रहे हों ऐसी बाधा पहुचाना, प्राणाधिकम् इस पाठ में जिसमें प्राण निकल रहे हों, उस रूप में बाधा पहुँचाना। वर्णक=सुगन्धित लेपन---

(कर्पूरागुरुकस्तूरीकक्कोलै-) र्यक्षकर्दमः ।
गात्रानुलेपनी वर्तिर्वर्णकं स्याद् विलेपनम् ॥ अमरकोष २।६।१३३

शब्दायित्वा=शब्द कर के=बुला करके; 'शब्दं करोति'---इस अर्थ में नामधातु रूप में क्यङ् प्रत्यय करके बाद में क्त्वा प्रत्यय करना चाहिये। कुछ संस्करणों में 'शब्दाप्य' अथवा 'शब्दाय्य' यह पाठ भी है; परन्तु उपसर्गादि के साथ समास के अभाव में ल्यप्= य प्रत्ययान्त रूप का प्रयोग मानना उचित नहीं है। 'सद्दाविअ' इस प्राकृत रूप से मिलता जुलता रूप बनाने से उक्त भ्रान्ति हुई है।

अर्थ---

नटी---(प्रवेश करके) आर्य ! [मैं] यह [उपस्थित] हूँ।

सूत्रधार आर्ये ! तुम्हारा स्वागत [है]।

नटी---आर्य ! आज्ञा दीजिये; [आपकी] किस आज्ञा का पालन किया जाय।

सूत्र०—अज्जे ! [चिरसंगीदोबासणेण— इत्यादि पठित्वा] अत्थि किंपि अम्माणं गेहे असिदव्वं ण वेत्ति ? (आर्ये ! [चिरसङ्गीतोपासनेन–इत्यादि पठित्वा] अस्ति किमपि अस्माकं गेहे अशितव्यं न वेति ?)

नटी—अज्ज । सब्बं अत्थि । (आर्य ! सर्वमस्ति ।)

सूत्र०—किं किं अत्थि ? (किं किमस्ति ?)

नटी—तं जधा,—गुड़ोदणं, घिअं, दहीं, तंडुलाइं, अज्जेण अत्तव्वं रसाअणं सव्वं अत्थि त्ति; एव्वं दे देवा आसासेन्दु । (तत् यथा—गुडौदनं, घृतं, दधि, तण्डुला:, आर्येण अत्तव्यं रसायनं सर्वमस्तीति; एवं ते देवा आशासन्ताम्)

सूत्र०—अज्जे ! किं अम्हाणं गेहे सब्बं अत्थि ? आदु परिहससि ? (आर्ये ! किम् अस्माकं गेहे सर्वमस्ति ? अथवा परिहससि ?)

नटी—[स्वगतम्] परिहसिस्सं दाब । [प्रकाशम्] अज्ज अत्थि आवणे । (परिहसिष्यामि तावत् । आर्य ! अस्ति आपणे ।)

सूत्र—[सक्रोधम्] आ: अणज्जे ! एव्वं दे आसा छिज्जिस्सदि, अभावं अ गमिस्ससि, अंदाणिं अहं बरंडलंबुओ बिअ दूरं उक्खिबिअ पाडिदो ।

सूत्रधार—आर्ये ! (बहुत देर तक संगीत का अभ्यास करने के कारण — इत्यादि पूर्वोक्त वाक्य कह कर) हमारे घर में खाने योग्य कुछ भी है, अथवा नहीं ?

नटी—आर्य ! सभी कुछ है ।

सूत्रधार—क्या-क्या है ?

नटी—वह इस प्रकार है—गुड़-भात, घी, दही, भात—आर्य के खाने योग्य सभी [पूर्वोक्त] रसमय (सरस पदार्थ) हैं । इस प्रकार देवता लोग तुम्हारे लिये आशीर्वाद दें ।

सूत्रधार—आर्ये ! क्या हमारे घर में यह सब कुछ है ? अथवा परिहास कर रही हो ? [मजाक उड़ा रही है ?]

नटी—(स्वगत)–तो परिहास करूँगी । (प्रकट रूप में) आर्य ? बाजार में है ।

सूत्रधार—(क्रोधपूर्वक) अरी दुष्टे ! जैसे मैं इस समय बाँस में बन्धे मिट्टी के ढेले के समान दूर तक ऊपर उठा कर [नीचे] गिरा दिया गया उसी प्रकार तुम्हारी भी आशा भंग होगी, और अभाव [विनाश] को प्राप्त करोगी ।

टीका—प्रविश्य=रंगमञ्चे आगत्य, इयमस्मि—अहम् उपस्थिता—इति शेषः । स्वागतम्=शोभनम् आगमनम्, नियोगः=आज्ञा, आदेशः, अनुष्ठीयताम्=

नटी---अहिरूववदो णाम । (अभिरूपपतिर्नाम ।)

सूत्र०---अज्जे ! इहलोइओ, आदु पारलोइओ ? (आर्ये ! इहलौकिकः, अथवा पारलौकिकः ?)

नटी---अज्ज ! पारलोइओ । (आर्य ! पारलौकिकः ।)

सूत्र०---पेक्खंतु पेक्खंतु अज्जमिस्सा ! मइएण भत्तपरिव्वएण पारलोइओ भत्ता अण्णेसीअदि । (प्रेक्षन्तां प्रेक्षन्ताम् आर्यमिश्राः ! मदीयेन भक्तपरिव्ययेन पारलौकिको भर्ता अन्विष्यते !)

नटी---अज्ज ! पसीद पसीद; तुमं ज्जेव मम जम्मंतरेवि भत्ता भविस्ससि त्ति उववसिदम्हि (आर्य ! प्रसीद प्रसीद, त्वमेव मम जन्मान्तरेऽपि भर्ता भविष्यसि इत्युपोषिताऽस्मि ।

विमर्श--मृष्यतु--तितिक्षा=सहन करना अर्थवाली दिवादिगणीय √मृष् + लोट् प्र पु. ए. व. । सम्भ्रम अथवा वीप्सा में द्वित्व है । पिनष्टि—संचूर्णन अर्थवाली रुधादिगणीय √पिष्लृ=पिष् + लट् प्र. पु. ए. व. । सुमनसः=पुष्प--"(स्त्रियः) सुमनसः पुष्पं प्रसूनं कुसुमं समम् । अमरकोष —२।४।१७ इसके अनुसार स्त्रीलिङ्ग बहुवचन है । पञ्चवर्ण-कुसुमोपहार-शोभिता --पीले, लाल, सफेद, हरे एवं नीले रंग के फूलों को पूजन में प्रयुक्त करने के कारण पृथ्वी शोभायमान लग रही है । पञ्चवर्णानाम् कुसुमानाम् उपहारेण शोभिता—तत्पु० । उपवासः=उप √वस् + घञ् भोजनपरित्याग=व्रत । किंनामधेयः=किस नाम वाला 'भागरूपनामभ्यो धेयः, इस वार्त्तिक से स्वार्थ में 'नाम' शब्द से 'धेय' प्रत्यय हुआ है ।

अर्थ---

नटी · अभिरूपपति नामक व्रत है । [इसे करने से सुन्दर पति प्राप्त होता है]

सूत्रधार--आर्ये ! इस लोक में होने वाला अथवा परलोक में होने वाला (पति मिलता है) ?

नटी—आर्य ! परलोक में होने वाला [पति मिलता है] ।

सूत्रधार [क्रोधपूर्वक] सम्माननीय महानुभावो ! देखिये, देखिये, मेरे भात के व्यय द्वारा परलोक में होने वाला पति ढूंढ़ा जा रहा है ।

नटी--आर्य ! प्रसन्न हों, प्रसन्न हों । दूसरे जन्म में भी तुम्हीं मेरे पति बनोगे, इसलिये उपवास कर रही हूँ ।

टीका---अभिरूपपतिः=अभिलक्ष्यं रूपमस्य–अभिरूपः=विद्वान् सुन्दरश्च 'अभिरूपो बुधे रम्ये' इति मेदिनी, अभिरूपः पतिर्यस्मात् सः, पञ्चम्यर्थे बहुव्रीहिः, अस्यानुष्ठात् वैदुष्य-सौन्दर्योभययुक्तः पतिर्लभ्यते इत्यर्थः । इहलौकिकः=इह लोके भवः, अत्र "अनुशतिकादीनाञ्च [पा. सू. ७।३।२०] इत्यनेन उभयपदवृद्धया ऐहलौकिक

सूत्र०—अअं उववासो केण दे उवदिट्ठो ? (अयमुपवासः केन ते उपदिष्टः ?)

नटी—अज्जस्स ज्जेव पिअवअस्सेण चुण्णवुड्ढेण । (आर्यस्यैव प्रिय-वयस्येन चूर्णवृद्धेन ।)

इति रूपमेव साधु बोध्यम्, न तु इहलौकिक इति । पारलौकिकः=परलोके भवः, उभयत्र 'अध्यात्मादेष्ठञिष्यते' इति वार्त्तिकात् ठञि इकादेशे उभयपदवृद्धौ रूपं सिध्यति । प्रेक्षन्ताम्=अवलोकयन्तु. आर्यमिश्राः=माननीयाः सभायां विराजमानाः, भक्तपरिव्ययेन=भक्तस्य दानादावुपयोगेन, पारलौकिकः=स्वर्गादौ भवः देवादिरूपः, भर्त्ता=पतिः, अन्विष्यते=मृग्यते । प्रसीद, प्रसीद=प्रसन्नो भव, प्रसन्नो भव, जन्मान्तरेऽपि=अन्यत् जन्म=जन्मान्तरम् तत्र, त्वमेव मम पतिः स्याः इत्येतदर्थमयमुपवासः क्रियते—

पूर्वजन्मनि या विद्या पूर्वजन्मनि यद्धनम् ।
पूर्वजन्मनि या नारी अग्रे धावति धावति ।।

इति वचनमनुसृत्य साम्प्रतं भवतः सौन्दर्यादिवर्द्धनार्थं कुरूपतापरिहारार्थञ्च मयाऽयमुपवास; गृहीत इति भवता न क्रोद्धव्यम् । उपोषिता=गृहीतोपवासा, अस्मि=भवामि ।

विमर्श—अभिरूपपतिः—'अभिरूपो बुधे रम्ये' इस मेदिनीकोष के अनुसार सुन्दर एवं विद्वान् 'अभिरूप' होता है । इसीलिये 'अनुरूप' शब्द की अपेक्षा 'अभिरूप' शब्द का प्रयोग सुन्दर है । अभिरूपः पतिर्यस्मात्=यदनुष्ठानात् स अभिरूपपतिः । जिसके अनुष्ठान से सुन्दर और विद्वान् पति प्राप्त होता है, वैसा व्रत=उपवास है । उपवास उपोष्यतेऽस्मिन् तत् इस अधिकरण अर्थ में उप √ + वस् + घञ् है; और व्रत का विशेषण है, उपवासरूप व्रत । इहलौकिकः —यह अशुद्ध है क्योंकि इहलोके भवः—इस अर्थ में 'अध्यात्मादेष्ठञिष्यते' वार्त्तिक से ठञ=इक करने पर 'अनुशतिकादीनाञ्च' [पा. सू.] सूत्र से उभयपद की वृद्धि होनी चाहिये । अतः ऐहलौकिकः यही रूप शुद्ध है । आर्यमिश्राः इसकी व्याख्या प्रारम्भ में सूत्रधार के व्याख्यान के समय की जा चुकी है । भक्तपरिव्ययेन=मेरे भात को खर्च करके परलोक में होने वाले देवता आदि को पतिरूप में प्राप्त करने की इच्छा अनुचित है । त्वमेव जन्मान्तरेऽपि······भविष्यसि । नटी का आशय यह है कि आप को ही अगले जन्म में पतिरूप में चाहती हूँ, इसीलिये यह व्रत कर रही हैं, दूसरे पति की कामना से नहीं । अतः आपको नाराज नहीं होना चाहिये ।

अर्थ—

सूत्रधार—यह, उपवास तुम्हें किसने बताया ?

नटी—आपके ही प्रिय मित्र जूर्णवृद्ध ने [यह उपवास मुझे बताया है] ।

सूत्र०—[सकोपम् ।] **आः दासीए पुत्ता चुण्णबुड्ढा ! कदा णु क्खु तुमं कुविदेण रण्णा पालएण णवबहूकेसकलावं विअ सुअन्धं कपिज्जन्तं (बज्झन्तं) पेक्खिस्सम् ।** (आः दास्याः पुत्र चूर्णवृद्ध ! कदा नु खलु त्वां कुपितेन राज्ञा पालकेन नववधूकेशकलापमिव सुगन्धं छेद्यमानं (वध्यमानं) प्रेक्षिष्ये !)

नटी—**पसीददु पसीददु अज्जो ? णं अज्जस्स ज्जेव पारलोइओ अअं उववासो अणुचिट्ठीअदि ।** (प्रसीदतु प्रसीदतु आर्यः । ननु आर्यस्यैव पारलौकिकः अयमुपवासः अनुष्ठीयते ।) [इति पादयोः पतति ।]

सूत्रधार—[कोप के साथ] अरे दासी के बच्चे चूर्णवृद्ध ! क्रुद्ध राजा पालक द्वारा, नववधू के सुगन्धित केशपाश के समान, काटे [चीरे] जाते हुये, तुम्हें कब देखूँगा ? [अर्थात् वह दिन कब आयेगा जब राजा पालक तुम्हें काट रहे होंगे और मैं देख रहा होऊँगा] ।

नटी—आर्य प्रसन्न हों, प्रसन्न हों, यह पारलौकिक [परलोक में फल देने वाला] उपवास आप के लिये ही [किया जा रहा है, किसी अन्य के लिये नहीं] । [इस प्रकार कहकर पैरों पर गिर पड़ती है ।]

टीका—उपदिष्टः=बोधितः, आर्यस्यैव=भवतः एव न ममेत्यर्थः प्रियवयस्येन= प्रियमित्रेण न तु रिपुणेत्यर्थः, चूर्णवृद्धेन=एतन्नामकेन, औषधिचूर्णादीनां विक्रयेण बृद्धिमुपगतेन सार्थकनामकेनेति भावः, सकोपम्=कोपसहितम्, दास्याः पुत्र= दास्याः सुत, गालिदानमिदम्; पालकेन=एतन्नामकेन राज्ञा=नृपेण, नववधूकेशक-लापम् इव=नवोढायाः केशसमूहम् इव, छेद्यमानम्=छिन्नं क्रियमाणं कदा= कस्मिन काले, प्रेक्षिष्ये=अवलोकयिष्ये ? अत्र 'कपिज्जन्तम्' इत्यस्य 'छेद्यमानम्' वधूपक्षे 'कल्प्यमानम्=संसृज्यमानम्, 'वज्जन्तम्' इति पाठे वध्यमानमित्यर्थो बोध्यः । अनेनेदं सूच्यते—शकारेण वसन्तसेनायाः मारणम् तस्याः हत्याया आरोपे चारु-दत्तस्य निग्रहः । किञ्च—यथा पालको राजा अतीव निष्ठुरः नववधूकेशकलापाना-मुच्छेदनेऽपि न किञ्चिद् विचारयति तथैव तव वधेऽपि नैव किञ्चिदपि विचारयिष्य-तीति भावः । आर्यस्यैव=भवतः कृते एवायमुपवासः क्रियतेऽतो न क्रोद्धव्यम् ।

विमर्श—आर्यस्यैव प्रियवयस्येन—नटी का आशय यह है कि आप के ही हितचिन्तक मित्र ने मुझे यह 'अभिरूपपति' नामक उपवास बताया है; अतः इसके अनुष्ठान में आप को किसी प्रकार का सन्देह नहीं करना चाहिये । दास्याः पुत्र— प्राचीन काल में गाली के लिये यह शब्द था । आज कल भी लोकभाषा में ऐसे अनेक शब्द प्रचलित हैं । "पुत्रेऽन्यतरस्याम्" [पा. सू. ६ । ३ । २२] सूत्र से निन्दा अर्थ में षष्ठी का वैकल्पिक अलुक्=लोपाभाव होता है । अतः यहाँ समास है । नव-वधू-केशकलापमिव—केशानां कलापः=समूहः, नवा चासौ वधूश्च—नववधूः

सूत्र०---अज्जे ! उट्ठेहि, उट्ठेहि ! कधेहि, कधेहि एत्थ उपवासे केण कज्जं ? (आर्ये ! उत्तिष्ठ उत्तिष्ठ, कथय कथय-अत्र उपवासे केन कार्यम् ?)

नटी---अम्हारिसजणजोग्गेण बम्हणेण उवणिमन्तिदेण (अस्मादृशजनयोग्येन ब्राह्मणेन उपनिमन्त्रितेन ।)

सूत्र०---तेण हि गच्छदु अज्जा । अहं पि अम्हारिसजणजोग्गं बम्हणं उपणिमन्तेमि । (तेन हि गच्छतु आर्या । अहमपि अस्मादृशजनयोग्यं ब्राह्मणमुपनिमन्त्रयामि ।)

नटी---जं अज्जो आणवेदि । (इति निष्क्रान्ता) । (यदार्य आज्ञापयति ।)

सूत्र०--(परिक्रम्य ।) हीमाणहे ! ता कधं मए एव्वं सुसमिद्धाए उज्जइणीए अम्हारिसजणजोग्गो बम्हणो अण्णेसितव्वो । (विलोक्य) । एसो चारुदत्तस्स मित्तं मित्तेओ इदो ज्जेव आअच्छति । भोदु, पुच्छिस्सं दाव । अज्ज मित्तेअ ! अम्हाणं गेहे असिदुं अग्गणी भोदु अज्जो । (आश्चर्यम् ? तत् कथं मया एवं

तस्याः केशकलापम्---नवीन परिणीता वधू के केशकलाप जिस प्रकार सुगन्धित तैलादि युक्त होते हैं और उनको काटने में राजा पालक की रुचि है, उसी प्रकार जूर्णवृद्ध के सिर को काटने में भी उसे आनन्द ही आयेगा । आर्यस्यैत्र---नटी का अभिप्राय यह है कि यह उपवास आपके सम्बन्ध में ही है; आपको ही भावी जन्म में भी पतिरूप से प्राप्त करने की इच्छा से यह व्रत कर रही हूँ । अतः आपको क्रुद्ध नहीं होना चाहिये ।

अर्थ--सूत्रधार---आर्ये ! उठो, उठो, बताओ, बताओ---इस उपवास में किस प्रकार की आवश्यकता है ? [अर्थात् क्या क्या पदार्थ चाहिये ।]

नटी---[निर्धन] हमलोगों के योग्य ब्राह्मण को निमन्त्रित करने की आवश्यकता है ।

सूत्रधार---तो आर्या आप जाइये । मैं भी [निर्धन] हमलोगों के योग्य ब्राह्मण को उपनिमन्त्रित करता हूँ । [भोजन के लिये बुलाता हूँ ।]

नटी---श्रीमान् की जैसी आज्ञा । [ऐसा कह कर चली जाती है ।]

सूत्रधार---(घूमकर) आश्चर्य ! तो कैसे इस सुसमृद्ध उज्जैन नगरी में मैं [निर्धन] अपने योग्य ब्राह्मण को खोजूँ । (देख कर) चारुदत्त का मित्र यह मैत्रेय इधर ही आ रहा है । अच्छा, तो उससे पूछता हूँ । आर्य मैत्रेय ! श्रीमान् जी (आज) मेरे घर भोजन करने के लिये पधारें ।

टीका---अत्र=अस्मिन् उपवासे, केन=पदार्थेन, कीदृशेन पुरुषविशेषेण वा, कार्यम्=प्रयोजनम्, साध्यमिति शेषः । अस्मादृशजन-योग्येन=अस्मत्सदृशस्य निर्धनस्य जनस्यानुरूपेण, अस्मन्निमन्त्रणस्वीकारकर्त्रेत्यर्थः, उपनिमन्त्रितेन=भोजन-

(नेपथ्ये)

भोः ! अण्णं बम्हणं उवणितन्तेदु भवं । वावुदो दाणिं अहं ।

(भोः ! अन्यं ब्राह्मणमुपनिमन्त्रयतु भवान् । व्यापृत इदानीमहम् ।)

करणायाहूतेन कार्यमस्तीति शेषः । सुस्वादुभोज्यप्रिया ब्राह्मणाः निर्धनस्य गृहे किं मिलिष्यतीति विचार्य निमन्त्रणं नैव स्वीकरिष्यन्तीति भावः । तेन=यदि एतावत्-कार्यमस्ति तदा, अहमपि=सूत्रधारोऽपि, अस्मादृग्जनयोग्यम्=निर्धनमिति भावः, उपनिमन्त्रयामि=उपनिमन्त्रितं करोमि, वर्तमानसामीप्ये भविष्यत्काले लट् बोध्यः, सुसमृद्धायाम्=विपुलवैभवपरिपूर्णायाम्, उज्जयिन्याम्=अवन्त्याम्, अन्वेष्टव्यः=अन्वेषणीयः । अत्र नगर्यां निर्धनो निर्धनगृहे भोक्ता च ब्राह्मणः न सारल्येन लभ्यः । चारुदत्तस्य=एतत्प्रकरणनायकस्य, मित्रम् वयस्यः, मैत्रेयः=एतन्नामको विदूषक इत्यर्थः । चारुदत्तः निर्धनतामुपगतः अतस्तदीये गृहे नित्यं भुञ्जानो मैत्रेयः अद्य मम गृहेऽपि भोक्तुमागन्तुं शक्नोतीति भावः । अशितुम्=भोक्तुम्, अग्रणीः=अग्रेसरः, भवतु=स्यात्, प्रार्थनायां लोट् । 'अग्रणीः' इति कथनेन अन्येऽपि ब्राह्मणाः भोक्ष्यन्ते इति सूच्यते । 'अग्रे नयती' त्यर्थे "सत्सूद्विषद्रुहदुहयुजविदभिद-च्छिदजिनीराजामुपसर्गेऽपि क्विप्' (पा० सू० ३।२।६१) इत्यनेन क्विपि सर्वा-पहारिलोपे, 'अग्रग्रामाभ्यां नयतेर्णो वाच्यः' इति णत्वे सिध्यति ।

विमर्श—ब्राह्मणेन उपनिमन्त्रितेन—उपवास का पारण करने के पूर्व ब्राह्मणों को भोजन कराना आवश्यक है । नटी अपनी निर्धनता को देख कर यह कहना चाहती है कि ऐसे ब्राह्मण को भोजन के लिये उपनिमन्त्रित करो, जो स्वीकार कर ले, और समय पर आ जाय । सुसमृद्धायामुज्जयिन्याम् यह उज्जैन नगरी अत्यन्त समृद्ध लोगों से परिपूर्ण है । यहाँ कोई भी निर्धन नहीं दिखाई देता है । अतः मुझ जैसे गरीब के घर भोजन करने वाला ब्राह्मण खोज पाना बहुत कठिन कार्य है । चारुदत्तस्य मित्रं मैत्रेयः—चारुदत्त एक सम्पन्न व्यक्ति था इस समय भाग्यवश निर्धन हो गया है । अतः उसके यहाँ सदा भोजन करनेवाला मैत्रेय ब्राह्मण भूखा रहता होगा । वह मेरे घर भोजन कर सकता है । अतः सूत्रधार उसे ही उपनिमन्त्रित करना चाहता है । अग्रणीर्भवतु—प्रधान ब्राह्मण बन जाइये । इससे-अन्य ब्राह्मणों का भी भोजन करना सिद्ध होता है । 'अग्रे नयति' इस अर्थ में √नी + क्विप्, सर्वापहारी लोप और णत्व करने पर 'अग्रणी' शब्द सिद्ध होता है ।

(पर्दे के पीछे)

अर्थ—अरे ! आप किसी दूसरे ब्राह्मण को उपनिमन्त्रित करें । मैं इस समय [किसी अन्य कार्य में] लगा हुआ हूँ ।

सूत्र०—अज्ज ! सम्पण्णं भोअणं णीसवत्तं अ। अवि अ दक्खिणा कावि दे भविस्सदि। (आर्य ! सम्पन्नं भोजनम्, निःसपत्नञ्च। अपि च, दक्षिणा कापि ते भविष्यति।)

(पुनर्नेपथ्ये)

भोः ! जं दाणि पढमं ज्जेव पच्चादिठ्ठोसि, ता को दाणिं दे णिब्बन्धो पदे पदे मं अणुबन्धेदुम्। (भोः ! यदिदानीं प्रथममेव प्रत्यादिष्टोऽसि; तत् क इदानीं ते निर्बन्धः पदे पदे मामनुबन्धुम्।)

सूत्र०—पच्चादिठ्ठोह्मि एदिणा। भोदु, अण्णं बम्हणं उवणिमन्तेमि। (प्रत्यादिष्टोऽस्मि एतेन। भवतु, अन्यं ब्राह्मणमुपनिमन्त्रयामि।) (इतिनिष्क्रान्तः।)

[इति आमुखम्।]

सूत्रधार—श्रीमन् ! अच्छा और प्रतिपक्षी-रहित भोजन है। तथा आपके लिये कुछ दक्षिणा भी होगी।

टीका—नेपथ्ये=अन्तर्जवनिकायाम्, अहम्=मैत्रेयः, इदानीम्=अस्मिन् काले, व्यापृतः,=कार्यान्तिरे संलग्नः, सम्पन्नम्=उत्कृष्टम्, निःसपत्नम्=शत्रुरहितम्, भोजनम्=अशनम्, केचित्तु सम्पन्नमित्यस्य प्रस्तुतमित्यर्थः। दक्षिणा=भोजनानन्तरं ब्राह्मणेभ्यो देयं द्रव्यम्। एवञ्च सुस्वादु विभाजकरहितं भोजनमेव नैव, अपि तु दक्षिणालाभोऽपि भविष्यति। तस्मादवश्यमेव मम गृहे भोक्तव्यमिति भावः।

विमर्श—मैत्रेय अपनी व्यस्तता के कारण भोजन नहीं करना चाहता है—इसी लिये कहता है—व्यापृत इदानीम्। सम्पन्नम् और निःसपत्नम् ये दोनों भोजन के विशेषण हैं। उत्कृष्ट कोटि का स्वादिष्ट भोजन है और आप ही प्रधान ब्राह्मण हैं अतः इसमें किसी दूसरे का हिस्सा भी नहीं होगा। साथ ही दक्षिणा भी मिलेगी। अतः भोजन के लिये तैयार हो जांय। हर दृष्टि से लाभ है।

(पुनः पर्दे के पीछे)

अर्थ—अरे ! अभी पहले ही अस्वीकार कर दिये गये हो, तो इस समय पद पद पर मुझसे अनुरोध करने का तुम्हारा यह हठ कैसा है।

सूत्रधार—इसने मुझे अस्वीकृति दे दी है। अच्छा, किसी दूसरे ब्राह्मण को उपनिमन्त्रित करता हूँ। (ऐसा कहकर निकल जाता है।)

(इस प्रकार प्रस्तावना समाप्त होती है।)

टीका—प्रथमम्=पूर्वम्, एव=निश्चितरूपेण, प्रत्यादिष्टः=निराकृतः, असि, मम प्रार्थनाऽस्वीकृतेति भावः, तत्=तस्मात्, पदे पदे=प्रतिपदम्, पुनः पुनरिति वा, माम्=मैत्रेयम्, अनुबन्धुम्,=अनुरोद्धुम्, निमन्त्रयितुमिति वा, ते=सूत्रधारस्य, कः=कीदृशः,

(प्रविश्य प्रावारहस्तः)

मैत्रेयः—('अण्णं बम्हणम्' इति पूर्वोक्तं पठित्वा ।)

अधवा मए वि मित्तेण परस्स आमन्तणआइं भक्खिदव्वाइं। हा अवत्थे ! तुलोअसि। जो णाम अहं तत्तभवदो चारुदत्तस्स रिद्धीए अहोरत्तं पअतणसिद्धेहिं उग्गारसुरहिगन्धेहिं मोदकेहिं ज्जेव असिदो अब्भन्तरचदुस्सालदुआए उवविट्ठो मल्लक सदपरिबुदो चित्तअरो विअ अङ्गु-

---

निर्बन्धः=दुराग्रहः। एतेन=मैत्रेयेण, भवतु=विकल्प इति भावः। अन्यमिति कथनेन ब्राह्मणभोजनाभावे स्वस्यापि भोजनदौर्लभ्यमिति सूचितम्।

विमर्श—प्रत्यादिष्टः—प्रति + आङ् + √दिश् + क्त। अन्यं ब्राह्मणमुपनिमन्त्रयामि अन्य ब्राह्मण को निमन्त्रित करना आवश्यक है; क्योंकि ब्राह्मण-भोजन के बिना सूत्रधार को भी भोजन मिलना सम्भव नहीं है और वह बहुत अधिक भूखा है। अतः दूसरा कोई मार्ग नहीं है।

आमुखम्—जहाँ सूत्रधार नटी या विदूषक आदि के साथ वार्तालाप करते हुये विचित्र उक्ति के द्वारा प्रस्तुत वस्तु का संकेत करता हुआ अपने कार्य का कथन करता है–वहाँ आमुख अथवा प्रस्तावना होती है। इसका लक्षण—

नटी विदूषको वापि पारिपार्श्विक एव वा।
सूत्रधारेण सहिताः संलापं यत्र कुर्वते॥
चित्रैर्वाक्यैः स्वकार्योत्थैः प्रस्तुताक्षेपिभिर्मिथः।
आमुखं तत्तु विज्ञेयं नाम्ना प्रस्तावनाऽपि॥ साहित्यदर्पण ६-३१-३२

इस प्रस्तावना के पाँच भेद होते हैं—

(१) उद्घातक, (२) कथोद्धात, (३) प्रयोगातिशय, (४) प्रवर्तक, (५) अवगलित—द्र० साहित्यदर्पण ६।३३। यहाँ पर प्रयोगातिशय नामक प्रस्तावना है क्योंकि यहाँ एक प्रयोग–सूत्रधार का निमन्त्रणार्थ ब्राह्मण को खोजना–यह प्रस्तुत है, उसी समय 'एष चारुदत्तस्य मित्रं मैत्रेय इत एवागच्छति' इस अन्य प्रयोग से दूसरे पात्र का प्रवेश बताया जा रहा है—

यदि प्रयोग एकस्मिन् प्रयोगोऽन्यः प्रयुज्यते।
तेन पात्रप्रवेशश्चेत् प्रयोगातिशयस्तदा॥ सा० द० ६।३६

कुछ लोगों के अनुसार 'कथोद्धात' यह भेद है क्योंकि सूत्रधार के वाक्य को लेकर अन्य पात्र विदूषक का प्रवेश होता है—

सूत्रधारस्य वाक्यं वा समादायार्थमस्य वा।
भवेत् पात्रप्रवेशश्चेत् कथोद्घातः स उच्यते॥ सा० द० ६।३५

लीहिं छिविअ छिविअ अवणेमि णअरचत्तरवुसहो विअ रोमन्थाअमाणो चिट्ठामि, सो दाणिं अहं तस्स दलिद्दाए जहिं तहिं चरिअ गेहपारावदो विअ आवासणिमित्तं इध आअच्छामि । (अथवा मयापि मैत्रेयेण परस्य आमन्त्रणकानि भक्षितव्यानि । हा अवस्थे ! तुलयसि । यो नामाहं तत्रभवतः चारुदत्तस्य ऋद्धया अहोरात्रं प्रयत्नसिद्धैः उद्गारसुरभिगन्धिभिः मोदकैरेव अशितः अभ्यन्तरचतुः-शालद्वारे उपविष्टः मल्लकशतपरिवृतश्चित्रकर इव अङ्गुलीभिः स्पृष्ट्वा-स्पृष्ट्वा अपनयामि, नगरचत्वरवृषभ इव रोमन्थायमानस्तिष्ठामि । स इदानीमहं तस्य दरिद्रतया यस्मिन् तस्मिन् चरित्वा गेहपारावत इव आवासनिमित्तमत्र आगच्छामि ।)

(हाथ में डुपट्टा लिये हुये प्रवेश करके)

अर्थ—मैत्रेय—(अन्य ब्राह्मण को—इत्यादि पूर्वोक्त पढ़कर)

अथवा मुझ मैत्रेय को भी दूसरों के निमन्त्रणों को देखना चाहिये ? [अथवा दूसरों के निमन्त्रण-सम्बन्धी पदार्थों को खाना चाहिये ?] अरे भाग्य ! परीक्षा ले रहे हो । जो मैं श्रीमान् चारुदत्त की सम्पन्नता के कारण यत्नपूर्वक बनाये गये, [खाने के बाद] उद्गार [डकार] में मनोहर सुगन्धवाले लड्डुओं से [तृप्त] सन्तुष्ट होता हुआ, भीतरी चतुःशाल [चौसाल] के दरवाज़े पर बैठा हुआ, सैकड़ों [रंगों से भरे हुये] प्यालों से घिरे हुये चित्रकार के समान [मैं प्यालों में भरे हुये भोज्य पदार्थों को] अङ्गुलियों से छू-छू कर दूर हटा देता था [छोड़ देता था], नगर के चौराहे [मध्य] वाले सांड़ के समान जुगाली करता हुआ बैठा रहता था । वही मैं इस समय उस [चारुदत्त] की दरिद्रता के कारण घरेलू (पालतू) कबूतर के समान [भोजन के लिये] इधर-उधर घूमकर रहने के लिये यहाँ [चारुदत्त के घर पर] आ रहा हूँ ।

टीका—प्रावारहस्तः=प्रावारः=उत्तरीयं हस्ते यस्य सः, प्रावृणोति अनेन इति प्रावारः—"वृणोतेराच्छादने" (पा० सू० ३।३।५४) इति करणे घञ्, करधृतोत्तरीयः । मयापि=चारुदत्तस्य मित्रेण मैत्रेयेणापि, परस्य = चारुदत्तभिन्नस्य आमन्त्रणकानि=आमन्त्र्यते=आकाल्यते येभ्यस्तानि, आमन्त्रणप्रस्तुतभोजनार्हद्रव्याणि, अत्र "कृत्यल्युटो बहुलम्" [पा० सू० ३।३।११३] इति बाहुलकात् पञ्चम्यर्थे ल्युटि अनादेशे—आमन्त्रणम्, कुत्सितार्थे कप्रत्यये सिध्यति, भक्षितव्यानि=खादितव्यानि । वस्तुतस्तु अत्र प्रेक्षितव्यानि' इति पाठ उचितः, 'समीहितव्यानि' इत्यर्थः, तेनोपर्युक्त-बाहुलकाश्रयणं नापेक्षितम्, निमन्त्रणकशब्दस्य प्रसिद्धार्थेनैव निर्वाहात् । अवस्थे !=भाग्य ! तुलयसि=परीक्षसे; तूलयसि इति पाठे तु तूलं करोषि इत्यर्थे 'तत्करोति तदाचष्टे' इति णिच्, लघूकरोषीत्यर्थः । अहम्=मैत्रेयः, तत्रभवतः=सम्माननीयस्य, चारुदत्तस्य=एतन्नामकस्य प्रकरणनायकस्य, ऋद्धया=सम्पन्नतया, समृद्धया, अहोरात्रम्=अहर्दिवम्, प्रयत्नसिद्धैः=प्रयत्नपूर्वकं निष्पन्नैः, उद्गारः=भोजनन्तरमुर्ध्वंगा-

एसो अ अज्जचारुदत्तस्स पिअवअस्सेण चुण्णवुड्ढेण जादीकुसुमवासिदो पावारओ अणुप्पेसिदो सिद्धीकिददेवकज्जस्स अज्जचारुदत्तस्स उवणेदव्वो त्ति । ता जाव अज्जचारुदत्तं पेक्खामि । [परिक्रम्य अवलोक्य च] एसो अज्ज चारुदत्तो सिद्धीकिददेवकज्जो गिहदेवदाणं बलिं हरेन्तो इदो ज्जेव आअच्छदि । (एष च आर्यचारुदत्तस्य प्रियवयस्येन चूर्णवृद्धेन जातीकुसुमवासितः प्रावारकः अनुप्रेषितः सिद्धीकृतदेवकार्यस्यार्यचारुदत्तस्य उपनेतव्य इति । तद् यावदार्य-चारुदत्तं प्रेक्षे । [परिक्रम्यावलोक्य च] एष आर्यचारुदत्तः सिद्धीकृतदेवकार्यो गृहदेवतानां बलिं हरन् इत एवागच्छति ।)

[ततः प्रविशति यथानिर्दिष्टश्चारुदत्तो रदनिका च ।]

मिवायुः, तेषु सुरभिः=सौरभयुक्तः गन्धः येषां तैः, उद्गारे सुगन्धप्रदायिभिरित्यर्थः; मोदकैः=मिष्ठान्नविशेषैः 'लड्डू' इति प्रसिद्धैः, अशितः=तृप्तः, अभ्यन्तरे=गृहमध्ये यत् चतुःशालकम्, चतुर्णां शालकानां समुदायः, स्वार्थे कः, तस्य द्वारे=प्रमुखनिर्गमन-प्रदेशे, उपविष्टः=स्थितः हृस्वा मल्लाः मल्लकाः—पात्रविशेषाः (भाषायां 'प्याला' इति) पत्रपुटो वा (भाषायां 'दोना' इति) तेषां शतम्, तेन परिवृतः=परिव्याप्तः, अभिवृतः वा, चित्रकारः=रङ्गाजीवः, इव=तुल्यम्, अङ्गुलीभिः=हस्ताग्रभागैः, स्पृष्ट्वा स्पृष्ट्वा=पौनः पुन्येन स्पर्शं कृत्वा; अपनयामि=त्यजामि, नैव खादामि, अत्र वर्तमानसमीपे भूतकाले लट् बोध्यः तेन 'अपानयम्' इत्यर्थः । अयं भावः—यथा कश्चित् चित्रकारः मल्लकम्=वर्णिकापात्रम् एकं स्पृष्ट्वा तूलिकां झटिति दूरीकरोति, तदनन्तरमपरं वर्णिकापात्रं स्पृशति, तदपि दूरीकरोति । एवं क्रमेणावश्यकतानुसारं पात्रस्थवर्णं स्पृष्ट्वा स्पृष्ट्वा दूरीकरोति, तथैव मैत्रेयोऽपि विविधभोजनपरिपूरितानां पात्राणां स्पर्शमेव कृत्वा [स्वल्पमेवास्वाद्य] तानि पात्राणि त्यजन् आसीत् । नगरचत्वरस्य=नगरमध्यभागस्य, वृषभ इव=बलीवर्द इव, भाषायां प्रसिद्धः 'साँड़' इव, रोमन्थायमानः=भोजनोत्तरं ताम्बूलादिचर्वणेन मुखमध्यभागं हनुप्रदेशं चालयन्, तिष्ठामि=उपविशामि, अत्रापि वर्तमानसमीपे लट्, तेन 'अतिष्ठम्' इत्यर्थः, सः=पूर्ववर्णितवैशिष्ट्ययुक्तः, अहम्=मैत्रेयः, इदानीम्=अस्मिन् काले, तस्य=चारुदत्तस्य, दरिद्रतया=निर्धनतया, यस्मिन् तस्मिन्=यत्र तत्र, चरित्वा=भ्रमित्वा, गृहपारावत इव=गृहपालितकपोतसदृशः, आवासनिमित्तम्=रात्रि-निवासहेतुम् एव, अत्र=चारुदत्तस्य गृहे, आगच्छामि=आव्रजामि, आश्रयामीति वा ।

अर्थ—आर्य चारुदत्त के प्रियमित्र चूर्णवृद्ध ने चमेली के फूलों [की गन्ध] से सुवासित [सुगन्धयुक्त] यह डुपट्टा, भेजा है, कि [इसे] देवताओं की पूजा से निवृत्त आर्य चारुदत्त को देना है । तो तब तक आर्य चारुदत्त को देखता हूँ । (घूमकर और देखकर) देवपूजन सम्पादित कर चुकने वाले आर्य चारुदत्त गृहदेवताओं के लिये बलि [भेंट] लाते हुये इधर ही आ रहे हैं ।

(इसके बाद यथानिर्दिष्ट=गृहदेवताओं के लिये बलि हाथ में लेते हुये चारुदत्त और मदनिका प्रवेश करते हैं।)

टीका—चूर्णवृद्धेन=एतन्नामकेन, प्रियवयस्येन=प्रियमित्रेण, जातीनां कुसुमैः=मालतीपुष्पैः, वासितः=सुरभीकृतः, अनुप्रेषितः=सम्प्रेषितः, प्रावारकः=उत्तरीयं वस्त्रम्, सिद्धीकृतदेवकार्यस्य=सिद्धिकृतम्=सम्पादितं देवकार्यम्=देवपूजनादिकार्यं येन सः तस्य, उपनेतव्यः=दातव्यः, सम्बन्धसामान्ये षष्ठी अथवा चारुदत्तस्य समीपे उपनेतव्यः इत्यर्थो योज्यः। प्रेक्षे=अवलोकयामि। सिद्धीकृतदेवकार्यः=सिद्धीकृतम्=सम्पादितम् देवकार्यं येन सः तादृशः, गृहदेवतानाम्=गृहस्थितदेवतानाम् सम्बन्धिनं बलिम्=समर्पणीयं भोज्यम्, हरन्=आहरन्, आगच्छति=आयाति। यथानिर्दिष्टः=गृहदेवताभ्यो बलिमाहरन् इति पूर्ववर्णितावस्थः, प्रविशति=प्रवेशं करोति।

विमर्श—प्रावारः–प्र+आ+√वृ+घञ् यहाँ प्रावृणोति प्राव्रियते वाऽनेन इस करण अर्थ में घञ् प्रत्यय होता है। जिससे शरीरादि को ढका जाता है, यहाँ उत्तरीय=डुपट्टा अर्थ है। आमन्त्रणकानि—आमन्त्र्यते=आकाल्यते अर्थात् बुलाया जाता है जिनके भक्षण के लिये वे भोज्य पदार्थ 'आमन्त्रण' हैं यहाँ 'कृत्यल्युटो बहुलम्' [पा. सू. ३।३।११३] से बाहुलकात् चतुर्थ्यर्थ में ल्युट्=अन करके बाद में स्वार्थ में 'क' प्रत्यय होता है। यह व्युत्पत्ति 'भक्षितव्यानि' (प्राकृत-भक्खिदव्वाइँ) पाठ में माननी पड़ती है। यदि 'प्रेक्षितव्यानि' (प्राकृत 'पच्छिदव्वाइँ) पाठ मान लें तो प्रचलित अर्थ से ही निर्वाह हो जाता है। वास्तव में यही पाठ तर्कसंगत भी लगता है। तुलयसि—'यहाँ चुरादिगणीय √तुल उन्माने' धातु नहीं है क्योंकि उसमें उपधागुण होने से 'तोलयसि' यही रूप होगा। अतः यह नामधातु रूप समझना चाहिये 'तुलां करोषि' इस अर्थ में 'तत्करोति तदाचष्टे' से णिच् प्रत्यय होता है। अथवा 'तूलं करोषि' इस अर्थ में णिच् है। प्रथम अर्थ में 'तौल रहे हो'=परीक्षा ले रहे हो' यह अर्थ है और दूसरे में तूल=रुई के समान हल्का बना रहे हो—अर्थ होता है। अशितः—यहाँ अशितम्=अशनम्=भोजनम् अस्ति अस्य—इस अर्थ में 'अर्श आदिभ्योऽच्' [पा. सू. ५।२।२७] से मत्वर्थीय अच् प्रत्यय होता है। और इसका अर्थ है—भोजन ले लेने वाला। अभ्यन्तरचतुःशालकद्वारे—वह विशाल भवन जिसमें चार आमने सामने उपभवन=हाल रहते थे, ऐसे भवनों का उल्लेख बहुत ग्रन्थों में मिलता है। यह भीतर बना होता था और एक मुख्य द्वार होता था। मैत्रेय उसी द्वार पर बैठने का संकेत कर रहा है। मल्लकशतपरिवृतः—यहाँ मल्लक शब्द के दो अर्थ हैं—(१) विदूषकपक्ष में—भोजन से भरे हुये प्याले और (२) चित्रकारपक्ष में—रंगों से भरे हुये पात्र। भोजन करते समय विदूषक इन पात्रों से उसी प्रकार घिरा रहता था जिस प्रकार रंगने वाला चित्रकार रंगों से भरे हुये पात्रों से घिरा हुआ बीच में बैठ कर रंगों को छू छू कर चित्र रंगता है

चारु०—(ऊर्ध्वमवलोक्य सनिर्वेदं निःश्वस्य)—

यासां बलिः सपदि मद्गृहदेहलीनां
हंसैश्च सारसगणैश्च विलुप्तपूर्वः ।
तास्वेव सम्प्रति विरूढतृणाङ्कुरासु
बीजाञ्जलिः पतति कीटमुखावलीढः ॥ ९ ॥

[इति मन्दं मन्दं परिक्रम्योपविशति]

वैसे ही विदूषक भी चख चख कर स्वाद लेकर हटा देता था। नगर-चत्वर-वृषभ—यहाँ चत्वर का अभिप्राय यातायात से भरा हुआ चौराहा है जो नगर के मध्य भाग में होता है वहाँ वृषभ=साँड़ मस्ती से निश्चिन्त होकर जैसे खड़ा खड़ा जुगाली करता रहता है, उसे कोई भयवश नहीं हटाता है, उसी प्रकार विदूषक भी मस्ती के साथ पान वगैरह चबाता हुआ बैठा रहता था उसे हटाने की शक्ति किसी के पास नहीं थी। यहाँ 'अपनयामि' और 'तिष्ठामि' इन दोनों में वर्तमान समीपवर्ती भूतकाल में लट् हुआ है। 'रोमन्थं वर्तयति' इस अर्थ में ''कर्मणो रोमन्थ-तपोभ्यां वर्तिचरोः'' [पा. सू. ३।१।१५] सूत्र से क्यङ् प्रत्ययान्त से शानच् प्रत्यय करके 'रोमन्थायमानः' शब्द सिद्ध होता है। गेहपारावत इव—जिस प्रकार घरों की छतों आदि में रहने वाले कबूतर प्रातः होने पर उड़ जाते हैं और इधर उधर दाना चुगकर शाम को रहने के लिये वापस आ जाते हैं उसी प्रकार की स्थिति विदूषक अपनी भी बताता है कि इधर उधर घूमकर कुछ खा पीकर केवल रात काटने के लिये निर्धन चारुदत्त के घर आ जाता है। सिद्धीकृतदेवकार्यस्य—घर के बाहर बने हुये मन्दिरों आदि में पूजन सम्पन्न करने वाला। आर्यचारुदत्तस्य—यहाँ सम्बन्ध-सामान्य में षष्ठी है। गृहदेवतानाम्—घर की रक्षा के लिये घर के समीप ही जिन देवताओं का स्थान है वहाँ अन्नादि की बलि=भेंट दी जाती है, वही चारुदत्त को करना है। इन दोनों पूजनों से यह सिद्ध होता है कि चारुदत्त इस कार्य में बहुत रुचि रखता था।

अन्वयः—यासाम्, मद्गृहदेहलीनाम, बलिः सपदि, हंसैः, सारसैः, च, विलुप्त-पूर्वः, सम्प्रति, विरूढतृणाङ्कुरासु, तासु, एव, कीटमुखावलीढः, बीजाञ्जलिः, पतति ॥ ९ ॥

शब्दार्थ—यासाम्=जिन, मद्गृहदेहलीनाम्=मेरे घर की देहलियों [दरवाजों] की, बलिः=पूजन में चढ़ायी गई अन्नादि वस्तुयें, सपदि=तत्काल ही, हंसैः=हंसो के द्वारा, च=और, सारसैः=सारसों के द्वारा, विलुप्तपूर्वः=पूर्व समय में [खाकर] समाप्त कर दी जातीं थीं, [किन्तु] सम्प्रति=इस समय, विरूढतृणाङ्कुरासु=बढ़ी हुई घासादि तृणों के अङ्कुरों से युक्त, तासु=उन [देहलियों पर], एव=ही, कीटमुखावलीढः=कीड़ों के मुखों से [आधी] खायी हुई, बीजाञ्जलिः=चावल आदि अनाजों की मुट्ठी अर्थात् अञ्जलि भर अनाज, पतति=गिर रही है ॥ ९ ॥

अर्थ---**चारुदत्त**--(ऊपर देख कर और दुःख के साथ लम्बी सांस लेकर)--
मेरे घर की जिन देहलियों पर रक्खी गयी बलि=पूजनभोगसामग्री पहले [जब मैं सम्पन्न था उस समय] हंसों और सारसों द्वारा [खाकर] शीघ्र ही समाप्त कर दी जाती थी, इस समय [मेरे निर्धन हो जाने पर] [धनाभाव के कारण सफाई आदि न हो सकने के कारण] उगी हुई घास आदि के अंकुरों से युक्त उन्हीं [मेरी] देहलियों पर [ऊपर रहने वाले] कीड़ों के मुख द्वारा [आधे] खाये हुये बीजों की अञ्जलि [मुट्ठियों भर बीज] गिर रही है ॥ ९ ॥

(इस प्रकार कह कर धीरे-२ घूम कर बैठ जाता है ।)

टीका---दैन्यात् स्वगृहस्य दशां वर्णयति --यासाम् मद्गृहदेहलीनाम्=मम= चारुदत्तस्य गृहाणि, तेषां देहलीनाम्=द्वारपीण्डिकाः, द्वारस्याधोभागे लग्नाः काष्ठ-विशेषाः, तासाम्, उपरि समर्पित इति शेषः, बलिः=पूजनादौ प्रयुक्ततण्डुलादि-धान्यम्, सपदि=शीघ्रमेव, हंसैः=मरालैः, च=तथा, सारसगणैः=पक्षिविशेषसमुदायैः, विलुप्तपूर्वः = भक्षितपूर्वः, पूर्वं विलुप्तः-इत्यत्र "पूर्वापर०" [या. सू. २।१।५]-इति पूर्वशब्दस्य पूर्वनिपातः, अर्थात् यत्र बलिः पूर्वं तत्कालमेव भक्षितोऽभूत्, सम्प्रति=इदानीम्, मम दरिद्रावस्थायामित्यर्थः, विरूढतृणाङ्कुरासु = विरूढाः = स्वच्छता-दिसंस्काराभावाद् वृद्धिमुपगताः मृजाऽभावादुपचिताः, तृणाङ्कुराः=दूर्वाद्यङ्कुराः यासु तासु, मद्गृहदेहलीषु इत्यर्थः, एव, कीटमुखावलीढः=कीटानां मुखैः=आस्यैः दन्तैरिति भावः, अवलीढः=अर्धभक्षितः, खण्डितः, बीजानाम्=तण्डुलादिधान्यानाम्, अञ्जलिः = परिमाणविशेषः, अञ्जलिपरिमितधान्यादिरिति भावः, पतति=पतितो भवति । एवञ्च मम गृहद्वारस्य दुर्दशा मयेदानीं द्रष्टुं न शक्यत इति चिन्तयित्वा विषादातिशयं प्रकटयन् चारुदत्तो भूमावुपविशतीति बोध्यम् । तुल्ययोगितापर्याययोः संसृष्टिः । वसन्ततिलकं वृत्तम् ॥ ९ ॥

विमर्श---चारुदत्त अपने भवनकी देहलियों की दुर्दशा देखकर अपनी निर्धनता के विषय में सोच कर किंकर्तव्यविमूढ होकर बैठ जाता है । प्रस्तुत श्लोक में तुल्ययोगिता तथा पर्याय इन दो अलङ्कारों की संसृष्टि है । यहाँ हंस तथा सारस दोनों अप्रस्तुत हैं इन दोनों का लोप रूप एक क्रिया के साथ सम्बन्ध होने से तुल्ययोगिता अलंकार है---

पदार्थानां प्रस्तुतानामन्येषां वा यदा भवेत् ।
एकधर्माभिसम्बन्धः स्यात्तदा तुल्ययोगिता ॥ साहित्यदर्पण १०।४७

दरिद्रतारूपी कारण का तृणाङ्कुरोत्पत्ति, बीजाञ्जलि-प्रपातरूप कार्य से स्पष्ट-तया बोध होता है, अतः पर्यायोक्त अलङ्कार भी है --

पर्यायोक्तं यदा भङ्ग्या गम्यमेवाभिधीयते ॥ साहित्यदर्पण १०।६०

विदू०—एसो अज्जचारुदत्तो। ता जाव सम्पदं उपसप्पामि (उपसृत्य।) सोत्थि भवदे। वड्ढदु भवं। (एष आर्यचारुदत्तः। तद्यावत् साम्प्रतमुपसर्पामि। स्वस्ति भवते। वर्द्धतां भवान्।)

चारु०—अये! सर्वकालमित्रं मैत्रेयः प्राप्तः। सखे! स्वागतम्, आस्यताम्।

विदू०—जं भवं आणवेदि। (उपविश्य।) भो वअस्स! एसो दे पिअवअस्सेण चुण्णवुड्ढेण जादीकुसुमवासिदो पावारओ अणुप्पेसिदो सिद्धीकिददेवकज्जस्स अज्जचारुदत्तस्स तुए उवणेदव्वोत्ति। (समर्पयति।) (यद्भवान् आज्ञापयति। (उपविश्य) भो वयस्य! एष ते प्रियवयस्येन चूर्णवृद्धेन जातीकुसुमवासितः प्रावारकः अनुप्रेषितः—सिद्धीकृतदेवकार्यस्य आर्यचारुदत्तस्य त्वया उपनेतव्य इति।) (समर्पयति)

चारुदत्तः—(गृहीत्वा सचिन्तः स्थितः।)

विदू०—भो! इदं किं चिन्तीअदि? (भोः! इदं किं चिन्त्यते?)

इन दोनों की परस्परनिरपेक्षरूप से स्थिति होने से संसृष्टि है। वसन्ततिलका छन्द है—ज्ञेयं वसन्ततिलकं त-भ-जा ज-गौ गः।

विलुप्तपूर्वः—पूर्वं विलुप्तः–यहाँ पूर्व शब्द का पूर्वनिपात होना चाहिये था परन्तु 'विशेषणं विशेष्येण बहुलम्' [पा. सू. २।१।५७] इसमें बहुलग्रहण के बल पर विलुप्त का पूर्वनिपात हुआ है। कुछ व्याख्याकारों ने यहाँ "पूर्वापरप्रथमचरम-जघन्यमध्यमध्यमवीराः" [पा. सू. २।१।५८] इससे पूर्वनिपात माना है परन्तु ऐसा करने पर तो 'पूर्ववैयाकरणः' के समान 'पूर्वविलुप्तः' ऐसा होना चाहिये। न कि 'विलुप्तपूर्वः' ऐसा। विरूढ-तृणाङ्कुरासु–चारुदत्त की दशा इतनी खराब हो गई है कि वह सफाई तक नहीं करा सकता। अतः देहली पर घास जम गई है। वि + √रुह + क्त= विरूढ–विरूढाः तृणाङ्कुरा यासु तासु बहुव्रीहि है। अवलीढः–अव + √लिह + क्त।

अर्थ—विदूषक—ये आर्य चारुदत्त हैं। तो अब इनके पास चलूँ। [समीप जाकर] आपका कल्याण हो। आपकी वृद्धि हो।

चारुदत्त—अरे! हर समय के साथी [सुख-दुख दोनों में साथ देने वाले] मैत्रेय आ गये। मित्र! स्वागत है। बैठिये।

विदूषक—जैसी आपकी आज्ञा। (बैठ कर) हे मित्र! आप के प्रिय मित्र चूर्णवृद्ध ने चमेली के फूलों से सुगन्धित यह दुपट्टा आपके लिये भेजा है और कहा है देवताओं की पूजा सम्पन्न कर लेने वाले आर्य चारुदत्त को तुम्हें [=मुझ मैत्रेय को] देना है। (समर्पित करता है।)

चारुदत्त—(लेकर चिन्तित हो जाता है।)

विदूषक—अरे! आप क्या सोच रहे हैं?

चारु०—वयस्य !

सुखं हि दुःखान्यनुभूय शोभते घनान्धकारेष्विव दीपदर्शनम्।
सुखात्तु यो याति नरो दरिद्रतां धृतः शरीरेण मृतः स जीवति ॥१०॥

अन्वयः—घनान्धकारेषु, दीपदर्शनम्, इव, दुःखानि, अनुभूय, [पुरुषस्य] सुखम्, हि, शोभते, तु, यः, नरः, सुखात्, दरिद्रताम्, याति, सः, शरीरेण, धृतः, अपि, मृतः, [सन्], जीवति ॥ १० ॥

शब्दार्थ—घनान्धकारेषु=घोर अन्धेरों में, दीपदर्शनम्=दीपक के दर्शन=प्रकाश के, इव=समान, दुःखानि=दुःखों, कष्टों को, अनुभूय=अनुभव कर के [व्यक्ति के लिये) सुखम्=सुख, आनन्द, हि=निश्चित रूप से, शोभते=शोभित होता है, अच्छा लगता है, तु=किन्तु, यः=जो, नरः=मनुष्य, सुखात्=सुख [के उपभोग] से, दरिद्रताम्=गरीबी को, याति=प्राप्त करता है, पहुँचता है, सः=वह, शरीरेण=देह से, धृतः=धारण किया हुआ, अपि=भी, मृतः= मरा [सन्=हुआ], जीवति=जीवित है ॥ १० ॥

अर्थ—चारुदत्त—मित्र !

घने अन्धेरों में दीपक के प्रकाश के समान दुःखों के अनुभव के बाद [मनुष्य के लिये] सुख शोभित होता है, अच्छा रहता है, किन्तु जो पुरुष [उपभोग करके] सुख से निर्धनता को प्राप्त करता है, [गरीब हो जाता है] वह, शरीर द्वारा धारण किया गया भी मरा हुआ जीवित रहता है। [जैसे मरा हुआ व्यक्ति व्यर्थ होता है उसी प्रकार निर्धन व्यक्ति भी व्यर्थ होता है] ॥ १० ॥

टीका—जीवितोपि दरिद्रो मृततुल्य इत्याह—घनान्धकारेषु=घोरतिमिरेषु, दीपदर्शनम्=दीपकस्य दर्शनम्=प्रकाशः,इव=तुल्यम्, दुःखानि=कष्टानि, अनुभूय=अनुभवविषयीकृत्य, उपभुज्येत्यर्थः, जनस्येति शेषः, सुखम्=आनन्दः, हि=निश्चयेन, शोभते=राजते, तु=परन्तु, यः=जनः, सुखात्=सुखमनुभूय, ल्यब्लोपे पञ्चमी बोध्या, दरिद्रताम्=निर्धनताम्, याति=प्राप्नोति, गच्छति वा, सः=तादृशो नरः, शरीरेण=देहेन, धृतः=आश्रितः, सन्, मृतः=मृत्युमुपगतः, निर्जीव इत्यर्थः, जीवति=श्वसिति, प्राणान् धारयतीत्यर्थः। दरिद्रो जनो जीवितोऽपि मृत इव भवतीति भावः। अप्रस्तुतप्रशंसा-विरोधाभासश्चालंकारौ। वंशस्थं वृत्तम् ॥१०॥

विमर्श—यहाँ चारुदत्त अपनी वर्तमान दरिद्रता को सोंच कर मरणतुल्य कष्ट का अनुभव करता है। सुखात्–यहाँ सुखम् अनुभूय–इस ल्यबन्त के लोप करने पर कर्म में पञ्चमी है "ल्यब्लोपे कर्मण्यधिकरणे च" (वार्त्तिक)। शरीरेण धृतः—वास्तव में प्राण शरीर को धारण करते हैं किन्तु निर्धन के विषय में विपरीत स्थिति होती है, यहाँ शरीर प्राणों को धारण किये रहता है, वास्तव में निर्धन व्यक्ति और मृत व्यक्ति में कोई अन्तर नहीं होता है।

विदू०—भो वअस्स ! मरणादो दालिद्दादो वा कदरं दे रोअदि ।

(भो वयस्य ! मरणात् दारिद्रयाद्वा कतरत् ते रोचते ?)

चारु०—वयस्य !

दारिद्र्यान्मरणाद्वा मरणं मम रोचते न दारिद्र्यम् ।
अल्पक्लेशं मरणं दारिद्र्यमनन्तकं दुःखम् ॥ ११ ॥

यहाँ अप्रस्तुत व्यक्तिसामान्य के कथन से प्रस्तुत चारुदत्तरूप व्यक्तिविशेष का ज्ञान होता है, अतः अप्रस्तुतप्रशंसा है । 'इव' पद के श्रवण से पूर्वार्द्ध में श्रौती उपमा है । मृतः स जीवति–इसमें विरोधाभास है, इसका परिहार करने के लिये मृतः का अर्थ–किसी कार्य करने के योग्य नहीं है – ऐसा करना चाहिये । इसमें वंशस्थ छन्द है । इसका लक्षण है—जतौ तु वंशस्थमुदीरितं जरौ ॥ १० ॥

अर्थ—विदूषक–हे मित्र ! मृत्यु और दरिद्रता में आपको कौन [अधिक] अच्छा लगता है ?

अन्वयः—दारिद्र्यात्, मरणात् वा, मम, मरणम्, रोचते, दारिद्र्यम्, न, [रोचते, यतः] मरणम्, अल्पक्लेशम्, दारिद्र्यम्, [च] अनन्तकम्, दुःखम्, [अस्ति] ॥ ११ ॥

शब्दार्थ—दारिद्र्यात्=दरिद्रता से, वा=अथवा, मरणाद्=मरने से, अर्थात् दरिद्रता और मरण में से, मम=मुझ चारुदत्त को, मरणम्=मृत्यु, रोचते=अधिक अच्छी लगती है, न=न कि, दारिद्र्यम्=दरिद्रता, [यतः=क्योंकि] मरणम्=मरना, अल्पक्लेशम्=थोड़े समय तक कष्ट देने वाला है, [च=और] दारिद्र्यम्=दरिद्रता, अनन्तकम्=कभी भी न समाप्त होने वाला, दुःखम्=कष्ट, [है] ॥ ११ ॥

अर्थ—चारुदत्त—मित्र !

दरिद्रता अथवा मृत्यु [दोनों को देखकर इन] में से मुझे मरना अच्छा लगता है न कि दरिद्र होना । क्योंकि मरना कम समय कष्ट देने वाला है अर्थात् कुछ समय ही मृत्युकष्ट का अनुभव होता है, किन्तु दरिद्रता कभी भी न समाप्त होने वाला कष्ट है ॥ ११ ॥

टीका—दरिद्रतापेक्षया मृत्युमेव अभीष्टं प्रतिपादयति-दारिद्र्यात्=निर्धनत्वात्, मरणात्=प्राणत्यागात्, वा, दैन्यमरणयोर्मध्ये इति भावः, (अत्र 'अवलोक्य' इत्यादिकं ल्यबन्तं मत्वा 'ल्यब्लोपे पञ्चमी' इति पञ्चमी, तेन दारिद्र्यम् अवलोक्य, 'निर्धनत्वम् अवलोक्य, चार्थे वा, उभौ विलोक्य उभयोर्मध्ये इत्यर्थः । अन्यथा पञ्चम्युपपत्तिर्दुःसाध्येति बोध्यम् ।) मम=मह्यम्, मरणम्=प्राणत्यागः, रोचते=रुचिकरं भवति,

विदू०—भो वअस्स ! अलं सन्तावेण । पणइजणसंकामिदविहवस्स सुरलो-अपीदसेसस्स पड़िवच्चंदस्स विअ परिक्खओ वि दे अहिअदरं रमणीओ।
(भो वयस्य ! अलं सन्तापेन । प्रणयिजनसंक्रामितविभवस्य सुरलोकपीतशेषस्य प्रतिपच्चन्द्रस्य इव परिक्षयोऽपि ते अधिकतरं रमणीयः ।)

न=न तु, दारिद्रयम् = निर्धनता; मरणम् = प्राणत्यागः, अल्पक्लेशम् = अल्पः= अल्पकालिकःक्लेशो यस्मिन् तत् तादृशम्, अल्पकालिकक्लेशप्रदमित्यर्थः, दारिद्रयम्= दरिद्रता, च, अनन्तकम्= न विद्यते अन्तः समाप्तिर्यस्य तत्, सकलजीवनपर्यन्तम्, दुःखम्= कष्टम्, मरणं तु किञ्चित्कालपर्यन्तमेव दुःखं ददाति, प्राणत्यागानन्तरं न दुःखम् । किन्तु दरिद्रता तु यावज्जीवं सर्वदैव कष्टदायिनी एव भवतीति एतदपेक्षया मरणमेव प्रशस्यतरं मन्यते इति भावः । काव्यलिङ्गमलङ्कारः । आर्या वृत्तम् ॥११॥

विमर्श——पहले अपने सुखी जीवन के बाद दुःख का अनुभव करने वाला चारुदत्त निर्धनता को मृत्यु से भी निकृष्टतर मानता है । मरते समय जो कष्ट होता है वही अन्तिम कष्ट होता है किन्तु दरिद्रता के कारण तो जीवन भर कष्ट भोगना पड़ता है । दारिद्रयात् मरणाद् वा—इनमें पञ्चमी विभक्ति का प्रयोग चिन्तनीय है । ल्यबन्त क्रियापद का लोप मानकर 'ल्यब्लोपे कर्मण्यधिकरणे च' इससे पञ्चमी सम्भव है—दारिद्रय विलोक्य मरणं वा विलोक्य, अथवा 'विचार्य' आदि उपयुक्त क्रियापद का सम्बन्ध मान लेना चाहिये । मम रोचते—यहाँ 'रुच्यर्थानां प्रीयमाणः" [पा० सू० १।४।४३] के अनुसार षष्ठी न होकर चतुर्थी होनी चाहिये—मह्यं रोचते । परन्तु षष्ठी प्रबल विभक्ति है—सम्बन्ध-सामान्य की विवक्षा और अन्य कारकों की अविवक्षा में सर्वत्र षष्ठी सम्भव है 'कर्मादीनामपि सम्बन्धमात्रविवक्षायां षष्ठ्येव ।' यह प्रसिद्ध नियम है ।

इस श्लोक में पूर्वार्द्ध के अर्थ के प्रति उत्तरार्द्ध का कथन हेतु है अतः काव्य-लिङ्ग अलंकार है—हेतोर्वाक्यपदार्थत्वे काव्यलिङ्गं निगद्यते । अथवा सामान्य से विशेष का समर्थनरूप अर्थान्तरन्यास भी हो सकता है । इसमें आर्या छन्द है ॥११॥

अर्थ——विदूषक——अरे मित्र ! सन्ताप=दुःख करना व्यर्थ है । प्रियजनों को सम्पत्ति दे डालने वाले आपकी निर्धनता भी, देवताओं द्वारा पीने से शेष बचे हुये प्रतिपदा के चन्द्रमा की [क्षीणता की] भाँति, अत्यधिक अच्छी लग रही है ।

टीका——अलं सन्तापेन—सन्तापेन किमपि साध्यं नास्ति,—'गम्यमानापि क्रिया कारकविभक्तौ प्रयोजिका' इति तृतीया । प्रणयिजनेषु=प्रियजनेषु, संक्रमिताः=दया-दिना प्रदत्ताः, विभवाः=धनानि, येन, तस्य, ते=तव चारुदत्तस्य, परिक्षयः=निर्धन-ताऽपि, सुरलोकैः=देवैः पीतशेषस्य=भुक्तावशिष्टस्य, प्रतिपदः=प्रतिपदायाः, चन्द्रस्य

चारु०——वयस्य ! न ममार्थान् प्रति दैन्यम्। पश्य——

एतत्तु मां दहति यद् गृहमस्मदीयं
क्षीणार्थमित्यतिथयः परिवर्जयन्ति।
संशुष्कसान्द्रमदलेखमिव भ्रमन्तः
कालात्यये मधुकराः करिणः कपोलम् ॥१२॥

वस्तुतः प्रतिपच्चन्द्रस्याभावात् कृष्णचतुर्दशी-चन्द्रस्येवेति बोध्यम्, परिक्षयः=कला-क्षीणता, निर्धनत्वं च, रमणीयः=मनोहारी, प्रशंसनीय एवेति भावः।

विमर्श——सुरजनपीतशेषस्य–पुराणादि में यह कथा वर्णित है कि कृष्णपक्ष में देवतागण चन्द्रमा की एक-एक कला का पान प्रतिदिन करते रहते हैं। इसलिये चतुर्दशी की रात्रि में वह अत्यन्त क्षीण हो जाता है। उसी का संकेत यहाँ किया गया है–प्रतिपच्चन्द्रस्येव। प्रतिपत् शब्द लाक्षणिक है क्योंकि प्रतिपत् को चन्द्रमा सर्वथा नहीं होता है।

अन्वयः——कालात्यये, करिणः, संशुष्कसान्द्रमदलेखम्, कपोलम्, भ्रमन्तः, मधुकराः, इव, अतिथयः, क्षीणार्थम्, इति, अस्मदीयम्, गृहम्, यत्, परिवर्जयन्ति, एतत्, तु, माम्, दहति ॥ १२ ॥

शब्दार्थ——कालात्यये=[मदजल प्रवाहित होने का] समय बीत जाने पर, करिणः=हाथी के, संशुष्कसान्द्रमदलेखम्=सुखी हुई गाढ़ी मदधारावाले, कपोलम्=गण्डस्थल को, भ्रमन्तः=घूमते हुये, मधुकराः=भौरों के, इव=समान, अतिथयः=अतिथिगण, क्षीणार्थम्=धन से रहित, इति=ऐसा [सोंचकर], अस्मदीयम्=मेरे [चारुदत्त के], गृहम्=घर को, यत्=जो, परिवर्जयन्ति=छोड़ देते हैं, एतत्=वह, तु=ही, माम्=मुझ [चारुदत्त] को, दहति=जला रहा हैं, अतिशय कष्ट दे रहा है ॥ १२ ॥

अर्थ——**चारुदत्त**–मित्र ! धन [नष्ट हो जाने] के विषय में मुझे कष्ट नहीं है। देखो——

[मद जल बहने का] समय बीत जाने पर हाथी की सूखी हुई गाढ़ी मदजल–धारा वाले गण्डस्थल को [पूर्वकाल में उस पर] मड़राने वाले भौरों के के समान अतिथि लोग 'धनहीन है' ऐसा सोंचकर मेरे घर को जो छोड़ देते हैं [उसमें नहीं आते हैं] यही मुझे जला रहा है, जलने के समान कष्ट दे रहा है। अर्थात् हाथी के सूखे मदजलरहित गण्डस्थल को छोड़कर भौंरे जैसे दूसरी जगह चले जाते हैं उसी प्रकार धनहीन मेरे घर को छोड़कर अतिथि लोग भी अन्यत्र चले जाते हैं। यह अतिथियों द्वारा छोड़ दिया जाना–मुझे जलने के समान कष्ट दे रहा है ॥ १२ ॥

विदू०—भो वअस्स ! एदे क्खु दासीए पुत्ता अत्थकल्लवत्ता वरडाभीदा विअ गोबालदारआ अरण्णे जहिं जहिं ण खज्जन्ति तहिं तहिं गच्छन्ति।
(भो वयस्य ! एते खलु दास्याः पुत्रा अर्थकल्यवर्त्ताः, वरटाभीता इव गोपालदारका अरण्ये यस्मिन् यस्मिन् न खाद्यन्ते तस्मिन् तस्मिन् गच्छन्ति ।)

टीका—कालात्यये=कालस्य = मदजलप्रवाहस्य समयस्य, अत्यये=अपगमे, करिणः=गजस्य, संशुष्क-सान्द्र-मदलेखम्=संशुष्काः = संशुष्कतामुपगताः, सान्द्राः= घनीभूताः, मदलेखाः = मदजलप्रवाहरेखाः यस्मिन् तम्, कपोलम्=गण्डस्थलम्, भ्रमन्तः = मदजलपानार्थमितस्ततो गच्छन्तः, मधुकराः = भ्रमराः, इव=तुल्यम्, अतिथयः=न विद्यते आगन्तुं तिथिः=निश्चितसमयो येषां ते, क्षीणार्थम्=धनरहितम्, इति=इत्थं विचिन्त्य, अस्मदीयम्=अस्माकम्, गृहम्=भवनम्, यत् परिवर्जयन्ति=परित्यजन्ति, एतत्=अतिथिकर्तृकगृहकर्मकवर्जनम्, तु=एव, माम्=तव मित्रं चारुदत्तम्, दहति=सन्तापयति । यथा पूर्वकाले मदजलव्याप्ते यत्र गजगण्डस्थले ये भ्रमराः भ्रमन्ति स्म त एव साम्प्रतं मदरहितं तं गजगण्डस्थलं विहायान्यत्र यथा व्रजन्ति तथैव मधुकरतुल्या अतिथयोऽपि धनशून्ये मम गृहे किमपि न लप्स्यते इति विचार्य तत् परित्यज्य अन्यत्र गच्छन्ति इत्येव मां सन्तापयतीति भावः । उपमालंकारः । वसन्ततिलकं वृत्तम् ।। १२ ।।

विमर्श—यहाँ उपमा अलंकार है। इसका उपमानोपमेयभाव विचारणीय है। अनेक व्याख्याकारों ने 'इव' का सम्बन्ध 'कपोलम्' के साथ किया है और सूखी, घनी मदजलधारा वाले हाथी के कपोल की तरह मेरे घर को छोड़ कर— इत्यादि अर्थ किया है। परन्तु मेरे अनुसार 'इव' का सम्बन्ध 'भ्रमराः' के साथ होना चाहिये और भ्रमरों को उपमान तथा अतिथियों को उपमेय मानकर यह अर्थ करना चाहिये—हाथी के सूखी मदजलधारा से रहित कपोल को भौंरे जैसे छोड़ कर अन्यत्र चले जाते हैं वैसे ही [भौरों के समान] अतिथि जो पहले मेरे घर सदा आया करते थे, आज 'धनहीन' ऐसा सोच कर मेरे घर को छोड़ कर चले जाते हैं—यह अतिथियों द्वारा उपेक्षा करना ही मेरे लिये सन्तापकारक है। 'यत्' को गृहम् का विशेषण न मान कर 'परिवर्जयन्ति' क्रिया का विशेषण मानना चाहिये, यत् परिवर्जयन्ति, एतत् तु मा दहति । इसमें वसन्ततिलका छन्द है—

'उक्ता वसन्ततिलका त-भ-जा ज-गौ गः' ।। १२ ।।

अर्थ—विदूषक—मित्र ! दासीपुत्र [नीच], कलेवा [प्रातःकालीन स्वल्पाहार] के समान [तुच्छ] ये धन, बर्रे से डरे हुये ग्वालों के समान, वहीं वहीं जाते हैं जहाँ-जहाँ खाये [भोगे, काटे] नहीं जाते हैं।

चारु०—वयस्य !

सत्यं न मे विभवनाशकृताऽस्ति चिन्ता
भाग्यक्रमेण हि धनानि भवन्ति यान्ति ।
एतत्तु मां दहति, नष्टधनाश्रयस्य
यत् सौहृदादपि जनाः शिथिलीभवन्ति ॥१३॥

विमर्श—जैसे बर्र से डरे हुये अहीरों के छोकरे भाग-भाग कर वहीं पहुचते हैं जहाँ बर्र न काट सकें, उसी प्रकार ये नीच धन भी उसी के पास पहुँचते हैं जो इनका उपभोग नहीं करते हैं, अर्थात् कृपण के पास ही धन रहता है। दास्याः पुत्रः—समास है, गाली के लिये प्रयुक्त है। कल्ये=प्रातः काले वर्तन्ते एभिरिति कल्यवर्ताः=प्रातराशाः, अर्था एव कल्यवर्ताः—धनरूपी नास्ता। वरटाभीताः=वरटा=दंशक कीट-विशेषः, ताभ्यः भीताः=भयग्रस्ताः गोपालदारकाः=गोपालानाम्=आभीराणाम् दारकाः=पुत्राः। खाद्यन्ते—इसके दो अर्थ हैं—गोपालदारकों के पक्ष में—काटे जाते हैं—और 'अर्थकल्यवर्त्त' के पक्ष में 'उपभोग किये जाते हैं।' गोपालदारक जैसे काटने वाले बर्र से छिपते हैं उसी प्रकार धन भी उपभोग करने वाले से छिपते हैं, कृपण के पास सुरक्षित रहते हैं।

अन्वयः—विभवनाशकृता, चिन्ता, मे, न, अस्ति [इति], सत्यम्, हि, धनानि, भाग्यक्रमेण, भवन्ति, यान्ति (च) तु, जनाः, नष्टधनाश्रयस्य, सौहृदाद्, अपि, यत्, शिथिलीभवन्ति, एतत्, तु, माम्, दहति ॥ १३ ॥

शब्दार्थ—विभवनाशकृता=धन के विनाश से उत्पन्न, चिन्ता=मानसिक क्लेश, मे=मुझे [चारुदत्त को], न=नहीं, अस्ति=है, [इति=यह], सत्यम्=सच [समझो], हि=क्योंकि, धनानि=धन सम्पत्ति, भाग्यक्रमेण=भाग्यचक्र के अनुसार, भवन्ति=[प्राप्त] होते हैं, [च=और] यान्ति=चले जाते हैं, समाप्त हो जाते हैं। तु=किन्तु, जनाः=लोग, नष्टधनाश्रयस्य=धन के आश्रय से हीन=निर्धन [मुझ चारुदत्त] की, सौहृदात्=मित्रता से, अपि=भी, यत्=जो, शिथिलीभवन्ति=ढीले पड़ने लगते हैं, विमुख होने लगते हैं, एतत्=वह, माम्=मुझ चारुदत्त को, दहति=सन्तप्त कर रहा है ॥ १३ ॥

अर्थ—**चारुदत्त**-मित्र !

धन के विनाश से होने वाली चिन्ता मुझे नहीं है, यह सच है, क्योंकि धन [तो] भाग्यक्रम से [प्राप्त] होते हैं और चले जाते हैं। किन्तु लोग धन और आश्रय से हीन अथवा धन रूपी आश्रय से हीन=निर्धन व्यक्ति [चारुदत्त] की मित्रता से भी जो मुख मोड़ने लगते हैं, वह मुझ [चारुदत्त] को सन्ताप दे रहा है ॥ १३ ॥

टीका—धनाभावे मित्रताया अभाव एवं चिन्ताकारणमिति प्रतिपादयति—विभवनाशकृता = धनादिनाशेनोत्पन्ना, चिन्ता = मानसिकक्लेशः, मे = मम=

अपि च---दारिद्र्याद्ध्रियमेति, ह्रीपरिगतः प्रभ्रश्यते तेजसो
निस्तेजाः परिभूयते, परिभवान्निर्वेदमापद्यते ।
निर्विण्णः शुचमेति, शोकपिहितो बुद्ध्या परित्यज्यते
निर्बुद्धिः क्षयमेत्यहो निधनता सर्वापदामास्पदम् ।।१४।।

चारुदत्तस्य, न=नैव, अस्ति=वर्तते, इति, सत्यम्=तथ्यम् जानीहीति शेषः । हि=यतः, धनानि=वित्तादीनि, भवन्ति=आयान्ति, यान्ति=विनश्यन्ति, च । तदा कस्मात् कारणात् चिन्तयसि-अत आह---जनाः=लोकाः, नष्टधनाश्रयस्य = नष्टः= समाप्तः धनरूपः आश्रयः=अवलम्बनं यस्य सः तस्य, यद्वा धनम् च आश्रयः च= गृहादिकं च-इति धनाश्रयौ, नष्टौ धनाश्रयौ यस्य तस्य धनाश्रयरहितस्येत्यर्थः, मम चारुदत्तस्य अन्यस्य च निर्धनस्येति भावः, सौहृदात्=मित्रत्वात् अपि, यत्, शिथिलीभवन्ति = शैथिल्यमुपगच्छन्ति, बिमुखीभवन्तीति भावः, एतत्=पूर्वोक्त-शिथिलीभवनमेव, माम्=चारुदत्तम्, दहति=सन्तापयति ।। काव्यलिङ्गमलङ्कारः । वसन्ततिलका वृत्तम् ।। १३ ।।

विमर्श---सत्यम्---सामान्यतया धनहानि के कारण लोग चिन्तित होने लगते हैं, अपने बारे में उसका खण्डन करते हुये चारुदत्त कहता है कि धननाश के कारण मेरी चिन्ता नहीं हो रही है, क्योंकि धनी होना या निर्धन हो जाना यह सब तो भाग्य का खेल है । मेरी चिन्ता का कारण यह है कि जो लोग धन रहने पर सदैव मित्र बन कर साथ साथ रहा करते थे वे ही, धन नष्ट हो जाने पर मित्रता से भी मुँह मोड़ने लगते हैं, मित्रता भी छोड़ने लगते हैं-यही मेरी चिन्ता का कारण है । नष्टधनाश्रयस्य=धनरूपः आश्रयः धनाश्रयः, नष्टो धनाश्रयः यस्य तस्य---यह विग्रह है अथवा धनं च आश्रयः च=अवलम्बनं गृहादिकञ्च इति धनाश्रयौ, नष्टौ धनाश्रयौ यस्य सः तस्य-यह विग्रह भी सम्भव है । सौहृदात्-शोभनं हृदयं यस्य सः-इस अर्थ में बहुव्रीहि करने पर "सुहृद् दुर्हृदौ मित्रामित्रयोः" [पा. सू. ५।४।१५०] से हृदय का हृद् आदेश होने पर सुहृद्=मित्र शब्द सिद्ध होता है । सुहृदः भावः---इस अर्थ में अण् प्रत्यय करने पर "हृद्भगसिन्ध्वन्ते पूर्वपदस्य च" (पा. सू. ७।३।१९) से उभयपद-वृद्धि होने से 'सौहार्दम्' यह रूप पाणिनि-सम्मत है । परन्तु संस्कृत साहित्य में 'सौहृद' शब्द का प्रचुर प्रयोग देख कर इसमें केवल आदिवृद्धि की ही कल्पना करनी चाहिये । शिथिलीभवन्ति---यहाँ अभूततद्भाव में च्वि प्रत्यय करके रूप बनता है । इसमें काव्यलिङ्ग अलङ्कार और वसन्ततिलका छन्द है ।।१३ ।।

अन्वयः---(नरः), दारिद्र्यात्, ह्रियम्, एति, ह्रीपरिगतः, तेजसः, प्रभ्रश्यते, निस्तेजाः, परिभूयते, परिभवात्, निर्वेदम्, आपद्यते, निर्विण्णः, शुचम्, एति, शोकपिहितः, बुद्ध्या, परित्यज्यते, निर्बुद्धिः, क्षयम्, एति, अहो, निधनता, सर्वापदाम्, आस्पदम् ।। १४ ।।

शब्दार्थ—[नरः=मनुष्य], दारिद्र्यात्=दरिद्रता के कारण, ह्रियम्=लज्जा को, एति=प्राप्त करता है, ह्रीपरिगतः=लज्जित [व्यक्ति], तेजसः=तेज से, प्रभ्रश्यते=भ्रष्ट हो जाता है, निस्तेज हो जाता है, निस्तेजाः=तेजहीन, परिभूयते=अपमानित होता है, परिभवात्=अपमान के कारण, निर्वेदम्=ग्लानि को, आपद्यते=प्राप्त करता है, निर्विण्णः=ग्लानियुक्त, शुचम्=शोक को, एति=प्राप्त करता है, शोकपिहितः=शोक से व्याकुल, [व्यक्ति] बुद्ध्या= विवेक के द्वारा, परित्यज्यते=छोड़ दिया जाता है, निर्बुद्धिः=बुद्धिहीन, क्षयम्=विनाश, को, एति=प्राप्त करता है, अहो !=आश्चर्य है, निधनता = दरिद्रता, सर्वापदाम् = समस्त आपत्तियों का, आस्पदम् = स्थान [अस्ति=है] ।। १४ ।।

अर्थ—दरिद्रता के कारण [व्यक्ति] लज्जा को प्राप्त करता है [सर्वत्र लज्जित होता है]; लज्जित [व्यक्ति] तेज से भ्रष्ट हो जाता है [निस्तेज हो जाता है], तेजहीन [व्यक्ति] अपमानित होता है, अपमान से ग्लानि प्राप्त करता है, ग्लानि-युक्त [व्यक्ति] शोक प्राप्त करता है, शोकाकुल [व्यक्ति] को बुद्धि=विवेक द्वारा त्याग दिया जाता है, बुद्धिहीन=अविवेकी विनाश को प्राप्त करता है। अहो ! निर्धनता (गरीबी) समस्त आपत्तियों का निवासस्थल है। [सभी विपत्तियों का मूल कारण निर्धनता ही है] ।। १४ ।।

टीका—दारिद्र्यस्य सर्वविपत्तिमूलत्वमाह—**दारिद्र्येति** । (मनुष्यः) दारिद्र्यात्=निर्धनत्वात्, ह्रियम्=लज्जाम्, एति=प्राप्नोति, लज्जितो भवतीत्यर्थः, ह्रीपरिगतः = ह्रिया = लज्जया, परिगतः = युक्तः = लज्जितः, तेजसः = प्रतापात्, प्रभ्रश्यते=प्रभ्रष्टो भवति, निस्तेजाः जायते इत्यर्थः, निस्तेजाः=तेजःशून्यः, परिभूयते=तिरस्क्रियते, सर्वैरिति भावः, परिभवात् = तिरस्कारात्, निर्वेदम्=ग्लानिम्, आपद्यते=सर्वतः प्राप्नोति, निर्विण्णः=ग्लानियुक्तः, खिन्नमनाः, शुचम्=शोकम्, एति=गच्छति, शोकपिहितः=शोकेन=दुःखेन पिहितः=युक्तः, दुःखीत्यर्थः, बुद्ध्या=विवेकेन, परित्यज्यते=परिहीयते, कर्तव्याकर्तव्यविवेकशून्यो भवतीत्यर्थः, निर्बुद्धिः=विवेक-शून्यः, क्षयम्=विनाशम्, एति=गच्छति, अहो ! इति आश्चर्यसूचकमव्ययम्, निधनता=दरिद्रता, धनहीनता, सर्वापदाम्=सकलापत्तीनाम्, आस्पदम्=आश्रयः, मूलकारणं वेति । एवञ्च दरिद्रतायाः प्रभावोऽवर्णनीय इति बोध्यम् । कारणमाला अलङ्कारः, शार्दूलविक्रीडितं छन्दः ।।१४।।

विमर्श—निर्विण्णः-निर् + √विद् + क्त । द् तथा त के स्थानों पर न्, न आदेश और णत्व होता है। निधनता—यहाँ छन्द की दृष्टि से 'निर्' के अर्थ में 'नि' उपसर्ग है—निवृत्तं धनं यस्मात् सः=निधनः, तस्य भावः-इस अर्थ में तल् प्रत्यय होता है। अतः निधनता=निर्धनता पर्याय हैं। निर्बुद्धिः क्षयमेति—**इसका आधार** गीता का वचन है—"बुद्धिनाशात् प्रणश्यति ।" (गीता २।६३)

विदू०—भो वअस्स ! तं ज्जेव अत्थकल्लवत्तं सुमरिअ अलं सन्तप्पिदेण ।
(भो वयस्य ! तमेव अर्थकल्यवर्त्तं स्मृत्वा अलं सन्तापितेन ।)

चारु०—वयस्य ! दारिद्र्यं हि पुरुषस्य—

निवासश्चिन्तायाः परपरिभवो वैरमपरं
जुगुप्सा मित्राणां स्वजनजनविद्वेषकरणम् ।
वनं गन्तुं बुद्धिर्भवति च कलत्रात् परिभवो
हृदिस्थः शोकाग्निर्न च दहति सन्तापयति च ॥१५॥

यहाँ उत्तर उत्तर वाक्यार्थ के प्रति पूर्व पूर्व वाक्यार्थ के हेतु बन जाने से कारणमाला अलंकार है—

परं परं प्रति यदा पूर्वपूर्वस्य हेतुता ।
तदा कारणमाला स्यात् ॥ साहित्यदर्पण १०।७६

इसमें शार्दूलविक्रीडित छन्द है—लक्षण—

सूर्याश्वैर्मसजस्तता सगुरवः शार्दूलविक्रीडितम् ॥ १४ ॥

अर्थ—विदूषक—हे मित्र ! उसी धनरूपी कलेवा (क्षणभंगुर पदार्थ) का स्मरण करके चिन्ता करना व्यर्थ है ।

अन्वयः—[हि दारिद्र्यं पुरुषस्य-इति पूर्वोक्तगद्यभागेनान्वयः] चिन्तायाः, निवासः, परपरिभवः, अपरम्, वैरम्, मित्राणाम्, जुगुप्सा, स्वजनजन-विद्वेष-करणम्, कलत्रात्, परिभवः, भवति, [अतः] वनम्, गन्तुम्, बुद्धिः, च, भवति, हृदिस्थः, शोकाग्निः, न, दहति, सन्तापयति, च, ॥ १५ ॥

शब्दार्थ—[हि = क्योंकि, दारिद्र्यम् = दरिद्रता, पुरुषस्य=मनुष्य की—इसको मिलाकर श्लोक का अर्थ करना चाहिये] चिन्तायाः=चिन्ता का, निवासः=रहने का घर (है), परपरिभवः=दूसरों के द्वारा किया जानेवाला अनादर अथवा महान् अपमान है, अपरम्=दूसरी, विलक्षण, वैरम्=शत्रुता, (है) मित्राणाम्=मित्रों की, जुगुप्सा=घृणा (है), स्व-जन-जन-विद्वेष-करणम्=अपने बन्धुओं तथा अन्य लोगों के साथ होने वाले विद्वेष का कारण है, च=और, कलत्रात्=स्त्री से (होने वाला), परिभवः=तिरस्कार है, (अतः=इस लिये), वनम्=वन को, गन्तुम्=जाने के लिये, बुद्धिः=ज्ञान, विचार, होता है, हृदिस्थः=हृदय में रहने वाली, शोकाग्निः=शोकरूपी आग, न=नहीं, दहति=जलाती है, च=किन्तु, सन्ताप-यति=सन्ताप देती रहती है ॥ १५ ॥

अर्थ—चारुदत्त—दरिद्रता पुरुष की —

[निर्धनता पुरुषों की] चिन्ता का घर (निवासस्थान) है; दूसरों के द्वारा किया जाने वाला अनादर अथवा महान् अपमान है; दूसरी=विलक्षण

शत्रुता है, मित्रों की घृणा (की जनक) है, अपने बन्धु-बान्धवों तथा अन्य लोगों के विद्वेष का कारण है; पत्नी से [होने वाला] तिरस्कार है, (अतः), वन जाने की इच्छा होती है, हृदय में स्थित शोकरूपी आग [पूरी तरह] जला नहीं डालती है, अपितु तपाती रहती है [अर्थात् धीरे-धीरे तपा तपा कर प्राण लेती रहती है ।] ॥ १५ ॥

टीका—(हि=यतः, दारिद्र्यम्=निर्धनत्वम्, पुरुषस्य=मनुष्यस्य–इति गद्य-भागेनान्वयः —) चिन्तायाः=मम जीवननिर्वाहः कथं स्यादित्येवंरूपायाः मानसिकव्यथायाः, निवासः=आश्रयः=निवासस्थानम्; परपरिभवः=परेषाम्=शत्रूणाम् परिभवः=शत्रुकर्तृकतिरस्कारः, यद्वा परः=उत्कृष्टः, परिभवः=तिरस्कारः इति कर्मधारयः; अपरम्=अन्यत्, विलक्षणम्, निकृष्टम् वा, वैरम्=शत्रुत्वम्, निर्धनं प्रति सर्वेषां वैरं दृश्यते, मित्राणाम्=सुहृदाम्, जुगुप्सा=घृणा, तत्कारणम्, उपकारासमर्थत्वादिति भावः, स्वजन-जन-विद्वेष-करणम् = स्वजनानाम् = आत्मीय-बन्धूनाम्, जनानाम्=अन्येषां च जनानाम् विद्वेषस्य=विरोधस्य, करणम्=उत्पादकम्, कलत्रात्=भार्यायाः, परिभवः=अनादरः, च=तस्मात्, चो हेतौ बोध्यः, वनम्=अरण्यम्, गन्तुम्=यातुम्, बुद्धिः=ज्ञानम् विचारो वा, भवति=उत्पद्यते, हृदिस्थः=हृदये दन्दह्यमानः, शोकाग्निः = दुःखाग्निः (शोकरूपोऽग्निर्नतु शोकस्य अग्निः, भेदाभावात् षष्ठ्यनुपपत्तेरिति बोध्यम्,) न=नैव, दहति=भस्मसात्करोति, च=किन्तु, अत्र चस्तदर्थे बोध्यः, सन्तापयति=भृशं सन्तापं समुत्पादयन् व्यथयतीति भावः । अत्र मालारूपकमलंकारः इति पृथ्वीधरः । शिखरिणी वृत्तम् –रसैः रुद्रैश्छिन्ना यमनसभला गः शिखरिणी ॥ १५ ॥

विमर्श—इस श्लोक में दरिद्रता के विभिन्न रूपों का चित्रण किया गया है । जुगुप्सा—निन्दा, परन्तु इसका प्रयोग घृणा अर्थ में अधिक होता है । √गुप् से 'गुपेर्निन्दायाम्' वार्त्तिक के अनुसार "गुप्-तिज्-किद्भ्यः सन्" (पा० सू० ३।१।५) से सन् प्रत्यय और द्वित्वादि कार्य होने पर 'जुगुप्स' होता है, इस स्थिति में 'अ' प्रत्यय करके स्त्रीलिङ्ग में टाप्=आ होता है जुगुप्स+अ+आ । परपरिभवः-शत्रुओं द्वारा होने वाला अपमान अथवा महान् अपमान ये दोनों अर्थ हो सकते हैं । स्त्री से परिभव होना वनगमनबुद्धि का कारण है । अतः वाक्ययोजना बदल लेनी चाहिये । दहति और सन्तापयति ये क्रियापद महत्त्वपूर्ण हैं । शोकाग्नि दरिद्र को काष्ठ आदि के तुल्य जलाकर भस्म नहीं करती है अपि तु पानी आदि की तरह उसे सन्तप्त कर के धीरे धीरे घुटन के साथ मारती रहती है । एक दारिद्र्य का विभिन्नरूपों से उल्लेख होने से उल्लेख अलंकार है । शोकाग्निः=शोकरूपी आग—रूपक है । अग्निरूप कारण के रहने पर भी दाहरूप कार्य के न होने से

तद्वयस्य ! कृतो मया गृहदेवताभ्यो बलिः। गच्छ, त्वमपि चतुष्पथे मातृभ्यो बलिमुपहर।

विदू०—**ण गमिस्सं।** (न गमिष्यामि।)

चारु०—**किमर्थम् ?**

विदू—**जदो व्वं पूईज्जन्ता वि देवदा ण दे पसीदन्ति ता को गुणो देवेसुं अच्चिदेसुं।** (यत एवं पूज्यमाना अपि देवता न ते प्रसीदन्ति। तत् को गुणो देवेषु अर्चितेषु।)

चारु०—**वयस्य ! मा मैवम्। गृहस्थस्य नित्योऽयं विधिः।**

विशेषोक्ति है। इन सभी का परस्पर अङ्गाङ्गिभाव होने से सङ्कर अलङ्कार है। शिखरिणी छन्द है—रसैः रुद्रैश्छिन्ना य-मन-सभला गः शिखरिणी ॥ १५ ॥

अर्थ—इस लिये मित्र ! मैं गृहदेवताओं के लिये बलि [पूजनादि में अन्नादिदान] दे चुका हूँ। जाओ, तुम भी चौराहे पर मातृदेवियों के लिये बलि अर्पित कर दो।

विदूषक—नहीं जाऊँगा।

चारूदत्त—किस लिये ?

विदूषक—क्योंकि इस प्रकार से पूजित होते हुये भी देवता तुम्हारे ऊपर प्रसन्न नहीं होते हैं। तब (इस लिये) देवताओं के पूजने पर क्या लाभ ? [इन देवताओं की पूजा का क्या फल है ?]

चारुदत्त—नहीं मित्र ! ऐसा मत कहो। गृहस्थ के लिये यह [देवपूजन] नित्य-विधि=कर्तव्य है।

टीका—चतुष्पथे=शृङ्गाटके शृङ्गाटकचतुष्पथे। इति (अमरकोषः २।१५), मातृभ्यः=ब्राह्मीप्रभृतिभ्यः,

> ब्राह्मी माहेश्वरी चैन्द्री वाराही वैष्णवी तथा।
> कौमारी चैव चामुण्डा चर्चिकेत्यष्टमातरः ॥

बलिम्=पूजनोपहारद्रव्यम्, उपहर = समर्पय, यतः=यस्मात् कारणात्, एवम्=अनेन रूपेण, पूज्यमानाः=समभ्यर्च्यमाना अपि, देवताः=देवाः, ते=तवोपरि, न=नैव, प्रसीदन्ति=प्रसन्नाः भूत्वा फलं प्रदर्शयन्ति, तत्=तस्मात्, देवेषु=सुरेषु, अर्चितेषु=पूजितेषु कः=कीदृशः, गुणः=लाभः, फलं वा। एवञ्च व्यर्थं देवपूजनमित्यतोहं नैव गमिष्यामीति विदूषकस्याशयः। अयम्=देवपूजनरूपः, विधिः=कर्तव्यम्, नित्यः=अवश्यानुष्ठेयः, अकरणे प्रत्यवायात्।"

विमर्श—मातृभ्यः—देवमातृकाओं की संख्या के विषय में अलग-अलग उल्लेख हैं कोई सात, कोई आठ और कोई सोलह मानता है। इस विषय में धार्मिक

तपसा मनसा वाग्भिः पूजिता बलिकर्मभिः।
तुष्यन्ति शमिनां नित्यं देवताः किं विचारितैः ॥१६॥
तद् गच्छ, मातृभ्यो बलिमुपहर।

ग्रन्थ देखें। नित्योऽयं विधिः--विधि तीन प्रकार की है--(१) नित्य, (२) काम्य, (३) नैमित्तिक। जिसके न करने पर प्रत्यवाय होता है, करने पर फल हो अथवा नहीं, यह पृथक् विषय है--वह नित्य-विधि है जैसे सन्ध्यावन्दन आदि। किसी कामना से की जाने वाली विधि-काम्य है 'पुत्रेष्टि' जो दशरथ ने की थी। निमित्त-विशेष के कारण होने वाली विधि नैमित्तिक है--सूर्यग्रहण में स्नान, पर्वश्राद्ध। नित्य-विधि होने से देवदेवी-पूजन करना ही है।

अन्वयः--तपसा, मनसा, वाग्भिः, बलिकर्मभिः (नित्यम्), पूजिताः, देवताः, शमिनाम्, नित्यं तुष्यन्ति, (अस्मिन् विषये), विचारितैः, किम् ॥ १६ ॥

शब्दार्थ--तपसा=तपस्या से, मनसा=मन से, वाग्भिः=स्तुतिरूपी वचनों से (और) बलिकर्मभिः=बलिकर्मों से, (नित्यम्=प्रतिदिन), पूजिताः=पूजा किये किये गये, अर्चित, देवताः=देवगण, शमिनाम्=शमवाले, शान्त लोगों पर नित्यम्=सदैव, तुष्यन्ति=सन्तुष्ट रहते हैं, प्रसन्न रहते हैं, (इस विषय में), विचारितैः=समालोचना से, तर्क-वितर्क से, किम्=क्या (लाभ), अर्थात् कोई फल नहीं है अतः श्रद्धापूर्वक पूजन करना चाहिये ॥ १६ ॥

अर्थ--तपस्या, मन, स्तुतिरूपी वचनों (और) बलिकर्मों (पूजन में उपहार-स्वरूप भेंट किये जाने वाले अन्न आदि) से (नित्य) समर्चित देवता लोग शान्त चित्तवाले [भक्त] लोगों पर सदैव प्रसन्न रहते हैं। [इस विषय में] तर्क-वितर्क करने से कोई लाभ नहीं (होता है) ॥ १६ ॥

टीका--तपसा=तपश्चरणेन, तपस्यया, मनसा=चित्तेन, ध्यानेन, वाग्भिः=स्तुतिरूपवचनैः, बलिकर्मभिः=पूजादौ समर्पितान्नादिभिः, (नित्यम्) पूजिताः=समर्चिताः, देवताः = देवाः, शमिनाम्=शमवताम् = शान्तचित्तानाम्, नित्यम्=सदैव, तुष्यन्ति=प्रसीदन्ति, सन्तुष्टा भवन्ति, अत्र विचारितैः=आलोचनैः, तर्क-वितर्कादिभिः, किम्=फलम्, न किमपि फलमिति भावः। अतस्त्वया मातृणां पूजा-वश्यं कर्त्तव्येति चारुदत्तस्याभिप्रायः। आर्या वृत्तम् ॥ १६ ॥

विमर्श--चारुदत्त का तात्पर्य यह है कि देवपूजन के विषय में अनपेक्षित तर्क करने से कोई लाभ नहीं होता है। अतः पूजन करना ही चहिये। शमिनाम्=शमः अस्ति येषां ते--इस अर्थ में मत्वर्थीय इनि प्रत्यय होता है--शम + इनि + षष्ठी ब. व.। विचारितैः--वि√--चर् + णि + क्त (भावे क्तः) + तृतीया ब.व.।

अर्थ--इसलिये जाओ, मातृदेवियों को बलि अर्पित करो।

विदू०——भो ! ण गमिस्सं । अण्णो को वि पउञ्जीअदु । मम उण बह्मणस्स सव्वं ज्जेव विपरीदं परिणमदि, आदंसगदा विअ छाआ, वामादो दक्खिणा दक्खिणादो वामा । अण्णं अ, एदाये पदोसवेलाए इध राअमग्गे गणिआ विडा चेडा राअवल्लहा अ पुरिसा सञ्चरन्ति । ता मण्डुअलुद्धस्स कालसप्पस्स मूसओ विअ अहिमुहापडिदो वज्झो दाणिं भविस्सं । तुमं इध उवविट्ठो किं करिस्ससि ? (भोः ! न गमिष्यामि । अन्यः कोऽपि प्रयुज्यताम्, मम पुनर्ब्राह्मणस्य सर्वमेव विपरीतं परिणमति, आदर्शगता इव छाया, वामतो दक्षिणा, दक्षिणतो वामा । अन्यच्च, एतस्यां प्रदोषवेलायाम् इह राजमार्गे गणिका विटाश्चेटा राजवल्लभाश्च पुरुषाः सञ्चरन्ति । तत् मण्डूकलुब्धस्य कालसर्पस्य मूषिक इव अभिमुखापतितो वध्य इदानीं भविष्यामि । त्वमिह उपविष्टः किं करिष्यसि ?)

चारु०——भवतु । तिष्ठ तावत् । अहं समाधिं निर्वर्त्तयामि ।

विदूषक——श्रीमन् ! मैं नहीं जाऊँगा, [इस कार्य में] किसी दूसरे को लगा दीजिये (भेज दीजिये) । मुझ ब्राह्मण का सभी कुछ उसी प्रकार विपरीत= उल्टा प्रतिफलित हो जाता है जिस प्रकार शीशे में प्रतिबिम्बित परछाईं बायीं से दाहिनी और दाहिनी से बायीं हो जाती है । दूसरा कारण यह है कि इस सन्ध्याकाल में सड़क पर वेश्यायें, विट, चेट तथा राजा के प्रिय लोग (राजश्याल आदि) घूम रहे हैं । इस लिये मेढक के लालची काले सर्प (गेंहुअन साँप) के मुख में चूहे के समान गिर कर (फँस कर) इस समय वधयोग्य (मार डालने योग्य) हो जाऊँगा । आप यहाँ बैठे क्या करेंगे ?

चारुदत्त——अच्छा, तब तक ठहरो, (जब तक) मैं समाधि (सायंकालीन सन्ध्यावन्दनादि) समाप्त कर लेता हूँ ।

विमर्श——(१) विट वह पात्र होता है जो संभोग में सम्पत्ति व्यय करके गरीब हो जाने वाला धूर्त, कला-विशेष में निपुण, वेश बनाने में कुशल, बोलने में चतुर, विनोदप्रेमी और गोष्ठी में पसन्द किया जाता है । यह वेश्याकामुक व्यक्ति के सन्देशों को एक दूसरे के पास पहुँचाता है--

संभोगहीनसम्पद् विटस्तु धूर्तः कलैकदेशज्ञः ।
वेशोपचारकुशलो वाग्मी मधुरोऽथ बहुमतो गोष्ठ्याम् ॥

साहित्यदर्पण ३ । ४१

(२) **चेट**——सेवक, यह शृङ्गारसम्बन्धी कार्यों में सहायक होता है ।

(३) **विदूषक**—जो कुसुम, वसन्त आदि नामों वाला होता है । यह अपने कार्यों,

(नेपथ्ये) तिष्ठ, वसन्तसेने ! तिष्ठ ।

(ततः प्रविशति विट-शकार-चेटैरनुगम्यमाना वसन्तसेना ।)

विटः---वसन्तसेने ! तिष्ठ तिष्ठ ।

किं त्वं भयेन परिवर्त्तितसौकुमार्या नृत्यप्रयोगविशदौ चरणौ क्षिपन्ती ।
उद्विग्नचञ्चलकटाक्षविसृष्टदृष्टिर्व्याधानुसारचकिता हरिणीव यासि ? ।१७।

शरीर, वेष एवं भाषा आदि के द्वारा हास्य कराने वाला, कलह में अनुराग रखने वाला और भोजनादि अपने कार्यों का जाननेवाला होता है —

कुसुमवसन्ताद्यभिधः कर्मवपुर्वेशभाषाद्यैः ।
हास्यकरः कलहरतिर्विदूषकः स्यात् स्वकर्मज्ञः ।।

साहित्यदर्पण ३ । ४८

विट, चेट एवं विदूषक ये सभी नायक आदि के सहायक होते हैं । इस प्रकरण में नायक चारुदत्त का सहायक विदूषक है और प्रतिनायक शकार के सहायक विट तथा चेट हैं।

इस प्रसंग से ऐसा संकेत मिलता है कि उस समय सायंकाल से ही उक्त लोग सड़कों पर घूमने लगते थे । साथ ही उन्हें दण्डित करने के लिये या मनोविनोद के लिये राजा के प्रिय लोग भी घूमने लगते थे । इस वर्णन से शकार के आगामी प्रवेश आदि की सूचना भी दी गई है, क्योंकि बिना संकेत के पात्र-प्रवेश असंगत माना जाता है ।

(नेपथ्य में)

अर्थ---रुको, वसन्तसेना ! रुको ।

(इसके बाद विट, शकार एवं चेट के द्वारा पीछा की जाती हुई वसन्त-सेना प्रवेश करती है ।)

विट---वसन्तसेना ! रुको, रुको ।

अन्वयः---भयेन, परिवर्त्तितसौकुमार्या, नृत्यप्रयोगविशदौ, चरणौ, क्षिपन्ती, उद्विग्नचञ्चलकटाक्षविसृष्टदृष्टिः, त्वम्, व्याधानुसारचकिता, हरिणी, इव, किम्, यासि ।। १७ ।।

शब्दार्थ---भयेन=[हम लोगों के] भय के कारण, परिवर्त्तितसौकुमार्या=सुकुमारता [मन्द-मन्द गति] को छोड़ देने वाली, नृत्यप्रयोगविशदौ=नाचने की कला में चतुर, चरणौ=अपने दोनों पैरों को, क्षिपन्ती=फेंकती हुयी, जल्दी जल्दी चलाती हुई, उद्विग्न–चञ्चल–कटाक्ष–विसृष्टदृष्टिः=भयविह्वल और चञ्चल कटाक्षों से देखती हुई, त्वम्=तुम, वसन्तसेना, व्याधानुसार–चकिता=शिकारी द्वारा पीछा किये जाने से घबड़ायी हुई, हरिणी=हिरनी, इव=के समान, किम्=किस लिये, यासि=भागी जा रही हो ? ।। १७ ।।

शकारः—चिट्ठ, वशन्तशेणिए ! चिट्ठ। (तिष्ठ वसन्तसेनिके ! तिष्ठ।)
किं याशि, धावशि, पलाअशि, पक्खलन्ती
वाशू ! पशीद ण मलिश्शशि, चिट्ठ दाव।
कामेण दज्झदि हु हलके मे तवश्शी
अङ्गाललाशिपडिदे विअ मंशखण्डे ॥१८॥

अर्थ—[हम लोगों के] भय के कारण (अपनी) मन्द गति को बदल=छोड़ देनी वाली, नृत्यकला में कुशल (अपने) पैरों को जल्दी-जल्दी फेंकती (आगे बढ़ाती) हुई, भय से विह्वल एवं चञ्चल कटाक्षों से (चारों ओर) दृष्टिपात करती हुई तुम [वसन्तसेना], शिकारी द्वारा पीछा किये जाने से घबड़ायी हुई हिरनी के समान, क्यों भागी जा रही हो ? ॥ १७ ॥

टीका—(अनुगन्तृभ्योऽस्मभ्यम्) भयेन = भीत्या, परिवर्त्तितसौकुमार्या= परिवर्त्तितम्=द्रुतगमनाय अन्यथाकृतं परित्यक्तमिति यावत्, सौकुमार्यम्=गमन-मार्दवम्, मन्दगमनम्, यया सा शीघ्रगतिकेति भावः, नृत्यप्रयोगे=नृत्यकलायाम् विशदौ=निपुणौ चरणौ=पादौ, क्षिपन्ती=इतस्ततः पातयन्ती, उद्विग्न-चञ्चल-कटाक्ष-विसृष्ट-दृष्टिः=(१) उद्विग्नाः=अत्यन्तं व्यग्राः, चञ्चलाः=चाञ्चल्ययुक्ताः कटाक्षाः=अपाङ्गदृष्टयः यस्मिन् कर्मणि यथा स्यात् तथा (क्रियाविशेषणमिदम्) विसृष्टा=प्रेरिता, दृष्टिः=नेत्रं यया सा, (२) यद्वा उद्विग्नं चंचलं च यथा स्यात् तथा कटाक्षेण विसृष्टा दृष्टिः यया सा, (३) यद्वा-उद्विग्ना च चञ्चला च, कटाक्ष-विसृष्टा च (एषां द्वन्द्वं कृत्वा) दृष्टिःयस्याः सा इति बहुव्रीहिः, (४) यद्वा-उद्विग्नचञ्चलकटाक्षरूपेण विसृष्टा दृष्टिर्यया सा इति पृथ्वीधरः। त्वम्=वसन्त-सेना, व्याधानुसारचकिता=व्याधस्य=मृगयालुब्धकस्य अनुसारेण=अनुसरणेन, पश्चाद्-धावनेनेत्यर्थः, चकिता=त्रस्ता, हरिणी इव=मृगी इव, किम्=किमर्थम्, कस्मात् हेतोः, यासि=धावसि। त्वदनुरागाकृष्टेभ्यः मादृशजनेभ्यो भयं नोचितमिति भावः। उपमालंकारः। वसन्ततिलका वृत्तम् ॥ १७ ॥

विमर्श—नृत्यप्रयोगविशदौ-नृत्य के अभ्यास से पटु अथवा नृत्य के प्रयोग में कुशल। इसमें विवादग्रस्त पद है—उद्विग्न-चञ्चल-कटाक्ष-विसृष्ट-दृष्टिः। यहाँ (१) उद्विग्न-चञ्चल-कटाक्ष-इन्हें 'विसृष्ट' क्रिया का विशेषण बनाकर बहुव्रीहि करना चाहिये। (२) उद्विग्न-चञ्चल-कटाक्षरूपेण विसृष्टा दृष्टिः यया सा। (३) उद्विग्ना च चञ्चला च कटाक्ष-विसृष्टा च दृष्टिर्यस्याः सा।

यहाँ उपमा अलंकार है और वसन्ततिलका छन्द है ॥ १७ ॥

अर्थ—**शकार**—ठहरो, वसन्तसेने ! ठहरो।

अन्वयः—प्रस्खलन्ती, किम् यासि, धावसि, पलायसे, (हे) वासु ! प्रसीद, न, मरिष्यसि, तावत्, तिष्ठ, अङ्गारराशि-पतितम्, मांसखण्डम्, इव, तपस्वि, मे, हृदयम्, कामेन, दह्यते, खलु ॥ १८ ॥

(किं यासि, धावसि, पलायसे, प्रस्खलन्ती
वासु ! प्रसीद, न मरिष्यसि, तिष्ठ तावत् ।
कामेन दह्यते खलु मे हृदयं तपस्वि
अङ्गारराशिपतितमिव मांसखण्डम् ॥ १८ ॥)

चेटः—अज्जुके ! चिट्ठ चिट्ठ । (आर्यके ! तिष्ठ तिष्ठ ।)
उत्ताशिता गच्छशि अत्तिका मे शंपुण्णपुच्छा विअ गिम्हमोरी ।
ओवग्गदी शामिअभट्ठके मे वण्णे पडे कुक्कुडशावके व्व ॥१९॥

शब्दार्थ—प्रस्खलन्ती=लड़खड़ाती हुई, किम्=क्यों, यासि=जा रही हो, धावसि=दौड़ रही हो, पलायसे=भाग रही हो, हे वासु !=हे बाले ! प्रसीद=(मुझ पर) खुश हो जाओ, न=नहीं, मरिष्यसि=मरोगी, तावत्=कुछ, तिष्ठ=रुको, ठहर जाओ, अङ्गारराशिपतितम्=अङ्गारों के समुदाय में गिरे हुये, मांसखण्डम्=मांस के टुकड़े के, इव=समान, मे=मेरा, तपस्वि=बेचारा, हृदयम्=हृदय, दिल, कामेन=कामरूपी अग्नि से, दह्यते=जलाया जा रहा है, खलु=यह निश्चित है ॥ १८ ॥

अर्थः—लड़खड़ाती हुई क्यों जा रही हो, दौड़ रही हो, भाग रही हो । हे बाले ! प्रसन्न हो जाओ, मरोगी नहीं, थोड़ा ठहरो । (अथवा थोड़ी देर रुको, इससे मर नहीं जाओगी ।) (जलते हुये) अंगारों के समुदाय के ऊपर गिरे हुये मांस के टुकड़े के समान मेरा बेचारा (सीधा साधा) हृदय (दिल) काम (कामाग्नि) द्वारा जला डाला जा रहा है, यह निश्चित है ॥ १८ ॥

विमर्शः—शकार इस प्रकरण का प्रतिनायक है । यह राजा का शाला (रखैल का भाई) होता है । अतः इसमें अंहकार असीमित होता है । इसका लक्षण यह है

मद-मूर्खताभिमानी दुष्कुलतैश्वर्यसंयुक्तः ।
सोऽयमनूढाभ्राता राज्ञःश्यालः शकार इत्युक्तः ॥

यह शकारी बोली बोलता है, इसमें 'श' की बहुलता रहती है इस लिये इसका नाम शकार होता है । शकार की बातें—क्रमरहित, व्यर्थ, पुनरुक्त, हतोपम और लोक तथा न्याय से विरुद्ध होती हैं । यह लक्षण आगे कथानक से स्पष्ट है । 'बाला स्याद् वासू-(रार्यस्तु मारिषः), अमरकोष १।७।१०॥ इसमें उपमा अलंकार है और वसन्ततिलका छन्द है— ज्ञेयं वसन्ततिलकं त-भ-जा ज-गौ गः ॥ १८ ॥

अन्वयः—सम्पूर्णपक्षा, ग्रीष्ममयूरी, इव, उत्त्रासिता, (त्वम्) मम, अन्तिकात्, गच्छसि, वने, गतः, कुक्कुटशावकः, इव, मम, स्वामिभट्टारकः, अववल्गति ॥ १९ ॥

(उत्त्रासिता गच्छसि अन्तिकान्मे सम्पूर्णपक्षेव ग्रीष्ममयूरी ।
अववल्गति स्वामिभट्टारको मे वने गतः कुक्कुटशावक इव ।। १६ ।।

शब्दार्थः—सम्पूर्णपक्षा=समस्त पंखों से परिपूर्ण, ग्रीष्ममयूरी=ग्रीष्मकालीन मोरनी, इव=के तुल्य, उत्त्रासिता=घबड़ायी हुई, (त्वम्=तुम), मम=मेरे, अन्तिकात्=समीप से, गच्छसि=जा रही हो; वने=जंगल में, गतः=गये हुये, कुक्कुट-शावकः इव=मुर्गी के बच्चे के समान, मम=मेरा, स्वामि-भट्टारकः=सम्मानित स्वामी (शकार), अववल्गति—(तुम्हारे पीछे पीछे) दौड़ रहा है ।। १६ ।।

अर्थ—चेट—आर्ये ! ठहरो, ठहरो ।

सम्पूर्ण पंखोंवाली, ग्रीष्मऋतु की मोरनी के समान भयभीत हुई (तुम) मेरे पास से भागी जा रही हो ? वन में गये हुये मुर्गी के बच्चे के समान मेरा सम्मानित स्वामी (शकार) (तुम्हारे पीछे पीछे) दौड़ रहा है ।। १६ ।।

विमर्शः—'अन्तिका' इस प्राकृतपाठ का संस्कृतरूप 'अन्तिकात्' है जैसा कि ऊपर लिखा गया है । कुछ व्याख्याकारों ने 'अन्तिका' यह पाठ माना है और 'अन्तिका' भगिनी ज्येष्ठा' (अमरकोष १।७।१५) के अनुसार बड़ी बहन यह अर्थ किया है । और वसन्तसेना को बड़ी बहन के तुल्य माना है । यहाँ विचारणीय यह है कि संस्कृत शब्द का प्राकृत में भी क्या 'अन्तिका' यही रूप रहता है ? सम्पूर्णपक्षा—गर्मी के दिनों में मयूरी के पंख पूरे-पूरे होते हैं, उन्हें कोई तोड़ न ले-इस भय से वह सदैव सावधान रह कर भागती रहती है, वैसे ही वसन्तसेना के भागने का उल्लेख किया है । यहाँ कवि की एक अनभिज्ञता का परिचय मिलता है क्योंकि मयूरी के पंखों को नहीं अपितु मोर के पंखों को लोग तोड़ते हैं । मोर के ही पंखों की सुन्दरता अनुभव-सिद्ध है । अतः यह लोकानुभवविरुद्ध ही समझना चाहिये । कुक्कुटशावक इव—यहाँ—मुर्गी के बच्चे के समान—यही अर्थ उचित है क्योंकि बच्चे मुर्गी के ही पीछे दौड़ते हैं मुर्गा के नहीं । यहाँ शकार नीच पात्र की नीच मुर्गी के बच्चे के साथ उपमा देना ठीक ही है । इसमें दो बार सादृश्य-वर्णन होने से उपमा अलंकार है । इन्द्रवज्रा छन्द है । इसका लक्षण—स्यादिन्द्रवज्रा यदि तौ जगौ गः ।।

कुछ व्यख्याकारो ने 'अज्जुके' को संस्कृत शब्द माना है और गणिका का पर्याय माना है—"नाटयोक्तौ गणिकाऽज्जुका" (अमरकोष ७।७।११) किन्तु यह ठीक नहीं है क्योंकि प्राकृतभाषी चेट संस्कृत शब्द का प्रयोग नहीं करता है । अतः 'अज्जुके' यह प्राकृत शब्द ही समझना चाहिये और इसका संस्कृत 'आर्यके !' यह करना चाहिये । अतः यही पाठ रखा गया है ।। १६ ।।

विटः——वसन्तसेने ! तिष्ठ, तिष्ठ ।
किं यासि बालकदलीव विकम्पमाना रक्तांशुकं पवनलोलदशं वहन्ती ।
रक्तोत्पलप्रकरकुड्मलमुत्सृजन्ती टङ्कैर्मनःशिलगुहेव विदार्यमाणा ॥२०॥

विट——वसन्तसेने ! ठहरो, ठहरो ।

अन्वयः——बालकदली, इव, विकम्पमाना, पवनलोलदशम्, रक्तांशुकम्, वहन्ती, (त्वम्) टङ्कैः, विदीर्यमाणा, मनःशिलागुहा, इव, रक्तोत्पलप्रकरकुड्मलम्, उत्सृजन्ती, किम्, यासि ? ॥ २० ॥

शब्दार्थः——बालकदली=नवीन (कोमल) केला के वृक्ष के इव=समान, विकम्पमाना=काँपती हुई, पवनलोलदशम्=हवा से चञ्चल आँचल वाले, रक्तांशुकम्=लाल रेशमी वस्त्र को, वहन्ती=धारण करती हुई; (तुम) टंकैः=टांकी द्वारा, विदार्यमाणा=छेदी (काटी) जाती हुई, मनःशिल-गुहा=मनसिल की कन्दरा के, इव=तुल्य (उससे निकलने वाली चिनगारियों के समान),—रक्तोत्पलप्रकर-कुड्मलम्=(केशपाश में गुंथे हुये) लाल कमलों के समुदाय की कलियों को, (गुहापक्ष में रक्तकमल-समुदाय के तुल्य कलियों=कलीसदृश पत्थर के टुकड़ों को), उत्सृजन्ती=विखेरती हुई (गुहापक्ष में निकालती हुई), किम्=क्यों, यासि=भागी जा रही हो ? ॥ २० ॥

अर्थ——नये कदली वृक्ष के समान (भय से) काँपती हुई, वायु द्वारा चञ्चल आँचल वाले लाल रेशमी वस्त्र को धारण करती हुई, (तुम) टांकी (छेनी आदि काटने के औजार) के द्वारा काटी (छेदी) जाती हुई मनःशिला (मनसिल) की कन्दरा (से निकलने वाली लाल लाल चिनगारियों) के समान (अपने केशपाश=जूड़े में गुंथे हुये) रक्त-कमलसमुदाय की कलियों को (गुहा-पक्ष में रक्त कमल-तुल्य जो लाल पत्थर उसकी कलियों के समान चिनगारियों) को (वेग से भागने के कारण विखराती हुई) (गुहापक्ष में—निकालती हुयी) क्यों जा रही हो ? ॥ २० ॥

टीका——बालकदली = नवीनकोमलकदलीवृक्षः, इव = यथा, विकम्पमाना= कम्पिता सती, पवनलोलदशम्=पवनेन=वायुना, लोला=चञ्चला, दशा=प्रान्तभागीय-दीर्घतन्तुसमुदायः, अञ्चलभागः, यस्य तत्, रक्तांशुकम्=रक्तवस्त्रम्. वहन्ती=धारयन्ती, (त्वम्), टङ्कैः=पाषाण-विदारणयन्त्रैः, विदार्यमाणा=भिद्यमाना, मनःशिल-गुहा इव=रक्तवर्णधातुविशेषस्य खनिः इव, (यद्यपि 'मनःशिला' इति स्त्रीलिङ्ग एव साधुस्तथापि महाभारते मनःशिलशब्दोपि दृश्यते इति तथा प्रयुक्तः इति पृथ्वीधर आह), रक्तोत्पलप्रकर-कुड्मलम् = रक्तोत्पलानाम् = रक्तकमलानाम्, प्रकरः= समुदायः, तन्निर्मितं माल्यादिकमिति भावः, तस्य कुड्मलम्=मुकुलम्, गमनतीव्रतया,

शकारः—**चिट्ठ, वसन्तशेणिए ! चिट्ठ ।** (तिष्ठ, वसन्तसेनिके ! तिष्ठ ।)

मम मअणमणङ्गं मम्महं वड्ढअन्ती
णिशि अ शअणके मे णिद्दअं आक्खिवन्ती ।
पशलशि भअभीदा पक्खलन्ती खलन्ती
मम वशमणुजादा लावणश्शेव कुन्ती ॥ २१ ॥

उत्सृजन्ती=पातयन्ती, किम्=किमर्थम्, यासि=धावासि, व्रजसि । अत्र गुहापक्षे रक्तोत्पलप्रकरवत् कुड्मलान्=कुडमलसदृशप्रस्तरखण्डान्, उत्क्षिपन्तीत्यर्थो बोध्य । यथा विदारणकाले मनःशिलागुहातः रक्तकमलतुल्यः स्फुलिङ्गाः निःसरन्ति तथैव वसन्तसेनाशरीरे सज्जनार्थमुपयुक्तानि पुष्पाणि भयेन तीव्रगमनात् पतन्तीति भावः । अत्रोपमालंकारः, 'उत्सृजन्ती इव' इति व्याख्यायामुत्प्रेक्षापीति बोध्यम् । वसन्ततिलकं वृत्तम् । लक्षणन्तु पूर्वमुक्तम् ॥ २० ॥

विमर्श—यहाँ वसन्तसेना को नवकदली के समान और उसके वस्त्रों को कदली के लाल फूलों के समान बताया गया है । उसके शरीर पर सजाने के लिये लगे फूल, भागने के कारण गिरने से उसी प्रकार लग रहे हैं जैसे मनसिलपत्थर काटते समय निकलने वाली चिनगारियाँ । मनःशिला शब्द यद्यपि स्त्रीलिङ्ग है तथापि महा भारतादि के अनुसार पुंलिग मानकर यहाँ का प्रयोग समझना चाहिये । यहाँ उपमा अलंकार स्पष्ट है । उत्सृजन्ती क्रिया के साथ 'इव' का आक्षेप से योग करने पर उत्प्रेक्षा भी सम्भव है । वसन्ततिलका छन्द है—उक्ता वसन्ततिलका तभजा जगौ गः ॥ २० ॥

अन्वयः—मम, मदनम्, अनङ्गम्, मन्मथम्, वर्धयन्ती, निशि, च, शयनके, मम, निद्राम्, आक्षिपन्ती, (साम्प्रतम्), भयभीता, प्रस्खलन्ती, स्खलन्ती, प्रसरसि, (तथापि), रावणस्य, कुन्ती, इव, मम, वशम्, अनुयाता ॥ २१ ॥

शब्दार्थ—मम=मेरे [=शकार के] मदनम्, अनङ्गम्, मन्मथम्=काम को, वर्द्धयन्ती=बढ़ाती हुई, च=और, निशि=रात में, शयनके=शय्या (पलंग) पर, मम=मेरी, निद्राम्=नींद को, आक्षिपन्ती=उचाटती हुई, भगाती हुई, (तुम इस समय) भयभीता=भय से डरी हुई, प्रस्खलन्ती, स्खलन्ती=बार बार लड़खड़ाती हुई, (यद्यपि) प्रसरसि=भागी जा रही हो, (तथापि) रावणस्य=लंकापति रावण के, (वश में आई हुई) कुन्ती इव=पाण्डवों की माता के समान (तुम), मम=मेरे, वशम्=वश, अधिकार में, अनुयाता=आ गयी हो (अतः अब भागना व्यर्थ है) ॥२१॥

अर्थ—**शकार**—रुको, वसन्तसेने ! रुको ।

मेरे, मदन, अनङ्ग, मन्मथ (=काम) को बढ़ाने वाली, और रात्रि में पलंग (शय्या) पर मेरी नींद को उचाटनेवाली=भगाने वाली, (तुम इस समय)

(मम मदनमनङ्गं मन्मथं वर्द्धयन्ती, निशि च शयनके मे निद्रामाक्षिपन्ती ।
प्रसरसि भयभीता प्रस्खलन्ती, स्खलन्ती, मम वशमनुयाता रावणस्येव कुन्ती ॥२१॥

विटः—वसन्तसेने !

किं त्वं पदैर्मम पदानि विशेषयन्ती
व्यालीव यासि पतगेन्द्रभयाभिभूता ।
वेगादहं प्रविसृतः पवनं निरुन्ध्यां
त्वन्निग्रहे तु वरगात्रि ! न मे प्रयत्नः ॥ २२ ॥

भय से घबड़ायी हुई बार-बार लड़खड़ाती हुई (यद्यपि) भाग रही हो, (तथापि) उसी प्रकार मेरे वश में आगई हो जिस प्रकार रावण के वश में कुन्ती (आगई थी) अतः अब भागने का प्रयास व्यर्थ है ॥ २१ ॥

टीका—मम=शकारस्येत्यर्थः, मदनम्, अनङ्गम्, मन्मथम्=कामम्, कामवेगमित्यर्थः, वर्द्धयन्ती=उद्दीपयन्ती, निशि=निशायाम्, शयनके=शय्यायाम्, अधिकरणे ल्युट् ततः स्वार्थे कः, च=तथा, मम=शकारस्य, निद्राम्,=स्वापम्, आक्षिपन्ती=स्वचिन्तनेनापसारयन्ती, साम्प्रतम्, भयभीता=भयत्रस्ता, भीतेत्येनेनैव निर्वाहे भयशब्दोऽपार्थकः, प्रस्खलन्ती-स्खलन्ती=त्वरिततरगमनेन चरणौ स्खलितौ कुर्वन्ती, प्रसरसि=प्रगच्छसि, तथापि, रावणस्य=लङ्काधिपतेः, वशमायाता, कुन्ती इव=युधिष्ठिरादीनां माता इव, मम=शकारस्य, वशम्=अधीनताम्, अनुयाता=आपतिता असि । 'रावणस्येव कुन्ती' त्यत्र हतोपमा, शास्त्रविरुद्धत्वात् । मालिनीवृत्तम्—न-न-मययुतेयं मालिनी भोगिलोकैः ॥ २१ ॥

विमर्श—शकार अनर्गल पुनरुक्तियुक्त एवं व्यर्थ की बातें बोलता है । अतः श्लोक असंगत नहीं है । भयभीता—भीता इतना पर्याप्त है, भय शब्द व्यर्थं प्रयुक्त है । रावण त्रेता में हुआ था और कुन्ती द्वापर में । इनका कोई सम्बन्ध नहीं था फिर भी शकार का वचन होने से दोष नहीं है । 'रावणस्येव कुन्ती' इसमें शास्त्र-विरुद्ध होने से हतोपमा है । इसीलिये कहा गया है—

आगम-लिङ्ग-विहीनं देशकालन्याय-विपरीतम् ।
व्यर्थैकार्थमपार्थं हि भवति वचनं शकारस्य ॥

इसमें मालिनी छन्द है । लक्षण—न-न-म-य-य-युतेयं मालिनी भोगिलोकैः ॥२१॥

अन्वयः—पतगेन्द्रभयाभिभूता, व्याली, इव, त्वम्, पदैः, मम, पदानि, विशेषयन्ती, किम्, यासि ? हे वरगात्रि ! वेगात्, प्रविसृतः, अहम्, पवनम्, निरुन्ध्याम् (न, रुन्ध्याम् ?) तु, त्वन्निग्रहे, मे, प्रयत्नः, न [भवति] ॥ २२ ॥

शब्दार्थ—पतगेन्द्रभयाभिभूता=गरुड [के द्वारा पकड़े जाने] के भय से घबड़ाई हुई, व्याली=नागिन, इव=के तुल्य (त्वम्=तुम) पदैः=पैरों से, मम=

शकारः—भावे ! भावे ! (भाव ! भाव !)

मुझ विट के, पदानि=पैरों को (पैरों के चिह्नों को), विशेषयन्ती=अतिक्रान्त करती हुई, किम्=किस लिये, यासि ?=जा रही हो ? हे वरगात्रि ! सुन्दर अवयवों वाली, वेगात्=वेगसे, प्रविसृतः=दौड़ा हुआ, अहम्=मैं (विट), पवनम्=हवा को निरुन्ध्याम्=रोक सकता हूँ (न=नहीं, रुन्ध्याम्=रोक सकता हूँ ? अर्थात् अवश्य ही रोंक सकता हूँ ।) तु=लेकिन, त्वन्निग्रहे=तुम्हें (बलपूर्वक) पकड़ने में, मम=मेरा, प्रयत्नः=प्रयास, न=नहीं है ।। २२ ।।

अर्थ-विट— हे वसन्तसेने ! पक्षिराज गरुड के [द्वारा पकड़ लिये जाने के] भय से भयाकुल नागिन के समान (तुम) (अपने) पैरों से मेरे पैरों (के चिह्नों) का अतिक्रमण करती हुई अर्थात् उन्हें लाँघकर उनके आगे क्यों भागी जा रही हो ? वेग से दौड़ा हुआ मैं क्या पवन को नहीं रोक सकता हूँ ? (अर्थात् अत्यन्त तीव्रगामी पवन को भी रोक=पकड़ सकता हूँ तो तुम्हारी बात ही क्या है,) परन्तु हे सुन्दर अवयवों वाली ! तुम्हें (बलपूर्वक) पकड़ने के लिये मेरा प्रयास नहीं है । (अतः रुक जाओ ।) ।। २२ ।।

टीका—पतगेन्द्रभयात्=पतगानाम्=पक्षिणाम् इन्द्रः=राजा गरुडः तस्मात् भयात्=भीतेः, अभिभूता=व्याकुला, व्याली=सर्पिणी, इव=तुल्या, (त्वम्,) पदैः= स्वपदप्रक्षेपैः, मम=विटस्य, पदानि=चरणविक्षेपान्, विशेषयन्ती=अतिशयाना, अतिक्रामन्ती, किम्=किमर्थम्, यासि=पलायसे, एवञ्च वसन्तसेनायाः शीघ्रगामित्वं वक्रत्वञ्च सूच्यते, वेगात्=जवात् यद्वा 'वेगमाश्रित्य' इति ल्यब्लोपे पञ्चमी, प्रविसृतः=प्रस्थितः, अहम्=विटः, पवनम्=वायुम्, अपीति शेषः, निरुन्ध्याम्=रोद्धुं शक्नुयाम्, न=नैव, रुन्ध्याम् = रोद्धुं शक्नुयाम्, इत्यपि, पाठः अत्र काक्वा, अवश्यमेव रुन्ध्यामिति भावः, तु=किन्तु, हे वरगात्रि ! शोभनावयवे !, त्वन्निग्रहे= बलपूर्वकं त्वद्ग्रहणे, मे=मम, न=नैव, प्रयत्नः=प्रयासः अपितु अनुनयेनैवेति भावः । अत्रोपमालङ्कारः । वसन्ततिलका वृत्तम् ।। २२ ।।

विमर्श—जैसे गरुड़ द्वारा पकड़े जाने के भय से सर्पिणी शीघ्र और टेढ़े मेढ़े चलती है उसी प्रकार शकार आदि द्वारा पकड़ लिये जाने के भय से वसन्तसेना भी जल्दी-जल्दी और टेढ़े-मेढ़े भाग रही है । निरुन्ध्याम्-विट का आशय यह है कि वेग से जब दौड़ूँगा तो पवन को भी पकड़ कर रोक लूँगा, वसन्तसेने ! तुम्हारी क्या बात है । 'न रुन्ध्याम्' यह पाठ भी मिलता है । इसमें काकु से अर्थ करना पड़ता है—'नहीं पकड़ सकता हूँ ?' अर्थात् अवश्य पकड़ सकता हूँ । किन्तु बलात् पकड़ने की इच्छा नहीं है, अनुनय से ही वश में करना चाहता हूँ । यहाँ उपमा अलङ्कार और वसन्ततिलका छन्द है ।। २२ ।।

एशा णाणक-मूशि-काम-काशिका, मच्छाशिका लाशिका,
णीण्णाशा, कुलणाशिका, अवशिका, कामस्स मञ्जूशिका।
एशा वेशबहू, शुवेशणिअला वेशङ्गणा वेशिआ,
एशे शे दश णामके मइ कले, अज्जावि मं णेच्छदि ॥ २३ ॥

अन्वयः—एषा-(१) नाणकमोषिकाम-कशिका, (२) मत्स्याशिका, (३) लासिका, (४) निर्नासा (निर्नाशा), (५) कुलनाशिका, (६) अवशिका, (७) कामस्य मञ्जूषिका, एषा (८) वेशवधूः, (९) सुवेशनिलया, (१०) वेशाङ्गना, (११) वेशिका– एतानि, दश, नामानि, अस्याः, मया, कृतानि, (परन्तु इयम्) अद्य, अपि, माम्, न, इच्छति ॥ २३ ॥

शब्दार्थ—एषा=यह वसन्तसेना, नाणकमोषि-काम-कशिका = नाणक= शिवांक-चिह्नित सिक्कों एवं रत्नादि के चुराने वालों की कामाग्नि को शान्त करने वाली, दूर करने वाली, मत्स्याशिका=मछली खाने वाली, लासिका= नृत्य करने वाली, निर्नासा=नकटी, बेइज्जत, कुलनाशिका=वंश का विनाश करने वाली, अवशिका= (किसी के भी) वश में न रहने वाली, कामस्य=काम (क्रीडा) की, मञ्जूषिका = पिटारी, (है) एषा = यह वसन्तसेना, वेशवधूः=वेश्यालय की वधू, सुवेशनिलया=सुन्दर भवन में रहनेवाली या सुन्दर वस्त्रों तथा घर वाली, वेशाङ्गना=वेश्यालय की स्त्री [अत्यन्त सुन्दरी,] वेशिका=वेश=वेश्यालय है जिसके पास अर्थात् वेश्यालयवाली, एतानि=ये, दश= दस नामानि=नाम, अस्याः=इस वसन्तसेना के, मया=मैंने, कृतानि=रक्खे हैं [तथापि यह]अद्य,=इस समय=आज, अपि=भी, माम्=मुझ [शकार] को, न=नहीं, इच्छति=चाहती है ॥ २३ ॥

अर्थ—शकार—महानुभाव ! महानुभाव !

यह वसन्तसेना उत्तम सिक्के एवं रत्नादि को चुराने वालों के कामभाव को (रत्यादि के द्वारा) शान्त करने वाली, मछली खाने वाली, नाचनेवाली, नाकरहित (=बेइज्जत), कुल का नाश करने वाली, (किसी के भी) वश में न रहने वाली, काम की पेटी, वेश्यालय की वधू, सुन्दर भूषण एवं भवनवाली (अथवा सुन्दर प्रासाद में रहने वाली), वेश्यालय की कामिनी, वेश्यालयवाली (=वेश्या)—ये दश (वास्तव में ग्यारह) नाम इसके मैंने रखे है तो भी यह आज भी मुझे नहीं चाह रही है ॥ २३ ॥

टीका—गद्ये-भाव ! भाव ! इदमादरसूचकं सम्बोधनपदम् । श्लोके-एषा= दृश्यमाना वसन्तसेना, नाणकमोषि-कामकशिका=नाणकानि = शिवादिचिह्ना- ङ्कितानि टङ्कादि-वित्तानि, बहुमूल्यनिष्कादिकानि वा मुष्णन्ति=चोरयन्ति– इति नाणकमोषिणः, तेषाम्—कामस्य = वासनायाः, कशिका=कशा, कामभावस्य उद्दीपिका, रत्यादिना शमयित्री वा, अतएवोक्तम्—

(एषा नाणक-मोषि-काम-कशिका, मत्स्याशिका, लासिका,
निर्नासा, कुलनाशिका, अवशिका, कामस्य मञ्जूषिका ।
एषा वेशवधूः, सुवेशनिलया, वेशाङ्गना, वेशिका,
एतान्यस्या दश नामकानि मया कृतानि, अद्यापि मां नेच्छति ।। २३ ।।

तस्कराः पण्डका मूर्खाः सुख-प्राप्तधनास्तथा ।
लिङ्गिनश्छिन्नकामाद्या आसां प्रायेण वल्लभाः ।।

मत्स्याशिका=मीनभक्षिका, लासिका=लास्यकर्त्री नर्तकीति भावः, निर्नासा=अल्पनासा, निम्ननासेति वा, अपमानितेति भावः, निर्नाशा–इति पाठे निः=निश्चयेन नाशः=पतनम्, नरकादिगमनम् वा यस्याः सा, निम्नाशा–इति पाठे तु निम्ना=तुच्छा, आशा=अभिलाषः यस्याः सा–तुच्छविषयिणीच्छावतीत्यर्थः, कुलनाशिका=कुलस्य=वंशस्य, नाशिका=विनाशिका, अत्र नाशः स्वस्याः कुलस्य स्वासक्तपुरुषाणाञ्च कुलस्येति बोध्यम् , उभयकुलविनाशिकेति भावः, अवशिका=प्रचुरदानादिप्रदानेनापि कस्यापि वशतामनापन्ना, कामस्य=मदनस्य, रत्यादेरित्यर्थः, मञ्जूषिका = पेटिका, मञ्जूषा, अस्तीति शेषः, एषा=वसन्तसेना, वेशवधूः=वेशस्य=वेश्यालयस्य वधूः=स्त्री, सुवेशनिलया=शोभनानां वेशानां=भूषणादीनां वस्त्राणाञ्च, निलयः = आश्रयभूता, तदलंकृतेति भावः, यद्वा–सुवेशः = सुन्दरः वेश्यालयः, आश्रयः = भवनं यस्याः सा, वेशाङ्गना = वेशस्य = वेश्यालयस्य अङ्गना=उत्तमा नारी, नारींबहुत्वेऽपि अस्यामेवोत्तमत्त्वमिति भावः, वेशिका=वेशः=वेश्यालयः अस्ति आश्रयत्वेन यस्याः सा, दश=दशसंख्याकानि, नामकानि=प्रिय-नामानि, मया=शकारेण, कृतानि=विहितानि, तथापि अद्य=अस्मिन् क्षणे अपि माम्=शकारम्, न=नैव, इच्छति=कामयते । अष्टानां दशानां नाम्नामुच्चारणे देवता अपि प्रसन्ना भवन्ति किन्तु इयं नैव प्रसीदतीति कष्टकरम् । अत्रेदं बोध्यम्–गणनायां एकादश-नामानि सिध्यन्ति, श्लोके च दशैवोल्लिखितानीति विरोधः, किञ्च वेश-वधूः, सु-वेश-निलया, वेशाङ्गना, वेशिका–इत्यत्र चतुर्धा वेशशब्दस्य प्रयोगोऽसमीचीनः इति शंकायामुच्यते यत् शकारस्य वचनमिदमतो नात्र तर्कः औचित्यं वा विचारणीयम् । सार्थकविशेषणतया परिकरालंकारः, शार्दूलविक्रीडितं वृत्तम् ।। २३ ।।

विमर्श—(१) निर्नासा–इसमें 'निर्' यह अल्पार्थक अव्यय है—अल्प नाक वाली, नीचीनाकवाली, नाक का ऊँचा होना प्रतिष्ठा का और नीचा होना अप्रतिष्ठा का सूचक है। (२) निर्नाशा–यह भी पाठ है–निः=निश्चयेन नाशः=पतनम्=नरकादिगमनम् यस्याः सा–वेश्या की नरकयातना पुराणादि में प्रतिपादित है। (३) निम्नाशा—निम्ना=निकृष्टा, आशा=अभिलाषः यस्याः सा–जो तुच्छ से तुच्छ वस्तु की इच्छा कर सकती है।

विटः—प्रसरसि भयविक्लवा किमर्थं प्रचलितकुण्डलघृष्टगण्डपार्श्वा ।
विटजननखघट्टितेव वीणा जलधर-गर्जित-भीतसारसीव ॥२४॥

यहाँ गणना करने पर वास्तव में ग्यारह नाम होते हैं परन्तु शकार के वचन असंगत होते हैं—यह मान कर 'दश' समझना चाहिये । इसी प्रकार एषा, एषा—यह दो बार है और 'वेशवधूः, सु-वेश-निलया, वेशाङ्गना वेशिका—इनमें 'वेश' शब्द का चार बार प्रयोग भी उचित नहीं है किन्तु शकार की उक्ति समझकर यहाँ भी दोष नहीं मानना चाहिये । वेशिका—वेशः=वेश्यालयः अस्ति अस्याः इस अर्थ में "अत इनिठनौ" [पा. सू, ५।२।११५] से मत्त्वर्थीय ठन् = इक प्रत्यय हुआ है । दश नामकानि—यहाँ प्रिय अर्थ में 'क' प्रत्यय है, दश प्यारे नाम रखे हैं । गणेश आदि देवता तक बारह नामों का उच्चारण करने पर प्रसन्न होकर इच्छा पूरी कर देते हैं, परन्तु यह वसन्तसेना वेश्या होकर भी दश नाम उच्चारण किये जाने पर भी मेरे ऊपर प्रसन्न नहीं हो रही है । यह आश्चर्य की बात है । शकार का यह अभिप्राय है । इसमें शार्दूलविक्रीडित छन्द है—सूर्याश्वैर्मसजस्ततः सगुरवः शार्दूलविक्रीडितम् ।। २३ ।।

अन्वयः—प्रचलित-कुण्डल-घृष्टगण्डपार्श्वा, विट-जन-नखघट्टिता, वीणा, इव, जलधर-गर्जित-भीत-सारसी, इव, भयविक्लवा, (सती), किमर्थम्, प्रसरसि ।।२४।।

शब्दार्थ—प्रचलित-कुण्डल-घृष्टगण्डपार्श्वा=हिलते हुये कुण्डलों से रगड़े गये (चिह्नित) कपोल भाग वाली, (इसीलिये) विट-जन-नख-घट्टिता=विट जनों के नाखूनों से (बजाने) से घिसी हुई, वीणा इव=वीणा के समान, जलधर-गर्जित-भीत-सारसी इव=मेघों की गर्जना से डरी हुई सारसी के समान, भयविक्लवा=भय से व्याकुल (होती हुई तुम), किमर्थम्=किसलिये, प्रसरसि=भागी जा रही हो ? ।। २४ ।।

अर्थ—हिलते हुये कुण्डलों के कारण रगड़ खाये हुये कपोलस्थल वाली, (अतएव) विटजनों के नाखूनों के द्वारा (बजायी जाने के कारण) घिसी हुई (चिह्नविशेष से युक्त) वीणा के समान, (तथा) मेघों की गर्जना से डरी हुई सारसी के समान भयातुर (होती हुई) तुम क्यों भागी जा रही हो ? ।। २४ ।।

टीका—प्रचलितकुण्डलघृष्ट-गण्डपार्श्वा = प्रचलिताभ्याम् = चञ्चलाभ्याम्, कुण्डलाभ्याम् = कर्णाभूषण-विशेषाभ्याम्, घृष्टौ=घर्षणयुक्तौ गण्डयोः = कपोलयोः पार्श्वौ=कर्णसमीपप्रदेशौ यस्याः सा तादृशी, अत एव, विटजन-नखघट्टिता—विटजनानाम्=विलासप्रियजनानाम्=नखैः=अङ्गुल्यग्रैः घट्टिता=प्राप्तघर्षा, सन्ताडिता वा, वीणा इव=वाद्यविशेष इव, जलधरगर्जित-भीत-सारसी इव = जलधरस्य=

शकारः—झाणज्झणन्तबहुभूषणशद्दमिश्शं
किं दोवदी विअ पलाअशि लामभीदा ।
एशे हलामि शहशत्ति जधा हणूमे
विश्शावशुश्श बहिणिं विअ तं शुभद्दं ॥ २५ ॥

(झणज्झणायमानबहुभूषणशब्दमिश्रं किं द्रौपदीव पलायसे रामभीता ।
एष हरामि सहसेति यथा हनूमान् विश्वावसोर्भगिनीमिव तां सुभद्राम् ॥ २५ ॥)

मेघस्य, गर्जितेन=गर्जनेन, भीता=भयाक्रान्ता, चासौ सारसी=सारसपक्षिणः प्रेयसी इव, भयविक्लवा=भयेन=भीत्या, विक्लवा = व्याकुला, सती, किम् = किमर्थम्, प्रसरसि=प्रपलायसे । अत्र मनोहरत्वात् शब्दवत्त्वाद् वा वीणातुल्यत्वमुक्तमिति पृथ्वीधरः । मालोपमा अलङ्कारः, तल्लक्षणन्तु—

मालोपमा यदेकस्योपमानं बहु दृश्यते । पुष्पिताग्रा वृत्तम्, तल्लक्षणम्—

आयुजि न-युगरेफतो यकारो युजि तु न-जौ-ज-र-लगाश्च पुष्पिताग्रा ॥२४॥

विमर्श—प्रस्तुत श्लोक में वसन्तसेना की उपमा वीणा और सारसी से दी गई है । जैसे मनोहर और ध्वनि करने वाली वीणा बजाने से घर्षित हो जाती है वैसे ही कुण्डलों की रगड़ से वसन्तसेना के कपोलों के ऊपर कान के पास घर्षणचिह्न बन रहे हैं । मेघ के तुल्य इन शकारादि के शब्दों को सुनकर सारसी के तुल्य वसन्तसेना भयभीत होकर भाग रही है । ये दो उपमान होने से मालोपमा अलंकार है । और पुष्पिताग्रा छन्द है ॥ २४ ॥

अन्वयः—रामभीता, द्रौपदी, इव, (त्वम्) झणज्झणायमानबहुभूषणशब्द-मिश्रम्, किम्, पलायसे, यथा, हनूमान्, विश्वावसोः, ताम्, भगिनीम्, सुभद्राम्, इव, (त्वाम्), एषः (अहम्), इति, सहसा, हरामि ॥ २५ ॥

शब्दार्थः—रामभीता=रामचन्द्र से डरी हुई, द्रौपदी इव=पाण्डवों की पत्नी द्रौपदी के समान (त्वम्=तुम), झणज्झणायमानबहुभूषणशब्दमिश्रम्=झन, झन करने वाले बहुत से आभूषणों की ध्वनि से मिले हुये, किम्=क्यों, पलायसे=भाग रही हो ? (अर्थात् झन झन करते हुये आभूषणों की ध्वनि को अपने साथ लेती हुयी ध्वनितुल्य गति से क्यों भागी जा रही हो ?), यथा=जिस प्रकार, हनूमान्=पवनपुत्र द्वारा, विश्वावसोः = विश्वावसु नामक गन्धर्व की, ताम्=उस प्रसिद्ध, भगिनीम् इव=बहिन के समान, (त्वाम्=तुमको), एषः=यह (अहम्=मैं शकार) इति=इस प्रकार (बलपूर्वक) हरामि=हरण करके ले जा रहा हूँ ॥ २५ ॥

अर्थ—शकार—राम से डरी हुई द्रौपदी के समान (तुम) झन झन करते

हुये आभूषणों की ध्वनि को मिलाती हुई क्यों भागी जा रही हो ? जिस प्रकार हनुमान ने विश्वावसुनामक गन्धर्व की उस बहिन सुभद्रा का हरण किया था उसी प्रकार यह मैं (शकार) तुम्हारा (बलात्) हरण कर रहा हूँ ।। २५ ।।

टीका—रामभीता=रामचन्द्रभीता, द्रौपदी इव = द्रुपदपुत्रीतुल्या, (त्वम्=वसन्तसेना) झणज्झणायमानबहुभूषणशब्दमिश्रम्=झणत् झणत्-इति अव्यक्तशब्दं कुर्वताम् = झणज्झणायमानाम्, बहूनां भूषणानाम् = अलङ्काराणाम्, शब्देन=अव्यक्तध्वनिना, मिश्रम् = मिश्रितं यथा स्यात् तथेति क्रियाविशेषणम्, किम्=किमर्थम्, पलायसे=प्रधावसि, अत्र केचित्—झणज्झणमिति बहुभूषणशब्दमिश्रम्=इत्यन्वयं कृत्वा व्याचख्युस्तन्न, प्राकृते एकस्यैव पदस्य प्रयोगात्, मध्ये 'इति' शब्दप्रश्लेषस्यायुक्तत्वाच्चेति बोध्यम् । यथा=येन प्रकारेण, हनूमान्=पवनपुत्रः, विश्वावसोः=एतन्नामकस्य प्रसिद्धगन्धर्वस्य, ताम्=विश्रुताम्, भगिनीम् इव=स्वसारम् इव, (त्वाम्=वसन्तसेनाम्) एषः=उपस्थितः (अहम्=शकारः), इति=अनेन रूपेण, सहसा=शीघ्रमेव बलपूर्वकम्; हरामि=अपनयामि, अत्र यथा, इव—शब्दद्वयं सादृश्यार्थं प्रयुक्तमिति पुनरुक्तम्, एकेनैव निर्वाहात् । द्रौपदी दुर्योधनभीता, न रामभीता, सुभद्रा श्रीकृष्णस्य भगिनी, न विश्वावसोः । सुभद्रा अर्जुनेनापहारिता न हनूमता — एताः असङ्गतयः शकारवचनत्वान्न दोषप्रदाः, विदूषकस्येव शकारस्यापि हास-कारित्वात् । प्रसिद्धिविरुद्धवर्णनात् हतोपमालङ्कारः । वसन्ततिलका वृत्तम् ॥२५॥

विमर्श—झाणज्झणत्-बहुभूषणशद्दमिश्शम् - इस प्राकृत की संस्कृत छाया अलग-२ प्राप्त होती है—(१) झाणत् झणत् बहुभूषणशब्दमिश्रम् (२) झणज्झणमिति भूषणशब्दमिश्रम्, (३) झणज्झणायमान-बहुभूषणशब्दमिश्रम् । प्रथम एवं तृतीय पाठ वाले विद्वान् इसे क्रियाविशेषण मानते हैं । द्वितीय पाठ वाले विद्वान् 'अलग-अलग पद मानकर—बहुभूषणशब्दमिश्रम् झणज्झणम् इति कुर्वती—ऐसी योजना करते हैं । परन्तु दो पृथक-पृथक् पदों की कल्पना करना और 'कुर्वती' आदि क्रिया पद का आक्षेप करना कहाँ तक उचित है, यह विचारणीय है । इस श्लोक में 'यथा' और 'इव' दो समानार्थक शब्द होने से पदा-धिक्य दोष है । इसी प्रकार जो उपमायें हैं वे शास्त्र-पुराणादि-विरुद्ध हैं अतः हतोपमा अलंकार है (१) द्रौपदी राम से नहीं, दुर्योधन से भयभीत हुई थी, (२) सुभद्रा विश्वावसु की नहीं, श्रीकृष्ण की बहिन थी, (२) इसका हरण हनुमान ने नहीं, अर्जुन ने किया था । शकार का स्थान यहाँ विदूषक के समान ही प्रतीत होता है । अतः ये असंगतियाँ सामाजिकों के परिहास के लिये की गई है । इस प्रकार दोषकोटि में नहीं आती हैं । इसमें वसन्ततिलका छन्द है ।। २५ ।।

चेटः—लामेहि अ लाअवल्लहं तो खाहिशि मच्छमंशकं ।
एदे हिं मच्छमंशकेहिं शुणआ मलअं ण शेवन्ति ॥ २६ ॥
(रमय च राजवल्लभं ततः खादिष्यसि मत्स्यमांसकम् ।
एताभ्यां मत्स्यमांसाभ्यां श्वानो मृतकं न सेवन्ते ॥ २६ ॥)

अन्वयः—(हे वसन्तसेने !) राजवल्लभम्, रमय, ततः, च, मत्स्यमांसकम्, खादिष्यसि, एताभ्याम्, मत्स्यमांसाभ्याम्, (सन्तुष्टाः) श्वानः, मृतकम्, न सेवन्ते ॥ २६ ॥

शब्दार्थः—(हे वसन्तसेने), राजवल्लभम् = राजा के प्रिय (शाले) के साथ, रमय=रमण (रतिक्रीडा) करो, च = और, ततः = इससे, मत्स्यमांसम्= मछली तथा मांस, खादिष्यसि=खाओगी, एताभ्याम्=इन (शकार-गृहस्थित), मत्स्यमांसाभ्याम् = मछली और मांस से, (सन्तुष्टाः=तृप्त रहने वाले), श्वानः=कुत्ते, मृतकम्=मृत (प्राणी के मांस) को, न=नहीं, सेवन्ते=खाते हैं ॥२६॥

अर्थ—चेट—(हे वसन्तसेने !) राजा के प्रियशाले (शकार) के साथ रमण करो और इसके कारण मछली तथा मांस खाओगी । इसके घर में विद्यमान मांस और मछलियों (को खाने) से (पूर्ण तृप्त) कुत्ते मरे हुये (प्राणी के मांस) को नहीं खाते हैं ॥ २६ ॥

टीका—(हे वसन्तसेने !) राजवल्लभम्=राज्ञः प्रियसम्बन्धिनं श्यालकं शकारमित्यर्थः, रमय = रमयस्व, रतिक्रीडया सन्तोषयेति भावः, णिजन्तादुभय-पदस्य विधानादात्मनेपदमपीति बोध्यम्, ततः = तस्मात् कारणात्, च = तथा, मत्स्यमांसकम्=मीनामिषम्, समाहारद्वन्द्वः, खादिष्यसि = भक्षयिष्यसि; एताभ्याम्= शकारस्य गृहे स्थिताभ्याम्, मत्स्यमांसाभ्याम्=मीनामिषाभ्याम्, सन्तुष्टाः, श्वानः= कुक्कुराः, मृतकम्=शवादिकम्, न=नैव, सेवन्ते=खादन्ति, स्पृशन्तीत्यर्थः । प्रतिपादं चतुर्दशमात्रात्वात् मात्रासमकं छन्दः । उत्तरार्द्धवाक्यार्थेन पूर्वार्द्धवाक्यार्थस्य साधनात् काव्यलिङ्गमलङ्कारः ॥ २६ ॥

विमर्श—यहाँ चेट अपने निम्न स्तर के अनुसार शकार की सम्पन्नता मांस एवं मच्छलियों से सिद्ध करता है । पृथ्वीधर ने इसमें काकु सिद्ध की है—"मृतकं न सेवन्ते । नकारः शिरश्चालने । न सेवन्ते इति न, अपितु सेवन्त एवेत्यर्थः ।" इस काकु का औचित्य चिन्तनीय है । मत्स्यमांसकम्—यहाँ समाहारद्वन्द्व है और स्वार्थ में 'क' प्रत्यय है । इसमें सामान्यतया आर्या छन्द है । परन्तु पृथ्वीधर ने मात्रासमक छन्द माना है । इसमें प्रत्येक पाद में १४ मात्रायें होनी चाहिये परन्तु द्वितीय पाद में १५ है अतः 'तो' इसे लघु मानना चाहिये—'तो' इत्योकारो लघु-श्छन्दानुरोधात्, इत्याहुः ।'

विटः—भवति वसन्तसेने !

किं त्वं कटीतटनिवेशितमुद्वहन्ती ताराविचित्ररुचिरं रशनाकलापम् ।
वक्त्रेण निर्मथितचूर्णमनःशिलेन त्रस्ताऽद्भूतं नगरदैवतवत् प्रयासि ॥२७॥

एओकारो हलन्तस्थौ शुद्धौ वाप्यपदान्वितौ ।
दीर्घात् परौ लघू स्यातां छन्दोविचितभाषया ॥

पूर्वार्द्ध वाक्य द्वारा जो अर्थ कहा गया है उसकी सिद्धि उत्तरार्द्ध वाक्य से की जा रही है अतः काव्यलिङ्ग अलङ्कार है । ॥ २६ ॥

अन्वयः—कटी-तट-निवेशितम्, तारा-विचित्ररुचिरम्, रशना-कलापम्, उद्-वहन्ती, निर्मथितचूर्ण-मनःशिलेन, वक्त्रेण, (उपलक्षिता सती) त्रस्ता, त्वम्, नगरदैवतवत्, अद्भुतम्, किम्, प्रयासि ॥ २७ ॥

शब्दार्थ—कटीतटनिवेशितम्=कमर में बांधी हुई, ताराविचित्ररुचिरम्=तारों के तुल्य अथवा मोंतियों से अद्भुत एवं मनोहर, रशनाकलापम्=करधनी को, उद्वहन्ती=धारण करती हुई, निर्मथित-चूर्णमनः शिलेन=चूर्ण किये गये मनःशिल (लालवर्ण के पत्थर-विशेष) को तिरस्कृत कर देने वाले (अर्थात् उससे भी अधिक लाल), वक्त्रेण=मुख से, (उपलक्षिता सती=उपलक्षित होती हुई), त्रस्ता=भयभीत, (त्वम्=तुम) नगरदैवतवत्=नगर–रक्षक देवता के समान अद्भुतम्=आश्चर्यजनक रूप से, किम्=क्यों, प्रयासि=भागी जा रही हो ॥ २७ ॥

अर्थ विट—आदरणीय वसन्तसेने !

कमर में बन्धी हुई, ताराओं के समान अथवा मोतियों से अद्भुत और मनोहर करधनी को धारण करती हुई, (अपने मुख की लालिमा द्वारा) चूर्ण किये गये मेनसिल की लालिमा को तिरस्कृत करने वाले मुख से युक्त (अर्थात् क्रोध के कारण अत्यन्त लाल मुख वाली अथवा मैनसिल को लगाने से लाल=गुलाबी रंग के मुखवाली), डरी हुई तुम नगररक्षक देवता के समान, आश्चर्यजनक रूप से क्यों भागी जा रही हो ॥ २७ ॥

टीका—कटीतटनिवेशितम्=श्रोणिप्रदेशे उपनिबद्धम्, ताराविचित्र-रुचिरम्=ताराभिः=तारागणैः इव विचित्रं मुक्ताभिर्वा विचित्रम्, मनोहरञ्च, रशनाकलापम्=मेखलाख्यभूषण-विशेषम्, उद्वहन्ती=धारयन्ती, निर्मथित-चूर्ण-मनः शिलेन=निर्मथिता=तिरस्कृता चूर्ण-मनः शिला येन तादृशेन, यद्वा निर्मथिता चूर्णशिला यत्र तेन, यद्वा निर्मथित-चूर्णमनः शिलातुल्येन, वक्त्रेण=मुखेन, (उपलक्षिता सती) त्रस्ता=भयभीता, भयवशात् मुखस्य विवर्णता सञ्जातेति भावः, त्वम् = वसन्तसेना, नगर-दैवतवत्=नगररक्षक-देवता-तुल्यम् अद्भुतम्=आश्चर्यकरम्, किम्=किमर्थम्, प्रयासि=प्रधावसि । यत्र नगरे जायमानं भाविनं वानिष्टं विलोक्य नगर-रक्षकदेवता

शकारः—अह्मेहि चण्डं अहिशालिअन्ती वण्णे शिआली विअ कुक्कुलेहिं।
पलाशि शिग्धं तुलिदं शवेगं शवेण्टणं मे हलअं हलन्ती ॥२८॥
(अस्माभिश्चण्डमभिसार्यमाणा वने शृगालीव कुक्कुरैः ।
पलायसे शीघ्रं त्वरितं सवेगं सवृन्तं मे हृदयं हरन्ती ॥ २८ ॥

व्यग्रा सती धावित्वा रक्षां करोति तथैव वसन्तसेना त्वमपि धावित्वाऽत्मानं व्यर्थमेव रक्षसि । अत्र वतिप्रत्ययाश्रिता तद्धितोपमा, वसन्तसेनायां नगरदेवतात्वोत्प्रेक्षणाद् उत्प्रेक्षेति बोध्यम् । वसन्ततिलकं वृत्तम् ॥२७॥

विमर्श—ताराविचित्ररुचिरम्=तारागणों के समान आश्चर्यजनकरूप से चमकनेवाली, अथवा मुक्ता आदि लगी होने से अद्भुत और मनोहर । निर्मथित-चूर्णमनः शिलेन—यह 'वक्त्रेण' का विशेषण है । इसमें निर्मथित शब्द के अनेक अर्थ करके तात्पर्य निकाले जाते हैं—(१) निर्मथित=तिरस्कृत कर दिया है चूर्ण मनः शिला को जिसने, (२) निर्मथित=किसी अन्य पदार्थ में मथी गई=घोट कर मिलाई गई चूर्णीभूत मनः शिला के समान, (३) निर्मथित=लेप की गई है चूर्णमनः-शिला जिसमें, वैसे । यहाँ वसन्तसेना के क्रोधातिशय और सौन्दर्यातिशय का वर्णन है । अतः इन अर्थों की संगति सम्भव है । क्रोध मानने पर लाल और सौन्दर्य मानने पर गुलाबी मुख— यह योजना होती है । त्रस्ताद्भुतम्—इसे एक पद मानकर क्रियाविशेषण लिखा गया है। परन्तु त्रस्ता और अद्भुतम् ये दो पद मानकर अर्थयोजना अधिक संगत है । नगरदैवतवत्— देव एव देवता, स्वार्थ में तल् प्रत्यय, देवता एव दैवतम् यहाँ 'प्रज्ञादिभ्यश्च' [सूत्र] से स्वार्थिक अण् प्रत्यय होता है । जिस प्रकार नगर पर आयी हुई विपत्ति के समय उसकी रक्षा के लिये नगररक्षक देवता दौड़ने लगती है उसी प्रकार वसन्त-सेना दौड़ रही है । यहाँ वति प्रत्यय मानकर उपमा है । यदि वसन्तसेना में देवतात्व की उत्प्रेक्षा करें तो उत्प्रेक्षा अलंकार भी है । वसन्ततिलका छन्द है ॥ २७ ॥

अन्वयः—वने, कुक्कुरैः, (अभिसार्यमाणा) शृगाली, इव, (अत्र), अस्माभिः, चण्डम्, अभिसार्यमाणा, (त्वम्), मम, हृदयम्, सवृन्तम्, हरन्ती, शीघ्रम्, त्वरितम्, सवेगम्, पलायसे ॥ २८ ॥

शब्दार्थ—वने=जंगल में, कुक्कुरैः=कुत्तों द्वारा, (अभिसार्यमाणा=पीछा की जाती हुई), शृगाली इव=शृगाली के समान, (अत्र= यहाँ), अस्माभिः=हम लोगों द्वारा, चण्डम्=भीषणरूप से, अभिसार्यमाणा=पीछा की जाती हुई, (त्वम्=तुम्), मम=मेरे (शकार के), हृदयम्=हृदय को, सवृन्तम्=मूल के सहित, हरन्ती=ले जाती हुई, शीघ्रम्, त्वरितम्, सवेगं=बहुत शीघ्रतापूर्वक, पलायसे=भाग रही हो ॥ २८ ॥

वसन्त०—पल्लवआ ! पल्लवआ ! परहुदिए ! परहुदिए ! (पल्लवक ! पल्लवक ! परभृतिके ! परभृतिके !)

शकारः—(सभयम्] भावे ! भावे ! मणुश्शे ! मणुश्शे ! [भाव ! भाव ! मनुष्या मनुष्याः]

विटः—न भेतव्यं न भेतव्यम् ।

वसन्त०—माहविए ! माहविए ! । (माधविके ! माधविके !)

विटः—(सहासम् !) मुर्ख ! परिजनोऽन्विष्यते ।

शकारः—भावे ? भावे ? इत्थिआं अण्णेशदि ? । (भाव ! भाव ! स्त्रियमन्विष्यति ?)

अर्थ—**शकार**—वन में कुत्तों द्वारा पीछा की जाती हुई शृगाली (सियारिन) के समान (यहाँ) हम लोगों द्वारा बहुत पीछा की जाती हुई तुम मेरे हृदय को मूल के साथ साथ ले जाती हुई बहुत जल्दी-२ वेगपूर्वक भाग रही हो ॥ २८ ॥

टीका—वने=अरण्ये, कुक्कुरैः=श्वभिः, (अभिसार्यमाणा=अनुगम्यमाना), शृगाली=क्रोष्ट्री, शिवा, इव=तुल्या, (अत्र=अस्मिन् स्थाने) अस्माभिः=मया मम जनैश्च, अभिसार्यमाणा=अनुगम्यमाना, (त्वम्), मम=केवलस्य शकारस्येति बोध-नार्थमेकवचनप्रयोगः इति ज्ञेयम्, हृदयम्=चित्तम्, सवृन्तम्=वृन्तेन सहितम्, हरन्ती=अपनयन्ती. शीघ्रम्, त्वरितम्, सवेगम्=अतीव शीघ्रतया, पलायसे=प्रधावसि । अत्र शकार-वचनत्वात् पुनरुक्तिदोषो न विचारणीयः । अस्माभिरित्यत्र बहुवचनेन विट-चेट-शकारादीनां बहूनां बोधः, सर्वेऽपि वसन्तसेनामनुसरन्ति किन्तु 'मम' इत्येक-वचनेन केवलस्य शकारस्य हृदयहरणमिति बोध्यते ॥ २८ ॥

विमर्श—यहाँ वसन्तसेना की उपमा शृगाली से और अपने लोगों की उपमा कुत्तों से देना शकार के अनुरूप है । शीघ्रम्, त्वरितम्, सवेगम्, यह पुनरुक्ति भी उसी की है । यहाँ 'अस्माभिः' यह बहुवचन विट चेट तथा शकार इन तीनों के लिये प्रयुक्त करता है परन्तु 'मम हृदयम्' यहाँ वह केवल अपने हृदय-हरण को सूचित करने के लिए एकवचन का प्रयोग करता है । इसमें उपमा अलंकार और उपजाति छन्द है । इन्द्रवज्रा और उपेन्द्रवज्रा दोनों के लक्षण मिला दिये जाते हैं तो उपजाति नामक छन्द माना जाता है ॥ २८ ॥

अर्थ—**वसन्तसेना**—पल्लवक ! पल्लवक ! परभृतिके ! परभृतिके !

शकार—(भय के साथ) भाव भाव ! पुरुष, पुरुष ।

विट— मत डरो, मत डरो ।

वसन्तसेना—माधविके ! माधविके !

विट—(हँसते हुये) मूर्ख ! नौकर खोजा जा रहा है ।

शकार—भाव ! भाव ! क्या स्त्री को खोज रही है ?

विटः—अथ किम् ।

शकारः—इत्थिआणं शदं मालेमि । शूले हगे ? (स्त्रीणां शतं मारयामि, शूरोऽहम् ।)

वसन्त०—[शून्यमवलोक्य ।] हद्धी ? हद्धी ? कथं परिअणो वि परिब्भट्ठो । एत्थ मए अप्पा सअं ज्जेव रक्खिदव्वो । (हा धिक्, हा धिक् । कथं परिजनोऽपि परिभ्रष्टः । अत्र मया आत्मा स्वयमेव रक्षितव्यः)

विटः—अन्विष्यताम्, अन्विष्यताम् ।

शकारः—वशन्तशेणिए ? विलव विलव परहुदिअं वा पल्लवअं वा शव्वं वा वशन्तमाशं । मए अहिशालिअन्तीं तुमं के पलित्ताइश्शदि ? । [वसन्तसेनिके ! विलप विलप परभृतिकां वा, पल्लवकं वा, सर्व वा वसन्तमासम् । मया अभिसार्यमाणां त्वां कः परित्रास्यते ?]

किं भीमशेणे जमदग्गिपुत्ते कुन्तीशुदे वा दशकन्धले वा ।
एशे हगे गेण्हिअ केशहत्थे दुश्शाशणश्शाणुकिदिं कलेमि ॥ २९ ॥

(किं भीमसेनो जमदग्निपुत्रः कुन्तीसुतो वा दशकन्धरो वा ।
एषोऽहं गृहीत्वा केशहस्ते दुःशासनस्यानुकृतिं करोमि ॥ २९ ॥)

विट—और क्या ।

शकार—स्त्रियाँ तो सैकड़ों मार सकता हूँ, मैं शूर हूँ ।

वसन्तसेना—(सूनसान देख कर), ओह ! दुर्भाग्य है, ? दुर्भाग्य है ? क्या सेवक भी छूट गये (खो गये) यहाँ मुझे अपनी रक्षा स्वयं ही करनी है ।

विट—खोजिये, खोजिये !

शकार—वसन्तसेना ! बुलाओ, बुलाओ, परभृतिका को, पल्लवक को, अथवा सम्पूर्ण वसन्तमास को । मेरे द्वारा पीछा की जाती हुई तुम्हें कौन बचाता है ?

अन्वयः—किम्, भीमसेनः, जमदग्निपुत्रः, वा, कुन्तीसुतः, वा, दशकन्धरः, वा, (त्वाम् रक्षिष्यति), केशहस्ते, त्वाम्, गृहीत्वा, एषः, अहम्, दुःशासनस्य, अनुकृतिम्, करोमि ॥ २९ ॥

शब्दार्थ—किम्=क्या, भीमसेनः=भीमसेन, (तुम्हारी रक्षा कर सकता है ? इसी प्रकार सब में जोड़ना चाहिये) या जमदग्निपुत्रः=परशुराम, अथवा कुन्तीपुत्रः=अर्जुन, अथवा दशकन्धरः=रावण (तुम्हारी रक्षा कर सकता है ?) केशहस्ते=केशपुञ्ज में, त्वाम्=तुम्हें, गृहीत्वा=पकड़कर अर्थात् तुम्हारे केशसमुदाय को पकड़ कर, एषः=यह, अहम्=मैं, दुःशासनस्य=दुर्योधन के छोटे भाई दुःशासन का, अनुकृतिम्=अनुकरण, नकल, करोमि=कर रहा हूँ ॥ २९ ॥

णं पेक्ख, णं पेक्ख । [ननु प्रेक्षस्व, ननु प्रेक्षस्व ।]

अशी शुतिक्खे, बलिदे अ मत्थके, कप्पेम शीशं उद मालएम वा ।

अलं तवेदेण पलाइदेण मुमुक्खु जे होदि, ण शे क्खु जीअदि ॥ ३० ॥

(असिः सूतीक्ष्णो बलितश्च मस्तकं कल्पये शीर्षम्, उत मारयामो वा ।

अलं तवैतेन पलायितेन मुमूर्षुर्यो भवति, न स खलु जीवति ॥ ३० ॥)

अर्थ—क्या जमदग्निपुत्र परशुराम, अथवा, भीमसेन अथवा, कुन्तीपुत्र अर्जुनादि अथवा रावण तुम्हारी रक्षा कर सकता है ? केशपाश में तुम्हें पकड़ कर यह मैं दुःशासन का अनुकरण करता हूँ । (अथवा क्या जमदग्नि का पुत्र भीमसेन अथवा कुन्ती का पुत्र रावण तुम्हारी रक्षा कर सकता है ? यह मैं तुम्हारे बालों को पकड़ कर दुःशासन का अनुकरण कर रहा हूँ ।) ॥ २९ ॥

टीका—किम्=इदं प्रश्ने, जमदग्निपुत्रः=जमदग्निनामकमहर्षेः सुतः=परशुरामः, अथवा भीमसेनः, कुन्तीसुतः=कुन्तीपुत्रः कर्णः अर्जुनो वा, दशकन्धरः=दशाननो वा, त्वां मत्तः रक्षितुं शक्नोति ? अत्र पृथ्वीधरः चतुर्णां पार्थक्येन वर्णनं करोति । परन्तु शकारवचनतया अत्र विशेष्यविशेषणभावं स्वीकृत्य (१) जमदग्निपुत्रः भीमसेनः (२) कुन्तीसुतः दशकन्धरः इत्येवोचितं प्रतिभाति । ईदृश-व्याख्यानेनैव दर्शकानां मनोरञ्जनमिति बोध्यम् । केशहस्ते=केशकलापे, त्वाम्=वसन्तसेनाम्, गृहीत्वा=आकृष्य, एषः=तादृशो विद्यमानः अहम्=शकारः, दुःशासनस्य=दुर्योधनानुजस्य, अनुकृतिम्=अनुकरणम्, करोमि=विदधामि । दुःशासनेन यथा द्रौपद्याः केशादीनामपहरणं विहितम् तथैवाद्याहमपि तव करोमीति भावः । अत्र चतुर्णां पार्थक्येन व्याख्याने न काप्यसङ्गतिः । विशेष्यविशेषणभावे तु—भीमसेनो न जमदग्निपुत्रोऽपितु पाण्डोः, दशकन्धरो न कुन्त्याः सुतोऽपितु अन्यस्येत्यसङ्गतिः, सा च शकारवचनतया परिहरणीया । उपमाऽलङ्कारः । इन्द्रवज्रा वृत्तम् ॥ २९ ॥

विमर्श—इस श्लोक में चार स्वतन्त्र व्यक्तियों का वर्णन है अथवा केवल दो का ? इसके उत्तर में पृथ्वीधर ने चार का माना है । परन्तु भीमसेनः, कुन्तीपुत्रः इनमें असंगति विचारणीय है । शकार की भाषणशैली के अनुसार यहाँ (१) जमदग्निपुत्रः भीमसेनः, (२) कुन्तीसुतः दशकन्धरः—यही अधिक संगत प्रतीत होता है । इसी से शकार की अज्ञानता सूचित होती है क्योंकि भीम जमदग्नि के नहीं पाण्डु के पुत्र थे और रावण कुन्ती का पुत्र नहीं था । इसमें एक 'वा' शब्द का आधिक्य है । यहाँ उपमा अलंकार और इन्द्रवज्रा छन्द है ॥ २९ ॥

अन्वयः—(मम), असिः, सुतीक्ष्णः, (अस्ति), तव, मस्तकम्, च वलितम्, (अस्ति), (तव), शीर्षम्, कल्पये, उत, वा, मारयामि, तव, एतेन, पलायितेन, अलम्, यः, मुमूर्षः, भवति, सः, खलु, न, जीवति ॥ २९ ॥

शब्दार्थः—(मम=मेरी=शकार की), असिः=तलवार, सुतीक्ष्णः=बहुत तेज

बसन्त०—अज्ज ! अबला क्खु अहं। (आर्य ? अबला खलु अहम्)।

विटः—अत एव ध्रियसे।

शकारः—अदो ज्जेव ण मालीअशि। (अत एव न मार्यसे।)

धारवाली है, च=और, तव=तुम्हारा, मस्तकम्=मस्तक, वलितम्=झुका हुआ अथवा सुन्दर, (अस्ति=है), (तव=तुम्हारे), शीर्षम्=शिर को, कल्पये=काट डालूँगा, उत वा=अथवा, मारयामि=मार डालूँगा, तव=तुम्हारे, एतेन=इस, पलायितेन=भागने से, अलम्=कोई लाभ नहीं, व्यर्थ है, यः=जो, मुमूर्षुः=मरने वाला, भवति=होता है, सः=वह, न=नहीं, जीवति=जीवित रहता है ॥ २९ ॥

अर्थ—देखो, देखो,

(मेरी) तलवार बहुत तेजधार वाली है, तुम्हारा शिर भी (मेरी ओर) झुका हुआ है, अथवा सुन्दर है; मैं तुम्हारा शिर काट डालूँगा अथवा मार डालूँगा। तुम्हारे इस प्रकार भागने से कोई लाभ नहीं है, व्यर्थ है, जो मरने वाला होता है, वह निश्चित रूप से जीवित नहीं रहता है ॥२९॥

टीका—(मम = शकारस्य), असिः = खड्गः, सुतीक्ष्णः=अतीव निशितः, अस्ति, (तव) मस्तकम् = शिरः, च=तथा, वलितम् = ममाभिमुखमवनतम्, सुन्दरं वा, अस्ति, शीर्षम्=वसन्तसेनायाः शिरः, कल्पये=छिनद्मि, उत वा=अथवा, मारयामि=हन्मि, तव=वसन्तसेनायाः, पलायितेन=धावनेन, अलम्=किमपि साध्यं नास्ति, व्यर्थमिति भावः, 'गम्यमानापि क्रिया कारकविभक्तौ प्रयोजिका' इति नियमात् तृतीयेति बोध्यम्। कथं व्यर्थमत आह—मुमूर्षुः=आसन्नमरणः, यः=जनो, भवति=वर्तते, सः=जनः, न=नैव, खलु=निश्चयेन, जीवति=प्राणधारणं करोति। अत्र काव्यलिङ्गमलङ्कारः। वंशस्थेन्द्रवज्रयोः सम्मेलनादुपजाति वृत्तम् ॥ २९ ॥

विमर्श—वलितम् इसकी व्याख्या में 'सुन्दरम्, लालितम्, ऐसा लिखा गया गया है। प्ररन्तु प्रसङ्गानुसार इसका अर्थ—अवनतम् झुका हुआ होना—अधिक तर्कसंगत है। वल संवरणे—से 'क्त' प्रत्यय का रूप है। क्योंकि झुके शिर को काटना सरल होता है। और भागते समय सिर आगे की ओर झुक जाता है। शिर काटना और मार डालना—समानार्थक हैं। किन्तु शकार के वचन होने से इसे दोष नहीं मानना चाहिये। कप्पेम इस—इस प्राकृत का संस्कृत रूपान्तर—'कल्पये' और 'कृन्तामः दो प्राप्त होते हैं। दोनों का भाव समान है। मुमूर्षुः—मरने वाला, √ मृङ् (प्राणत्यागे) + सन् मुमूर्ष + उ। इसमें काव्यलिङ्ग अथवा अर्थान्तरन्यास अलंकार है। प्रथम और चतुर्थ चरण में वंशस्थ तथा द्वितीय और तृतीय में इन्द्रवज्रा है। दोनों को मिलाने पर उपजाति छन्द हो गया है ॥ २९ ॥

अर्थ **वसन्तसेना**—आर्य ! मैं तो अबला (बलहीन स्त्री) हूँ।

विट—इसी लिये (अभी तक) जीवित हो।

शकार—इसी लिये तुम्हारा वध नहीं किया जा रहा है।

वसन्त० (स्वगतम् ।) कधं अणुणओ वि शे भअं उप्पादेदि । भोदु, एव्वं दाव । (प्रकाशम् ।) अज्ज ! इमादो किं पि अलङ्करणं तक्कीअदि ? । (कथमनुनयोऽप्यस्य भयमुत्पादयति । भवतु एवं तावत् । आर्य ! अस्मात् किमप्य-लङ्करणं तर्क्यते ? ।)

विटः—शान्तम् पापम्, शान्तं पापम् । भवति वसन्तसेने ! न पुष्प-मोषमर्हति उद्यानलता । तत् कृतमलङ्करणैः ।

वसन्त०—ता किं क्खु दाणिं ? (तत् किं खलु इदानीम् ? ।)

शकारः—हगे देवपुलिशे मणुश्शे वासुदेवके कामइदव्वे । (अहं देवपुरुषो मनुष्यो वासुदेवः कामयितव्यः ।)

वसन्त०—(सक्रोधम्) शन्तं शन्तं । अवेहि, अणज्जं मन्तेशि (शान्तं शान्तम् । अपेहि, अनार्य्यं मंत्रयसि !)

शकारः—(सहस्ततालं विहस्य ।) भावे ! भावे ! पेक्ख दाव । अन्तलेण शुशिणिद्धा एशा गणिआदालिआ णं । जेण मं भणादि, एहि शन्तेशि किलिन्तेशि त्ति । हगे ण गामन्तलं ण णगलन्तलं वा गड़े । अज्जुके ! शवामि भावश्श शोशं अत्तणकेहिं पादेहिं । तव ज्जेव्व पश्चाणुपश्चिआए आहिण्डन्ते शन्ते किलिते ह्मि संवुत्ते । (भाव ! भाव ! प्रेक्षस्व तावत् । अन्तरेण सुस्निग्धा एषा गणिकादारिका ननु । येन मां भणति—एहि, श्रान्तोऽसि, क्लान्तोऽसीति । अहं न ग्रामान्तरं न नगरान्तरं वा गतः । आर्यके ! शपे भावस्य शीर्षम्, आत्मीयाभ्याम् पादाभ्याम् । तवैव पृष्ठानुपृष्ठिकया आहिण्डमानः, श्रान्तः क्लान्तोऽस्मि संवृत्तः ।)

वसन्तसेना—(स्वगत) क्यों, इसकी विनय भी भय उत्पन्न करा रही है । अच्छा, मैं ऐसा (करती हूँ) । (प्रकाश) आर्य ? आप मुझसे कोई गहना लेना चाहते हैं ?

विट—पाप शान्त हो, पाप शान्त हो । आदरणीय वसन्तसेने ! उद्यान की लता पुष्प तोड़ने योग्य नहीं होती है । (अर्थात् उसके फूल नहीं तोड़े जाते हैं ।) अतः गहनों को रहने दो । (इन्हें नहीं लेना है ।)

वसन्तसेना—तो, इस समय (आपका) क्या प्रयोजन ?

शकार—मुझ देवपुरुष, मनुष्य, वासुदेव की कामना करो ।

वसन्तसेना—(क्रोध के साथ) शान्त, शान्त अर्थात् चुप रहो, चुप रहो । दूर हट जाओ । तुम अनार्य=अशिष्ट=अनुचित बात कर रहे हो ।

शकार—(ताली बजाते हुये हँस कर) भाव ! भाव ! जरा देखो तो । यह वेश्यापुत्री हृदय से (मुझपर) निश्चित ही प्रसन्न है । इसी लिये मुझसे कह रही है—'आओ थक गये हो, खिन्न हो गये हो ।' मैं न किसी दूसरे गाँव गया न किसी दूसरे शहर । आर्ये ! मैं अपने पैरों से भाव=विट के शिर की शपथ खाता हूँ । तुम्हारे ही पीछे पीछे घूमता हुआ थका और खिन्न हो गया हूँ ।

विटः—(स्वगतम्) अये ! कथं शान्तमित्यभिहिते श्रान्त इत्यवगच्छति मूर्खः । (प्रकाशम् ।) वसन्तसेने ! वेशवासविरुद्धमभिहितं भवत्या । पश्य—

टीका—अबला=न बलं यस्याः सा, दीनेत्यर्थः । ध्रियसे प्राणैरिति शेषः । जीवसीत्यर्थः । मार्यसे=हन्यसे मयेति शेषः । अस्य=शकारस्य, अनुनयः=विनयः, अस्मात्=अबलारूपमादृशजनात्, तर्क्यते=चिन्त्यते, ग्रहीतुमिष्यते इति भावः । पुष्पमोषम्=कुसुमत्रोटनम्, नार्हति=न शोभते इति भावः । कृतम्=अलम् । इदानीम्=अधुना, प्रयोजनमिति शेषः । अहम्=राजश्यालकः शकारः, देवपुरुष-इत्यादीनां कथनं मूर्खत्वसूचकम् । कामयितव्यः=अभिलषणीयः । शान्तं शान्तम्=मा ब्रूहि, मा ब्रूहीति भावः । अपेहि=दूरं याहि, अनार्यम्=आर्यजनविरुद्धम्, अशिष्टमित्यर्थः, मन्त्रयसि=वदसि । सहस्ततालम्=करतलताडनपूर्वकम् । अन्तरेण=हृदयेन, सुस्निग्धा=अत्यनुरक्ता मयीति शेषः, गणिका दारिका=वेश्यास्त्री । अत्र केचित्–माम् अन्तरेण सुस्निग्धा–इति पाठं प्रकल्प्य 'अन्तराअन्तरेण युक्ते' (पा. सू. २।३।४) इति द्वितीयेत्याहुस्तन्न, तत्र सूत्रे 'अन्तरेण' इति विनार्थकोऽव्ययशब्दः । अत्र 'अन्तरेण' इति तृतीयान्तो हृदयवाचीति बोध्यम् । पृष्ठानुपृष्ठिकया = पृष्ठानुपृष्ठमित्यस्यां क्रियायामित्यर्थे ठन्=इक—प्रत्यये टापि पृष्ठानुपृष्ठिका, तया, पश्चात् पश्चात्–इति भावः । आहिण्डमानः=अनुसरन्, संवृत्तः=जातः ॥

विमर्श—ध्रियसे=प्राणों द्वारा धारण की जा रही हो, जीवित हो । तर्क्यते=सोंचते हैं । अर्थात् क्या लेने की सोंचते है । अनार्यम्—शिष्ट लोगों की मर्यादा का उल्लंघन करते हुये कहना । कुछ विद्वानों ने '(माम्) अन्तरेण सुस्निग्धा' यह पाठ मान कर 'अन्तरान्तरेण युक्ते' सूत्र से द्वितीया का विधान किया है । परन्तु यह व्याकरणानभिज्ञता का परिचायक हैं । क्योंकि इस सूत्र में 'अन्तरेण' यह अव्यय शब्द है और इस का अर्थ है—विना=अतिरिक्त । इसी लिये सिद्धान्त—कौमुदी आदि में इसका उदाहरण यह है—अन्तरेण हरिं न सुखम् । परन्तु प्रस्तुत 'अन्तरेण' यह हृदयवाचक तृतीयाविभक्त्यन्त है—इसका अर्थ हैं —हृदय से चाहती है । अतः 'माम्' से रहित ही पाठ भी मानना चाहिये । यदि आग्रह है तो 'मम अन्तरेण सुस्निग्धा–' हृदय से मेरी अनुरक्त है – । श्रान्तः—वसन्तसेना ने—शन्तं, शन्तं—यह प्राकृत बोला । शकार ने इसे शन्त=श्रान्त समझा और उसी के आधार पर उत्तर दिया । पृष्ठानुपृष्ठिकया पृष्ठम् अनुपृष्ठम्–इत्यस्यां क्रियायाम्—इस अर्थ में ठन्=इक प्रत्यय और टाप् करके तृतीया एकवचन का रूप है । आहिण्डमानः आ + √हिण्ड् + शानच्=आन ।

अर्थ—विट—(स्वगत) अरे ! 'शान्त' ऐसा कहा जाने पर यह मूर्ख 'श्रान्त' ऐसा क्यों समझ रहा है । (प्रकाश) वसन्तसेने ! वेश्यालय के निवास के विरुद्ध तुमने कहा है । (अर्थात् वेश्या को ऐसा नहीं कहना चाहिये ।)

तरुणजनसहायश्चिन्त्यतां वेशवासो, विगणय गणिका त्वं मार्गजाता लतेव ।
वहसि हि धनहार्यं पण्यभूतं शरीरं, सममुपचर भद्रे ! सुप्रियं चाप्रियञ्च ।३१।

अन्वयः—वेशवासः, तरुणजनसहायः, चिन्त्यताम्, विगणय, मार्गजाता, लता, इव, त्वम्, गणिका, असि, हि, पण्यभूतम्, धनहार्यम्, शरीरम्, वहसि, भद्रे ! सुप्रियम्, च अप्रियम्, च, समम्, उपचर ।।३१।।

शब्दार्थः—पश्य=देखो, वेशवासः=वेश्यालय का निवास, तरुणजनसहायः=युवा जनों की सहायता पर आश्रित [होता है, इति=ऐसा] चिन्त्यताम्=समझ लो, विगणय=सोचों, त्वम्=तुम, मार्गजाता=सड़क पर पैदा होने वाली, लता इव=लता के समान, गणिका=वेश्या हो, हि=क्योंकि, पण्यभूतम्=वेची जानी वाली वस्तु के समान, धनहार्यम्=धन से प्राप्य=खरीदने योग्य, शरीरम्=शरीर को, वहसि=धारण करती हों, (अतः) भद्रे ! =हे भद्र नारी, सुप्रियम्=बहुत अधिक प्रिय को, च=और, अप्रियम्=अप्रिय=अनचाहे को, समम्=समान रूप से, उपचर=व्यवहार करो, उनकी सेवा करो ।। ३१ ।।

अर्थ—देखो—

वेश्यालय का निवास युवक जनों की सहायता पर आश्रित रहने वाला होता है, यह समझ लो, (अतः युवक शकार की अवहेलना मत करो) । सोंचो, सड़क पर उत्पन्न लता के समान (सभी द्वारा उपभोग्या) तुम वेश्या हो, क्योंकि विक्रय-योग्य पदार्थ के समान धन से खरीदने योग्य शरीर को धारण कर रही हो । (अतः, हे भद्रे ! सुप्रिय अथवा अप्रिय दोनों के साथ समान रूप से व्यवहार करो ।। ३१ ।।

टीका—पश्य=अवलोकय-इति गद्येनान्वयः । वेशवासः=वेशे=वेश्यालये, वासः=निवासः, वेश्याजनवासस्थानमित्यर्थः, तरुण-जन-सहायः=तरुणजनः सहायो यस्य तादृशः, तरुणजनप्रदत्तधनाद्याश्रितः इति भावः, इति=इदम्, चिन्त्यताम्=अवधार्यताम्; विगणय=विशेषेण विचारय, मार्गजाता=मार्गे=पथि, जाता=उत्पन्ना, लता=वल्ली इव=यथा, त्वम्, वाणिका=वेश्या, असि, यथा मार्गोत्पन्नाया लतायाः सामान्यतया सर्वैरुपभोगः क्रियते तथैव तवाप्युपभोगः सर्वसाधारण इति त्वं विचारय, हि=यतः, पण्यभूतम्=विक्रेयवस्तुतुल्यम्, धनहार्यम्=धनप्राप्यम्, शरीरम् = देहम्, वहसि=धारयसि, अतः, भद्रे ! =सुस्वभावे ! सुप्रियम्=अभीप्सितम्, अप्रियम्=अनीप्सितम् च=तथा, समम्=समानरूपेण, उपचर=श्रयस्व, सेवस्व, अत्राधिकश्चकारः । अत्रोपमा काव्यलिङ्गं च । मालिनी वृत्तम् ।। ३१ ।।

विमर्श—तरुणजनसहायः—तरुणाश्च ते जनाः ते सहायाः=सहायकाः यस्य स तादृशः—अर्थात् वेश्यालय में रहना तभी हो पाता है जब तरुणजन उन पर आकृष्ट होकर धनादि देते रहते हैं । विगणय—वि + √गण + णिच् + लोट् । विशेषरूप

अपि च—

वाप्यां स्नाति विचक्षणो द्विजवरो मूर्खोऽपि वर्णाधमः,
फुल्लं नाम्यति वायसोऽपि हि लतां या नामिता बर्हिणा।
ब्रह्मक्षत्रविशस्तरन्ति च यया नावा तयैवेतरे,
त्वं वापीव लतेव नौरिव जनं वेश्यासि सर्वं भज ॥ ३२ ॥

से विचार करो, क्योंकि वसन्तसेना तुम्हारी स्थिति उसी प्रकार है जैसे सड़क पर पैदा हुई लता की। जो भी चाहता है, उसे मसल सकता है, तोड़ सकता है, प्रशंसा कर सकता है, निन्दा कर सकता है। धनहार्यम्–धनेन हार्यम्, पण्यभूतम्–पण्यंभूतम्–पण्यभूतम् विक्रेय पदार्थ के समान, जिसे कोई भी खरीद सकता है। उपचर–उप+√चर्+लोट्=व्यवहार करो, अर्थात् इच्छा पूरी करो। इसमें उपमा और काव्यलिङ्ग अलङ्कार हैं। मालिनी छन्द है–

न-न-म-यय-युतेयं मालिनी भोगिलोकैः ॥ ३१ ॥

अन्वयः—विचक्षणः, द्विजवरः, मूर्खः, वर्णाधमः, अपि, (एकस्यामेव) वाप्याम् स्नाति, या, बर्हिणा, नामिता, फुल्लाम्, (तामेव), लताम्, वायसः, अपि, नाम्यति, हि, यथा, नावा, ब्रह्मक्षत्रविशः, तरन्ति, तया, एव, इतरे, च, (तरन्ति), त्वम्, वेश्या, असि, अतः, वापी, इव, लता, इव, नौः, इव, सर्वम्, जनम् भज ॥ ३२ ॥

शब्दार्थ—विचक्षणः=अतिशय विद्वान्, द्विजवरः=ब्राह्मण, (और) मूर्खः=मूर्ख, अशिक्षित, वर्णाधमः=नीच जाति वाला शूद्र, अपि=भी, (एकस्यामेव=एक ही) वाप्याम्=बावड़ी में, स्नाति=स्नान करता है, या=जो लता, बर्हिणा=मोर द्वारा (बैठनेसे) नामिता=झुकाई गई थी, फुल्लाम्=फूली हुई, खिली हुई, ताम्=उस, लताम्=लता को (ही), वायसः=कौआ, अपि=भी, नाम्यति=झुका देता है, हि=प्रसिद्ध ही है कि, यया=जिस, नावा=नौका से, ब्रह्मक्षत्रविशः=ब्राह्मण, क्षत्रिय और वैश्य, तरन्ति=(गंगादि नदियाँ) पार करते है, तया एव=उसी नौका से, इतरे=इन तीनों से भिन्न=शूद्र, च=भी, (पार करते हैं,) त्वम्=तुम, वेश्या=वेश्या, असि=हो, (अतः=इसलिये) वापी इव=बावड़ी के समान, लता इव=लता के समान, (और), नौः इव=नौका के समान, सर्वम्=सभी, जनम्=लोगों की, भज=सेवा करो, सन्तुष्ट करो ॥ ३२ ॥

अर्थ—और भी, अतिशय विद्वान् ब्राह्मण (और) मूर्ख वर्णाधम=शूद्रादि (एक ही) बावड़ी में स्नान करता है। जो लता (ऊपर बैठक कर) मोर द्वारा झुकाई गयी थी, उसी फूली हुई लता पर (बैठकर) कौआ झुका देता है। जिस नौका से ब्राह्मण, क्षत्रिय एवं वैश्य (गंगादि नदियाँ) पार करते हैं उसी से शूद्र भी। तुम (वसन्त-

सेना) वेश्या हो, इसलिये बावड़ी के समान, लता के समान और नौका के समान सभी लोगों की सेवा करो अर्थात् जैसे ये तीनों किसी भेदभाव के बिना व्यवहार करतीं हैं वैसी ही वेश्या होने से तुम्हें भी भेदभाव नहीं करना चाहिये ।। ३२ ।।

टीका - विचक्षणः=अतिशयविद्वान्, द्विजवरः=ब्राह्मणश्रेष्ठः, तथा, मूर्खः=जडः, वर्णाधमः=वर्णेनाधमः=निकृष्टः शूद्रादिः, अपिः=समुच्चये, एकस्यामेव वाप्याम्=दीर्घिकायाम्, स्नाति=निमज्जति, शरीरं प्रक्षालयतीत्यर्थः: या=लता, तदुपरि स्थित्वा, बर्हिणा=मयूरेण, नामिता=अधःकृता, ताम्=तामेव, फुल्लाम्=विकसिताम्, लताम्=बल्लीम्, वायसः=काकः अपि, नाम्यति=नामयति, नाम्यतीति कण्ड्वादिपाठात् 'नामं करोतीत्यर्थे यकि अकारलोपे च रूपम् । यथा मगधशब्दे मागध्यतीति भवति । नामं करोतीत्यर्थे णिचि 'संज्ञा पूर्वको विधिरनित्यः' इति गुणमकृत्वा यणादेशे नाम्यतीति रूपमित्येके । ण्यन्तात् सम्पदादिपाठमभ्युपेत्य क्विपि क्यचि रूपम् इत्यपरे--इति पृथ्वीधरः । यया=नावा च, ब्रह्म-क्षत्रविशः=ब्राह्मण-क्षत्रियवैश्याः, तरन्ति=नद्याः पारं प्रयान्ति, तया एव नावा=तया एव नौकया, इतरे च=वर्णाधमाः शूद्राश्च तरन्तीति शेषः । फलितमाह-त्वम्=सवन्तसेनेत्यर्थः, वेश्या=गणिका, असि=वर्तसे, अतः, वापी इव=दीर्घिका इव, लता इव=वल्ली इव, नौः इव=नौका इव, सर्वम्=त्वत्समीपे आगच्छन्तं निखिलम्, जनम्=लोकम्, भज=सेवस्व । यथा वापी, लता, नौका इमाः अभेदपूर्वकं सर्वान्, समानरूपेण व्यवहारन्ति तथैव वेश्ये वसन्तसेने ! त्वयापि सर्वेषामपि सेवा विधेयेति शकारमपि सन्तोषयेति भावः । अत्र मालोपमा, तुल्ययोगिता काव्यलिङ्गञ्चेत्येतेषां परस्पर-मङ्गाङ्गिभावेन सङ्करालङ्कारः । शार्दूलविक्रीडितं वृत्तम्-सूर्याश्वैर्मसजस्ततः सगुरवः शार्दूलविक्रीडितम् ।। ३२ ।।

विमर्श - विचक्षणः द्विजवरः-बहुत बड़ा विद्वान् ब्राह्मणश्रेष्ठ पुरुषः । वर्णाधमः-वर्णेन अधमः=शूद्रादिः । √फुल्ल विकसने-इस भौवादिक धातु से ही 'क्त' और परसवर्ण करके-फुल्ला शब्द के द्वि० ए० व० में फुल्लाम् यह रूप है । कुछ लोगों ने √'फुल्' धातु से क्त प्रत्यय माना है वह असंगत हैं क्योंकि तुदादिगणीय फुल का अर्थ संच्चरण है । नाम्यति-इसकी व्युत्पत्ति अनेक रूपों से की गई है-(१) आकृतिगण मानकर कण्ड्वादिगण में इसका पाठ मानकर-नामं करोति-इस अर्थ में 'कण्ड्वादिभ्यो यक्' (पा० सू०) से यक् प्रत्यय और 'अ' लोप कर के 'नाम्यति' यह रूप होता है । (२) नमनं=नामः, नामं करोति-इस अर्थ में णिच् प्रत्यय होता है 'संज्ञापूर्वको विधिरनित्यः' के आधार पर 'इ' का गुण न करके यण् करने पर नाम्यति होता है पक्ष में नामयति । (३) णिजन्त नामि का सम्पदादि गण में पाठ कल्पित करके क्विप् और क्यच् प्रत्यय करके नाम्यति रूप सम्भव है । सर्वम्=जिस प्रकार स्नान कराने में वापी किसी से भेद नहीं करती है,

वसन्त०—गुणो क्खु अणुराअस्स कालणं, ण उण बलाक्कारो। (गुणः खलु अनुरागस्य कारणम् न पुनर्बलात्कारः ।)

शकारः—भाव ! भावे ! एशा गब्भदासी कामदेवाअदणुज्जाणादो पहुदि ताह दलिद्दचालुदत्ताह अणुलत्ता ण मं कामेदि । वामदो तश्श घलं । जधा तव मम अ हत्थादो एशा ण पलिब्भंशदि, तधा कलेदु भावे । (भाव ! भाव ! एषा गर्भदासी कामदेवायतनोद्यानात् प्रभृति तस्य दरिद्रचारुदत्तस्य अनुरक्ता, न मां कामयते । वामतस्तस्य गृहम्, यथा तव मम च हस्तात् एषा न परिभ्रश्यति, तथा करोतु भावः ।)

विटः—(स्वगतम् ।) **यदेव परिहर्त्तव्यं तदेवोदाहरति मूर्खः । कथं वसन्तसेना आर्यचारुदत्तमनुरक्ता ? सुष्ठु खल्विदमुच्यते—'रत्नं रत्नेन सङ्गच्छते' इति । तद्गच्छतु, किमनेन मूर्खेण !** (प्रकाशम् ।) **काणेलीमातः ! वामतस्तस्य सार्थवाहस्य गृहम् ? ।**

झुकने में लता भेद नहीं करती है, वसन्तसेना भी इसी श्रेणी में आती है । अतः इसे शकार की सेवा में उपस्थित ही होना चाहिये ।

(१) इसमें अप्रस्तुत पदार्थ–द्विजवर और वर्णाधम का स्नानरूप एक क्रिया के साथ सम्बन्ध है । और ब्राह्मण क्षत्रिय वैश्यों का तथा इतर–शूद्र का तरण रूप एक क्रिया के साथ सम्बन्ध है । अतः दोनों में तुल्ययोगिता अलंकार है । (२) वेश्या रूपी एक उपमेय का तीन (वापी, लता, नौका) उपमानों के साथ सादृश्य वर्णित होने से मालोपमा है । (३) सर्वं भज–सभी की सेवा करो–इस वाक्यार्थ के प्रति 'त्वं वेश्यासि' यह वाक्यार्थ हेतु है अतः काव्यलिङ्ग है । (४) इनका परस्पर अङ्गाङ्गिभाव होने से संकर अलंकार है । इसमें शार्दूलविक्रीडित छन्द है । लक्षण–

सूर्याश्वैर्यदि मः सजौ सततगाः शार्दूलविक्रीडितम् ।। ३२ ।।

अर्थ—वसन्तसेना—प्रेम का कारण गुण होता है, बलात्कार नहीं ।

शकार—भाव ! भाव जन्म काल से ही दासी यह वसन्तसेना काम-देवायतन उद्यान (में जाने) से लेकर उस दरिद्र चारुदत्त पर ही अनुरक्त है, मुझे नहीं चाहती है । बाँयी ओर उस (चारुदत्त) का घर है । आप ऐसा उपाय कीजिये जिससे मेरे तथा आपके हाथ से यह न निकल सके ।

विट—(स्वगत)— जो नहीं कहना चाहिये, मूर्ख वही कह रहा है । क्या वसन्तसेना चारुदत्त पर अनुरक्त है ? यह ठीक ही कहा जाता है—'रत्न रत्न से ही मिलता है ।' अच्छा तो (वसन्तसेना) जाय, इस मूर्ख के लिये क्या चिन्ता करना । (प्रकाश) अरे काणेलीपुत्र ! बाँयी ओर उस सार्थवाह (चारुदत्त) का घर है ?

शकारः—अध इं, वामदो तश्श घलं। (अथ किम्, वामतस्तस्य गृहम्।)

वसन्त०—(स्वगतम्।) **अह्महे ! वामदो तश्श गेहं त्ति जं सच्चं, अवरज्झन्तेण वि दुज्जणेण उवकिदं, जेण पिअसङ्गमं पाविदं।** (आश्चर्यम्। वामतस्तस्य गृहमिति यत्सत्यम्, अपराध्यतापि दुर्जनेन उपकृतम्, येन प्रियसङ्गमः प्रापितः।)

शकार और क्या। बायीं ओर ही उसका घर है।

वसन्तसेना (स्वगत) आश्चर्य ! बाँयी ओर उस (चारुदत्त) का घर है यह यदि सत्य है तो अपराध करते हुये भी इस दुष्ट ने (मेरा) भला ही किया है जिससे प्रियसंगम (प्रेमी चारुदत्त का मिलन) हो गया।

टीका—गुणः=औदार्यादिः, अनुरागस्य=प्रेम्णः, बलात्कारः=बलपूर्वकं करणम्, गर्भदासी=जन्मप्रभृति चेटी, कामदेवायतनोद्यानात्=कामदेवस्य=मदनस्य, आयतनम्=स्थानम् तत्सम्बन्धि यदुद्यानम् तत्र जातात् चारुदत्त-दर्शनाद्, प्रभृति=आरभ्य, चारुदत्तस्य अनुरक्ता=चारुदत्त-कर्मकानुरागवतीति भावः, कामयते=इच्छति, परिभ्रश्यति=प्रच्युता जायते, परिहर्तव्यम्=परित्यक्तव्यम्, वर्जनीयम्, उदाहरति=वदति, कथम्=किम्, तद्गच्छतु=तस्मात् व्रजतु, वसन्तसेना इति भावः, किम्=न किमपीत्यर्थ। काणेलीमातः=अविवाहिता कन्या, व्यभिचारिणी असती स्त्री वा माता यस्य सः, तत्सम्बुद्धौ रूपम्। "काणेली कन्यकामाता' इति देवीप्रकाशः। 'असती काणेली' इत्येके इति पृथ्वीधरः। अपराध्यतापि=अशिष्टाचारमविनयं कुर्वतापीत्यर्थ, प्रियसङ्गमः=चारुदत्तस्य संसर्गः, प्रापितः=सम्पादितः। अत्र 'प्रियसङ्गमं प्रापिता' इति उचितः पाठः।

विमर्श—…बलात्कारः=बलपूर्वक किसी को अपने प्रति अनुरक्त बनाना सम्भव नहीं होता है, यह वसन्तसेना का आशय है। गर्भदासी वेश्याकुल में उत्पन्न स्त्री जन्मकाल से ही दासी बन जाती है। चारुदत्तस्य अनुरक्ता—यहाँ कर्म की अविवक्षा मानकर सम्बन्धसामान्य में षष्ठी है—चारुदत्त-सम्बन्धि-अनुरागवती—यह अर्थ है। उदाहरति—उद्+आ+√हृ+लट् प्र. पु. ए. व.। तद्गच्छतु—यह वसन्तसेना को ध्यान में रख कर कहा है—तो वसन्तसेना चली जाय। काणेलीमातः—व्यभिचारिणी के बच्चे ! काणेली=असती, अथवा कन्या माता यस्य सः—सम्बोधन का रूप है। प्रियसङ्गमः—यहाँ दो प्रकार के पाठ मिलते हैं (१) जेण पिअसंगमं पाविदा=येन प्रियसंगम प्रापिता—जिससे प्रिय संगमको प्राप्त कराई गई—यह अर्थ अधिक अच्छा है। (२) जेण पिअसंगमं पाविदं—येन प्रियसंगमः प्रापितः—जिससे प्रियसंगम कराया गया।

शकारः—भावे ! भावे ! वलिए क्खु अन्धआले माशलाशिपविट्टा विअ मशिगुडिआ दीशन्दी ज्जेव पणट्टा वशन्तशेणिआ । (भाव ! भाव ! बलीयसि खल्वन्धकारे माषराशिप्रविष्टेव मसीगुटिका दृश्यमानैव प्रनष्टा वसन्तसेना ।

विटः—अहो ! बलवानन्धकारः । तथाहि—

आलोकविशाला मे सहसा तिमिरप्रवेशविच्छिन्ना ।
उन्मीलितापि दृष्टिर्निमीलितेवान्धकारेण ॥ ३३ ॥

अपि च—

लिम्पतीव तमोऽङ्गानि वर्षतीवाञ्जनं नभः ।

अर्थः—शकार–भाव ! भाव ! इस घोर अन्धकार में, (काले) उड़द के ढेर मे गिरी हुई स्याही की टिकिया के समान, दिखाई पड़ती हुई ही वसन्तसेना गायब=अदृश्य हो गई ।

अन्वयः—आलोकविशाला, मे, दृष्टिः, सहसा, तिमिरप्रवेशविच्छिन्ना, (अत एव), उन्मीलिता, अपि, अन्धकारेण, निमीलिता, इव, (भवति), ॥३३॥

शब्दार्थ—आलोकविशाला=प्रकाश में (सभी कुछ देखने में) समर्थ, मे= मेरी (=विट की), दृष्टिः = आँख, सहसा = अचानक, तिमिरप्रवेशविच्छिन्ना= अन्धकार के आ जाने से शक्तिरहित अथवा अन्धकार में आ जाने से शक्तिरहित (अत एव=इसीलिये), उन्मीलिता=खुली हुई, अपि=भी, अन्धकारेण=अन्धेरे के कारण, निमीलिता इव=बन्द के समान, (भवति=हो रही है ।) ॥ ३३ ॥

अर्थ—विट—अरे घोर अन्धकार है । क्योंकि—

प्रकाश में (सभी कुछ) देखने में समर्थ मेरी दृष्टि (नेत्र) अचानक अन्धेरा आ जाने से (अथवा अन्धेरे में आ जाने से) शक्तिहीन (हो गई है । इसीलिये) खुली हुई भी अन्धकार के कारण बन्द के समान हो रही है ॥ ३३ ॥

टीका—आलोकविशाला=आलोके=दर्शने विशाला अथवा, आलोके=प्रकाशे विशाला, मे=मम, विटस्येत्यर्थः, दृष्टिः = नेत्रज्योतिरित्यर्थः, सहसा=झटिति, तिमिरप्रवेशविच्छिन्ना=तिमिरे प्रवेशेन विच्छिन्ना, तिमिरस्य प्रवेशेन = आगमनेन विच्छिन्ना=हीनशक्तिः, अतः, उन्मीलितापि=उद्घाटितापि, अन्धकारेण=तमसा, निमीलिता=मुद्रिता इव भवतीति भावः । अत्रोत्प्रेक्षालङ्कारः । आर्या वृत्तम् ॥३३॥

विमर्श—आलोकविशाला=आलोके=देखने में विशाल=अतिसमर्थ, अथवा आलोके=प्रकाश में कार्यसमर्थ । तिमिरप्रवेशविच्छिन्ना=तिमिर में प्रवेश करने से हीनशक्तिवाली अथवा तिमिर=अन्धकार के आ जाने से क्षीण शक्तिवाली । निमीलिता इव—यहाँ उत्प्रेक्षा अलंकार है और आर्या छन्द है ॥ ३३ ॥

असत्पुरुषसेवेव दृष्टिर्विफलतां गता ॥ ३४ ॥

शकारः—भावे ! भावे ! अण्णेशामि वशन्तशेणिअं ? । (भाव ? भाव ! अन्विष्यामि वसन्तसेनिकाम् ।)

विटः—काणेलीमातः ! अस्ति किञ्चिच्चिह्नं यदुपलक्षयसि ।

शकारः—भावे ! भावे ! किं बिअ ? (भाव ! भाव ! किमिव ?)

विट—भूषणशब्दं सौरभ्यानुबिद्धं माल्यगन्धं वा ।

अन्वयः—तमः, अङ्गानि, लिम्पति, इव, नभः, अञ्जनम्, वर्षति, इव, असत्पुरुषसेवा, इव, दृष्टिः, विफलताम्, गता ॥ ३४ ॥

शब्दार्थः—तमः=अन्धेरा, अङ्गानि=अवयवों को, लिम्पति इव=लीप सा रहा है; व्याप्त कर रहा है, नभः=आकाश, अञ्जनम्=अँजन=काजल आदि, वर्षति इव – बरसा सा कर रहा है, असत्पुरुषसेवा = दुष्टजनशुश्रूषा के, इव=समान, दृष्टिः=नेत्रज्योति, विफलताम्=विफलता को, गता=प्राप्त हो गई है ॥ ३४ ॥

अर्थ—और भी, अन्धेरा अवयवों को व्याप्त सा कर ले रहा है, आकाश अँजन की बरसा सी कर रहा है, दुष्ट पुरुष की सेवा के समान मेरी दृष्टि व्यर्थ हो गई है ॥ ३४ ॥

टीका—तमः=अन्धकारः, अङ्गानि=अवयवान्, लिम्पति इव=व्याप्नोति इव, नभः=आकाशः, अञ्जनम्=कज्जलादिकम्, वर्षति इव = पातयति इव, अत्रोभयत्रोत्प्रेक्षा, असत्पुरुषसेवा इव = दुष्टपुरुषसमाराधना इव, दृष्टिः = नेत्रज्योतिः, विफलताम् = निष्फलत्वम्, गता=प्राप्ता । असत्पुरुषसेवेत्यनेन शकारसेवाया निष्फलत्वं ध्वनितमिति बोध्यम् । अत्र पूर्वार्द्धे उभयत्र उत्प्रेक्षा, उत्तरार्द्धे चोपमा— इत्यनयोः संसृष्टिः, अनुष्टुप् वृत्तम् ॥ ३४ ॥

विमर्शः—असत्पुरुषसेवा इव—यहाँ दुष्ट शकार की सेवा का संकेत है। वह व्यर्थ है। अतः वसन्तसेना उसे नहीं चाहती है, यह ठीक ही है। पूर्वार्द्ध में दोनों वाक्यों में क्रिया के साथ 'इव' का प्रयोग होने से उत्प्रेक्षा है। उत्तरार्द्ध में उपमा है। इन दोनों की संसृष्टि है। यमक और अनुप्रास ये शब्दालंकार भी हैं। इसमें अनुष्टुप् छन्द है। लक्षण—

> श्लोके षष्ठं गुरु ज्ञेयं सर्वत्र लघु पञ्चमम् ।
> द्विचतुष्पादयोर्ह्रस्वं सप्तमं दीर्घमन्ययोः ॥ ३४ ॥

अर्थ—शकार—भाव ! भाव ! वसन्तसेना को ढूढ़ता हूँ।

विट—काणेलीपुत्र ! कोई चिह्न है जिसके माध्यम से तुम (वसन्तसेना को) खोज रहे हो।

शकार—भाव ! भाव ! कैसा (चिह्न) ?

विट—आभूषणों की आवाज अथवा सुगन्धित फूलों की गन्ध।

शकार——शुणामि मल्लगन्धं अन्धआलपूलिदाए उण णाशिआए शुव्वत्तं, उण ण पेक्खामि भूषणशद्दं ! (श्रृणोमि माल्यगन्धम्, अन्धकार-पूरितया पुनर्नासिकया सुव्यक्तं पुनर्न प्रेक्षे भूषणशब्दम् ।)

बिटः——(जनान्तिकम् ।) वसन्तसेने ?

> कामं प्रदोषतिमिरेण न दृश्यसे त्वं
> सौदामनीव जलदोदरसन्धिलीना।
> त्वां सूचयिष्यति तु माल्यसमुद्भवोऽयं
> गन्धश्च भीरु ! मुखराणि च नूपुराणि ।। ३५ ।।

श्रुतं वसन्तसेने ! ।

शकार——माला की गन्ध सुन रहा हूँ। किन्तु अन्धकार से भरी हुई नाक से आभूषणों की आवाज को साफ-साफ नहीं देख पा रहा हूँ।

अन्वयः——हे वसन्तसेने ! (इति गद्यांशेनान्वयः) जलदोदरसन्धिलीना, सौदामनी, इव, त्वम्, प्रदोषतिमिरेण, कामम्, न, दृश्यसे, तु, हे भीरु ! माल्यसमुद्भवः, अयम्, गन्धः, त्वाम्, सूचयिष्यति, मुखराणि, च, नूपुराणि, च, (सूचयिष्यन्ति) ।। ३५ ।।

शब्दार्थः——(हे वसन्तसेने !), जलदोदरसन्धिलीना=मेघों के गर्भ में छिपी हुई, सौदामनी इव=बिजली के समान, त्वम्=तुम, प्रदोषतिमिरेण = सायंकालीन अन्धेरे से, कामम्=पर्याप्त, न=नहीं, दृश्यसे=दिखाई दे रही हो, तु=किन्तु, हे भीरु=भयशीले !, माल्यसमुद्भवः=मालाओं से निकलने वाला अयम्=यह अनुभूयमान, गन्धः=सुगन्ध, त्वाम्=तुमको, सूचयिष्यति=सूचित कर देगा, च=तथा, मुखराणि=शब्द करनेवाले, नूपुराणि=पैरों के आभूषण पायजेब, च=भी (सूचित कर देंगे) ।। ३५ ।।

अर्थ——विट——(जनान्तिक) हे वसन्तसेने !

मेघों के मध्य में छिपी हुई बिजली के समान तुम सायंकालीन अन्धेरे के कारण बिलकुल नहीं दिखाई दे रही हो। परन्तु हे भीरु ! मालाओं के फूलों से निकलने वाली यह (उत्कट) गन्ध तुम्हारी सूचना दे देगा। और शब्द करने वाले नूपुर (पायजेब) भी (तुम्हारी सूचना दे देंगे) ।। ३५ ।।

सुना वसन्तसेनें ?

टीका——जलदोदर-सन्धिलीना = जलदानाम्=मेघानाम्, उदरसन्धौ = मध्ये, आभ्यन्तरे वा, लीना=अन्तर्हिता, सौदामनी इव = सुदाम्नो मेघविशेषस्य पत्नी विद्युत् इव, कामम्=पर्याप्तं यथा स्यात् तथा. न=नैव, दृश्यसे=विलोक्यसे, तु=किन्तु, हे भीरु !=हे भयशीले ! माल्यसमुद्भवः=माल्यात् समुद्भवः= उत्पत्तिर्यस्य सः,

वसन्त०---(स्वगतम् ।) **सुदं गहिदं अ ।** (नाटचेन भूषणान्युत्सार्य, माल्यानि चापनीय, किञ्चित् परिक्रम्य, हस्तेन परामृश्य ।) **अम्हो ! भित्ति-परामरिससूइदं पक्खदुआरअं क्खु एदं । जाणामि अ संजोएण गेहस्स संवुदं पक्खदुआरअं ।** (श्रुतं गृहीतञ्च । अहो ! भित्तिपरामर्शसूचितं पक्ष-द्वारकं खल्वेतत् । जानामि च संयोगेन गेहस्य संवृतं पक्षद्वारकम् ।)

चारु०---वयस्य ! समाप्तजपोऽस्मि । तत् साम्प्रतं गच्छ, मातृभ्यो बलिमुपहर ।

विद्---भो ! ण गमिस्सं । (भोः ! न गमिष्यामि ।)

माल्यविनिर्गतः, अयम्=अनुभूयमानः, गन्धः=सौरभम्, त्वाम्=वसन्तसेनाम्, सूच-यिष्यति=ज्ञापयिष्यति, च=तथा, मुखराणि = शब्दायमानानि, नूपुराणि = पादयो-र्भूषणानि, च=अपि, एकश्चकारोऽप्यर्थे, सूचयिष्यन्तीति वचनविपरिणामेनान्वयः । अत्रोपमा, सूचनरूपायामेकस्यामेव क्रियायां गन्धनूपुरयोरन्वयात् तुल्ययोगिता चेति बोध्यम् । वसन्ततिलका वृत्तम् ।। ३५ ।।

विमर्श---जनान्तिक---यह एक पारिभाषिक शब्द है । जब रंगमंच पर अनेक पात्रों के रहने पर किसी एक पात्रविशेष से कुछ कहना इष्ट रहता है और हाथ की तीन अंगुलियाँ उठा कर तथा अनामिका अंगुलि को वक्र करके किसी पात्र से कुछ कहा जाता है तब 'जनान्तिक' कहा जाता है । साहित्यदर्पण में यह लक्षण कहा गया है ।

त्रिपताकाकरेणान्यानपवार्यान्तरा कथाम् ।
अन्योन्यामन्त्रणं यत् स्यात्तज्जनान्ते जनान्तिकम् ।।

शकार आदि रंगमंच पर रहते हैं तो भी यह वाक्य उन्हें नहीं सुनना है । इसमें दो चकार हैं एक 'अपि' अर्थ में है । सौदामनी इव---यह उपमा है । सूचन-रूपी एक ही क्रिया में गन्ध तथा नूपुरशब्द रूपी दो कारकों का अन्वय होने से तुल्ययोगिता है । दोनों निरपेक्ष हैं अतः संसृष्टि है । इसमें वसन्ततिलका छन्द है ।। ३५ ।।

अर्थ---वसन्तसेना---(स्वगत) सुना और समझ भी लिया । (अभिनय के साथ मालाओं को हटाकर कुछ घूमकर, हाथ से स्पर्श करके) ओह, दीवाल के स्पर्श से यह मालूम होता है कि निश्चय ही यह बगल का दरवाजा है । और (किवाड़ों के) संयोग (=मिले होने से, अथवा हाथ आदि के स्पर्श से अथवा भाग्य) से यह समझ रही हूँ कि पक्षद्वार (दरवाजा) बन्द है ।

चारुदत्त---मित्र ! जप समाप्त कर चुका हूँ । इसलिये इस समय जाओ, मातृदेवियों को बलि चढ़ाओ ।

विदूषक---मित्र ! मैं नहीं जाऊँगा ।

चारु०——धिक् कष्टम् ।

दारिद्र्यात् पुरुषस्य बान्धवजनो वाक्ये न सन्तिष्ठते,
सुस्निग्धा विमुखीभवन्ति सुहृदः, स्फारीभवन्त्यापदः ।
सत्त्वं ह्रासमुपैति, शीलशशिनः कान्तिः परिम्लायते,
पापं कर्म च यत् परैरपि कृतं तत्तस्य सम्भाव्यते ॥ ३६ ॥

विमर्श——पाठकों को यह ध्यान होगा कि पूर्व कथा में विदूषक और चारुदत्त पूजन एवं बलि की चर्चा कर रहे थे । उसी समय चारुदत्त ने कहा था—'भवतु, तिष्ठ तावत् । अहं समाधिं निर्वर्तयामि ।' अतः रंगमञ्च पर इतनी देर तक चारुदत्त समाधि में बैठा रहता है । इस प्रकार वसन्तसेना और शकार आदि के अभिनय में कोई बाधा नहीं होती है । अतः इस स्थल पर उसके पुनः प्रवेश की शंका नहीं करनी चाहिये ।

अन्वयः——दारिद्र्यात्, बान्धवजनः, पुरुषस्य, वाक्ये, न, सन्तिष्ठते, सुस्निग्धाः सुहृदः, विमुखीभवन्ति, आपदः, स्फारीभवन्ति, सत्त्वम्, ह्रासम्, उपैति, शील-शशिनः, कान्तिः, परिम्लायते, परैः, अपि, च, यत्, पापम्, कर्म, कृतम्, तत्, तस्य, सम्भाव्यते ॥ ३६ ॥

शब्दार्थ——दारिद्र्यात्=गरीबी के कारण, बान्धवजनः=भाई बन्धु लोग, पुरुषस्य=निर्धन व्यक्ति के, वाक्ये=वचनों पर, न=नहीं, सन्तिष्ठते=रहते हैं मानते हैं, सुस्निग्धाः=अत्यन्त स्नेही, सुहृदः=मित्र, भी, विमुखीभवन्ति=मुख फेर लेते हैं, आपदः=आपत्तियाँ, स्फारीभवन्ति=बढ़ने लगती हैं, सत्त्वम्=बल, ह्रासम्=न्यूनता को, उपैति=प्राप्त करता है, शीलशशिनः=आचरणरूपी चन्द्रमा की, कान्तिः= कान्ति, परिम्लायते=मलिन होने लगती है, च=और; परैः=दूसरों के द्वारा, अपि=भी, कृतम्=किया गया; यत्=जो, पापम्=अपराध, कर्म=कर्म, तत्=वह, तस्य=उस निर्धन का, सम्भाव्यते=मान लिया जाता है ॥ ३६ ॥

अर्थ——चारुदत्त ओह, कष्ट है—

गरीबी के कारण बन्धुबान्धव लोग उस निर्धन व्यक्ति के वचनों पर नहीं रहते है, नहीं मानते हैं । बहुत घनिष्ठ मित्र भी विमुख हो जाते हैं । आपत्तियाँ बढ़ जाती हैं । शक्ति क्षीण होने लगती हैं । चरित्ररूपी चन्द्रमा की कान्ति फींकी पड़ने लगती है । और दूसरों के द्वारा भी जो पाप कर्म किया गया है उसे उस गरीब का ही मान लिया जाता है ॥ ३६ ॥

टीका–दारिद्र्यात्=निर्धनत्वात्, बाधवजनः=स्वजनः, भ्रात्रादिरित्यर्थः, पुरुषस्य= निर्धनमनुष्यस्य, वाक्ये=वचने, आज्ञायामिति भावः, न=नैव, सन्तिष्ठते=वर्तते, वाक्यं न परिपालयतीति भावः, 'समवप्रविभ्यः स्थः' [पा. सू. १।३।२२] इत्यात्मने-

अपि च--

सङ्गं नैव हि कश्चिदस्य कुरुते, सम्भाषते नादरात्,
सम्प्राप्तो गृहमुत्सवेषु धनिनां सावज्ञमालोक्यते।
दूरादेव महाजनस्य विहरत्यल्पच्छदो लज्जया,
मन्ये निर्धनता प्रकाममपरं षष्ठं महापातकम्॥ ३७॥

पदम्, सुस्निग्धाः=अत्यन्तस्नेहयुक्ताः, प्रगाढाः इति यावत्, सुहृदः=सखायः, विमुखीभवन्ति=पराङ्मुखा भवन्ति, मैत्रीं परित्यजन्तीति भावः, आपदः=विपत्तयः, स्फारीभवन्ति=एकीभवन्ति ततो वृद्धिं गच्छन्तीत्यर्थः, सत्त्वम्=बलम्, ह्रासम्=क्षीणताम्, उपैति=प्राप्नोति, शीलशशिनः=शीलम्=आचरणम् एव शशी, तस्य, चारित्र्यचन्द्रस्य, कान्तिः=प्रभा, दीप्तिर्वा, परिम्लायते=परितो मालिन्यं गच्छति, परैः=अन्यैः, अपि, च, यत्, पापम्=निन्दितम्, अधर्मादिजनकम्, कर्म=कार्यम्, कृतम्=विहितम्, तत्=अन्यजनविहितं निन्दितं कर्म, तस्य = निर्धनपुरुषस्य, सम्भाव्यते = अनुमीयते, सर्वैरिति शेषः। दरिद्रतयाऽनेनैव धनादिलोभेनेदमकार्यं कृतमिति झटिति सर्वैरनुमीयते इति भावः। अत्र शीले शशित्वारोपात् रूपकालंकारः, शार्दूलविक्रीडितं वृत्तम्। तल्लक्षणम्--सूर्याश्वैर्यदि मः सजौ, सततगाः, शार्दूलविक्रीडितम्॥ ३६॥

विमर्श--विदूषक चारुदत्त का गहरा मित्र है किन्तु इस समय वह भी आज्ञापालन नहीं कर रहा है, इसका कारण, चारुदत्त अपनी निर्धनता ही समझता है। अतः यहाँ से तीन श्लोकों में निर्धनता के विषय में ही कहता है।

शीलशशिनः--शीलम्=आचरणम् एव शशी=चन्द्रः तस्य-यहाँ रूपक अलंकार है। इसमें शार्दूलविक्रीडित छन्द है। सन्तिष्ठते-सम्+√स्था+लट् प्र. पु. ए.व.-इसमें 'समवप्रविभ्यः स्थः' [पा. सू. १।३।२२] सूत्र से आत्मनेपद होता है। विमुखीभवन्ति और स्फारीभवन्ति-ये नामधातु के रूप हैं। इनमें च्वि प्रत्यय आदि होता है। परिम्लायते -परि+√म्लै+लट् प्र० पु० ए० व०। सम्भाव्यते - भाववाच्य लट्लकार का रूप है॥ ३६॥

अन्वयः--हि, कश्चित्, अस्य, सङ्गम्, नैव, कुरुते, (अतः), आदरात्, न, सम्भाषते, उत्सवेषु, धनिनाम्, गृहम्, सम्प्राप्तः, सावज्ञम्, अवलोक्यते, अल्पच्छदः, (निर्धनः), लज्जया, महाजनस्य, दूरात्, एव, विहरति, (अतः अहम् इदम्) मन्ये, निर्धनता, अपरम्, प्रकामम्, षष्ठम्, महापातकम्॥ ३७॥

शब्दार्थ--हि=चूँकि, कश्चित्=कोई भी, अस्य=इस दरिद्र का, सङ्गम्=साथ, नैव=नहीं, कुरुते=करता है, अतः=इसलिये, (कोई भी) आदरात्=आदर से, न=नहीं, सम्भाषते=बोलता है, उत्सवेषु=उत्सवों, जलसों में, धनिनाम्=धनवानों के, गृहम्=घर को, सम्प्राप्तः=प्राप्त करने वाला, पहुँचने वाला, सावज्ञम्=अपमान के

साथ, अवलोक्यते=देखा जाता है, अल्पच्छदः=अपर्याप्त वस्त्र धारण करने वाला (दरिद्र), लज्जया=लाज के कारण, महाजनस्य=बड़े प्रतिष्ठित व्यक्ति के, दूरात्=दूर से, एव=ही, विहरति=चलता है, साथ में नहीं चलता है, (इसलिये मैं यही), मन्ये=मानता हूँ, कि, निर्धनता=गरीबी, अपरम्=दूसरा, (पाँच महापातकों से भिन्न), प्रकामम्=बड़ा प्रबल, षष्ठम्=छठा, महापातकम्=महापातक, है ॥ ३७ ॥

अर्थ——और भी——

चूँकि कोई भी व्यक्ति निर्धन का साथ नहीं करता है, अतः कोई भी (इससे) आदरपूर्वक नहीं बोलता है। उत्सवों में, धनवानों के घर पर पहुँचने वाला निर्धन पुरुष अपमान के साथ देखा जाता है। अपर्याप्त वस्त्रों वाला निर्धन व्यक्ति लज्जा के कारण बड़े लोगों से दूर दूर ही चलता है, रहता है। अतः (मैं चारुदत्त यही) मानता हूँ कि निर्धनता (पाँच महापातकों से) भिन्न छठा प्रबल महापातक है ॥ ३७ ॥

टीका——हि-यतः, कश्चित्=कश्चनापि जनः, अस्य=दरिद्रस्य, सङ्गम्=सङ्गतिम्, नैव कुरुते=नैव करोति, अतः कश्चिदपि, आदरात्=सम्मानात्, न=नैव, सम्भाषते=सम्यक् वदति, उत्सवेषु=विवाहादिमहोत्सवेषु, धनिनाम्=धनिकानाम्, गृहम्=आवासम्, सम्प्राप्तः=समागतः, उपस्थितः, सावज्ञम्=अवज्ञया=अपमानेन सह, अवलोक्यते=दृश्यते, सर्वैरिति शेषः, अल्पच्छदः=स्वल्पः, छदः=वस्त्रं यस्य सः तादृशः अपर्याप्तवस्त्रयुतः, दरिद्रः, लज्जया=व्रीडया, महाजनस्य=धनिकस्य, उत्तमवस्त्रादि-समलङ्कृतस्य; दूरात्=विप्रकृष्टात्, एव, विहरति=चलति, तादृशवस्त्राभावात् जुगुप्सयात्मानं गोपयन् दूरे दूरे एव प्रचलति न तु तैः सहेति भावः, (अतः अहं चारुदत्तः इदम्) मन्ये=चिन्तयामि, निर्धनता=दरिद्रता, अपरम्=धर्मशास्त्रादौ प्रसिद्धातिरिक्तम्, प्रकामम्=प्रबलम्, षष्ठम्=षष्ठसंख्याकम्, महापातकम्=महापापम्, पञ्चमहापातकानि चैवं मनुना प्रतिपादितानि——

> ब्रह्महत्या सुरापानं स्तेयं गुर्वङ्गनागमः।
> महान्ति पातकान्याहुः संसर्गश्चापि तैः सह ॥ [मनु. ११।५६]
> अत्रोत्प्रेक्षालङ्कारः शार्दूलविक्रीडितं वृत्तम् ॥ ३७ ॥

विमर्श——षष्ठं महापातकम्——मनु आदि महर्षियों ने पाँच महापातक माने हैं—(१) ब्रह्महत्या, (२) सुरापान, (३) चोरी, (४) गुरुपत्नी-गमन, (५) इनमें किसी भी पातकी के साथ वर्ष भर रहना। दरिद्रता को इन्हीं की कोटि में छठा महापातक माना गया है। कुरुते——√डुकृञ्+'लट्' लकार प्र. पु. ए. व आत्मनेपद। सावज्ञम्—अवज्ञया सहितम्। महाजनः——महाँश्चासौ जनः-यहाँ महत्त्व धनादि के आधार पर समझना चाहिये। यदि 'कर्मादीनामपि सम्बन्धमात्रविवक्षायां षष्ठ्येव' नियम से 'महाजनस्य' में षष्ठी मान लें और 'विहरति' का अर्थ छोड़ता है, यह मान लें

अपि च--

दारिद्रच ! शोचामि भवन्तमेवमस्मच्छरीरे सुहृदित्युषित्वा ।
विपन्नदेहे मयि मन्दभाग्ये, ममेति चिन्ता क्व गमिष्यसि त्वम् ॥ ३८ ॥

तो--अपर्याप्त वस्त्रों वाला दरिद्र लज्जा के कारण महाजनों को दूर से ही छोड़े रहता है, उनसे नहीं मिलता है--यह अर्थ हो जाता है। अल्पच्छदः--अल्पः= अपर्याप्तः छदः=वस्त्रं यस्य सः--थोड़े वस्त्रों वाला--बहुव्रीहि है। 'मन्ये' के प्रयोग के कारण उत्प्रेक्षा अलङ्कार है और शार्दूलविक्रीडित छन्द है ॥ ३७ ॥

अन्वयः--हे दारिद्रच ! भवन्तम्, एवम्, शोचामि, अस्मच्छरीरे, सुहृद्, इति, उषित्वा, मन्दभाग्ये, मयि, विपन्नदेहे (सति), त्वम्, क्व, गमिष्यसि, इति, मम, चिन्ता, अस्ति ॥ ३८ ॥

शब्दार्थ--हे दारिद्रच ! हे निर्धनते ! (गरीबी), भवन्तम्=आपको अर्थात् आपके विषय में, एवम्=इस प्रकार, शोचामि=दुःख का अनुभव कर रहा हूँ, अस्मच्छरीरे=मेरे शरीर में, सुहृद्=मित्र, इति=इस रूप से, उषित्वा=रह कर, मन्दभाग्ये=अभागे, मयि=मेरे, विपन्नदेहे=शरीरत्याग कर देने पर अर्थात् मर जाने पर, त्वम्=तुम दारिद्रच, क्व=कहाँ, गमिष्यसि=जाओगे, इति=इस प्रकार की, मम=मुझ चारुदत्त की, चिन्ता=चिन्ता, अस्ति=है ॥ ३८ ॥

अर्थ--और भी--

हे निर्धनते ! (गरीबी) आपके विषय में मैं इस प्रकार दुःख कर रहा हूँ कि मेरे शरीर में मित्र इस रूप से रह कर मुझ अभागे के शरीर छोड़ देने पर अर्थात् मर जाने पर तुम (निराधार होकर) कहाँ जाओगे--यह मुझे (चारुदत्तको) चिन्ता है ॥ ३८ ॥

टीका--हे दारिद्रच !=हे निर्धनत्व !, भवन्तम्=त्वाम्, एवम्=अनेन रूपेण, शोचामि=दुःखमनुचिन्तयामि, अस्मच्छरीरे=मम देहे, सुहृद् इति=सखा इति रूपेण, उषित्वा=स्थित्वा, निवासं कृत्वा, मन्दभाग्ये=हतभाग्ये, मयि=चारुदत्ते, विपन्नदेहे= त्यक्तशरीरे, मृते, सति त्वम्=दारिद्रच ! निराधारो भूत्वा, क्व=कुत्र, गमिष्यसि= यास्यसि, आश्रयं ग्रहीष्यसि, इति=इत्येवं प्रकारेण, मम=चारुदत्तस्य, चिन्ता=मानसिकी व्यथा अस्ति=वर्तते । काव्यलिङ्गमलङ्कारः । इन्द्रवज्रोपेन्द्रवज्रयोः सम्मेलनादुपजातिर्वृत्तम् ॥ ३८ ॥

विमर्श--दारिद्रच--दरिद्र + ष्यञ्=य भाव अर्थ में। उषित्वा--√वस् + इट् + त्वा सम्प्रसारण होने से 'व' का उ और--षत्व करने से उष् + इ + त्वा। सुहृद्--शोभनं हृदयं यस्य सः --'सुहृद्दुर्हृदौ मित्रामित्रयोः' (पा० सू० ५।४।१५०) इससे हृदय को हृद् आदेश। विपन्नदेहे--विपन्नः=विनष्टः, देहः=शरीरम् यस्य सः--

विदू०—(सवैलक्ष्यम् ।) भो वअस्स ! जइ मए गन्तव्वं, ता एसा वि मे सहाइणी रदणिआ भोदु । (भो वयस्य ! यदि मया गन्तव्यम्, तदेषापि मम सहायिनी रदनिका भवतु ।)

चारु०—रदनिके ! मैत्रेयमनुगच्छ ।

चेटी—जं अज्जो आणवेदि । (यदार्य आज्ञापयति) ।

विदू०—भोदि ! रदणिए । गेण्ह बलिं पदीवं अ । अहं अवावुदं पक्खदुआरअं करेमि । (तथा करोति ।) (भवति रदनिके ! गृहाण बलिं प्रदीपञ्च । अहमपावृतं पक्षद्वारकं करोमि ।)

वसन्त०—मम अब्भुववत्तिणिमित्तं विअ अवावुदं पक्खदुआरअं, ता जाव पविसामि । (दृष्ट्वा) हद्धी ! हद्धी ! कधं पदीवो । (पटान्तेन निर्वाप्य प्रविष्टा ।) (मम अभ्युपपत्तिनिमित्तमिव अपावृतं पक्षद्वारकम्, तद्यावत् प्रविशामि । हा धिक् ! हा धिक् ! कथं प्रदीपः ! ।)

चारु०—मैत्रेय ! किमेतत् ? ।

विदू०—अवावुदपक्खदुआरएण पिण्डीकिदेण वादेण णिव्वाविदो पदीवो। भोदि ! रदणिए ! णिक्किम तुमं पक्खदुआरएण । अहंपि अब्भन्तरचदुस्सालादो पदीवं पज्जालिअ आअच्छामि । (इति निष्कान्तः ।) (अपावृतपक्षद्वारेण पिण्डीकृतेन वातेन निर्वापितः प्रदीपः । भवति रदनिके ! निष्क्राम त्वं पक्षद्वारकेण । अहमपि अभ्यन्तरचतुःशालातः प्रदीपं प्रज्वाल्य आगच्छामि ।)

ब० ब्री० । मयि यहाँ सतिसप्तमी है । इसमें इन्द्रवज्रा और उपेन्द्रवज्रा के संयोग के कारण उपजाति छन्द है । प्राचीन संस्कृत में युष्मत् और भवत् के प्रयोग में बहुत भेद नहीं माना जाता था । अतः यहाँ 'भवन्तम्' और 'त्वम्' दोनों का प्रयोग ठीक है ।।३८।।

अर्थ—**विदूषक**—(लज्जा के साथ) हे मित्र ! यदि मुझे जाना है तो यह रदनिका भी मेरे साथ चले ।

चारुदत्त—रदनिके ! मैत्रेय के साथ जाओ ।

चेटी—आपकी जो आज्ञा ।

विदूषक—हे रदनिके ! बलि और दीपक लो । मैं बगल का दरवाजा खोलता हूँ । (दरवाजा खोलता है ।)

वसन्तसेना—मुझ पर अनुग्रह करने के लिये ही मानों बगल के दरवाजा के किवाड़ खुले हैं । तो इसमें प्रवेश करती हूँ । (देख कर) हाय ! हाय ! (अब) क्या ? यहाँ दीप (जल रहा है ।) (आँचल से दीपक को बुझा कर प्रवेश करती है ।)

चारुदत्त—मैत्रेय ! यह क्या ?

विदूषक—बगल के दरवाजे के खुलने से एकत्रित वायु के झोंके ने यह दीपक

शकारः—भावे ! भावे ! अण्णेशामि वशन्तशणिअं ? (भाव ? भाव ! अन्विष्यामि वसन्तसेनिकाम् ।)

विटः—अन्विष्यताम् अन्विष्यताम् ।

शकारः—(तथा कृत्वा) भावे ! भावे ! गहिदा गहिदा (भाव ! भाव ! गृहीता गृहीता ।)

विटः—मूर्ख ! नन्वहम् ।

शकारः—इदो दाव पाच्छन्नो भविअ एअन्ते भावे चिट्ठदु । (पुनरन्विष्य चेट गृहीत्वा ।) भावे ! भावे ! गहिदा गहिदा । (इतस्तावत् प्रच्छन्नो भूत्वा एकान्ते भावस्तिष्ठतु । भाव ! भाव । गृहीता गृहीता ।)

चेटः—भट्टके ! चेडे हगे । (भट्टारक ! चेटोऽहम् ।)

शकारः—इदो भावे, इदो चेड़े, भावे चेड़े, चेड़े भावे । तुम्हे दाव एअन्ते चिट्ठ । (पुनरन्विष्य रदनिकां केशेषु गृहीत्वा) भावे ! भावे ! शंपदं गहिदा गहिदा वसंतशेणिआ । (इतो भावः, इतश्चेटः, भावश्चेटः, चेटो भावः, युवां तावत् एकान्ते तिष्ठतम् । भाव ! भाव ! सांप्रतं गृहीता गृहीता वसन्तसेनिका ।)

अन्धआले पलाअन्ती मल्लगन्धेण शूइदा ।
केशविन्दे पलामिट्ठा चाणक्केणेव्व दोव्वदी ॥ ३९ ॥

बुझा दिया । रदनिके । तुम बगल के दरवाजे से निकल जाओ। मैं भी भीतरी चौशाल से दीपक जला कर आता हूँ । (इस प्रकार निकल जाता है ।)

शकार—भाव ! भाव ! वसन्तसेना को खोजूँगा ।

विट—खोजिये, खोजिये ।

शकार—(वैसा करके=खोज करके) भाव ! भाव ! पकड़ ली, पकड़ ली ।

विट—मूर्ख ! यह तो मैं हूँ ।

शकार—इधर होकर आप तब तक एकान्त में रहिये । (फिर खोज कर चेट को पकड़ कर) भाव ! भाव ! पकड़ ली, पकड़ ली ।

चेट—स्वामिन् ! यह तो मैं (चेट) हूँ ।

शकार—इधर भाव (विट), उधर चेट, भाव, चेट, चेट, भाव । आप दोनों तब तक एकान्त में ही बैठिये । (फिर खोज कर रदनिका को बालों में पकड़ कर) भाव ! भाव ! इस समय वसन्तसेना पकड़ ली, पकड़ ली ।

अन्वयः—अन्धकारे, पलायमाना, माल्यगन्धेन, सूचिता, (वसन्तसेना), चाणक्येन, द्रौपदी, इव, केशवृन्दे, परामृष्टा ॥ ३९ ॥

(अन्धकारे पलायमाना माल्यगन्धेन सूचिता ।
केशवृन्दे परामृष्टा चाणक्येनेव द्रौपदी ॥ ३९ ॥

विटः—एषासि वयसो दर्पात् कुलपुत्रानुसारिणी ।
केशेषु कुसुमाढ्येषु सेवितव्येषु कर्षिता ॥ ४० ॥

शब्दार्थ—अन्धकारे=अन्धेरे में, पलायमाना=भागनेवाली, किन्तु माल्यगन्धेन=माला के पुष्पों की गन्ध से, सूचिता=सूचित=ज्ञात हो जाने वाली, (वसन्तसेना को), चाणक्येन=चाणक्य द्वारा, द्रौपदी इव=पाण्डवों की पत्नी के समान, केशवृन्दे=केशसमूहमें, परामृष्टा=पकड़ ली गई, अर्थात् बालों में पकड़ ली गई ॥ ३९ ॥

अर्थ—अन्धेरे में भागती हुई (किन्तु) माला की गन्ध से सूचित (ज्ञात) हो जाने वाली (वसन्तसेना) को उसी प्रकार बालों में पकड़ लिया है जैसे चाणक्य ने द्रौपदी को (पकड़ा था) अर्थात् वसन्तसेना का केशसमूह मैंने पकड़ लिया है ॥ ३९ ॥

टीका—अन्धकारे=तमसि, पलायमाना=धावन्ती, किन्तु, माल्यगन्धेन=माल्यस्य=मालागुम्फितपुष्पसमुदायस्य, गन्धेन=सौरभेण, सूचिता=संकेतिता, ज्ञापिता, (वसन्तसेना), चाणक्येन=कौटिल्येन, द्रौपदी इव=पाण्डवपत्नी इव, केशवृन्दे=कचसमुदाये, अवच्छेद्यत्वं सप्तम्यर्थः केशवृन्दावच्छेदेनेत्यर्थः, परामृष्टा=गृहीता, धृता वा, मयेति शेषः । अत्रापि प्रसिद्धिविरुद्धत्वात् हतोपमा । अनुष्टुप् वृत्तम् ॥ ३९ ॥

विमर्श—चाणक्येन द्रौपदी इव—यह कथन सर्वथा असंगत है । किन्तु शकार की बातें मूर्खतापूर्ण ही होती हैं अतः अविचारणीय हैं । केशवृन्दे–यहाँ सप्तमी का अर्थ अवच्छेद्यता है–केशवृन्दावच्छेदेन गृहीता–इसका तात्पर्य है–बालों से पकड़ ली गई । हतोपमा है । अनुष्टुप् छन्द है । लक्षण–

श्लोके षष्ठं गुरु ज्ञेयं सर्वत्र लघु पञ्चमम् ।
द्विचतुष्पादयोर्ह्रस्वं सप्तमं दीर्घमन्ययोः ॥ ३९ ॥

अन्वयः—एषा, (त्वम्) वयसः, दर्पात्, कुलपुत्रानुसारिणी, सेवितव्येषु, पुष्पाढ्येषु, केशेषु, कर्षिता, असि ॥ ४० ॥

शब्दार्थ—एषा=यह (तुम वसन्तसेने !) वयसः=अवस्था=यौवन के, दर्पात्=घमण्ड से, कुलपुत्रानुसारिणी=कुलीन चारुदत्त का अनुसरण करने वाली, उससे मिलने के लिये जाने वाली, सेवितव्येषु=सेवा करने के योग्य, कुसुमाढ्येषु=फूलों से खूब सजे हुये, केशेषु=बालों में, कर्षिता=खींची गई, असि=हो, अर्थात् बालों को पकड़ कर तुम्हें खींचा गया है ॥ ४० ॥

शकारः—
एशाशि वाशू ! शिलशि ग्गहीदा केशेशु बालेशु शिलोलुहेशु ।
अक्कोश विक्कोश लवाहिचण्डं शम्भुं शिवं शंकलमीश्शलं वा ॥४१॥
(एषासि वासु ! शिरसि गृहीता केशेषु बालेषु शिरोरुहेषु ।
आक्रोश विक्रोश लपाधिचण्डं शम्भुं शिवं शंकरमीश्वरं वा ॥ ४१ ॥

अर्थ—यह (वसन्तसेना ! तुम) अपने यौवन के दर्प से कुलपुत्र चारुदत्त से मिलने जा रही हो, किन्तु सेवा करने योग्य, खूब फूलों से सजे हुये तुम्हारे केशों को पकड़ कर खींचा जा रहा है ॥ ४० ॥

टीका—एषा=अन्धकारे विलीनापि शकारेण गृहीता त्वम्, वसन्तसेना, वयसः=यौवनस्य, दर्पात्=अभिमानात्, कुलपुत्रानुसारिणी=कुलपुत्रस्य चारुदत्तस्य अनुगमनशीला, असि, किन्तु, सेवितव्येषु=सेवायोग्येषु कुसुमाढ्येषु=कुसुमैः=पुष्पैः आढ्येषु=युक्तेषु केशेषु अत्राप्यवच्छेद्यत्व सप्तम्यर्थः, केशावच्छेदेनेत्यर्थः, कर्षिता= आकृष्टा असि, शकारेणेति शेषः। अतः शकारमुपसेवस्वेति भावः । अनुष्टुप् छन्दः ॥ ४० ॥

विमर्श—दर्पात्-अपने यौवन के दर्प के कारण हम लोगों की उपेक्षा करके तुम चारुदत्त के पास जाना चाहती हो, परन्तु नहीं जा सकती हो । सेवितव्येषु √सेव् + तव्यत् । पुष्पाढ्येषु=जिनमें बहुत फूल गुथे हैं । केशेषु-सप्तमी का अर्थ- अवच्छेद्यता है-केशावच्छेदेन कर्षिता । अनुष्टुप् छन्द है ॥ ४० ॥

अन्वयः—हे वासु !, शिरसि, केशेषु, बालेषु शिरोरुहेषु, गृहीता, त्वम्, (अधुना), आक्रोश, विक्रोश, वा, शम्भुम्, शिवम्, शङ्करम्, ईश्वरम्, वा, अधिचण्डम्, लप ॥ ४१ ॥

शब्दार्थ—हे वासु ! हे बालिके !, शिरसि=सिर में, केशेषु=केशों में, बालेषु= बालों में, शिरोरुहेषु=शिर के बालों में, गृहीता=पकड़ ली गई, त्वम्=तुम, (अधुना=अब) आक्रोश=गाली दो, नाराज हो जाओ, वा=अथवा, विक्रोश= चिल्लाओ, शम्भुम्, शिवम्, शङ्करम्, ईश्वरम् वा=शम्भु, शिव, शंकर और ईश्वर को, अधिचण्डम्=खूब जोर जोर से, लप=पुकारो ॥ ४१ ॥

अर्थ—शकार—हे बालिके ! (अरी छोकरी), शिर में, बालों में पकड़ी गई तुम अब चाहे चिल्लाओ अथवा (नाराज हो जाओ), गाली दो, और शिव शम्भु, शंकर, ईश्वर को जोर जोर से पुकारो । (मैं किसी से डरनेवाला नहीं हूँ) ॥ ४१ ॥

टीका—हे वासु !=अयि बालिके ! शिरसि=केशेषु, बालेषु, शिरोरुहेषु=शिरो- भागे स्थितेषु कचेष्वित्यर्थः, गृहीता=धृता, त्वम्=वसन्तसेना, अधुना आक्रोश=शापं

रदनिका—(सभयम् ।) किं अज्जमिस्सेहिं ववसिदं । (किमार्य्य-मिश्रैर्व्यवसितम् ?)

विटः—काणेलीमातः ! अन्य एवैष स्वरसंयोगः ।

शकारः—भावे ! भावे ! जघा दहिच्छलिल-पलिलुद्धाए मज्जलीआ शल-पलिवत्ते होदि, तधा दाशीएधीए शलपलिवत्ते कडे (भाव ! भाव ! यथा दधिशरपरिलुब्धाया मार्जार्याः स्वरपरिवर्त्तो भवति, तथा दास्याः पुत्र्या स्वरपरिवर्त्तः कृतः ।)

गालिं वा देहि, वा=अथवा, विक्रोश=रक्षार्थं कमपि आह्वय, अथवा शम्भुम्=शिवम्=शङ्करम्=ईश्वरम्=महादेवमित्यर्थः, अधिचण्डम्=अत्युच्चैः, क्रियाविशेषणमिदम्, लप=रक्षार्थम् आकारय, अहं शकारो न कस्मादपि बिभेमीति भावः । अत्र पूर्वार्धे उत्तरार्द्धे च पुनरुक्तिः शकारवचनत्वात् सोढव्या । इन्द्रवज्रा वृतम् ।। ४१ ।।

विमर्श—शिरसि, केशेषु, बालेषु, शिरोरुहेषु —इन सभी का एक ही तात्पर्य है । इसी प्रकार—शम्भुम्, शिवम्, शङ्करम्, ईश्वरम्=इनका भी एक ही अर्थ है । शकार की मूर्खता के कारण ये दोष नहीं हैं । 'अधिचण्डम्' इसे कुछ विद्वान् 'लप' क्रिया का विशेषण मानते हैं और कुछ इसे भी महादेव का पर्याय मानते हैं—'चण्डम्=महादेवं च'—पृथ्वीधर । आक्रोश—√आङ्+क्रुश+लोट् म. पु. ए. ब. । क्रुश=आह्वाने रोदने च । परन्तु उपसर्ग के कारण शाप देना अथवा गाली देना अर्थ हो जाता है । इसी प्रकार वि+√क्रुश+लोट् म. पु. ए. व. में बुलाना अर्थ है । यहाँ इन्द्रवज्रा छन्द है ।। ४१ ।।

अर्थ—रदनिका—(भय के साथ) आप महानुभावों ने यह क्या किया ? (अथवा कर रहे हैं ?)

विट—काणेलीपुत्र ! यह तो दूसरी ही आवाज (लगती) है ।

शकार—भाव ! भाव ! जैसे दही के ऊपर की मलाई खाने की इच्छुक बिल्ली की आवाज बदल जाती है उसी प्रकार इस दासी की पुत्री ने (अपनी) आवाज बदल ली है ।

टीका—आर्यमिश्रैः=आर्याश्च ते मिश्राश्च=पूजनीयैर्महानुभावैरिति भावः, व्यवसितम्=कृतम् क्रियते वा, दधिशरपरिलुब्धाया=शरः=दध्नः उपरिभागः, हिन्द्यां मलाई इति प्रसिद्धम्, तस्य लुब्धाया=अभिलाषिण्याः क्वचित् दधिभक्तलुब्धायाः= इत्यपि पाठः, स्वरपरिवर्त्तः=ध्वनेः परिवर्त्तनं मार्जारिकायाः भवति तथैवानया वसन्तसेनयापि स्वस्वरस्य परिवर्त्तनं कृतम् ।

विमर्श—दधि-शर-परिलुब्धायाः—शर=दही के ऊपरी भाग=मलाई को कहते हैं । दही के ऊपर की मलाई खाने की इच्छुक बिल्ली जैसे अपनी स्वाभाविक आवाज बदल लेती है वैसे ही वसन्तसेना ने अपनी आवाज बदल ली है । कहीं कहीं

विट :—कथं स्वरपरिवर्त्तः कृतः । अहो चित्रम् । अथवा किमत्र चित्रम् ?

इयं रङ्गप्रवेशेन कलानां चोपशिक्षया ।
वञ्चनापण्डितत्वेन स्वरनैपुण्यमाश्रिता ॥ ४२ ॥

(प्रविश्य)

विदूषकः— ही ही भो ! पदोसमन्दमारुदेण पसुबन्धोवणीदस्स विअ छाअलस्स हिअअं, फुरफुराअदि पदीवो (उपसृत्य रदनिकां दृष्ट्वा) भो ! **रदणिए ।** (आश्चर्यम् ! भोः ! प्रदोषमन्दमारुतेन पशुबन्धोपनीतस्येव छागलस्य हृदयं फुरफुरायते प्रदीपः । भो रदनिके ! ।)

दधिभक्तलुब्धायाः=—यह भी पाठ है । दही भात खाने की इच्छुक—यह अर्थ है । परन्तु प्रथम पाठ ही तर्कसंगत है ।

अन्वयः—रङ्गप्रवेशेन, कलानाम्, उपशिक्षया, च, वञ्चनापण्डितत्वेन, च, इयम्, स्वरनैपुण्यम्, आश्रिता ॥ ४२ ॥

शब्दार्थ—रङ्ग-प्रवेशेन=नाटचशाला में प्रवेश=कार्य करने से, च=और, कलानाम्=संगीत आदि ६४ कलाओं की, उपशिक्षया=शिक्षा अथवा अभ्यास के कारण, तथा, वञ्चनापण्डितत्वेन=ठगने की चतुरता के कारण, इयम्=इस वसन्तसेना ने, स्वरनैपुण्यम=अपनी आवाज (बदलने) की निपुणता, आश्रिता=प्राप्त कर ली है ॥ ४२ ॥

अर्थ—विट—क्या स्वर बदल लिया ? बड़ा आश्चर्य है। अथवा इसमें आश्चर्य क्या है ?

रंगशाला में (अभिनयादि करने के लिये) प्रवेश करने से और [संगीत आदि] कलाओं की शिक्षा [या अभ्यास] से तथा ठगने में चतुर होनेसे इसने स्वर [परिवर्तन आदि] में निपुणता प्राप्त कर ली है ॥ ४२ ॥

टीका—रङ्गप्रवेशेन=रङ्गः=नाटचशाला तत्र अभिनयाद्यर्थं गमनेन, कलानाम्=सङ्गीतशास्त्रादिप्रसिद्धकलानाम्, उपशिक्षया=अभ्यासेन, शिक्षणाद्वा, वञ्चनापण्डितत्वेन—वञ्चना=प्रतारणा, तस्यां पण्डितत्वेन=चातुर्येण, इयम्=वसन्तसेना, स्वरनैपुण्यम्=स्वध्वनेः परिवर्तनादिविषयकं कौशलम्, आश्रिता=प्राप्तवती । एवञ्च वसन्तसेनैवेयमिति भावः । काव्यलिङ्गमलङ्कारः, अनुष्टुप् वृत्तम् ॥ ४२ ॥

विमर्श—वञ्चनापण्डितत्वेन=—वञ्चना=ठगना, उसमें पण्डितत्व—पण्डित होने से—पण्डित शब्द से भाव में त्वल् प्रत्यय है । स्वरनैपुण्यम्—यहाँ स्वर का नैपुण्य—निपुण शब्द से भाव में ष्यञ्=य प्रत्यय होता है । स्वरनैपुण्य का अभिप्राय इच्छानुसार स्वर कर लेना हैं । तीन हेतुओं से स्वरनैपुण्य का आश्रयण कार्य हो रहा है अतः काव्यलिङ्ग अलङ्कार है । और अनुष्टुप् छन्द है ॥४२॥

[प्रवेश करके]

अर्थ—विदूषक—अरे आश्चर्य है ! प्रदोष=सन्ध्या-कालीन हवा से यह दीपक, यज्ञीय पशु को बांधने के लिये बने खूंटे के पास ले जाये गये पशु

विट :—कथं स्वरपरिवर्त्तः कृतः। अहो चित्रम्। अथवा किमत्र चित्रम्?

इयं रङ्गप्रवेशेन कलानां चोपशिक्षया।
वञ्चनापण्डितत्वेन स्वरनैपुण्यमाश्रिता ॥ ४२ ॥

(प्रविश्य)

विदूषकः—हो हो भो! पदोसमन्दमारुदेण पसुबन्धोवणीदस्स विअ छाअलस्स हिअअं, फुरफुराअदि पदीवो (उपसृत्य रदनिकां दृष्ट्वा) भो! रदणिए। (आश्चर्यम्! भोः! प्रदोषमन्दमारुतेन पशुबन्धोपनीतस्येव छागलस्य हृदयं फुरफुरायते प्रदीपः। भो रदनिके!।)

दधिभक्तलुब्धायाः=–यह भी पाठ है। दही भात खाने की इच्छुक—यह अर्थ है। परन्तु प्रथम पाठ ही तर्कसंगत है।

अन्वयः—रङ्गप्रवेशेन, कलानाम्, उपशिक्षया, च, वञ्चनापण्डितत्वेन, च, इयम्, स्वरनैपुण्यम्, आश्रिता ॥ ४२ ॥

शब्दार्थ—रङ्ग–प्रवेशेन=नाटचशाला में प्रवेश=कार्य करने से, च=और, कलानाम्=संगीत आदि ६४ कलाओं की, उपशिक्षया=शिक्षा अथवा अभ्यास के कारण, तथा, वञ्चनापण्डितत्वेन=ठगने की चतुरता के कारण, इयम्=इस वसन्तसेना ने, स्वरनैपुण्यम=अपनी आवाज (बदलने) की निपुणता, आश्रिता=प्राप्त कर ली है ॥ ४२ ॥

अर्थ—विट—क्या स्वर बदल लिया? बड़ा आश्चर्य है। अथवा इसमें आश्चर्य क्या है?

रंगशाला में (अभिनयादि करने के लिये) प्रवेश करने से और [संगीत आदि] कलाओं की शिक्षा [या अभ्यास] से तथा ठगने में चतुर होनेसे इसने स्वर [परिवर्तन आदि] में निपुणता प्राप्त कर ली है ॥ ४२ ॥

टीका—रङ्गप्रवेशेन=रङ्गः=नाटचशाला तत्र अभिनयाद्यर्थं गमनेन, कलानाम्=सङ्गीतशास्त्रादिप्रसिद्धकलानाम्, उपशिक्षया=अभ्यासेन, शिक्षणाद्वा, वञ्चनापण्डितत्वेन—वञ्चना=प्रतारणा, तस्यां पण्डितत्वेन=चातुर्येण, इयम्=वसन्तसेना, स्वरनैपुण्यम्=स्वध्वनेः परिवर्तनादिविषयकं कौशलम्, आश्रिता=प्राप्तवती। एवञ्च वसन्तसेनैवेयमिति भावः। काव्यलिङ्गमलङ्कारः, अनुष्टुप् वृत्तम् ॥ ४२ ॥

विमर्श—वञ्चनापण्डितत्वेन=–वञ्चना=ठगना, उसमें पण्डितत्व—पण्डित होने से—पण्डित शब्द से भाव में त्वल् प्रत्यय है। स्वरनैपुण्यम्—यहाँ स्वर का नैपुण्य–निपुण शब्द से भाव में ष्यञ्=य प्रत्यय होता है। स्वरनैपुण्य का अभिप्राय इच्छानुसार स्वर कर लेना हैं। तीन हेतुओं से स्वरनैपुण्य का आश्रयण कार्य हो रहा है अतः काव्यलिङ्ग अलङ्कार है। और अनुष्टुप् छन्द है ॥४२॥

[प्रवेश करके]

अर्थ—विदूषक—अरे आश्चर्य है! प्रदोष=सन्ध्या-कालीन हवा से यह दीपक, यज्ञीय पशु को बांधने के लिये बने खूंटे के पास ले जाये गये पशु

शकारः—भावे ! भावे ! मणुश्शे मणुश्शे । (भाव ! भाव ! मनुष्यो मनुष्यः ।)

विदूषकः—जुत्त णेदं, सरिसं णेदं, जं अज्जचारुदत्तस्स दलिद्दाए सम्पदं परपुरिसा गेहं पविसन्ति । (युक्तं नेदम्, सदृशं नेदम्, यदार्य्यचारुदत्तस्य दरिद्रतया साम्प्रतं परपुरुषा गेहं प्रविशन्ति ।)

रद०—अज्ज मित्तेअ ! पेक्ख मे परिहवं । (आर्य्य ! मैत्रेय ! प्रेक्षस्व मे परिभवम् ?)

विदूषकः—किं तव परिहवो ? आदु अम्हाणं ? (किं तव परिभवः ? अथवा अस्माकम् ?)

रद०—णं तुम्हाणं ज्जेव । (ननु युष्माकमेव ।)

विदूषकः—किं एसो बलक्कारो ? । (किमेष बलात्कारः ? ।)

रद०—अध इं । (अथ किम् ।)

विदूषकः—सच्चं ? (सत्यम् ? ।)

रद०—सच्चं ? (सत्यम् ।)

विदू०—(सक्रोध दण्डकाष्ठमुद्यम्य) **मा दाव । भो ! सके गेहे कुक्कुरोऽवि**

के हृदय के समान, फुर फुर कर रहा है । (पास जाकर रदनिका को देख कर) अरी ! रदनिके ।

विमर्श—प्रदोषमन्दमारुतेन=प्रदोष = सायंकालीन मन्द हवा से, पशुबन्धोपनीतस्य—पशुः बध्यते अत्र-इस विग्रह में अधिकरण अर्थ में घञ्=अ प्रत्यय होता है—पशुबन्धः, तत्र उपनीतस्य=बलिप्रदानार्थं बद्धस्य, छागलस्य=बकरे के, फुरफुरायते=फुर-फुर इस प्रकार के अव्यक्त शब्द को कर रहा है, अथवा हिल रहा है ।

अर्थ—शकार—भाव ! भाव ! पुरुष है पुरुष ।

विदूषक—यह उचित नहीं है, शोभनीय नहीं है कि आर्य चारुदत्त के दरिद्र होने के कारण इस समय दूसरे लोग घर में घुस रहे हैं ।

रदनिका—आर्य मैत्रेय ! मेरा अपमान तो देखो ।

विदूषक—क्या तेरा अपमान अथवा हम लोगों का ?

रदनिका—हाँ, आप लोगों का ही ।

विदूषक—क्या यह बलात्कार (बलपूर्वक अपमान) है ?

रदनिका—हाँ, और क्या ।

विदूषक—सच ?

रदनिका—सच ।

विदूषक—(क्रोधपूर्वक लकड़ी का डण्डा उठाकर) ऐसा नहीं (हो सकता) । अरे ! अपने घर में तो कुत्ता भी बहादुर बन जाता है और मैं तो भला

दाव चण्डो भोदि, किं उण अहं वम्हणो ! ता एदिणा अम्हारिस-जण-भाअधेअ-कुडिलेण दण्डकट्ठेण दुट्ठस्स विअ सुक्खाण-वेणुअस्स मत्थअं दे पहारेहिं कुट्टइस्सं । (मा तावत् । भोः ! स्वके गेहे कुक्कुरोऽपि तावत् चण्डो भवति, किं पुनरहं ब्राह्मणः । तदेतेन अस्मादृश-जन-भागधेय-कुटिलेन दण्डकाष्ठेन दुष्टस्येव शुष्कवेणुकस्य मस्तकं ते प्रहारैः कुट्टयिष्यामि ।)

विटः—महाब्राह्मण ! मर्षय मर्षय ।

विदू०—(विटं दृष्ट्वा ।) **ण एत्थ एसो अवरज्झदि ।** (शकारं दृष्ट्वा) **एसो क्खु एत्थ अवरज्झदि । अरे रे राअसालअ । संट्ठाणअ । दुज्जण । दुम्मणुस्स । जुत्तं णेदं ? जइवि णाम तत्तभवं अज्जचारुदत्तो दलिद्दो संवुत्तो, ता किं तस्स गुणेहिं ण अलङ्किदा उज्जइणी जेण तस्स गेहं पविसिअ परिअणस्स ईरिसो उवमद्दो करीअदि ।** (नात्र एषोऽपराध्यति । एष खल्वत्र अपराध्यति ! अरे रे राजश्यालक ! संस्थानक ! दुर्जन ! दुर्म्मनुष्य ! युक्तं नेदम् । यद्यपि नाम तत्रभवान् आर्य्यचारुदत्तो दरिद्रः संवृत्तः, तत् किं तस्य गुणैर्नालङ्कृता उज्जयिनी येन तस्य गृहं प्रविश्य परिजनस्य ईदृश उपमर्द्दः क्रियते ।)

ब्राह्मण (पुरुष) हूँ । इस लिये हम लोगों के (टेढ़े) भाग्य के समान डेढ़े इस लकड़ी के डण्डे से प्रहारों के द्वारा, सूखे बाँस के समान दुष्ट तेरे शिर को कूट (तोड़) डालता हुँ ।

विट—महाब्राह्मण ! क्षमा करो । क्षमा करो ।

विदूषक—(विट को देख कर) यहाँ यह अपराध=बलात्कार नहीं कर रहा है । (शकार को देखकर) अरे रे राजश्यालक (राजा के साले) [illegible] . दुष्ट ! नीच मनुष्य ! यह ठीक नहीं है । यद्यपि आर्य चारुदत्त (इस समय) दरिद्र हो गये हैं, तो तो भी क्या उनके गुणों से उज्जयिनी नगरी अलंकृत नहीं है जो उनके घर में घुसकर परिजन (**नौकरानी**) को इस प्रकार अपमानित किया जा रहा है ।

विमर्श—चण्ड=शूर, बलशाली । भागधेय-यहाँ 'भागरूपनामभ्यो धेयः, वार्त्तिक से स्वार्थिक धेय प्रत्यय है और भाग=भाग्यवाची है । वेणुकस्येव दुष्टस्य ते मस्तकं कुट्टयिष्यामि - यह योजना है । महाब्राह्मण–निकृष्ट ब्राह्मण । नौ शब्दों के साथ 'महत्' शब्द का योग निन्दित अर्थ व्यक्त करता है–

> शङ्खे, तैले, तथा मांसे, वैद्ये, ज्योतिषिके, द्विजे ।
> यात्रायां, पथि, निद्रायां महच्छब्दो न दीयते ॥

विदूषक निकृष्ट ब्राह्मण होता है । अतः महाब्राह्मण सम्बोधन ठीक है । संस्थानक–यह शकार का नाम है । उपमर्द्दः–निग्रह, अपमान ।

मा दुग्गदीत्ति परिहवो णत्थि कअन्तस्स दुग्गदो णाम।
चारित्तेण विहीणो अड्ढो वि्अ दुग्गदो होइ ॥ ४३ ॥

(मा दुर्गत इति परिभवो नास्ति कृतान्तस्य दुर्गतो नाम।
चारित्र्येण विहीन आढ्योऽपि च दुर्गतो भवति ॥ ४३ ॥)

अन्वयः—(अयं, जनः), दुर्गतः, इति, परिभवः, मा, (कार्षीः), कृतान्तस्य, (समक्षम्), दुर्गतः, न, अस्ति, नाम, च, चारित्र्येण, विहीनः, आढ्यः, अपि, दुर्गतः, भवति ॥ ४३ ॥

शब्दार्थ—(अयं जनः=यह व्यक्ति), दुर्गतः=दरिद्र (है), इति=इसलिये, परिभवः=अपमान, मा=मत, (कार्षीः=करो), कृतान्तस्य=यमराज के (समक्षम्=सामने) दुर्गतः=दरिद्र, न=नहीं, अस्ति=है, नाम च=प्रत्युत, चारित्र्येण=सदाचरण से, विहीनः=रहित, आढ्यः=धनी, अपि=भी, दुर्गतः=दरिद्र, भवति=होता है ॥४३॥

अर्थ—(यह) दरिद्र है इसलिये (किसी का) अपमान मत करो, क्योंकि यमराज के सामने कोई दरिद्र नहीं है। धनी भी चरित्र से विहीन निर्धन ही होता है। अतः दरिद्र समझ कर चारुदत्त अथवा उसके सम्बन्धियों का अपमान करना अनुचित है ॥ ४३ ॥

टीका—(अयम्) दुर्गतः=दुखं प्राप्तः दरिद्रः, इति=हेतोः, (तस्य) परिभवः=अवमानना, मा=नैव, (कार्षीः) हि, कृतान्तस्य=यमराजस्य, (समक्षम्) दुर्गतः=दरिद्रः, न=नैव, अस्ति=भवति, नाम, इदं सम्भावनायाम्। यमस्य समक्षम् निश्चयेन कश्चिदपि दरिद्रो धनी वा न भवति। चारित्र्येण=सदाचारेण, शास्त्र-सम्मताचारेण, विहीनः= रहितः, आढ्यः=धनवान्, अपि दुर्गतः=दरिद्रो, भवति=वर्तते। एवञ्च धनेन अस्य धनिकत्वं नैव द्रष्टव्यम्, प्रत्युत शिष्टाचारेणेति भावः। प्रथमवाक्यार्थस्य द्वितीयवाक्यार्थेन समर्थनात् काव्यलिङ्गम्। अप्रस्तुतप्रशंसा चेत्यनयोः संसृष्टिः। गाथा छन्दः। तल्लक्षणम्—

विषमाक्षरपादत्वात्, पादौ रसमञ्जस धर्मवत्।
यश्छन्दसि नोक्तमत्र, गाथेति तत् कथितं सूरिभिः ॥४३॥

विमर्श—दुर्गतः—दुर्=कष्टं गतः=प्राप्तः अर्थात् दरिद्रः। परिभवः=तिरस्कार। चारित्र्येण—चरित्र शब्द से स्वार्थिक ष्यञ् प्रत्यय हैं अतः चरित्र, चारित्र और चारित्र्य सभी समानार्थक ही हैं। कृतान्तः=कृतः अन्तः येन सः—सभी का अन्त करनेवाला यमराज। इसमें काव्यलिङ्ग और अप्रस्तुतप्रशंसा की निरपेक्षरूपेण स्थिति होने से संसृष्टि है। गाथा छन्द है। लक्षण संस्कृत टीका में देखिये ॥४२॥

विटः—(सवैलक्ष्यम्) महाब्राह्मण ! मर्षय मर्षय । अन्यजनशङ्कया खल्विदमनुष्ठितम्, न दर्पात् । पश्य—

सकामाऽन्विष्यतेऽस्माभिः............

विदू०—किं इअं ? । (किमियम् ?)

विटः—शान्तं पापम् ।

.........................काचित् स्वाधीनयौवना ।

सा नष्टा शङ्कया तस्याः प्राप्तेयं शीलवञ्चना ॥ ४४ ॥

अर्थ—विट—(लज्जा के साथ) महाब्राह्मण ! क्षमा करो, क्षमा करो । किसी अन्य व्यक्ति (वसन्तसेना) की शंका से यह हो गया, न कि घमण्ड से । देखो—

हम लोग एक कामिनी (वेश्या) की खोज कर रहे हैं......... ।

विदूषक—क्या इस की ?

विट—अनिष्ट शान्त हो ।

अन्वयः—स्वाधीनयौवना, सकामा, काचित्, अस्माभिः, अन्विष्यते, (किन्तु), सा, नष्टा, तस्याः, शङ्कया, इयम्, शीलवञ्चना, प्राप्ता ॥ ४४ ॥

शब्दार्थ—स्वाधीनयौवना=अपनी जवानी पर अधिकार रखने वाली, सकामा=कामवासनायुक्त, काचित्=कोई (वसन्तसेना), अस्माभिः=हम लोगों-द्वारा, अन्विष्यते=खोजी जा रही है (किन्तु) सा=वह (वसन्तसेना), नष्टा=गायब हो गई है, यस्याः=उसी स्त्री की शङ्कया=भ्रम से, इयम्=यह (रदनिका का केशग्रहणरूपी) शीलवञ्चना=सदाचार का उल्लङ्घन, प्राप्ता=हो गया ॥ ४४ ॥

अर्थ—अपनी जवानी की मालकिन कामातुर किसी (वेश्या) की खोज हम लोग कर रहे हैं, परन्तु वह तो गायब (अदृश्य) हो गई, उसी के भ्रम के कारण यह शिष्टाचार की हानि (उल्लङ्घन) हो गई (अर्थात् चारुदत्त की निर्धनता के कारण ऐसा अपराध नहीं हुआ है) ॥ ४४ ॥

टीका—स्वाधीनम्=स्वायत्तम्, यौवनम्=युवावस्था यस्याः सा, स्वेच्छया यौवनोपभोगसमर्थेति भावः, सकामा=कामातुरा, काचित्=कापि, वेश्या, वसन्तसेनेत्यर्थः, अस्माभिः=शकारादिभिः अन्विष्यते=अनुसन्धीयते, किन्तु सा=स्त्री, वसन्तसेना, नष्टा=अदृष्टा, तस्याः=अदृष्टरमण्याः, वेश्यायाः, शङ्कया=भ्रमात्, इयम्=साम्प्रतं रदनिकया सह घटिता, शीलवञ्चना=शिष्टाचारस्य प्रतारणा, परस्त्रीस्पर्शः इत्यर्थः, प्राप्ता=सञ्जाता, अस्माभिरिदमत्रापि योजनीयम् । एवञ्च चारुदत्तस्य दारिद्र्यं नात्र हेतुः, किन्तु वेश्याभ्रम एवेति भावः । पथ्यावक्त्रं वृत्तम् ॥ ४४ ॥

सर्वथा इदमनुनयसर्वस्वं गृह्यताम् । (इति खड्गमुत्सृज्य कृताञ्जलिः पादयोः पतति ।)

विदू०—सप्पुरिस । उट्ठेहि उट्ठेहि । अआणन्तेण मए तुमं उवालद्धे, सम्पदं उण जाणन्तो अणुणेमि । (सत्पुरुष ! उत्तिष्ठ उत्तिष्ठ । अजानता मया त्वमुपालब्धः, साम्प्रतं पुनर्जानन् अनुनयामि ।)

विटः—ननु भवानेवात्रानुनेयः । तदुत्तिष्ठामि समयतः ।

विदू०—भणादु भवं (भणतु भवान् ।)

विटः—यदीमं वृत्तान्तमार्य्यचारुदत्तस्य नाख्यास्यसि ।

विदू०—ण कधइस्सं । (न कथयिष्यामि ।)

विटः—एष ते प्रणयो विप्र ! शिरसा धार्य्यते मया ।

गुणशस्त्रैर्वयं येन शस्त्रवन्तोऽपि निर्जिताः ॥ ४५ ॥

विमर्श—यहाँ सकामा तथा स्वाधीनयौवना इन दो विशेषणों से वेश्या की प्रतीति हो जाती है । सकामा=कामेन=मदनावेशेन सहिता सकामा=कामातुरा । स्वाधीनयौवना=स्व अपने ही (न कि पति आदि किसी अन्य के) अधीन है यौवन= यौवन का प्रभाव जिसके वह । नष्टा —√नश् अदर्शने धातु का निष्ठा-क्त प्रत्यय के साथ रूप है । इसलिये इसका अर्थ हैं —अदृष्टा । शीलवञ्चना=शील=शिष्टाचार की वञ्चना=प्रतारणा, हानि, उल्लंघन । पथ्यावक्त्र छन्द है । लक्षण—

युजोर्जेन सरिद्भर्तुः पथ्यावक्त्रं प्रकीर्तितम् ॥ ४४ ॥

अर्थ—किसी अपने यौवन की स्वामिनी (खोज कर रहें ।) किन्तु वह अदृश्य हो गयी, उसी के भ्रम के कारण (रदनिका का केश ग्रहण रूपी) शिष्टाचारोल्लंघन हो गया ॥ ४४ ॥

सब प्रकार से बड़ी मेरी विनती को मान लें । (ऐसा कह कर तलवार छोड़कर, हाथ जोड़ कर पैरों पर गिर जाता है ।)

अर्थ—विदूषक—हे सदाचारी पुरुष ! उठो, उठो । विना जाने हुये ही मैंने तुम्हारी निन्दा कर डाली, (उलाहना दे डाला), अब जान लेने पर तो मैं तुमसे प्रार्थना करता हूँ ।

विट—इस विषय में तो आप ही प्रार्थना के पात्र हैं । तो एक शर्त पर उठ सकता हूँ ।

विदूषक—आप कहिये ।

विट—यदि यह घटना आर्य चारुदत्त से नहीं कहोगे (तो मैं उठता हूँ) ।

विदूषक—नहीं कहूँगा ।

अन्वयः—हे विप्र ! एषः, ते, प्रणयः, मया, शिरसा, धार्यते, येन, शस्त्रवन्तः अपि, वयम्, गुणशस्त्रैः, निर्जिताः ॥ ४५ ॥

शकारः—(सासूयम्) किं णिमित्तं उण भावे एदश्श दुट्ठवडुअश्श विणअञ्जलिं कदुअ पाएशु णिपड़िदे ?। (किं निमित्तं पुनर्भाव ! एतस्य दुष्टवटुकस्य विनयाञ्जलिं कृत्वा पादयोर्निपतितः ?।)

विटः—भीतोऽस्मि ।

शकारः—कश्श तुमं भीदे ?। (कस्मात् त्वं भीतः ?।)

विटः—तस्य चारुदत्तस्य गुणेभ्यः ।

शकारः—के तश्श गुणा जश्श गेहं पविशिअ अशिदव्वं वि णत्थि । (के तस्य गुणाः यस्य गेहं प्रविश्याशितव्यमपि नास्ति ।)

शब्दार्थ—हे विप्र ! = हे ब्राह्मण !, एषः=यह, ते=तुम्हारा, प्रणयः=अनुग्रह, (सज्जनता), मया=मेरे द्वारा, शिरसा=सिर से, धार्यते=धारण की जाती है, येन=जिसके कारण, शस्त्रवन्तः=शस्त्रधारी, अपि=भी, वयम् = हम लोग, गुणशस्त्रैः=गुणरूपी शस्त्रों से, निर्जिताः=पराजित करा दिये गये ।। ४५ ।।

अर्थ—विट—हे विप्र ! यह आपका (मेरी प्रार्थना का स्वीकार रूपी) अनुग्रह मै सिर से धारण कर रहा हूँ, जिसके कारण शस्त्रधारी भी हम लोग (आपके) गुणरूपी शस्त्रों से पराजित करा दिये गये ।। ४५ ।।

टीका—हे विप्र !=हे ब्राह्मण !, एषः=त्वयाऽधुना प्रदर्शितः, प्रणयः=मत्प्रार्थना-स्वीकृतिरूपः अनुग्रहः, मया=विटेन, शिरसा=मस्तकेन, धार्यते=स्वीक्रियते, येन=प्रणयेन हेतुना, शस्त्रवन्तः=शस्त्रधारिणः, अपि, वयम्=शकारादयः, गुणशस्त्रैः=गुणाः=औदार्यादयः एव शस्त्राणि=आयुधानि, तैः, विनिर्जिताः=पराजिताः । अत्र गुणेषु शस्त्रत्वारोपात् रूपकमलङ्कारः । पथ्यावक्त्रं वृत्तम्, लक्षणन्तु पूर्वस्मिन् श्लोके उक्तम् ।। ४५ ।।

विमर्श—प्रणयः=प्र√ + णीञ् + अच् । गुणों में शस्त्रत्व के आरोप के कारण रूपक अलंकार है, पथ्यावक्त्र छन्द है ।। ४५ ।।

अर्थ—शकार—(ईर्ष्या के साथ) भाव ! हाथ जोड़कर इस दुष्ट ब्राह्मण के पैरों पर क्यों गिर रहे हो ?

विट—डर गया हूँ ।

शकार—तुम किससे डर गये हो ?

विट—उस चारुदत्त के गुणों से ।

शकार—उसके कौन से गुण हैं जिसके घर पर प्रवेश करने पर कुछ खाने को भी नहीं है ।

विटः——मा मैवम् ।
सोऽस्मद्विधानां प्रणयैः कृशीकृतो न तेन कश्चिद्विभवैर्विमानितः ।
निदाघकालेष्विव सोदको ह्रदो नृणां स तृष्णामपनीय शुष्कवान् ॥४६॥

अन्वयः——सः, अस्मद्विधानाम्, प्रणयैः, कृशीकृतः, तेन, कश्चित्, विभवैः, न, विमानितः, निदाघकालेषु, सोदकः, ह्रदः, इव, नृणाम्, तृष्णाम्, अपनीय, शुष्कवान् ॥ ४६ ॥

शब्दार्थ——सः=वह चारुदत्त, अस्मद्विधानाम् = हमारे जैसे लोगों के, प्रणयैः=धनादि की याचनाओं से, कृशीकृतः=क्षीण=निर्धन बना दिया गया है, तेन=उस, चारुदत्त के द्वारा, कश्चित्=कोई भी व्यक्ति, विभवैः=अपने धनादि से, न=नहीं, विमानितः = अपमानित किया गया है। निदाघकालेषु=गर्मी के दिनों में, सोदकः=जल से भरे हुये, ह्रदः=तालाब के, इव=समान, नृणाम्=मनुष्यों की, तृष्णाम्=प्यास को, अपनीय=दूर करके, शुष्कवान्,=सूख गया, निर्धन हो गया ॥ ४६ ॥

अर्थ——विट—नहीं, ऐसा मत (कहो)—वह चारुदत्त हमारे जैसे लोगों की धनादि-सम्बन्धी प्रार्थनाओं (को पूरी करने के) कारण, निर्धन (क्षीण) बना दिया गया है, इसने धन से कभी किसी को अपमानित नहीं किया है। गर्मी के दिनों में जल से भरे हुये तालाब के समान लोगों की प्यास बुझा कर सूख गया, निर्धन हो गया ॥ ४६ ॥

टीका——सः = चारुदत्तः, अस्मद्विधानाम् = अस्माकं विधा इव विधा=प्रकारः=सादृश्यम् येषां ते, मादृशानाम् याचकानाम् इत्यर्थः प्रणयैः=धनादि-विषयक-प्रार्थनैः, कृशीकृतः = दरिद्रीकृतः, तेन=चारुदत्तेन, विभवैः=धनादिभिः, कश्चित्=कोऽपि, जनः=मानवः, न=नैव, विमानितः=अपमानितः, सर्वेषां याचकानां प्रार्थनाः परिपूरिताः, धनादिगर्वेण कस्यापि कदापि नापमानं कृतमिति भावः। निदाघ-कालेषु = ग्रीष्मादिवसेषु, सोदकः = जलपरिपूर्णः, ह्रदः इव=तडाग इव, नृणाम्=पिपासुजनानाम्, तृष्णाम्=धनादिपिपासाम्, अपनीय=दूरीकृत्य, शुष्कवान्=शुष्कतां प्राप्तवान्, एकत्र धनाभावरूपा शुष्कता, अपरत्र च, जलाभावरूपा शुष्कतेति भेदः। अत्र पूर्णोपमालंकारः, उपजातिवृत्तम्। यत्तु केनचित् वंशस्थं वृत्तमिति लिखितम्, तदज्ञानादिति बोध्यम् ॥ ४६ ॥

विमर्श——कृशीकृतः——अभूत-तदभावे च्विः । निदाघकालेषु——यहाँ काल शब्द दिन का प्रतिपादक होने से बहुवचन है। सोदकः——उदकेन सहितः। शुष्कवान्——√शुष्+क्तवत् 'शुषः कः' [पा. सू.] से निष्ठा 'त' का 'क' होने पर शुष्कवान् होता है। अपनीय——अप+णीञ्+ल्यप्=य। यहाँ उपमान

शकारः—[सामर्षम्] के शे गब्भदासीए पुत्ते ? । (कः स गर्भदास्याः पुत्रः ?)

शूले विक्किन्ते पण्डवे ? शेदकेदू पुत्ते लाधाए ? लवणं इन्द्रदत्ते ? ।
अहो कुन्तीए तेण लामेण जादे अश्शत्थामे ? धम्मपुत्ते जडाऊ ॥४७॥

उपमेय, साधारणधर्म, एवं सादृश्यवाचक सभी का उल्लेख होने से पूर्ण उपमा अलंकार है। यहाँ उपजाति छन्द है। किसी व्याख्या में वंशस्थ छन्द लिखा है वह अनधानता के कारण है ।। ४६ ।।

अन्वयः—(कः सः इति गद्यस्थेनान्वयः) (किम्) शूरः, विक्रान्तः, पाण्डवः, श्वेतकेतुः ? अथवा, इन्द्रदत्तः, राधायाः, पुत्रः, रावणः, ? आहो, तेन, रामेण, कुन्त्याम्, जातः, अश्वत्त्थामा ? (अथवा) धर्म-पुत्रः, जटायुः ? ।। ४७ ।।

शब्दार्थ—कः=कौन है, सः=वह, गर्भदास्याः=जन्म से नौकरानी का पुत्र ? किम्=क्या, शूरः=वीर, विक्रान्तः=पराक्रमी, पाण्डवः=पाण्डु का पुत्र, श्वेतकेतुः=श्वेतकेतु (ऋषि) है ? अथवा=या, इद्रदत्तः=इन्द्वारा दत्तः=वररूपेण प्रदत्त, राधायाः=राधा (कर्ण की माँ) का पुत्र रावण है ? आहो=अथवा, तेन=उस प्रसिद्ध, रामेण=रामचन्द्र के द्वारा, कुन्त्यम्=कुन्ती में, जातः=उत्पन्न होने वाला, अश्वत्त्थामा=(महान् धनुर्धारी) अश्वत्त्थामा है ? अथवा धर्मपुत्रः=धर्मराज का पुत्र, जटायुः=जटायुनामक पक्षी है ? ।। ४७ ।।

अर्थ—शकार—(क्रोध के साथ) जन्म से ही दासी का पुत्र वह कौन है ? क्या वह शूर, वीर, पराक्रमी, पाण्डुपुत्र श्वेतकेतु है ? अथवा इन्द्र द्वारा (वरदान में) प्रदत्त राधा का पुत्र रावण है ? अथवा उस (प्रसिद्ध) राम द्वारा कुन्ती में उत्पन्न अश्वत्त्थामा है ? अथवा धर्मराज (यमराज) का पुत्र जटायु है ? ।। ४७ ।।

टीका—कः सः, किम् शूरः=वीरः, विक्रान्तः=पराक्रमी, पाण्डवः=पाण्डुपुत्रः, श्वेतकुतुः=एतन्नाम्ना प्रसिद्धः ऋषिः ? वा=अथवा, इन्द्रदत्तः=इन्द्रेण=देवराजेन, दत्तः=वरप्रदानरूपेण समर्पितः, राधायाः = एतन्नामिकायाः कर्णमातुरिति भावः, पुत्रः=सुतः, रावणः=दशाननः ? आहो=अथवा, तेन=प्रसिद्धेन, रामेण=रामचन्द्रेण, कुन्त्याम्=तन्नामिकायाम्, पाण्डुपत्न्यामित्यर्थः, जातः=उत्पन्न, अश्वत्त्थामा=द्रोणपुत्रः ? धर्मपुत्रः=धर्मस्य=यमस्य पुत्रः=सुतः, जटायुः=तन्नामा पक्षी ? यदि पूर्वोक्तेषु मध्ये कश्चित् सो भवेत् तदा तस्मात् भयमुचितम् । अन्यथा तव मूर्खत्वमेवेति तस्य भावः । अत्र पुराणादिप्रसिद्धिविरुद्धत्वं शकारवचनत्वात् सोढव्यम् । सामाजिकानां मनोविनोदार्थमेवैतादृशकथनमिति बोध्यम् । अत्र वैश्वदेवी वृत्तम् । तल्लक्षणन्तु—बाणाश्वैश्छिन्ना वैश्वदेवी ममौ यौ ।। ४७ ।।

शूरो विक्रान्तः पाण्डवः श्वेतकेतुः ? पुत्रो राधायाः, रावण इन्द्रदत्तः ?।
आहो कुन्त्यां तेन रामेण जातः अश्वत्थामा ? धर्मपुत्रो जटायुः ? ॥४७॥

विटः——मूर्ख ! आर्यचारुदत्तः खल्वसौ ।

दीनानां कल्पवृक्षः स्वगुणफलनतः, सज्जनानां कुटुम्बी,
आदर्शः शिक्षितानां, सुचरितनिकषः, शीलवेलासमुद्रः ।
सत्कर्त्ता, नावमन्ता, पुरुषगुणनिधिर्दक्षिणोदारसत्त्वो
ह्येकः श्लाघ्यः स जीवत्यधिकगुणतया चोच्छ्वसन्तीव चान्ये ॥४८॥

विमर्श——श्वेतकेतु न तो पाण्डुपुत्र थे और न युद्धप्रिय, अपि तु उपनिषदों में प्रसिद्ध उद्दालक ऋषि की सन्तान थे। श्वेतः केतुः = पताका यस्य सः तादृशः=अर्जुनः यह अर्थ करनें पर शकार का कथन यथार्थ ही है। रावण न तो इन्द्रप्रदत्त था और न राधा की सन्तान था। राधा तो कर्ण की पालन करने वाली माँ थी, वास्तव में तो सूर्य द्वारा कुन्ती में ही कर्ण का जन्म हुआ था। अश्वत्थामा द्रोणाचार्य के पुत्र थे न कि राम और कुन्ती के। यह जटायु अरुण (सूर्यसारथी) का पुत्र था न कि धर्मराज का। परन्तु ये सभी महान पराक्रमी थे। अतः शकार का यह ज्ञान सत्य ही ठहरता है। सम्बन्धों में ही उसकी मूर्खता प्रकट होती है। इसमें वैश्वदेवी छन्द है। लक्षण —वाणाश्वैश्छिन्ना वैश्वदेवी म-मौ यौ ॥ ४७ ॥

अन्वयः——दीनानाम्, स्वगुणफलनतः, कल्पवृक्षः, सज्जनानाम्, कुटुम्बी, शिक्षितानाम्, आदर्शः, सुचरितनिकषः, शीलवेलासमुद्रः, सत्कर्ता, न, अवमन्ता (नावमन्ता), पुरुषगुणनिधिः दक्षिणोदारसत्त्वः, श्लाघ्यः, च, सः, एकः, हि, अधिकगुणतया, जीवति, अन्ये, च, उच्छ्वसन्ति, इव ॥ ४८ ॥

शब्दार्थ——दीनानाम्=निर्धन लोगों का, स्वगुणफलनतः=अपने गुणरूपी फलों के भार से नीचे झुका हुआ, कल्पवृक्षः=कल्पवृक्ष, सज्जनानाम्=सज्जन पुरुषों का, कुटुम्बी=परिवार वाला, भाईबन्धु, शिक्षितानाम्=पढ़े लिखे, विद्वानों का, आदर्शः= आदर्श, (शीशा के समान निदर्शनभूत), सुचरितनिकषः = अच्छे आचरण= सदाचार की कसौटी, शीलवेलासमुद्रः=सत्स्वभावरूपी वेला=किनारे, तटों का समुद्र (कभी भी मर्यादा का उल्लंघन न करने वाले), सत्कर्त्ता=(योग्य का) सत्कार करने वाले, न अवमन्ता=(किसी का) अपमान न करने वाले, पुरुष-गुणनिधिः=मनुष्य में रहने वाले सद्गुणों का समुद्र, दक्षिणोदारसत्त्वः=सरल एवम् उदार स्वभाव वाले, च=और, श्लाघ्यः=प्रशंसनीय, सः=वह, चारुदत्त, एकः=अकेला, हि = निश्चितरूप से, अधिकगुणतया=अधिक गुणों वाला होने के कारण, जीवति=जीवित हैं, च=और, अन्ये=दूसरे, लोग, उच्छ्वसन्ति इव=साँस सी ले रहे हैं, अर्थात् उनका जीना न जीना बराबर है ॥४८॥

अर्थ--विट--मूर्ख ! यह आर्य चारुदत्त--दीनों के (मनोरथों को पूर्ण करने वाले), अपने गुणरूपी फलों के भार से झुके हुये कल्पवृक्ष, सज्जनों के बन्धु, शिक्षितों के (दर्पणतुल्य) आदर्श, सदाचार की कसौटी; सत्स्वभावरूपी मर्यादा के समुद्र, सत्कार करने वाले, अपमान न करने वाले, पुरुष में रहने वाले गुणों के निधि, सरल एवम् उदार स्वभाव वाले, और श्लाघनीय वे अकेले (चारुदत्त ही) अधिक गुण वाले होने से जीवित हैं, अन्य लोग सांस सी ले रहे हैं, अर्थात् उनका जीवन व्यर्थ है ।। ४८ ।।

टीका--चारुदत्तस्य गुणान् वर्णयति–दीनानाम्=दरिद्रजनानाम्, स्वगुणफलनतः=स्वगुणा एव फलानि तेषां भारेण नतः=विनम्रः, कल्पवृक्षः=कल्पद्रुमः, मनोरथानां पूरक इत्यर्थः, सज्जनानाम्=सत्पुरुषाणाम्, कुटुम्बी=परिपालको बन्धुः, शिक्षितानाम्=विदुषाम्, आदर्शः=मुकुर इव निदर्शनभूतः, सुचरितनिकषः=सुचरितस्य=सदाचारस्य, निकषः=कषपट्टिका 'कसौटी' इति हिन्द्याम्, शीलवेलासमुद्रः=शीलम् एव वेला=तटबन्धः, मर्यादा, तस्याः समुद्रः यथा समुद्रः स्वमर्यादां न कदापि अतिक्रामति, तथैवायमपि न कदापि स्वमर्यादामतिक्रामतीति भावः, सत्कर्त्ता=योग्यानां समादरकर्ता, न अवमन्ता=कस्यचिदपि अपमानस्य न कर्त्ता, अत्र 'न' शब्देन समासे 'नावमन्ता' इत्येकं समस्तं पदम्, नैकधावत् इति बोध्यम्, पुरुषगुणनिधिः=पुरुषे सम्भवानां दयादाक्षिण्यादीनां गुणानाम् निधिः=आलयः, दक्षिणोदारसत्त्वः=दक्षिणम्=सरलम्, उदारम्=महत्, सत्त्वम्=स्वभावः यस्य सः, श्लाघ्यः=प्रशंसनीयः, च=तथा, सः=चारुदत्तः, एकः=एकाकी एव, अधिकगुणतया=अधिकाः इतरातिशायिनो गुणा यस्य सः तस्य भावस्तया = विविधगुणाश्रयतया, जीवति=प्राणान् धारयति, अन्ये च=तथा इतरे जनाः, उच्छ्वसन्ति इव=चर्मभस्त्रेव श्वासोच्छ्वासं कुर्वन्ति, न तु सफलं सार्थकं जीवनं तेषामिति भावः। अत्र मालारूपकमिति पृथ्वीधरः। एकस्यैव चारुदत्तस्य विविधरूपेणोल्लेखात् उल्लेखालङ्कारः, 'उच्छ्वसन्ति इव' अत्र क्रियोत्प्रेक्षा च। स्रग्धरा वृत्तम् ।। ४८ ।।

विमर्श--इस श्लोक में विट चारुदत्त के महान् व्यक्तित्व का वर्णन करता है। स्वगुणफलनतः--यहाँ अपने औदार्यादि गुण रूपी फलों के भार से झुका हुआ=विनम्र--यही अर्थ तर्कसंगत है। किसी ने--फल=परिणाम से विनत--यह अर्थ भी लिखा है वह ठीक नहीं है। आदर्शः--दर्पण, जैसे दर्पण में विम्ब प्रतिविम्ब में अन्तर नहीं होता है वैसा ही यहाँ है। यदि 'आदर्श' का अर्थ 'दृष्टान्त' मानें तो अधिक अच्छा है। शीलवेलासमुद्रः=शील = सत्स्वभाव रूपी वेला=समुद्रतट=मर्यादा, उसका समुद्र, उसी में सीमित रहने वाला,

तदितो गच्छाम:।

शकार:—अगेण्हिअ वशन्तशाणअ ! (अगृहीत्वा वसन्तसेनिकाम् ? ।)

विट:—नष्टा वसन्तसेना।

शकार:—कधं विअ ? (कथमिव ?)

विट:—अन्धस्य दृष्टिरिव पुष्टिरिवातुरस्य
मूर्खस्य बुद्धिरिव सिद्धिरिवालसस्य।
स्वल्पस्मृतेर्व्यसनिन: परमेव विद्या
त्वां प्राप्य सा रतिरिवारिजने प्रनष्टा ॥४९॥

कभी भी मर्यादा का अतिक्रमण न करने वाला। नावमन्ता—न अवमन्ता—ये दो पद भी सम्भव हैं और 'नावमन्ता' यह एक समस्त पद भी सम्भव है क्योंकि 'न' के साथ समास करने पर लोप और नुट् आदि उसी प्रकार नहीं होते हैं जैसे-नैकधा, नैकध्यम् आदि में। इसमें एक चारुदत्त का ही अनेक रूपों से उल्लेख होने के कारण उल्लेख अलंकार है—

'एकस्यानेधोल्लेखो यः स उल्लेख उच्यते।' स्वगुणफलनत:, शीलवेला-समुद्र: आदि में रूपक है और 'उच्छ्वसन्ति इव' इसमें क्रियोत्प्रेक्षा है इनकी संसृष्टि है। स्रग्धरा छन्द है—म्रभ्नैर्यानां त्रयेण त्रिमुनियतियुता स्रग्धरा कीर्तितेयम्' ॥ ४८ ॥

अर्थ—तो इस लिये यहाँ से चलें।

शकार—वसन्तसेना को विना प्राप्त किये ?

विट—वसन्तसेना तो अदृश्य हो गयी।

शकार—किस प्रकार ?

अन्वय:—अन्धस्य, दृष्टि:, इव, आतुरस्य, पुष्टि:, इव, मूर्खस्य, बुद्धि:, इव, अलसस्य, सिद्धि: इव, स्वल्पस्मृते: व्यसनिन:, परमा, विद्या इव, अरिजने, रति:, इव, सा, त्वाम्, प्राप्य, विनष्टा ॥ ४९ ॥

शब्दार्थ:—अन्धस्य=अन्धे की, दृष्टि: इव=आँख (की ज्योति) के समान, आतुरस्य=रोगी की, पुष्टि: इव=पुष्टता के समान, मूर्खस्य=मूर्ख की, बुद्धि: इव=बुद्धि के समान, अलसस्य=आलस्ययुक्त पुरुष की, सिद्धि: इव=सिद्धि=सफलता के समान, स्वल्पस्मृते:=साधारण स्मरण शक्ति वाले, व्यसनिन:=कामादि व्यसनों में आसक्त (पुरुष) की, परमा=उत्कृष्ट, विद्या इव=विद्या के समान, ब्रह्मविद्या के समान, अरिजने=शत्रु में, रति: इव=प्रेम के समान, सा=वह वसन्तसेना, त्वाम्=आप (शकार) को, प्राप्य=प्राप्त करके, प्रनष्टा=अदृश्य हो गयी ॥ ४९ ॥

अर्थ—विट—

शकारः—अगेण्हिअ वशन्तशेणिअं ण गमिश्शं। (अगृहीत्वा वसन्तसेनकां न गमिष्यामि।)

विटः—एतदपि न श्रुतं त्वया ?।

आलाने गृह्यते हस्ती वाजी वल्गासु गृह्यते।
हृदये गृह्यते नारी यदीदं नास्ति गम्यताम् ॥५०॥

अन्धे की आँख के समान, रोगी की पुष्टता (शक्ति) के समान, मूर्ख की बुद्धि के समान, आलसी की सफलता के समान, मन्द बुद्धिवाले व्यसनी की परम विद्या (उत्कृष्ट विद्या या वेदान्त-विद्या) के समान, शत्रुजन में प्रेम के समान, वह वसन्तसेना तुम्हें पाकर [तुमसे मिलते ही] अदृश्य हो गयी ॥ ४९ ॥

टीका—अन्धस्य=नेत्रद्वयरहितस्य, दृष्टिः इव = नेत्रज्योतिरिव, आतुरस्य=रुग्णस्य, पुष्टिः इव=शारीरिकपुष्टता इव, मूर्खस्य=जडस्य, बुद्धिः इव=कार्यसफलता इव, स्वल्पस्मृतेः=क्षीणस्मृतिशक्तिकस्य, व्यसनिनः = कामादिदुर्व्यसनासक्तस्य, परमा=उत्कृष्टा, विद्या इव=ज्ञानम् इव, ब्रह्मविद्येवेति भावः, अरिजने=शत्रुजने, रतिः इव=अनुराग इव, सा=वसन्तसेना, त्वाम्=दुष्टं शकारम्, प्राप्य=लब्ध्वा, मिलित्वेति भावः, प्रनष्टा=अदर्शनं गता, णश् अदर्शने इत्यस्माद् भूते क्तः। अत्रोपमेयभूताया वसन्तसेनाया अनेक-विधोपमानप्रदर्शनात् मालोपमालंकारः। वसन्ततिलका वृत्तम् ॥ ४९ ॥

विमर्श—इसमें दृष्टिः, पुष्टिः, बुद्धिः, सिद्धिः, विद्या, रतिः—इन अनेक उपमानों से उपमेयभूत वसन्तसेना का उल्लेख करने के कारण मालोपमा अलंकार है—

'मालोपमा यदेकस्योपमानं बहु दृश्यते।' सा० द० १०।२६

प्रनष्टा—प्र+√णश् (अदर्शने) +क्त; अतः प्रनष्टा=अदृष्टा यह अर्थ होता है। वसन्ततिलका छन्द है—उक्ता वसन्ततिलका तभजा जगौ गः ॥ ४९ ॥

अर्थ—शकार—वसन्तसेना को लिये बिना नहीं जाऊँगा।

अन्वयः—हस्ती, आलाने, गृह्यते, बाजी, वल्गासु, गृह्यते, नारी, हृदये, गृह्यते, यदि, इदम्, न, अस्ति, (तदा) गम्यताम् ॥ ५० ॥

शब्दार्थः—हस्ती=हाथी, आलाने=बन्धनस्तम्भ में ही, गृह्यते=बांधा, रोका जाता है, बाजी=घोड़ा, वल्गासु=लगामों में, गृह्यते=वश में किया जाता है, नारी=स्त्री, हृदये=हृदय में, गृह्यते=वश में की जाती है, यदि=अगर, इदम्=यह (अनुरागपूर्ण हृदय) न=नहीं, तदा=तब, गम्यताम्=जाइये ॥ ५० ॥

अर्थ—विट—क्या तुमने यह भी नहीं सुना ?—हाथी बन्धनस्तम्भ में (बांध

शकारः—जइ गच्छशि, गच्छ तुमं, हगे ण गमिश्शं। (यदि गच्छसि, गच्छ त्वम्, अहं न गमिष्यामि।)

विटः—एवम्, गच्छामि। (इति निष्क्रान्तः।)

शकारः—गड़े क्खु भावे अभावं। (विदूषकमुद्दिश्य) **अले काकपदशीशमत्थका दुट्टवड़ुका ! उवविश उवविश।** (गतः खलु भावः अभावम्। अरे काकपदशीर्षमस्तक दुष्टवटुक ! उपविश उपविश।)

कर ही) वश में किया जाता है (पकड़ा जाता है), घोड़ा लगामों (को लगाने) पर ही वश में किया जाता है और स्त्री हृदय में (विद्यमान प्रेम द्वारा ही) वश में की जाती है, (न कि तुम्हारे समान बलपूर्वक)। यदि यह (उसका और तुम्हारा परस्पर अनुरागपूर्ण हृदय) नहीं है तो (यहाँ से) जाइये ॥ ५० ॥

टीका—हस्ती=हस्तः=शुण्डादण्डः अस्ति अस्य सः करी, गजः, आलाने=बन्धनस्तम्भे, गृह्यते=निरुध्यते, वशीक्रियते, वाजी=अश्वः, वल्गासु=मुखरज्जुषु, खलीनेषु, गृह्यते=वशीक्रियते, बल्गाकर्षणेन नियम्यते, नारी=स्त्री, हृदये=अन्तःकरणे, तत्रस्थे अनुरागे सत्येव गृह्यते, यदि=चेत् इदम्=तस्याः तव चोभयोरनुरागपूर्णं हृदयम्, नास्ति=नैव वर्तते, तदा=तस्यां स्थितौ, गम्यताम्=तस्याः प्राप्त्याशां विहायान्यत्र व्रज्यतां त्वया शकारेणेति भावः। अत्र आलानादौ हस्त्यादिग्रहणमिव हृदये नारीग्रहणमितिबिम्बानुविम्बभावे पर्यवसानात् निदर्शनानामालङ्कारः। पथ्यावक्त्रं वृत्तं तल्लक्षणं पूर्वमुक्तम् ॥ ५० ॥

विमर्श—हृदये–विट का भाव यह है कि जैसे हाथी स्तम्भ में बन्धने पर ही रोका जाता है और घोड़ा लगाम लगाने पर ही रोका जाता है उसी प्रकार स्त्री हृदय में ही वश में की जा सकती है, शरीर में नहीं। अतः वसन्तसेना के हृदय में प्रविष्ट होकर उसे अपने वश में करो। शरीर पर अधिकार कर लेने पर भी वास्तव में उसे अपने वश में कर पाना कठिन है। सप्तमी विभक्ति इसीलिये प्रयुक्त है। आलानादि में हाथी आदि के ग्रहण के समान हृदय में नारी का ग्रहण—यह बिम्ब-अनुविम्बभाव में पर्यवसान होने से निदर्शना अलंकार है—

सम्भवन् वस्तुसम्बन्धोऽसम्भवन् वापि कुत्रचित्।
यत्र बिम्बानुविम्बत्वं बोधयेत् सा निदर्शना ॥

सा० द० १०।५१

पथ्यावक्त्र छन्द है। लक्षण–युजोर्जेन सरिद्भर्तुः पथ्यावक्त्रं प्रकीर्तितम् ॥ ५० ॥

अर्थः—शकार—यदि तुम जाते हो तो जाओ, मैं नहीं जाऊँगा।

विट—बहुत अच्छा, मैं जाता हूँ। (इस प्रकार निकल जाता है।)

शकार—भाव अभाव को प्राप्त कर गया, अर्थात् चला गया। (विदूषक को

विदूषकः—उववेसिदा ज्जेव अम्हे। (उपवेशिता एव वयम्।)

शकारः—केण ?। (केन ?।)

विदूषकः—कअन्तेण। (कृतान्तेन।)

शकारः—उट्ठेहि उट्ठेहि। (उत्तिष्ठ उत्तिष्ठ।)

विदूषकः—उट्ठिस्सामो। (उत्थास्यामः।)

शकारः—कदा ? (कदा ?)

विदूषकः—जदा पुणो वि देव्वं अणुऊलं भविस्सदि। (यदा पुनरपि दैवमनुकूलं भविष्यति।)

शकारः—अले ! लोद लोद। (अरे ! रुदिहि रुदिहि।)

विदूषकः—रोदाविदा ज्जेव अम्हे। (रोदिता एव वयम्।)

शकारः—केण ? (केन ?)

विदूषकः—दुग्गदीए। (दुर्गत्या।)

शकारः—अले ! हश हश। (अरे ! हस हस।)

विदूषकः—हसिस्सामो। (हसिष्यामः।)

शकारः—कदा ? (कदा ?।)

उद्देश्य करके) अरे कौआ के पैर के समान शिर तथा मस्तक वाले दुष्ट वटुक ! (ब्राह्मण के बच्चे !) बैठ जा, बैठ जा।

विदूषक—हम लोग तो बैठा ही दिये गये हैं।

शकार—किसके द्वारा ?

विदूषक—भाग्य (दैव) के द्वारा।

शकार—उठो, उठो।

विदूषक—उठेंगे।

शकार—कब ?

विदूषक—जब फिर भाग्य अनुकूल होगा।

शकार—अरे ! रोओ, रोओ।

विदूषक—हम लोग तो रुलाये ही जा चुके हैं।

शकार—किसके द्वारा ?

विदूषक—दुर्गति (दरिद्रता) के द्वारा।

शकार—अरे ! हँस, हँस।

विदूषक—हसेंगे।

शकार—कब ?

विदू०—पुणो वि ऋद्धीए अज्जचारुदत्तस्स (पुनरपि ऋद्ध्या आर्य चारुदत्तस्य)

शकारः—**अले ले दुट्ठवडुका ! भणेशि मम वअणेण तं दलिद्दचालुदत्तकं—एशा शशुवण्णा शहिलण्णा णव-णाड़अदंशणुट्ठिदा शुत्तधालिव्व वशन्तशेणा णाम गणिआदालिआ कामदेवाअदणुज्जाणादो पहुदि तुमं अणुलत्ता, अम्हेहिं बलक्कालाणुणीअमाणा, तुह गेहं पविट्टा। ता जइ मम हत्थे शअं ज्जेव पट्टाविअ एणं शमप्पेशि, तदो अधिअलणे ववहालं विणा लहु णिज्जादमाणाह तव मए अणुबद्धा पीदी हुविश्शदि। आदु अणिज्जादमाणाह मलणान्तिके वेले हुविश्शदि। अवि अ पेक्ख पेक्ख—**

(अरे रे दुष्टवटुक ! भणिष्यसि मम वचनेन तं दरिद्रचारुदत्तकम्—'एषा ससुवर्णा, सहिरण्या नव-नाटक-दर्शनोत्थिता सूत्रधारीव वसन्तसेना नाम गणिकादारिका, कामदेवायतनोद्यानात् प्रभृति त्वामनुरक्ता अस्माभिर्बलात्कारानुनीयमाना तव गेहं प्रविष्टा।। तद्यदि मम हस्ते स्वयमेव प्रस्थाप्य एनां समर्पयसि, ततोऽधिकरणे व्यवहारं विना शीघ्रं निर्यातयतस्तव मयानुबद्धा प्रीतिर्भविष्यति, अथवा अनिर्यातयत मरणान्तकं वैरं भविष्यति। अपि च प्रेक्षस्व प्रेक्षस्व—)

कक्कालुका गोच्छड़-लित्तवेण्टा, शाके अ शुक्खे तलिदे हु मांसे।
भत्ते अ हेमन्तिअ-लत्तिशिद्धे लीणे अ वेले ण हु होदि पूदि ॥ ५१ ॥

विदूषक—फिर आर्य चारुदत्त की समृद्धि से।

शकार—अरे रे दुष्ट ब्राह्मण के बच्चे ! मेरे वचन से (मेरी ओर से) उस दरिद्र चारुदत्त से कहना—"सोने से अलंकृत और सोने से युक्त, नवीन नाटक के प्रदर्शन के लिये उठकर खड़ी हुई सूत्रधारी=प्रमुख नटी के समान वसन्तसेना नामक वेश्यापुत्री, कामदेवायतन नामक उद्यान में जाने से लेकर तुम पर अनुरक्त हो जाने वाली, हम लोगों द्वारा बलपूर्वक मनायी जाती हुई भी, तुम्हारे घर चली गयी है। इसलिये (तुम) स्वयं भेजकर इसे मेरे हाँथों में सौंप दोगे, तो न्यायालय में मुकदमा किये विना, शीघ्र वापस कर देने वाले तुम्हारे साथ मेरी प्रगाढ मित्रता बन जायगी। अथवा वापस न भेजने वाले तुम्हारी (मेरे साथ) मरणपर्यन्त रहने वाली दुश्मनी हो जायगी। और भी देखो, देखो—

अन्वय :—गोमयलिप्तवृन्ता, कर्कालुका, शुष्कम्, शाकं च, तलितम्, मांसम्, च, हैमन्तिकरात्रिसिद्धम्, भक्तञ्च, खलु, वेलायाम् लीनायाम, पूति, न, भवति, खलु ॥ ५१ ॥

शब्दार्थ—गोमयलिप्तवृन्ता=गोबर से लपेटे हुये डण्ठल वाली, कर्कालुका=कुम्हड़ी (कूष्माण्डी=कुम्हणी), शुष्कम्=सूखा हुआ, शाकम्=साग, सब्जी, त-

(कर्कारुकी गोमयलिप्तबृन्ता शाकञ्च शुष्कं तलितं खलु मांसम् ।
भक्तञ्च हैमन्तिकरात्रिसिद्धं लीनायाञ्च बेलायां न खलु भवति पूति ॥ ५१ ॥

और, तलितम्=(घृत आदि में) तला गया, मांसम्=मांस, गोश्त, हैमन्तिकरात्रिसिद्धम्=हेमन्त ऋतु की रात में पकाया गया, भक्तम्=भात, खलु=निश्चय ही, बेलायाम्=समय के, लीनायाम्=बीत जाने पर भी, पूति=दुर्गन्धयुक्त, न=नहीं, भवति=होता है, खलु=निश्चित है ॥ ५१ ॥

अर्थ—गोबर से लिपे हुये ढण्ठलवाली, कुम्हेड़ी, सूखा हुआ साग, तला हुआ गोश्त, हेमन्त-ऋतु की रात में पकाया गया भात (अधिक) समय बीत जाने पर भी दुर्गन्धयुक्त (सड़ा) नहीं होता है ॥ ५१ ॥

टीका—गोमयलिप्तबृन्ता=गोमयेन=गोः पुरीषेण, लिप्तम्=वेष्टितम्, बृन्तम्=फलबन्धस्थानं यस्याः सा, तादृशी कर्कारुकी=कूष्माण्डः, प्राकृतस्य 'कक्कालुका' इत्यस्य 'कूष्माण्डी' इति संस्कृतरूपान्तरं केचिदाहुः, तात्पर्ये न भेद इति बोध्यम्, शुष्कम्=घर्मादौ शुष्कतां प्राप्तम्, शाकम्=भाषायां 'सब्जी' इति ख्यातम्, तलितम्=घृतादिना सम्यक् भृष्टं पक्वञ्च, मांसम्=आमिषम्, हैमन्तिकरात्रिसिद्धिम्=हेमन्तर्तौः रात्रौ पक्वम्, भक्तम्=तण्डुलम्, अन्नं वा, बेलायाम्=काले, लीनायाम्=व्यतीतेऽपि सति, पूति=पर्युषितं दूषितं विकृतं वा, न=नैव, भवति=जायते । अत्र शकारस्यायमभिप्रायो यत् पूर्वोक्तानां वस्तूनां कालापगमेऽपि विकारो नोत्पद्यते किन्तु वसन्तसेनायाः समर्पणे विलम्बे सति तव महानन्थौं भविष्यतीति विचार्य शीघ्रमेव तां मह्यं समर्पय । 'न खलु भवति पूति' इत्यत्र काक्वा दूषितता व्यज्यते अवश्यमेव पूति भवतीति भाव इति लल्लादीक्षितः । एवञ्च समयहानिरनर्थकरीति बोध्यम् । अत्र काकुपक्षे अप्रस्तुतप्रशंसा नोपपद्यते । सामान्यतयार्थपक्षे तु—अत्राप्रस्तुतानां यथोक्तानां कूष्माण्डादीनां बेलातिपातेऽपि पूतिगन्धत्वाभाव—प्रतिपादनेनाप्रस्तुतस्य वसन्तसेनाऽनिर्यातजन्यवैरस्य प्रत्ययाद् अप्रस्तुतप्रशंसा । इन्द्रवज्रा वृत्तम् ॥५१॥

विमर्श—कक्कालुका—इसका संस्कृत रूप कर्कारुकः—है, यह पुंल्लिङ्ग है अतः 'गोमयलिप्तबृत्तः' यह माना है। कहीं कहीं 'कक्कालुका' इस प्राकृत का 'कूष्माण्डी' यह संस्कृतरूप लिखा है। दोनों का एक ही अर्थ है—'कुम्हेड़ा,' जिसका पेठा बनता है। अथवा कोंहड़ा=काशीफल। ये दोनों ही बहुत समय तक ठीक रहते हैं।···हैमन्तिकरात्रिसिद्धम्—हेमन्तस्य इयम्—हैमन्तिकी रात्रिः तस्यां सिद्धम्+यहाँ अप्रस्तुत कूष्माण्ड आदि के कालातिपात में भी खराब न होने के प्रतिपादन द्वारा प्रस्तुत वसन्तसेना के अनिर्यात (न भेजना) से जन्य वैर का ज्ञान होने से अप्रस्तुतप्रशंसा है, ऐसा अनेक विद्वान् मानते हैं। परन्तु पृथ्वीधर ने अपनी टीका में लल्लाधर दीक्षित का मत उद्धृत किया है—व

शोट्ठिकं भणेशि लहुकं भणेशि। तथा भणेशि, जधा हगे अत्तण-केलिकाए पासाद-बालग्ग-कवोद-वालिआए उवविट्ठे शुणामि अण्णधा जदि भणेशि, तधा कवाल-तल-पविट्ठ-कवित्थगुड़िअं विअ मत्थअं दे मड़मड़ाइश्शं। (स्वस्तिकं भणिष्यसि, लघुकं भणिष्यसि। तथा भणिष्यसि यथाऽहमात्मीयायां प्रासाद-बालाग्र-कपोत-पालिकायामुपविष्टः शृणोमि; अन्यथा यदि भणिष्यसि, तदा कपाट-तल-प्रविष्टं कपित्थगुलिकमिव मस्तकं ते मड़मड़ायिष्यामि।)

भवति पूति' इसमें काकु है, अर्थात् अवश्य ही पूति=विकृत हो जाता है। अतः यदि चारुदत्त वसन्तसेना को शीघ्र ही नहीं भेजते हैं तो उसी का अनिष्ट होना निश्चित है। इसमें इन्द्रवज्रा छन्द है ॥ ५१ ॥

अर्थ—भलाई के साथ कहना, जल्दी ही कहना। इस प्रकार से कहना कि मैं अपनी नवनिर्मित ऊपरी कपोतपालिका में बैठा हुआ सुन सकूँ। यदि इसके विपरीत कहोगे, तो किवाड़ के नीचे रक्खे हुये कैथा के समान तुम्हारी खोपड़ी मरमरा डालूँगा, चकनाचूर कर दूँगा।

टीका—ससुवर्णा—सुवर्णेन सहिता, स्वर्णालंकृता, सहिरण्या=हिरण्येन सहिता, स्वर्णयुक्ता, शकारवचनत्वात् पुनरुक्तिर्न चिन्त्या। केचित्तु—वर्णैः सह विद्यमाना, वाक्चातुरीसहितेति भाव इत्याहुस्तन्न, सुष्ठु=शोभनाः वर्णाः यस्याः सा—इति बहुव्रीहिणैव सिद्धे सहितार्थक 'स'कार-प्रयोगवैयर्थ्यापत्तेः। एवमेव—सुष्ठु वर्णेन सहिता—इत्यपि न; सुष्ठु शोभनं वा वर्णं यस्याः सेति बहुव्रीहिणैव निर्वाहात्, सूत्रधारीव=प्रमुखनटीव, कामदेवायतनोद्यानात् = कामदेवायतनाख्योद्याने गमनकालात्, बलात्कारानुमीयमाना=बलात्कारेण=बलपूर्वकम्, अनुनीयमाना=प्रार्थ्यमाना, व्यवहारम्=विवादम्, निर्यातयतः=समर्पयतः अनुबद्धा=अतिदृढीभूता, मरणान्तकम्=मरणावधि, अत्र 'आङ्'अन्तक'—इत्यनयोरेकतरेणैव निर्वाह इति आमरणान्तकमिति चिन्त्यम्।

स्वस्तिकम्=शकारानुकूलं यथा स्यात् तथा, 'शोभनम्' इति पाठान्तरम्, लघुकम्=शीघ्रम्, 'सकपटम्' इति पाठान्तरम्, अहम् = शकारः, प्रासादबालाग्रकपोतपालिकायाम्=प्रासादस्य=हर्म्यस्य, यत् बालम्=नवनिर्मितम्, अग्रम् = अग्रभागः, तत्र या कपोतपालिका=कपोतानां पालिका=रक्षास्थानम्, विटङ्कम्, तत्र, 'कपोतपालिकायान्तु विटङ्कं पुन्नपुंसकम्' इत्यमरः; अत्र शकारस्याभिप्रायो न स्पष्टतया प्रतीयते, अन्यथा = मदुक्ताद् विपरीतम्, मडमडायिष्यामि = मडमड इति शब्दं करिष्यामि, चूर्णयिष्यामि इति भावः। कुत्रचित् 'अन्यथा यदि न भणिष्यसि' इति पाठस्तत्र यदि न भणिष्यसीत्यधिकम् 'अन्यथा' इत्यनेनैव निर्वाहात्। अतः मूलोक्तमेव समीचीनम्।

विदू०——भणिस्सं । (भणिष्यामि ।)

शकारः——[अपवार्य ।] चेडे ! गडे शच्चकं ज्जेव भावे ? । (चेट ! गतः सत्यमेव भावः ?)

चेटः——अध इं । (अथ किम् ।)

शकारः——ता शिग्घं अवक्कमम्ह । (तत् शीघ्रमपक्रामावः ।)

चेटः——ता गेण्हदु भट्टके अशिम् । (तत् गृह्णातु भट्टारकः असिम् ।)

शकारः——तव ज्जेव हत्थे चिश्ठदु । (तवैव हस्ते तिष्ठतु ।)

चेटः——एशे भट्टालकस्य, गेण्हदु णं भट्टके अशिं ।
(एष भट्टारकस्य । गृह्णातु एनं भट्टारकः असिम् ।)

शकारः——(विपरीतं गृहीत्वा ।)

णिव्वक्कलं मूलकपेशिवण्णं खन्धेण घेत्तूण अ कोशशुत्तं ।
कुक्केहिं कुक्कीहिं अ वुक्कअन्ते जधा शिआले शलणं पलामि ॥५२॥

विमर्श——ससुवर्णा——सुवर्णेन सह——यही अर्थ उचित है, और तात्पर्य सुवर्ण से युक्त अथवा अलङ्कृत । कुछ विद्वानों ने सुष्ठु वर्णैः सह विद्यमाना——यह अर्थ किया है परन्तु इस अर्थ के लिये तो शोभनाः वर्णाः यस्याः सा—इस बहुव्रीहि से ही निर्वाह सम्भव था 'सु' का प्रयोग अधिक है । व्यवहार=मुकदमा । आमरणान्तकम्—यहाँ आमरणम् अथवा मरणान्तकम्=इतना ही उचित है । स्वस्तिकम्—का शोभनम्—यह भी पाठान्तर है । तथा लघुकम्—का सकपटम्—यह पाठान्तर है । प्रासाद-बालाग्रकपोतपालिकायाम् = प्रासाद के बाल=नवनिर्मित, अग्रभाग पर कपोतपालिका=कबूतर—खाना—यह शकार का वचन होने से अस्पष्ट है । मडमडायिष्यामि—मडमड इस प्रकार का शब्द करते हुये तोड़ डालूँगा । कहीं-कहीं—अन्यथा यदि न भणिष्यसि—ऐसा पाठ मिलता है । यह उचित नहीं है । इसमें 'अन्यथा' अथवा 'यदि न' एक अधिक है । वास्तव में 'अन्यथा यदि भणिष्यसि' यही संगत पाठ है ।

अर्थ——**विदूषक**-कहूँगा ।

शकार——(अपवार्य—हटकर) चेट ! क्या भाव सचमुच ही चला गया ।

चेट——और क्या ?

शकार——तब हम दोनों भी शीघ्र चलें ।

चेट——तो स्वामी तलवार ले लें ।

शकार——तुम्हारे ही हाथ में रहे ।

चेट——यह (तलवार) आपकी है । स्वामी इस तलवार को ले ले ।

विमर्श——अपवार्य इस परिभाषिक शब्द का यह तात्पर्य है——'रहस्यन्तु यदन्यस्य परावृत्त्य प्रकाशते । तद्भवेदपवारितम्—' सा० द०

(निर्वल्कलं मूलकपेशिवर्णं स्कन्धेन गृहीत्वा च कोषसुप्तम् ।
कुक्कुरैः कुक्कुरीभिश्च बुक्कचमानो यथा शृगालः शरणं प्रयामि) ॥५२॥

अन्वयः—निर्वल्कलम्, मूलकपेशिवर्णम्, कोशसुप्तम्, च, (असिम्), स्कन्धेन, गृहीत्वा, कुक्कुरैः, कुक्कुरीभिः, च, बुक्क्यमान, शृगालः, यथाः (अहम्) शरणम्, व्रजामि ॥ ५२ ॥

शब्दार्थ—निर्वल्कलम्–वृक्ष की छाल से बने म्यान से रहित=बाहर निकली, हुई, अर्थात् नंगी, मूलकपेशिवर्णम्=मूली के छिलके के समान रंगवाली, च=और कोषसुप्तम्=पहले म्यान में रखी जा चुकी, (असिम्=तलवार को), स्कन्धेन=कन्धे से (=पर), गृहीत्वा=लेकर, कुक्कुरैः=कुत्तों, च=और, कुक्कुरीभिः=कुतियों के द्वारा, बुक्यमानः=भौंका जाता हुआ, (अर्थात् जिसके पीछे कुत्ते और कुतियाँ भौंक रहीं हैं), शृगालः यथा=सियार के समान, (अहम्=शकार), शरणम्=अपने घर जाता हूँ ॥ ५२ ॥

अर्थः—**शकार**—(उल्टी पकड़कर)

नंगी (म्यान से बाहर) तथा मूली के छिलके के समान रंगवाली, (बाद में), कोष (म्यान) में रखली गई तलवार को कन्धे पर लटका कर (रख कर), कुत्तें और कुतियाँ जिसके पीछे भौंक रहे हैं, ऐसे सियार के समान घर जा रहा हूँ ॥५२॥

टीका—निर्वल्कलम्=निर्गतं वल्कलम्=तरुत्वक्, लक्षणया तद्विनिर्मितः कोशः यस्य यस्माद्वा तत्, विकोशमित्यर्थः, मूलकपेशिवर्णम्=मूलकस्य=एतन्नामकशाक-विशेषस्य, पेशी=त्वक्, तद्वर्ण इव वर्णो यस्य तत् शुभ्रोज्ज्वलमित्यर्थः, कोशसुप्तम्=कोशावस्थितम्, कोशावस्थितं कृत्वेति भावः, असिम्, स्कन्धेन=अंशप्रदेशेन, तदुपरीति भावः, गृहीत्वा=धृत्वा, कुक्कुरैः=श्वभिः, कुक्कुरीभिः=शुनीभिः, च, बुक्क्यमानः=शब्दायमानः, भौं भौं इति शब्दैः अनुगम्यमानः, शृगालः=जम्बूकः, यथा=यद्वत्, तद्वत् अहम्=शकारः, शरणम्=गृहम् 'शरण गृहरक्षित्रोः' इत्यमरः, प्रयामि=प्रधावामि । अत्र 'निर्वल्कलम्' 'कोशसुप्तम्' इत्यनयोर्विरोधपरिहारायेदं वक्तव्यम्—यत् पूर्वं–कोशाद् बहिष्कृतम्, किन्तु तादृशस्य नग्नस्य स्कन्धोपरिस्थापनासम्भवेन पुनः कोशे स्थापितम् अथवा प्रधानपुरुषत्वात् तस्य कोशस्योपरि एकं वस्त्रखण्ड-मप्यासीत्, तद्दूरीकृतम्, केवलं कोश एव तस्य खड्गस्योपरि आसीत् । अथवा शकारवचनत्वात् विरोधो न चिन्तनीयः । अत्रोपमालंकारः, उपजाति वृत्तम् ॥५२॥

विमर्शः—निर्वल्कलम्=वल्कलनिर्मित म्यान से निकाली हुई, तथा कोश-सुप्तम्=म्यान में रखी हुई—इन में परस्पर विरोध है अतः यह मान लेना चाहिए कि (१) म्यान के ऊपर और एक किसी वस्त्र आदि का आवरण रहा होगा जिसे शकार ने निकाल दिया इस प्रकार तलवार म्यान में ही रह गई । (२)

(परिक्रम्य निष्क्रान्तौ)

विदू०—भोदि ! रदणिए ! ण क्खु दे अअं अवमाणो तत्तभवदो चारुदत्तस्स णिवेदइदव्वो। दोग्गच्चपीडिअस्स मण्णे दिउणदरा पीड़ा हुविस्सदि। (भवति ! रदनिके ! न खलु ते अयमपमानस्तत्रभवतश्चारुदत्तस्य निवेदयितव्यः । दौर्गत्यपीडितस्य मन्ये द्विगुणतरा पीडा भविष्यति ।)

रद०—अज्ज मित्तेअ ! रदणिआ क्खु अहं संजदमुही। (आर्य ! मैत्रेय ! रदनिका खल्वहं संयतमुखी ।)

विदू०—एव्वं णेदं। (एवं न्विदम् ।)

चारु०—[वसन्तसेनामुद्दिश्य ।] रदनिके ! मारुताभिलाषी प्रदोषसमयशीतार्त्तो रोहसेनः। ततः प्रवेश्यतामभ्यन्तरमयम्। अनेन प्रावारकेण छादयैनम्। (इति प्रावारकं प्रयच्छति।)

वसन्त०—(स्वगतम्) कधं परिअणो त्ति मं अवगच्छदि ! (प्रावारकं गृहीत्वा समाघ्राय च स्वगतं सस्पृहम् ।) अम्महे ! जादीकुसुमवासिदो पावा-

---

अथवा पहले नंगी कर ली किन्तु उसे कन्धे पर रखना सम्भव न होने से पुनः कोश=म्यान में रख ली। (३) अथवा शकार तो परस्परविरोधी अथवा असंगत बोलता ही है अतः उसके वक्तव्य की सार्थकता विचारणीय नहीं है। बुक्क्यमानः—बुक्क भषणे, भषणम्=श्वरवः—कुत्ते की आवाज को बुक्क कहते हैं, हिन्दी में जिसे भौं-भौं कहते हैं। यहाँ कर्म (वाच्य) में-यक् और शानच् है—√बुक्क+य+शानच्। शरणम्=गृह और रक्षक के लिये प्रयुक्त होता है, यहाँ गृह अर्थ है। इसमें उपमा अलंकार और उपजाति छन्द है ॥ ५२ ॥

(घूम कर दोनों निकल जाते हैं।)

अर्थ—विदूषक—हे रदनिके ! श्रीमान् चारुदत्त से अपना यह अपमान मत कहना। क्योंकि दरिद्रता से पीड़ित उन्हें दूनी पीड़ा होगी, ऐसा मैं समझता हूँ। (अर्थात् उन्हें और अधिक मानसिक क्लेश होगा।)

रदनिका—आर्य मैत्रेय ! मैं रदनिका अपने मुख (जिह्वा) पर नियन्त्रण रखने वाली हूँ।

विदूषक—हाँ, ऐसा ही हो।

चारुदत्त—(वसन्तसेना को लक्षित करके) वायुसेवन का इच्छुक रोहसेन (इस समय) सायंकालीन शीत से व्याकुल (हो रहा है) अतः इसे भीतर पहुँचा दो। इस वस्त्र से इसे आवृत कर दो (उढ़ा दो।) (इस प्रकार कह कर उत्तरीय=डुपट्टा देता है।)

वसन्तसेना—(स्वगत) क्या (धोखे से) मुझे अपनी नौकरानी समझ रहे हैं ? (उत्तरीय को लेकर और सूंघ कर, उत्सुकतापूर्वक स्वगत) अहो !

रओ। अणुदासीणं से जोव्वणं पडिभासेदि। (अपवारितकेन प्रावृणोति।)
(कथं परिजन इति मामवगच्छति। आश्चर्यम्! जातीकुसुमवासितः प्रावारकः, अनुदासीनमस्य यौवनं प्रतिभासते।)

चारु०—ननु रदनिके! रोहसेनं गृहीत्वाऽभ्यन्तरं प्रविश।

वसन्त०—[स्वगतम्।] अभाइणी क्खु अहं तुम्हे अब्भन्तरस्स। [अभागिनी खल्वहं तव अभ्यन्तरस्य।]

चारु०—ननु रदनिके! प्रतिवचनमपि नास्ति! कष्टम्!

यदा तु भाग्यक्षयपीडितां दशां नरः कृतान्तोपहितां प्रपद्यते।
तदाऽस्य मित्राण्यपि यान्त्यमित्रतां चिरानुरक्तोऽपि विरज्यते जनः ॥५३॥

चमेली के फूलों की गन्ध से सुगन्धित उत्तरीय, इसका यौवन [उपभोग तृष्णा से] उदासीन=विरक्त नहीं हुआ है।

चारुदत्त—अरी रदनिके! रोहसेन को लेकर भीतर जाओ।

वसन्तसेना—(स्वगत) तुम्हारे (घर के) भीतर (प्रवेश करने) के सौभाग्यवाली (योग्य) नहीं हूँ।

अन्वयः— यदा, नरः, कृतान्तोपहिताम्, भाग्यक्षयपीडिताम्, दशाम्, प्रपद्यते, तदा, तु, अस्य, मित्राणि, अपि, अमित्रताम्, यान्ति, चिरानुरक्तः, अपि, जनः, विरज्यते ॥ ५३ ॥

शब्दार्थ—यदा=जब, नरः=मनुष्य, कृतान्तोपहिताम्=प्रतिकूल भाग्यद्वारा उपस्थापित, भाग्यक्षयपीडिताम्=भाग्यनाश के कारण दलित, दशाम्=अवस्था को प्रपद्यते=प्राप्त करता है, तदा=उस समय, तु=तो, मित्राणि=मित्र, अपि=भी, अमित्रताम्=शत्रुता को, यान्ति=प्राप्त कर लेते हैं, चिरानुरक्तः=बहुत समय से प्रेम करने वाला, अपि=भी, जनः=मनुष्य, विरज्यते=विरक्त=विमुख हो जाता है ॥५३॥

अर्थ—चारुदत्त—अरी रदनिके! (तेरे पास) उत्तर भी नहीं है?

जब मनुष्य दुर्दैव द्वारा उपस्थापित, भाग्यनाश के कारण दलित दुर्दशा को प्राप्त हो जाता है, तब इस (निर्धन) के मित्र भी शत्रुता को प्राप्त हो जाते हैं और दीर्घकाल से अनुराग रखने वाला व्यक्ति भी विरक्त (अनुरागहीन हो जाता है ॥ ५३ ॥

टीका—नरः = मानवः, यदा = यस्मिन् काले, कृतान्तोपहिताम्=कृतान्तेन दैवेन, उपहिताम् = प्रापिताम्, भाग्यक्षयपीडिताम् = भाग्यस्य अदृष्टस्य, क्षयेण= विनाशेन, पीडिताम्=दलिताम् दशाम्=अवस्थाम्, प्रपद्यते=प्राप्नोति, तदा=तस्मिन् काले, अस्य=निर्धनस्य, मित्राणि=सखायः, अपि अमित्रताम्=शत्रुताम्, यान्ति= गच्छन्ति चिरानुरक्तः अपि=दीर्घकालाद् अनुरागयुक्तः अपि, जनः=मानवः, विरज्यते=विरक्तो भवति। अत्र अप्रस्तुतात् प्रस्तुताया रदनिकायाः प्रतीतेरप्रस्तुत-प्रशंसालङ्कारः। वंशस्थं वृत्तम्—वदन्ति वंशस्थबिलं जतौ जरौ ॥ ५३ ॥

(उपसृत्य रदनिका विदूषकश्च)

विदू०—भो इअं सा रदणिआ । (भोः ! इयं सा रदनिका ।)

चारु०—इयं सा रदनिका ! इयमपरा का ?

अविज्ञातावसक्तेन दूषिता मम वाससा ।

वसन्त०—[स्वगतम् ।] णं भूसिदा । (ननु भूषिता ।)

(विदूषक और रदनिका समीप में जाकर)

अर्थ—**विदूषक**—अरे ! वह रदनिका तो यह है ।

अन्वयः—अविज्ञातावसक्तेन, मम, वाससा, दूषिता, (या), शरदभ्रेण, छादिता, चन्द्रलेखा, इव, दृश्यते ॥ ५४ ॥

शब्दार्थ—अविज्ञातावसक्तेन = अज्ञानता के कारण स्पर्श किये हुये, मम= मुझ चारुदत्त के, वाससा=वस्त्र से, दूषिता=दूषित की गई, (या=जो यह पर स्त्री है, वह) शरदभ्रेण=शरदऋतु के मेघ से, छादिता=ढकी हुई, चन्द्रलेखा=चन्द्रमा की कला, इव = के समान, दृश्यते = दिखाई दे रही है अर्थात् शोभित हो रही है ॥ ५४ ॥

टीका—अविज्ञातावक्तेन = अविज्ञाता अतएवावसक्तेन = अङ्गलग्नेन, यद्वा अविज्ञातेन=अज्ञानेन भावेक्तःबोध्यः अवसिक्तेन, यद्वा मया अविज्ञातायाम् अज्ञान-विषयायाम् अवसिक्तेन = लग्नेन इत्येकमेव पदम्, मम=चारुदत्तस्य, वाससा= उत्तरीयेण, दूषिता = भ्रष्टा, परपुरुषसंसृष्टवस्त्रस्पर्शात् दोषयुक्ता जातेति भावः; या=परस्त्री, शरदभ्रेण = शरत्कालीनमेघेन, छादिता=आवृता, चन्द्रलेखा=चन्द्रस्य इन्दोः लेखा = कला, इव = यथा, दृश्यते=अवलोक्यते । अत्रोपमालंकार, पथ्यावक्त्रं वृत्तम् ॥ ५४ ॥

विमर्श—अविज्ञातावसिक्तेन—(१) इसमें दो पद हैं—(क) अविज्ञाता अत-एव (ख) अवसिक्तेन' नहीं मालूम थी अतः शरीर पर रखे हुये वस्त्र से, (२) अविज्ञातं यथा स्यात् तथा-न जानने के कारण स्पर्श किये हुये, (ग) कथञ्चित् भाव अर्थ में मानकर अविज्ञातेन = अज्ञानेन, अवसिक्तेन । यहाँ तत्कालीन सामाजिक मान्यता का संकेत मिलता है कि अन्य पुरुष के शरीर से स्पृष्ट वस्त्र का स्पर्श कर लेने मात्र से ही अन्य की स्त्री सतीत्व से पतित हो जाती थी । साथ ही चारुदत्त के चरित्र की उदात्तता भी सूचित होती है । उपमा अलंकार है और पथ्यावक्त्र छन्द है । लक्षण युजोर्जेन सरिद्भर्तुः पथ्यावक्त्रं प्रकीर्तितम् ॥५४॥

अर्थ—**चारुदत्त**—यह (यह हमलोगों की) रदनिका है ? तो यह दूसरी कौन है ?

अज्ञानता के कारण मेरे वस्त्र से दूषित हो गई ।

वसन्तसेना— (अपने में) अरे, मैं तो अलंकृत हुई हूँ ।

चारु०—

छादिता शरदभ्रेण चन्द्रलेखेव दृश्यते ॥ ५४ ॥

अथवा, न युक्तं परकलत्रदर्शनम् ।

विदू०—भो अलं परकलत्तदंसणसङ्काए। एसा वसन्तसेणा कामदेवाअदणुज्जाणादो पहुदि भवन्तमणुरत्ता। (भोः ! अलं परकलत्रदर्शनशङ्कया। एषा वसन्तसेना कामदेवायतनोद्यानात् प्रभृति भवन्तमनुरक्ता।)

चारु०—अये इयं वसन्तसेना !। [स्वगतम् ।]

यया मे जनितः कामः क्षीणे विभवविस्तरे।
क्रोधः कुपुरुषस्येव स्वगात्रेष्वेव सीदति ॥ ५५ ॥

चारुदत्त—शरद् ऋतु के मेघ से आच्छादित चन्द्रमा की कला के समान दिखाई दे रही है ॥ ५४ ॥

अथवा, दूसरे की स्त्री को देखना ठीक नहीं है।

विदूषक—अरे मित्र ! दूसरे की स्त्री की शंका मत कीजिये। कामदेवायतन नामक उद्यान (में जाने) से लेकर आप पर अनुरक्त हो जाने वाली वसन्तसेना है।

अन्वयः—विभवविस्तरे, क्षीणे (अपि सति) यया, जनितः, मे, कामः, कुपुरुषस्य, क्रोधः, इव, स्वगात्रेषु, एव, सीदति ॥ ५५ ॥

शब्दार्थ—विभवविस्तरे=विस्तृत वैभव, क्षीणे=विनष्ट हो जाने पर (भी), यया–जिस वसन्तसेना के द्वारा, जनितः=उत्पन्न कराया गया, मे=मुझ चारुदत्त का, कामः=कामवासना, कुपुरुषस्य=कायर पुरुष के, क्रोधः इव=गुस्सा के समान, स्वगात्रेषु=अपने शरीर में, एव=ही, सीदति=विनष्ट हो रही है ॥ ५५ ॥

अर्थ—चारुदत्त—अरे यह वसन्तसेना है ! (अपने से)

विपुल धनराशि (या भाग्य) विनष्ट हो जाने पर (भी) जिस वसन्तसेना द्वारा उत्पन्न कराई गई कामवासना, कायर=असमर्थ पुरुष की गुस्सा के समान, अपने शरीर में ही समाप्त हो जा रही है। (अर्थात् असमर्थ व्यक्ति क्रुद्ध होने पर भी दूसरे का कुछ नहीं बिगाड़ सकता है उसका क्रोध अपने शरीर तक ही सीमित रह जाता है उसी प्रकार मेरी कामवासना भी मेरे तक ही सीमित है ॥ ५५ ॥

टीका—विभवविस्तरे=धनादिराशौ, क्षीणे=विनष्टे, सत्यपि, यया=वसन्तसेनया, जनितः=उत्पादितः, मे=चारुदत्तस्य, कामः=कामुकी प्रवृत्तिः, सम्भोगवासना' कुपुरुषस्य=असमर्थपुरुषस्य, भीरुजनस्य वा, क्रोधः=कोपः, इव=यथा, स्वगात्रेषु=स्वशरीरेषु, एव, अत्र बहुवचनप्रयोगश्चिन्तनीयः, सीदति=विनश्यति, कर्त्तव्यासामर्थ्यात् प्रव्यक्तो न भवतीति भाव,। अत्रोपमालंकारः। पथ्यावक्त्रं वृत्तम्।

विदू०—भो वअस्स ! एसो क्खु राअसालो भणादि । (भो ! वयस्य ! एष खलु राजश्यालो भणति ।)

चारु०—किम् ? ।

विदू०—एसा ससुवण्णा सहिलण्णा णव-णाड़अ-दंशणुट्ठिदा सुत्तधालिव्व वसन्तसेणा णाम गणिआदालिआ कामदेवाअदणुज्जादो पहुदि तुमं अणुलत्ता, अम्हेहिं बलक्काणुणीअमाणा तुह गेहं पविट्ठा ?

(एषा ससुवर्णा, सहिरण्या नवनाटक-दर्शनोत्थिता सूत्रधारीव वसन्तसेना नाम गणिकादारिका कामदेवायतनोद्यानात् प्रभृति त्वामनुरक्ताऽस्माभिर्बलात्कारानुनीयमाना तव गेहं प्रविष्टा ।)

वसन्त०—[स्वगतम् ।] बलाक्कालाणुणीअमाणेति जं सच्चं अलङ्किदम्हि एदेहिं अक्खरेहिं । (बलात्कारानुनीयमानेति यत्सत्यम्, अलङ्कृताऽस्मि एतैरक्षरैः ।)

अत्र 'अलं परकलत्रशङ्कया' इत्यारभ्य 'अये, इयं वसन्तसेना' इत्यन्तेन नायकोपकारिकाया अर्थसम्पत्तेरवगमात् प्रथमं पताकास्थानकमिदम् । तदुक्तम्—

सहसैवार्थसम्पत्तिर्नायकस्योपकारिका ।
पताकास्थानकं सन्धौ प्रथमे तन्मतमिति ॥

अन्ये तु "णं भूषिता=इत्यादिवसन्तसेनोक्त्या 'यया मे जनितः' इत्यादि-चारुदत्तोक्त्या चानयोरन्योन्यमनुरागातिशयवर्णनात् 'तन्निष्पत्तिः परिन्यासः' इति दर्पणोक्तेः परिन्यासो नाम मुखसन्धेरङ्गमित्याहुः ॥ ५५ ॥

विमर्श—स्वगात्रेषु–यह बहुवचन का प्रयोग ठीक नहीं है, क्योंकि' कुपुरुषस्य' एकवचन है। एक पुरुष का एक ही शरीर होता है। सीदति–षद्लृ विशरण-गति-अवसादनेषु, विशरण=अवयवों का विश्लेष, अवसादन=नाश, √षद्लृ=सीद + लट्, प्र. पु. ए. व.। पृथ्वीधर के अनुसार यहाँ प्रथम पताकास्थानक है। अन्य लोग मुखसन्धि का परिन्यासनामक अंग मानते हैं॥ ५५ ॥

अर्थ—विदूषक—हे मित्र ! यह राजश्याल (शकार) कहता है—

चारुदत्त—क्या ?

विदूषक—सुवर्ण से अलंकृत, सुवर्ण से युक्त, नवीन नाटक का प्रदर्शन करने के लिये उठकर खड़ी हुई, सूत्रधारी=प्रमुख नटी के समान यह वसन्तसेना नामक वेश्यापुत्री कामदेवायतन नामक उद्यान (में जाने) से लेकर तुम पर अनुरक्त हो चुकी है, हम लोगों द्वारा बलपूर्वक मनायी जाती हुई भी तुम्हारे घर के अन्दर चली गयी है।

वसन्तसेना—(अपने से) 'बलपूर्वक मनायी जाती हुई' यदि यह सत्य है, तो इन अक्षरों से मैं अलंकृत हो गई हूँ।

विदू०——ता जइ मम हत्थे सअं ज्जेव पट्टाविअ एणं समप्पेसि, तदो अधिअलणे ववहालं विणा लहुं णिज्जादमाणाह तव मए अणुबद्धा पीदी हुविस्सदि। अण्णधा, मलणान्तिके वेले हुविस्सदि। (तद् यदि मम हस्ते स्वयमेव प्रस्थाप्यैनां समर्पयसि ततोऽधिकरणे व्यवहारं विना लघु निर्यातियतस्तव मयानुबद्धा प्रीतिर्भविष्यति। अन्यथा मरणान्तकं वैरं भविष्यति।)

चारु०——(सावज्ञम्।) अज्ञोऽसौ। [स्वगतम्।] अये! कथं देवतोपस्थानयोग्या युवतिरियम्। तेन खलु तस्यां वेलायाम्—

प्रविश गृहमिति प्रतोद्यमाना न चलति भाग्यकृतां दशामवेक्ष्य।
पुरुषपरिचयेन च प्रगल्भं न वदति यद्यपि भाषते बहूनि ॥५६॥

(प्रकाशम्)। भवति! वसन्तसेने! अनेनाविज्ञानादपरिज्ञातपरिजनोपचारेण अपराद्धोऽस्मि। शिरसा भवतीमनुनयामि।

विदूषक——तो स्वयं ही पहुँचा कर यदि मेरे हाथ में इसे समर्पित कर देते हो तो शीघ्र पहुँचा देने वाले तुम्हारे साथ, न्यायालय में मुकदमा के बिना ही, मेरी प्रगाढ़ मित्रता हो जायगी। यदि ऐसा नहीं करोगे तो आमरण शत्रुता हो जायगी।

अन्वयः——गृहम्, प्रविश इति, प्रतोद्यमाना भाग्यकृताम्, दशाम्, अवेक्ष्य, न, चलति, यद्यपि, बहूनि, भाषते, (तथापि), पुरुषपरिचयेन, प्रगल्भम्, न, च, वदति ॥ ५६ ॥

शब्दार्थ——गृहम्=घर में, प्रविश=चली जाओ, इति=इस प्रकार, प्रतोद्यमाना=प्रेरित की गई, कही गई भी, यह, भाग्यकृताम्=दुर्भाग्य से उपस्थापित, दशाम्=दयनीय दशा को, अवेक्ष्य=देखकर, न=नहीं, चलति=चलती है, (घर में प्रवेश करती है), यद्यपि=यद्यपि, (वेश्या होने के कारण) बहूनि=बहुत अधिक, भाषते=बोलती है, तथापि, पुरुषपरिचयेन=मुझ सदृश पुरुष की संगति से, प्रगल्भम्=धृष्टतापूर्वक, न च=नहीं, वदति=बोलती है, शिष्टतापूर्वक संयत ही बोलती है ॥ ५६ ॥

टीका——गृहम्=भवनम्, प्रविश=अभ्यन्तरं गच्छ, इति=अनेन प्रकारेण, प्रतोद्यमाना=प्रेर्यमाणापि, भाग्यकृताम्=दुर्भाग्योपस्थापिताम्, दशाम्=अवस्थाम्, अवेक्ष्य=विलोक्य, न=नैव, चलति=गृहं प्रविशति, प्रविष्टा, यद्यपि, बहूनि, भाषते=प्रवदति, तथापि, पुरुषपरिचयेन=मादृशपुरुषसंसर्गेण, प्रगल्भम्=धृष्टं यथा स्यात् तथा, न च=नैव, वदति=वक्ति। पुष्पिताग्रा वृत्तम् ॥ ५६ ॥

अर्थ——चारुदत्त——(अपमान के साथ) वह (शकार) मूर्ख है। (अपने आप में) अरे, देवता के समान पूजनयोग्य यह युवती (यहाँ) कैसे? इसीलिये उस समय—

वसन्त०—एदिणा अणुचिदभूमिआरोहणेण अवरज्झा अज्जं सीसेण पणमिअ पसादेमि। (एतेनानुचितभूमिकारोहणेन अपराद्धा आर्यं शीर्षेण प्रणम्य प्रसादयामि।)

विदू०—भो ! दुवेवि तुम्हे सुखं पणमिअ कलमकेदारा अण्णोण्णं सीसेण सीसं समाअदा। अहं पि इमिणा करहजाणुसरिसेण सीसेण दुवेवि तुम्हे पसादेमि।

(भो ! द्वावपि युवां सुखं प्रणम्य कलमकेदारौ अन्योन्यं शीर्षेण शीर्षं समागतौ। अहमपि अमुना करभजानुसदृशेन शीर्षेण द्वावपि युवां प्रसादयामि।)

(इत्युत्तिष्ठति)

चारु०—भवतु, तिष्ठतु प्रणयः।

वसन्त०—[स्वगतम्।] चदुरो मधुरो अ अअं उवण्णासो। ण जुत्तं अज्ज एरिसेण इध आअदाए मए पड़िवसिदुं। भोदु, एव्वं दाव भणिस्सं। (प्रकाशम्) अज्ज ! जइ एव्वं अहं अज्जस्स अणुग्गेज्झा, ता इच्छे अहं इमं अलङ्कारअं अज्जस्स गेहे णिक्खिविदुं। अलङ्कारस्स णिमित्तं एदे पावा अणुसरन्ति। (चतुरो मधुरश्चायमुपन्यासः। न युक्तमद्य ईदृशेन इह आगतया

घर के भीतर चलीजाओ—यह कही जाती हुई भी, दुर्भाग्य से उपस्थापित दयनीय दशा को देख कर (भीतर) नहीं गयी। (वेश्या होने के नाते) यद्यपि बहुत बोलने वाली है परन्तु इस समय मुझ पुरुष की संगति से धृष्टतापूर्वक अधिक नहीं बोल रही है। अर्थात् चुप-चाप खड़ी है ॥ ५६ ॥

(प्रकाश) माननीये वसन्तसेने ! ठीक से न जानने के कारण अपरिज्ञात (न पहचानी गयी) तुम्हारे साथ नौकरानी के समान व्यवहार करने का अपराधी बन गया हूँ। अतः शिर से आपकी प्रार्थना करता हूँ, मनाता हूँ।

वसन्तसेना—इस भूमि में अनुचित प्रवेश करने से (अथवा पक्षद्वार से अनुचित ढंग से आपके घर में प्रवेश करने से) अपराधिनी मैं आर्य को शिर से प्रणाम करके प्रसन्न कर रही हूँ।

विदूषक—ओ हो ! आप दोनों सुख से प्रणाम करके धान की दो क्यारियों के समान परस्पर शिर से मिल चुके। मैं भी इस समय ऊँट के बच्चे की जांघ के समान (लम्बे) शिर से आप दोनों को प्रसन्न कर रहा हूँ, मना रहा हूँ।

(ऐसा कह कर उठता है।)

चारुदत्त—छोड़ो, प्रणय (औपचारिकता) को जाने दो।

वसन्तसेना—(अपने आप) यह कथन चतुरतापूर्ण और मधुर है। आज इस प्रकार (विना आमन्त्रित की हुई) आयी हुई मुझे इस (चारुदत्त) के साथ रहना

मया प्रतिवस्तुम्। भवतु, एवं तावत् भणिष्यामि। आर्य ! यद्येवम् अहमार्यस्य अनुग्राह्या, तदिच्छाम्यहमिमलङ्कारकमार्यस्य गेहे निक्षेप्तुम्। अलङ्कारस्य निमित्तमेते पापा अनुसरन्ति।)

चारुदत्तः—अयोग्यमिदं न्यासस्य गृहम्।

वसन्त०—अज्ज ! अलीअं। पुरुसेसु णासा णिक्खिविअन्ति, ण उण गेहेसु ! (आर्य ! अलीकम्। पुरुषेषु न्यासा निक्षिप्यन्ते, न पुनर्गेहेषु।)

चारुदत्तः—मैत्रेय ! गृह्यतामयमलङ्कारः।

वसन्त०—अणुग्गहिदह्मि। [इत्यलङ्कारमर्पयति।] (अनुगृहीतास्मि।)

विदू०—(गृहीत्वा।) सोत्थि भोदिए। (स्वस्ति भवत्यै।)

चारु०—धिङ्मूर्ख ! न्यासः खल्वयम् !

विदू०—[अपवार्य।] जइ एव्वं, ता चोरेहिं अवहरीअदु। (यद्येवम्, तत् चौरैरपह्रियताम्।)

चारु०—अचिरेणैव कालेन—

विदू०—एसो से अम्हाणं विण्णासो ?। (एषः अस्या अस्माकं विन्यासः ?)

चारु०—निर्यातयिष्ये।

वसन्त०—अज्ज ! इच्छे अहं इमिणा अज्जेण अणुगच्छिज्जन्ती सकं गेहं गन्तुं। (आर्य ! इच्छाम्यहम् अनेनार्येण अनुगम्यमाना स्वकं गेहं गन्तुम्।)

ठीक नहीं है। अच्छा, तो इस प्रकार कहती हूँ। (प्रकाश) आर्य ! यदि आप के द्वारा मुझ पर इस प्रकार का अनुग्रह किया जा रहा है तो यह स्वर्णाभूषण आपके घर रखना चाहती हूँ। आभूषणों के कारण ही ये पापी लोग मेरा पीछा कर रहे हैं।

चारुदत्त—यह (मेरा घर) धरोहर रखने योग्य नहीं है।

वसन्तसेना—आर्य ! यह असत्य है। अधिकारी पुरुषों के पास में धरोहर रक्खीं जाती हैं न कि घरों में।

चारुदत्त—मैत्रेय ! यह स्वर्णाभूषण ले लो।

वसन्तसेना—मैं अनुगृहीत हूँ। (यह कह आभूषण दे देती है।

विदूषक—(लेकर) आपका कल्याण हो।

चारुदत्त—धिक्कार है मूर्ख। यह तो धरोहर है।

विदूषक—(अलग हटकर) यदि ऐसा है तो चोर चुरा ले जाँय।

चारुदत्त—बहुत शीघ्र ही—

विदूषक—यह इसकी धरोधर हमारे पास है।

चारुदत्त—वापस कर दूंगा।

वसन्तसेना—आर्य मैं इन (विदूषक) महोदय के साथ अपने घर जाना चाहती हूँ।

चारु०—मैत्रेय ! अनुगच्छ तत्रभवतीम् ।

विदू०—तुमं ज्जेव एदं कलहंसगामिणीं अणुगच्छन्तो राअहंसो विअ सोहसि । अहं उण वह्मणो जहिं तहिं जणेहिं चउप्पहोवणीदो विअ उवहारो कुक्कुरेहिं विअ खज्जमाणो विवज्जिस्सं । (त्वमेव एतां कलहंसगामिनीम् अनुगच्छन् राजहंस इव शोभसे । अहं पुनर्ब्राह्मणः यस्मिन् तस्मिन् जनैः चतुष्पथोपनीत इवोपहारः कुक्कुरैरिव खाद्यमानो विपत्स्ये ।)

चारु०—एवं भवतु, स्वयमेवानुगच्छामि तत्रभवतीम् । तद्राजमार्गविश्वासयोग्याः प्रज्वाल्यन्तां प्रदीपिकाः ।

विदू०—वड्ढमाणअ ! पज्जालेहि पदीविआओ । (वर्द्धमानक ! प्रज्वालय प्रदीपिकाः ।)

चेटः—[जनान्तिकम् ।] अले ! तेल्लेण विणा पदीविआओ पज्जालीअन्ति ? । (अरे ? । तैलेन विना प्रदीपिकाः, प्रज्वाल्यन्ते ? ।)

विदू०—[जनान्तिकम् ।] भो ! ताओ क्खु अम्हाणं पदीविआओ अवमाणिद-णिद्धण-कामुआ विअ गणिआ णिस्सिणेहाओ दाणिं संवुत्ता । (भोः ! ताः खल्वस्माकं प्रदीपिकाः, अपमानित-निर्द्धन-कामुका इव गणिकाः, निस्नेहा इदानीं संवृत्ताः ।)

चारुदत्त—मैत्रेय ! सम्माननीया के साथ जाओ ।

विदूषक—कलहंसी के समान सुन्दर गमन करने वाली इनके साथ जाते हुये राजहंस के समान आप की ही शोभा है । और मैं (दुर्बल) ब्राह्मण (रास्ते में दुष्ट शकारादि के द्वारा) उसी प्रकार मारा डाला जाऊँगा जिस प्रकार लोगों द्वारा इधर उधर चौराहों पर रखी हुई बलि को कुत्ते खा डालते हैं ।

चारुदत्त—ऐसा ही हो । इन श्रीमती जी के साथ मैं ही जा रहा हूँ । इसलिये राजमार्ग में विश्वासयोग्य (अर्थात् न बुझने वाले) दीपों को जलाओ ।

विदूषक—वर्द्धमानक ! दीपक जलाओ ।

चेट—(अलग विदूषक से) अरे ! विना तेल के कहीं दीपक जलाये जाते हैं ।

विदूषक—(अलग चेट से) अरे ? हमारी वे लालटेनें (प्रदीपिका), धनहीन कामुक व्यक्तियों को अपमानित करने वाली, वेश्याओं के समान इस समय स्नेहरहित (प्रेमरहित, तेलरहित) हो गई हैं ।

टीका—अपरिज्ञातपरिजनोपचारेण=अपरिज्ञातायां त्वयि (वसन्तसेनायाम्) परिजनवदुपचारेण=आज्ञाकरणादिरूपेण, अपराद्धः=अपराधी, अनुचितभूमिकारोहेण=भूमिका=चारुदत्तभवनम्, तस्याम् आरोहणम्=प्रवेशः, अनुचितं च यद् भूमिकारोहणम्, वेश्यात्वात् तव गृहे मम प्रवेशोऽयोग्यः, स मया विहितः अतोऽहमेव तवा-

चारु०——मैत्रेय ! भवतु ! कृतं प्रदीपिकाभिः । पश्य——

उदयति हि शशाङ्कः कामिनीगण्डपाण्डुर्ग्रहगणपरिवारो राजमार्गप्रदीपः ।
तिमिरनिकरमध्ये रश्मयो यस्य गौराः स्रुतजल इव पङ्के क्षीरधाराःपतन्ति॥

पराधिनी, कलमकेदारौ=कलमः=शालिविशेषः, 'शालयः कलमाद्याश्च' (अमरकोशः) केदारः=क्षेत्रं ताविव मिलिताविति भावः । करभजानुसदृशेन=करभः=उष्ट्रशिशुः, तस्य जानुः, तत्सदृशेन=समानेन, लम्बायमानेनेत्यर्थः, प्रसादयामि=प्रसन्नौ करवाणि, प्रणयः=स्नेहः, औपचारिकतेति भावः, चतुरः=चातुर्ययुक्तः, मधुरः=माधुर्ययुक्तश्च, उपन्यासः=कथनम्, अलङ्कारकम्=आभूषणम् प्रियार्थे क प्रत्ययः, पापाः=अकार्य-कारिणः शकारादयः, न्यासस्य=निक्षेपस्य, पुरुषेषु=जनेषु, वैषयिकेऽधिकरणे सप्तमी, निक्षिप्यन्ते=स्थाप्यन्ते, निर्यातयिष्ये=प्रत्यर्पयिष्ये, चतुष्पथोपनीतः=चतुष्पथः= यत्र चत्वारो मार्गा मिलन्ति, तत्र उपनीतः=स्थापितः, उपहारः=बलिः, विपत्स्ये= मरिष्यामि, अपमानितनिर्धनकामुकाः=अपमानिताः निर्धनाःकामुकाः याभिस्ताः, निःस्नेहः=स्नेहः=तैलम्, अनुरागश्च, निर्गतः स्नेहः याभ्यस्ताः, अनुरागशून्याः, तैल-शून्याश्चेतिभावः ।

विमर्श——अनुचितभूमिकारोहणेन —इसमें अनुचित यह विशेषण 'भूमिका' का है अथवा आरोहण का ? कुछ लोगों के अनुसार 'भूमिका' का है । वसन्तसेना वेश्या थी, चारुदत्त का घर (भूमिका) उसके प्रवेशयोग्य नहीं था । दूसरे मत में भूमिका-रोहण अनुचित था, उसका घर में प्रवेश करना ही अपराध था । कलमकेदारौ– धान और क्यारी । करभ-जानु-सदृशेन–ऊँट के बच्चे की जांघ के समान। प्रणयः–औपचारिकता । प्रतिवस्तुम्–प्रति + √वस् + तुमुन्–√वस् धातु अनिट् है । अलंकारकम्–प्रिय अर्थ में 'क' प्रत्यय है । अचिरेणैव कालेन–इस चारुदत्त के के कथन को "एष अस्या अस्माकं विन्यासः" इस विदूषकवचन से नहीं जोड़ना चाहिये, अपितु आगे के 'निर्यातयिष्ये' के साथ मिलाकर अर्थ करना चाहिये। चतुष्पथोपनीतः=चौराहे पर रखा हुआ । विपत्स्ये-मारा जाऊँगा । अपमानित-निर्धनकामुका गणिका इव–निर्धन कामुकों को अपमानित करने वाली वेश्याओं के सदृश । विदूषक का यह कथन वसन्तसेना वेश्या को लक्षित करके चारुदत्त से साभिप्राय कहा गया है । निःस्नेहाः = स्नेह का अर्थ प्रेम और (२) तेल दोनों है। वेश्या प्रेमरहित और प्रदीपिकायें तेलरहित हैं ।

अन्वयः——कामिनीगण्डपाण्डुः ग्रहगणपरिवारः, राजमार्गप्रदीपः, शशाङ्कः, उदयति, हि, यस्य, गौराः, रश्मयः, स्रुतजले, पङ्के, क्षीरधाराः, इव, तिमिरनिकर-मध्ये, पतन्ति ।। ५७ ।।

शब्दार्थ—हि=निश्चित ही, कामिनीगण्डपाण्डुः=सुन्दरी युवती के गालों के समान उज्ज्वल, ग्रहगणपरिवारः=ग्रह-नक्षत्ररूपी परिवार वाला, राजमार्गप्रदीपः=राजमार्ग पर प्रकाश करने वाला दीपक, शशाङ्कः=चन्द्रमा, उदयति=उदित हो रहा है, हि=निश्चित, यस्य=जिस चन्द्रमा की, गौराः=श्वेतवर्णवाली उजली, रश्मयः=किरणें, स्रुतजले=निकले=सूखे हुये जल वाले, पङ्के=कीचड़ में, क्षीरधाराः इव=दूध की धारों के समान, तिमिरनिकरमध्ये = अन्धकारसमूह के मध्य में, पतन्ति=गिर रहीं हैं ।। ५७ ।।

अर्थ—चारुदत्त—मैत्रेय ! अच्छा, दीपिकाओं को रहने दो। देखो

सुन्दर युवती के गालों के समान उज्ज्वल, ग्रह-नक्षत्ररूपी परिवार वाला, तथा राजमार्ग का प्रकाशक=दीपक चन्द्रमा निश्चित ही उदित हो रहा है। जिस चन्द्रमा की श्वेत किरणें, सूखे हुये जलवाले (काले) कीचड़ में दूध की धाराओं के समान, अन्धकार के मध्य में गिर रहीं है ।। ५७ ।।

टीका—कामिनीगण्डपाण्डुः=कामिन्याः=तरुण्याः गण्डः=कपोल इव पाण्डुः=पाण्डुवर्णः=गौरवर्णः, ग्रहगणपरिवारः=ग्रहाणाम्=ग्रहनक्षत्रादीनां गणः=समूह एव परिवारः=परितो वेष्टनकारकः यस्य सः ग्रहनक्षत्रपरिवृतः, राजमार्गप्रदीपः=राजमार्गस्य प्रकाशकः दीपः, शशाङ्कः=चन्द्रः, हि=निश्चयेन, उदयति=उद्गच्छति, उदेति, यस्य=चन्द्रस्य, गौराः=शुभ्राः, रश्मयः=किरणाः, स्रुतजले=स्रुतम्=निर्गतं जलं यस्मात् तादृशे, पङ्के=कर्दमे, क्षीरधाराः=दुग्धस्य प्रवाहाः, इव=यथा, तिमिरनिकर-मध्ये=अन्धकार-समूहस्य मध्ये=आभ्यन्तरे, पतन्ति=प्रविशन्ति, अन्धकारतां दूरीकृत्य श्वेततामुत्पादयन्ति। उपमा रूपकं चालंकारौ, मालिनी वृत्तम्—तल्लक्षणम्—न-न-म-य-य-युतेयं मालिनी भोगिलोकैः ।। ५७ ।।

विमर्श—ग्रहगणपरिवारः=यहाँ ग्रह का तात्पर्य यह है कि सूर्य के अतिरिक्त सभी ग्रह तारे के रूप में प्रकाशित होते हैं। अतः तारागणरूपी परिवार वाला—इसमें रूपक अलंकार है। कामिनीगण्डपाण्डुः—में सादृश्यवाचक का लोप होने से लुप्तोपमा है और क्षीरधारा इव—यहाँ भी उपमा है। जैसे किसी कीचड़ का पानी निकल जाय या सूख जाय और उसमें दूध की धारायें बहा दी जाँय उस उस समय जैसा रूप बनता है वैसा ही चन्द्रोदय के समय अन्धकार का बनता है। इसमें मालिनी छन्द है। लक्षण—

न-न-म-य-य-युतेयं मालिनी भोगिलोकैः।"

यहाँ चारुदत्त यद्यपि चन्द्रोदय का वर्णन करता है तथापि वसन्तसेना के घर की ओर जाने के अभिनय का कोई संकेत नहीं है। साथ ही आगे चारुदत्त ने वसन्तसेना के घर का संकेत जब किया तो वह अपने घर जाती है। आगे के

(सानुरागम्) **भवति! वसन्तसेने! इदं भवत्या गृहम्, प्रविशतु भवती।**

(वसन्तसेना सानुरागमवलोकयन्ती निष्क्रान्ता।)

चारु०—वयस्य! गता वसन्तसेना। तदेहि, गृहमेव गच्छावः।

राजमार्गो हि शून्योऽयं रक्षिणः सञ्चरन्ति च।
वञ्चना परिहर्त्तव्या बहुदोषा हि शर्वरी॥ ५८॥

वर्णन से यह लगता है कि चारुदत्त और मैत्रेय दोनों ही वसन्तसेना के साथ गये थे। इसलिये उदास होकर चारुदत्त कहता है 'मित्र! वसन्तसेना चली गई, तो हम लोग भी घर ही चलें। जो हो, यहाँ नाटकीय दृष्टि से कुछ अपूर्णता प्रतीत होती है॥ ५७॥

(प्रेम से) माननीये वसन्त–सेने! यह आपका घर (आ गया) है। आप इसमें प्रवेश करें।

(वसन्तसेना अनुराग के साथ देखती हुई निकल गई)।

अन्वयः—हि, अयम्, राजमार्गः, शून्यः रक्षिणः, च, सञ्चरन्ति, वञ्चना, परिहर्त्तव्या, हि, शर्वरी, बहुदोषा॥ ५८॥

शब्दार्थः—हि=निश्चित ही, अयम्=जिस पर हम लोग चल रहे हैं वह, राजमार्गः=प्रमुख रास्ता, शून्यः=यातायात से रहित है, रक्षिणः=सिपाही लोग, सञ्चरन्ति=गस्त लगा रहे हैं। वञ्चना=(वसन्तसेना के अलंकारों की) चोरी रूपी ठगाई को, परिहर्तव्या=बचाना है, हि=क्योंकि, शर्वरी=रात, बहुदोषा=बहुत प्रकार के दोषों से भरी होती है॥ ५८॥

अर्थ—चारुदत्त—मित्र! वसन्तसेना चली गई। अतः चलो, हम दोनों भी घर चलें।

(श्लोकार्थ) अधिक देर हो चुकी है) निश्चित रूप से, यह राजमर्ग आने जानेवालों से रहित है और राजपुरुष (सिपाही) लोग गस्त लगा रहे हैं। (वसन्त-सेना के स्वर्णाभूषणों की चोरी रूपी) ठगाई को बचाना है क्योंकि रात बहुत दोषों से परिपूर्ण होती है, अर्थात् रात में ही अनेक अपराध होते हैं॥ ५८॥

टीका—हि=यतः, अयम्=अस्माभिः आश्रीयमाणः, राजमार्गः=राजपथः, प्रमुखमार्गः, शून्यः=गमनागमनकर्तृरहितः, च=तथा, रक्षिणः=रक्षापुरुषाः, सञ्चरन्ति=इतस्ततः भ्राम्यन्ति, वञ्चना=वसन्तसेना-स्वर्णाभूषणापहाररूपा प्रतारणा, परिहर्त्तव्या=निवारणीया, हि=यतः, शर्वरी=रात्रिः, बहुदोषा=विविधापराध-कृत्यपरिपूर्णा भवति। अतः वसन्तसेनायाः आभूषणानां रक्षार्थमस्माभिः शीघ्रं गन्तव्यमिति भावः। अर्थान्तरन्यासः अलंकारः, पथ्यावक्त्रं वृत्तम्॥ ५८॥

(परिक्रम्य ।) इदञ्च सुवर्णभाण्डं रक्षितव्यं त्वया रात्रौ, वर्द्धमानकेनापि दिवा ।

विदू०---जध भवं आणवेदि । (यथा भवानाज्ञापयति ।)

इति निष्क्रान्तौ ।

॥ इति मृच्छकटिकेऽलङ्कारन्यासो नाम प्रथमोऽङ्कः ॥

—०—

विमर्श---चारुदत्त के मन में यह आशंका होने लगी कि कहीं राजश्यालक या उसके किसी सम्बन्धी ने रात में देख लिया तो पकड़ लिये जाने की सम्भावना है। साथ ही वसन्तसेना के स्वर्णाभूषण टूटे फूटे घर में रखे हैं। कोई भी चुरा सकता है। अतः यथाशीघ्र ही घर चलना अनिवार्य है क्योंकि अधिकांश अपराध कार्य रात में ही हुआ करते हैं। यहाँ काव्यलिङ्ग तथा अर्थान्तरन्यास की अङ्गाङ्गिभावने स्थिति होने से संकर अलंकार है और पथ्यावक्त्र छन्द है ॥ ५८ ॥

(घूमकर) इस स्वर्णाभूषणों के डिब्बा की रक्षा रात में आपको करनी है और दिन में वर्द्धमानक को ।

विदूषक---आपकी जैसी आज्ञा ।

(इस प्रकार दोनों चले जाते ।)

॥ इस प्रकार मृच्छकटिक में अलङ्कारन्यास (आभूषणों की धरोहर) नामक प्रथम अङ्क समाप्त हुआ ॥

॥ जयशङ्कर-लाल-त्रिपाठि-विरचित भावबोधिनी-व्याख्या में मृच्छकटिक का प्रथम अङ्क समाप्त हुआ ॥



द्वितीयोऽङ्कः

(प्रविश्य)

चेटी—अत्ताए अज्जआसआसं सन्देसेण पेसिदम्हि। ता जाव पविसिअ अज्जआसआसं गच्छामि। (परिक्रम्यावलोक्य च) एसा अज्जआ हिअएण किंपि आलिहन्ती चिट्ठदि। ता जाव उपसप्पामि। (मात्रा आर्य्यासकाशं सन्देशेन प्रेषितास्मि। तद्यावत् प्रविश्य आर्यासकाशं गच्छामि। एषा आर्य्या हृदयेन किमप्यालिखन्ती तिष्ठति। तद्यावत् उपसर्पामि।)

(ततः प्रविशति आसनस्था सोत्कण्ठा वसन्तसेना मदनिका च।)

वसंत०—हञ्जे! तदो तदो ?। (चेटि! ततस्ततः ?)

चेटी—अज्जए! ण किंपि मन्तेसि। किं तदो तदो ?। (आर्ये! न किमपि मन्त्रयसि। किं ततस्ततः ?।)

वसन्त०—किं मए भणिदं ?। (किं मया भणितम् ?।)

चेटी—तदो तदो ति। (ततस्तत इति ?।)

शब्दार्थः—मात्रा=वसन्तसेना की माता के द्वारा, आर्यासकाशम्=सम्माननीय वसन्तसेना के पास, सन्देशेन=सन्देश के साथ या सन्देश देने के कारण, प्रविश्य=उसके कमरे में प्रवेश करके, हृदयेन=मन से, आलिखन्ती=सोचती हुई, उपसर्पामि=पास जाती हूँ, सोत्कण्ठा=उत्कण्ठायुक्त, मन्त्रयसि=कह रही हो, सभ्रूविक्षेपम्=भौंह को टेढ़ी करते हुये, आम्=अच्छा, हाँ, स्नाता=नहायी हुई, निर्वर्तय=सम्पन्न करो, हञ्जे=सखि।

अर्थ—**चेटी**—(प्रवेश करके) माता ने मुझे माननीया वसन्तसेना के पास सन्देश के साथ भेजा है। तो तब तक प्रवेश करके आर्या के पास जाती हूँ। (घूमकर और देख कर) यह आर्या मन से (में) कुछ सोंचती हुई बैठी हैं। तो इनके समीप चलती हूँ।

(इसके बाद आसन पर बैठी हुई, उत्कण्ठित, वसन्तसेना और मदनिका प्रवेश करतीं हैं।)

वसन्तसेना—सखि! इसके बाद ?

चेटी—आर्ये! आपने कुछ भी तो नहीं कहा है। तब 'उसके बाद ?' (ऐसा) क्यों (पूछ रही है) ?

वसन्तसेना—मैंने क्या कहा ?

चेटी—'इसके बाद' ऐसा।

वसन्तसेना——(सभ्रूक्षेपम् ।) **आं एव्व ? ।** (आम् एवम् ? ।)

(उपसृत्य)

प्रथमा चेटी——अज्जए ! अत्ता आदिसदि–ण्हादा भविअ देवदाणं पूअं णिव्वत्तेहि त्ति । (आर्ये ! माता आदिशति–स्नाता भूत्वा देवतानां पूजां निर्वर्त्तयेति ।)

वसन्तसेना–हञ्जे ! विण्णवेहि अत्तं, अज्ज ण ण्हाइस्सं ता वम्हणो ज्जेव पूअं णिव्वत्तेदु त्ति । (हञ्जे ! विज्ञापय मातरम्, अद्य न स्नास्यामि । तद् ब्राह्मण एव पूजां निर्वर्तयतु इति ।)

चेटी–जं अज्जआ आणवेदि । (इति निष्क्रान्ता ।) (यदार्य्या आज्ञापयति ।)

वसन्तसेना——(भौं घुमाते हुये) अच्छा, ऐसा है ।

(पास जाकर)

पहली चेटी——आर्ये ! माता जी यह आज्ञा दे रही हैं —'नहाकर देवताओं की पूजा सम्पन्न कर डालो ।'

वसन्तसेना——सखि ! माता जी से यह कहो कि मैं आज नहीं नहाऊँगी । अतः ब्राह्मण ही पूजा सम्पन्न करें ।

चेटी——आपकी जैसी आज्ञा । (ऐसा कहकर निकल जाती है ।)

टीका——मात्रा=वसन्तसेनाया जनन्या, आर्यासकाशम्=आर्यायाः=वसन्तसेनायाः सकाशम्=समीपम्, सन्देशेन=वाचिकेनादेशेन, आलिखन्ती=विचिन्तयन्ती, उपसर्पामि=समीपं गच्छामि, आसनस्था=आसने विराजमाना, सोत्कण्ठा=उत्कण्ठया=औत्सुक्येन सह, मन्त्रयसि=कथयसि, भणितम्=कथितम्, आम्=स्मरणार्थकं स्वीकृतिसूचकमव्ययम्, विज्ञापय=निवेदय ।

विमर्शः——सन्देशेन–यहाँ 'साथ' अथवा 'हेतु' अर्थ में तृतीया है ! आलिखन्ती–आङ् उपसर्ग के साथ लिख धातु का अर्थ 'सोचना' हो जाता है ! मन्त्रयसि–चुरादिगणीय√मत्रि गुप्तभाषणे धातु लट्लकार प्रथमपुरुष एकवचन । भणितम्–√भण्+क्त । आदिशति–आङ्+दिश्+लट् लकार प्र. पु. ए. व. । आज्ञापयति–आङ् उपसर्ग चुरादि गणीय√ज्ञा (नियोगे) धातु से स्वार्थिक णिच्, पुक्–आ+ज्ञाप्+इ–लट प्र. पु. ए. व. । हञ्जे–सखी का सम्बोधन का रूप–'हण्डेहञ्जे हलाह्वानं नीचां चेटीं सखीं प्रति ।' अमरकोश १ । ७ । १५

शब्दार्थ——स्नेहः=प्रेम, पुरोभागिता=छिद्रान्वेषिता, शून्यहृदयत्वेन=शून्य हृदयवाली होने से, हृदयगतम्=मन में बैठे हुये, परहृदय-ग्रहण-पण्डिता=दूसरे के हृदय के भाव को समझने में चतुर, कामः=कामदेव, अनुगृहीतः=अनुगृहीत

मदनिका—अज्जए ! सिणेहि पुच्छदि ण पुरोभाइदा, ता किं णेदं ?। (आर्ये ! स्नेहः पृच्छति, न पुरोभागिता, तत् किं न्विदम् ?)

वसन्तसेना—मदणिए ! केरिसिं मं पेक्खसि ?। (मदनिके ! कीदृशीं मां प्रेक्षसे ?)

मदनिका—अज्जआए सुण्णहिअअत्तणेण जाणामि-हिअअगदं कंपि अज्जआ अहिलसदि त्ति । (आर्य्यायाः शून्यहृदयत्वेन जानामि, हृदयगतं कमपि आर्य्या अभिलषतीति ।)

वसन्तसेना—सुट्ठु तुए जाणिदं। परहिअअग्गहणपण्डिआ मदणिआ क्खु तुमं। (सुष्ठु त्वया ज्ञातम् । परहृदयग्रहणपण्डिता मदनिका खलु त्वम् ।)

मदनिका—पिअं मे पिअं। कामो क्खु णाम असो भअवं अणुग्गहीदो महूसवो तरुणजणस्य। ता कधेदु अज्जआ, किं राआ राअवल्लहो वा सेवीअदि ? (प्रियं मे प्रियम् । कामः खलु नामैष भगवाननुगृहीतो महोत्सव-स्तरुणजनस्य । तत् कथयतु आर्य्या, किं राजा राजवल्लभो वा सेव्यते ?)

वसन्तसेना—हज्जे रमिदुमिच्छामि, ण सेविदुं। (हञ्जे ! रन्तुमिच्छामि, न सेवितुम् ।)

हुआ, महोत्सवः=बहुत बड़ा उत्सव, रन्तुम्=रमण करने के लिये, अनेक-नगरा-भिगमन-जनित-विस्तारः=अनेक नगरों में (व्यापारादि के लिये) जाने से बढ़ी हुई धन सम्पत्तिवाला, काम्यते=चाहा जाता है।

अर्थ—मदनिका—(तुम्हारे प्रति मेरा) प्रेम यह पूछ रहा है न कि छिद्रान्वेषण का भाव।

वसन्तसेना—मदनिके ! तुम मुझे कैसी देख रही हो ?

मदनिका—आर्या के शून्य हृदय वाली होने से समझती हूँ कि आर्या हृदय में विराजमान किसी को चाह रहीं हैं।

वसन्तसेना—तुमने बिल्कुल ठीक समझा। दूसरे के हृदय की भावना को समझने में चतुर तुम मदनिका हो।

मदनिका—यह तो मेरे लिये बहुत अच्छा है, बहुत अच्छा है। यह तो भगवान कामदेव अनुग्रहीत हुआ जो कि समस्त युवकों का महान उत्सव है। तो आर्या बतलावें कि क्या कोई राजा अथवा राजा का प्रिय आपके द्वारा चाहा जा रहा है ?

वसन्तसेना—रमण (कामक्रीडा) करना चाहती हूँ न कि (किसी धनी की) सेवा करना।

मदनिका—विज्जाविसेसालङ्किदो किं को वि बह्मणजुआ कामीअदि ? (विद्याविशेषालंकृतः किं कोऽपि ब्राह्मणयुवा काम्यते ?)

वसन्तसेना—पूअणीओ मे वम्हणजणो ! (पूजनीयो मे ब्राह्मणजनः ।)

मदनिका—किं अणेअ-णअराहिगमण-जणिद-विहव-वित्थारो वाणिअ-जुआ वा कामीअदि । (किम् अनेक-नगराभिगमन-जनित-विभवविस्तारो वाणिज-युवा वा काम्यते ?)

मदनिका—तो क्या तुम विशेषविद्या के पारंगत किसी ब्राह्मण युवक को चाह रही हो ?

वसन्तसेना—ब्राह्मण लोग तो मेरे पूजायोग्य हैं ।

मदनिका—तो फिर क्या अनेक नगरों में व्यापार के लिये घूम कर विस्तृत वैभव रखने वाले युवा व्यापारी को चाह रही हो ?

टीका—स्नेहः=अनुरागः, पुरोभागिता=दोषैकदर्शिता, 'दोषैकदृक् पुरो भागी' त्यमरः, कीदृशीम्=कीदृशरूपाम्, शून्यहृदयत्वेन=शून्यम्=अविद्यमानं हृदयं यस्याः सा तस्याः भावस्तेन, अन्यमनस्कतयेति भावः, परहृदयग्रहणपण्डिता=अन्यदीय-हृद्गतभावग्रहणचतुरा, मदनिका=मदनः=कामः अस्ति यस्याः सा, कामयुक्तेतिभावः, अन्वर्थकनामवती त्वमसीति बोध्यम्, तरुण-जनस्य=युवजनस्य, महोत्सवः=महान् चासौ उत्सवः=हर्षः, अनुगृहीतः=अनुकम्पितः, राजवल्लभः=राजप्रियः, रन्तुम्=क्रीडितुम्, सेवितुम्=शुश्रूषितम्, विद्याविशेषालंकृतः=विद्याविशेषे पारङ्गतः, काम्यते=अभिलष्यते, पूजनीयः = पूजायोग्यः, अनेक-नगराभिगमन-जनित-विभवविस्तारः=अनेक-नगरेषु व्यापारार्थमभिगमनेन जनितः=उत्पादितः, अर्जितः, विभवस्य=धनादेः, विस्तारः=आधिक्यम्, यस्य सः, वाणिजयुवा=वणिक्तरुणः ।

विमर्श—'को क्खु णाम अज्ज अत्तभोदिये अणुग्गहिदो महूसवे तरुणजणो' प्राकृत का 'कः खलु नाम अद्य अत्रभवत्या अनुगृहीतो महोत्सवे तरुणजनः,' यह भी पाठान्तर उपलब्ध होता है । यहाँ जो पाठ रखा गया है उसमें पूरा एक वाक्य मानकर अर्थ करना चाहिये । पुरोभागिता - 'दोषैकदृक् पुरोभागी' (अमरकोश ३।१।४६) के अनुसार -दोष देखने वाला पुरोभागी कहा जाता है । भाव अर्थ में तल् प्रत्यय करके तृतीया एकवचन का रूप है । रन्तुमिच्छामि न सेवितुम् — वसन्तसेना का आशय यह है कि मैं इच्छानुसार कामोपभोग करना चाहती हूँ न कि किसी धनसम्पन्न पुरुष की सेवा में उपस्थित होकर उसकी इच्छानुसार चलना चाहती हूँ । वाणिजयुवा—'वैदेहकः सार्थवाहः, नैगमो वाणिजो वणिक्' (अमरकोष २।९।७८) के अनुसार वाणिज शब्द भी है ।

वसन्तसेना—हञ्जे ! उवारूढसिणेहं पि पणइजणं परिच्चइअ देसंतरगमणेण वाणिअजणो महन्तं विओअजं दुक्खं उप्पादेदि। (हञ्जे ! उपारूढस्नेहमपि प्रणयिजनं परित्यज्य देशान्तरगमनेन वाणिजजनो महत् वियोगजं दुःखमुत्पादयति ।)

मदनिका—अज्जए ! ण राआ, ण राअवल्लहो, ण बम्हणो, ण वाणिअजणो ! ता को दाणिं सो भट्टिदारिआए कामीअदि ? (आर्ये ! न राजा, न राजवल्लभः न ब्राह्मणः, न वाणिजजनः। तत् क इदानीं सः भर्तृदारिकया काम्यते ?)

वसन्तसेना—हञ्जे ! तुमं मए सह कामदेवाअदणुज्जाणं गदा आसि। (हञ्जे । त्वं मया सह कामदेवायतनोद्यानं गता आसीः ?)

मदनिका—अज्जए ! गदह्मि । (आर्ये ! गतास्मि ।)

वसन्तसेना—तहवि मं उदासीणां विअ पुच्छसि ? (तथापि मामुदासीनेव पृच्छसि ?)

मदनिका—जाणिदं । किं सो ज्जेव्व जेण अज्जआ सरणाअदा अब्भुववण्णा ? (ज्ञातम् । किं स एव, येनार्य्या शरणागता अभ्युपपन्ना ?)

शब्दार्थ—उपारूढस्नेहम् = अत्यन्त प्रेमयुक्त, प्रणयिजनम्=अनुरागी व्यक्ति को, कामदेवायतनोद्यानम्—कामदेवायतन नामक बगीचा में, उदासीनेव=अनभिज्ञ सी, शरणागता=शरण में आई हुई, अभ्युपपन्ना=स्वीकार करली गई थी, किन्नामधेयः=किस नामवाला, श्रेष्ठिचत्वरे = सेठों की चौक में, सुगृहीतनामधेयः=सम्माननीय नाम वाले, दरिद्र-पुरुषसंक्रांतमनाः=दरिद्र पुरुष में मन रमाने वाली, अवचनीया=अनिन्दनीय ।

अर्थ—वसन्तसेना—सखि ! अत्यधिक प्रेम करने वाले भी जन (प्रेयसी या पत्नी) को छोड़कर विदेशगमन के द्वारा बनियां लोग बहुत अधिक दुःख उत्पन्न कराते हैं।

मदनिका—आर्ये ! न राजा, न राजा का प्रिय, न ब्राह्मण और न वणिक् जन (को चाहती हो ।) तो इस समय वह कौन है जिसे आदरणीया आप चाह रहीं है ?

वसन्तसेना—सखि ! तुम मेरे साथ कामदेवायतन उद्यान में गई थी ?

मदनिका—आर्ये ! गई थी ।

वसन्तसेना—तो भी अनभिज्ञ सी (होकर) मुझ से पूछ रही हो ।

मदनिका—समझ गई । क्या उन्हें ही (चाह रही हैं), जिन्होंने शरण में आई हुई आपको स्वीकार कर अनुगृहीत किया था ?

वसन्तसेना—कि णामहेओ क्खु सो ? (किंनामधेयः खलु सः ?)

मदनिका—सो क्खु सेट्ठिचत्तरे पडिवसदि। (स खलु श्रेष्ठिचत्वरे प्रतिवसति ।)

वसन्तसेना—अइ ! णामं से पुच्छिदासि । (अयि ! नामास्य पृष्टासि ।)

मदनिका—सो क्खु अज्जए ! सुगहीदणामहेओ अज्जचारुदत्तो णाम । (स खलु आर्ये ! सुगृहीतनामधेय आर्यचारुदत्तो नाम ।)

वसन्तसेना—(सहर्षम् ।) साहु ! मदणिए ! साहु। सुट्ठु तुए जाणिदं । (साधु मदनिके ! साधु, सुष्ठु त्वया ज्ञातम् ।)

मदनिका—(स्वगतम्) एव्वं दाव । (प्रकाशम्) अज्जए ! दलिद्दो क्खु सो सुणीअदि । (एवं तावत् । आर्ये ! दरिद्रः खलु स श्रूयते ।)

वसन्तसेना—अदो ज्जेव कामीअदि। दलिद्दपुरिससङ्कन्तमणा क्खु गणिआ लोए अवअणीआ भोदि । (अत एवं काम्यते ! दरिद्रपुरुषसंक्रान्तमनाः खलु गणिका लोकेऽवर्चनीया भवति ।)

वसन्तसेना—उनका क्या नाम है ?

मदनिका—वे सेठों की चौक (वस्ती) में रहते हैं ।

वसन्तसेना—मैंने उनका नाम पूछा है ।

मदनिका—आर्ये ! सुन्दर नामवाले वे आर्य चारुदत्त हैं ।

वसन्तसेना—(हर्ष के साथ) वाह मदनिके ! वाह, तुमने ठीक समझा ।

मदनिका—(अपने आप) तो अब ऐसा (कहूँ) । (प्रकट रूप से) आर्ये ! सुना जाता है कि वे दरिद्र हैं ।

वसन्तसेना—इसीलिए तो चाहती हूँ (प्रेम करती हूँ ।) क्योंकि निर्धन पुरुष से प्रेम करने वाली वेश्या की निन्दा लोक में नहीं होती है ।

टीका—उपारूढस्नेहम्=उपारूढः=विवृद्धः, स्नेहः=अनुरागः यस्य तं तादृशम्, प्रणयिजनम्=अनुरागिजनम्, उदासीना इव= अनभिज्ञा इव, शरणागता = शरणम् आश्रयम्, याचमाना आगता, शरणार्थिनी इति भावः, अभ्युपपन्ना=शरणप्रदानेनानुकम्पिता, किन्नामधेयः=किन्नामकः, नामशब्दात् स्वार्थे धेयप्रत्ययः, सुगृहीतनामधेयः=सुगृहीतम् = दातृत्वेन सुष्ठु गृहीतं नामधेयं यस्य सः, दरिद्र-पुरुष-सङ्क्रान्तमनाः=सङ्क्रान्तम्=अत्यनुरक्तम्, मनः=चित्तम्, दरिद्रपुरुषे = निर्धनजने सङ्क्रान्तं मनो यस्याः सा, एतादृशी, अवचनीया = अनिन्दनीया, धनलोलुपा वेश्या इति प्रसिद्धिविरुद्धाचरणात् मम निन्दा नैव भविष्यतीति भावः ।

विमर्शः—शरणागता—'शरणं गृहरक्षित्रोः' अमरकोश के अनुसार रक्षक के समीप आयी । अभ्युपपन्ना—अभि उप इन दो उपसर्गों के साथ—√पद् + क्त में द् + त=न्न होने के बाद स्त्री प्रत्यय—टाप् है ।

मदनिका——अज्जए ! किं हीणकुसुमं सहआरवादवं महुअरीओ उण सेवन्ति ? (आर्ये ! किं हीनकुसुमं सहकारपादपं मधुकर्य्यः पुनः सेवन्ते ?)

वसन्तसेना——अदो ज्जेव तावो महुअरीओ वुच्चन्ति । (अत एव ता मधुकर्य्य उच्यन्ते)

मदनिका——अज्जए ! जइ सो मणीसिदो, ता कीसदाणिं सहसा ण अहिसारीअदि ? (आर्ये ! यदि स मनीषितः, तत् किमर्थमिदानीं सहसा नाभिसार्य्यते ?)

वसन्तसेना——हज्जे ! सहसा अहिसारीअन्तो पच्चआरदुव्वलदाए मा दावसो जणो दुल्लहदंसणो पुणो भविस्ससदि । (हञ्जे ! सहसा अभिसार्यमाणः प्रत्युपकारदुर्बलतया मा तावत् स जनो दुर्लभदर्शनः पुनर्भविष्यति ।)

मदनिका——किं अदो ज्जेव सो अलङ्कारओ तस्स हत्थे णिक्खित्तो ?। (किम् अत एव सोऽलङ्कारस्तस्य हस्ते निक्षिप्तः ?)

वसन्तसेना——हज्जे ! सुट्ठु दे जाणिदं । (हञ्जे ! सुष्ठु ते ज्ञातम् ।)

(नेपथ्ये)

अले भट्टा ! दश–सुवण्णस्स लुद्ध जूदअरु पपलीणु पपलीणु । ता गेण्ह, गेण्ह, चिट्ठ, चिट्ठ, दूलात् पदिट्ठोसि ?। (अरे भट्टारक ! दशसुवर्णस्य रुद्धो द्यूतकरः प्रपलायितः प्रपलायितः । तद् गृह्ण, गृहाण ! तिष्ठ तिष्ठ, दूरात् प्रदृष्टोऽसि)

नामधेयः——भाग, रूप, नाम शब्दों से स्वार्थ में 'धेय' प्रत्यय होता है। अवचनीया—वच्+अनीयर् निन्दा अर्थ में है, न वचनीया=अवचनीया ।

अर्थ——**मदनिका**——क्या फूलों (मञ्जरियों) से हीन आम के वृक्ष का पुनः सेवन मधुकरियाँ (भ्रमरियाँ) करती है ?

वसन्तसेना——इसीलिये तो उन्हें मधुकरी कहा जाता है ।

मदनिका——आर्ये ! यदि वह आपका मनपसन्द है तो इसी समय क्यों नहीं छिपकर उससे मिलती हैं ?

वसन्तसेना——गुप्त रूप से (अचानक) मिलने पर (धन आदि देकर) प्रत्युपकार (बदला) करने में असमर्थ होने के कारण कहीं ऐसा न हो जाय कि पुनः उनका दर्शन ही न हो सके ।

मदनिका——क्या इसी लिये वह स्वर्णाभूषण उनके हाथ में (धरोहर रूप से) रखा गया है ?

वसन्तसेना——तुमने ठीक समझा ।

(नेपथ्य में)

अरे स्वामिन् ! दश सुवर्ण (उस समय प्रचलित सिक्का आदि) के कारण पकड़ पर रक्खा गया जुआँरी भाग गया, भाग गया । अतः पकड़ो, पकड़ो, ठहरो ठहरो, दूर से तुझे देख लिया है ।

(प्रविश्य अपटीक्षेपेण संभ्रान्तः ।)

संवाहकः—कट्टे एशे जूदिअलभावे । हीमाणाहे ! (कष्ट एष द्यूतकरभावः । आश्चर्यम् !)

टीका—हीनकुसुमम्=हीनानि=निर्गतानि कुसुमानि यस्मात् यस्य वा तम्, मञ्जरीरहितम्, सहकारपादपम्=आम्रवृक्षम्, मधुकर्य्यः=भ्रमर्य्यः, न सेवन्ते=नैवाश्रयन्ति । मधुकर्य्यः=मधु=क्षौद्रं कुर्वन्ति इति अन्वर्थोपपादनार्थं पुष्पितसहकारवृक्षस्यैव सेवनमावश्यकमित्यर्थः । अत्र पृथ्वीधरः– मधुकुर्वन्ति=सेवन्ते, मत्ता इत्यर्थः । मधु कुर्वन्त्येव केवलं न स्वयं सेवन्ते । तथा गणिका धनार्थमेव केवलं स्वदेहं परोपकरणीकृत्य अलब्धरतयो वृथाजन्मभाजो भवन्तीत्यर्थः ।' मनीषितः=मनसः=हृदयस्य, ईषितः=वाञ्छितः, सहसा=झटिति अविचारपूर्वकमिति भावः, अभिसार्यते=दूत्यादिद्वारा स्वयं वाऽभिसारः क्रियते, सहसा=विस्रम्भोत्पादनात् पूर्वमेव, अभिसार्यमाणः = अभिसरणविषयीक्रियमाणः, प्रत्युपकारदुर्बलतया = प्रत्युपकारे=ममाभिसरणरूपोपकारस्य प्रतिदाने, दुर्बलतया=असमर्थतया धनाद्यभावादित्यर्थः, दुर्लभदर्शनः=दुर्लभम्=दुष्प्राप्यम्, दर्शनम्=साक्षात्कारः मेलनं वा, मा भविष्यतीत्यत्र काकुः, न भविष्यति ? अर्थात् प्रत्युपकारासमर्थतया व्रीडया न कदाप्यात्मानं मां दर्शयिष्यति अतो न सहसाऽभिसार्यते । निक्षिप्तः=स्थापितः । दशसुवर्णस्य=दशानां सुवर्णानां समाहारः दशसुवर्णम्, तस्य=तात्कालिक–दशसंख्याक-सुवर्ण-मुद्रासमूहस्येत्यर्थः, हेतौ षष्ठी । रुद्धः=तद्दानाय परिगृहीतः, गृहाण=धारय, प्रदष्टोऽसि=अवलोकितोऽसि मयेति शेषः । 'नासूचितस्य पात्रस्य प्रवेशो निर्गमोऽपि च' इत्युक्तेः पलायमानस्य संवाहकस्य प्रवेशं सूचयन्नेपथ्ये माथुरो वदति—'अले भट्टा' इत्यादि ।

विमर्शः—मधुकर्यः=मधु को बनाती या एकत्रित ही करती हैं, स्वयं सेवन नहीं कर पाती हैं । इसी प्रकार वेश्यायें भी धनादि के लिये अपने शरीर का विक्रय करती है, रतिसुख नहीं पाती हैं अतः उनका जन्म व्यर्थ है । दुर्लभदर्शनः मा भविष्यति—वसन्तसेना का आशय यह है कि जब तक उसे मुझपर पूरा विश्वास नहीं हो जाता है, तब तक अचानक मिलना ठीक नहीं है । क्योंकि आवेश में कुछ करने के बाद वह उसके प्रत्युपकार-स्वरूप धनादि मुझे नहीं दे सकेगा । फलस्वरूप अत्यन्त लज्जित होकर फिर कभी भी नहीं मिलना चाहेगा । अतः मुझे पहले उसका विश्वास जीतना है । दशसुवर्णस्य उस समय सोने का प्रचलित सिक्का आदि रहा होगा । अभिसारिका—

अभिसारयते कान्तं या मन्मथवशम्वदा ।
स्वयं वाभिसरत्येषा धीरैरुक्ताभिसारिका ॥

णव–वन्धण–मुक्काए विअ गद्दहीए हा ! ताडिदोम्हि गद्दहीए ।
अङ्गलाअमुक्काए विअ शत्तीए घडुक्को विअ घादिदोम्हि शत्तीए ॥१॥
(नव-बन्धन–मुक्तयेव गर्दभ्या हा ताडितोऽस्मि गर्दभ्या ।
अङ्गराज–मुक्तयेव शक्त्या घटोत्कच इव घातितोऽस्मि शक्त्या ॥ १ ॥)

अन्वयः—हा ! नवबन्धनमुक्तया, गर्दभ्या, इव, गर्दभ्या, ताडितः, अस्मि, अङ्गराजमुक्तया, शक्त्या, घटोत्कचः, इव, शक्त्या, (अहम्) घातितः, अस्मि ॥ १ ॥

शब्दार्थः—हा=हाय ? नवबन्धनमुक्तया=पहली बार बनाये गये बन्धन से छूटी हुई, (खुलकर भागती हुई), गर्दभ्या इव=गधी के समान, गर्दभ्या=जुआ खेलने की कौड़ी के द्वारा, ताडितः=मारा गया हूँ, अङ्गराजमुक्तया=कर्ण के द्वारा चलायी गयी (छोड़ी गयी), शक्त्या = शक्तिनामक अस्त्रविशेष के द्वारा, घटोत्कचः=भीमसेन एवं हिडिम्बा के पुत्र घटोत्कच के, इव=समान, शक्त्या=जुए की कौड़ी की एक विशेष चाल के द्वारा, (अहम्=मैं संवाहक), घातितः=मारा गया, अस्मि=हूँ ॥ १ ॥

(बिना पर्दा उठाये घबराये हुये प्रवेश करके)

अर्थ—**संवाहक**—आश्चर्य ? जुआरीपन बड़ा ही कष्टदायक है—हाय ! सबसे पहले लगाये गये बंधन (रस्सी) आदि से छूटी हुई (भागती हुई) गधी के समान गर्दभी (जुये में प्रयुक्त होने वाली कौड़ी अथवा पाशा) के द्वारा मैं मार दिया गया हूँ (हरा दिया गया हूँ) । अङ्गराज कर्ण के द्वारा चलायी (छोड़ी) गई शक्ति (नामक अस्त्र) के द्वारा घटोत्कच के समान (मैं) शक्ति (जुये की कौड़ियों की एक विशेष चाल) से मार दिया गया हूँ, (मरणतुल्य हार हो गयी है) ॥ १ ॥

टीका—हा=कष्टम्, नवबन्धनमुक्तया=नवम्=प्रथमम्, यत् बन्धनम्, रज्ज्वादिना धारणम्, तस्मात् मुक्तया=स्वतन्त्रया, गर्दभ्या=रासभ्या, इव=तुल्यम्, गर्दभ्या=वराटिकया, ताडितः=दण्डितः, पराजितः, अस्मि, अङ्गराजमुक्तया=कर्णेन प्रक्षिप्तया, शक्त्या=तन्नामकास्त्रविशेषेण, घटोत्कचः=हिडिम्बाभीमयोः पुत्रः, इव=यथा, शक्त्या=द्यूतक्रीडासम्बन्धिखेलनविशेषेण, (अहम्=संवाहकः) घातितः=मारितः, अस्मि=भवामि, अत्र इव-शब्दद्वयप्रयोगात् उपमाद्वयम्, यमकद्वयञ्च । चित्रजातिः वृत्तम् ॥ १ ॥

विमर्श—नवबन्धन-मुक्तया–उच्छृङ्खल गधी जब पहली बार रस्सी आदि से बांधी जाती है और उसे तोड़कर या खुल जाने पर जैसे अनवरत दुलत्ती चला चलाकर लोगों को मारा करती है उसी प्रकार गर्दभी=वराटिका=कौड़ी ने संवाहक को पीट डाला । घटोत्कचः इव–भीमसेन एवं हिडिम्बा राक्षसी का पुत्र घटोत्कच था । वह महाभारत के युद्ध में कौरवों का प्रचुर संहार करने लगा था । तब एक व्यक्ति का निश्चित वध कर डालने वाली शक्ति को कर्ण

लेखअ-वावड़-हिअअं शहिअं दट्ठूण झत्ति पब्भट्टे ।

एण्हि मग्ग-णिबडिदो कं णु क्खु शलणं पपज्जे ॥ २ ॥

(लेखक-व्यापृत-हृदयं सभिकं दृष्ट्वा झटिति प्रभ्रष्टः ।

इदानीं मार्गनिपतितः कं नु खलु शरणं प्रपद्ये ॥ २ ॥)

ने छोड़ा और घटोत्कच की मृत्यु हो गई। इसी प्रकार जुये में 'शक्ति' नामक एक ऐसी चाल है जिससे विपक्षी जुआरी का हारना निश्चित है। संवाहक अपनी हार को मृत्युतुल्य समझ रहा है। यहाँ दो बार सादृश्य के लिये 'इव' शब्द का प्रयोग है अतः दो उपमायें हैं। गर्दभ्या गर्दभ्या, शक्त्या शक्त्या ये दो यमक हैं। चित्रजाति छन्द है ॥ १ ॥

अन्वयः—लेखकव्यापृतहृदयम्, सभिकम्, दृष्ट्वा, झटिति, प्रभ्रष्टः, इदानीम्, मार्गनिपतितः, (अहम्) कम्, नु, खलु, शरणम्, प्रपद्ये ॥ २ ॥

शब्दार्थ—लेखकव्यापृतहृदयम्=लिखने में व्यस्त चित्तवाले, सभिकम्=जुआरिओं के अध्यक्ष को, दृष्ट्वा=देखकर, झटिति=झटपट, प्रभ्रष्टः=भाग कर निकला हुआ, (और) इदानीम्=इस समय, मार्गनिपतितः=रास्ते पर आकर खड़ा हुआ, (अहम्=मैं संवाहक), किम्=किसकी, नु खलु, (वाक्यालंकार के लिये हैं) शरणम्=शरण में, प्रपद्ये=जाऊँ ? ॥ २ ॥

अर्थ—लिखने में लगे हुये सभिक को देख कर झटपट भागकर निकला हुआ और इस समय सड़क पर खड़ा हुआ, मैं अब किसकी शरण में जाऊँ, अर्थात् मेरी रक्षा करने वाला कौन है ? ॥ २ ॥

टीका—लेखकव्यापृतहृदयम्=लेखनं लेखः भावे घञ्, लेख एव लेखकः, तत्र व्यापृतम्=संलग्नम्, हृदयम्=चित्तं यस्य तं तादृशम्, लेखनकार्यसंलग्नचित्तम्, सभिकम्=द्यूतक्रीडाध्यक्षम् 'सभिका द्यूतकारकाः' इत्यमरः दृष्ट्वा=विलोक्य, झटिति=शीघ्रमेव, प्रभ्रष्टः=पलाय्य बहिर्निर्गतः, इदानीम्=अधुना, मार्गनिपतितः=मार्गे=राजपथे, निपतितः=समुपागतः, कम्=जनम्, शरणम्=रक्षितारम्, प्रपद्ये=आश्रयामि, अत्र नु खलु—इति विमर्शे। अत्र गाथावृत्तम्। तल्लक्षणम्—

विषमाक्षरपादत्वात् पादौ रसमञ्जसं दर्भवत् ।

यश्छन्दसि नोक्तमत्र गाथेति तत् सूरिभिः कथितम् ॥

विमर्श—लेखकव्यापृतहृदयम्—लेखनम्=लेखः, भाव में घञ्=अ, पुनः लेख एव लेखकः, स्वार्थ में कन् मानना चाहिये, इस प्रकार लिखने में लगे हुये चित्त वाले यह अर्थ होता है। यहाँ "लेख अ वावड़-" इस प्राकृत में 'क' लोप के स्थान पर 'न' व्यञ्जन का लोप मान लेने से अधिक सरलतया अर्थ हो जाता है।

ता जाव एदे शहिअ-जूदिअला अण्णदो मं अण्णेशन्ति, ताव इदो विप्पडीवेहिं पादेहिं एदं शुण्णदेउलं पविशिअ देवीभविश्शं (बहुविधं नाट्यं कृत्वा तथा स्थितः ।) (तद्यावत् एतौ सभिक-द्यूतकरौ अन्यतो मामन्विष्यतः, तावत् इतो विप्रतीपाभ्यां पादाभ्यामेतत् शून्यदेवकुलं प्रविश्य देवीभविष्यामि ।)

(ततः प्रविशति माथुरो द्यूतकरश्च)

माथुरः——अले भट्ठा ! दशसुवण्णाह लुद्धु जूदअरु पपलीणु पपलीणु । ता गेण्ह गेण्ह, चिट्ठ चिट्ठ, दूलात् पदिट्टोसि । (अरे भट्टारक ! दशसुवर्णस्य रुद्धो द्यूतकरः प्रपलायितः. प्रपलायितः । तद् गृहाण, गृहाण । तिष्ठ, तिष्ठ । दूरात् प्रदृष्टोऽसि ।)

द्यूतकरः——जइ वज्जसि पादालं इन्दं शलणं च जासि ।
सहिअं वज्जिअ एक्कं रुद्दो वि ण रक्खिदुं तरइ ॥ ३ ॥
(यदि व्रजसि पातालमिन्द्रं शरणं च यासि ।
सभिकं वर्जयित्वैकं रुद्रोऽपि न रक्षितुं तरति ॥ ३ ॥)

सभिकम्=सभा=द्यूतप्रेमियों का क्रीडास्थल, उसकी व्यवस्था करने वाले प्रमुख जुआरी को। काले के अनुसार अग्निपुराण, मनुस्मृति, याज्ञवल्क्य-स्मृति एवम् इसकी टीका मिताक्षरा आदि ग्रन्थों में सभिक एवं द्यूतसम्बन्धी नियमों का विस्तृत उल्लेख है ॥ २ ॥

शब्दार्थ——अन्यतः=दूसरी ओर, विप्रतीपाभ्याम्=विपरीत, उल्टे, शून्यदेवकुलम्=प्रतिमादि से रहित देवमन्दिर में, देवीभविष्यामि=देवता की मूर्ति बन जाता हूँ।

अर्थ——जब तक ये सभिक और द्यूतकर दूसरी ओर मुझे खोजते हैं तब तक (मैं) इधर उल्टे पैरों से इस देवप्रतिमादि से शून्य मन्दिर में प्रवेश करके देवता (के स्थान पर) मूर्ति बन कर खड़ा हो जाता हूँ।

(इसके बाद माथुर और जुआरी का प्रवेश)

अर्थ——माथुर——अरे स्वामिन् ! दश सुवर्ण के सिक्कों आदि के कारण पकड़ कर रोका गया जुआरी भाग गया, भाग गया। इस लिये पकड़ो, पकड़ों। रुको, रुको, दूर से देख लिये गये हो।

अन्वयः——यदि, पातालम्, व्रजसि, इन्द्रम्, च, शरणम्, यासि, तथापि, एकम्, सभिकम्, वर्जयित्वा, रुद्रः, अपि, (त्वाम्), रक्षितुम्, न, तरति ॥ ३ ॥

शब्दार्थ——यदि=अगर, पातालम्=पाताल में, व्रजसि=जाते हो, च=अथवा, इन्द्रम्=इन्द्र (स्वर्गलोक) की, शरणम्=आश्रय में, यासि=जाते हो, (तथापि=तो भी) एकम्=अकेले, सभिकम्=द्यूतक्रीडाध्यक्ष को, वर्जयित्वा=छोड़ कर, रुद्रः=शिव भी, (त्वाम्=तुम्हें), रक्षितुम्=रक्षा करने के लिये, न=नहीं, तरति=पार पा सकता है ॥ ३ ॥

माथुरः—कहिं कहिं सुसहिअ-विप्पलम्बआ !
पलासि ले ! भअपलिवेविदङ्गआ।
पदे पदे समं-विसमं खलन्तआ
कुलं जसं अदिकसणं कलेन्तआ ॥ ४ ॥

(कुत्र, कुत्र सुसभिकविप्रलम्भक ! पलायसे रे भयपरिवेपिताङ्गक ! ।
पदे पदे समविषमं स्खलन् कुलं यशः अतिकृष्णं कुर्वन् ॥ ४ ॥

अर्थ—यदि तुम (अपनी रक्षा के लिये जमीन के अन्दर) पाताल चले जाओ, अथवा इन्द्र की शरण में (स्वर्गलोक) चले जाओ, (तो भी) सभिक अकेले को छोड़कर भगवान् शिव भी तुम्हारी रक्षा नहीं कर सकते ॥ ३ ॥

टीका—यदि=चेत् पातालम्=पृथिव्याः अधोदेशम्, व्रजसि=गच्छसि, इन्द्रम्=देवराजम्, शरणम्=रक्षितारम्, आश्रयं वा, यासि=गच्छसि, तथापि, एकम्=केवलम्, सभिकम्=द्यूताध्यक्षम् मां माथुरमिति भावः, वर्जयित्वा=त्यक्त्वा, रुद्रः=भगवान् शङ्करः, ऽपि त्वाम्, =संवाहकम्, रक्षितुम्=त्रातुम्, न=नैव, तरति=पारयति, समर्थो भवतीति भावः। एवञ्च ते पलायनं व्यर्थमेवेति बोध्यम्। आर्या वृत्तम् ॥ ३ ॥

विमर्श—इन्द्रं शरणम्-यहाँ इन्द्र रक्षक के पास जाते हो-यह आशय है। सभिकम्-इसके विषय में प्रथम पद्य में लिखा जा चुका है। तरति-'तॄ प्लवन-तरणयो': धातु से लट् प्रथमपुरुष एकवचन। यहाँ पार करना अर्थ है। रुद्रः-शिव के लिये यह सार्थक प्रयोग है। यहाँ आर्या छन्द है ॥ ३ ॥

अन्वयः—रे सुसभिक-विप्रलम्भक !, भयपरिवेपिताङ्गक, पदे पदे, समविषमं, स्खलन्, कुलम्, यशः, अतिकृष्णम्, कुर्वन्, कुत्र, कुत्र, पलायसे ॥ ४ ॥

शब्दार्थ—रे=अरे, सुसभिक-विप्रलम्भक=सज्जन, न्यायकारी सभिक को धोखा देने वाले, भयपरिवेपिताङ्गक=भय के कारण कांपते हुये अङ्गों वाले, पदे पदे=प्रत्येक कदम पर, सम-विषमम् = ऊँचे नीचे, स्खलन्=गिरते पड़ते, लड़खड़ाते हुये, कुलम्=अपने वंश को, और यशः=अपने यश को, अतिकृष्णम्=अत्यन्त कलुषित करते हुये, कुत्र कुत्र=कहाँ कहाँ, पलायसे=भागे जा रहे हो ॥ ४ ॥

अर्थ—अरे ! (मेरे जैसे) सज्जन, न्यायप्रेमी द्यूतक्रीडाध्यक्ष को धोखा देने वाले, भय के कारण कांपते हुये अङ्गों वाले, (संवाहक तुम), पग-पग पर ऊपर नीचे गिरते हुये, लड़खड़ाते हुये, अपने कुल और यश को कलुषित करते हुये कहाँ-कहाँ भागे जा रहे हो ॥ ४ ॥

टीका—रे ! =अरे !, सुसभिक-विप्रलम्भक = सज्जनस्य न्यायप्रियस्य द्यूत-क्रीडाध्यक्षस्य वञ्चक !, भयपरिवेपिताङ्गक = भयेन=मत्तः भीत्या, परिवेपितानि=

द्यूतकरः—(पदं वीक्ष्य) **एसो वज्जदि, इअं पणट्ठा पदवी।** (एष व्रजति, इयं प्रनष्टा पदवी।)

माथुरः—(आलोक्य सवितर्कम्) **अले! विप्पदीवु पादू। पाडिमाशुण्णु देउलु।** (विचिन्त्य) **धुत्तु जूदअरु विप्पदीवेहिं पादेहिं देउलं पविट्टो।** (अरे! विप्रतीपौ पादौ, प्रतिमाशून्यं देवकुलम्, धूर्तो द्यूतकरो विप्रतीपाभ्यां पादाभ्यां देवकुलं प्रविष्टः।)

द्यूतकरः—**ता अणुसरेम्ह।** (ततोऽनुसरावः।)

माथुरः—**एव्वं भोदु।** (एवं भवतु।)

(उभौ देवकुलप्रवेशं निरूपयतः। दृष्ट्वाऽन्योन्यं संज्ञाप्य)

द्यूतकरः—**कथं कट्ठमयी पडिमा?** (कथ काष्ठमयी प्रतिमा?)

कम्पितानि, थरथरायमाणानि अङ्गानि यस्य तत्सम्बुद्धौ, पदे-पदे=प्रतिपदम्, समविषमम्=उच्चावचस्थानम्, समविषमं वा यथा स्यात् तथा स्खलन्=पतन्, कुलम्=वंशम्, यशः=स्वकीयां कीर्तिञ्च, अतिकृष्णम् = अतिकलुषितम्, कुर्वन् = विदधत्, पलायसे=प्रधावसि। अत्र रुचिरा वृत्तम्॥ ४॥

विमर्श—कहिं कहिं–इस प्राकृत का संस्कृत रूपान्तर कुछ ग्रन्थों में 'कस्मिन् कस्मिन्' है और कुछ में 'कुत्र कुत्र'। कुत्र से भाव अधिक स्पष्ट होता है। सुसभिकविप्रलम्भक–इससे माथुर अपने को अच्छा 'सभिक' कहना चाहता है। कुलं यशः अतिकृष्णं कुर्वन्–इस कथन से संवाहक को रोकने के लिये विवश करना चाहता है। पलायसे – परा + √अय + लट् आत्मनेपद प्रथम पु० एकवचन उपसर्गस्यायतौ' [पा० सू८।२।१९] से रेफ का लकार। समविषमम्–यह क्रियाविशेषण है। इसमें रुचिरा छन्द है। लक्षण –

जभौ सजौ गिति रुचिरा चतुर्ग्रहैः॥ ४॥

अर्थ—द्यूतकर—(पैर के चिह्न को देख कर) यह जाता है (जा चुका है)। यह पदचिह्न समाप्त हो गये।

माथुर—(देख कर विचारपूर्वक) अरे! उलटे पैर हैं। मन्दिर मूर्ति से रहित है। (सोचकर) धूर्त (चालक) जुआरी उटले पैरों से मन्दिर में गया है।

द्यूतकर—तो हम दोनों पदचिह्नों का अनुसरण करें।

माथुर—ऐसा ही हो।

(दोनों मन्दिर में प्रवेश करने का अभिनय करते हैं, देखकर और एक दूसरे को इशारा करके)

द्यूतकर—क्या यह लकड़ी की मूर्ति है?

माथुरः—अले ! ण हु ण हु । शैलपडिमा । (इति बहुविधं चालयति, संज्ञाप्य च) एव्वं भोदु ! एहि जूदं किलेम्ह । (अरे ! न खलु न खलु, शैलप्रतिमा । एवं भवतु । एहि द्यूतं क्रीडावः)

(बहुविधं द्यूतं क्रीडतः)

संवाहकः—(द्यूतेच्छाविकारसंवरणं बहुविधं कृत्वा) (स्वगतम्) अले ! (अरे !)

कत्ताशद्दे णिण्णाणअश्श हलइ हडकं मणुश्शश्श ।
ढक्काशद्दे व्व णडाधिवश्श पब्भट्टलज्जश्श ॥ ५ ॥
(कत्ताशब्दो निर्नाणकस्य हरति हृदयं मनुष्यस्य ।
ढक्काशब्द इव नराधिपस्य प्रभ्रष्टराज्यस्य ॥ ५ ॥)

माथुर—अरे, नहीं, नहीं । पत्थर की मूर्ति है । (ऐसा कहकर अनेक बार हिलाता है और इशारा करके) अच्छा, ऐसा हो । आओ, हम दोनों जुआ खेलें ।

(दोनों अनेक प्रकार से जुआ खेलते हैं ।)

टीका—पदम्-पदचिह्नमित्यर्थः, पदवी=पदपङ्क्तिः, 'अयनं वर्त्म मार्गाध्व-पन्थानः पदवी सृतिः' अमरकोषः (२।१।१५), प्रनष्टा = अदृष्टा, विप्रतीपौ= विपरीतौ, प्रतिमाशून्यम् = मूर्तिरहितम्, देवकुलम् = देवमन्दिरम्, निरूपयतः= नाटयतः, अन्योन्यम्=परस्परम्, संज्ञाप्य = संकेतं दत्त्वा, काष्ठमयी = दारुनिर्मिता, शैलप्रतिमा=शिलाया इदं शैलम्=पाषाणखण्डम्, तन्निर्मिता मूर्तिरिति भावः ।

अन्वयः—अरे ! कत्ताशब्दः, निर्नाणकस्य, मनुष्यस्य, हृदयम्, प्रभ्रष्टराज्यस्य, नराधिपस्य (हृदयम्), ढक्काशब्द, इव, हरति ॥ ५ ॥

शब्दार्थ—कत्ताशब्दः = जिससे जुआ खेला जाता है उस कौड़ी की आवाज, निर्नाणकस्य=नाणक=पैसों से रहित, गरीब, मनुष्यस्य=आदमी के, हृदयम्=मन को, प्रभ्रष्टराज्यस्य=हारे हुये राज्य वाले, नराधिपस्य=राजा के, (हृदय को), ढक्का-शब्दः=भेरी की आवाज, इव=के समान, हरति=खींचता है, आकृष्ट करता है ॥५॥

अर्थ—**संवाहक**-(जुआ खेलने की इच्छा को बहुत प्रकार से रोक कर) (अपने आप) अरे—कौड़ियों की आवाज निर्धन व्यक्ति के मन को उसी प्रकार खीच लेती है जिस प्रकार छीने गये राज्य वाले राजा के मन को भेरी की आवाज ॥ ५ ॥

टीका—अरे !=अहो !, कत्ताशब्दः=द्यूतकरणम्=द्यूतक्रीडा यया सा कत्ता, तस्याः शब्दः=ध्वनिः, निर्नाणकस्य=निर्गतं नाणकम=धनादिकं यस्य यस्माद् वा, तस्य, निर्धनस्येति भावः, पुरुषस्य=मनुष्यस्य, हृदयम्=चित्तम्, प्रभृष्टराज्यस्य= प्रभ्रष्टम्=शत्रुभिरपहृतम्, राज्यम्=राज्यलक्ष्मीः यस्य सः, तस्य, नराधिपस्य= नरपतेः, हृदयम्, ढक्काशब्दः=भेरीध्वनिः, इव=यथा, हरति=बलात् तत्र नयति,

जाणामि ण कीलिश्शं शुमेल-शिहल-पडण-शण्णिहं जूअम् !
तह वि हु कोइलमहुले कत्ताशद्दे मणं हलदि ॥ ६ ॥

(जानामि न क्रीडिष्यामि सुमेरु-शिखर-पतन-सन्निभं द्यूतम् ।
तथापि खलु कोकिलमधुरः कत्ताशब्दो मनो हरति ॥ ६ ॥)

आकृष्टं करोतीति भावः । एवञ्च सम्मुखे द्यूतक्रीडां पश्यन् कत्ताशब्दं च शृण्वन् आत्मानं वशीकर्तु न प्रभवामीति बोध्यम् । अत्रोपमा अप्रस्तुतप्रशंसा चेत्यनयोः संसृष्टि ! विपुला बृत्तम् ॥ ५ ॥

अन्वयः—जानामि, सुमेरुशिखरपतनसन्निभम्, द्यूतम्, न, क्रीडिष्यामि, तथापि, कोकिलमधुरः, कत्ताशब्दः, मनः, खलु, हरति ॥ ६ ॥

शब्दार्थ—जानामि=मैं जानता हूँ कि, सुमेरु - शिखरपतन - सन्निभम्=सुमेरु पर्वत की चोटी से गिरने के समान (सुख चैन के विनाशक), द्यूतम्=जुये को (निर्धन कर्जदार हो जाने के कारण), न=नहीं, क्रीडिष्यामि=खेलूँगा, खेल सकूंगा, तथापि=फिर भी कोकिल-मधुरः=कोयल की आवाज के समान मीठी, कत्ताशब्दः=कौड़ियों की आवाज, मनः=मन को, खलु=निश्चित ही, हरति=खींच रही हैं। (खेलने को विवश कर रही है।) ॥ ६ ॥

अर्थ—मैं यह जानता हूँ कि सुमेरु पर्वत की चोटी से गिरने के समान (महान कष्टप्रद) जुआ (अब कर्जदार होने से) नहीं खेल सकूगा, फिर भी कोयल के समान मधुर कौड़ियों की आवाज (खनखनाहट) (मेरे) मन को निश्चित ही आकृष्ट कर रही है। (खेलने को विवश कर रही है) ॥ ६ ॥

टीका—जानामि=अहमिदमवगच्छामि यत्, सुमेरु-शिखर-पतन-सन्निभम्=सुमेरुपर्वतस्य शृङ्गात् पतनतुल्यम्, अत्यन्तकष्टप्रदम्, द्यूतम्=द्यूतक्रीडनम्, न=नैव, क्रीडिष्यामि, ऋणग्रस्तत्वात् निर्धनत्वाच्चेति भावः, तथापि=एवं सत्यपि, कोकिलमधुरः=कोकिलतुल्यो मधुरः आकर्षकः, कत्ताशब्दः=कत्ताध्वनिः, खलु, मनः=चित्तम्, हरति=बलादाकर्षति । एवञ्च स्वासामर्थ्यं जानन्नपि तत्राकृष्टो भवामीति भावः । अत्र समासलुप्तोपमालंकारः । आर्याजातिः बृत्तम् । लक्षणन्तु बहुशः पूर्वमुक्तम् ॥ ६ ॥

विमर्श—जानामि—संवाहक अपनी दयनीय दशा और ऊपर लदे हुये कर्ज को सोंचते हुये यह जानता है कि उसे अब जुआ खेलने का अवसर मिलना सम्भव नहीं है। कोकिल-मधुरः=कोयल की आवाज के समान मधुर। यहाँ वति प्रत्यय का लोप समास के कारण हुआ है। अतः समासलुप्तोपमा अलंकार है। आर्याजाति छन्द है ॥ ६ ॥

द्यूतकरः—मम पाठे मम पाठे। (मम पाठे मम पाठे।)

माथुरः—णं हु। मम पाठे मम पाठे। (न खलु ! मम पाठे मम पाठे।)

संवाहकः—(अन्यतः सहसोपसृत्य।) णं मम पाठे। (ननु मम पाठे।)

द्यूतकरः—लद्धे गोहे। (लब्धः पुरुषः।)

माथुरः—(गृहीत्वा) अले लुत्तदण्डा ! गहीदोसि। पअच्छ तं दश-सुवण्णं। (अरे लुप्तदण्डक ! गृहीतोऽसि। प्रयच्छ तत् दशसुवर्णम्।)

संवाहकः—अज्ज दइश्शं। (अद्य दास्यामि।)

माथुरः—अहुणा पअच्छ। (अधुना प्रयच्छ।)

संवाहकः—दइश्शं पशादं कलेहि। (दास्यामि, प्रसादं कुरु।)

माथुरः—अले ! णं संपदं पअच्छ। (अरे ! ननु साम्प्रतं प्रयच्छ।)

संवाहकः—शिलु पड़दि। (इति भूमौ पतति।) (शिरः पतति।)

(उभौ बहुविधं ताडयतः।)

माथुरः—एसु तुमं हु जूदिअर-मण्डलीए बद्धोसि। (एष त्वं खलु द्यूतकरमण्डल्या बद्धोऽसि।)

संवाहकः—(उत्थाय सविषादम्) कधं जूदिअल-मण्डलीए बद्धोम्हि। ही, एशे अम्हाणं जूदिअलाणं अलङ्घणीए शमए। ता कुदो दइश्शं। (कथं

अर्थ—द्यूतकर—मेरा, दाँव है, मेरा दाँव है।

माथुर—नहीं-नहीं, मेरा दाँव है, मेरा दाँव।

संवाहक—(दूसरी ओर से अचानक समीप आकर) नहीं जी, मेरा दाँव है।

द्यूतकर—(भागा जुआरी) पुरुष मिल गया।

माथुर—(पकड़ कर) अरे ! दण्ड (हारा हुआ धन) न देने वाले ! पकड़ लिये गये हो। तो वे दश सुवर्ण (के सिक्के आदि) दो।

संवाहक—आज दे दूँगा।

माथुर—इसी समय दो।

संवाहक—दे दूँगा, कुछ (समय के लिये) कृपा करो।

माथुर—अरे ! इसी समय दो।

संवाहक—शिर गिर रहा (चक्कर खा रहा) है। (इस प्रकार कह कर पृथ्वी पर गिर जाता है।)

(दोनों अनेक प्रकार से पीटते हैं।)

माथुर—इस समय तुम जुआरियों की मण्डली से पकड़ लिये गये हो।

संवाहक—(उठकर बहुत दुःख के साथ) क्या जुआरिओं की मण्डली द्वारा

द्यूतकरमण्डल्या बद्धोऽस्मि । कष्टम् ! एषोऽस्माकं द्यूतकराणामलङ्घनीयः समयः। तस्मात् कुतो दास्यामि ?)

माथुरः—अले ! गण्डे कुलु कुलु । (अरे ! गण्डः क्रियताम्, क्रियताम् ।)

संवाहकः—एव्वं कलेमि । (द्यूतकरमुपस्पृश्य) अद्धं ते देमि, अद्धं मे मुञ्चदु । (एवं करोमि । अर्द्धं ते ददामि, अर्द्धं मे मुञ्चतु ।)

द्यूतकरः—एव्वं भोदु । (एवं भवतु ।)

संवाहकः—(सभिकमुपगम्य) अद्धश्श गण्डे कलेमि, अद्धं पि मे अज्जो मुञ्चदु । (अर्द्धस्य गण्डं करोमि, अर्द्धमपि मे आर्यो मुञ्चतु ।)

माथुरः—को दोसु, एव्वं भोदु । (को दोषः, एवं भवतु ।)

पकड़ लिया गया हूँ । कष्ट है ? यह हम-जुआरिओं का अनुल्लंघनीय नियम है । तो कहाँ से दूँ ?

टीका—पाठे = तदानीं द्यूतक्रीडायामवसरबोधनार्थं प्रचलितः शब्दः, साम्प्रतं हिन्द्यां 'दाँव' इति प्रसिद्धम्, लुप्तदण्डक=लुप्तः=न प्रदत्तः, दण्डः= दशसुवर्णात्मकधनं येन तत्सम्बुद्धौ, प्रयच्छ=देहि, प्रसादम् = किञ्चिदधिकावसर-प्रदानरूपम्, शिरः=मस्तकम्, पतति=अस्वस्थतया वेदनामनुभवतीति भावः, द्यूतकरमण्डल्या=द्यूतकराणां समूहेन, बद्धः=गृहीतः, अलङ्घनीयः=अपरिवर्तनीयः, अवश्यं पालनीयः, समयः=नियमः 'समयः शपथाचारकालसिद्धान्तसंविदः' इत्यमरः। कुतः=कस्मात् जनात् साधनाद् वा ।

विमर्श—पाठे-उस समय पारी के लिये यह शब्द प्रचलित था । अलङ्घनीयः समयः=अवश्य पालनीय नियम । 'समय' शब्द अनेक अर्थों में प्रयुक्त होता है

समयाः शपथाचारकालसिद्धान्तसंविदः । अमरकोशः (३ । ३ । १५८)

जुआरियों का यह नियम रहा होगा कि मण्डली से घिर जाने पर जुआ खेलना पड़ता था और हारा धन वापस देना पड़ता था ।

अर्थ—माथुर—अरे ! वादा (शर्त) कर लो, कर लो ।

संवाहक—ऐसा ही करता हूँ । (द्यूतकर के पास जाकर) आधा मैं तुम्हें दे दूँगा, आधा माफ कर दो ।

द्यूतकर—अच्छा, ऐसा ही हो ।

संवाहक—(सभिक के पास जाकर) आधे का वादा (शर्त) करता हूँ । और आर्य आप भी मेरा आधा छोड़ दें ।

माथुर—क्या हानि ! ऐसा ही सही ।

संवाहकः—(प्रकाशम्) **अज्ज ! अद्धे तुए मुक्के ?** (आर्य ! अर्द्धं त्वया मुक्तम् ?)

माथुरः—मुक्के। (मुक्तम् ।)

संवाहकः—(द्यूतकरं प्रति) **अद्धे तुए वि मुक्के ?।** (अर्द्धं त्वयापि मुक्तम् ?)

द्यूतकरः—मुक्के। (मुक्तम् ।)

संवाहकः—संपदं गमिश्शं। (साम्प्रतं गमिष्यामि ।)

माथुरः—पअच्छ तं दशसुवण्णं, कहिं गच्छसि ? (प्रयच्छ तत् दश-सुवर्णम्, कस्मिन् गच्छसि ?)

संवाहकः—पेक्खध पेक्खध भट्टालआ ! हा संपदं ज्जेव एक्काह अद्धे गण्डे कडे, अवलाह अद्धे मुक्के; तह वि मं अवलं संपदं ज्जेव मग्गदि। (प्रेक्षध्वं प्रेक्षध्वं भट्टारकाः ! हा ! साम्प्रतमेव एकस्य अर्द्धे गण्डः कृतः अपरस्य अर्द्धं मुक्तम्; तथापि मामबलं साम्प्रतमेव याचते ।)

माथुरः—(गृहीत्वा) **धुत्तु ! माथुरु अहं णिउणु। एत्थ तुए ण अहं धुत्तिज्जामि। ता पअच्छ तं लुत्तदण्डआ ! सव्वं सुवण्णं संपदं।** (धूर्त ! माथुरोऽहं निपुणः । अत्र त्वया नाहं धूर्तयामि, तत् प्रयच्छ तं लुप्तदण्डक ! सर्वं सुवर्णं साप्रतम् ।)

संवाहकः—कुदो दइश्शं ?। (कुतो दास्यामि ?)

माथुरः—पिदरं विक्किणिअ पअच्छ। (पितरं विक्रीय प्रयच्छ ।)

संवाहक—(प्रकट रूप से) आर्य ! आधा तुमने छोड़ दिया, क्षमा कर दिया ?

माथुर—हाँ, छोड़ दिया ।

संवाहक—(द्यूतकर से) आधा आपने भी छोड़ दिया ?

द्यूतकर—हाँ, छोड़ दिया ।

संवाहक—(तो) अब जाता हूँ ।

माथुर—वे दश सुवर्ण तो दे, कैसे जा रहे हो ?

संवाहक—श्रीमान् जी देखिये, देखिये । हाय ! अभी आधे के लिये वादा किया है और आधा छोड़ दिया है । तो भी मुझ दुर्बल से इसी समय मांगते हैं ।

माथुर—(पकड़ कर) धूर्त ! मैं चतुर माथुर हूँ । मैं तुम्हारे साथ धूर्तता नहीं कर रहा हूँ । तो अरे दण्डयोग्य अपराधी ! मेरा वह सारा सोना दे ।

संवाहक—कहाँ से दूँ ।

माथुर—अपने बाप को बेच कर दे ।

टीका—गण्डः=निश्चयः, उपस्पृश्य=उपगम्य, मुञ्चतु=त्यजतु, कस्मिन्=कुत्र,

संवाहकः—कुदो मे पिदा ? (कुतो मे पिता ?)

माथुरः—मादरं विक्किणिअ पअच्छ। (मातरं विक्रीय प्रयच्छ।)

संवाहकः—कुदो मे मादा ? (कुतो मे माता ?)

माथुरः—अप्पाणं विक्किणिअ पअच्छ। (आत्मानं विक्रीय प्रयच्छ।)

संवाहकः—कलेध पशादं, णेध मं लाजमग्गं। (कुरुत प्रसादम्। नयत मां राजमार्गम्।)

माथुरः—पसर। (प्रसर)

संवाहकः—एव्वं भोदु। (परिक्रामति) अज्जा क्किणिध मं इमश्श शहिअश्श हत्थादो दशेहिं शुवण्णकेहिं। (दृष्ट्वा आकाशे) किं भणाध ! किं कलइश्शि' त्ति। गेहे दे कम्मकले हुविश्शं। कथं अदइअ पडिवअणं गदे। भोदु, एव्वं इमं अण्णं भणइश्शं। (पुनस्तदेव पठति) कधं एशे वि मं अवधीलिअ गदे। हा ! अज्जचालुदत्तश्श विहवे विहडिदे एशे वड्ढामि मंदभाए। (एवं भवतु। आर्य्याः ! क्रीणीध्वं माम् अस्य सभिकस्य हस्तात् दशभिः सुवर्णैः। किं भणथ ? किं करिष्यसि ? इति। गेहे ते कर्मकरो भविष्यामि।

कस्मिन् हेतौ वा, अबलम् = दुर्बलम्, धूर्तयामि = धूर्तताम् आचरामि = करोमि, प्रयच्छ=देहि।

विमर्श—गण्ड—आजकल के 'वादा' के अर्थ में प्रयुक्त होता था। एक निश्चित समय पर देने की प्रतिज्ञा। साम्प्रतं गमिष्यामि—संवाहक अपनी चतुरता प्रकट करता है क्योंकि जो दश सुवर्ण उधार थे उनमें से पाँच माथुर से छुड़वा लिये और पाँच द्यूतकर से। इस प्रकार अब एक भी देय नहीं है। अतः संवाहक कहता है कि अब जा सकता हूँ। धूर्तयामि—आत्मानं धूर्तं करोमि इस अर्थ में 'तत्करोति तदाचष्टे' वार्तिक से धूर्त शब्द से णिच् होकर नामधातु प्रयोग है।

अर्थ—संवाहक—मेरे बाप कहाँ है।

माथुर—अपनी माँ को बेच दो।

संवाहक—मेरी माँ कहाँ है ?

माथुर—तो अपने को बेच कर दो।

संवाहक—मुझ पर (यह) कृपा करिये। मुझे राजपथ पर ले चलिये।

माथुर—चलो।

संवाहक—ऐसा हो अर्थात् चलिये। (घूमता है) सज्जनों ! इस प्रधान जुआरी के हाथों से मुझे दश सुवर्णों में खरीद लीजिये। (ऊपर आकाश की ओर देखकर) 'क्या कह रहे हो' 'क्या काम कर सकते हो ?' मैं आपके घर काम करने वाला नौकर बन सकता हूँ। कैसे, बिना उत्तर दिये ही चला गया। (कोई

कथमदत्त्वा प्रतिवचनं गतः ? भवत्वेवम्, इममन्यं भणिष्यामि। कथमेषोऽपि मामवधीर्य्य गतः ?। हा ! आर्य्यचारुदत्तस्य विभवे विघटिते एषो वर्त्ते मन्दभाग्यः।)

माथुरः—णं देहि। (ननु देहि।)

संवाहकः—कुदो दइश्शं ?। (इति पतति) (कुतो दास्यामि ?)

(माथुरः कर्षति।)

संवाहकः—अज्जा ! पलित्ताअध, पालित्ताअध। (आर्य्याः ! परित्रायध्वं परित्रायध्वम्।)

(ततः प्रविशति दर्दुरकः।)

दर्दुरकः—भोः ! द्यूतं हि नाम पुरुषस्य असिंहासनं राज्यम्।

बात नहीं) जाने दो। अब इस दूसरे आदमी से कहता हूँ। (फिर वही='सज्जनों मुझे इस सभिक के हाथ से दश सुवर्णों में खरीद लें' कहता है।) क्या, यह भी मेरी उपेक्षा करके चला गया ? हाय ! चारुदत्त का धन नष्ट हो जाने पर (गरीब हो जाने पर) मैं अभागा हो गया हूँ।

माथुर—अरे ! दो।

संवाहक—कहाँ से दूँ ? (यह कह गिर पड़ता है।)

(माथुर खीचता है।)

संवाहक—सज्जनो ! बचाइये, बचाइये।

टीका—विक्रीय=विक्रयं कृत्वा, प्रचर=चल, आकाशे=उपरि शून्य-प्रदेशे, भणथ=कथयथ। कर्मकरः=सर्वविधकार्यकरः भृत्यः, प्रतिवचनम्=उत्तरम्, अवधीर्य= उपेक्ष्य, विभवे=धनादौ, विघटिते=विनष्टे सति, तस्मिन् दरिद्रे जाते सति, वर्ते= भवामि, मन्दभाग्यः=हीनभाग्यः, परित्रायध्वम्=रक्षत, रक्षत। रङ्गमचे पात्राभावे सति आकाशे शून्यप्रदेशे विलोक्य यदुच्यते, तदाकाशभाषितमिति लक्षणकारैरुच्यते।

विमर्श—जब रंगमञ्च पर न रहने वाले किसी पात्र को लक्षित कर ऊपर की ओर देखकर कुछ कहा जाता है। उसे आकाश-भाषित कहा जाता है। इसका निम्न लक्षण किया गया है—

किं ब्रवीषीति यन्नाटचे विना पात्रं प्रयुज्यते।
श्रुत्वेवानुक्तमप्यर्थं तत् स्यादाकाभाषितम्॥
साहित्य-दर्पण॥ ६॥

(इसके बाद दर्दुरक प्रवेश करता है।)

न गणयति पराभवं कुतश्चिद् हरति ददाति च नित्यमर्थजातम् ।
नृपतिरिव निकाममायदर्शी विभववता समुपास्यते जनेन ॥ ७ ॥

अन्वयः––(द्यूतं कर्तृ) कुतश्चित्, (अपि), पराभवम्, न, गणयति, नित्यम्, अर्थजातम्, हरति, ददाति, च, विभववता (अपि), जनेन, निकामम्, आयदर्शी, राजा, इव, समुपास्यते ॥ ७ ॥

शब्दार्थः––द्यूतम्=जुआ, कुतश्चित्=किसी से, भी, पराभवम्=पराजय, या अपमान को, न=नहीं, गणयति=गिनता है, मानता है, नित्यम्=रोज, प्रतिदिन, अर्थजातम्=धन - समुदायको, हरति=ले लेता है, च=और, ददाति=दे देता है, विभववता=धनवान्, भी, जनेन=पुरुष के द्वारा, निकामम्=प्रचुर, आयदर्शी=धनलाभ दिखलाने वाले, राजा इव=राजा के समान, समुपास्यते=सेवित होता है, खेला जाता है ॥ ७ ॥

अर्थ––**संवाहक** – जुआ, आदमी के लिये विना सिंहासन का राज्य है ।

(यह जुआ) किसी से भी (होने वाले) अपमान की गणना=परवाह नहीं करता है, प्रतिदिन बहुत धन ले लेता है (हरा देता है), और दे देता है (जिता देता है) । धनवान व्यक्ति के द्वारा (भी) नित्य प्रचुर आय दिखाने वाले राजा के समान सेवित होता है ॥ ७ ॥

टीका––द्यूतम्, कुतश्चित्=कस्माच्चिद् अपि, पराभवम्=पराजयम्, अपमानम्, न=नैव, गणयति=विचिन्तयति, नित्यम्=प्रतिदिनम्, अर्थजातम्=धनसमूहम्, हरति=पराजयरूपेण हरति, ददाति=विजयरूपेण प्रयच्छति, च, विभववता=धनादिसम्पन्नेनापि, जनेन=पुरुषेण, निकामम्=प्रचुरम्, आयदर्शी=आयप्रदर्शकः, राजा इव=भूपतिरिव, समुपास्यते=सेव्यते । यथा राजा मानापमाने न विचारयति, कस्यापि सर्वस्वं हरति, कस्मैचिच्च विपुलं धनं ददाति । तथैवेदं द्यूतमपि अस्ति । यथा प्रचुरायप्रदर्शकस्य राज्ञः आराधना अन्येन धनवतापि पुरुषेण क्रियते तथैव द्यूतस्यापि सेवनमधिकायप्रदर्शकमतो धनवतापि पुरुषेण द्यूतमुपसेव्यते । एवञ्च द्यूतस्य राज्ञश्च तुल्यत्वादुपमालंकारः, पुष्पिताग्रा वृत्तम् ॥ ७ ॥

विमर्शः––दर्दुरक ने द्यूत को राजा के समान माना है । जैसे राजा किसी से हार नहीं मानता है बार बार युद्ध करता रहता है वैसे ही द्यूत में ही होता है । राजा किसी पर अप्रसन्न होकर सब कुछ ले लेता है और प्रसन्न होने पर बहुत कुछ दे देता है, उसी प्रकार द्यूत भी कभी फकीर बना देता है और कभी मालामाल । जो राजा धनलाभ दिखाने वाला होता है उसकी सेवा में धनी भी, और अधिक धनलाभ की कामना से, लगे रहते हैं, वैसे ही लोग जुआ में भी लगे रहते है । निकामम् आयदर्शी–इस पुंलिङ्ग के स्थान पर 'आयदर्शि' यह नपुंसकलिङ्ग पाठ द्यूत के साथ और अधिक संगत होता है । अथवा–निकाम-मायदर्शि– यह मानकर विविध

अपि च--

द्रव्यं लब्धं द्यूतेनैव दारा मित्रं द्यूतेनैव ।
दत्तं भुक्तं द्यूतेनैव सर्वं नष्टं द्यूतेनैव ॥ ८ ॥

अपि च--

त्रेता-हृतसर्वस्वः पावर-पतनाच्च शोषितशरीरः ।
नर्दित-दर्शितमार्गः कटेन विनिपातितो यामि ॥ ९ ॥

छल प्रपञ्च दिखाने वाला द्यूत और राजा । इसमें उपमा अलंकार और पुष्पिताग्रा छन्द है । लक्षण

'अयुजि न युगरेफतो यकारो युजि च नजौ जरगाश्च पुष्पिताग्रा' ॥ ७ ॥

अन्वयः--द्यूतेन, एव, द्रव्यम्, लब्धम्, दाराः, मित्रम्, च, द्यूतेन, एव, दत्तम्, भुक्तम्, द्यूतेन एव, सर्वम्, नष्टम् ॥ ८ ॥

शब्दार्थः--द्यूतेन=जुआ के द्वारा, एव=ही, द्रव्यम्=धन, लब्धम्=मिला, द्यूतेन एव=जुआ के द्वारा ही, दाराः=स्त्रियाँ, मिलीं, मित्रम्=मित्र, मिला, द्यूतेन एव=जुआ के द्वारा ही, दत्तम्=दिया गया, भुक्तम्=भोग किया गया, द्यूतेन एव=जुआ के द्वारा ही, सर्वम्=सब कुछ, नष्टम्=नष्ट हो गया ॥ ८ ॥

अर्थ--और भी,

(मैंने) जुआ से ही धन पाया, जुआ से ही स्त्री (मिली), मित्र मिला, जुआ ने ही (सब कुछ) दिया, भोग किया और जुआ से ही सब कुछ नष्ट हो गया ॥ ८ ॥

टीका--मया कर्त्रा, द्यूतेन एव=करणभूतेन द्यूतेन, द्रव्यम्=धनम्, लब्धम्=प्राप्तम्, द्यूतेन एव, दाराः=स्त्रियः, स्त्री वा, लब्धा, मित्रम्=सुहृद्, लब्धम्, द्यूतेनैव कर्त्रा, दत्तम्=प्रदत्तम्, द्यूतेनैव=हेतुना, करणेन वा, सर्वम्=निखिलम्, नष्टम्=विनष्टम् । अत्रैकस्यैव कारकस्यानेक-क्रिया-सम्बन्धात् कारकदीपकमलङ्कारः, विद्युन्मालावृत्तम् ॥ ८ ॥

विमर्शः--दर्दुरक यहाँ यह कहता है कि मुझे जो कुछ मिला या खोया वह सब द्यूत के कारण ही हुआ । द्यूतरूपी एक ही कारक का अनेक क्रियाओं के साथ सम्बन्ध होने से कारकदीपक अलंकार है । कुछ ने विषमालंकार माना है । विद्युन्माला छन्द है । लक्षण--मो मो गो गो विद्युन्माला ॥ ८ ॥

अन्वयः--त्रेताहृतसर्वस्वः, पावरपतनात्, च, शोषितशरीरः, नर्दितदर्शितमार्गः, कटेन, विनिपातितः, यामि ॥ ९ ॥

शब्दार्थ--त्रेताहृत-सर्वस्वः=त्रेता (तीया नामक एक खास चाल) से सर्वस्व हार जाने वाला, च=और, पावर-पतनात्=पावर=दूआ नामक खेल की चाल गिरने से, शोषित-शरीरः=सूखे निश्चेष्ट शरीर वाला, नर्दित-दर्शित-मार्गः=नर्दित=नक्का

(अग्रतोऽवलोक्य) अयमस्माकं पूर्वसभिको माथुर इत एवाभिवर्त्तते। भवतु, अपक्रमितुं न शक्यते। तदवगुण्ठयाम्यात्मानम्। (बहुविधं नाट्यं कृत्वा स्थितः। उत्तरीयं निरीक्ष्य)

अयं पटः सूत्रदरिद्रतां गतो ह्ययं पटश्छिद्रशतैरलङ्कृतः।
अयं पटः प्रावरितुं न शक्यते ह्ययं पटः संवृत एव शोभते ॥ १० ॥

नामक खास चाल से (हारने के कारण) दिखाई गयी रास्ता वाला, कटेन=पूरा नामक चाल से, विनिपातितः=गिराया गया, (मैं), यामि=जा रहा हूँ ॥ ९ ॥

अर्थ—और भी,

तीया (नाम की एक खास चाल) से जिसका सारा धन हरण हो गया, दुआ (नाम की खास चाल) के चलने=गिरने से जिसका सारा शरीर सूखा = सुन्न= निश्चेष्ट हो गया, नक्का (नाम की चाल) से (हारने के कारण भागने के लिये जिसे) रास्ता दिखा दिया गया, और पूरा (नामक चाल) से जो गिरा दिया गया, वैसा मैं (दुःखी) जा रहा हूँ ॥ ९ ॥

टीका—त्रेताहृत-सर्वस्वः त्रेताख्य-क्रीडा-प्रकार-विशेषेण 'तीया' इति प्रसिद्धेन, हृतम्=गतम् सर्वस्वम् = निखिलं धनं यस्य सः, पावरफ्तनात् = पावरस्य 'दूआ' इति प्रसिद्धस्य क्रीडनप्रकारस्य, पतनात् = भ्रंशात्, शोषित-शरीरः = शोषितम्=शुष्कताम् = निश्चेष्टतां नीतम्, शरीरम्=देहो यस्य सः तादृशः, नर्दित-दर्शितमार्गः = 'नक्का' इति क्रीडन-प्रकारेण पराजितत्वात् गृहगमनाय दर्शितः= प्रदर्शितः, मार्गः = पन्थाः, यस्य सः, कटेन = 'पूरा' इति ख्यातेन क्रीडनप्रकारेण, विनिपातितः = पराजयात् भूमौ प्रपातितः, यामि = असहायो भूत्वा व्रजामि। प्राचीनकाले द्यूतक्रीडायां त्रेता-पावर-नर्दित-कट-शब्दाः प्रचलिता आसन् तेषां कृतेऽधुना तीया-दूआ-नक्का-पूरा-शब्दाः प्रयुज्यन्ते। आर्यावृत्तम् ॥ ९ ॥

विमर्श—द्यूतक्रीडा में प्रयुक्त होने वाले चार पारिभाषिक शब्दों का प्रयोग इसमें किया गया—(१) त्रेता=तीया (आजकल तीन, सात, ग्यारह, पन्द्रह) (२) पावर=दूआ (दो, छह, दश चौदह वगैरह) (३) नर्दित=नक्का (एक पाँच नौ तेरह) (४) कट=पूरा (चार, आठ, बारह, सोलह)। इन चारों दाओं ने उसे धोखा दिया हैं, यह उसका भाव है। इसमें आर्या छन्द है ॥ ९ ॥

अर्थ—(आगे देखकर) यह हमारा पुराना द्यूत-क्रीडाध्यक्ष माथुर इधर ही आ रहा है। अच्छा, भागना तो सम्भव नहीं है। अतः अपने को छिपा लेता हूँ। (कई प्रकार से शरीर को ढकने का अभिनय करके खड़ा होता है। उस उत्तरीय वस्त्र को देखकर—)

अन्वयः—अयम्, पटः, सूत्रदरिद्रताम्, गतः, अयम्, पटः, छिद्रशतैः, अलङ्कृतः, अयम्, पटः, प्रावरितुम्, न, शक्यते, अयम्, पटः, संवृतः, एव, शोभते ॥१०॥

अथवा किमयं तपस्वी करिष्यति । यो हि–

पादेनैकेन गगने द्वितीयेन च भूतले ।

तिष्ठाम्युल्लम्बितस्तावद् यावत्तिष्ठति भास्करः ॥ ११ ॥

शब्दार्थ—अयम्=यह (मेरा), पटः=कपड़ा, सूत्रदरिद्रताम्=सूतों की जीर्णता को, गतः=प्राप्त हो चुका है, अयम्=यह, पटः=कपड़ा, छिद्रशतैः=सैकड़ों छेदों से, अलङ्कृतः=सजा हुआ, युक्त है, अयं पटः = यह कपड़ा, प्रावरितुम्=शरीर ढकने के के लिये, न शक्यते=नहीं सम्भव है, अयं पटः=यह कपड़ा, हि=निश्चितरूप से, संवृतः= लपेटा, घरी किया हुआ, एव=ही, शोभते=अच्छा लगता है ॥ १० ॥

अर्थ—यह कपड़ा (मेरा डुपट्टा) जीर्ण शीर्ण सूतों वाला हो चुका है। यह कपड़ा सैकड़ों छिद्रों से युक्त है। यह कपड़ा (शरीर) ढकने में समर्थ नहीं है। यह कपड़ा, निश्चित रूप से, लपेटा हुआ ही अच्छा लगता है ॥ १० ॥

टीका—अयम् = हस्तस्थितः, मदीयः, पटः = उत्तरीयम्, सूत्रदरिद्रताम् = सूत्राणाम्=तन्तूनाम्, दरिद्रताम्=जीर्णताम्, गतः=प्राप्तः, अतीव जीर्णोऽभवदिति भावः, अयं पटः=इदमुत्तरीयम्, हि=निश्चयेन, छिद्रशतैः=शताधिकविवरैः, अलङ्कृतः= विभूषितः, युक्तः, अगणितछिद्रयुक्तः इति भावः, अयं पटः = इदमुत्तरीयम्, प्रावरितुम् = आच्छादयितुम्, न=नैव, शक्यते=समर्थ्यते, अयं पट = इदमुत्तरीयम्, संवृतः = परिवेष्टितः, एव, हि = निश्चयेन, शोभते = भाति। अत्र 'अयं पटः' इत्यस्यावृत्त्या अनवीकृतत्वदोषः। वंशस्थबिलं वृत्तम् ॥ १० ॥

विमर्श—प्रावरितुम्—प्र+आङ्+√वृ+तुमुन्।

संवृतः—सम्+√वृ+क्त। इसमें 'अयं पटः' का चार बार प्रयोग होने से अनवीकृतत्वदोष है। साधारणपात्र का कथन होने से चिन्तनीय नहीं है। इसमें वंशस्थबिल छन्द है। लक्षण—'जतौ तु वंशस्थबिलं जतौ जरौ' ॥ १० ॥

अन्वयः—एकेन, पादेन, गगने, द्वितीयेन, च, भूतले, उल्लम्बितः, तावद्, तिष्ठामि, यावत्, भास्करः, तिष्ठति ॥ ११ ॥

शब्दार्थ—एकेन = एक, पादेन = पैर से, गगने = आकाश में च = और, द्वितीयेन=दूसरे से, भूतले=पृथ्वी पर, उल्लम्बितः=ऊपर लटका हुआ, तावत्=तब तक, तिष्ठामि=रह सकता हूँ, यावत्=जब तक, भास्करः=सूरज, तिष्ठति=[अकाश में लटका] रहता है ॥ ११ ॥

अर्थ—अथवा यह बेचारा (तुच्छ) माथुर मेरा क्या कर सकता है जो मैं—

एक पैर से आकाश में [अर्थात् ऊपर करके] और दूसरे से पृथ्वी पर [अर्थात् नीचे करके] तब तक लटका हुआ रह सकता हूँ जब तक कि आकाश में सूरज (लटकता हुआ) रहता है ॥ ११ ॥

टीका—यो अहम्=दर्दुरकः—इति गद्यस्थेनान्वयः—एकेन पादेन=चरणेन,

माथुरः—देहि देहि । (देहि देहि ।) (दापय दापय ।)

संवाहकः—कुदो दइश्शं (कुतो दास्यामि ?)

(माथुरः कर्षति ।)

दर्दुरकः—अये ! किमेतदग्रस्तः (आकाशे) किं भवानाह ? 'अयं द्यूतकरः सभिकेन खलीक्रियते, न कश्चिन्मोचयति' इति ? नन्वयं दर्दुरो मोचयति । (उपसृत्य) अन्तरमन्तरम् । (दृष्ट्वा) अये ? कथं माथुरो धूर्त्तः, अयमपि तपस्वी संवाहकः ।

य: स्तब्धं दिवसान्तमानतशिरा नास्ते समुल्लम्बितो
यस्योद्धर्षणलोष्टकैरपि सदा पृष्ठे न जातः किणः ।
यस्यैतच्च न कुक्कुरैरहरहर्जङ्घान्तरं चर्व्यते
तस्यात्यायतकोमलस्य सततं द्यूतप्रसङ्गेन किम् ॥ १२ ॥

गगने=आकाशे, च=तथा, द्वितीयेन=अपरेण, भूतले=पृथिव्याम्, एकं पादमूर्ध्वं कृत्वाऽन्यं च पृथिव्यां संस्थाप्य उल्लम्बितः=ऊर्ध्वं लम्बमानः सन्, तावत्=तावत्काल-पर्यन्तम्, तिष्ठामि=स्थातुं शक्नोमि, यावत्=यावत्कालपर्यन्तम्, भास्करः=सूर्यः, तिष्ठति=गगने विराजते, सायंकालं यावदनेनैव रूपेणाहं स्थातुं शक्नोमीत्येवं क्लेशसहस्य मम माथुरात् कुतो भयमिति भावः । पथ्यावक्त्रं वृत्तम् ॥ ११ ॥

विमर्श—उल्लम्बितः—उत्+लम्ब्+इट्+क्त । भाः करोति—इस अर्थ में—भाः+करः, विसर्ग का सत्त्व । यावत् तिष्ठति भास्करः—अर्थात् सायंकाल तक मैं इसी विचित्र रूप में लटका रह सकता हूँ अतः डरना बेकार है । बाद में रात हो जायगी और तब मुझे कोई भी नहीं पकड़ सकेगा, इस माथुर की तो बात ही क्या ? इसमें पथ्यावक्त्र छन्द है ॥११॥

अर्थ—माथुर—दो, दो, (अथवा दिलाओ, दिलाओ) ।

संवाहक—कहा से दूँ ।

(माथुर घसीटता है ।)

दर्दुरक—अरे ! सामने यह क्या हो रहा है ? (आकाश में ऊपर की ओर मुंह करके) आपने क्या कहा ? 'सभिक [द्यूत क्रीडाध्यक्ष] इस द्यूतकर [संवाहक] को परेशान कर रहा है, कोई भी नहीं छुड़ाता है ?' तो लो यह दर्दुरक छुड़वाता है । (पास जाकर) रास्ता दीजिये, रास्ता दीजिये । (देखकर) अरे, अब कैसे ? यहाँ तो धूर्त माथुर है, और यह गरीब संवाहक ।

अन्वयः—यः, (अहम् इव) समुल्लम्बितः, आनतशिराः, (सन्), दिवसान्तम्, स्तब्धम्, न, आस्ते, यस्य, पृष्ठे, उद्घर्षणलोष्ठकैः, अपि, किणः, सदा, न, जातः, यस्य, च, एतत्, जङ्घान्तरम् कुक्कुरैः, अहरहः, न, चर्व्यते, अत्यायतकोमलस्य, तस्य, सततम्, द्यूतप्रसङ्गेन, किम् ॥ १२ ॥

शब्दार्थः—यः= जो पुरुष [अहम् इव= मेरे समान], समुल्लम्बितः=ऊपर लटका हुआ, आनतशिराः=शिर को नीचे झुकाये हुये, दिवसान्तम्=दिन के अन्त= सायंकाल तक, स्तब्धम्=निश्चल रूप से, न=नहीं, आस्ते=रह सकता है, यस्य= जिसकी, पृष्ठे=पीठ पर, उद्वर्षणलोष्ठकैः=नुकीले ढेलों से, अपि=भी, किणः= चिह्न=ढट्ठा, न=नहीं, जातः=बना है, च=और, यस्य=जिसके, जंघान्तरम्=जाँघों के भीतरी भाग [के मांस] को, कुक्कुरैः=कुत्ते, अहरहः=रोज, न=नहीं, चर्व्यंते= चबाते हैं, काटते हैं, अत्यायतकोमलस्य=बहुत अधिक कोमल, तस्य=उस व्यक्ति का, सततम्=निरन्तर, द्यूतप्रसङ्गेन=जुआ खेलने से, किम्=क्या लाभ ? अर्थात् जो मेरे समान ऐसा नहीं है उसे जुआ नहीं खेलना चाहिये ।। १२ ।।

अर्थ—[मेरे समान] जो व्यक्ति ऊपर लटका हुआ नीचे शिरवाला होते हुये सायंकाल तक अर्थात् दिन भर निश्चल रूप से नहीं रह सकता है। जिसकी पीठ पर [हारा हुआ धनादि न देने के कारण] सदैव नुकीले ढेलों [पर घसीटने] के कारण चिह्न=ढट्ठे नहीं पड़े हैं। और [हार कर या जीत कर भागते समय] जिसकी जांघों के मध्य भाग [के मांस] को रोज कुत्ते नहीं चबाते हैं, ऐसे अत्यन्त कोमल [शरीर वाले] व्यक्ति को रोज जुआ खेलने से क्या लाभ ? [अर्थात् मेरे समान जो उक्त स्थितियों को सह सकता है उसे ही जुआ खेलना चाहिये न कि सरल कोमल पुरुष को] ।। १२ ।।

टीका—यः=जनः, (अहम् इव=दर्दुरक इव), समुल्लम्बितः=ऊर्ध्वभागादधो- देशे लम्बमानः, अत एव, आनतशिराः=आनतम्=अधःकृतम्, शिरः=मस्तकम् यस्य सः तादृशः. अधोमुख इत्यर्थः, सन्, दिवसान्तम्=दिवसस्यान्तम्=सायङ्कालं यावत्, स्तब्धम्=निश्चलं यथा स्यात् तथा, न आस्ते=स्थातुं न शक्नोतीति भावः, यस्य= जनस्य, मम, इव, पृष्ठे=पृष्ठभागे, उद्घर्षणलोष्ठकैः=उद्घृष्यते एभिरिति (करणे घञ्) उद्घर्षणानि, तानि च=लोष्टकानि=इष्टिकादिखण्डानि, तैः, 'ढेला' इति नाम्ना हिन्द्यां प्रसिद्धैरिनि भावः सदा=प्रतिदिनम्, किणः=घर्षणादिचिह्नम्, न=नैव, जातः=समुत्पन्नः, पराजितत्वात् धनादि-प्रतिदानेऽसमर्थतया सभिकादिभिःकृतेन घर्षणेन यस्य पृष्ठं किणाङ्कितं न जातमिति भावः, यस्य=जनस्य, च मम इव, एतत् इदम्, जङ्घान्तरम् = जघनमध्यदेशः, कुक्कुरैः = श्वभिः, अहरहः=प्रतिदिनम्, न= नैव, चर्व्यंते=भक्ष्यते, तस्य=पुरोवर्त्तिसंवाहकस्य, अत्यायतकोमलस्य=अतिशयकोम- लस्य, यद्वा, अत्यायतः=विपुलशरीरश्चासौ, कोमलश्च, तस्य, सततम्=निरन्तरम्, द्यूतप्रसङ्गेन=द्यूतक्रीडानुरागेण, किम्=न किमपि प्रयोजनम् । एवञ्च संवाहकेन द्यूतं न क्रीडितव्यम् । अत्राप्रस्तुतप्रशंसालंकारः । शार्दूलविक्रीडितं वृत्तम् ।। १२ ।।

विमर्श—स्तब्धम्—√स्तभ्+क्त । समुल्लम्बितः—सम्+उत्+लम्ब्+

भवतु, माथुरं तावत् सान्त्वयामि। (उपगम्य) माथुर ! अभिवादये।

(माथुरः प्रत्यभिवादयते ।)

दर्दुरकः—किमेतत् ?।

माथुरः—अअं दशसुवण्णं धालेदि। (अयं दशसुवर्णं धारयति ।)

दर्दुरकः—ननु कल्यवर्त्तमेतत् ।

माथुरः—(दर्दुरस्य कक्षतल-लुण्ठीकृतं पटमाकृष्य) भट्टा ! पश्शत पश्शत-जज्जरपड्प्पावुदो अअं पुलिसो दससुवण्णं कल्लवत्तं भणादि। (भर्त्तारः ! पश्यत पश्यत, जर्जरपटप्रावृतोऽयं पुरुषो दशसुवर्णं कल्यवर्त्तं भणति ।)

दर्दुरकः—अरे मूर्ख ! नन्वहं दशसुवर्णान् कटकरणेन प्रयच्छामि। तत् किं यस्यास्ति धनम्, स किं क्रोडे कृत्वा दर्शयति ?। अरे—

दुर्वर्णोऽसि विनष्टोऽसि दशस्वर्णस्य कारणात् ।
पञ्चेन्द्रियसमायुक्तो नरो व्यापाद्यते त्वया ॥ १३ ॥

क्त। अत्यायतकोमलस्य=अत्यन्तकोमलस्य, अथवा, अत्यायतः=विपुलशरीरः चासौ, कोमलश्च=मृदुश्च, तस्य। द्यूतप्रसङ्गेन किम्—दर्दुरक का तात्पर्य यह है कि जो मेरे समान कष्ट नहीं सह सकता ऐसे व्यक्ति को जुआ नहीं खेलना चाहिये। बेचारा संवाहक तो फंस गया है। यहाँ अप्रस्तुतप्रशंसा अलंकार और शार्दूलविक्रीडित छन्द है। लक्षण—सूर्याश्वैर्यदि मः सजौ सततगाः शार्दूलविक्रीडितम् ॥ १२॥

अर्थ—अच्छा, तो माथुर को राजी करता हूँ, (मनाता हूँ)। (समीप जाकर) माथुर। आपको प्रणाम करता हूँ।

(माथुर प्रतिनमस्कार करता है।)

दर्दुरक—यह क्या (कर रहे हो) ?

माथुर—इस पर मेरे दश सुवर्ण (खण्ड) उधार हैं।

दर्दुरक—अरे, इतना धन तो कलेवा (के समान तुच्छ) है।

माथुर—(दर्दुरक के काँख=कक्ष में लपेट कर रखे हुये कपड़े को खींच कर) सज्जनों ! देखो, देखो, फटे कपड़े से लिपटा (आवृत) यह आदमी सोने के दश सिक्कों को कलेवा के समान तुच्छ कहता है।

दर्दुरक—अरे मूर्ख ! दश स्वर्ण सिक्के तो मैं एक कट (दाँव) से ही दे सकता हूँ। तो क्या, जिसके पास धन रहता है वह उसे गोद में लेकर दिखाता फिरता है।

अन्वयः—अरे ! (इति गद्यस्थम्), त्वम्, दुर्वर्णः, असि, विनष्टः, असि, यत्, त्वया, दशस्वर्णस्य, कारणात्, पञ्चेन्द्रियसमायुक्तः, नरः, व्यापाद्यते ॥ १३ ॥

शब्दार्थ—अरे !=अरे !, त्वम्, दुर्वर्णः = निम्नवर्णवाले वर्णाधम, असि = हो, विनष्टः = पतित, असि = हो, यत् = जो कि, त्वया, = तुम्हारे द्वारा,

माथुरः—भट्टा ! तुए दशसुवण्णु कल्लवत्तु, मए एसु विहवु। (भर्त्तः ! तव दशसुवर्णं कल्यवर्त्तं, मम एष बिभवः ।)

दर्दुरकः—यद्येवम्, श्रूयतां तर्हि; अन्यान् तावत् दशसुवर्णानस्यैव प्रयच्छ। अयमपि द्यूतं शीलयतु।

माथुरः—ता किं भोदु ?। (तत् किं भवतु ?)

दर्दुरकः—यदि जेष्यति तदा दास्यति।

माथुरः—अह ण जिणादि। (अथ न जयति ?)

दर्दुरकः—तदा न दास्यति।

दशस्वर्णस्य = दस सोने के सिक्कों के, कारणात् = कारण से, पञ्चेन्द्रियसमायुक्तः = पाँच इन्द्रियों से युक्त, नरः = प्राणियों में श्रेष्ठ मनुष्य को, व्यापाद्यते = मार डाला जाता है ॥ १३ ॥

अर्थ—अरे ! (माथुर !) तुम नीच एवं पतित हो जो कि दश स्वर्ण सिक्कों के कारण एक पाँच इन्द्रियों (आँख, कान, नाक, जीभ, और त्वचा रूपी पाँच ज्ञानेन्द्रियों) से युक्त मनुष्य को तुम मार डाल रहे हो ॥ १३ ॥

टीका—अरे = रे माथुर !, त्वम्, दुर्वर्णः = वर्णाधमः, हीनजातिकः असि, विनष्टः = पतितः, असि, यत् = यस्मात्, त्वया = माथुरेण, दशस्वर्णस्य= दशस्वर्णमुद्रायाः, कारणात् = हेतोः, पञ्चेन्द्रियैः = श्रोत्रत्वक्-चक्षूरसनाघ्राणैरिति पञ्चज्ञानेन्द्रियैः, अथवा पञ्चकर्मेन्द्रियैः, समायुक्तः = अलंकृतः, नरः = प्राणिषु श्रेष्ठः मानवः, व्यापाद्यते = हन्यते। काव्यलिङ्गमलङ्कारः, अनुष्टुप् वृत्तम् ॥ १३ ॥

विमर्श—दुर्वर्णः = दुष्टः = निकृष्टः वर्णः यस्य सः, नीच वर्णवाला। विनष्टः—यहाँ धर्मादि से पतित—यह अर्थ लेना चाहिये। पञ्चेन्द्रिय-समायुक्तः= पञ्च ज्ञानेन्द्रिय (आँख, कान, नाक, जीभ और त्वचा) अथवा कर्मेन्द्रिय (पायु, उपस्थ, पाणि, पाद, वाक्) से युक्त। व्यापाद्यते—वि+पद+णिच्—कर्मवाच्य का रूप है। काव्यलिङ्ग अलंकार और अनुष्टुप् छन्द है ॥ १३ ॥

अर्थ—माथुर—राजा साहब ! (व्यङ्ग्य में है) दश स्वर्ण सिक्के तुम्हारे लिये कलेवातुल्य तुच्छ हो सकते हैं किन्तु मेरे लिये तो यही सम्पति है।

दर्दुरक—यदि ऐसी बात है तो सुनो; इसे कुछ देर के लिये दस स्वर्ण सिक्के दे दो। यह (उनके द्वारा) फिर से जुआ खेले।

माथुर—तो इससे क्या होगा ?

दर्दुरक—यदि जीत जायगा तो दे देगा।

माथुर—यदि नहीं जीता ?

दर्दुरक—तब नहीं देगा।

माथुरः—अह ण जुत्तं जप्पिदुं। एव्वं अक्खन्तो तुमं पअच्छ धूत्तआ! अहं पि णाम माथुरु धुत्तु जूदं मिथ्या आदंसआमि? अण्णस्स वि अहं ण बिभेमि। धुत्ता! खण्ड्अवुत्तोसि तुमं। (अथ न युक्तं जल्पितुम्। एवमाचक्षाणस्त्वं प्रयच्छ धूर्तक! अहमपि नाम माथुरो धूर्त्तः द्यूतं मिथ्या आदर्शयामि? अन्यस्मादपि अहं न बिभेमि। धूर्त्त! खण्डितवृत्तोऽसि त्वम्।)

दर्दुरकः—अरे कः खण्डितवृत्तः?

माथुरः—तुमं हु खण्डअवृत्तो। (त्वं खलु खण्डितवृत्तः।)

दर्दुरकः—पिता ते खण्डितवृत्तः। (संवाहकस्य अपक्रमितुं संज्ञां ददाति।)

माथुरः—गोसाविआपुत्ता! णं एव्वं जूदं तुए सेविदं? (वेश्यापुत्र! एवमेव द्यूतं त्वया सेवितम्?)

दर्दुरकः—मया एवं द्यूतमासेवितम्।

माथुरः—अले संवाहआ! पअच्छ तं दशसुवण्णं। (अरे संवाहक! प्रयच्छ तत् दशसुवर्णम्।)

सवाहकः—अज्ज दइश्शं, दाव दइश्शं। (अद्य दास्यामि, तावत् दास्यामि।)

(माथुरः कर्षति।)

माथुर—अब (इस विषय में) तुमसे बात करना ठीक नहीं है। रे धूर्त! ऐसा कह रहे हो तो तुम्हीं दे दो। मैं भी माथुर, प्रसिद्ध धूर्त जुआरी बिना मतलब के जुआ का खेल दिखाऊँगा? और किसी से डरता भी नहीं हूँ। धूर्त! तुम खण्डितवृत्त (बेईमान, चरित्रभ्रष्ट) हो।

दर्दुरक—अरे! कौन बेईमान है।

माथुर—तुम बेईमान (चरित्रभ्रष्ट) हो।

दर्दुरक—तुम्हारा बाप बेईमान है। (संवाहक को भाग जाने के लिये इशारा करता है।)

माथुर—रण्डी के बच्चे! तूने ऐसा ही जुआ खेलना सीखा?

दर्दुरक—हाँ, मैंने ऐसे ही खेला है।

माथुर—अरे संवाहक! वह दश स्वर्ण दो।

संवाहक—आज दूंगा। अभी दूंगा।

(माथुर खींचता है।)

टीका—भर्तः! = राजन्! इयं व्यङ्ग्योक्तिः। अस्य = अस्मै, प्रयच्छ = देहि, आचक्षाणः = कथयन्, मिथ्या = लाभादिकं विनैव, आदर्शयामि = प्रदर्शयामि, अत्र काकुः। खण्डितवृत्तः = धूतकरस्य कृते निश्चिताचारणस्यावमन्ता अतः चरित्रहीन इति भावः। अपक्रमितुम् = तत्स्थानादन्यत्र पलायितुम्, संज्ञाम्=

दर्दुरकः—मूर्ख ! परोक्षे खलीकर्त्तुं शक्यते, न ममाग्रतः खलीकर्तुम् ।

(माथुरः संवाहकमाकृष्य घोणायां मुष्टिप्रहारं ददाति । संवाहकः सशोणितं मूर्च्छां नाटयन् भूमौ पतति । दर्दुरक उपसृत्य अन्तरयति । माथुरो दर्दुरकं ताडयति । दर्दुरको विप्रतीपं ताडयति ।)

माथुरः—अले अले दुट्ट ! छिण्णालिआपुत्तअ ! फलं पि पाविहिसि ।

(अरे अरे दुष्ट ! पुंश्चलीपुत्रक ! फलमपि प्राप्स्यसि ।)

दर्दुरकः—अरे मूर्ख ! अहं त्वया मार्गगत एव ताडितः; श्वो यदि राजकुले ताडयिष्यसि, तदा द्रक्ष्यसि ।

संकेतम्, एवमेव = अनेनैव प्रकारेण ऋणं दत्त्वा हानिलाभौ परित्यज्येति भावः, आसेवितम् = क्रीडितम् ।

विमर्श—भर्त्तः । (प्राकृतभट्टा) यह माथुर का व्यङ्ग्यभरा सम्बोधन है । अस्य = यहाँ सम्बन्धसामान्य मानकर षष्ठी है । अहमपि नाम माथुरो धूर्तः द्यूतं मिथ्याऽऽदर्शयामि ?— इसमें काकु का प्रयोग है । माथुर का यह तात्पर्य है कि मैं भी परमधूर्त जुआरी माथुर हूँ, बिना किसी लाभ के जुआ की प्रदर्शनी नहीं करता हूँ । कुछ लोगों ने दो वाक्यखण्ड माने हैं । और 'जुआ को छल से खेलता हूँ' तथा कुछ ने 'अपने को व्यर्थ प्रधान माने फिरता हूँ'—यह अर्थ किया है । परन्तु ये परम्पराप्राप्त नहीं हैं । इस विषय में काले द्वारा उद्धृत वक्तव्य ध्यान देने योग्य है— "श्रीनिवासाचार्य— अहमपि नाम माथुरो धूर्तो द्यूतं मिथ्याऽऽदर्शयामिति काकुः । पणमप्रतियातितं त्यजन् हि द्यूतमेव वितथयति । नाहमेवं द्यूतस्य व्यपदेशं दूषयामीत्यर्थः । नेदं धनस्पृहया पीडनम्, किं तर्हि ? द्यूतधर्मरक्षार्थमिति भावः ।" खण्डितवृत्त—जुआ में जो नियम निर्धारित हैं, उनका पालन न करने वाला ।

अर्थ—दर्दुरक—मूर्ख ! मेरे पीठ पीछे (न होने पर) ही सता सकते हो । मेरे सामने नहीं सता सकते हो ।

(माथुर संवाहक को खींच कर उसकी नाक पर घूंसा जमाता है । संवाहक खून से लथपथ होकर मूर्च्छा (बेहोशी) का अभिनय करता हुआ पृथ्वी पर गिर जाता है । दर्दुरक समीप पहुँच कर बीच-बचाव कर देता है, दोनों को अलग-२ कर देता है । माथुर दर्दुरक को (भी) पीटने लगता है । दर्दुरक भी जवाब में पीटने लगता है ।)

माथुर—अरे अरे दुष्ट ! पुंश्चली=छिनार के बच्चे ! इसका मजा चखोगे (फल भी पाओगे) ।

दर्दुरक—अरे मूर्ख ! तुमने सड़क पर जाते हुये (निरपराध) मुझे पीटा है । कल यदि राजदरबार में पीटोगे, तब देखना (उसका फल भोगना) ।

माथुरः—एसु पेक्खिस्सं । (एष प्रेक्षिष्ये ।)

दर्दुरकः—कथं द्रक्ष्यसि ? ।

माथुरः—(प्रसार्य्य चक्षुषी) एव्वं पेक्खिस्सं । (एवं प्रेक्षिष्ये ।)

(दर्दुरको माथुरस्य पांशुना चक्षुषी पूरयित्वा संवाहकस्य अपक्रमितुं संज्ञां ददाति । माथुरोऽक्षिणी निगृह्य भूमौ पतति । संवाहकोऽपक्रामति ।)

दर्दुरकः—(स्वगतम्) प्रधानसभिको माथुरो मया विरोधितः । तन्नात्र युज्यते स्थातुम् । कथितञ्च मम प्रियवयस्येन शर्विलकेन, यथा किल, 'आर्य्यकनामा गोपालदारकः सिद्धादेशेन समादिष्टो राजा भविष्यति इति सर्वश्च अस्मद्विधो जनस्तमनुसरति' । तदहमपि तत्समीपमेव गच्छामि । (इति निष्क्रान्तः ।)

संवाहकः—(सत्रासं परिक्रम्य दृष्ट्वा) एशे कश्शवि अणपावुदपक्खदुआलके गेहे । ता एत्थ पविशिश्शं । (प्रवेशं रूपयित्वा वसन्तसेनामालोक्य) अज्जे !

माथुर—मैं देख लूँगा ।

दर्दुरक—किस प्रकार देखोगे ?

माथुर—(आखें फैलाकर) इस प्रकार देखूँगा ।

(दर्दुरक धूल से माथुर की आँखें भरकर=उसकी आखों में धूल झोंक कर संवाहक को भागने का इशारा करता है । माथुर आखें पकड़ कर जमीन पर बैठ जाता है । संवाहक भाग जाता है ।)

दर्दुरक—(अपने आप) जुआ के प्रधान अध्यक्ष माथुर से मैंने विरोध कर लिया है अतः अब यहाँ रुकना ठीक नहीं है । मेरे प्रिय मित्र शर्विलक ने यह कहा है—'सिद्ध महात्मा के द्वारा बताया गया है कि आर्यक नामक गोपालपुत्र राजा बनेगा । मेरे जैसे सभी लोग उस (गोपालदारक) का अनुगमन (साथ) कर रहे हैं ।' इस लिये मैं भी उसी के पास जा रहा हूँ । (ऐसा कह कर चला जाता है ।)

टीका—खलीकर्तुम्=वञ्चितुम्, ताडयितुं वा, संशोणितम्—शोणितेन युक्तं यथा स्यात् तथा इति क्रियाविशेषणम् । विप्रतीपम्=विपरीतम् इदमपि क्रिया-विशेषणम् । पुंश्चलीपुत्र=कुलटायाः पुत्र, मार्गगतः=पथिकः सन् न तु अपराध्यन् सन्, पांशुना=धूल्यादिना, संज्ञाम्=संकेतम्, निगृह्य=गृहीत्वा अवलम्ब्य वा, विरोधितः = विरोधविषयीकृतः, शत्रुत्वं प्रापितः, युज्यते = युक्तं भवति, सिद्धा-देशेन = सिद्धिमतो महात्मनः भविष्यत्कथनेन, अस्मद्विधः = अस्मत्सदृशः निर्धनः असहायश्च लोकः ।

अर्थ—**संवाहक**—(घबराहट के साथ घूमकर देखकर) यह किसी का घर है जिसका बगल का दरवाजा खुला है । तो इसमें प्रवेश करता हूँ । (प्रवेश

शलणागदे म्हि। (एतत् कस्यापि अनपावृतपक्षद्वारकं गेहम्। तदत्र प्रविशामि। आर्ये! शरणागतोऽस्मि।)

वसन्तसेना—अभअं सरणागदस्स। हञ्जे! ढक्केहि पक्खदुआरअं। (अभयं शरणागतस्य। हञ्जे! पिधेहि पक्षद्वारकम्।)

(चेटी तथा करोति।)

वसन्तसेना—कुदो दे भअं?। (कुतस्ते भयम्?)

संवाहकः—अज्जे धणिकादो। (आर्ये! धनिकात्।)

वसन्तसेना—हञ्जे! संपदं अवावुणु पक्खदुआरअं। (हञ्जे! साम्प्रतमपावृणु पक्षद्वारकम्।)

संवाहकः—(आत्मगतम्) कधं धणिकादो तुलिदं शे भअकालणं। शुट्ठु क्खु एवं वुच्चदि— (कथं धनिकात् तुलितमस्या भयकारणम्। सुष्ठु खल्वेवमुच्यते)

जे अत्तबलं जाणिअ भालं तुलिदं वहेइ माणुस्से।
ताह खलणं ण जाअदि णअ कान्तालगदो विविज्जदि॥ १४॥

य आत्मबलं ज्ञात्वा भारं तुलितं वहति मनुष्यः।
तस्य स्खलनं न जायते न च कान्तारगतो विपद्यते॥ १४॥

एत्थ लक्खिदो म्हि। (अत्र लक्षितोऽस्मि।)

करने का अभिनय करके, वसन्तसेना को देख कर) आर्ये! आपकी शरण में आया हूँ।

वसन्तसेना—शरण में आये तुमको अभयदान है। चेटी! दरवाजा बन्द कर दो।

(चेटी दरवाज़ा बन्द करती है।)

वसन्तसेना—तुम्हें किससे भय है?

संवाहक—आर्ये! धनी आदमी से।

वसन्तसेना—चेटी! अब दरवाजा खोल दो।

संवाहक—(अपने आप) क्यों, धनिक से होने वाले भय को हल्का (साधारण) समझ रही है? यह ठीक ही कहा जाता है—

अन्वयः—यः, मनुष्यः, आत्मबलम्, ज्ञात्वा, तुलितम्, भारम्, वहति, तस्य, स्खलनम्, न, जायते, कान्तारगतः, च, सः, न, विपद्यते॥ १४॥

शब्दार्थ—यः=जो, मनुष्यः=आदमी, आत्मबलम्=अपने बल को, सामर्थ्य को ज्ञात्वा=समझ कर, तुलितम्=तौले हुये, भारम्=बोझा को, वहति=ढोता है, तस्य=उसका, स्खलनम्=पतन, गिरना, न=नहीं, जायते=होता है, च=और, कान्तारगतः=वन अथवा दुर्गम मार्ग में फँसा हुआ, सः=वह व्यक्ति, न=नहीं, विपद्यते=नष्ट होता है, मरता है॥ १४॥

माथुरः—(अक्षिणी प्रमृज्य द्यूतकरं प्रति) **अले ! देहि देहि ।** (अरे ! देहि देहि ।)

द्यूतकरः—भट्ठा ! जावदेव अम्हे दद्दुरेण कलहाइदा, तावदेव सो गोहो अवक्कन्तो । (भर्त्तः ! यावदेव वयं दर्दुरेण कलहायिताः, तावदेव स पुरुषोऽपक्रान्तः ।)

माथुरः—तस्स जूदकलस्स मुट्ठिप्पहालेण णासिका भग्गा आसि । ता एहि, रुहिरपहं अणुसरेम्ह । (तस्य द्यूतकरस्य मुष्टिप्रहारेण नासिका भग्ना आसीत् । तदेहि, रुधिरपथमनुसरावः)

(अनुसृत्य)

द्यूतकरः—भट्ठा । वसन्तसेणागेहं पविट्ठो सो । (भर्त्तः ! वसन्तसेनागेहं प्रविष्टः सः ।)

अर्थ—जो आदमी अपने सामर्थ्य को समझ कर (उसके अनुसार) तौले हुये बोझ को उठाता है वह न तो (कहीं) गिरता है और न दुर्गम मार्ग (या जंगल) में जाता हुआ मरता है=कष्ट भोगता है ॥ १४ ॥

मैं इस कथन का लक्ष्य=उदाहरण बन गया हूँ ।

टीका—यः मनुष्यः=पुरुषः, आत्मबलम्=स्वकीयं सामर्थ्यम्, ज्ञात्वा=विदित्वा, विचिन्त्य वा, तुलितम्=तुलादिना परिमापितं स्वसामर्थ्यानुरूपमिति भावः, भारम्=भारभूतं पदार्थम्, वहति=धारयति, तस्य=जनस्य, स्खलनम्=मार्गे गर्त्तादौ पतनम्, न जायते=न भवति, च=तथा, कान्तारगतः=दुर्गममार्गं गच्छन्, वनं वा गच्छन्, न=नैव, विपद्यते=विनष्टो भवति, म्रियते इति यावत् । अत्राप्रस्तुतप्रशंसालङ्कारः । आर्यावृत्तम् ॥ १४ ॥

विमर्श—आत्मबलं ज्ञात्वा—संवाहक का आशय यह है कि जो व्यक्ति अपनी स्थिति को ठीक से न समझ कर भारतुल्य त्रुटियाँ कर डालता है । उसे उनका फल भोगना ही पड़ता है । तुलितम्—उन्मानार्थक √तुल् + क्त । विपद्यते —वि + पद् + श्यन्=य + लट् प्र. पु. ए. व. ॥१४॥

अर्थ—माथुर—(आँखें साफ करके, द्यूतकर से) अरे ! दे, दे ।

द्यूतकर—जब तक हम लोग दर्दुरक से लड़ रहे थे तब तक वह पुरुष (संवाहक) भाग गया ।

माथुर—घूंसे के प्रहार से उस जुआरी की नाक फूट गयी थी (अर्थात् खून निकलने लगा था) । इस लिये, चलो, खूनी रास्ते का अनुसरण करें ।

(पीछे चलकर)

द्यूतकर— स्वामिन् ! वह वसन्तसेना के घर में घुस गया है ।

माथुरः—भूदाइं सुवण्णाइं । (भूतानि सुवर्णानि ।)

द्यूतकरः—लाअउलं गदुअ णिवेदेम्ह ? । (राजकुलं गत्वा निवेदयावः ?)

माथुरः—एस धूत्तो अदो णिक्कमिअ अण्णत्त गमिस्सदि; ता उअरोधेणेव्व गेण्हेम्ह । (एष धूर्त्त अतो निष्क्रम्य अन्यत्र गमिष्यति; तदुपरोधेनैव गृह्णीवः ।)

(वसन्तसेना मदनिकायाः संज्ञां ददाति ।)

मदनिका—कुदो अज्जो ? को वा अज्जो ? कस्स वा अज्जो ? किं वा वित्ति अज्जो उवजीअदि ? कुदो वा भअं ? । (कुत आर्य्यः ? को वा आर्य्यः ? कस्य वा आर्य्यः ? किं वा बृत्तिम् आर्य्य उपजीवति ? कुतो वा भयम् ?)

संवाहकः—शुणादु अज्जआ । अज्जे ! पाडलिउत्ते मे जन्मभूमी, गहवइदालके हग्गे, संवाहअश्श वित्ति उवजीआमि । (शृणोतु आर्य्या । आर्ये ! पाटलिपुत्रं मे जन्मभूमिः, ग्रहपति—दारकोऽहम् । संवाहकस्य वृत्तिमुपजीवामि ।)

माथुर—बहुत स्वर्ण (मिलेगें ।)

द्यूतकर—क्या राजकुल (पुलिस थाने में) सूचित कर दें ?

माथुर—यह धूर्त यहाँ से निकल कर कहीं दूसरी जगह जायगा । अतः इसे निकलने का रास्ता घेरकर ही पकड़ें ।

(वसन्तसेना मदनिका को पूछने के लिये इशारा करती है ।)

मदनिका—श्रीमान् आप कहाँ से आये हैं ? आप कौन हैं ? किसके सम्बन्धी हैं ? कौन सा व्यापार करके जीवन-यापन करते हैं ? तथा आपको किससे डर है ?

टीका—अत्र=श्लोक-प्रतिपादितार्थविषये, लक्षितः=लक्ष्यभूतः, कलहायिताः=कलहं कृतवन्तः इत्यर्थे 'शब्दवैरकलहाभ्रकण्वमेघेभ्य करणे' (पा. सू. ३.१.१७) इत्यनेन क्यङ्, ततो निष्पन्नात् नामधातोः क्त प्रत्ययः । भग्ना=विदीर्णा । रुधिरपथम्=पतितरक्तविन्दुयुक्तमार्गम्, अनुसृत्य= अनुसरणं कृत्वा । भूतानि सुवर्णानि=प्रचुराणि स्वर्णखण्डानि, मिलिष्यन्तीति शेषः । निवेदयावः=सूचयावः, अत्र काकुः । अतः=वसन्तसेनागृहात्, निष्क्रम्य=निर्गत्य, तत्=तस्मात्, उपरोधेनैव=निर्गममार्गावरोधेनैव, गृह्णीवः=धारयावः । संज्ञां ददाति=अस्य शरणागतस्य नामादिकं पृच्छेति कटाक्षेण सूचयतीत्यर्थः । कुतः=कस्मात् स्थानात् आगत इति शेषः, कस्य=कस्य सम्बन्धीतिभावः । बृत्तिम्=जीविकाम्, उपजीवति=आश्रयतीति भावः, कुतः=कस्मात् जनादिकात्, भयम्=भीतिः-इद सर्वं कथयतु इति भावः ।

अर्थ—संवाहक—आर्या ! सुनें । मेरी जन्मभूमि पटना है । मै गृहपति (ग्रामप्रधान) का पुत्र हूँ । संवाहक=शरीर दबाने की वृत्ति=नौकरी से जीविका चलाता हूँ ।

वसन्तसेना—सुउमारा क्खु कला सिक्खिदा अज्जेण। (सुकुमारा खलु कला शिक्षिता आर्य्येण।)

संवाहकः—अज्जए ! कलेत्ति सिक्खिदा, आजीविआ दाणि संवुत्ता। (आर्य्ये ! कलेति क्षिशिता, आजीविका इदानीं संवृत्ता।)

चेटी—अदिणिव्विण्णं अज्जेण पड़िवअणं दिण्णं, तदो तदो ? (अतिनिर्विण्णमार्येण प्रतिवचनं दत्तम्। ततस्ततः ?)

संवाहकः—तदो अज्जए ! एशे णिजगेहे आहिण्डकाणां मुहादो शुणिअ, अपुव्व-देश-दंशण-कुदूहलेण इह आगदे। इह वि मए पविशिअ उज्जइणि एक्के अज्जे शुश्शूशिदे, जे तालिशे पिअदंशणे पिअवादी, दइअ ण कित्तेदि, अवकिदं विशुमलेदि। किं बहुणा उत्तेण, दक्खिणदाए पलकेलअं विअ अत्ताणअं अवगच्छदि, शलणागअवच्छले अ। (तत आर्य्ये! एष निजगृहे आहिण्डकानां मुखात् श्रुत्वा अपूर्व्वदेश–दर्शन–कुतूहलेन इहागतः। इहापि मया प्रविश्य उज्जयिनीम् एक आर्य्यः शुश्रूषितः, यस्तादृशः प्रियदर्शनः, प्रियवादी, दत्वा न कीर्त्तयति, अपकृतं विस्मरति। किं बहुना उक्तेन, दक्षिणतया परकीयमिव आत्मानमगवच्छति, शरणागतवत्सलश्च।)

चेटी—को दाणि अज्जआए मणोरहन्तरस्स गुणाइं चोरिअ उज्जइणिं अलंकरेदि ?। (क इदानीमार्य्याया मनोरथान्तरस्य गुणान् चोरयित्वा उज्जयिनीमलङ्करोति ?)

वसन्तसेना—श्रीमान् ने बहुत कोमल कला सीखी है।

संवाहक—आर्ये ! कला मान कर सीखी थी, किन्तु इस समय जीविका-साधन बन गयी है।

चेटी—आपने बहुत ही दुःखपूर्वक उत्तर दिया है। इसके बाद ?

संवाहक—आर्ये ! इसके बाद, अपने घर पर आने वाले भ्रमणप्रिय लोगों के मुख से सुनकर इस अपूर्व (अद्भुत) नगरी को देखने की इच्छा से मैं यहाँ आया। यहाँ भी उज्जैन नगरी में प्रवेश करके मैंने एक आर्य=महापुरुष की सेवा (नौकरी) की, जो इतने सुन्दर, प्रियवक्ता, कि (किसी को कुछ भी) दान करके उसके बारे में प्रचार नहीं करते हैं, अपकार को भूल जाने वाले हैं। (किसी से बदला लेने वाले नहीं है।) अधिक कहने से क्या लाभ ? अत्यधिक उदार होने के कारण वे अपने को भी (आत्मा को भी) दूसरे का सा समझते हैं (अर्थात् स्वार्थपरता का पूर्ण अभाव है) और शरण में आने वालों की स्नेह से रक्षा करने वाले हैं।

चेटी—आर्या (वसन्तसेना) के मनोभिलषित (चारुदत्त) के गुणों को चुरा कर इस समय कौन उज्जैन नगरी को सुशोभित कर रहा है ?

वसन्तसेना—साहु, हञ्जे ! साहु ! मए वि एव्वं ज्जेव हिअएण मन्तिदं। (साधु हञ्जे ! साधु। मयापि एवमेव हृदयेन मन्त्रितम्।)

चेटी—अज्ज ! तदो तदो ? (आर्य्य ! ततस्ततः ?)

संवाहकः—अज्जए ! शे दाणिं अणुक्कोशकिदेहिं पदाणेहिं······ ! (आर्ये ! स इदानीमनुक्रोशकृतैः प्रदानैः······ !)

वसन्तसेना—किं उवरदविहवो संवुत्तो ? (किमुपरतविभवः संवृत्तः ?)

संवाहकः—अणाजक्खिदे ज्जेव कधं अज्जआए विण्णादं ? । (अनाख्यातमेव कथमार्यया विज्ञातम् ?)

वसन्तसेना—किं एत्थ जाणीअदि। दुल्लहा गुणा विहवा अ। अपेएसु तडाएसु बहुदरं उदअं भोदि। (किमत्र ज्ञायते। दुर्लभा गुणा विभवाश्च। आपेयेषु तडागेषु बहुतरमुदकं भवति।)

चेटी—अज्ज ! किंणामधेओ क्खु सो ? । (आर्य ! किंनामधेयः खलु सः ?)

वसन्तसेना—वाह दासी ! वाह। मैंने भी मन में ऐसा ही सोचा।

टीका—पाटलिपुत्रम्=एतन्नामकं स्थानम्, गृहपतिदारकः=गृहपतिर्ग्रामाध्यक्षः इति पृथ्वीधरः, तस्य ग्रामाध्यक्षस्य पुत्रः, संवाहकस्य=संवाहयति=मर्दयति-इति संवाहकः शरीरयन्त्रमर्दकः तस्य, सुकुमारा=अतीवकोमला, कला=विद्या, आजीविका=आजीवयतीति, जीवनपालनसाधनम्, अतिनिर्विण्णम्=अति=अत्यधिकम्, निर्विण्णः=खेदो यस्मिन् तत् महाखेदयुतम्, आहिण्डकानाम्=स्वगृहपर्यटकानां जनानाम्, विभिन्नस्थानावलोकनार्थं भ्रमणप्रियाणां वा, अपूर्वस्य=अद्भुतस्य, देशस्य=नगरस्य, दर्शनस्य=अवलोकनस्य, कुतूहलेन=औत्सुक्येन, इह=अत्र उज्जयिन्याम्, एकः=पूज्यत्वात् अगृहीतनामा, प्रियदर्शनः=सुरूपः, कीर्त्तयति=प्रचारयति, अपकृतम्=अपकारम्, दक्षिणतया=उदारतया, परकीयमिव=अन्यदीयमिव, शरणागतानाम्=रक्षार्थमाश्रितानाम् वत्सलः=अनुरागी, मनोरथान्तरस्य=मनोरथस्यान्तरः, तस्य, मनोरथाभिमुखस्येत्यर्थः, अलङ्करोति=विभूषयतीत्यत्र काकुः, मन्त्रितम्=चिन्तितम् ॥

अर्थ—**चेटी**—आर्य ! इसके बाद ?

संवाहक—आर्ये ! वे इस समय करुणावश किये गये दानों के कारण······ ।

वसन्तसेना—क्या निर्धन हो गये ?

संवाहक—बिना कहे हुये ही आप कैसे समझ गयीं ?

वसन्तसेना—इसमें जानना क्या ? सद्गुणों और धन का (एक व्यक्ति में) मिलना कठिन है। जिनका पानी नहीं पीने योग्य=अपेय होता है उन्हीं तालाबों में खूब पानी रहता है।

चेटी—आर्य ! उन महानुभाव का नाम क्या है ?

संवाहकः—अज्जे ! के दाणिं तश्श भूदल-मिअंकस्स णामं ण जाणादि। शो क्खु शेट्ठिचत्तले पडिवशदि शलाहणिज्जणामधेए अज्जचालुदत्ते णाम। (आर्ये ! क इदानीं तस्य भूतलमृगाङ्कस्य नाम न जानाति। स खलु श्रेष्ठिचत्वरे प्रतिवसति श्लाघनीयनामधेय आर्यचारुदत्तो नाम।)

वसन्तसेना—(सहर्षमासनादवतीर्य्य) अज्जस्स अत्तणकेरकं एदं गेहं ! हञ्जे ! देहि अस्स आसणं, तालवेण्टअं गेण्ह। परिस्समो अज्जस्स बाधेदि। (आर्यस्य आत्मीयमेतद्गेहम्। हञ्जे ! देहि अस्य आसनम्, तालवृन्तकं गृहाण, परिश्रम आर्यस्य बाधते।)

संवाहक—आर्ये ! पृथ्वीतल के चन्द्रमा उनका नाम कौन नहीं जानता है। (अर्थात् चन्द्रतुल्य सुख देने वाले चारुदत्त के नाम से सभी परिचित हैं।) वे सेठों (धनिकों) के चौक (बस्ती) में रहते हैं। प्रशंसनीय नामवाले वे पूज्य चारुदत्त जी हैं।

टीका—अनुक्रोशकृतैः=अनुक्रोशः=करुणा, तया सम्पादितैः, करुणार्द्रतया विहितैरिति भावः, प्रदानैः=विपुलदानैः, उपरतविभवः=उपरतः=समाप्तः विभवः=धनादिकं यस्य सः निर्धन इत्यर्थः, अनाख्यातमेव=अकथितमेव, अत्र=अस्मिन् विषये, दुर्लभाः=एकस्मिन् पुरुषे सद्गुणानां धनादीनां च स्थितिर्दुष्प्राप्येति भावः, अपेयेषु=दूषणतया पातुमयोग्येषु, तडागेषु=जलाशयेषु, बहुतरम्=अत्यधिकम्, उदकम्=जलम्, भूतलमृगाङ्कस्य=मृगः छाया अङ्के यस्य सः मृगाङ्कः, भूतलस्य=पृथिव्याः चन्द्र इत्यर्थः, श्लाघनीयम्=प्रशंसनीयं नामधेयं यस्य सः, चारु=सुन्दर यथा स्यात् दत्तं येन सः चारुदत्तः इत्यन्वर्थकनामा महापुरुषो वर्तते।

विमर्श—अनुक्रोशकृतैः प्रदानैः······। अनुक्रोश—करुणा, करुणावश किये गये अनवरत दानों से—यह बहुवचन साभिप्राय है। दुर्लभा गुणा विभवाश्च—संसार में गुणवान् अपने सद्गुणों के कारण नश्वर धन का संग्रह नहीं करते हैं। धन सदैव उसी के पास रहता है जो कंजूस है। भूतलमृगाङ्कस्य—पृथिवी के चन्द्रमा। चन्द्रमा जिस प्रकार सभी को सुख देता है उसी प्रकार ये भी सभी को सुख देने वाले ही हैं। दूसरे की सुखचिन्ता ही प्रधान मानने वाले। श्लाघनीयनामधेयः=जिनका नाम प्रशंसा करने योग्य, चारुदत्तः—चारु=अच्छा, सन्तोषजनक, दत्त=दान है जिनका, अर्थात् जो सभी को सन्तुष्ट करने लायक दान देने वाले अन्वर्थक नाम वाले—चारुदत्त हैं।

वसन्तसेना—(प्रसन्नता के साथ अपने आसन से उतर कर) आर्य ! यह आपका अपना ही घर है। दासी ! इन्हें बैठने के लिये आसन दो। पंखा लो (इन पर हवा करो।) आर्य ! आपको थकावट कष्ट दे रही है। (अतः आराम कर लो।)

(चेटी तथा करोति)

संवाहकः—(स्वगतम्) **कधं अज्जचालुदत्तस्स णामशङ्कीत्तणेण ईदिशे मे आदले। शाहु, अज्जचालुदत्त ! शाहु, पुहवीए तुमं एक्के जीवशि शेशे उण जणे शशदि।** (इति पादयोर्निपत्य) **भोदु, अज्जए ! भोदु। आशणे णिशीददु अज्जआ !** (कथम् आर्यचारुदत्तस्य नामसङ्कीर्तनेन ईदृशो मे आदरः। साधु, आर्यचारुदत्त ! साधु, पृथिव्यां त्वमेको जीवसि; शेषः पुनर्जनः श्वसिति। भवतु, आर्ये ! भवतु, आसने निषीदतु आर्या।)

वसन्तसेना—(आसने समुपविश्य) **अज्ज ! कुदो सो धणिओ ?** (आर्य ! कुतः स धनिकः ?)

(चेटी उसी प्रकार करती है।)

संवाहक—(अपने आप) आर्य चारुदत्त का नाम ले लेने से ही मेरा इतना आदर क्यों ? धन्य हो आर्य चारुदत्त ! धन्य हो। इस पृथिवी पर अकेला तुम्हारा ही जीना सफल है और दूसरे लोग तो सांसें भर रहे हैं। (इस प्रकार वसन्तसेना के पैरों पर गिर कर) बहुत हो गया आर्ये ! बहुत हो गया (बस करें), अब आप अपने आसन पर बैठ जांय।

वसन्तसेना—(आसन पर बैठ कर) आर्य ! वे धनी कैसे रह सकते ? (अर्थात् दानी चारुदत्त का धनी रह सकना सम्भव ही नहीं है।)

टीका—आत्मीयम्=स्वकीयमेवेत्यर्थः। अस्य=अस्मै, आर्यस्य=श्रीमतः, कर्मत्वाविवक्षायां षष्ठी, ईदृशः=वसन्तसेनाऽपि सत्कारलग्ना जातेति भावः, जीवसि=सफलं जीवनं धारयसि, श्वसिति=चर्मभस्त्रावत् केवलं श्वासोच्छ्वासं करोति, निषीदतु=तिष्ठतु। आर्य ! कुतः स धनिकः ? सस्तादृशो दानी केन प्रकारेण धनी भवितुमर्हति, अतस्तस्य महानुभावस्य दरिद्रत्वं निश्चितमिति भावः। केचन 'कुतः सः धनिकः' इत्यस्येयं व्याख्यां कुर्वन्ति 'कस्मात् स्थानात् कारणाद् वा स धनिकः त्वां पीडयति'—परन्तु उत्तरवाक्यैरसङ्गत्या नेदं युज्यते, उत्तरे चारुदत्तस्यैव यशोवर्णनादिति तत्त्वम्।

विमर्श—आत्मीयम्—वसन्तसेना ने जब संवाहक को चारुदत्त का सेवक समझ लिया तो उसका स्नेह उमड़ पड़ा। और वह अपने घर को उसी का घर मानने के लिये कहने लगी, अतः भय का कोई कारणनहीं है। 'आर्य ! कुतः स धनिकः ?' इसका प्रसंगानुकूल यही अर्थ है–आर्य, अत्यन्त दानी होने से आर्य चारुदत्त धनी कैसे रह सकते हैं।' कुछ लोगों ने 'वह पकड़ने वाला धनिक कहाँ से आ रहा है' यह अर्थ किया है। परन्तु आगे के श्लोक में पुनः चारुदत्त की हीं प्रशंसा करने के कारण यहाँ भी 'धनिकः' का सम्बन्ध चारुदत्त से ही करना तर्कसंगत है।

संवाहकः---शक्कालधणे क्खु सज्जणे काह ण होइ चलाचले धणे ? ।
जे पूइदुं पि जाणादि शे पूआविशेशं पि जाणादि ॥ १५ ॥
(सत्कारधनः खलु सज्जनः कस्य न भवति चलाचलं धनम् ।
यः पूजयितुमपि जानाति स पूजाविशेषमपि जानाति ॥ १५ ॥)

अन्वयः---सज्जनः, सत्कारधनः, खलु, (भवति), कस्य, धनम्, चलाचलम्, न, भवति ? यः पूजयितुम्, अपि, न, जानाति, सः, पूजाविशेषम्, अपि जानाति ; (न जानातीति भावः) ॥ १५ ॥

शब्दार्थ---सज्जनः=सत्पुरुष, सत्कारधनः=दूसरों का सत्काररूपी धनवाला, खलु=निश्चित रूप से, भवति=होता है, (अर्थात् उसका धन है दूसरों का सत्कार करना), कस्य=किसका, धनम्=धन, चलाचलम्=चञ्चल, न=नहीं, भवति ?= होता है ? अर्थात् अवश्य होता है; यः= जो व्यक्ति, पूजयितुम्=सामान्यरूप से, पूजा=सम्मान करना, अपि=भी, न=नहीं, जानाति=जानता है, सः=वह व्यक्ति, पूजाविशेषम्=सम्मान के प्रकारविशेष को भी, जानाति ? = क्या जानता है ? अर्थात् नहीं जानता है ॥ १५ ॥

अर्थ---संवाहक---दूसरों का सत्कार करना ही सज्जन व्यक्ति का धन होता है। किसका धन अस्थिर=विनाशी नहीं है ? अर्थात् सभी का धन नश्वर होता है। जो व्यक्ति सामान्य सम्मान करना भी नहीं जानता है वह क्या सम्मान के विशेष प्रकार को जानता है ? अर्थात् नहीं जानता है ॥ १५ ॥

टीका---सज्जनः=सत्पुरुषः, सत्कारधनः=परेषां सत्कारः=सम्मानमेव धनं यस्य सः, खलु=निश्चयेन, भवति, कस्य जनस्य, धनम्=लक्ष्मीः, चलाचलम्=अत्यन्तं चञ्चलमस्थिरम् न भवति=नैव वर्तते, अर्थात् सर्वस्यापि धनं कदाचित् नश्यति एव। सज्जनत्वं धनमूलकं नैव भवति, अपि तु गुणमूलकमेवेति भावः। यः=पुरुषः, पूजयितुम्=सामान्यतया सभाजयितुं सत्कर्तुम्, न=नैव, जानाति=वेत्ति, सः=तादृशो जनः, पूजाविशेषम्=पूजायाः=सम्मानस्य, विशेषम्=प्रकारभेदम्, अपि जानाति किम् ? अर्थात् नैव जानातीति भावः, विशेषज्ञानस्य सामान्यज्ञानपूर्वकत्वनियमादिति भावः। अत्राप्रस्तुतप्रशंसालङ्कारः। मात्रासमकं वृत्तम् ॥ १५ ॥

विमर्श---सत्कारधनः--सज्जन व्यक्ति की धनवत्ता लक्ष्मी से नहीं होती है अपितु दूसरों का सत्कार करने से। इसलिये सज्जनत्व को धनमूलक न समझकर गुणमूलक ही समझना चाहिये। अतः चारुदत्त निर्धन नहीं है क्योंकि वह अभी भी दूसरों का पूर्ण सम्मान करता है। पूजाविशेषमपि जानाति--जिस व्यक्ति को सम्मान करने का साधारण रूप भी नहीं मालूम रहता है वह विशेषरीति से सम्मान करना किसी भी प्रकार नहीं जान सकता है। क्योंकि सामान्यज्ञान के बाद ही

वसन्तसेना--तदो तदो ? । (ततस्ततः ?)

संवाहकः--तदो, तेण अज्जेण शवित्ती पलिचालके किदोम्हि । चालित्तावशेसे अ तस्सिं जूदोवजीवि म्हि शंबुत्ते । तदो, भाअधेअविस-मदाए दश शुवण्णअं जूदे हालिदं । (ततः तेन आर्येण सवृत्तिः परिचारकः कृतोऽस्मि । चारित्र्यावशेषे च तस्मिन् द्यूतोपजीवी अस्मि संवृत्तः । ततो भागधेय-विषमतया दशसुवर्णं द्यूते हारितम् ।)

माथुरः–उच्छादिदो म्हि । मुसिदो म्हि । (उत्सादितोऽस्मि मुषितोस्मि ।)

संवाहकः--एदे दे शहिअ-जूदिअला मं अणुशंधअन्ति । शंपदं शुणिअ अज्जआ पमाणं । (एतौ तौ सभिकद्यूतकरौ मामनुसन्धत्तः । साम्प्रतं श्रुत्वा आर्या प्रमाणम् ।)

वसन्तसेना -- मदणिए ! वास-पादव-विशण्ठुलदाए पक्खिणो इदो तदो वि आहिण्डन्ति । हञ्जे ! ता गच्छ, एदाणं सहिअजूदिअराणं 'अअं अज्जो ज्जेव पडिवादेदि' त्ति इमं हत्थाभरणं तुमं देहि । (मदनिके ! वास-पादप-विसंष्ठुलतया पक्षिण इतस्ततोऽपि आहिण्डन्ते । हञ्जे ! तद् गच्छ, एतयोः सभिक-द्यूतकरयोः, 'अयमार्य एव प्रतिपादयति' इति इदं हस्ताभरणं त्वं देहि ।) [इति हस्तात् कटकमाकृष्य चेटयाः प्रयच्छति ।]

विशेष ज्ञान सम्भव है । यहाँ अप्रस्तुतप्रशंसा अलंकार है । मात्रासमक वैतालीय छन्द है । इसका लक्षण –

षड् विषमेऽष्टौ समे कलास्ताश्च समे स्युर्नो निरन्तराः ।
न समाऽत्र पराश्रिता कला, वैतालीयेऽन्ते रलौ गुरू ।। १५ ।।

अर्थ--वसन्तसेना--इसके बाद ?

संवाहक--इसके बाद उन महानुभाव ने समुचित वेतन पर मुझे नौकर बना लिया । कुछ समय बाद उनकी केवल सच्चरिता ही बच पायी थी, धन नष्ट हो गया था, अर्थात् जब वे निर्धन बन गये तब मैं जुआरी बन गया । इसके बाद दुर्भाग्य से जुये में दश स्वर्ण (सिक्के) हार गया ।

माथुर--मेरा नाश हो गया, मैं लुट गया ।

संवाहक--ये सभिक (द्यूतक्रीडाध्यक्ष) और जुआरी मुझे खोज रहे हैं । अब इसको सुनकर आर्या जो उचित समझें, करें ।

वसन्तसेना--मदनिके । (आश्रय=बसेरा वाले) वास-वृक्ष के सूख जाने पर या हिल जाने पर पक्षीगण इधर-उधर भी भटकने लगते हैं । दासी ! जाओ, 'आर्य संवाहक ही दे रहें हैं' ऐसा कहकर सभिक (द्यूतक्रीडाध्यक्ष) और जुआरी को यह हाथ का आभूषण (कंगन) तुम दे दो । (ऐसा कहकर हाथ से उतार कर कंगन दासी को देती है ।)

चेटी—(गृहीत्वा) जं अज्जआ आणवेदि । (यदार्या आज्ञापयति ।)

(इति निष्क्रान्ता ।)

माथुरः—उच्छादिदो म्हि, मुसिदो म्हि । (उत्सादितोऽस्मि, मुषितोऽस्मि ।)

चेटी—जधा एदे उद्धं पेक्खन्ति, दीहं णीससन्ति, विसूरअन्ति अहिलहन्ति अ दुआर-णिहिद-लोअणा; तधा तक्केमि—एदे दे सहिअजूदिअरा हुविस्सन्ति । (उपगम्य) अज्ज ! वन्दामि । (यथा एतौ ऊर्ध्वं प्रेक्षेते, दीर्घं निश्वसितः, विचारयतः अभिलपतश्च द्वारनिहितलोचनौ, तथा तर्कयामि—एतौ तौ सभिकद्यूतकरौ भविष्यतः । आर्य ! वन्दे ।)

माथुरः सुहं तुए होदु । (सुखं तव भवतु ।)

चेटी—अज्ज ! कदमो तुह्माणं सहिओ ? । (आर्य ! कतरो युवयोः सभिकः ?)

माथुरः—कस्स तुमं तणुमज्झे ! अहरेण रद-दट्ठ-दुव्विणीदेण ।
जप्पसि मणहल-वअणं आलोअन्ती कडक्खेण ।। १६ ।।

चेटी—(लेकर) आप की जैसी आज्ञा । (इस प्रकार निकल जाती है ।)

टीका—उत्सादितः=उत्सन्नताम्—विनाशतां प्रापितः, मुषितः=दशस्वर्णानि अपहृत्य पलायितेन संवाहकेन चोरितः, वञ्चितः इति भावः, अनुसन्धत्तः=अन्वेषयन्तौ अनुसरतः, प्रमाणम्=निर्णयकर्त्री, वासपादपविसंष्ठुलतया=अस्थिरतया शुष्कतयेति भावार्थः, आहिण्डन्ते=भ्राम्यन्ति, प्रतिपादयति=ददाति ।

अर्थ—माथुर—मैं मार डाला गया, मैं लूट लिया गया ।

चेटी—चूंकि ये दोनों ऊपर देख रहे हैं, लम्बी सांसें (आहें) ले रहे हैं, विचार कर रहे हैं,) दरवाजे की ओर आखें गड़ाये हुये (देखते हुये) आपस में बातचीत कर रहे हैं । इसलिये मैं सोच रही हूँ कि ये दोनों सभिक और जुआरी ही होंगे । (पास जाकर) आर्य ! प्रणाम करती हूँ ।

माथुर—तुम्हें सुख मिले, (खुश रहो ।)

चेटी—आर्य ! आप दोनों में सभिक (द्यूतक्रीडाध्यक्ष) कौन है ?

अन्वयः—तनुमध्ये ! कटाक्षेण, आलोकयन्ती, त्वम्, रतदष्ट-दुर्विनीतेन, अधरेण, मनोहरवचनम्, कस्य, जल्पसि ? ।। १६ ।।

शब्दार्थ—तनुमध्ये !=हे पतली कमरवाली सुन्दरि, कटाक्षेण=तिरछी नजर से, आलोकयन्ती=देखती हुई, त्वम्=तुम, रतदष्टदुर्विनीतेन=संभोगकाल में काटे गये और चञ्चल, अधरेण=होंठ से, मनोहरवचनम्=मीठी-मीठी बातें, कस्य=किससे, जल्पसि=कर रही हो ? ।। १६ ।।

अर्थ—हे पतली कमरवाली सुन्दरि ! तिरछी नजर से देखती हुई तुम

(कस्य त्वं तनुमध्ये ! अधरेण रत-दष्टदुर्विनीतेन ।
जल्पसि मनोहरवचनमालोकयन्ती कटाक्षेण ।। १६ ।।)

णत्थि मम विहवो, अण्णत्त व्वज । (नास्ति मम विभवः, अन्यत्र ब्रज ।)

चेटी--जइ ईदिसाइं ण मन्तेसि, ता ण होसि जूदिअरो । अत्थि को वि तुम्हाणं धारओ ? (यदि ईदृशानि ननु मन्त्रयसि, तदा न भवसि द्यूतकरः । अस्ति कोऽपि युष्माकं धारकः ?)

माथुरः– अत्थि, दशसुवण्णं धालेदि । किं तस्य ? । (अस्ति, दशसुवर्णं धारयति । किं तस्य ?)

चेटी—तस्स कारणादो अज्जआ इमं हत्थाभरणं पड़िवादेदि । ण हि

सम्भोग काल में काटे गये और चञ्चल ओष्ठ से मन को खुश करने वाली बातें किससे कर रही हो ? ।। १६ ।।

मेरे पास धन नहीं है । किसी दूसरे के पास जाओ ?

टीका--तनुमध्ये=तनु=क्षामम्, मध्यम्=उदरं कटिप्रदेश इति यावत्, यस्याः तत्सम्बुद्धौ, कृशोदरि ! इत्यर्थः, कटाक्षेण = वक्रदृष्टचा, आलोकयन्ती=पश्यन्ती, त्वम्=चेटी, रतदष्टदुर्विनीतेन=रते=सम्भोगे दष्टः=कृतन्तक्षतः, दुर्विनीतश्च=अत्यन्तचञ्चलश्च यस्तेन, तादृशेन, अधरेण=निम्नोष्ठेन, मनोहरम्=मधुरम्, चित्ताकर्षकम्, कस्य=कम् सम्बन्धविवक्षायां षष्ठी, जल्पसि=वदसि ? तवायं भ्रमः यत् आवां धनिकावागतः । अतोऽन्यं कञ्चन धनिकं गत्वा मधुरवचनैराकर्षयेति भावः । आर्यां वृत्तम् ।। १६ ।।

विमर्श--रतदष्टदुर्विनीतेन—रत=संभाग में, दष्ट—√दंश+क्त काटे गये, और दुर्विनीत धृष्ट, लाक्षणिकार्थ है--अत्यन्त चञ्चल । कस्य-इसका भाव कुछ विद्वानों ने 'असि' जोड़ कर किया है · कस्य दासी असि ?' किसकी सेविका हो ? परन्तु इसमें अध्याहार करने आदि की अपेक्षा कर्मत्व की अविवक्षा करके सम्बन्ध-सामान्य में षष्ठी मानकर--कस्य जल्पसि ? किससे बातें कर रही हो ? यह अर्थ करना अधिक तर्कसंगत है । इसमें आर्या छन्द है । लक्षण--

यस्याः प्रथमे पादे द्वादशमात्रास्तथा तृतीयेपि ।
अष्टादश द्वितीये चतुर्थके पञ्चदश साऽऽर्या ।। १६ ।।

अर्थ--चेटी--यदि इस प्रकार की बातें कर रहे हो तो जुआरी नहीं हो सकते । क्या तुम्हारा कोई कर्जदार भी है ?

माथुर--है, दश स्वर्ण (खण्ड या सिक्के) उस पर उधार हैं । उसका क्या ?

चेटी--उसी के कारण आर्या (वसन्तसेना) ने यह हाथ का गहना दिया

ण हि, सो ज्जेव पड़िवादेदि। (तस्य कारणात् आर्या इदं हस्ताभरणं प्रतिपादयति। नहि नहि, स एव प्रतिपादयति।)

माथुरः—(सहर्षं गृहीत्वा) **अले ! भणेशि तं कुलपुत्तं—'भूदं तुए गण्डे। आअच्छ, पुणो जूदं रमअ।'** (अरे ! भणिष्यसि तं कुलपुत्रम्—'भूतस्तव गण्डः, आगच्छ पुनर्द्यूतं रमय ।)

(इति निष्क्रान्तौ।)

चेटी—(वसन्तसेनामुपसृत्य) **अज्जए ! पडितुट्टा गदा सहिअजूदिअरा।** (आर्ये ! परितुष्टौ गतौ सभिक-द्यूतकरौ।)

वसन्तसेना—ता गच्छदु, अज्ज बन्धुअणो समस्ससदु। (तद्गच्छतु, अद्य बन्धुजनः समाश्वसितु।)

संवाहकः—अज्जए ! जइ एव्वं, ता इअं कला पलिअणहत्थगदा कलीअदु। (आर्ये ! यद्येवम्, तदियं कला परिजनहस्तगता क्रियताम्।)

वसन्तसेना—अज्ज ! जस्स कारणादो इअं कला सिक्खीअदि, सो ज्जेव अज्जेण सुस्सूसिद-पुरुव्वो सुस्सूसिदव्वो। (आर्य ! यस्य कारणादियं कला शिक्ष्यते, स एव आर्येण शुश्रूषितपूर्वः शुश्रूषितव्यः।)

है। नहीं, नहीं, उसी ने दिया है।

माथुर—(बड़ी खुशी से लेकर) अरी, उस कुलीन व्यक्ति से कह देना—'तुम्हारा वादा पूरा हो गया, आओ फिर से जुआ खेलो।'

(यह कह कर दोनों निकल जाते हैं।)

चेटी—(वसन्तसेना के पास जाकर) आर्ये ! सभिक और जुआरी दोनों सन्तुष्ट होकर चले गये।

वसन्तसेना—तो आप भी जायँ, आज आपके बन्धु लोग समाश्वस्त (निश्चिन्त) हो जायँ।

संवाहक—आर्ये ! यदि ऐसा है तो यह कला अपनी नौकरानी को (मेरे द्वारा) सिखलवा दें। (अथवा मुझ नौकर को अपनी सेवा का अवसर दें।)

वसन्तसेना—आर्य ! जिसके कारण यह कला सीखी, श्रीमान् जी उस पूर्व सेवित (चारुदत्त) की ही सेवा करो।

टीका—धारकः=अधमर्णः, प्रतिपादयति=ददाति, गण्डः=पुनर्दानाय वाचिको निश्चयः, परितुष्टौ=सन्तुष्टौ समाश्वसितु=समाश्वस्तो भवतु, परिजनहस्तगता=स्वकीयकिंकरहस्तगता शिक्षिता क्रियतामित्यर्थः यद्वा मद्रूपपरिजनहस्तगता=पुनः तत्कलायां प्रवृत्तो स्यामिति अनुग्रहः क्रियताम्, पूर्वं शुश्रूषित=सेवितः शुश्रूषितव्यः=सेवितव्यः, 'न तु निर्धनतया तं परित्यज्यान्यो जनः सेवितव्य इति भावः।

संवाहकः—(स्वगतम्) अज्जआए णिउणं पच्चादिट्ठो म्हि । कधं पच्चु- वकलिश्शं ! । (प्रकाशम्) अज्जए ! अहं एदिणा जूदिअलावमाणेण शक्क- शमणके हुविश्शं । ता संवाहके जूदिअले शक्कशमणके शंवुत्तेति शुमिल- दव्वा अज्जआए एदे अक्खलु । (आर्यया निपुणं प्रत्यादिष्टोऽस्मि । कथं प्रत्यु- पकरिष्ये ? । आर्ये ! अहमेतेन द्यूतकरापमानेन शाक्यश्रमणको भविष्यामि । तत् संवाहको द्यूतकरः शाक्यश्रमणकः संवृत इति स्मर्त्तव्यानि आर्यया एतानि अक्षराणि ।)

वसन्तसेना—अज्ज ! अलं साहसेण । (आर्य ! अलं साहसेन ।)

संवाहकः—अज्जए ! कले णिच्चए । (इति परिक्रम्य) (आर्ये ! कृतो निश्चयः ।)

जूदेण तं कदं मे जं वीहत्थं जणश्श शव्वश्श ।
एण्हि पाअडशीशे णलिन्दमग्गेण विहलिश्शं ॥ १७ ॥

संवाहक—(अपने आप में) आर्या (वसन्तसेना) ने बड़ी चतुरता के साथ अस्वीकार कर दिया है । किस प्रकार प्रत्युपकार करूँ ? (प्रकट रूप से) आर्ये ! मैं इस जुआरी द्वारा किये गये अपमान के कारण बौद्ध संन्यासी बन जाऊँगा । 'जुआरी संवाहक बौद्ध संन्यासी बन गया' इन अक्षरों (शब्दों) को आप अवश्य याद रखना ।

वसन्तसेना—इतनी शीघ्रता मत करो (अर्थात् संन्यासी मत बन जाओ ।)

संवाहक—आर्ये ! मैंने निश्चय कर लिया है (यह कह कर घूमकर)

अन्वयः—द्यूतेन, मम, तत्, कृतम्, यत्, सर्वस्य, जनस्य, विहस्तम्, इदानीम्, प्रकटशीर्षः, नरेन्द्रमार्गेण, विहरिष्यामि ॥ १७ ॥

शब्दार्थः—द्यूतेन=जुआ ने, मम=मेरा, तत्=वह कर दिया है, यत्=जो, सर्वस्य=सभी, जनस्य=लोगों की, विहस्तम्=हाथ की पहुँच के परे । इदानीम्= अब ऋण मुक्त होता हुआ, मैं, प्रकटशीर्षः=सिर ऊँचा किये हुये, नरेन्द्रमार्गेण= राजमार्ग से, विहरिष्यामि=घूमूँगा ॥ १७ ॥

अर्थ—जुआ ने मेरी वह हालत कर डाली है जहाँ तक कोई नहीं पहुँचता । अब (कर्जमुक्त होकर) सिर उठाये हुये मैं राजमार्ग पर घूम सकूँगा ॥१७॥

टीका—द्यूतेन=द्यूतक्रीडनेन, मम=संवाहकस्य, तत्, कृतम्=विहितम्, यत्, सर्वस्य जनस्य=लोकस्य, विहस्तम्=विगतः हस्तो यत्र तत् हस्तशक्तिबहिर्भूतम्, यत्र कर्मणि कस्यापि हस्तो न समर्थः तत् मत्कृते द्यूतेन सम्पादितमिति भावः । यद्वा—विहस्तव्याकुलौ समौ, इत्यमरकोशमनुरुध्य—सर्वस्य जनस्य विहस्तम्= व्याकुलम्, अपमानितमिति भावः । अत्र यदि विहसितं सर्वस्य जनस्य' इति

(द्यूतेन तत् कृतं मे यद्विहस्तं जनस्य सर्वस्य ।
इदानीं प्रकटशीर्षो नरेन्द्रमार्गेण विहरिष्यामि ।। १७ ।।

(नेपथ्ये कलकलः)

संवाहकः——(आकर्ण्य) अले ! किं ण्णेदं ! (आकाशे) किं भणाध ? 'एशे क्खु वसन्तशेणाआए खुण्टमोडके णाम दुट्टहत्थी विअलेदि'त्ति । अहो ! अज्जआए गन्धगअं पेक्खिश्शं गदुअ । अहवा किं मम एदिणा । जधाववशिदं अणुचिट्ठिश्शं । (अरे किं विन्दम् ? किं भणथ ? एत्र खलु वसन्तसेनायाः खुण्टमोडको नाम दुष्टहस्ती विकलयतीति । अहो ! आर्याया गन्धगजं प्रेक्षिष्ये गत्वा । अथवा, किं मम एतेन, यथाव्यवसितमनुष्ठास्यामि ।)

(इति निष्क्रान्तः ।)

पाठःस्यात् तदा अर्थबोधः सुकरः । सर्वजनस्य यद् विहस्तं—हस्तशब्देन हस्तशस्त्रम्, विगतहस्तशस्त्रं भवति—निर्भयमित्यर्थः इति लल्लादीक्षितः । इदानीम्=द्यूतदेयदशसुवर्णसमर्पणानन्तरं साम्प्रतम्, प्रकटशीर्षः=प्रकटम्=उन्नमितम्, यद्वा ऋणमुक्तत्वात् भिक्षुकतया कस्मादप्यभीतेः, प्रकाशितम्, शीर्षम्=मस्तकं यस्य सः तथाभूतः, नरेन्द्रमार्गेण=राजपथेन, विहरिष्यामि=सञ्चरिष्यामि । अत्रार्यावृत्तम् ।।१७।।

विमर्शः——इस श्लोक में 'वीहत्थम्' प्राकृत का 'विहस्तम्'—संस्कृतरूप है। इसके अर्थ पर विवाद है। विगतः हस्तः यस्मिन् कर्मणि तत् जहाँ किसी का हाथ नहीं पहुँच पाता है, ऐसा दुष्कर कार्य कर डाला । (२) 'विहस्तव्याकुलौ समौ' इस अमरकोश के अनुसार —व्याकुल—भावप्रधाननिर्देश मानकर——व्याकुलत्वं कृतम् । लल्लादीक्षितने—हस्तशब्देन हस्तशस्त्रं विगतहस्तशस्त्रं भवति निर्भयमित्यर्थः। वास्तव में इसका सीधा अर्थ कठिन ही है । यदि किसी प्रकार यहाँ 'विहसितम्' अथवा कुछ लोगों द्वारा स्वीकृत 'बीभत्सम्' पाठ मान लिया जाय तो अर्थबोध में कठिनता नहीं होगी । द्यूत ने मेरा यह किया कि सभी लोग मुझ पर हसने लगे । अथवा बीभत्स कर दिया—कि अब संन्यासी बनने के अतिरिक्त कोई रास्ता नहीं रह गया है । चूंकि कर्जा उतर गया है अतः मुक्त होकर शिर मुड़ा कर अथवा उठाकर घूमने में कोई भय नहीं है ।। १७ ।।

(नेपथ्य में कोलाहल)

अर्थ——संवाहक——(सुन कर) अरे ! यह क्या है ? (आकाश में—ऊपर की ओर) क्या कह रहे हो——वसन्तसेना का खुण्टमोडक नामक दुष्ट हाथी घूम रहा है । अहो ! आर्या के मदगंधवाले हाथी को देखता हूँ । अथवा, मुझे इससे क्या ? निश्चय के अनुसार काम करूँगा (अर्थात् संन्यासी बन जाऊँगा ।)

(यह कह कर निकल जाता है ।)

(ततः प्रविशति अपटीक्षेपेण प्रहृष्टो विकटोज्ज्वलवेषः कर्णपूरकः ।)

कर्णपूरकः——कहिं ! कहिं अज्जआ ? (कस्मिन् कस्मिन् आर्या ?)

चेटी——दुम्मणुस्स ! किं ते उव्वेअकारणं जं अग्गदोवठ्ठिदं अज्जअं ण पेक्खसि ? (दुर्मनुष्य ! किं ते उद्वेगकारणम् यदग्रतोऽवस्थितामार्यां न प्रेक्षसे ?)

कर्णपूरकः——(दृष्ट्वा) अज्जए ! वन्दामि । (आर्ये ! वन्दे ।)

वसन्तसेना——कण्णऊरअ ! परितुट्ठमुहो लक्खीअदि, ता किं ण्णेदं ?) (कर्णपूरक ! परितुष्टमुखो लक्ष्यसे, तत् किन्विदम् ?)

कर्णपूरकः—(सविस्मयम्) अज्जए ! वञ्चिदासि, जाए अज्ज कण्णऊरस्स परिक्कमो ण दिट्ठो । (आर्ये ! वञ्चितासि, यया अद्य कर्णपूरकस्य पराक्रमो न दृष्टः)

वसन्तसेना—कण्णऊरअ ! किं किं ? (कर्णपूरक ! किं किम् ?)

कर्णपूरकः—सुणादु अज्जआ, जो सो अज्जआए खुण्टमोडओ णाम दुट्ठहत्थी सो अलाणत्थम्भं भञ्जिअ, महामेत्तं वावादिअ महन्तं संक्खोहं करन्तो राअमग्गं ओदिण्णो । तदो एत्थन्तरे उग्घुट्टं जणेण——(शृणोतु आर्या, यः स आर्यायाः खुण्टमोडको नाम दुष्टहस्ती, स आलानस्तम्भं भंक्त्वा, महामात्रं व्यापाद्य महान्तं संक्षोभं कुर्वन्, राजमार्गमवतीर्णः । ततः अत्रान्तरे उद्घुष्टं जनेन)——

(इसके बाद बिना परदा हटाये प्रसन्न, विकट उज्वल वस्त्रोंवाला कर्णपूरक प्रवेश करता है ।)

कर्णपूरक——आर्या कहाँ है, कहाँ ?

चेटी——अरे दुष्ट पुरुष ! तुम्हारी व्यग्रता किस लिये है जो सामने बैठी हुई भी आर्या (वसन्तसेना) को नहीं देख पा रहे हो ?

कर्णपूरक——(देख कर) आर्ये ! प्रणाम करता हूँ ।

वसन्तसेना——कर्णपूरक ! तुम्हारा मुख बहुत खुश दिखाई दे रहा है । इसका क्या कारण है ?

कर्णपूरक——(विस्मयपूर्वक) आर्ये ! आप वञ्चित रह गई जो आपने आज कर्णपूरक का पराक्रम नहीं देखा ।

वसन्तसेना——कर्णपूरक ! क्या, क्या ?

कर्णपूरक——आर्या आप सुनें—आपका वह जो खुण्टमोडक नामक दुष्ट हाथी है, वह अपने बन्धनस्तम्भ को तोड़कर, महावत को मारकर भीषण उपद्रव करता हुआ, प्रधान मार्ग पर आ गया । इसके बाद लोगों ने घोषणा की कि—

टीका——विकलयति=व्याकुलो भूत्वा भ्राम्यति, अत्र 'विचरति' इति पाठान्तरम्, गन्धगजम्—गन्धप्रधानो गजः, गन्धराजः । तदुक्तं पालकप्ये——

अवणेध बालअजणं तुरिदं आरुहध वुक्ख-पासादं ।
किं ण हु पेक्खध पुरदो दुट्टो हत्थी इदो एदि ॥ १८ ॥
(अपनयत बालकजनं त्वरितमारोहत वृक्षप्रासादम् ।
किं नु खलु प्रेक्षध्वं पुरतो दुष्टो हस्ती इत एति ॥ १८ ॥)

यस्य गन्धं समाघ्राय न तिष्ठन्ति प्रतिद्विपाः ।
तं गन्धहस्तिनं प्राहुर्नृपतेर्विजयावहम् ॥

प्रेक्षिष्ये=अवलोकयिष्ये, एतेन=हस्तिदर्शनादिना, यथाव्यवसितम् = निश्चयानुसारम् = अनुष्ठास्यामि = करिष्यामि, कस्मिन्, कस्मिन् = कुत्र, कुत्र इति इति पाठान्तरम्, दुर्मनुष्य = दुष्टमनुष्य !, अवस्थिताम्=विराजमानाम्, न=नैव प्रेक्षसे=अवलोकयसि, परितुष्टमुखः=परितुष्टम्=प्रसन्नम् मुखं यस्य सः, हृष्टाननः, वञ्चितासि=अलब्धावसराऽसि, आलानस्तम्भम्=बन्धनस्तम्भम्, भङ्क्त्वा=सन्त्रोट्य, महामात्रम्=हस्तिपकम्, व्यापाद्य=मारयित्वा, संक्षोभम्=सन्त्रासं कुर्वन्, अत्रान्तरे=एतन्मध्ये, जनेन=लोकेन, इति जातावेकवचनम्, लोकैरित्यर्थः ।

अन्वयः—बालकजनम्, अपनयत, वृक्षप्रासादम्, आरोहत, पुरतः, किम्, नु, प्रेक्षध्वम्, दुष्टः, हस्ती, इतः, (एव), एति ॥ १८ ॥

शब्दार्थ—बालकजनम्= बच्चों को, अपनयत=दूर हटाओ, वृक्षप्रासादम्=पेड़ और मकानों पर, त्वरितम्=जल्दी से, आरोहत=चढ़ जाओ, पुरतः=आगे, किम्=क्या, नु खलु=नहीं, प्रेक्षध्वम्=देख रहे हो, दुष्टः=दुष्ट बिगड़ा हुआ, हस्ती=हाथी, इतः=इसी ओर, एति=जा रहा है, (आ रहा है) ॥ १८ ॥

अर्थ—बच्चों को हटाओ। पेड़ों और मकानों पर जल्दी से चढ़ जाओ। क्या सामने नहीं देख रहे हो ? दुष्ट (बिगड़ा हुआ) हाथी इसी ओर आ रहा है ॥ १८ ॥

टीका—बालकजनम्=शिशुजनम्, अपनयत=दूरं कुरुत, वृक्षप्रासादम्=वृक्षाः=तरुः, प्रासादः,=भवनम्—एषां समाहारद्वन्दः, त्वरितम्=शीघ्रम्, आरोहत=समारोहत, आरुह्यात्मानं रक्षतेति भावः, पुरतः=अग्रे, समक्षम्, किम्, न खलु=नैव खलु प्रेक्षध्वम्=पश्यथ, दुष्टः=मत्तः बन्धनमुक्तः, हस्ती=गजः, इतः=अस्यां दिश्येव, एति=आगच्छतीत्यर्थः । अत्र प्रेक्षध्वमिति लोट् न युक्तः, प्रेक्षध्वे इति लट् एव समीचीनः। आर्या वृत्तम् ॥ १८ ॥

विमर्श—अपनयत—अप + $\sqrt{}$ णीञ् + लोट् म. पु. ब. व. । आरोहत—आङ् + $\sqrt{}$ रुह् + लोट् म. पु. ब. व. । वृक्षप्रासादम्=वृक्षाश्च प्रासादश्च इत्येतेषां समाहारद्वन्द्वः, इसी लिये एकवचन है। किम् न खलु प्रेक्षध्वम्—यहाँ किं नु खलु यह भी पाठ है। प्रेक्षध्वम्—इस लोट् की अपेक्षा प्रेक्षध्वे—यह लट् प्रयोग अधिक उचित है। एति—गत्यर्थक $\sqrt{}$ इण् + लट् प्र. पु. ए. व. । यहाँ तात्पर्यवश 'आता है' यह अर्थ करना चाहिये । इसमें आर्या छन्द है ॥ १८ ॥

अवि च। (अपि च)

विचलइ णेउरजुअलं छिज्जन्ति अ मेहला मणिक्खइआ।
वलआ अ सुन्दरदरा रअणङ्कुर-जाल-पड़िबद्धा॥ १९॥
(विचलति नूपुरयुगलं छिद्यन्ते च मेखला मणिखचिताः।
वलयाश्च सुन्दरतरा रत्नाङ्कुरजालप्रतिबद्धाः॥ १९॥)

तदो तेण दुट्ठहत्थिणा कल-चलण-रदणेहिं फुल्लणलिणिं विअ णअरिं उज्जइणिं अवगाहमाणेण समासादिदो परिव्वाजओ। तं अ परिब्भट्ट-दण्डकुण्डिआभाअणं सीअरेहिं सिञ्चिअ दन्तन्तरे क्खित्तं पेक्खिअ पुणोवि उग्घुट्टं जणेण—'हा परिव्वाजओ वावादीअदि'त्ति। (ततस्तेन दुष्टहस्तिना

अन्वयः—नूपुरयुगलम्, विचलति, मणिखचिताः, मेखलाः, रत्नाङ्कुरजाल-प्रतिबद्धाः, सुन्दरतराः, वलयाः, च, छिद्यन्ते॥ १९॥

शब्दार्थ—नूपुरयुगलम्=(स्त्रियों के पैरों के) पायजेब नामक आभूषण की जोड़ी, विचलति=गिर पड़ रही है, मणिखचिताः=मणियों से जड़ी हुई, मेखलाः=करधनियाँ, च = और, रत्नाङ्कुरजालप्रतिबद्धाः = जटितरत्नों की किरणों के समुदाय से युक्त, सुन्दरतराः=अत्यधिक सुन्दर, वलयाः=हाथों के कंगन, छिद्यन्ते=टूट रहे हैं॥ १९॥

अर्थ—और भी—

(दुष्ट हाथी द्वारा मार डालने आदि के भय से भागती हुई स्त्रियों की) पायजेबों की जोड़ी (पैरों से) निकलकर गिर जा रही हैं। मणियों से जटित करधनियाँ (टूट रहीं हैं), जड़े हुये रत्नों की किरणों के समूह से युक्त, अत्यन्त सुन्दर कंगन टूट जा रहें हैं)॥ १९॥

टीका—(दुष्टगजस्य आगमनं श्रुत्वा भयवशात् पलायमानानां स्त्रीणाम्—) नूपुरयुगलम्=पादकटकयुगम् (हिन्दां पायजेब इति ख्यातम्) विचलति=पादेभ्यः निःसरति, मणिखचिताः=रत्नजटिताः, मेखलाः=काञ्च्यः, च=तथा, रत्नाङ्कुर-जाल-प्रतिबद्धाः = जटितरत्नकिरणसमूहयुक्ताः, सुन्दरतराः = अतिशयशोभावन्तः, वलयाः=कटकानि, छिद्यन्ते=छिन्ना भवन्तीति भावः। आर्यावृत्तम्॥१९॥

विमर्श—विचलति—वि+√चल्+लट् प्र. पु. ए. व.। उपसर्ग के कारण-निकलना, गिरना अर्थ है। छिद्यन्ते—कर्म अर्थ में √छिद् लट् का रूप है। इसका सम्बन्ध 'मेखलाः' और 'वलयाः' इन दोनों के साथ है। रत्नाङ्कुरजाल-प्रतिबद्धाः—अङ्कुर=किरण। भय से घबड़ाकर भागती हुई स्त्रियों का सुन्दर वर्णन है। इसमें आर्या छन्द है॥ १९॥

अर्थ—इसके बाद (अपनी) सूँड़, पैर और दातों से, फूली हुई कमलिनी के समान सुन्दर उज्जैन नगरी को रौंदते हुये (छिन्न भिन्न करते हुये) उस दुष्ट

कर-चरण-रदनैः फुल्लनलिनीमिव नगरीमुज्जयिनीमवगाहमानेन समासादितः परिव्राजकः। तञ्च परिभ्रष्टदण्डकुण्डिकाभाजनं शीकरैः सिक्त्वा दन्तान्तरे क्षिप्तं प्रेक्ष्य, पुनरपि उद्घुष्टं जनेन--'हा परिव्राजको व्यापाद्यत' इति।)

वसन्तसेना—(ससम्भ्रमम्) **अह्मो पमादो, अह्मो पमादो!** । (अहो प्रमादः। अहो प्रमादः।)

कर्णपूरकः—**अलं सम्भमेण। सुणाद दाब अज्जआ। तदो विच्छिण्णविसण्ठुल-सिङ्खला-कलावअं उव्वहन्तं दन्तन्तरपरिगहिदं परिव्वाजअं उव्वहन्तं तं पेक्खिअ, कण्णउरएण मए—णहि णहि अज्जआए अण्ण-पिण्डोवपुट्ठेण दासेण वामचलणेण जूदलेखअं उग्घुसिअ, उग्घुसिअ तुरिदं आवणादो लोहदण्डं गेण्हिअ आआरिदो सो दुट्ठहत्थी।** (अलं सम्भ्रमेण। शृणोतु तावदार्या। ततो विच्छिन्न-विसंष्ठुल-शृङ्खलाकलापम् उद्वहन्तं दन्तान्तरपरिगृहीतं परिव्राजकमुद्वहन्तं तं प्रेक्ष्य, कर्णपूरकेण मया—नहि नहि, आर्याया अन्नपिण्डोपपुष्टेन दासेन, वामचरणेन द्यूतलेखकम् उद्घुष्य उद्घुष्य, त्वरितमपणात् लोहदण्डं गृहीत्वा, आकारितः स दुष्टहस्ती।)

हाथी ने बौद्ध संन्यासी को पकड़ लिया। जिसका दण्ड और कमण्डलु (भोजन का पात्रविशेष) गिर गया है, उसे पानी की बूँदों से सींच कर दांतों के बीच में दबाया हुआ देखकर लोगों ने फिर चिल्लाकर कहा--'हाय! बौद्ध संन्यासी मारा जा रहा है।'

वसन्तसेना—(घबराहट के साथ) अरे! बड़ा अनर्थ हुआ, बड़ा अनर्थ हुआ।

कर्णपूरक—घबड़ाने की आवश्यकता नहीं है। आप सुनिये तो। इसके बाद छिन्न भिन्न हिलती डुलती जञ्जीरों से युक्त, दांतों के बीच में पकड़े गये संन्यासी को उठाये हुये उस (दुष्ट मत्त) हाथी को देखकर मुझ कर्णपूरक ने--नहीं नहीं, (ऐसा नहीं हो सकता), आपके अन्नदाना से परिपुष्ट इस सेवक ने जुआ के लेखक को बारबार कह कर साहस बंधाकर, शीघ्र ही दूकान से लोहे की एक छड़ लेकर, बायीं ओर चलकर (पैंतरा बदल कर) उस दुष्ट हाथी को ललकारा।

टीका—दुष्टहस्तिना=विक्षिप्तगजेन, कर-चरण-रदनैः=शुण्डादण्डपाद-दन्तैः, फुल्लनलिनीमिव=विकसितकमलिनीमिव, अवगाहमानेन=विलोडयता, समासादितः=गृहीतः, परिव्राजकः=बौद्धसंन्यासी, परिभ्रष्ट-दण्ड-कुण्डिका-भाजनम्=परिभ्रष्टे=हस्तात् भूमौ पतिते, दण्डकुण्डिका-भाजने=दण्डः = संन्यासिधारणयोग्यो दण्डः, कमण्डलुपात्रञ्च च यस्मात् तम्, शीकरैः=मुखस्थितजलबिन्दुभिः, सिक्त्वा=आर्द्रीकृत्य, दन्तान्तरे=दन्तद्वयस्य मध्ये, क्षिप्तम्=स्थापितम्, प्रेक्ष्य=विलोक्य, उद्घुष्टम्=

वसन्तसेना––तदो तदो ? । (ततस्ततः ?)

कर्णपूरकः––आहणिऊण सरोसं तं हत्थिं विञ्झ-सेल-सिहराभं ।
माआविओ मए सो दन्तन्तरसंठिओ परिव्वाजओ ॥ २० ॥
(आहत्य सरोषं तं हस्तिनं विन्ध्यशैल-शिखराभम् ।
मोचितो मया स दन्तान्तरसंस्थितः परिव्राजकः ॥ २० ॥)

उच्चैर्घोषितम्, व्यापाद्यते=हन्यते । प्रमादः=अनर्थः, अनिष्टः । अलम् सम्भ्रमेण–'गम्यमानापि क्रिया कारकविभक्तौ प्रयोजिके' तितृतीया । विच्छिन्नः=त्रुटितः, अत एव च विसंष्ठुलः=अस्थिरः कम्पमानः, शृङ्खलानाम्=बन्धनसाधनीभूतलौहसूत्राणाम्, कलापः=समूहः, यस्य येन वा तम्, उद्वहन्तम्=धारयन्तम्, अन्नपिण्डोपपुष्टेन=अन्नसमूहेन उपपष्टः=परिपालितः, तेन, मया, वामचरणेन=वामपार्श्वगमनेन 'बाँया पैंतरा बदलकर' इति हिन्द्याम्, द्यूतलेखकम्=द्यूतकरं साम्प्रतं संन्यासिनम्, उद्घुष्य=सम्बोध्य, आकार्य्य वा, आकारितः=युद्धार्थमाहूतः ।

अर्थ वसन्तसेना––इसके बाद ?

अन्वय––सरोषम्, विन्ध्यशैलशिखराभम्, तम्, हस्तिनम्, आहत्य, मया, दन्तान्तरसंस्थितः, सः, परिव्राजकः, मोचितः ॥ २० ॥

शब्दार्थ––सरोषम्=क्रोधयुक्त, मत्त, विन्ध्यशैलशिखराभम्=विन्ध्याचल के शिखर के समान विशालकाय, तम्=उस दुष्ट, हस्तिनम्=हाथी को, आहत्य=मार कर, मया=मैंने, दन्तान्तर–संस्थितः=दान्तों के बीच फँसे हुये, सः=उस, परिव्राजकः=बौद्ध संन्यासी को, मोचितः=छुड़ाया ॥ २० ॥

अर्थ––कर्णपूरक–गुस्सैल (क्रोधयुक्त), विन्ध्याचल पर्वत की चोटी के समान (विशालकाय) उस दुष्ट हाथी को मार कर मैंने उसके दान्तों में फँसे हुये बौद्ध संन्यासी को मुक्त करा दिया, जान से बचा लिया ॥ २० ॥

टीका––सरोषम्=सक्रोधम्, विन्ध्यशैलस्य=विन्ध्यपर्वतस्य, शिखरस्य=शैलस्य, आभा=कान्तिः, आकृतिर्वा यस्य तम्, विशालकायमित्यर्थः, तम्=पूर्वोक्तं दुष्टम्; गजम् = हस्तिनम्, आहत्य = प्रहृत्य, मया=कर्णपूरकेण, दन्तान्तरे=दन्तयोर्मध्ये संस्थितः=परिगृहीतः, परिव्राजकः=बौद्धसंन्यासी, मोचितः=मुक्तिं प्रापितः । अत्र केचित् 'सरोषम् आहत्य' इति क्रियाविशेषणं स्वीकुर्वन्ति । अत्रार्यायाः भेदः गीतिः वृत्तम् ॥२०॥

विमर्श––सरोषम्––इसे हाथी का विशेषण माना जाता है । किन्तु कुछ व्याख्याकारों ने 'सरोषम् आहत्य' क्रोधपूर्वक प्रहार करके–इस प्रकार क्रियाविशेषण माना है । दोनों सम्भव हैं । मोचितः–√मुच्+णिच्+क्त । इसमें आर्या छन्द का एक भेद गीति है । इसका लक्षण––

आर्या–पूर्वार्द्धसमं द्वितीयमपि भवति यत्र हंसगते ।
छन्दोविदस्तदानीं गीतिंताममृतवाणि भाषन्ते ॥ २० ॥

वसन्तसेना—सुट्ठु दे किदं। तदो तदो ?। (सुष्ठु त्वया कृतम्। ततस्ततः?)

कर्णपूरकः—तदो अज्जए ! 'साहु रे कण्णऊरअ ! साहु' त्ति एत्तिअमेत्तं भणन्ती, विसम-भर-वकन्ता विअ णावा एक्कदो पल्हत्था सअला उज्जइणी आसि। तदो अज्जए ! एक्केण सुण्णाइं आहरणट्ठाणाइं परामसिअ, उद्धं पेक्खिअ, दीहं णीससिअ, अअं पावारओ मम उवरि क्खित्तो। (तत आर्ये ! 'साधु रे कर्णपूरक ! साधु' इत्येतावन्मात्रं भणन्ती विषमभराक्रान्ता इव नौः एकतः पर्यस्ता सकला उज्जयिनी आसीत्। तत आर्ये ! एकेन शून्यानि आभरणस्थानानि परामृश्य, ऊर्ध्वं प्रेक्ष्य, दीर्घं निःश्वस्य, अयं प्रावारकः ममोपरि उत्क्षिप्तः।)

वसन्तसेना—कण्णऊरअ ! जाणीहि दाव, किं एसो जादीकुसुमवासिदो पावारओ ण वेत्ति। (कर्णपूरक ! जानीहि तावत्, किमेष जातीकुसुमवासितः प्रावारको न वेति।)

कर्णपूरकः—अज्जए ! मदगन्धेण सुट्ठु तं गन्धं ण जाणामि। (आर्ये ! मदगन्धेन सुष्ठु तं गन्धं न जानामि।)

वसन्तसेना—णामं पि दाव पेक्ख। (नामापि तावत् प्रेक्षस्व।)

अर्थ—वसन्तसेना—तुमने बहुत अच्छा किया। इसके बाद ?

कर्णपूरक—इसके बाद आर्ये ! 'वाह रे कर्णपूरक। वाह' केवला इतना कहती हुई (चिल्लाती हुई), बहुत अधिक बोझ से एक ओर दबी हुई नाव के समान, सारी उज्जैन नगरी एक ओर झुक पड़ी=एकत्रित हो गयी। उसके बाद, आर्ये ! किसी एक व्यक्ति ने अपने शून्य आभरण-स्थानों (अंगों) को स्पर्श करके, ऊपर की ओर देखकर, लम्बी सांस लेकर यह उत्तरीय (डुपट्टा) मेरे ऊपर फेंक दिया।

वसन्तसेना—कर्णपूरक ! देखो क्या यह उत्तरीय चमेली के फूलों की खुशबू से सुगन्धित है अथवा नहीं ?

कर्णपूरक—आर्ये ! (हाथी के) मद की गन्ध के कारण उस गन्ध को (चमेली की गन्ध को) ठीक से नहीं सूंघ पा रहा हूँ।

टीका—साधु=प्रशंसनीयम्, भणन्ती = कथयन्ती, विषमभरेण=अत्यधिकभारेण, आक्रान्ता=युक्ता, नौः=नौका, सकला=सम्पूर्णा, एकतः=एकस्यां दिशि, पर्यस्ता=आनता, एकत्रितेति च, शून्यानि=आभूषणरहितानि, आभरण-स्थानानि=अलङ्काराणां स्थानानि=अवयवान्, परामृश्य=संस्पृश्य, प्रेक्ष्य=विलोक्य, निःश्वस्य=निःश्वासं गृहीत्वा, प्रावारकः = उत्तरीयम्, उत्क्षिप्तः = समर्पितः, जातीकुसुमवासितः=जाती-कुसुमगन्धयुक्तः, मदगन्धेन = आहतहस्ति-मदजल-गन्धेन, तं गन्धम्=जातीकुसुमसौरम्, जानामि=अनुभवामि।

अर्थ—वसन्तसेना—तो नाम ही देखो।

कर्णपूरकः—इमं णाम, अज्जआ एव्व वाअएदु। (इदं नाम, आर्यैव वाचयतु।) (इति प्रावारकमुपनयति।)

वसन्तसेना—अज्जचारुदत्तस्स। (आर्यचारुदत्तस्य।) (इति वाचयित्वा सस्पृहं गृहीत्वा प्रावृणोति।)

चेटी—कण्णऊरअ! सोहइ अज्जआए पावारओ। (कर्णपूरक! शोभते आर्यायाः प्रावारकः।)

कर्णपूरकः—आं सोहइ, अज्जआए पावारओ। (आम्, शोभते आर्यायाः प्रावारकः।)

वसन्तसेना—कण्णऊरअ! इदं दे पारितोसिअं (कर्णपूरक! इदं ते परितोषिकम्।) (इत्याभरणं प्रयच्छति।)

कर्णपूरकः—(शिरसा गृहीत्वा प्रणम्य च) संपदं सुट्ठु सोहइ अज्जआए पावारओ। (साम्प्रतं सुष्ठु शोभते आर्यायाः प्रावारकः।)

वसन्तसेना—कण्णऊरअ! एदाए वेलाए कहिं अज्जचारुदत्तो?। (कर्णपूरक! एतस्यां वेलायां कस्मिन्नार्यचारुदत्तः?)

कर्णपूरकः—एदेण ज्जेव मग्गेण पवुत्तो गन्तुं। (एतेनैव मार्गेण प्रवृत्तो गन्तुं गेहम्।)

वसन्तसेना—हञ्जे! उवरिदणं अलिन्दअं आरुहिअ अज्जचारुदत्तं पेक्खेह्म। (हञ्जे! उपरितनमलिन्दकमारुह्य आर्यचारुदत्तं प्रेक्षामहे।)

कर्णपूरक—यह नाम, आर्या ही पढ़ें। (यह कह कर उत्तरीय दे देता है।)

वसन्तसेना—आर्य चारुदत्त का (नाम है)। (यह पढ़कर लालसापूर्वक लेकर ओढ़ लेती है।)

चेटी—कर्णपूरक! यह डुपट्टा आर्या पर अच्छा लग रहा है।

कर्णपूरक—हाँ, आर्या पर बहुत अच्छा लग रहा है।

वसन्तसेना—कर्णपूरक! यह तुम्हारा पुरस्कार है।

(यह कहकर आभूषण देती है।)

कर्णपूरक—(विनीतशिर से लेकर प्रणाम करके) अब आर्या के शरीर पर यह डुपट्टा बहुत ही अच्छा लग रहा है।

वसन्तसेना—कर्णपूरक! इस समय आर्य चारुदत्त कहाँ होंगे?

कर्णपूरक—इसी रास्ते से घर जा रहे हैं।

वसन्तसेना—दासी! ऊपर वाली छत पर चढ़ कर आर्य चारुदत्त का

(इति निष्क्रान्ताः सर्वे ।)

।। इति द्यूतकरसंवाहको नाम द्वितीयोऽङ्कः ।।

—: ० :—

दर्शन करें ।

(इस प्रकार सभी पात्र निकल जाते हैं ।)

।। इस प्रकार द्यूतकर संवाहक नाम वाला दूसरा अंक समाप्त हुआ ।।

टीका——प्रेक्षस्व = पश्य, उपनयति = समर्पयति, प्रावारकः = उत्तरीयम्, प्रावृणोति=आच्छादयति, शिरसा=अवनतमस्तकेन, कस्मिन्=कुत्र, आलिन्दकम्= 'प्रघाणम्, 'प्रघाणप्रघणालिन्दा बहिर्द्वारप्रकोष्ठके' अमरकोषः २।११ इत्यमरः ।

विमर्श——नामापि——नाम भी । सस्पृहम्——बहुत उत्सुकता के साथ । प्रावृणोति——प्र + आङ् + √वृ + लट् प्र. पु. ए. व. । आलिन्दकम्——मकान के ऊपरी कमरे को अलिन्द कहा जाता है । प्रेक्षामहे——प्र + √ईक्ष + लट् प्र. पु. व. व. ।

।। जय-शङ्करलाल-त्रिपाठिविरचित भावबोधिनी-व्याख्या में मृच्छकटिक का द्वितीय अङ्क समाप्त हुआ ।।

——: :०: :——

तृतीयोऽङ्कः

(ततः प्रविशति चेटः ।)

चेटः——शुजणे क्खु भिच्चाणुकम्पके शामिए णिद्धणके वि शोहदि ।
पिशुणे उण दव्वगव्विदे दुक्कले क्खु पलिणामदालुणे ॥ १ ॥

(सुजनः खलु भृत्यानुकम्पकः स्वामी निर्द्धनकोऽपि शोभते ।
पिशुनः पुनर्द्रव्यगर्वितो दुष्करः खलु परिणामदारुणः ॥ १ ॥

(इसके बाद चेट=वर्धमानक प्रवेश करता है ।)

अन्वयः——सुजनः, भृत्यानुकम्पकः, निर्धनकः, अपि, स्वामी, शोभते, खलु, पुनः द्रव्यगर्वितः, परिणामदारुणः, पिशुनः, दुष्करः, खलु ॥ १ ॥

शब्दार्थः——सुजनः=सज्जनः, भृत्यानुकम्पकः = नौकरों पर अनुकम्पा रखने वाला, निर्धनकः= निर्धन भी, स्वामी=मालिक, शोभते खलु=निश्चित रूप से अच्छा लगता है । पुनः=किन्तु, द्रव्यगर्वितः=धन के गर्व से भरा हुआ, परिणामदारुणः= अन्त में कष्टकारक, भयानक, पिशुनः=दुष्ट, दुष्करः=बहुत कष्ट से सेवा करने योग्य है, खलु=निश्चित ॥ १ ॥

अर्थ—चेट——सज्जन, नौकरों पर अनुकम्पा करने वाला, निर्धन भी मालिक शोभा प्राप्त करता है । किन्तु धन के गर्व से मत्त, अन्त में कष्टकारक, दुष्ट स्वामी, बहुत दुःख से सेवा करने योग्य होता है । अर्थात् दुष्ट की सेवा करनी कठिन है ॥ १ ॥

टीका——सुजनः = सज्जनः, भृत्यानुकम्पकः = किङ्करानुग्राहकः, निर्धनकः= दरिद्रः, अपि, अपिना धनवतः समुच्चयः, स्वामी=अधिपतिः, शोभते खलु=राजते, यद्वा सर्वेभ्यः रोचते । पुनः=किन्तु, द्रव्यगर्वितः=धनादिना प्रमत्तः, परिणामदारुणः=परिणामे=कार्यसिद्धयन्ते, दारुणः=भयङ्करः, पिशुनः=दुर्जनः 'पिशुनो दुर्जनः खलः' इत्यमरः, स्वामी, दुःष्करः = दुःखेन सेवायोग्यः, खलु=निश्चयेन । एवञ्च निर्धनत्वेऽपि भृत्यानुकम्पकम्पकत्वात् चारुदत्त एव प्रियः । धनादियुतोपि दुष्टः शकारो न प्रिय इति भावः । अत्र विशेषस्य प्रस्तुतस्य चारुदत्तस्य प्रतीतेरप्रस्तुतप्रशंसालङ्कारः । एकत्र परस्परविरुद्धयोः सन्धानात् विषमालङ्कारश्च । वैतालीयं छन्दः । लक्षणन्तु —

षड्विषमेऽष्टौ समे कलास्ताश्च समे स्युर्नो निरन्तराः ।
न समाऽत्र पराश्रिता कला वैतालीयेऽन्ते रलौ गुरुः ॥२॥

विमर्श——इस अंक में चारुदत्त के सेवक वर्धमानक का प्रवेश होता है । जो

अवि अ (अपि च)—

अश्श-पलक्क-वलद्दे ण शक्कि वालिदुं
अण्ण-कलत्त-पशत्ते ण शक्कि वालिदुं ।
जूद-पशत्त-मणुश्शे ण शक्कि वालिदुं
जे वि शहाविअदोशे ण शक्कि वालिदुं ॥२॥
(सस्य-लम्पट-बलीवर्दो न शक्यो वारयितु-
मन्य-कलत्र-प्रसक्तो न शक्यो वारयितुम् ।

चारुदत्त के निर्धन हो जाने पर भी उसके गुणों के कारण उसी की सेवा करना अच्छा समझता हैं। उसे छोड़ कर दुष्ट शकार आदि की सेवा में जाना वह हितकर नहीं मानता है। इससे चारुदत्त की भृत्य-प्रियता स्पष्ट होती है। भृत्यानुकम्पकः— भृत्यानाम् अनु+√कम्प्+ण्वुल्=अक। निर्धनकः—स्वार्थ में 'क' प्रत्यय है। पिशुनः—पिशुनो दुर्जनः खलः—अमरकोष (३.१.४७) के आधार पर—दुर्जन। दुष्करः— दुः+√कृ+खल्=अ, "ईषद्दुःसुषु कृच्छ्राकृच्छ्रार्थेषु खल्" (पा. सू. ३।३।१२६) यहाँ अर्ह अर्थ है। दुःख से करने योग्य। तात्पर्य है—दुःख से प्रसन्न करने या सेवा करने योग्य। यहाँ प्रस्तुत चारुदत्त की प्रतीति होने से अप्रस्तुत-प्रशंसा अलंकार है। और वैतालीय छन्द है। लक्षण टीका में देखें ॥ १ ॥

अन्वयः—सस्य-लम्पट-बलीवर्दः, वारयितुम्, न, शक्यः, अन्यकलत्रप्रसक्तः, (जनः), वारयितुम्, न, शक्यः, द्यूतप्रसक्त-मनुष्यः, वारयितुम्, न, शक्यः, यः अपि, स्वाभाविकदोषः, (सः), वारयितुम्, न शक्यः ॥ २ ॥

शब्दार्थ—सस्य-लम्पट-बलीवर्दः = हरा धाने (खाने) का लालची बैल (सौड़), वारयितुम्=रोकना, न=नहीं, शक्यः=सम्भव है, अन्य-कलत्र-प्रसक्तः= दूसरे की स्त्रियों में आसक्त=प्रेम करने वाला मनुष्य, वारयितुम्=रोकना, न=नहीं शक्यः=सम्भव है, द्यूत-प्रसक्त-मनुष्यः = जुआ खेलने में लगा रहने वाला आदमी, वारयितुम्=रोकना, न=नहीं, शक्यः=सम्भव है, यः अपि=जो भी, स्वाभाविक-दोषः=स्वाभाविक=नैसर्गिक अवगुण है, वह, वारयितुम्=रोकना, न=नहीं, शक्यः= सम्भव है ॥ २ ॥

अर्थ—और भी—

हरे हरे धान (खाने) का लालची बैल=सौड़ (वहाँ जाने से) रोकना सम्भव नहीं है, दूसरे की स्त्रियों में फंसा हुआ अर्थात् उनसे प्रेम करने वाला मनुष्य रोका नहीं जा सकता। जुआ खेलने की आदत वाला मनुष्य रोका नहीं जा सकता। और भी जो स्वाभाविक दुर्गुण होता है उसे छोड़ पाना कठिन है ॥ २ ॥

टीका—सस्य-लम्पट-बलीवर्दः=सस्यानाम्=हरितधान्यानाम्, भक्षणे, लम्पटः=

द्यूत-प्रसक्तमनुष्यो न शक्यो वारयितुं
योऽपि स्वाभाविकदोषो न शक्यो वारयितुम् ॥२॥

कावि वेला अज्जचारुदत्तश्श गन्धव्वं शुणिदुं गदश्श । अदिक्कमदि अद्धल-अणी, अज्ज वि ण आअच्छदि । ता जाव बाहिल-दुआलशालाए गदुअ शुविश्शं । (कापि वेला आर्य-चारुदत्तस्य गान्धर्व्वं श्रोतुं गतस्य । अतिक्रामति अर्द्धरजनी, अद्यापि नागच्छति । तद्यावत् बहिर्द्वारशालायां गत्वा स्वप्स्यामि ।)

(इति तथा करोति ।)

(ततः प्रविशति चारुदत्तो विदूषकश्च ।)

चारुदत्तः—अहो अहो ! साधु, साधु रेभिलेन गीतम् । वीणा हि नाम असमुद्रोत्थितं रत्नम् । कुतः—

उत्कण्ठितस्य हृदयानुगुणा वयस्या
सङ्केतके चिरयति प्रवरो विनोदः ।

प्रसक्तः, लोलुपः वा, बलीवर्दः=वृषभः, वारयितुम्=अवरोद्धुम्, न=नैव, शक्यः, अन्य-कलत्रप्रसक्तः=पर-स्त्री-प्रेमासक्तः, वारयितुम्=पृथक् कर्तुं न, शक्यः, द्यूते=द्यूत-क्रीडायाम्, प्रसक्तः=अनुरक्तः, मनुष्यः=पुरुषः, वारयितुम्=विरक्तीकर्तुम्, न शक्यः, यो कश्चनापि स्वाभाविकः = प्रकृतिसिद्धः, दोषः = दुर्गुणः, अस्ति, सः, न=नैव, वारयितुम्=निवारयितुम्, शक्यः । अत्र चेटः चारुदत्तस्यातिदयालुतामविचारितदानित्वं च दोषत्वेनाङ्गीकरोति । अत एव चारुदत्तस्य दुःखमिति तस्य भावः । अत्रा-प्रस्तुतप्रशंसानामकोऽलङ्कारः, शक्वरी जातिः वृत्तम् ॥२॥

विमर्शः—इस श्लोक में चेट चारुदत्त की अतिशय करुणाशीलता और दान-शीलता को स्वाभाविक दोष मानता है । अतः श्लोकवर्णित अन्य दोष जिस प्रकार नहीं छोड़े जा सकते उसी प्रकार दानप्रवृत्ति भी छोड़ना असम्भव है । इसके अतिरिक्त शकार की परस्त्री-लोलुपता तथा सम्वाहक आदि की द्यूतप्रियता भी अपरित्याज्य है । यहाँ स्वाभाविक दोषसामान्य के कथन के द्वारा प्रस्तुत चारुदत्त की दानप्रियता की प्रतीति कराई गई है । अतः अप्रस्तुतप्रशंसा अलंकार और शक्वरी जाति छन्द है ॥ २ ॥

अर्थ—गाना सुनने के लिये गये हुये चारुदत्त को कितनी देर हो चुकी है । आधी से अधिक रात बीत चुकी है । अभी तक नहीं आये हैं । तो तब तक बाहर दरवाजे वाले कमरे में सोता हूँ (सोऊँगा) ।

(इस प्रकार वैसा ही करता है ।)

(इसके बाद चारुदत्त और विदूषक प्रवेश करते हैं ।)

अन्वयः—(वीणा—इति गद्यस्थेन सम्बन्धः) उत्कण्ठितस्य, हृदयानुगुणा, वयस्या, सङ्केतके, चिरयति, (सति), प्रवरः, विनोदः, विरहातुराणाम्, प्रियतमा, संस्थापना, रक्तस्य, रागपरिवृद्धिकरः, प्रमोदः (अस्ति) ॥ ३ ॥

संस्थापना प्रियतमा विरहातुराणां
रक्तस्य रागपरिवृद्धिकरः प्रमोदः ॥३॥

शब्दार्थः—(वीणा नामक वाद्य) उत्कण्ठितस्य=वियोग से विकल व्यक्ति की, हृदयानुगुणा=हृदय से चाही गई, वयस्या=प्रिय साथी है, सङ्केतके=(निश्चित स्थान और समय पर मिलने का) संकेत करने वाले के, चिरयति सति=देर करने पर, (समय बिताने के लिये), प्रवरः=सबसे अच्छा, विनोदः=मनोरंजन (का साधन) है, विरहातुराणाम्=प्रेयसी के वियोग से व्याकुल व्यक्तियों की, प्रियतमा=सबसे प्रिय, संस्थापना=सहानुभूति दिखाने वाली, है, रक्तस्य=प्रेमी व्यक्ति के, रागपरिवृद्धकरः=परस्पर प्रेम को बढ़ाने वाला, प्रमोदः=मनोरञ्जन का साधन है ॥३॥

अर्थ—**चारुदत्त**—वाह ! वाह ! बहुत अच्छा, बहुत अच्छा, रेभिल ने गाया। क्योंकि वीणा असमुद्रोत्थित (समुद्र से न निकलने वाला) रत्न है। क्योंकि—

(श्लोकार्थ—) विरह से विकल की मनपसन्द सखी है, (किसी निश्चित स्थान एवं समय पर मिलने का संकेत करने वाले प्रेमी के देर करने पर सबसे अच्छा मनोरञ्जनका साधन है। प्रियतमा के (मरणादिजन्य) वियोग से पीड़ित व्यक्ति की सबसे अधिक सहानुभूति दिखाने वाली है। प्रेमी के (परस्पर) प्रेम को बढ़ाने वाला, प्रमोद (का साधन) है ॥ ३ ॥

टीका—वीणा=तन्नामकं वाद्ययन्त्रम्, असमुद्रोत्थितम् = सागराद् अप्रादुर्भूतम्, रत्नम्–इति गद्यस्थेनान्वयः कार्यः। उत्कण्ठितस्य=विरहोत्सुकस्य जनस्य, हृदयानुगुणा=हृदयानुरूपा, वयस्या=सखिस्वरूपा, सङ्केतके=निश्चितदेशे काले च सङ्गमाय दत्तसङ्केते, प्रिये, चिरयति = विलम्बं कुर्वति सति, प्रवरः = प्रकृष्टः, विनोदः=विनोदसाधनम्, विरहातुराणाम्=प्रियादिवियोगेन पीडितानाम्, प्रियतमा=अत्यन्तेष्टा, संस्थापना=शरीरस्वास्थ्यकरणम्, मनसः आश्वासो वा, धैर्यदायिनीति यावत्, रक्तस्य=अनुरक्तस्य, रागपरिवृद्धकरः=परस्परानुरागस्य प्रवर्द्धकः, प्रमोदः=प्रमोदसाधनम्। अत्र वीणायाः वयस्यत्वाद्यनेकधोल्लेखादुल्लेखालङ्कारः, विनोदप्रमोदरूपयोः कार्ययोः वीणारूपकारणस्य चाभेदवर्णनाद् हेतुश्चालङ्कारः। वसन्ततिलकं वृत्तम् ॥ ३ ॥

विमर्शः—गान्धर्वम्—संगीत, देवलोक के गायकों को गन्धर्व कहा जाता है। उन्हीं के नाम पर इसे गान्धर्व विद्या अथवा गान्धर्व शास्त्र कहा जाता है। असमुद्रोत्त्थितं रत्नम्— समुद्र से निम्न १४ रत्न निकले थे परन्तु वीणा इनसे भी बढ़ कर है।

लक्ष्मीः, कौस्तुभपारिजातक-सुराधन्वन्तरिश्चन्द्रमाः,
गावः, कामदुघाः, सुरेश्वरगजो रम्भादिदेवाङ्गनाः।

विदूषकः—भो ! एहि, गेहं गच्छेम्ह । (भो एहि, गेहं गच्छामः ।)

चारुदत्तः—अहो ! सुष्ठु भावरेभिलेन गीतम् ।

विदूषकः—मम दाव दुवेहिं ज्जेव हस्सं जाआदि, इत्थिआए सक्कअं पठन्तीए मणुस्सेण अ काअलीं गाअन्तेण । इत्थिआ दाव सक्कअं पठन्ती, दिण्णणव णस्सा विअ गिट्ठी, अहिअं सुसुआअदि । मणुस्सो वि काअलीं गाअन्तो सुक्ख-सुमणो-दाम-वेट्ठिदो वुड्ढपुरोहिदो विअ मन्तं जवन्तो, दिढं मे ण रोअदि । (मम तावत् द्वाभ्यामेव हास्यं जायते; स्त्रिया संस्कृतं पठन्त्या, मनुष्येण च काकलीं गायता । स्त्री तावत् संस्कृतं पठन्ती, दत्तनव-नास्या इव गृष्टिः अधिकं सुसूशब्दं करोति, मनुष्योऽपि काकलीं गायन् शुष्क-सुमनो-दाम-वेष्टितो वृद्धपुरोहित इव मन्त्रं जपन्, दृढं मे न रोचते ।)

अश्वः सप्तमुखो, विषं, हरधनुः, शङ्खोऽमृतं चाम्बुधेः,
रत्नानीह चतुर्दश प्रतिदिनं कुर्युः सदा मङ्गलम् ॥

उत्कण्ठितस्य— उत्कण्ठा सञ्जाता अस्य—इस अर्थ में इतच् प्रत्यय होता है । सङ्केतके-सङ्केतयति इति सङ्केतकः, तस्मिन् । चिरयति—शतृप्रत्ययान्त सप्तमी एकवचन । संस्थापना—=सम् + √स्था + पुक् + णिच् + ल्युट्=अन + टाप् । यहाँ एक वीणा का अनेकरूपों से उल्लेख है अतः उल्लेख अलङ्कार और विनोद एवं प्रमोदरूपी कार्यों का वीणा रूपी कारण के साथ अभेद प्रतिपादित होने से हेतु अलंकार हैं । वसन्ततिलका छन्द है ॥ ३ ॥

अर्थ—विदूषक—श्रीमान् जी ! आइये, घर चलें ।

चारुदत्त—वाह ! विद्वान् रेभिल ने बहुत अच्छा गाया ।

विदूषक—मुझे तो उन दोनों से हँसी आती है—संस्कृत पढ़ती हुई स्त्री से और महीन मीठी आवाज से गाते हुये पुरुष से । क्योंकि संस्कृत पढ़ने वाली स्त्री, नई नई छिदी नाकवाली एक ही बार व्याई हुई गाय के समान अधिक सूसू (शब्द) करती है । और महीन=धीमी आवाज निकालता हुआ पुरुष, सूखे फूलों की माला पहने हुये बूढ़े पुरोहित के समान मन्त्र जपता हुआ, मुझे अधिक अच्छा नहीं लगता है ।

टीका—भावः=विद्वान्, संगीतज्ञः, काकलीम्=सूक्ष्मं मधुरं च ध्वनिम्, दत्ता=निवेशिता, नवा=नवीना, नसः इयम्=नस्या=नासिकाछिद्ररज्जुः यस्यै सा, गृष्टिः=सकृत् प्रसूता; शुष्कम्=शुष्कतां प्राप्तम्, यत् सुमनसाम्=पुष्पाणाम्, दाम=माल्यम्, तेन वेष्टितः=सज्जितः, दृढम्=अधिकम् ।

चारुदत्तः——वयस्य ! सुष्ठ खल्वद्य गीतं भाव-रेभिलेन । न च भवान् परितुष्टः ?

रक्तञ्च नाम मधुरञ्च समं स्फुटञ्च
भावान्वितञ्च ललितञ्च मनोहरञ्च ।
किं वा प्रशस्तवचनैर्बहुभिर्मदुक्तै-
रन्तर्हिता यदि भवेद्वनितेति मन्ये ॥ ४ ॥

अन्वयः——(गीतम्) नाम, रक्तम्, च, मधुरम्, च, समम्, च, स्फुटम्, च, भावान्वितम्, च, ललितम्, च, मनोहरम्, च, (आसीत्), वा, मदुक्तैः, बहुभिः, प्रशस्तवचनैः, किम् ? यदि, वनिता, अन्तर्हिता, भवेत्, इति, मन्ये ॥ ४ ॥

शब्दार्थः——(गीतम्=गीत), नाम=निश्चय ही, रक्तम्=रागपूर्ण, च=और, मधुरम्=मीठा, च=और, समम्=(स्वर एवं लय में) समान रूप वाला, च=और स्फुटम्=स्पष्ट, च=और, भावान्वितम्=भावों से युक्त, च=और, ललितम्=ललित, च=और, मनोहरम्=मन को अच्छा लगने वाला, (आसीत्=था), वा=अथवा, मदुक्तैः=मुझ चारुदत्त के द्वारा कहे गये, बहुभिः=बहुत से, प्रशस्तिवचनैः=प्रशंसा-परकवाक्यों से, किम्=क्या (अर्थात् व्यर्थ है), यदि=सम्भवतः, वनिता=स्त्री, अन्तर्हिता=छिपी हुई, भवेत्=हो, इति=ऐसा, मन्ये=मैं मानता हूँ ॥४॥

अर्थ——चारुदत्त— मित्र ! रेभिल महानुभाव ने आज बहुत अच्छा गाया। फिर भी आप को अच्छा नहीं लगा ?

(वह रेभिलका गाना), रागों से पूर्ण, (सुनने में) मीठा लगने वाला, (स्वर और लय की) समता वाला, स्पष्ट, भावपूर्ण, ललित और मन को हरण करने वाला था, अथवा मेरी प्रशंसापरक बातों से क्या लाभ ? मुझे तो ऐसा लगता है कि (उस रेभिल के भीतर) मानों स्त्री छिपी हुई हो । (अर्थात् वह रेभिल बाहर से पुरुष प्रतीत होता है परन्तु उसके गाने से वह स्त्री की भाँति प्रतीत हो रहा था) ॥ ४ ॥

टीका——गीतम्——गद्यस्थमिदं पदं सर्वत्र योजनीयम् । नाम—निश्चयवाचकमव्ययपदमिदम् । रक्तम्=विविधरागपरिपूर्णम्, मधुरम्=कर्णप्रियम्, समम्=स्वर-ताल-सामञ्जस्ययुतम्, स्फुटम्—स्पष्टम्, भावान्विम्=रत्यास्पदम्, विविधभावसंवलितम्, ललितम्=लालित्यधर्मविशिष्टम्, च=तथा, मनोहरम्=चित्ताकर्षकम्, आसीत्, इति शेषः । अत्रानेकचकाराणां प्रयोगोऽनावश्यकः । वा—अथवा, मदुक्तैः=मया कथितैः, बहुभिः=विपुलैः, प्रशस्तवचनैः=प्रशंसावाक्यैः, किम् प्रयोजनम् ? न किमपीत्यर्थ, यदि=सम्भवतः, वनिता=स्त्री, अन्तर्हिता=अप्रकटरूपेण स्थिता, भवेत्=स्यात्, इति=इत्थम्, मन्ये=तर्कयामि । अयं रेभिलो बाह्यरूपेण पुरुषः दृश्यमानोपि

अपि च—

तं तस्य स्वरसंक्रमं मृदुगिरः श्लिष्टञ्च तन्त्रीस्वनं
वर्णानामपि मूर्च्छनान्तरगतं तारं विरामे मृदुम् ।
हेलासंयमितं पुनश्च ललितं रागाद् द्विरुच्चारितं
यत्सत्यं विरतेऽपि गीतसमये गच्छामि शृण्वन्निव ।। ५ ।।

गीतवैचित्र्येणास्मिन् स्त्रीत्वं प्रच्छन्नरूपेण वर्तते इति तर्कयामीति भावः । अत्रोत्प्रेक्षा-लंकारः वसन्ततिलका वृत्तम् ।। ४ ।।

विमर्श——इस श्लोक में सङ्गीतशास्त्र के कई पारिभाषिक शब्द प्रयुक्त हैं—तत्र रक्तं नाम वेणुवीणास्वराणामेकीभावे रक्तमित्युच्यते । मधुरं नाम स्वर-भावोपनीतललित-पदाक्षर-गुण-समृद्धम् । व्यक्तं नाम पदपदार्थ-विकारागमलोप-कृत्तद्धित··· विभक्त्यर्थ-वचनानां सम्यगुपपादनम् । (नारदशिक्षा——काले द्वारा टिप्पणी में उद्धृत ।) इसके अनुसार–वाद्य स्वरों का पूर्णतया मेल होना 'रक्त' कहा जाता है । 'मधुर'-स्वर तथा भाव के अनुकूल ललित पदों तथा वर्णों का प्रयोग, 'व्यक्त'=स्फुट—इसका अर्थ है——व्याकरण-सम्बन्धी शुद्धता । 'मन्ये' 'यदि' के प्रयोग से उत्प्रेक्षा अलंकार है । वसन्ततिलका छन्द है ।। ४ ।।

अन्वयः——सत्यम् (अस्ति), यत्, गीतसमये, विरते, अपि, मृदुगिरः, तस्य, वर्णानाम्, मूर्च्छनान्तरगतम्, अपि, तारम्, विरामे, मृदुम्, पुनः, हेलासंयमितम्, रागाद् द्विरुच्चारितम्, ललितम्, च, तम्, स्वरसंक्रमम्, श्लिष्टम्, तन्त्रीस्वनम्, च, शृण्वन्, इव (अहम् गच्छामि) ।। ५ ।।

शब्दार्थ——सत्यम्=सच है, यत्=कि, गीतसमये=गाने का समय, विरते अपि=बीत जाने पर भी, मृदुगिरः=मधुर आवाज वाले, तस्य=उस रेभिल के, वर्णानाम्=अक्षरों की, मूर्च्छनान्तरगतम्=मूर्च्छना (स्वरों का क्रम से आरोह तथा अवरोह) के मध्य में, अपि=भी, तारम्=अत्यधिक ऊँचा, विरामे=रुकने पर, मृदुम्=मधुर, मीठा, पुनः च=और फिर, हेलासंयमितम्=राग के आरोह आवरोह के अनौचित्य में नियमित अर्थात् अनौचित्यरहित, रागाद्=रागविशेष के कारण, द्विरुच्चारितम्=दो बार उच्चारण किये गये, और, ललितम्=ललित, तम्=अनुभूत उस, स्वरसङ्-क्रमम्=निषाद आदि स्वरों के आरोह-अवरोह-क्रम को, च=और, श्लिष्टम्=मिले हुये, तन्त्रीस्वनम्=वीणा के शब्द को, शृण्वन्=सुनता हुआ, इव=सा, गच्छामि=जा रहा हूँ ।। ५ ।।

अर्थ——और भी——

सच है कि गाने का समय बीत जाने पर भी, [मधुर आवाज वाले उस रेभिल के अक्षरों की मूर्च्छना के मध्य में भी अत्यधिक ऊँचा और रुकने पर मधुर, फिर

आरोह-अवरोह के अनौचित्य से रहित, रागविशेष के कारण दो बार उच्चारित किये गये और लालित्ययुक्त, उस (पहले सुने गये) निषाद आदि स्वरों के आरोह-अवरोह-क्रम को और उसमें मिली हुई वीणा की आवाज को सुनता हुआ सा जा रहा हूँ ।। ५ ।।

टीका—सत्यम्=तथ्यम् अस्ति, यत्, गीतसमये=गायनकाले, विरते=समाप्ते, अपि, मृदुगिरः=मधुरवाचः, तस्य=रेभिलस्य, वर्णानाम्=गानाक्षराणाम्, मूर्च्छनान्तरगतम्=मूर्च्छना तु –

> क्रमात् स्वराणां सप्तानामारोहश्चावरोहणम् ।
> सा मूर्च्छेत्युच्यते ग्रामस्था एताः सप्त सप्त च ।।

अथवा – यथा कुटुम्बिनः सर्वे एकीभूता भवन्ति, तथा स्वराणां सन्दोहो मूर्च्छनेत्यभिधीयते' इति पृथ्वीधरः । एवञ्च स्वराणामारोहावरोहक्रमः मूर्च्छना, तस्याः अन्तरगतम् = मध्ये विद्यमानम्, अपि, तारम् = उच्चैः, विरामे=अवसाने, मृदुम्=कोमलम्, मन्दमिति भावः, पुनः=तदनन्तरम्, हेलासंयमितम्=हेला=रागस्यारोहावरोहयोरनौचित्यम्, तत्र नियमितम्=संयमितम्, रागात्=रागविशेषात्, द्विरुच्चारितम्=द्विरुक्तम्, कुत्रचित् रागद्विरुच्चारितम्' इति समस्तः पाठः तत्र पञ्चम्यन्तेन सप्तम्यन्तेन वा समासः, ललितम्=लालित्ययुक्तम्, तम्=श्रुतपूर्वम्, स्वराणाम्=षड्जनिषादादिसप्तस्वराणाम्, संक्रमम्=आरोहावरोहरूपं शोभनं क्रमम्, श्लिष्टम्=तेन मिलितम्, तन्त्रीस्वनम्=वीणाशब्दम्, शृण्वन्=आकर्णयन्, इव=यथा, अहम्=चारुदत्तः, गच्छामि=व्रजामि । अत्रोत्प्रेक्षालंकारः, शार्दूलविक्रीडितं वृत्तम् ।। ५ ।।

विमर्श—इस श्लोक में विशेष्य-विशेषण-भावों के विषय में मतभेद हैं। (१) कुछ व्याख्याकारों ने 'मृदुगिरः' को षष्ठयन्त मान कर भी तत्पुरुष की कल्पना करके 'मधुर वाणी का' यह अर्थ किया है । परन्तु इसे बहुव्रीहि मान कर 'तस्य' का विशेषण मानना उचित है । इस प्रकार–मधुर वाणी वाले उस रेभिल के- यह अर्थ उचित है । (२) कुछ ने 'शृण्वन्' का कर्म माना है, यह भी ठीक नहीं है। (३) यहाँ 'तारम्' और 'मृदुम्' इन दोनों को 'स्वरसंक्रमम्' तथा 'तन्त्रीस्वनम्' इन दोनों का विशेषण मानना चाहिये । यह काले महोदय का कथन है । द्विः उच्चारितम्—यहाँ क्रिया की आवृत्ति अर्थ में सुच् प्रत्यय है । अतः–दो बार- यह अर्थ है । मूर्च्छना –यह संगीत शास्त्र का पारिभाषिक शब्द है —इसका लक्षण संस्कृत टीका में द्रष्टव्य है । यहाँ गानशैली का चरम उत्कर्ष और उसके दीर्घ कालिक प्रभाव का प्रतिपादन है । 'शृण्वन् इव' यहाँ इव का प्रयोग क्रियावाचक के साथ है । अतः उत्प्रेक्षा अलंकार है और शार्दूलविक्रीडित छन्द है ।।५।।

विदूषकः—भो वअस्स ! आवणन्तर-रच्छा-विहाएसु सुहं कुक्कुरा वि सुत्ता । ता गेहं गच्छेम्ह । (अग्रतोऽवलोक्य) वअस्स ! पेक्ख पेक्ख; एसो वि अन्धआरस्स विअ अवआसं देन्तो अन्तरिक्ख-पासादादो ओदरदि भअवं चन्दो । (भो वयस्य ! आपणान्तर-रथ्याविभागेषु सुखं कुक्कुरा अपि सुप्ताः । तद्गृहं गच्छावः । वयस्य ! प्रेक्षस्व प्रेक्षस्व, एषोऽपि अन्धकारस्येव अवकाशं ददद् अन्तरिक्षप्रासादाद् अवतरति भगवान् चन्द्रः ।)

चारुदत्त—सम्यगाह भवान् ।

असौ हि दत्त्वा तिमिरावकाशमस्तं व्रजत्युन्नतकोटिरिन्दुः ।
जलावगाढस्य वनद्विपस्य तीक्ष्णं विषाणाग्रमिवावशिष्टम् ॥ ६ ॥

अर्थ—विदूषक—हे मित्र ! बाजार के बीच की गलियों में कुत्ते भी सुख से सो गये हैं । तो हम दोनों भी घर चलें । (सामने देख कर) मित्र ! देखो, देखो, अंधकार को (समुचित रूप से फैलने के लिये) अवकाश (अवसर या स्थान) प्रदान सा करते हुये भगवान् चन्द्र अन्तरिक्ष रूपी महल से उतर रहे हैं । (अर्थात् अस्त होने लगे हैं ।)

टीका—आपणस्य=हट्टस्य, अन्तरे=मध्ये, रथ्यानाम्=प्रतोलीनाम्, उपमार्गाणामिति भावः, विभागेषु = स्थानेषु, कुक्कुराः = श्वानः, सुखम् = निश्चिन्तम्, अपिना अन्येषां सर्वेषां ग्रहणमिति बोध्यम्, अवकाशम् = प्रसारणाय स्थानम्, इव शब्दः क्रियाविशेषणम्—ददत् इव, अन्तरिक्ष-प्रासादात्—अन्तरिक्षमेव प्रासादः, तस्मात्, अवतरति=अधः आयाति, अस्तं यातीति भावः ।

अन्वयः—हि, जलावगाढस्य, वनद्विपस्य, अवशिष्टम्, तीक्ष्णम्, विषाणाग्रम्, इव, उन्नतकोटिः, असौ, इन्दुः, तिमिरावकाशम्, दत्त्वा, अस्तम् व्रजति ॥ ६ ॥

शब्दार्थ—हि=क्योंकि, जलावगाढस्य=पानी में डूबे हुये, वनद्विपस्य=जंगली हाथी के, अवशिष्टम्=पानी में डूबने से बचे हुये अर्थात् पानी के ऊपर निकले हुये, तीक्ष्णम्=तीखे, नोकदार, विषाणाग्रम्=दान्त के अगले हिस्से, इव = के समान, उन्नतकोटिः=उठे हुये (डेढ़े) किनारों वाला, असौ=यह, इन्दुः=चन्द्रमा, तिमिरावकाशम्=अन्धेरे को स्थान, दत्त्वा=देकर, अस्तम्=अस्ताचल की ओर, याति=जा रहा है ॥ ६ ॥

अर्थ—चारुदत्त—आपने ठीक ही कहा—

क्योंकि पानी में डूबे हुये जंगली हाथी के (पानी में डूबने से) बचे हुये तीखे, दाँत के अग्रभाग (किनारे) के समान उठे हुये किनारों वाला यह चन्द्रमा अंधेरे को अवकाश देता हुआ सा अस्त होने जा रहा है ॥ ६ ॥

टीका—हि=यतः, जलावगाढस्य=सलिले निमग्नस्य, वनद्विपस्य=वन्यगजस्य,

चारुदत्तः—(सानुकम्पम्) **अल सुप्तजनं प्रबोधयितुम्।**

चेटः—अज्जमित्तेअ ! अहं पाणिअं गेण्हे, तुमं पादाइं धोवेहि।
(आर्यमैत्रेय ! अहं पानीयं गृह्णामि, त्वं पादौ धाव।)

विदूषकः—(सक्रोधम्) **भो वअस्स ! एसो दाणिं दासीए पुत्तो भविअ पाणिअं गेह्लदि, मं उण बम्हणं पादाइं धोवावेदि।** (भोः वयस्य ! एष इदानीं दास्याः पुत्रो भूत्वा पानीयं गृह्णाति, मां पुनर्ब्राह्मणं पादौ धावयति।)

चारुदत्तः—वयस्य मैत्रेय ! त्वमुदकं गृहाण, वर्द्धमानकः पादौ प्रक्षालयतु।

चेटः—अज्ज मित्तेअ ! देहि उदअं। (आर्य मैत्रेय ! देहि उदकम्।)

(विदूषकस्तथा करोति। चेटश्चारुदत्तस्य पादौ प्रक्षाल्यापसरति)

चारुदत्तः—दीयतां ब्राह्मणस्य पादोदकम्।

विदूषकः—किं मम पादोदएहिं; भूमीए ज्जेव मए ताडिदगद्दहेण विअ पुणो वि लोट्ठिदव्वं। (किं मम पादोदकैः; भूम्यामेव मया ताडितगर्दभेनेव पुनरपि लोठितव्यम्।)

चेटः—अज्ज मित्तेअ ! बम्हणे क्खु तुमं। (आर्य मैत्रेय ! ब्राह्मणः खलु त्वम्।)

विदूषकः—जधा सव्वणागाणं मज्झे डुण्डुहो तधा सव्वबम्हणाणं मज्झे अहं बम्हणो। (यथा सर्वनागानां मध्ये डुण्डुभः, तथा सर्वब्राह्मणानां मध्येऽहंब्राह्मणः)

चारुदत्त—(दयाभाव से) सोये हुये व्यक्ति को मत जगाओ।

चेट—आर्य मैत्रेय ! मैं पानी ले लेता हूँ और तुम पैर धोवो।

विदूषक—(गुस्सा के साथ) हे मित्र ! यह दासी का पुत्र होकर इस समय पानी (का पात्र) ले रहा है। और मुझ ब्राह्मण से पैर धुलवा रहा है।

चारुदत्त—मित्र मैत्रेय ! तुम पानी ले लो और वर्द्धमानक पैर धोवे।

चेट—आर्य मैत्रेय ! पानी डालिये।

(विदूषक पानी गिराता है। चेट चारुदत्त के पैर धोकर हट जाता है।)

टीका—स्वरसंयोगः=कण्ठध्वनिः, निषीदतम्=उपविशतम्, युवामिति शेषः। शब्दापय=आकारय, शब्दापयेत्यत्र पुगागमश्चिन्त्यः। प्रबोधयितुम्=उत्थापयितुम्, अलम्=निष्प्रयोजनम्, धाव=प्रक्षालय, √धाव गतिशुद्धयोरित्यस्य लोटि मध्यमपुरुषस्य द्विवचनम्। अपसरति=निवर्तते।

अर्थ—चारुदत्त—ब्राह्मण को भी पैर धोने का पानी दो।

विदूषक—मुझे पादोदक से क्या ? पीटे गये गधे के समान मुझे पुनः जमीन पर ही लोटना है, सोना है।

चेट—आर्य मैत्रेय ! आप तो ब्राह्मण हैं।

विदूषक—जिस प्रकार सभी साँपों के बीच में (विषहीन) डुण्डुभ (दोमुहाँ) साँप होता है उसी प्रकार सभी ब्राह्मणों के बीच में मैं (क्षुद्र) ब्राह्मण हूँ।

चेटः—अज्जमित्तेअ ! तधावि धोइश्शं । (तथा कृत्वा) अज्जमित्तेअ ! एदं तं शुवण्णभण्डअं मम दिवा, तुह लत्तिं च । ता गेह्ण । (आर्यमैत्रेय ! तथापि धाविष्यामि । आर्यमैत्रेय ! एतत् तत् सुवर्णभाण्डं मम दिवा, तव रात्रौ च, तद् गृहाण ।)

(इति दत्त्वा निष्क्रान्तः ।)

विदूषकः—(गृहीत्वा) अज्ज वि एदं चिट्ठदि । किं एत्थ उज्जइणीए चोरो वि णत्थि, जो एदं दासीए पुत्तं णिद्दाचोरं ण अवहरदि । भो वअस्स ! अब्भन्तर-चतुस्सालअं पवेसआमि णं (अद्यापि एतत् तिष्ठति ? किमत्र उज्जयिन्यां चौरोऽपि नास्ति, य एतं दास्याः पुत्रं निद्राचौरं नापहरति । भो वयस्य ! अभ्यन्तरचतुःशालकं प्रवेशयामि एनम् ।)

चारुदत्तः—

> अलं चतुःशालमिमं प्रवेश्य
> प्रकाशनारीधृत एष यस्मात् ।
> तस्मात् स्वयं धारय विप्र ! तावत्,
> यावन्न तस्याः खलु भोः समर्प्यते ॥ ७ ॥

चेट आर्य मैत्रेय ! फिर भी मैं आपके पैर धोऊँगा । (पैर धोकर) आर्य मैत्रेय ! यह स्वर्णाभूषण-पात्र जो मुझे दिन में और आपको रात में (रखना) है, इसलिये इसे लीजिये ।

(यह कह कर देकर चला जाता है ।)

विदूषक—(लेकर) अभी तक (स्वर्णाभूषणपात्र) बचा हुआ है ? क्या इस उज्जैन नगर में कोई भी चोर नहीं है, जो इस दासी के पुत्र, नींद के चोर को नही चुरा ले जाता है। मित्र ! इस (स्वर्णाभूषण पात्र) को भीतरी चौशाला में पहुँचा देता हूँ ।

अन्वयः—इमम्, चतुःशालम्, प्रवेश्य, अलम्, यस्मात्, एषः, प्रकाशनारी-धृतः, तस्मात्, भोः, विप्र !, तावत्, स्वयम्, धारय, यावत्, खलु, तस्याः, न, समर्प्यते ॥ ७ ॥

शब्दार्थ—इमम् = इस स्वर्णाभूषणपात्र को, चतुःशालम् = चौशाला में, प्रवेश्य=भेजकर अलम्=बस, अर्थात् वहाँ मत भेजो; यस्मात्=क्योंकि, एषः=यह स्वर्णाभूषणपात्र, प्रकाशनारीधृतः = वेश्या वसन्तसेना द्वारा धरोहर रखा गया है, तस्मात्=इसलिये, भोः विप्र !=हे विप्र मैत्रेय !, तावत्=तब तक, स्वयम्=अपने पास, धारय=रखो, यावत खलु=जब तक कि, तस्याः = उस वसन्तसेना को न=नहीं, समर्प्यते=वापस दे दिया जाता है ॥ ७ ॥

(निद्रां नाटयन् 'तं तस्य स्वरसंक्रमम्' इत्यादि पुनः पठति ।)

विदूषकः—अवि णिद्दाअदि भवं ? (अपि निद्राति भवान् ?)

चारुदत्तः—अथ किम् ?

> **इयं हि निद्रा नयनावलम्बिनी**
> **ललाटदेशादुपसर्पतीव माम् ।**
> **अदृश्यरूपा चपला जरेव या**
> **मनुष्यसत्त्वं परिभूय वर्द्धते ॥ ८ ॥**

अर्थ—इस स्वर्णाभूषणपात्र को भीतर चौशाला में ले जाना व्यर्थ है । चूँकि यह वेश्या की धरोहर है, अतः हे विप्र । तब तक अपने ही पास रखो जब तक कि उस (वसन्तसेना) को वापस नहीं दे दी जाती ॥ ७ ॥

टीका—इमम्=स्वर्णाभूषणसमूहम्, चतुःशालम्=चतस्रः शालाः यस्मिन् तम्, अन्योन्याभिमुखीभूतगृहचतुष्टययुक्तमित्यर्थः, प्रवेश्य = संस्थाप्य, अलम्=व्यर्थम्, प्रतिषेधार्थे क्त्वः ल्यप्, स्थापनं न सुरक्षितमिति भावः, यस्मात्=यस्मात् कारणात्, एषः=आभूषणसमूहः, प्रकाशनारीधृतः=प्रकाशनारी=वेश्या, तया धृतः=न्यासरूपेण स्थापितः, तस्मात्=तस्मात् कारणात्, भोः विप्र !=हे ब्राह्मण !, तावत्=तावत्-कालपर्यन्तम्, स्वयम्=स्वसमीपे एव, धारय=स्थापय, सुरक्षित रक्ष, यावत्=यावत्-कालपर्यन्तम्, तस्याः=वसन्तसेनायाः सम्बन्धसामान्ये षष्ठी, 'हस्ते' इति शेषो वा, न=नैव, समर्प्यते=प्रत्यर्प्यते । काव्यलिङ्गमलङ्कारः इन्द्रवज्रोपेन्द्रवज्रयोः सम्मेल-नादुपजातिर्वृत्तम् ॥ ७ ॥

विमर्श—अलं प्रवेश्य—यहाँ 'अलंखल्वोः प्रतिषेधयोः प्राचां क्त्वा (पा. सू. ३।४।१८) से क्त्वा=ल्यप् प्रत्यय हुआ है । चतुःशालम्—आमने सामने चार भवनों का होना प्राचीन काल में प्रचलित था । अथवा आमने सामने चार कमरों वाला भीतरी मकान । धृतः=रखा हुआ, कुछ ने धारण किया हुआ—यह अर्थ किया है, वह तर्कसंगत नहीं है । तस्याः यहाँ सम्बन्धसामान्य में षष्ठी मानना चाहिये, अथवा 'हस्ते' आदि का अध्याहार कर लेना चाहिये । यहाँ चारुदत्त अपने जीर्ण शीर्ण मकान में स्वर्णाभूषण को रखना सुरक्षित नहीं समझता है । अतः हर समय किसी न किसी को सुरक्षा का उत्तरदायी बनाना चाहता है । यहाँ इन्द्रवज्रा और उपेन्द्रवज्रा का योग होने से उपजाति छन्द है ॥ ७ ॥

(निद्रा का अभिनय करता हुआ 'उस रेभिल की वह स्वरयोजना' -इत्यादि को फिर पढ़ता है ।)

अर्थ—**विदूषक**—क्या आप सोने लगे हैं ?

अन्वयः—हि, इयम्, निद्रा, ललाटदेशात्, नयनावलम्बिनी, (सती),

विदूषकः—ता सुवेह्म । (तत् स्वपिवः ।) (नाटयेन स्वपिति ।)

(ततः प्रविशति शर्विलकः ।)

शर्विलकः—

कृत्वा शरीर-परिणाह-सुखप्रवेशं शिक्षाबलेन च बलेन च कर्ममार्गम् ।

माम्, उपसर्पति, इव, चपला, अदृश्यरूपा, या, जरा, इव, मनुष्यसत्त्वम्, परिभूय, वर्द्धते ॥ ८ ॥

शब्दार्थ—हि=क्योंकि, इयम्=यह, निद्रा=नींद, ललाटदेशात्=मस्तक से, नयनावलम्बिनी=आँखों पर आती हुई, आखों पर ठहरने वाली, सती=होती हुई, माम्=मुझ चारुदत्त के, उपसर्पति इव=समीप में आ सी रही है, चपला=चञ्चल, अदश्यरूपा=न दिखाई देने वाली, या=जो, जरा इव=बुढ़ौती के समान, मनुष्य-सत्त्वम् = आदमी के बल को, परिभूय = तिरस्कृत करके, पराजित करके, वर्द्धते= बढ़ती है ॥८॥

अर्थ—चारुदत्त—और क्या ?

क्योंकि यह नींद मस्तक से नीचे आखों पर छा जाने वाली होती हुई मुझ चारुदत्त के पास आ सी रही है। चञ्चल, न दिखाई देने वाली बुढ़ौती के समान जो नींद मनुष्य की शक्ति को अभिभूत करके बढ़ती है। (अर्थात् नींद के सामने किसी की शक्ति नहीं चल पाती है।) ॥ ८ ॥

टीका—हि=यतः, इयम्=वर्तमाना, अनुभूयमाना, निद्रा=स्वापः, माम्= चारुदत्तम्, उपसर्पति इव=समीपम् आगच्छति इव, चपला=अस्थिरा, चञ्चला, अतएव अदृश्यरूपा=अप्रत्यक्षरूपा, जरा=वृद्धावस्था, इव=तुल्या, या=निद्रा, मनुष्य-सत्त्वम्=मनुष्याणां बलम्, अभिभूय=तिरस्कृत्य, पराभूय, वर्द्धते=एधते, एवञ्च निद्रायाः विषये न कस्यापि शक्तिः प्रभवति। अतोऽहमसमर्थ इति भावः। अत्र पूर्वार्द्धे उत्प्रेक्षा, उत्तरार्द्धे चोपमा, वंशस्थं वृत्तम् ॥ ८ ॥

विमर्श—इसमें निद्रा की अपराजेय शक्ति का वर्णन है। ललाट से नयनों तक नीचे आने की कल्पना के साथ समीपागमन की उत्प्रेक्षा की गई है। अतः पूर्वार्द्धे में 'क्रिया के साथ इव' होने से उत्प्रेक्षा अलंकार है। और उत्तरार्द्ध में सादृश्यार्थक इव होने से उपमा है। दोनों की संसृष्टि है। नयनावलम्बिनी— नयने अवलम्बेते—इस विग्रह में णिनि प्रत्यय है। परिभूय —परि+√भू+ क्त्वा=ल्यप् ॥ ८ ॥

अर्थ—विदूषक—तो हम दोनों सो जायें।

(सोने का अभिनय करता है।)

(इसके बाद शर्विलक प्रवेश करता है।)

अन्वयः—शिक्षाबलेन, च, बलेन, च, शरीरपरिणाह-सुखप्रवेशम्, कर्ममार्गम्,

गच्छामि भूमिपरिसर्पणघृष्टपार्श्वो निर्मुच्यमान इव जीर्णतनुर्भुजङ्गः ॥९॥

कृत्वा, भूमिपरिसर्पणघृष्टपार्श्वः, (कञ्चुकेन) निर्मुच्यमानः, जीर्णतनुः, भुजङ्गः, इव, गच्छामि ॥ ९ ॥

शब्दार्थ——शिक्षाबलेन=(चोरी करने के लिये सीखी गई) शिक्षा के बल से, च=और, बलेन=अपने शारीरिक बल से, च=भी, शरीरपरिणाह-सुख-प्रवेशम्=अपने शरीर की लम्बाई चौड़ाई के अनुसार आराम से भीतर घुस जाने योग्य, कर्ममार्गम्=चोरीरूप कर्म के लिये रास्ता को, कृत्वा=बनाकर, भूमिपरिसर्पण-घृष्टपार्श्वः=जमीन पर घिसटने के कारण रगड़ खाये हुये पार्श्व=कुक्षि वाला, (केंचुल से) निर्मुच्यमानः=मुक्त होता हुआ, जीर्णतनुः=जर्जर देह वाले, भुजङ्गः इव=साँप के समान, गच्छामि=जा रहा हूँ ॥ ९ ॥

अर्थ——(चोरी करने के लिये सीखी गई) शिक्षा के बल से और (शारीरिक) बल से, अपने शरीर के परिमाण के अनुसार सुख से प्रवेश करने योग्य, चौर्यकार्य करने के लिये रास्ते को बनाकर, जमीन पर सरकने के कारण रगड़ खायी हुई कोखों (कुक्षियों) वाला मैं केंचुल से मुक्त होते हुये, जीर्ण शरीर वाले साँप के समान (भीतर) जा रहा हूँ ॥ ९ ॥

टीका—सम्प्रति चौर्यकर्मनिपुणः शर्विलकः स्वकीयं कर्त्तव्यं वर्णयन्नाह—कृत्वेति । शिक्षाबलेन=चौर्यकर्मज्ञानसामर्थ्येन, बलेन=शारीरिकशक्त्या, च=तथा, शरीरस्य=देहस्य, परिणाहः=विशालता, तस्य, सुखेन=अकष्टेन, प्रवेशः=अन्तर्गमनम्, यत्र तं तथाविधम्, कर्ममार्गम्=चौर्यकर्मणः पन्थानं सन्धिमित्यर्थः, कृत्वा=विधाय, भूमिपरिसर्पणघृष्टपार्श्वः=भूमेः=पृथिवीतलात्, भूमौ=पृथिव्यां वा यत् परिसर्पणम्=सन्ध्यन्तरेण गृहमध्यप्रवेशः, तेन घृष्टौ=प्राप्तघर्षणौ, कक्षौ=कक्षाधोभागौ यस्य सः तथाभूतः, सन्, अत एव, निर्मुच्यमानः=कञ्चुकात् हीयमानः, स्वयमेव परित्यक्त-निर्मोक्त इत्यर्थः, अत्र कर्मकर्तरि शानच् बोध्यः, जीर्णतनुः=जीर्णा=जर्जरीभूता तनुः=शरीरं यस्य स तादृशः, भुजङ्ग इव=सर्प इव (अहम्=शर्विलकः) गच्छामि=प्रविशामि । अत्र घृष्टपार्श्वशर्विलकस्य त्यक्तनिर्मोकभुजङ्गेन साम्यकथनादुपमालङ्कारः । वसन्ततिलकं वृत्तम् ॥ ९ ॥

विमर्श——परिणाह——शरीर की लम्बाई चौड़ाई 'परिणाहो विशालता—' (अमरकोश——२।६।११४) पार्श्व——कुक्षि के नीचे का भाग । निर्मुच्यमानः——यहाँ कर्मकर्तृ अर्थ में शानच् समझना चाहिये——केंचुल द्वारा स्वयं छोड़ा जाता हुआ । यहाँ शर्विलक और साँप का साम्य होने से उपमा अलंकार है और वसन्ततिलका छन्द है ॥ ९ ॥

(नभोऽवलोक्य सहर्षम्)

अये ! कथमस्तमुपगच्छति स भगवान् मृगाङ्कः । तथा हि—

नृपति-पुरुष-शङ्कित-प्रचारं परगृह-दूषण-निश्चितैकवीरम् ।
घन-तिमिर-निरुद्ध-सर्वभावा रजनिरियं जननीव संवृणोति ॥ १० ॥

अन्वयः—घनतिमिरनिरुद्धसर्वभावा, इयम्, रजनिः, जननिः, इव, नृपतिपुरुषशङ्कितप्रचारम्, परगृहदूषणनिश्चितैकवीरम्, (माम्) संवृणोति ॥ १० ॥

शब्दार्थ—घनतिमिरनिरुद्धसर्वभावा=घने अन्धेरे से सभी वस्तुओं को ढकने वाली, इयम्=यह, रजनिः=रात, जननी इव=माता के समान, नृपतिपुरुषशङ्कितप्रचारम्=राजा के सिपाहियों द्वारा जिसके आने जाने में शंका की जा रही है, ऐसे, और, परगृहदूषणनिश्चितैकवीरम्=दूसरे के घर में सेंध आदि लगाने में निश्चित रूप से प्रधान बहादुर (माम्=मुझ शर्विलक को), संवृणोति=छिपा लेती है, ढक ले रही है ॥ १० ॥

अर्थ—(आकाश की ओर देखकर हर्षसहित) अरे ! क्या चन्द्र भगवान् अस्त होने जा रहे है ? जैसा कि—

घने अन्धेरे से सभी पदार्थों को ढक लेने वाली यह रात, माता के समान. सिपाहियों द्वारा जिसके आने जाने में शंका की जा रही है, जो दूसरों के घरों में सेंध लगाने में निश्चित रूप से प्रधान बहादुर है, ऐसे मुझे ढक ले रही है, छिपा ले रही है ॥ १० ॥

टीका—अस्तं यान्तं चन्द्रं विलोक्य प्रसन्नः शर्विलकस्तदानीन्तनीं रजनीवृत्तिं वर्णयन्नाह—नृपतीति । घनतिमिरनिरुद्धसर्वभावा—प्रगाढान्धकारेण निरुद्धाः = आच्छादिताः, सर्वे=सकलाः, भावाः=पदार्थाः यस्यां सा, इयम्=वर्तमाना, रजनिः= रात्रिः, जननी इव = माता इव, नृपतिपुरुषैः = राजपुरुषैः, शङ्कितः=चौरत्वादिना वितर्कितः, प्रचारः = गमनं यस्य सः तम्, तथा, परगृहेषु = अन्यदीयभवनेषु यत् दूषणम्=सर्वस्वहरणादिरूपः, सन्धिच्छेदनादिरूपो वा दोषः, तत्र निश्चितः=अवधारितः, एकः = प्रधानः, वीरः = शूरः, तम् (माम् = शर्विलकम्) संवृणोति = गोपायति, अवगुण्ठनेन रक्षतीति भावः । यथा दुष्टमपि सुतं जननी भयात् दण्डात् वा रक्षति तथैव रजनी अपि चौरतनयं संवृणोति । एवञ्चोपमालंकारः, पुष्पिताग्रा वृत्तम् ॥ १० ॥

विमर्शः—घनतिमिरनिरुद्धसर्वभावा—इसके स्थान पर घन-पटल-तमो-निरुद्ध-तारा—यह पाठभेद मिलता है । इसका अर्थ है—घने बादलों के समान अन्धेरे से तारागणों को ढक देने वाली । एकवीरः—एकश्चासौ वीरः—इस कर्मधारय समास में—'पूर्वा–पर-प्रथम-चरम-जघन्य-मध्य-मध्यम-वीराश्च' (पा. सू. २।१।५८)

वृक्षवाटिकापरिसरे सन्धिं कृत्वा प्रविष्टोऽस्मि मध्यमकम। तद्याव-दिदानीं चतुःशालकमपि दूषयामि । भोः !

काम नीचमिदं वदन्तु पुरुषाः स्वप्ने च यद्वर्द्धते,
विश्वस्तेषु च वञ्चनापरिभवश्चौर्यं न शौर्यं हि तत् ।
स्वाधीना वचनीयतापि हि वरं बद्धो न सेवाञ्जलिः,
मार्गो ह्येष नरेन्द्रसौप्तिकवधे पूर्वं कृतो द्रौणिना ॥ ११ ॥

से 'वीर' शब्द का पूर्वनिपात होने से 'वीरैक' ऐसा ही होना चाहिये ? इसका समाधान यह है कि 'विशेषणं विशेष्येण बहुलम्' (पा सू. २।१।५७) के बहुलग्रहण से 'एक' शब्द का भी पूर्वनिपात हो सकता है। अतः यह रूप भी कथञ्चित् शुद्ध ही समझना चाहिये । तत्त्वबोधिनी में—एकेषु=मुख्येषु वीरयते=पराक्रमते—यह व्युत्पत्ति दी है। जिस प्रकार दुष्ट भी सन्तान की रक्षा माता करती है उसी प्रकार रात्रि भी अन्धेरे के द्वारा चोर की रक्षा करती है। अतः उपमा अलंकार है। पुष्पिताग्रा छन्द है ॥ १० ॥

अर्थ—फुलवारी की चहारदीवार में सेंध फोड़ कर मध्यमक=बीच के महल में घुस आया हूँ । अब चतुःशालक=चौसाल में भी सेंध फोड़ता हूँ ।

अन्वयः—स्वप्ने, विश्वस्तेषु, च, वञ्चनापरिभवः, चौर्यम, च, यत् वर्द्धते, इदम्, पुरुषाः, कामम्, नीचम्, वदन्तु, हि, तत्, शौर्यम्, न, (अस्ति), स्वाधीना, वचनीयता, अपि, हि, वरम्, बद्धः, सेवाञ्जलिः, न, (वरम्), हि, एषः, मार्गः, पूर्वम्, द्रौणिना, नरेन्द्रसौप्तिकवधे, कृतः ॥ ११ ॥

शब्दार्थ—स्वप्ने=सोने पर, नींद के समय में, च=और, विश्वस्तेषु=विश्वास किये हुये लोगों में, वञ्चनापरिभवः=ठगाई के द्वारा अपमान, और चौर्यम्=चोरी, यत् वर्द्धते = जो अधिक होती है, इदम् = इसको, पुरुषाः=सज्जन लोग, कामम् = अपनी इच्छानुसार, नीचम् = निकृष्ट, वदन्तु = कहें, हि=क्योंकि, तत्=वह चोरी करना, शौर्यम्=बहादुरी का कार्य, न = नहीं है (क्योंकि शूर तो सामने आक्रमण करते हैं ।) तथापि, स्वाधीना=अपने अधीन, वचनीयता=चोरी आदि की निन्दा, अपि=भी, वरम् = अच्छी है, परन्तु, बद्धः = बाँधी गई, जोड़ी गई, सेवाञ्जलिः = धनिकों की सेवा के लिये अञ्जलिपुट, न = नहीं, वरम् = ठीक है। हि = क्योंकि, एषः=यह मेरे द्वारा किया जाने वाला, मार्गः=चोरी करना रूपी मार्ग, तो, पूर्वम्= बहुत पहले ही, द्रौणिना = द्रोणपुत्र अश्वत्थामा ने, नरेन्द्रसौप्तिकवधे = राजा (युधिष्ठिर) के सोये हुये सैनिकों या पुत्रों के वध के लिये, कृतः=अवलम्बित किया था । (अतः ब्राह्मण होकर मेरा यह कार्य निन्दित नहीं है) ॥ ११ ॥

अर्थ—अरे—

सोये हुये और विश्वस्त लोगों में ठगना रूपी अपमान और चोरी जो बढती है=अधिक होती है, इसे सज्जन लोग, भले ही, चाहे जितना नीच कर्म कहें, क्योंकि यह चोरी करना शूर का कार्य नहीं है तथापि अपने अधीन रहने वाली यह चोरी करने की निन्दा भी अच्छी है किन्तु (धनिकों के सामने) नौकरी के लिये हाथ जोड़ना अच्छा नहीं है। मैं जो कर रहा हूँ यह रास्ता पहले द्रोणाचार्य के पुत्र अश्वत्थामा ने राजा युधिष्ठिर के सोते हुये सैनिकों या सन्तानों के वध के लिये बनाया था। (अतः मुझ ब्राह्मण के लिये भी चोरी निन्दित नहीं मानी जानी चाहिये) ॥ ११ ॥

टीका—चौर्यस्य दुष्टत्वे सर्वेषामैकमत्येऽपि आत्मनस्तदाचरणे युक्तिमुद्भावयन्नाह—काममिति। स्वप्ने=निद्रावस्थायाम्, न तु जागरणावस्थायामिति भावः, विश्वस्तेषु = विश्रब्धेषु, च, वञ्चनापरिभवः = प्रतारणाद्वारा अवमानना, चौर्यम्= चौरकार्यम्, च, यद् वर्धते=प्रसरति, इदम्=वञ्चनं चौर्यञ्च, पुरुषाः=साधवः, कामम्= यथेष्टम्, नीचम् = निकृष्टम्, वदन्तु = कथयन्तु, अत्र मे कापि विप्रतिपत्तिर्नास्ति। हि=यतः, तत्=वञ्चनं चौर्यञ्च, शौर्यम्=शूरकर्म, शूरभावो वा, न, भवतीति भावः; शूराः हि साक्षात् स्वबलेन परधनादिकं हरन्ति, अत्र तु न तथेति बोध्यम्; परन्तु मम तु तथा मतं नास्तीत्यत आह—स्वाधीना = स्ववशा, वचनीयता = चौर्यादिपरीवादोऽपि, हि=निश्चयेन, वरम्=मनाक्प्रियम्, किन्तु, बद्धः=रचितः, सेवाञ्जलिः= धनिकजनसेवार्थं करपुटयोजनं न वरमिति शेषः, हि=यतः, एषः=मयाऽनुसृतः, मार्गः =चौर्यरूपः पन्थाः, पूर्वम्=पुरा, प्रथमं वा, द्रौणिना=द्रोणपुत्रेण अश्वत्थाम्ना, नरेन्द्रसौप्तिकानाम्=निद्रितसैन्यानाम्, वधे=वधार्थे, इयम् निमित्तसप्तमी, कृतः=अवलम्बितः अतो ब्राह्मणो भूत्वा न अहमेव प्रथमं करोमीति भावः। पुरा किल पितृवधामर्षोद्दीपितः द्रौणिः कुरुक्षेत्रसंग्रामावसानरजन्यां पाण्डवशिविरे त्रिपुरारिं रक्षिणं विधाय हतावशिष्टान् सुखसुप्तान् पाण्डवयोधान् कौशलेन शूलिनं परितोष्य तदनुमतिमनुप्राप्य शिविरं च प्रविश्य निजघान—इति भारतीयसौप्तिकपर्वकथाऽत्रानुसन्धेया। अत्र चौर्ये प्रस्तुते अप्रस्तुतस्य वञ्चनापरिभवस्यापि एकवाक्यान्तर्गततया समावेशात् दीपकोऽलङ्कारः, कारणेन कार्यसमर्थनरूपोऽर्थान्तरन्यासश्चेत्युभयोः संसृष्टिः, शार्दूलविक्रीडितं वृत्तम् ॥ ११ ॥

विमर्श—यहाँ अन्वय पर ध्यान देना चाहिये क्योंकि श्लोक में दो चकार प्रयुक्त हैं इन्हें इस प्रकार जोड़ना चाहिये—(१) स्वप्ने विश्वस्तेषु च (२) वञ्चनापरिभवः चौर्यं च—इन दोनों का ही 'वर्द्धते' के साथ सम्बन्ध है। नरेन्द्रसौप्तिकवधे—यहाँ महाभारत की कथा देखनी चाहिये। जब कौरवों की हार

तत् कस्मिन्नुद्देशे सन्धिमुत्पादयामि ? ।

देशः को नु जलावसेकशिथिलो यस्मिन्न शब्दो भवेत्
भित्तीनाञ्च न दर्शनान्तरगतः सन्धिः करालो भवेत् ।
क्षारक्षीणतया च लोष्टककृशं जीर्णं क्व हर्म्यं भवेत्
कस्मिन् स्त्रीजनदर्शनञ्च न भवेत् स्यादर्थसिद्धिश्च मे ।। १२ ।।

होती जा रही थी । द्रोणाचार्य का वध हो चुका था तो एक रात अश्वत्थामा पाण्डवों के शिविर में घुस आये और वहाँ सोये युधिष्ठिर के पुत्रों और सैनिकों को मार डाला । शर्विलक का आशय यह है कि जब अश्वत्थामा जैसे ब्राह्मण ने चोरी से वध जैसा दुष्कर्म कर दिया तो मुझ ब्राह्मण का भी चोरी करना गर्हित नहीं है । दूसरों की सेवा करने की अपेक्षा चोरी करना ठीक है । यहाँ चौर्य प्रस्तुत है वञ्चनापरिभव अप्रस्तुत है, दोनों का एक वाक्य में समावेश होने से अप्रस्तुत-प्रशंसा अलंकार है । और कारण से कार्य का समर्थन होने से अर्थान्तरन्यास भी है । दोनों की संसृष्टि है । शार्दूलविक्रीडित छन्द है ।। ११ ।।

अन्वयः—कः, नु, देशः, जलावसेकशिथिलः, (भवेत्), यस्मिन्, शब्दः, न, भवेत्, यस्मिन्, च, भित्तीनाम्, करालः, सन्धिः, दर्शनान्तरगतः, न, भवेत्, क्व, च, हर्म्यम्, क्षारक्षीणतया, लोष्टककृशम्, जीर्णम् च, भवेत्, कस्मिन्, च, स्त्रीदर्शनम्, न, भवेत्, मे, अर्थसिद्धिः, च, स्यात् ।। १२ ।।

शब्दार्थ—कः नु=कौन सा, देशः=स्थान, जलावसेकशिथिलः=निरन्तर पानी गिरते रहने से कमजोर, भवेत्=हो गया होगा, यस्मिन्=जिस स्थान पर, शब्दः=आवाज, न=नहीं, भवेत्=न हो, यस्मिन् च=और जहाँ पर, भित्तीनाम्=दीवालों की, करालः=बड़ी, सन्धिः=सेंध, दर्शनान्तरगतः=दिखाई देने योग्य, न=नहीं, भवेत्=हो, क्व च=और कहाँ पर, हर्म्यम्=महल (की दीवाल), क्षारक्षीणतया=लोनख लग जाने से कमजोर होने के कारण, लोष्टककृशम्=कमजोर ईंटों वाला, जीर्णम्=गला हुआ, भवेत्=हो, कस्मिन् च=और कहाँ पर, स्त्रीदर्शनम्=स्त्री का दर्शन, न=नहीं, भवेत्=हो, मे=मेरी, अर्थसिद्धिः=प्रयोजन की सिद्धि, स्यात्=हो जाय ।। १२ ।।

अर्थ—तो किस स्थान पर सेंध लगाऊँ ?

कौन सा स्थान निरन्तर पानी गिरते रहने के कारण कमजोर हो गया होगा जहाँ (सेंध लगाते समय) आवाज नहीं होगी, जहाँ दीवालों की बड़ी सेंध किसी को दिखाई नहीं देगी । और कहाँ पर महल (की दीवाल) लोनख लग जाने से कमजोर ईंटों वाला और जीर्ण हो गया होगा । और कहाँ पर स्त्री नहीं दिखाई देगी तथा मेरे मनोरथ की सिद्धि हो जायगी ।। १२ ।।

(भित्तिं परामृश्य) **नित्यादित्य-दर्शनोदकसेचनेन दूषितेयं भूमिः क्षार-क्षीणा; मूषिकोत्करश्चेह । हन्त ! सिद्धोऽयमर्थः । प्रथममेतत् स्कन्दपुत्राणां सिद्धिलक्षणम् । अत्र कर्मप्रारम्भे कीदृशमिदानीं सन्धिमुत्पादयामि । इह खलु भगवता कनकशक्तिना चतुर्विधः सन्ध्युपायो दर्शितः । तद्यथा— पक्वेष्टकानामाकर्षणम्, आमेष्टकानां छेदनम्, पिण्डमयानां सेचनम्, काष्ठ-मयानां पाटनमिति । तदत्र पक्वेष्टके इष्टिकाकर्षणम् । तत्र—**

टीका—सन्धिच्छेदनयोग्यं स्थानं कुत्र विद्यत इति विचारयन्नाह देश इति । कः नु देशः=किं हि स्थानम्, जलावसेकशिथिलः=अनवरत जलप्रपतनेनार्द्रप्रायः, सुच्छेद्य इत्यर्थः, भवेत्=स्यात्, यस्मिन्=यस्मिन् स्थाने सन्धिच्छेदने कृते सति, शब्दः=जागरणकारको ध्वनिः, न भवेत्=न जायेत, यस्मिन् च, भित्तीनाम्= कुड्यानाम्, करालः=विशालः, प्रवेशयोग्यः, सन्धिः=सुरङ्गा, दर्शनान्तरगतः= दृष्टिगोचरः, रक्षिणाम् अन्येषां चेति शेषः, न, भवेत्=न स्यात् क्व च=कस्मिंश्च प्रदेशे, हर्म्यम्=अट्टालिका, भवनं वा क्षारक्षीणतया=ऊषत्वात् क्षयप्राप्ततया, जीर्णम्= जरायत्तम्, लोष्टककृशम्=कृशानि=दुर्बलानि लोष्टकानि यत्र तादृशम् "वाऽऽहि-ताग्न्यादिषु' इति सूत्रेण कृशशब्दपरनिपातः, भवेत्=स्यात्, कस्मिन् च=कुत्र च, स्त्री-दर्शनम्=रमणीजनसाक्षात्कारः, न भवेत्, मे=शर्विलकस्य, अर्थसिद्धिश्च=मनोरथ-सफलता च, भवेत्=जायेत । अत्र शार्दूलविक्रीडितं वृत्तम् ।। १२ ।।

विमर्श—इस श्लोक में सेंध लगाने के सर्वाधिक उपयोगी स्थान का उल्लेख है । स्त्रीदर्शनम् चौरशास्त्र के अनुसार स्त्री का प्रथम दर्शन विघ्नकारक होता है । वास्तव में स्त्रियों की निद्रा गम्भीर नहीं होती है क्योंकि उनके साथ बच्चे वगैरह सोते हैं अतः उनका अचानक जागना सम्भव है । यहाँ शार्दूलविक्रीडित छन्द है ।।१२।।

अर्थ—(दीवान को हाथ से छूकर) प्रतिदिन सूरज की धूप लगने और पानी गिरने के कारण दोषयुक्त यह जमीन लोनख लगने से कमजोर है, और यहाँ चूहों द्वारा खोदी हुई मिट्टी का ढेर है । वाह ! काम बन गया । कार्तिकेय के पुत्रों (चोरों) की सिद्धि का यह पहला लक्षण (अनायास सेंध फोड़ने का उपाय मिलना) है । यहाँ कार्य प्रारम्भ करने पर किस प्रकार की सेंध लगाऊँ ? वास्तव में भगवान् कनक शक्ति ने सेंध फोड़ने के चार प्रकार के उपाय बताये हैं । वे इस प्रकार हैं— (१) पकी हुई ईंटों (के मकान से ईंटों) को बाहर निकाल लेना, (२) कच्ची ईंटों (के मकान की ईंटों) का काटना, (३) मिट्टी के लोंदों (पिण्डों से बनी हुई दीवालों) का सींचना (पानी द्वारा गला देना), (४) लकड़ी से बनी हुई दीवाल को उखाड़ देना । तो यहाँ पकी हुई ईंटों के मकान में ईंटों का बाहर निकालना (उचित उपाय है) । उसमें—

पद्मव्याकोशं भास्करं बालचन्द्रं
वापी, विस्तीर्णं स्वस्तिकं पूर्णकुम्भम् ।
तत् कस्मिन् देशे दर्शयाम्यात्मशिल्पं
दृष्ट्वा श्वो यं यद्विस्मयं यान्ति पौराः ॥ १३ ॥

टीका—परामृश्य=हस्तेन स्पृष्ट्वेत्यर्थः, नित्यादित्यदर्शनोदकसेचनेन=सतता-तपजलसम्पर्केण भूमिः शीर्णा भवतीति भावः, मूषिकोत्करः=मूषिकाणाम्, उत्करः=उद्धृतरजःसमुदायः, हन्त=हर्षसूचनेऽव्ययम्, स्कन्दपुत्राणाम्=स्वामिकार्त्तिकेतनयानां चौराणामित्यर्थः, सिद्धेः=कार्यसाफल्यस्य, लक्षणम्=चिह्नम्, सूचकमिति भावः, कर्मणः=चौर्यकार्यस्य, प्रारम्भे=आरम्भावसरे, कनकशक्तिना=एतन्नाम्ना प्रसिद्धेन चौर्यशास्त्रप्रवर्त्तकेन, पक्वानाम् = अग्न्यादिना पाकतामुपगतानाम्, आमानाम्=अपक्वानाम्, पाटनम्=उत्पाटनम्, पक्वेष्टके=पक्वेष्टिकामये भवने ।

विमर्श—नित्यादित्यदर्शनोदकसेचनेन—इसकी व्याख्या में मतभेद है । (१) प्रतिदिन सूर्यदर्शन के समय अर्पित किये गये जल के सींचने से, (२) रोज सबेरे सूर्य दिखलाई पड़ने पर दिये गये जल से । (३) प्रतिदिन सूर्य की धूप लगने और पानी गिरने से । इन अर्थों में तीसरा अर्थ अधिक तर्कसंगत है क्योंकि जहाँ रोज पानी गिरता है और धूप लगती रहती है वहाँ लोनख (क्षार) होना देखा जाता है । साथ ही सूर्य की पूजा आदि के लिये जल दिया जाना चोर को कैसे ज्ञात हो सकता है । अतः— धूप लगना और पानी गिरना—यही अर्थ उचित है । कनकशक्ति—चौर्यशास्त्र के प्रवर्तक आचार्य का नाम ।

अन्वयः—पद्मव्याकोशम्, भास्करम्, बालचन्द्रम्, वापी, विस्तीर्णम्, स्वस्तिकम्, पूर्णकुम्भम्, (एषु सप्तविधेषु सत्सु) तत्, कस्मिन्, देशे, आत्मशिल्पम्, दर्शयामि, यत्, यम्, दृष्ट्वा, श्वः, पौराः, विस्मयम्, यान्ति ॥ १३ ॥

शब्दार्थः—(सन्धि के निम्न सात प्रकार हैं उनमें) पद्मव्याकोशम्=विकसित कमल के समान, भास्करम्=सूर्य-मण्डल के समान, बालचन्द्रम्=द्वितीयातिथि के बाल चन्द्रमा के समान, वापी=बावड़ी, विस्तीर्णम्=विस्तृत, स्वस्तिकम्=卐 इस प्रकार के चिह्न के समान, पूर्णकुम्भम्=पूर्णघट के समान, (सात प्रकार की सेंध होती है) कस्मिन् देशे=किस स्थान पर, आत्मशिल्पम्=अपनी सेंध लगाने की कला को, दर्शयामि=प्रदर्शित करूँ ? यत्=जो कि, यम्=जिसे, दृष्ट्वा=देखकर, श्वः=कल, पौराः=नगरवासी, विस्मयम्=आश्चर्य को, यान्ति=प्राप्त करेंगे ॥ १३ ॥

अर्थ—(१) खिला हुआ कमल, (२) सूर्य, (३) बालचन्द्र (द्वितीया का चन्द्रमा), (४) बावड़ी (५) तिरछी या विशाल, (६) स्वस्तिक 卐 चिह्न, (७) पूर्णकुम्भ—अर्थात् इनके समान सात प्रकार की सेंध होती है । किस स्थान पर अपनी कला का प्रदर्शन करूँ, जिससे सबेरे उसको देखकर पुरवासी आश्चर्य करने लग जायँ ॥ १३ ॥

तदत्र पक्वेष्टके पूर्णकुम्भ एव शोभते; तमुत्पादयामि ।

अन्यासु भित्तिषु मया निशि पाटितासु
क्षारक्षतासु विषमासु च कल्पनासु ।
दृष्ट्वा प्रभातसमये प्रतिवेशिवर्गो
दोषांश्च मे वदति कर्मणि कौशलञ्च ॥ १४ ॥

टीका——चौरशास्त्र-प्रतिपादित-सप्तविधसन्धीनामन्यतमं विधातुं तेषां स्वरूपं दर्शयन्नाह पद्मव्याकोशमिति । पद्मव्याकोशम्=पद्मवत् = कमलवत् व्याकोशम्= प्रफुल्लम्, विकसित-कमलतुल्यमष्टदलतुल्यमिति भावः, भास्करम्=सूर्यमण्डलाकृतिम्, बालचन्द्रम्=नवोदितद्वितीयाचन्द्रोपमम्, वापी=दीर्घिकासदृशम्, विस्तीर्णम्=तिर्यक् लम्बमानम्, स्वस्तिकम्=स्वस्तिनामकचिह्नतुल्यम्, पूर्णकुम्भम्=पूर्णघटसदृशम् –इति सप्तविधाः सन्धयः सन्ति, तत्=तस्मात्, कस्मिन् देशे=कस्मिन् स्थाने, आत्मशिल्पम्= स्वकलाचातुर्यम्, दर्शयामि = प्रदर्शयानि, यत्=यस्मात्, यम्=कलाशिल्पम्, श्वः= आगामिनि दिने प्रातः, दृष्ट्वा=विलोक्य, पौराः=पुरवासिनः, विस्मयम्=आश्चर्यम्, यान्ति=यास्यन्तीति भावः । "बाणाश्वैश्छिन्ना वैश्वदेवी ममौ यौ" इति लक्षणाद् वैश्वदेवी वृत्तम् ॥ १३ ॥

विमर्श——वापी विस्तीर्णम् –इन्हें दो नाम समझना चाहिये क्योंकि "इष्टिकाभित्तौ संस्कारवशेन पद्मव्याकोशादिसंज्ञाः सप्तसन्धयः' यह चौरदर्शन में कहा गया है । अतः सात संख्या पूरी करने के लिये वापी=वापी के समानाकार और विस्तीर्णम्=तिरछी लम्बी–ये दो अलग–२ समझने चाहिये–ऐसा व्याख्याकारों ने लिखा है । परन्तु पद्मव्याकोशम्, भास्करम्, आदि द्वितीयान्त पदों के साथ 'वापी' इस प्रथमान्त पद की संगति कैसे होगी—यह विचारणीय है । कुछ व्याख्याकारों ने 'इति सप्तसन्धयः' ऐसा लिखा है, वहाँ भी द्वितीयान्त पदों की अनुपपत्ति है । इसमें वैश्वदेवी छन्द है ।। १३ ।।

अर्थ——तो यहाँ पकी ईंटों वाले मकान में पूर्णकुम्भ ही शोभित होता है । उसी प्रकार की सेन्ध लगाता हूँ ।

अन्वयः——मया, निशि, अन्यासु, क्षारक्षतासु, भित्तिषु, विषमासु, कल्पनासु, पाटितासु, प्रभातसमये, प्रतिवेशिवर्गः, दृष्ट्वा, मे, दोषान्, कर्मणि, कौशलम्, च, वदति ॥ १४ ॥

शब्दार्थ——मया=मुझ शर्विलक के द्वारा, निशि=रात में, अन्यासु=दूसरी, क्षारक्षतासु=लोनख के प्रभाव से गली हुयी, भित्तिषु=दीवालों पर, विषमासु=कठिन, अद्भुत, कल्पनासु=कल्पनाओं के, पाटितासु=बनायी जाने पर, फोड़ी जाने पर, प्रभातसमये=सबेरे के समय, प्रतिवेशिवर्गः=पड़ोसी लोग, दृष्ट्वा=देखकर, मे=मुझ

नमो वरदाय कुमारकार्त्तिकेयाय, नमः कनकशक्तये ब्रह्मण्यदेवाय देवव्रताय, नमो भास्करनन्दिने, नमो योगाचार्याय, यस्याहं प्रथमः शिष्यः। तेन च परितुष्टेन योगरोचना मे दत्ता।

अनया हि समालब्धं न मां द्रक्ष्यन्ति रक्षिणः।
शस्त्रञ्च पतितं गात्रे रुजं नोत्पादयिष्यति ॥ १५ ॥

शर्विलक के, दोषान्=दोषों को, च=और, कर्मणि=सेन्ध लगाने के काम में, कौशलम्=कुशलता को, वदति=कहेंगे ॥ १४ ॥

अर्थ—मुझ शर्विलक के द्वारा रात में दूसरी लोनख लगी हुई दीवालों पर विचित्र कल्पनाओं के चित्र उभारने पर अर्थात् काटने पर सवेरे पड़ोसी लोग देख कर मेरे दोषों को और सेन्ध आदि कार्यों में चतुरता को कहेंगे ॥ १४ ॥

टीका—सन्धिनिर्माणे स्वनैपुण्यप्रख्यापनमुखेन भावि-लोकालोच्यमाह—अन्यासु इति। मया=शर्विलकेन, निशि=रात्रौ, अन्यासु=अपरासु, क्षारक्षतासु=लावणिक-प्रभावदूषितासु, भित्तिषु=कुड्येषु, विषमासु=असाधारणासु, विचित्रासु, कल्पनासु=उत्प्रेक्षासु, पाटितासु=विदारितासु, स्वकीयाद्भुतकल्पनाशक्तिबलेन विचित्ररूपेण विदारितासु सतीषु, प्रभातसमये = प्रातः काले, प्रतिवेशिवर्गः = प्रतिवेशिजनाः, दृष्ट्वा=विलोक्य, मे=मम शर्विलकस्य, दोषान्=दूषणानि, कर्मणि=चौरकर्मणि, सन्धिकर्मणि वा, कौशलम् = पाटवम्, च, वदति=कथयिष्यति, वर्तमानसामीप्ये लट्, तुल्ययोगितालङ्कारः, वसन्ततिलकं वृत्तम् ॥ १४ ॥

विमर्श—कल्पनासु पाटितासु—कल्पनाओं के अनुसार सेन्ध आदि के रूप में काट देने पर। यहाँ दोष एवं कौशल का कथन क्रिया में एकधर्माभि-सम्बन्ध कहने के कारण तुल्ययोगिता अलंकार है। वसन्ततिलका छन्द है ॥ १४ ॥

अर्थ—वरदानी कुमार कार्त्तिकेय (शंकर के पुत्र) को नमस्कार है। कनक-शक्ति, ब्रह्मण्यदेव, देवव्रत को नमस्कार है भास्कर नन्दी को नमस्कार है, योगाचार्य को नमस्कार है जिनका मैं प्रथम शिष्य हूँ। प्रसन्न उन गुरुजी ने मुझे योगरोचना दी है।

विमर्श—कुमार कार्त्तिकेय=परमेष्ठी गुरु देवव्रत नामक परापर गुरु, भास्कर-नन्दी=सूर्य को आनन्द देनेवाले, इस नाम के परमगुरु, योगाचार्य —कुमार कार्तिकेय के प्रधान शिष्य और शर्विलक के साक्षात् गुरु। (१) योगरचना=उपायों का सम्भार (२) अथवा योगेन=युक्ति से रचना=रचितद्रव्यविशेष, (३) योगस्य=औषधस्य, रचना = कल्पना, (४) योगेन = मन्त्रेण रचना = लेपविशेषनिर्माण-कौशलम्। कहीं कहीं योगरचना भी पाठ है। रोचना=तिलक द्रव्यविशेष।

अन्वयः—हि, अनया, समालब्धम्, माम्, रक्षिणः, न, द्रक्ष्यन्ति, गात्रे, च, पतितम्, शस्त्रम्, रुजम्, न उत्पादयिष्यति ॥ १५ ॥

(तथा करोति) **धिक् कष्टम्, प्रमाणसूत्रं मे विस्मृतम्** । (विचिन्त्य) **'आम्, इदं यज्ञोपवीतं प्रमाणसूत्रं भविष्यति । यज्ञोपवीतं हि नाम ब्राह्मणस्य महदुपकरणद्रव्यम्, विशेषतोऽस्मद्विधस्य** । कुतः—

एतेन मापयति भित्तिषु कर्ममार्ग-
मेतेन मोचयति भूषणसम्प्रयोगान् ।

शब्दार्थ—हि = क्योंकि, अथवा निश्चय ही, अनया = इस योगरोचना से, समालब्धम्=लेप किये हुये, माम्=मुझे, रक्षिणः=सिपाही लोग, न=नहीं, द्रक्ष्यन्ति= देख पायेंगे, च=और, गात्रे=शरीर पर, पतितम्=गिरा हुआ, शस्त्रम=शस्त्र, रुजम्= रोग, चोट, न=नहीं, उत्पादयिष्यति=पैदा कर पायेगा ।। १५ ।।

अर्थ—इस योग-रोचना का लेप किये हुये मुझको सिपाही नहीं देख पायेंगे और शरीर पर लगा हुआ शस्त्र घाव आदि नहीं पैदा कर सकेगा ।। १५ ।।

टीका—योगरोचनायाः माहात्म्यं वर्णयन्नाह—अनया=पूर्वोक्तया योगरोचनया, समालब्धम्=समालिप्तम्, माम्=शर्विलकम्, रक्षिणः=रक्षापुरुषाः, न=नैव, द्रक्ष्यन्ति= अवलोकयिष्यन्ति, गात्रे=शरीरे, च, पतितम्=क्षिप्तम्, लग्नम् वा, शस्त्रम्=आयुधम्, **रुजम्**=पीडाम्, आघातं वा, न=नैव, उत्पादयिष्यति=जनयिष्यति ।। १५ ।।

विमर्शः—समालब्धम्—सम्+आ+$\surd$लभ+क्त । शस्त्रम्—$\surd$शस्+ ष्ट्रन्=त्र । इसमें समुच्चय अलङ्कार और अनुष्टुप् छन्द है ।। १५ ।।

अर्थ—(लेप करता है ।) हाय कष्ट है, अपना नापने वाला सूत्र (डोरी) तो भूल गया । (सोंच कर) हाँ, यह यज्ञोपवीत नापने वाला सूत्र बन जायगा क्योंकि ब्राह्मण के लिये यज्ञोपवीत (जनेऊ) बड़े काम की चीज है, और विशेष रूप से हम जैसे (चोर) लोगों के लिये । क्योंकि –

अन्वयः—(अस्मद्विधः चौरः) भित्तिषु, एतेन, कर्ममार्गम्, मापयति, एतेन, भूषणसम्प्रयोगान्, मोचयति, यन्त्रदृढे, कपाटे, (एतेन) उद्घाटनम्, भवति, कीट-भुजगैः दष्टस्य, परिवेष्टनम्, च भवति ।। १६ ।।

शब्दार्थ—(अस्मद्विधः चौरः=हमारे जैसा चोर) भित्तिषु=दीवालों पर, एतेन=इस जनेऊ से, कर्ममार्गम्=चोरी करने के रास्ता अर्थात् सेंध को, मापयति= नापता है, एतेन=इससे, भूषणसम्प्रयोगान् = गहनों के जोड़ों को, मोचयति=खोलता है, ढीला करता है, (एतेन=इस जनेऊ से) यन्त्रदृढे=सांकड़ आदि से बन्द किये गये, कपाटे = किवाड़ में, उद्घाटनम् = खोलना, भवति=होता है, कीटभुजगैः= कीड़ा एवं साँप द्वारा, दष्टस्य=डंसे हुये, काटे गये व्यक्ति का, परिवेष्टनम्=लपेटना, भवति=होता है ।। १६ ।।

अर्थ—(हमारे जैसा चोर) इससे दीवारों पर सेंध को नापता है, कसे हुये

उद्घाटको भवति यन्त्रदृढे कपाटे
दष्टस्य कीटभुजगैः परिवेष्टनञ्च ॥ १६ ॥

मापयित्वा कर्म समारभे। (तथा कृत्वा अवलोक्य च) एकलोष्ठावशेषोऽयं सन्धिः। धिक् कष्टम्। अहिना दष्टोऽस्मि। (यज्ञोपवीतेनाङ्गुलीं बद्ध्वा विषवेगं नाटयति। चिकित्सां कृत्वा) स्वस्थोऽस्मि। (पुनः कर्म्म कृत्वा दृष्ट्वा च) अये ! ज्वलति प्रदीपः। तथाहि—

शिखा प्रदीपस्य सुवर्णपिञ्जरा
महीतले सन्धिमुखेन निर्गता।
विभाति पर्यन्ततमःसमावृता
सुवर्णरेखेव कषे निवेशिता ॥ १७ ॥

गहनों के जोड़ों को इससे खोलता है, सांकड़ या किल्ली आदि से बन्द किये गये दरवाजे का खोलना इससे होता है और कीड़ा तथा साँप से काटे गये व्यक्ति का (विषप्रवाह रोकने के लिये) लपेटना होता है ॥ १६ ॥

टीका—चौरब्राह्मणस्य यज्ञोपवीतादुपकारे वैशिष्टयं दर्शयति-एतेनेति। अस्मादविधः चौरः, भित्तिषु=कुड्येषु, एतेन=यज्ञोपवीतसूत्रेण, कर्ममार्गम्=चौर्यकार्यपथम्, सन्धिमिति यावत्, मापयति = दीर्घत्वविस्तारयोः परिमितं करोति, एतेन=यज्ञोपवीतसूत्रेणैव, भूषणसम्प्रयोगान्=अलङ्काराणां दृढबन्धनानि, मोचयति=निःसारणाय शिथिलीकरोति, यन्त्रदृढे=अर्गलादिना सम्यग् दृढीकृते तेन अङ्गुल्यादिप्रवेशायोग्ये, कपाटे=द्वारावरके काष्ठखण्डे, उद्घाटनम्=उन्मोचनम्, भवति, कीटभुजगैः=वृश्चिकादिभिः कीटैः सर्पैश्च, दष्टस्य=सञ्जातदशनस्य, पुरुषस्य, परिवेष्टनम्=परितः बन्धनम्, च, भवति, अत्र समुच्चयः तुल्ययोगिता चालङ्कारौ। वसन्ततिलकं वृत्तम् ॥ १६ ॥

विमर्श—यहाँ यज्ञोपवीत के उत्कर्ष के प्रति बहुत कारणों का निर्देश होने से समुच्चय अलंकार है। तथा 'भवति' इसमें उद्घाटन तथा परिवेष्टन के अन्वय से तुल्ययोगिता अलंकार भी हैं। वसन्ततिलका छन्द है ॥ १६ ॥

अर्थ—नाप कर सेंध लगाना प्रारम्भ करता हूँ। (सेंध लगाकर और देखकर) अब इस सेंध का एक ही ईंटा निकालना बाकी बचा है। हाय कष्ट है ! साँप ने काट लिया। (जनेऊ से अंगुली को बांध कर विष के वेग=बढ़ने का अभिनय करता है, चिकित्सा करके) अब स्वस्थ=ठीक हो गया हूँ। (फिर सेंध कार्य करके और देख कर) अरे दीपक जल रहा। जैसा कि—

अन्वयः—सुवर्णपिञ्जरा, सन्धिमुखेन, महीतले, निर्गता, पर्यन्ततमःसमावृता, प्रदीपस्य, शिखा, कषे, निवेशिता, सुवर्णस्य, रेखा, इव विभाति ॥ १७ ॥

(पुनः कर्म कृत्वा) समाप्तोऽयं सन्धिः । भवतु; प्रविशामि । अथवा न तावत् प्रविशामि, प्रतिपुरुषं निवेशयामि । (तथा कृत्वा ।) अये ! न कश्चित् । नमः कार्त्तिकेयाय । (प्रविश्य दृष्ट्वा च) अरे ! पुरुषद्वयं सुप्तम् । भवतु, आत्मरक्षार्थं द्वारमुद्घाटयामि । कथं जीर्णत्वाद् गृहस्य विरौति कपाटम् । तद् यावत् सलिलमन्वेषयामि । क्व नु खलु सलिलं भविष्यति ? (इतस्ततो दृष्ट्वा सलिलं गृहीत्वा क्षिपन् सशङ्कम्) मा तावत् भूमौ पतत्

शब्दार्थ—सुवर्णपिञ्जरा=सोने के समान पिङ्गल वर्ण वाली, सन्धिमुखेन=सेंध के रास्ते से, छिद्र से, महीतले=भूतल पर, निर्गता=निकली हुई, पर्यन्ततमसमावृता=चारो ओर अन्धकार से घिरी हुई, प्रदीपस्य=दीपक की, शिखा=कान्ति, रोशनी, कषे=कसौटी पर, निवेशिता=खींची गई, कसी गई, सुवर्णस्य=सोने की, रेखा=लकीर के, इव=समान, विभाति=शोभित हो रही है ॥ १७ ॥

अर्थ—सोने के समान पिङ्गलवर्णवाली, सेंध के रास्ते से पृथ्वी पर निकलने वाली, चारो ओर अन्धकार से घिरी हुई, दीपक की कान्ति=रोशनी, कसौटी पर खींची गई सोने की रेखा के समान शोभित हो रही है ॥ १७ ॥

टीका—सन्धिमार्गविनिर्गतं दीपप्रभासौन्दर्यं वर्णयन्नाह—शिखेति । सुवर्णपिञ्जरा=स्वर्णवत् पिङ्गलवर्णा, सन्धिमुखेन=सन्धिविवरेण, महीतले=भूतले, बाह्यप्रदेशे इत्यर्थः, निर्गता=निःसृता, पर्यन्ततमःसमावृता=पर्यन्तेषु=प्रान्तप्रदेशेषु चतुष्पार्श्वेषु, परिवेष्टिता, प्रदीपस्य=दीपकस्य, शिखा=कान्तिः, प्रकाश इति भावः, कषे=परीक्षणपाषाणे, निवेशिता=कषिता, अर्पिता, सुवर्णस्य=कनकस्य, रेखा=लेखा, इव=यथा, विभाति=शोभते, उपमालंकारः, वंशस्थं वृत्तम् ॥ १७ ॥

विमर्श—सन्धिमुखेन निर्गता—भीतर जलने वाले दीपक की जो रोशनी सेंध के माध्यम से बाहर पृथ्वी पर पतली रेखा के समान दिखाई दे रही है उस की वैसी ही शोभा है जैसी कसौटी पर खींची गई सोने की रेखा की । इस प्रकार शिखा और रेखा का साम्य होने से उपमा अलंकार है । पिञ्जरा—पीला लाल मिश्रित रंग । वंशस्थ छन्द है ॥ १७ ॥

अर्थ—(फिर सेंध फोड़कर) अब सेंध बन चुकी है । अच्छा, अब प्रवेश करता हूँ । अथवा पहले स्वयं प्रवेश नहीं करता हूँ, नकली पुरुष को प्रवेश कराता हूँ । (वैसा करके) अरे ! कोई नहीं है । कार्त्तिकेय को नमस्कार है । (प्रवेश करके और देखकर) अरे, दो लोग सो रहे हैं । अच्छा अपनी रक्षा के लिये दरवाजा खोलता हूँ । क्यों, घर पुराना होने के कारण किवाड़ा आवाज कर रहा है । तो तब तक पानी खोजता हूँ । (इधर उधर देखकर पानी लेकर गिराता हुआ शङ्कित होते हुये) जमीन पर गिरता हुआ (यह पानी) आवाज पैदा न

शब्दमुत्पादयेत् । (पृष्ठेन प्रतीक्ष्य कपाटमुद्घाट्य ।) भवतु, एवं तावदिदानीं परीक्षे किं लक्ष्यसुप्तम् उत परमार्थसुप्तमिदं द्वयम् ? (त्रासयित्वा परीक्ष्य च) अये ! परमार्थसुप्तेनानेन भवितव्यम् । तथाहि—

निःश्वासोऽस्य न शङ्कितः सुविशदः तुल्यान्तरं वर्त्तते
दृष्टिर्गाढनिमीलिता न विकला नाभ्यन्तरे चञ्चला ।
गात्रं स्रस्तशरीरसन्धिशिथिलं शय्याप्रमाणाधिकं
दीपश्चापि न मर्षयेदभिमुखं स्याल्लक्ष्यसुप्तं यदि ।। १८ ।।

करे । तो ऐसा करूँ । (पीठ से सहारे से किवाड़ को हटाकर अथवा पीछे देखकर और खोलकर) अच्छा, अब इस प्रकार से परीक्षा लेता हूँ कि ये दोनों क्या छल से सोये हुये हैं अथवा वास्तव में सोये हुये हैं ? (डराकर और परीक्षा करके) अरे ये दोनों वास्तव में सोये हुये हैं, जैसा कि—

अन्वयः—अस्य, निःश्वासः, शङ्कितः, न, (अपि तु) सुविशदः, तुल्यान्तरम्, वर्तते, दृष्टिः, गाढनिमीलिता, (अस्ति), विकला, न, अभ्यन्तरे, चञ्चला, न, वर्तते, गात्रम्, स्रस्तशरीरसन्धिशिलिम्, शय्याप्रमाणाधिकम्, च, (वर्तते,) यदि, लक्ष्यसुप्तम्, स्यात्, तदा, अभिमुखम्, दीपम्, च, अपि, न, मर्षयेत् ।। १८ ।।

शब्दार्थ—अस्य=सोये हुये पुरुषद्वय का, निःश्वासः=सांस लेना, शङ्कितः=शङ्कायुक्त, न=नहीं (अर्थात् स्वाभाविक गति से चलने वाला है) सुविशदः=साफ साफ, तुल्यान्तरम्=समान अन्तर वाली, वर्तते=है, दृष्टिः=आँखें, गाढनिमीलिता=अच्छी प्रकार से बन्द है, न विकला=व्याकुल नहीं है, और, न चञ्चला=न तो चञ्चल=फड़कने वाली ही है, गात्रम्=शरीर, स्रस्तशरीरसन्धिशिथिलम्=शरीर की सन्धियों=जोड़ों के ढीले होने से शिथिल, शय्याप्रमाणाधिकम्=पलंग की लम्बाई चौड़ाई से अधिक है, यदि लक्ष्यसुप्तम्=यदि बहाने से सोया हुआ होता, तदा=तब तो, अभिमुखम्=सामने जलते हुये, दीपम्=दीपक को, अपि=भी, न=नहीं, मर्षयेत्=सहन कर पाता ।। १८ ।।

अर्थ—दोनों व्यक्तियों का सांस लेना शंकायुक्त नहीं है, साफ साफ है और उनमें समान अन्तर है । आँख अच्छी प्रकार बन्द है, न तो व्याकुल है और न भीतर चञ्चल है । शरीर के जोड़ों (सन्धियों) के ढीले हो जाने से शिथिल और पलंग के परिमाण की अपेक्षा अधिक अर्थात् पलंग से बाहर शरीर है । और यदि बहाने से सोये हुये होते तो सामने जलते हुये दीपक को भी सहन नहीं कर पाते । (अतः वास्तव में ही सोये हैं ।) ।। १८ ।।

टीका—पुरुषद्वयस्य परमार्थसुप्ततां साधयितुं परमार्थसुप्तिलक्षणानि वर्णयति—निःश्वास इति । अस्य=पुरुषद्वयस्य, निःश्वासः = नासिकारन्ध्रविनिर्गतः

(समन्तादवलोक्य ।) अये ! कथं मृदङ्गः, अयं दर्दुरः, अयं पणवः, इयमपि वीणा, एते वंशाः, अमी पुस्तकाः । कथं नाट्याचार्यस्य गृहमिदम् । अथवा, भवनप्रत्ययात् प्रविष्टोऽस्मि । तत् किं परमार्थदरिद्रोऽयम् ? उत राजभयाच्चोरभयाद्वा भूमिष्ठं द्रव्यं धारयति ? । तन्ममापि नाम शर्विलकस्य भूमिष्ठं द्रव्यम् ? । भवतु, बीजं प्रक्षिपामि । (तथा कृत्वा ।) निक्षिप्तं बीजं न क्वचित् स्फारीभवति । अये ! परमार्थदरिद्रोऽयम् । भवतु, गच्छामि ।

विदूषकः—(उत्स्वप्नायते ।) भो वअस्स ! सन्धी विअ दिस्सदि, चोरं विअ पक्खामि; ता गेण्हदु भवं एदं सुवण्णभण्णअं । (भो वयस्य ! सन्धिरिव दृश्यते, चौरमिव पश्यामि, तद् गृह्णातु भवानिदं सुवर्णभाण्डम् ।)

प्राणवायुः, शकितः=शंकाग्रस्तः, न=नैव, अपि तु, सुविशदः=सुस्पष्टः, तुल्यान्तरम्=तुल्यम्=समानम् अन्तरं यथा स्यात् तथा, वर्तते=विद्यते, दृष्टिः=नेत्रम्, गाढनिमीलिता=सुदृढरूपेण मुद्रिता, विकला=व्याकुला, न=नैव, आभ्यन्तरे=नेत्राभ्यन्तरे, चञ्चला=चपला, न = नैव, वर्तते, तेन नेयं कपटनिद्राग्रस्ततेति भावः । गात्रम्=शरीरम्, स्रस्तशरीरसन्धिशिथिलम्=शिथिलावयवतया पतितम् तथा, शय्याप्रमाणाधिकम्=पर्यङ्कस्य प्रमाणादधिकम्=अतिरिक्तम, वर्तते; यदि=चेत्, लक्ष्यसुप्तम्=कपटनिद्रितम्, स्यात्=भवेत्, तदा, अभिमुखम्=समक्षम्, दीपम्=प्रज्वलितदीपकम्, च, न=नैव, मर्षयेत्=सहेत । स्वभावोक्तिरलङ्कारः शार्दूलविक्रीडितं च वृत्तम् ।।१८।।

विमर्श—इस में सोते हुये व्यक्ति की स्वाभाविक स्थिति का अतीव सुन्दर वर्णन होने से स्वभावोक्ति अलङ्कार है । शार्दूलविक्रीडित छन्द है ।। १८ ।।

अर्थ—(चारो ओर देख कर) अरे ! क्या मृदङ्ग है ? यह दर्दुर (एक वाद्य–विशेष), यह पणव, यह वीणा भी है, ये बांसुरियाँ हैं, ये पुस्तकें है । तो क्या किसी नाच गाना सिखाने वाले का घर है ? अथवा (विशाल) भवन का विश्वास करके घुसा हूँ । तो क्या यह वास्तव में दरिद्र है । अथवा राजा के भय से या चोर के भय से धन को जमीन में गाड़ कर रखा है । तो क्या मुझ शर्विलक के लिये भी जमीन में गाड़ा हुआ धन (अप्राप्य) है ? अच्छा, तो बीज फेंकता हूँ । (बीज फेंक कर) फेंका हुआ बीच कहीं नहीं फैल रहा है । अरे ! यह तो वास्तव में दरिद्र है । अच्छा तो यहाँ से चलता हूँ ।

विदूषक—(स्वप्न में बड़बड़ाता है) अरे मित्र ! सेंध जैसी दिखाई दे रही हैं । चोर जैसा देख रहा हूँ । तो इस स्वर्णभाण्ड (गहनों के डिब्बे) को आप ले लें ।

टीका—मृदङ्गः=वाद्ययन्त्रविशेषः । एतल्लक्षणन्तु—

चर्मणा नद्धवदनो मध्ये चैव पृथुर्भवेत् ।
मृत्तिकानिर्मितश्चैव मृदङ्गः परिकीर्तितः ।।

शर्विलकः—किं नु खलु अयमिह मां प्रविष्टं ज्ञात्वा दरिद्रोऽस्मीत्युपहसति ? तत् किं व्यापादयामि ? उत लघुत्वादुत्स्वप्नायते। (दृष्ट्वा।) अये, जर्जर-स्नानशाटीनिबद्धं दीपप्रभयोद्दीपितं सत्यमेवैतदलङ्करणभाण्डम्। भवतु, गृह्णामि। अथवा, न युक्तं तुल्यावस्थं कुलपुत्रजनं पीडयितुम्। तद् गच्छामि।

विदूषकः—भो वअस्स ! साविदोसि गोबम्हणकामाए, जइ एद सुवण्णभण्डअं ण गेण्हसि। (भो वयस्य ! शापितोऽसि गोब्राह्मणकाम्यया, यदि एतत् सुवर्णभाण्डं न गृह्णासि।)

पणवः=पटहभेदो वाद्ययन्त्रविशेषः, कथमिति जिज्ञासायाम्, भवनप्रत्ययात्=होचितविभूतिविश्वासात्; गृहस्यास्य बहिराडम्बरमालोक्य मयैतद्विश्वस्तं यदेतद्धनिकगृहमिति। तथा चात्र ममाभीष्टसिद्धिर्भविष्यतीति भावः। पुस्तकाः=पुस्तकानि, पुस्तकशब्द उभयलिङ्गः। राजभयात्=राजकर्तृकाहरणभीतेः, चोरभयात्=चोरकर्तृकापहरणभीतेः, भूमिष्ठम्=भूमितलनिखातम्, धारयति=स्वामित्वेनाधिकरोति, बीजम्=भूमितलनिहितधनस्य सदसद्भावज्ञापकं पदार्थ-विशेषम् मन्त्रविशेषं वा, स्फारीभवति=प्रसरति; निखातधने सति भूतले समन्त्रबीजे निक्षिप्ते तस्य बहुलीभावः स्यादिति चौरशास्त्रप्रसिद्धिः, परन्तु अत्र तु न तथेति वास्तविकदरिद्रत्वं निश्चितम्। उत्स्वप्नायते=उत्कृष्टः=सत्यत्वेन प्रशस्यः स्वप्नो यस्य सः—उत्स्वप्नः, तद्वदाचरतीति क्यङि उत्स्वप्नायते, शयान एव किञ्चित् जल्पतीति भावः।

अर्थ—शर्विलक—तो क्या यह सचमुच मुझे यहाँ आया हुआ देखकर "मैं दरिद्र हूँ" ऐसा (सूचित करता हुआ) मेरी हँसी उड़ा रहा है। तो क्या मार डालूँ ? अथवा दुर्बल मनवाला होने से बड़बड़ा रहा है। (देख कर) अरे, सचमुच ही पुरानी नहाने वाली साड़ी में बँधा हुआ, दीपक की कान्ति से चमकने वाला सोने के गहनों का डिब्बा है। अच्छा तो ले लेता हूँ। अथवा अपने समान दशा वाले कुलपुत्र को दुखी करना ठीक नहीं है। अतः चलता हूँ।

विदूषक—मित्र ! तुम्हें गाय और ब्राह्मण की शपथ है यदि इस सुवर्णभाण्ड को नहीं लेते हो।

टीका—उपहसति=उपहासं करोति, अत्र धनादिप्राप्तिभ्रान्त्या व्यर्थमेव प्रविष्ट इति उपहसतीति भावः, व्यापादयामि=हन्मि, जर्जरस्नानशाटीनिबद्धम्=जर्जरा या स्नानशाटी=अभ्यङ्गशाटिका, तया परिवेष्टितम्, दीपप्रभया=प्रदीपप्रकाशेन, उद्दीपितम् = देदीप्यमानं जातम्, तुल्यावस्थम् = तुल्या = समाना निर्धनतारूपा अवस्था=दशा यस्य तं तादृशम्, कुलपुत्रजनम् = सत्कुले उत्पन्नम्, पीडयितुम्=बाधितुम्; गोब्राह्मणकाम्यया=गवां ब्राह्मणानाञ्च काम्यया=अभिलाषेण,

शर्विलकः—अनतिक्रमणीया भगवती गोकाम्या ब्राह्मणकाम्या च । तद् गृह्णामि । अथवा, ज्वलति प्रदीपः । अस्ति च मया प्रदीपनिर्वापणार्थमाग्नेयः कीटो धार्यते । तं तावत् प्रवेशयामि, तस्यायं देशकालः । एष मुक्तो मया कोटो यात्वेव अस्य दीपस्य उपरि मण्डलैर्विचित्रैर्विचरितुम् । एष पक्षद्वयानिलेन निर्वापितो भद्रपीठेन । धिक् कृतमन्धकारम् । अथवा, मयापि अस्मद्ब्राह्मणकुले न धिक् कृतमन्धकारम् ? अहं हि चतुर्वेदविदोऽप्रतिग्राहकस्य पुत्रः शर्विलको नाम ब्राह्मणो गणिकामदनिकार्थमकार्यमनुतिष्ठामि । इदानीं करोमि ब्राह्मणस्य प्रणयम् । (इति जिघृक्षति ।)

विदूषकः—भो वअस्स ! सीदलो दे अग्गहत्थो । (भो वयस्य ! शीतलस्ते अग्रहस्तः ।)

शर्विलकः—धिक् प्रमादः । सलिलसम्पर्कात् शीतलो मे अग्रहस्तः । भवतु, कक्षयोर्हस्तं प्रक्षिपामि । (नाट्येन सव्यहस्तमुष्णीकृत्य गृह्णाति ।)

विदूषकः—गहिदं ? । (गृहीतम् ?)

गोब्राह्मणानामभिलाषाऽपूरणे यत् पातकं स्यात् तादृशमेवेदानीं मम हस्तात् सुवर्णभाण्डाग्रहणे सति भवितेति भावः ।

अर्थ—शर्विलक—भगवती गाय की अभिलाषा और ब्राह्मण की अभिलाषा अनुल्लङ्घनीय होती है । अतः (सुवर्णभाण्ड) ले लेता हूँ । किन्तु दीपक जल रहा है । दीप बुझाने के लिये मेरे पास आग्नेय कीड़ा है । तो इसे भेजता हूँ । इसे छोड़ने के लिये यही उचित स्थान और समय है । मेरे द्वारा छोड़ा गया यह कीडा इस दीपक के ऊपर विचित्र रूप से मंडराने के लिये उड़े । इस भद्रपीठ (कीड़े) ने अपने दोनों पंखों की हवा से (यह दीपक) बुझा दिया है । धिक्कार है, अन्धकार हो गया । अथवा मुझ ब्राह्मण ने भी क्या अपने ब्राह्मणकुल में अँधेरा नहीं कर डाला ? (अर्थात् अवश्य कर डाला ।) मैं चारों वेद जानने वाले, दान न लेने वाले का पुत्र शर्विलक नामक ब्राह्मण वेश्या मदनिका के लिये यह अनुचित कार्य करता हूँ । अब ब्राह्मण का प्रणय (पूरा) करता हूँ, (स्वर्णभाण्ड ले लेता हूँ ।) (ऐसा कह कर ले लेना चाहता है ।)

विदूषक—मित्र ! तुम्हारी अँगुलियाँ ठण्डी हैं ।

शर्विलक—ओह ! प्रमाद (हो गया), पानी छूने के कारण हाथ ठण्डा पड़ गया है । अच्छा, कांख में दोनों हाथ रखता हूँ । (अभिनय के साथ दाहिना हाथ गरम करके ले लेता है ।)

विदूषक—ले लिया ?

शर्विलकः—अनतिक्रमणीयोऽयं ब्राह्मणप्रणयः। तद् गृहीतम्।

विदूषकः—दाणीं विक्किणिद-पण्णो विअ वाणिओ, अहं सुहं सुविस्सं।

(इदानीं विक्रीतपण्य इव वाणिजः अहं सुखं स्वप्स्यामि)

शर्विलकः—महाब्राह्मण ! स्वपिहि वर्षशतम्। कष्टम्, एवं मदनिका-गणिकार्थे ब्राह्मणकुलं तमसि पातितम्। अथवा, आत्मा पातितः !

धिगस्तु खलु दारिद्र्यमनिवेदितपौरुषम्।
यदेतद्गर्हितं कर्म निन्दामि च करोमि च॥ १९॥

शर्विलक—ब्राह्मण का आग्रह टाला नहीं जा सकता, अतः ले लिया।

विदूषक—अब बेचने योग्य सामान को बेच कर निश्चिन्त हुये बनिया के समान सुख से सोऊँगा।

शर्विलक—महाब्राह्मण ! सौ वर्ष सोओ। कष्ट है, वेश्या मदनिका के लिये ब्राह्मणकुल को अन्धकार में इस प्रकार गिरा दिया है। अथवा आत्मा (अपने आप) को ही गिरा दिया है।

टीका—अनतिक्रमणीया = अनुल्लङ्घनीया, भगवती=शक्तिमयी, अस्ति च, अयं प्रारम्भसूचकोऽनर्थकः शब्द इति बोध्यम्, सार्थकत्वे अन्वयोपपादनासम्भवात्; आग्नेयः=अग्निदेवताकः, अग्निशमनकारक इति भावः। देशकालः=आदेशस्य समयः द्वन्द्वे तु एकवचनं पुस्त्वं च चिन्त्यम, विचरितुम् = सङ्क्रमितुम्, पक्षद्वयानिलेन=पक्षद्वयजनितपवनेन, भद्रपीठेन = तन्नामकेन, अप्रतिग्राहकस्य = अगृहीतुः, अकार्यम्=चौर्यम्, प्रणयम् = प्रार्थनाम्, जिघृक्षति = गृहीतुम् इच्छति, अग्रहस्तः= कराग्रभागः सव्यहस्तम्=दक्षिणहस्तम्, विक्रीतपण्यः=विक्रीतं पण्यं=विक्रेयं वस्तु येन सः।

अन्वयः—अनिवेदितपौरुषम्, दारिद्र्यम्, धिक्, अस्तु, खलु, यत्, एतत्, गर्हितम्, कर्म, निन्दामि, च, करोमि, च॥ १९॥

शब्दार्थ—अनिवेदितपौरुषम्=अप्रदर्शितपौरुषवाली, दारिद्रयम्=गरीबी को, धिक्=धिक्कार, अस्तु=हो, खलु=निश्चयेन, यत्=क्योंकि, एतत्=इस, गर्हितम्= निन्दित, कर्म=चोरी की, निन्दामि=बुराई भी करता हूँ, च=और, करोमि=कर भी रहा हूँ॥ १९॥

अर्थ—जिसमें पौरुष प्रदर्शित नहीं हो पाता ऐसी गरीबी को निश्चित ही धिक्कार है। क्योंकि इस निन्दित चोरी की बुराई भी कर रहा हूँ और (उसे ही) कर भी रहा हूँ॥ १९॥

टीका—एतादृशदुष्कृतिनिदानतया दारिद्र्यमेव निन्दन्नाह—धिगस्त्विति। अनिवेदितम्=अप्रदर्शितम्, अकथितं वा पौरुषम्=पुरुषकारः यत्र तादशम्, अनिर्वेदित-

तद्यावत् मदनिकाया निष्क्रयणार्थं वसन्तसेनागृहं गच्छामि ।

(परिक्रम्य अवलोक्य च)

अये !पदशब्द इव । मा नाम रक्षिणः । भवतु, स्तम्भीभूत्वा तिष्ठामि । अथवा ममापि नाम शर्विलकस्य रक्षिणः ? योऽहम्

मार्जारः क्रमणे, मृगः प्रसरणे, श्येनो ग्रहालुञ्चने
सुप्तासुप्तमनुष्यवीर्यतुलने श्वा, सर्पणे पन्नगः ।
माया रूप-शरीर-वेश-रचने, वाग् देशभाषान्तरे,
दीपो रात्रिषु, सङ्कटेषु डुडुभो, वाजी स्थले, नौर्जले ।। २० ।।

पौरुषम्--इति पाठे अगणितपौरुषम्, दारिद्र्यम् = निर्धनत्वम्, खलु = निश्चयेन, धिक्=धिक्कृतम्, अस्तु = भवतु, यत्=यस्मात् (अहं दरिद्रः) एतत्=क्रियमाणं परधनापहरणस्वरूपम्, कर्म=चौर्यम्, निन्दामि = अपवदामि, करोमि च=सम्पादयामि च । अत्र काव्यलिङ्गं दीपकश्च अलङ्कारः । पथ्यावक्त्रं वृत्तम् ।। १९ ।।

विमर्श—अनिवेदितपौरुषम्=इसके स्थान पर 'अनिर्वेदितपौरुषम्' यह भी पाठ मिलता है। 'प्रकरणनिश्चययोः निर्वेदः--इसके अनुसार अनिश्चितम्=अगणितम् पौरुषम् यत्र तादृशम् --अर्थात् जहाँ पौरुष की गणना ही नहीं हो पाती है । मूलपाठ के अनुसार जहाँ पौरुष का कथन ही नहीं हो पाता है । दोनों का तात्पर्य एक है । यहाँ उत्तरार्ध के हेतुरूपेण उपन्यस्त होने से काव्यलिङ्ग और एक कर्ता का दो क्रियाओं में सम्बन्ध होने से दीपक अलंकार है। पथ्यावक्त्र छन्द है ।। १९ ।।

अर्थ—तो अब मदनिका को (दासीत्व से) मुक्त कराने के लिये वसन्तसेना के घर चलता हूँ ।

(घूम कर और देख कर)

अरे, पैर की आवाज सी (सुनाई दे रही है ।) कहीं पहरेदार न आ जायँ । अच्छा, कुछ देर खम्भा के समान चुपचाप खड़ा होता हूँ । अथवा मुझ शर्विलक के लिये भी पहरेदार (भय की चीज हैं) ?

अन्वयः—यः, अहम्—इति गद्यस्थेनान्वयः, क्रमणे, मार्जारः; प्रसरणे, मृगः; ग्रहालुञ्चने, श्येनः; सुप्तासुप्तमनुष्यवीर्यतुलने, श्वा; सर्पणे, पन्नगः; रूप-शरीरवेश-रचने, माया; देशभाषान्तरे, वाक्; रात्रिषु, दीपः; सङ्कटेषु, डुडुभः; स्थले, वाजी; जले, नौः (अस्मि) ।। २० ।।

शब्दार्थ—(यः अहम्=जो मैं), क्रमणे = उछलने में, मार्जारः = बिलाव; प्रसरणे=शीघ्र भागने में, मृगः=हिरन; ग्रहालुञ्चने=पकड़ने और झपटने में, श्येनः=बाज; सुप्तासुप्तमनुष्यवीर्यतुलने=सोये हुये अथवा न सोये (=जागते हुये) मनुष्य

की शक्ति की जानकारी करने में, श्वा=कुत्ता; सर्पणे=सरकने में, पन्नगः=सांप; रूप-शरीर-वेशरचने=आकार, शरीर और वेशभूषा इनको बदलने में, माया= इन्द्रजाल; देशभाषान्तरे=विभिन्न स्थानों की भाषा बोलने में, वाक्=सरस्वती; रात्रिषु=रातों में, दीपः=दीपक; सङ्कटेषु=सङ्कट के समय में, डुडुभः=भेड़िया; स्थले=पृथ्वी पर, वाजी=घोड़ा; और, जले=पानी में, नौः=नाव हूँ ।। २० ।।

अर्थ—जो मैं —उछलने में बिलाव, शीघ्र दौड़ने में हिरन, झपटकर पकड़ने और छीनने में बाज, सोते हुये और जागते हुये दोनों प्रकार के पुरुषों की शक्ति का पता लगाने में कुत्ता, सरकने में साँप, विभिन्न प्रकार के आकार, शरीर और वेशभूषा बनाने में इन्द्रजाल-विद्या, भिन्न-भिन्न स्थानों की भाषा बोलने में सरस्वती, रातों में दीपक, सङ्कटों में भेड़िया, जमीन पर घोड़ा और पानी में नौका हूँ ।। २० ।।

टीका—सर्वत्र सर्वदा असीमप्रभावशालित्वमुपपादयितुं स्वशक्तिं वर्णयन्नाह— मार्जार इति । अत्र सर्वत्र वाक्येषु गद्यस्थेन 'योहम्' इत्यनेनान्वयः कार्यः । क्रमणे= उत्प्लवने आक्रमणे वा, मार्जारः=विडालः; प्रसरणे=त्वरितधावने, मृगः=हरिणः; ग्रहालुञ्चने=ग्रहः=ग्रहणम्, आलुञ्चनम्=आच्छिद्य हरणञ्च इति ग्रहालुञ्चनम् तस्मिन्, श्येनः=दूरात् आमत्य लक्ष्यग्राही तदाख्यपक्षिविशेषः; सुप्तासुप्तमनुष्य-वीर्यतुलने=सुप्तस्य निद्रितस्य, असुप्तस्य=जागरितस्य च मानवस्य यत् वीर्यम्= शक्तिः, तत्तुलने=परिज्ञाने, श्वा=कुक्कुरः; सर्पणे=द्रुतवक्रगमने, पन्नगः=सर्पः, रूपस्य=सितकृष्णादिवर्णस्य, शरीरस्य=देहस्य, वेशस्य=परिच्छदस्य च सम्पादने, माया=चतुर्यमयी विद्या, इन्द्रजालमिति यावत्; देशभाषान्तरे=देशभाषाविशेषे, नानादेशीयभाषाकथने इत्यर्थः वाक्=सरस्वती; रात्रिषु=निशासु, दीपः=प्रदीपः, सङ्कटेषु = विपत्तिषु, दुर्गमस्थलेषु वा, डुडुभः=तदाख्यपशुविशेषः, (अश्वतरः इति केचित्, वृक इत्यपरे); स्थले=भूमौ, वाजी=अश्वः; जले=नद्यादौ, नौ=तरणिः अस्मि इति भावः । अत्र एकस्मिन् शर्विलके तादात्म्येन मार्जाराद्यारोपात् मालारूपकमलंकारः, शार्दूलविक्रीडितं वृत्तम् ।। २० ।।

विमर्श—शर्विलक ने अपने अनुपम गुणों एवं शक्ति का वर्णन किया है। जहाँ जैसा बन जाने पर काम हो सकता है वहाँ वैसा बन कर काम चलाना उसके लिये अतिसरल है। ग्रहालुञ्चने—ग्रहे=ग्रहणे अर्थात् दूर से आकर झपट कर पकड़ने और आलुञ्चने=छीन कर लेने में, बाज पक्षी, सङ्कटेषु डुडुभः—संकट का अर्थ विपत्ति तथा दुर्गम स्थल हैं। दुर्गम स्थल अर्थ अधिक अच्छा है। वृक खच्चर और भेड़िया को कहा जाता है। दोनों को तात्पर्यानुसार समझना चाहिये।

अपि च—

भुजग इव गतौ, गिरिः स्थिरत्वे,
पतगपतेः परिसर्पणे च तुल्यः।
शश इव भुवनावलोकनेऽहं
वृक इव च ग्रहणे बले च सिंहः ॥ २१ ॥

इसमें एक शर्विलक में ही तादात्म्य से मार्जार आदि का आरोप होने से मालारूपक अलङ्कार समझना चाहिये। एक शर्विलक का ही मार्जार आदि अनेक रूपों में उल्लेख होने से उल्लेख अलंकार की शंका की जा सकती है। परन्तु यहाँ शर्विलक में मार्जारत्व आदि वास्तविकरूप में नहीं है। अतः उल्लेख मानना सम्भव नहीं है। शार्दूलविक्रीडित छन्द है ॥ २० ॥

अन्वयः—अहम्, गतौ, भुजगः, इव, स्थिरत्वे, गिरिः, परिसर्पणे, पतगपतेः, तुल्यः, भुवनावलोकने, शशः, इव, ग्रहणे, वृकः, इव, बले, च, सिंहः, अस्मि ॥२१॥

शब्दार्थ—अहम्=मैं शर्विलक, गतौ=टेढ़ी मेढ़ी चाल में, भुजगः=साँप, इव=के समान, स्थिरत्वे=अचल रहने में, गिरिः=पहाड़, परिसर्पणे=शीघ्र चलने में, पतगपतेः=पक्षिराजगरुड के, तुल्यः=समान, भुवनावलोकने=एक समय में ही सारे संसार को देख लेने में, शशः=खरगोश, ग्रहणे=झपटकर पकड़ने में, वृकः= भेड़िया, च=और, बले=शक्ति, में, सिंहः=शेर, अस्मि=हूँ ॥ २१ ॥

अर्थ- मैं (शर्विलक) वक्र चलने में साँप के समान, अडिग रहने में पर्वत, शीघ्र चलने में पक्षिराज गरुड के समान, एक साथ सारे संसार को देख लेने में खरगोश के समान, (झपटकर) पकड़ने में भेड़िया के समान और बल में सिंह हूँ ॥ २१ ॥

टीका—पूर्वोक्तमेव स्वसामर्थ्यं पुनः वर्णयति—भुजग इति। अहम्=शर्विलकः गतौ=वक्रादिगमने, भुजगः=सर्पः, इव=यथा; स्थिरत्वे=अचलत्वे, गिरिः=पर्वतः, इव, परिसर्पणे=शीघ्रगमने, पतगपतेः = पक्षिराजगरुडस्य, तुल्यः=समानः, भुवनावलोकने=जगतः दर्शने, चतुर्दिक्दर्शने इति भावः, शशः=शशक इव, ग्रहणे=आक्रम्य लक्ष्यग्रहणे, वृकः=ईहामृगः, इव, बले=सत्त्वे, च, सिंह=मृगेन्द्रः इव, अस्मि=वर्ते। अत्र उपमेयभूतस्य एकस्य शर्विलकस्य विषयविशेषेण भुजग-गिरिपतगपत्यादिभिः बहुभिरुपमानैः साम्यकथनात् मालोपमालङ्कारः, पुष्पिताग्रा वृत्तम् ॥ २१ ॥

विमर्श—पूर्वोक्त श्लोक के समान ही इसमें भी शर्विलक अपनी विशेषता बताता है। यहाँ उपमेय एक शर्विलक का भुजग, गिरि, पतगपति आदि बहुत से उपमानों के साथ साम्य कहने के कारण मालोपमा अलंकार है। कुछ ने उल्लेख अलकार माना है। पुष्पिताग्रा छन्द है ॥ २१ ॥

(प्रविश्य ।)

रदनिका—हद्धी ! हद्धी ! वाहिर-दुआर-सालाए पसुत्तो वड्ढमाणओ, सोवि एत्थ ण दीसइ । भोदु, अज्जमित्तेअं सद्दावेमि । (हा धिक् हा धिक् ! बहिर्द्वारशालायां प्रसुप्तो बर्द्धमानकः, सोऽप्यत्र न दृश्यते । भवतु, आर्यमैत्रेयं शब्दापयामि ।)

शर्विलकः—(रदनिकां हन्तुमिच्छति । निरूप्य) कथं स्त्री ! भवतु, गच्छामि । (इति निष्क्रान्तः ।)

रदनिका—(गत्वा सत्रासम्) हद्धी ! हद्धी ! अम्हाणं गेहे सन्धि कप्पिअ चोरो णिक्कमदि । भोदु, मित्तेअं गदुअ पबोधेमि । (विदूषकमुपगम्य) अज्जमित्तेअ ! उट्ठेहि उट्ठेहि; अम्हाणं गेहे सन्धिं कप्पिअ चोरो णिक्कन्तो । (हा धिक् हा धिक् ! अस्माकं गेहे सन्धि कल्पयित्वा चोरो निष्क्रामति । भवतु, मैत्रेयं गत्वा प्रबोधयामि । आर्यमैत्रेय ! उत्तिष्ठ उत्तिष्ठ, अस्माकं गेहे सन्धि कल्पयित्वा चौरो निष्क्रान्तः ।)

विदूषकः—(उत्थाय) आः दासीए धीए ! किं भणासि 'चोरं कप्पिअ सन्धी णिक्कन्तो ?' । (आः दास्याः पुत्रि ! किं भणसि 'चोरं कल्पयित्वा सन्धिर्निष्क्रान्तः ?')

रदनिका—हदास ! अलं परिहासेण । किं ण पेक्खसि एणं ? । (हताश ! अलं परिहासेन । किं न प्रेक्षसे एनम् ?)

विदूषकः—आः दासीए धीए ! किं भणासि दुदीअं विअ दुआरअं उग्घाणिदं त्ति । वअस्स ! चारुदत्त ! उठ्ठेहि, उठ्ठेहि ! अम्हाणं गेहे सन्धि दइअ चोरो णिक्कन्तो । (आः दास्याः पुत्रि ! किं भणसि द्वितीय-

---

(प्रवेश करके)

अर्थ—रदनिका—हाय ! हाय ! बाहर दरवाजे की कोठरी में वर्द्धमानक सोया हुआ था, वह भी नहीं दिखाई दे रहा है। अच्छा, आर्य मैत्रेय को बुलाती हूँ।

शर्विलक—(रदनिका को मार डालना चाहता है। देख कर) ओह, यह तो स्त्री है। अच्छा (यहाँ से) जाता हूँ। (इस प्रकार चला जाता है।)

रदनिका—(घूम कर, भय के साथ) हाय, हाय, हमारे घर में सेंध लगा कर चोर भागा जा रहा है। अच्छा, जाकर मैत्रेय को जगाती हूँ। (विदूषक के समीप जाकर) आर्य मैत्रेय। उठो, उठो, हम लोगों के घर में सेंध लगा कर चोर निकल गया।

विदूषक—(उठ कर) अरी दासी की पुत्री, क्या कह रही हो 'चोर को फाड़ कर सेंध निकल गई।'

रदनिका—अरे मूर्ख ! हँसी मत करो। क्या इसे नहीं देख रहे हो ?

विदूषक—अरी दासी की पुत्री क्या कह रही हो 'दूसरा दरवाजा सा खोल

मिव द्वारकम् उद्घाटितमिति । भो वयस्य ! चारुदत्त ! उत्तिष्ठ उत्तिष्ठ । अस्माकं गेहे सन्धिं दत्त्वा चौरो निष्क्रान्तः ।)

चारुदत्तः—भवतु । भोः ! अलं परिहासेन ।

विदूषकः—भो ! ण परिहासो । पेक्खदु भवं । (भोः ! न परिहासः प्रेक्षतां भवान् ।)

चारुदत्तः—कस्मिन्नुद्देशे ? ।

विदूषकः—भो ! एसो । (भोः एषः ।)

चारुदत्तः—(विलोक्य ।) अहो ! दर्शनीयोऽयं सन्धिः ।

उपरितलनिपातितेष्टकोऽयं
शिरसि तनुर्विपुलश्च मध्यदेशे !
असदृशजन-सम्प्रयोगभीरो-
र्हृदयमिव स्फुटितं महागृहस्य ॥ २२ ॥

दिया' । हे मित्र चारुदत्त उठिये, उठिये । हम लोगों के घर में चोर सेंध लगाकर निकल गया ।

चारुदत्त—अच्छा, अरे मित्र हँसी मत करो ।

विदूषक—अरे ! हँसी नहीं है, क्या आप नहीं देख रहे हैं ?

चारुदत्त—किस जगह ?

विदूषक—अरे, यह है ।

चारुदत्त—(देख कर) ओह ! यह सेंध तो दर्शनीय है ।

टीका—शब्दापयापि = आह्वयामि, कथमिति आश्चर्ये, सत्रासम् = सधि विलोक्य चौरसमागमभीत्येति भावः, कल्पयित्वा = सम्पादयित्वा, निष्क्रामति= पलायते, चौरं कल्पयित्वेत्यादिकं विदूषककथनं सम्भ्रममूलकमेव, हताश इति मूर्खत्वे, उद्देशे = प्रदेशे, स्थाने दर्शनीयः = अवलोकनीयः, निर्माणनैपुण्यातिशय-दर्शनादिति भावः ।

अन्वयः—उपरितल-निपातितेष्टकः, शिरसि, तनुः, मध्यदेशे, च, विपुलः, अयम् (सन्धिः) असदृशजनसम्प्रयोगभीरोः, महागृहस्य, स्फुटितम्, हृदयम्, इव, (दृश्यते) ॥ २२ ॥

शब्दार्थः—उपरितलनिपातितेष्टकः=ऊपर से हटा दी गई हैं ईटें जिससे ऐसी, शिरसि=सिर पर, ऊपर, तनुः=छोटी, मध्यदेशे=बीचवाले भाग में, विपुलः=चौड़ी, अयम्=यह सेन्ध, असदृशजन-सम्प्रयोगभीरोः=अनुचित व्यक्ति चोर आदि के आजाने से भयभीत, महागृहस्य = विशाल भवन के, स्फुटितम् = फटे हुये, विदीर्ण, हृदयमिव=हृदय के समान, दृश्यते=दिखाई दे रही है ॥ २२ ॥

कथमस्मिन्नपि कर्मणि कुशलता ।

विदूषकः—भो वअस्स ! अअं सन्धी दुवेहिं ज्जेव दिण्णो भवे । आदु, आगन्तुएण सिक्खिदुकामेण वा । अण्णधा इध उज्जइणीए को अम्हाणं धरविहवं ण जाणादि ? । (भो वयस्य ! अयं सन्धिर्द्धाभ्यामेव दत्तो भवेत् । अथवा आगन्तुकेन शिक्षितुकामेन वा । अन्यथा इह उज्जयिन्यां कः अस्माकं गृहविभवं न जानाति ?)

अर्थ—जिसमें ऊपरी ओर ईटें हटाई गयीं हैं, जो ऊपरी तरफ छोटी और बीच में चौड़ी (अर्थात् घट के मुख और मध्यभाग के समान) यह सेन्ध, चोर आदि अनुचित व्यक्ति के प्रवेश करने के कारण डरे हुये विशाल भवन के फटे हुये हृदय=कलेजे के समान दिखाई पड़ रही है ॥ २२ ॥

टीका—स्वोक्त सन्धेर्दर्शनीयत्वं वर्णयन्नाह—उपरितलेति । उपरितलात्= ऊर्ध्वभागात्, निपातिता=आकृष्य अपसारिता इष्टका यस्मात् सः, कुत्रचित् उपरि= ऊर्ध्वभागात्, तलात् अधोभागात् इत्यपि व्याख्या दृश्यते, 'उपरितन' इति तु अपपाठः, शिरसि=उपरिभागे, मुखदेशे इति भावः, तनुः=अल्पप्रसरः, मध्ये=मध्यप्रदेशे च, विपुलः=विशालः, अयः=समक्षं दृश्यमानः सन्धिः, असदृशजनस्य—अयोग्यपुरुषस्य, संप्रयोगात्=प्रवेशात्, भीरोः=भययुक्तस्य, महागृहस्य=विशालभवनस्य, स्फुटितम्= विदीर्णम्, हृदयम्=वक्षस्थलम्, इव, दृश्यते । अत्र प्रकृते अचेतने हर्म्ये विहितस्य सन्धेः विदीर्णवक्षस्थलत्वसम्भावनयोत्प्रेक्षालंकारः, पुष्पिताग्रा वृत्तम् ॥ २२ ॥

विमर्शः—उपरितलनिपातितेष्टकः—इसमें उपरि = ऊर्ध्व, तल = अधः यहाँ ऊपर तथा नीचे दोनों से ईटों का निकालना बताया है । कुछ लोग 'उपरितन' यह पाठ मानते हैं परन्तु "सायं चिरं प्राह्णे प्रगेऽव्ययेभ्यः" (पा. सू. ४।३।२३) में कालवाची उपरि शब्द से ही प्रत्यय एवं तुडागम का विधान है । अतः स्थानवाची होने पर यह अशुद्ध होगा । घट का मुख छोटा और मध्य भाग बड़ा तथा नीचे पुनः छोटा होता है उसी प्रकार यह सेन्ध है । सेंध का फँटना उसी प्रकार है जैसा किसी महान् व्यक्ति का हृदय विदीर्ण होना । यहाँ अचेतन भवन में फोड़ी गई सेन्ध में विदीर्णवक्षस्थलत्व की सम्भावना की जाने से उत्प्रेक्षा अलंकार है । पुष्पिताग्रा छन्द है ॥ २२ ॥

अर्थ—क्या इस सेन्ध लगाने के काम में भी कुशलता (आवश्यक होती है, या सीखी जाती है) ?

विदूषक—हे मित्र ! यह सेन्ध दो ही के द्वारा फोड़ी जा सकती है या तो बाहर से आने वाले किसी के द्वारा अथवा सीखने वाले के द्वारा । अन्यथा इस उज्जैन नगरी में हम लोगों के घर के वैभव को कौन नहीं जानता है ।

चारुदत्तः—

वैदेश्येन कृतो भवेन्मम गृहे व्यापारमभ्यस्यता
नासौ वेदितवान् धनैर्विरहितं विस्रब्धसुप्तं जनम् ।
दृष्ट्वा प्राङ्महतीं निवासरचनामस्माकमाशान्वितः,
सन्धिच्छेदनखिन्न एव सुचिरं पश्चान्निराशो गतः ॥ २३ ॥

टीका—अस्मिन्नपि = सन्धिभेदनकार्येऽपि, कुशलता=पटुता, योग्यता, दत्तः= विदारितः, शिक्षितुकामेन=शिक्षाभ्यासपरेण, तुमन्तस्य कामशब्देन समासे मकार-लोपः, गृहविभवम्=गृहैश्वर्यम्, न जानाति—काकुरत्र, सर्वेऽपि जानन्तीत्यर्थः ॥

अन्वयः—वैदेश्येन, (अथवा) व्यापारम्, अभ्यस्यता, मम, गृहे, (सन्धिः) कृतः, भवेत्, असौ, धनैः, विरहितम्, विश्रब्धसुप्तम्, जनम्, न, वेदितवान्, प्राक्, महतीम्, निवासरचनाम्, दृष्ट्वा, आशान्वितः, सुचिरम्, सन्धिच्छेदनखिन्नः, पश्चात्, निराशः, एव, गतः ॥ २३ ॥

शब्दार्थः—वैदेश्येन = विदेश में होनेवाले, बाहरी, अथवा व्यापारम् = सेंध लगाने की क्रिया का, अभ्यस्यता = अभ्यास करनेवाले (किसी ने), मम = मेरे (चारुदत्त के) गृहे=घर में, (सन्धिः=सेन्ध), कृतः=फोड़ी, भवेत्=होगी, असौ= वह, धनैः=धन से, विरहितम्=हीन, विश्रब्धसुप्तम्=निश्चिन्तता के साथ सोनेवाले, जनम्=हम लोगों को, न = नहीं, वेदितवान्=जान पाया, प्राक् = पहले, महतीम्= विशाल, निवासरचनाम्=भवन की बनावट को, दृष्ट्वा=देखकर, आशान्वितः= आशा लगाये हुये, सुचिरम् = बहुत देर तक, सन्धिच्छेदनखिन्नः = सेंध फोड़ने से थका हुआ, पश्चात् = बाद में, निराशः = निराश होकर, एव = ही, गतः = चला गया होगा ॥ २३ ॥

अर्थ—किसी बाहरी ने अथवा सेंध लगाने का अभ्यास करने वाले ने ही मेरे घर पर सेंध लगाई होगी । वह धन से हीन अतः निश्चिन्त होकर सोनेवाले हम लोगों को नहीं जानता रहा होगा । पहले विशाल भवन की आकृति को देख कर (यहाँ प्रचुर धनादि मिलेगा —इस) आशा लगाये हुये काफी देर तक सेंध फोड़ने के कार्य से थका हुआ, बाद में (कुछ भी न प्राप्त कर सकने से) निराश ही लौट गया होगा ॥ २३ ॥

टीका—विदूषकस्योक्ति समर्थयमान एवाह—वैदेश्येनेति । वैदेश्येन=विदेशे भवेन, अतो गृहवैभवमजानता इति भावः, 'अथवा' इत्यध्याहार्यम्, विदूषकोक्ति-समर्थनार्थमुक्तत्वादिति बोध्यम्, व्यापारम् = सन्धिच्छेदनरूपं कार्यम्, अभ्यस्यता= शिक्षमाणेन, जनेन, मम=चारुदत्तस्य, गृहे=भवने, सन्धिः, कृतः=विहितः, भवेत्= स्यात्; अत्र हेतुमाह —असौ = चौरः, धनैः = द्रव्यैः, विरहितम्=हीनम्, अत एव,

ततः सुहृद्भ्यः किमसौ कथयिष्यति तपस्वी, 'सार्थवाहसुतस्य गृहं प्रविश्य न किञ्चिन्मया समासादितम्' इति ।

विदूषकः—भो ! कधं तं ज्जेव चोरहदअं अणुशोचसि । तेण चिन्तिदं महन्तं एदं गेहं, इदो रअणभण्डअं सुवण्णभण्डअं वा णिक्कामइस्सामि । (स्मृत्वा, सविषादमात्मगतम्) कहिं तं सुवण्णभण्डअं ? (पुनरनुस्मृत्य प्रकाशम्) भो वअस्स ! तुमं सव्वकालं भणासि 'मुक्खो मित्तेअओ, अपण्डिदो मित्तेअओ' त्ति । सुट्ठु मए किद तं सुवण्णभण्डअं भवदो हत्थे समप्पअन्तेण । अण्णधा दासीए पुत्तेण अवहदं भवे । (भोः ! कथं तमेव चौरहतकमनुशोचसि । तेन चिन्तिम्—महदेतद्गेहम्, इतो रत्नभाण्डं सुवर्णभाण्डं वा निष्क्रामयिष्यामि । कुत्र तत् सुवर्णभाण्डम् ? भो वयस्य ! त्वं सर्वकालं भणसि—

विश्रब्धसुप्तम् = निःशङ्कनिद्रितम्, जनम् = पुरुषम्, माम् इति भावः, न = नैव, वेदितवान् = ज्ञातवान्, स्वार्थे णिचि बोध्यः, तत्रापि हेतुमाह—प्राक् = पूर्वम्, महतीम्=विशालाम्, निवासरचनाम्=भवनाकारम्, दृष्ट्वा=विलोक्य, आशान्वित= धनादिप्रात्याशया युक्तः, सुचिरम्=दीर्घकालपर्यन्तम्, सन्धिच्छेदनेन=सन्धिकर्त्तनेन, खिन्नः=परिश्रान्तः, पश्चात्=गृहप्रवेशानन्तरम्, निराशः=निष्फलप्रयासः, असफल- मनोरथः, एव, गतः=प्रस्थितः, अत्र प्रथमपादं प्रति द्वितीयपादस्य हेतुतया निर्देशात् काव्यलिङ्गमलङ्कारः । शार्दूलविक्रीडितं वृत्तम् ॥ २३ ॥

विमर्श—'वैदेश्येन' इसके बाद 'अथवा' का अध्याहार करना चाहिये । क्योंकि विदूषक के कथन—'द्वाभ्यामेव'—इत्यादि के साथ सामञ्जस्य बनाना है । वेदितवान्–यहाँ √विद् धातु से स्वार्थिक णिच् प्रत्यय करके क्त-प्रत्ययान्त रूप समझना चाहिये । महतीम्–चोर ने पहले यह देखा कि इतना विशाल भवन है तो इसी के अनुरूप सम्पत्ति भी होगी । अतः बहुत देर तक सेंध फोड़ने का परिश्रम करता रहा होगा । पश्चात् निराशः–किन्तु घर में आने पर उसे एक कौड़ी भी नहीं मिल सकी होगी । अतः निराश होकर चला गया होगा । यहाँ प्रथम पाद में जो कहा है उसी के समर्थन में हेतुरूपेण द्वितीय पाद है । अतः काव्यलिङ्ग अलंकार है । शार्दूलविक्रीडित छन्द है ॥ २३ ॥

अर्थ—तब यह बेचारा अपने मित्रों से क्या कहेगा "सार्थवाहपुत्र के घर में घुस कर मैंने कुछ नहीं पाया ।"

विदूषकः—अरे ! क्यों उस नीच चोर के विषय में ही सोंच रहे हो ? इसने सोंचा यह विशाल घर है । इससे रत्नों का बक्स अथवा स्वर्ण का बक्स निकाल लूंगा । (सोंच कर, विषाद के साथ–अपने आपमें) वह सोने के गहनों का डिब्बा

'मूर्खो मैत्रेयः अपण्डितो मैत्रेयः' इति । सुष्ठु मया कृतं तत् सुवर्णभाण्डं भवतो हस्ते समर्पयता । अन्यथा दास्याः पुत्रेण अपहृतं भवेत् ।)

चारुदत्तः—अलं परिहासेन ।

विदूषकः—भो ! जह णाम अहं मुक्खो, ता किं परिहासस्स वि देशआलं ण जाणामि ? । (भोः यथा नाम अहं मूर्खः तत् किं परिहासस्यापि देशकालं न जानामि ?)

चारुदत्तः—कस्यां वेलायाम् ? ।

विदूषकः—भो ! जदा तुमं मए भणिदोऽसि—सीदलो दे अग्गहत्थो । (भोः यदा त्वं मया भणितोऽसि—शीतलस्ते अग्रहस्तः ।)

चारुदत्तः—कदाचिदेवमपि स्यात् ? । (सर्वतो निरूप्य सहर्षम्) वयस्य ! दिष्टचा ते प्रियं निवेदयामि ।

विदूषकः—किं ण अवहृदं ? (किं न अपहृतम् ?)

चारुदत्तः—हृतम् ।

विदूषकः—तधा वि किं पिअं ? । (तथापि किं प्रियम् ?)

चारुदत्तः—यदसौ कृतार्थो गतः ।

विदूषकः—णासो क्खु सो । (न्यासः खलु सः ।)

कहाँ है ? (फिर याद करके प्रकट रूप से) हे मित्र ! तुम हर समय कहा करते हो–'मैत्रेय मूर्ख है, मैत्रेय अज्ञानी है ।' सोने के गहनों के उस डिब्बे को आपके हाथ में देते हुये मैंने बहुत अच्छा किया । नहीं तो, दासी के बच्चे चोर ने उसे चुरा लिया होता ।

चारुदत्त—मित्र, परिहास मत करो ।

विदूषक—अरे ! यद्यपि मैं मूर्ख हूँ किन्तु क्या परिहास का समय और स्थान भी नहीं समझता हूँ ।

चारुदत्त—किस समय ?

विदूषक—मित्र ! जब मैंने कहा था कि तुम्हारी अंगुली ठण्डी है ।

चारुदत्त—सम्भव है ऐसा हुआ भी हो (चारों ओर देखकर हर्षपूर्वक) मित्र ! भाग्यवश मैं तुम्हें शुभ समाचार बताता हूँ ।

विदूषक—क्या नहीं चुराया ?

चारुदत्त—चुराया ।

विदूषक—तब क्या शुभ समाचार है ?

चारुदत्त—यही कि वह सफल होकर गया ।

विदूषक—अरे ! वह धरोहर थी ।

चारुदत्तः—कथं न्यासः। (मोहमुपगतः)

विदूषकः—समस्ससदु भवं। जइ णासो चोरेण अवहृदो, तुमं किं मोहं उवगदो ?। (समाश्वसितु भवान्। यदि न्यासश्चौरेणापहृतः, त्वं किं मोहमुपगतः ?)

चारुदत्तः—(समाश्वस्य) वयस्य !

कः श्रद्धास्यति भूतार्थं सर्वो मां तुलयिष्यति।
शङ्कनीया हि लोकेऽस्मिन् निष्प्रतापा दरिद्रता ॥ २४ ॥

चारुदत्त—क्या धरोहर थी ? (मूर्छित हो जाता है।)

विदूषक—आप धैर्य धारण करें। यदि चोर ने धरोहर चुरा ली तो आप क्यों मूर्च्छित हो गये ?

टीका—तपस्वी = वराकः, सार्थवाहसुतस्य = चारुदत्तस्य, समासादितम् = प्राप्तम्, चौरहतकम् = चौरश्चासौ हतकश्च इति चौरहतकः = दुष्टचौरः, निष्क्रामयिष्यामि = अपहरिष्यामि, परिहासस्य = उपहासस्य, देशकालम्=स्थानसमयम्, दिष्टया = भाग्येन, न्यासः = निक्षेपः, वसन्तसेनाया इति शेषः, समाश्वसितु=समाश्वस्तो भवतु ॥

अन्वयः—कः, भूतार्थम्, श्रद्धास्यति, सर्वः, माम्, तुलयिष्यति, हि, अस्मिन्, लोके, निष्प्रतापा, दरिद्रता, शङ्कनीया, (भवति) ॥ २४ ॥

शब्दार्थ—कः=कौन, भूतार्थम्=बीती सच बात पर, श्रद्धास्यति=विश्वास करेगा, सर्वः=सभी कोई, माम्=मुझे, तुलयिष्यति=तौलेंगे, अर्थात सन्देह करेंगे, हि=क्योंकि, अस्मिन्=इस, लोके = ससार में, निष्प्रतापा = प्रतापहीन, दरिद्रता=गरीबी, शङ्कनीया=शङ्का करने योग्य, भवति=होती है ॥ २४ ॥

अर्थ—चारुदत्त—(धैर्य धारण करके) मित्र !

कौन बीती हुई सच बात पर विश्वास करेगा ? सभी मुझ पर सन्देह करेंगें, क्योंकि इस संसार में प्रतापशून्य निर्धनता सन्देह करने योग्य होती है, अर्थात् दरिद्र पर सभी लोग शंका करने लग जाते हैं ॥ २४ ॥

टीका वसन्तसेनायाः न्यासापहारे कथं मोह इति विदूषकोक्तिमुत्तरयन्नाह—क इतिः। कः = जनः, भूतार्थम् = सञ्जातं यथार्थम्, 'चौरेणैव तत्सुवर्णभाण्डमपहृतं न त्वनेन'—इत्येवं रूपम्, श्रद्धास्यति = विश्वासिष्यति, हि=यतः, अस्मिन् लोके=संसारे, निष्प्रतापा = प्रतापहीना, दरिद्रता = निर्धनता, शङ्कनीया=शङ्कास्थानम्, भवतीति भावः। अत्र सामान्येन विशेषसमर्थनरूपोऽर्थान्तरन्यासः अलंकारः, अनुष्टुप् वृत्तम् ॥ २४ ॥

भोः ! कष्टम् ।

यदि तावत् कृतान्तेन प्रणयोऽर्थेषु मे कृतः ।
किमिदानीं नृशंसेन चारित्रमपि दूषितम् ॥ २५ ॥

विमर्श—भूतः=सत्यः, वस्तुतो जातः, अर्थः=चौरापहरणरूपः, तम् । श्रद्धास्यति = सत्यत्वेन स्वीकरिष्यति, तुलयिष्यति—इसके स्थान पर तूलयिष्यति–यह भी पाठ है—तूलमिव लघूकरिष्यति–यह अर्थ है । तुलयिष्यति–सन्देह दूर करने के लिये तुला पर बैठाकर परीक्षा लेना शास्त्रसम्मत है, वही करेंगे । निष्प्रतापा-निर्गतः प्रतापः तेजः यस्यां सा–जिसमें से तेज समाप्त हो चुका है । यहाँ उत्तरार्द्ध के सामान्य कथन से पूर्वार्द्ध के विशेष कथन का समर्थन होने के कारण अर्थान्तर-न्यास अलंकार है । और पथ्यावक्त्र छन्द है ॥ २४ ॥

अन्वयः—कृतान्तेन, यदि, तावत्, मम, अर्थेषु, प्रणयः, कृतः, नृशंसेन, इदानीम्, मम, चारित्रम्, अपि, किम्, दूषितम् ॥ २५ ॥

शब्दार्थ—कृतान्तेन=दुर्भाग्य ने, यदि तावत्=यदि अब तक, मे=मेरे, चारुदत्त के, अर्थेषु = धन पर, प्रणयः = अनुराग, कृतः=किया अर्थात् सारा धन ले लिया, तर्हि–तो, नृशंसेन=क्रूर उस भाग्य ने, इदानीम्=इस समय, चारित्रम्=चरित्र को, अपि=भी दूषितम्=दूषित कर डाला ॥ २५ ॥

अर्थ—हाय कष्ट है ।

यदि दुर्भाग्य ने मेरा धन ले लिया (तो कोई बात नहीं) किन्तु इस समय चरित्र भी दूषित कर डाला ॥ २५ ॥

टीका—धनहानिर्मां न तथा पीडयति यथा लोकैः सम्भाव्यमानः मम चरित्रे दोष–इत्याह—यदीति । कृतान्तेन=दैवेन, यदि तावत्=यदि, तावत्–वाक्यालंकारे, मे=मम, चारुदत्तस्येत्यर्थः, अर्थेषु = धनेषु, प्रणयः = प्रीतिः, कृतः=विहितः, ग्रहणाय धनेषु अनुरागः प्रदर्शितः, नृशंसेन = क्रूरेण, इदानीम् = अधुना, मम = चारुदत्तस्य, चारित्रम्=सच्चरित्रता अपि, दूषितम्=निन्दनीयं कृतम्, चारुदत्तेन वसन्तसेनायाः न्यासः स्वयमपहृत्य चौर्यरूपेण प्रख्यापित इति निन्दापि समारोपितेति भावः, पथ्यावक्त्रं वृत्तम् ॥ २५ ॥

विमर्श—'कृतान्तो यमदैवयोः'—कोषानुसार यहाँ दैव=भाग्य अर्थ है । तावत्=उतना, अर्थात् धन से अनुराग करके हरण कर लेना तक तो ठीक था । परन्तु अब चरित्र का विघात सह्य नहीं है । सभी यह कहेंगे कि वसन्तसेना का धन स्वयं हड़प कर चोरी का बहाना कर रहा है । यहाँ पथ्यावक्त्र छन्द है ॥ २५ ॥

विदूषकः—अहं क्खु अवलविस्सं, केण दिण्णं ? केण गहिदं ? को वा सक्खि ? त्ति । (अहं खलु अपलपिष्यामि, केन दत्तम् ? केन गृहीतम् ? को वा साक्षी ? इति ।)

चारुदत्तः—अहमिदानीमनृतमभिधास्ये ?

भैक्ष्येणाप्यर्जयिष्यामि पुनर्न्यासप्रतिक्रियाम् ।
अनृतं नाभिधास्यामि चारित्रभ्रंशकारणम् ।। २६ ।।

रदनिका—ता जाव अज्जाधूदाए गदुअ णिवेदेमि । (तद्यावत् आर्याधूतायै गत्वा निवेदयामि ।)

(इति निष्क्रान्ता ।)

अर्थ—विदूषक—मैं झूठ बोल दूंगा—किसने दिया ? किसने लिया ? कौन गवाह है ?

चारुदत्त—क्या अब मैं झूठ (भी) बोलूँगा ?

अन्वयः—भैक्ष्येण, अपि, न्यासप्रतिक्रियाम्, पुनः, अर्जयिष्यामि, चारित्रभ्रंशकारकम्, अनृतम्, न, अभिधास्यामि ।। २६ ।।

शब्दार्थ—भैक्ष्येण=भीख से, अपि=भी, न्यासप्रतिक्रियाम्=धरोहर के बदले का धन, पुनः=फिर, अर्जयिष्यामि=पैदा करूँगा, किन्तु, चारित्रभ्रंशकारकम्=चरित्र को विकृत करने वाले, अनृतम् = असत्य को, न = नहीं, अभिधास्यामि=बोलूँगा ।। २६ ।।

अर्थ—(मैं) भीख से (अर्थात् भीख माँग कर) भी धरोहर के बदले का धन पुनः पैदा करूँगा परन्तु चरित्र को विकृत कर देने वाले असत्य को नहीं बोलूँगा ।। २६ ।।

टीका—ममानृतभाषणमसम्भवमित्यत आह—भैक्ष्येणेति । भैक्ष्येण=भिक्षया, अपि, अपिना अन्येन केनापि समुचितेनोपायेन न्यासप्रतिक्रियाम्=मत्सविधे रक्षितधनस्य शोधनोपायम्, पुनः, अर्जयिष्यामि=आहरिष्यामि, किन्तु, चारित्रभ्रंशकारणम्=सदाचरणच्युतिकारकम्, अनृतम्=असत्यम्, न=नैव, अभिधास्यामि=वदिष्यामि । एतच्चानृतभाषणापेक्षया भिक्षाटनं वरमिति भावः । पथ्यावक्रं वृत्तम् ।। २६ ।।

विमर्श—भैक्ष्येण—यहाँ चारुदत्त की सच्चारित्रता का अच्छा वर्णन है । वह अपने सदाचार के विषय में लोकप्रवाद और असत्यभाषण से कितना अधिक भयभीत है, इसका अनुमान लगाया जा सकता है । पथ्यावक्र छन्द है ।। २६ ।।

अर्थ—रदनिका—तो तब तक आर्याधूता से सारी घटना कहती हूँ ।

(यह कह कर निकल जाती है ।)

(ततः प्रविशति चेटया सह चारुदत्तवधूः ।)

वधूः---(ससम्भ्रमम्) अइ ! सच्चं अवरिक्खदसरीरो अज्जउत्तो अज्जमित्तेएण सह ? (अयि ! सत्यम् अपरिक्षतशरीर आर्यपुत्र आर्यमैत्रेयण सह ?)

चेटी---भट्टिणि ! सच्चं ! किं तु जो सो वेस्साजणकेरको अलंकारको, सो अवहृदो । (भट्टिनि ! सत्यम् ! किन्तु यः स वेश्याजनस्य अलंकारकः सोऽपहृतः ।)

(वधूः मोहं नाटयति ।)

चेटी---समस्ससदु अज्जा धूदा । (समाश्वसितु आर्याधूता !)

वधूः---(समाश्वस्य) हञ्जे ! किं भणासि ? 'अवरिक्खदसरीरो अज्जउत्तो' त्ति । वरं दाणिं सो सरीरेण परिक्खदो, ण उण चारित्तेण । संपदं उज्जइणीए जणो एवं मन्तइस्सदि--'दलिद्ददाए अज्जउत्तेण ज्जेव ईदिसं अकज्जं अणुचिट्ठिदं'त्ति । (ऊर्ध्वमवलोक्य निःश्वस्य च) भअवं कअन्त ! पोक्खर--वत्त--पडिद--जलविन्दु--चञ्चलेहिं कीलसि दलिद्दपुरिसभअधेएहिं । इअं च मे एक्का मादुघरलद्धा रअणावली चिट्ठदि, एदंपि अदिसोण्डीरदाए अज्जउत्तो ण गेण्हिस्सदि । हञ्जे ! अज्जमित्तेअं दाव सद्दावेहि । (हञ्जे ! किं भणसि--'अपरिक्षतशरीरः आर्यपुत्रः' इति । वरमिदानीं स शरीरेण परिक्षतः न पुनश्चारित्रेण । साम्प्रतमुज्जयिन्यां जन एवं मन्त्रयिष्यति--'दरिद्रतया आर्यपुत्रेणैव ईदृशमकार्यमनुष्ठितमिति । भगवन् कृतान्त ! पुष्करपत्रपतितजलबिन्दुचञ्चलैः क्रीडसि दरिद्रपुरुषभागधेयैः । इयञ्च मे एका मातृगृहलब्धा

(इसके बाद चेटी के साथ चारुदत्त की पत्नी प्रवेश करती है ।)

अर्थ---**वधू**---(चारुदत्त की पत्नी)--(घबड़ाहट के साथ) अरी ! आर्य मैत्रेय के साथ आर्य चारुदत्त शरीर से कुशल तो हैं ?

चेटी---स्वामिनि ! सचमुच (सकुशल हैं) । परन्तु वेश्या वसन्तसेना का जो अलंकारसमूह था वह चुरा लिया गया, (चोरी चला गया) ।

(वधू मूर्च्छित होने का अभिनय करती है ।)

चेटी---आर्या धूता आप धैर्य धारण करें ।

वधू---(धैर्य धारण करके) सखी क्या कह रही हो -'आर्यपुत्र इस समय शरीर से कुशल है ।' शरीर से क्षत = घायल होना ठीक था न कि चरित्र से । (अर्थात् शरीर में कोई घाव आदि हो जाता तो चिन्ता की बात नहीं थी परन्तु उनका चरित्र ही विकृत हो गया ।) इस समय उज्जैन नगरी में लोग ऐसा कहेंगे--"दरिद्र होने के कारण आर्यपुत्र (चारुदत्त) ने ही यह अनुचित कार्य (स्वर्णाभूषण हड़प जाना) किया है ।" भगवन् दैव ! दरिद्रपुरुष के, कमलपत्र पर गिरी हुयी पानी के बूँद के समान चञ्चल, भाग्य के साथ खिलवाड़ कर रहे हो । और मेरे मातृगृह (नैहर) से मिली हुई एक रत्नावली है ।

रत्नावली तिष्ठति । एतामपि अतिशौण्डीरतया आर्यपुत्रो न ग्रहीष्यति । हञ्जे ! आर्यमैत्रेयं तावत् शब्दापय ।)

चेटी—जं अज्जा धूदा आणवेदि । (विदूषकमुपगम्य) अज्ज मित्तेअ ! धूदा दे सद्दावेदि । (यदार्या धूता आज्ञापयति । आर्य मैत्रेय ! धूता त्वां शब्दापयति ।)

विदूषकः—कहिं सा ? । (कस्मिन् सा ?)

चेटी—एसा चिट्ठदि, उवसप्प । (एषा तिष्ठति, उपसर्प ।)

विदूषकः—(उपसृत्य) सोत्थि भोदीए । (स्वस्ति भवत्यै ।)

वधूः—अज्ज ! वन्दामि । अज्ज ! पुरत्थिआमुहो होहि । (आर्य ! वन्दे । आर्य पुरस्तान्मुखो भव ।)

विदूषकः—एसो भोदि ! पुरत्थिआमुहो संवुत्तोह्मि । (एष भवति ! पुरस्तान्मुखः संवृत्तोऽस्मि ।)

वधूः—अज्ज ! पडिच्छ इमं । (आर्य ! प्रतीच्छ इमाम् ।)

विदूषक—किं ण्णदं ? (किं न्विदम् ?)

परतु अत्यधिक उदार होने के कारण आर्यपुत्र इसे भी नहीं लेंगे । सखी, आर्य मैत्रेय को बुलाओ ।

टीका—वधूः=चारुदत्तस्य भार्या, अपरिक्षतशरीरः = अपरिक्षतम् = चौरादि-प्रहारेण अपरिभ्रष्टम्, शरीरं यस्य सः, वेश्याजनस्य=वसन्तसेनायाः, परिक्षतः= परिभ्रष्टः, पुनः = परन्तु, अकार्यम् = न्यासापहरणरूपम्, अनुष्ठितम् = सम्पादितम्, कृतान्त=दैव । पुष्करस्य = कमलस्य, पत्रेषु = दलेषु, पतिता ये जलविन्दवस्तद्वत् चञ्चलैः=अस्थिरैः, भागधेयैः=भाग्यैरित्यर्थः, स्वार्थे धेयप्रत्ययः, क्रीडसि–विहरसि, रत्नावली=रत्नानां हारविशेषः, तिष्ठति=धार्यते, अतिशौण्डीरतया=अतीवोदारतया, ग्रहीष्यति=पत्नीधनं पुरुषेण न ग्राह्यमिति भावनया नैव स्वीकरिष्यतीति भावः ।

अर्थ—**चेटी**—जैसी आर्या धूता की आज्ञा । (विदूषक के पास जाकर) आर्य मैत्रेय ! धूता आपको बुला रही हैं ।

विदूषक—वे कहाँ है ?

चेटी—वे यहाँ हैं, चलिये ।

विदूषक—(पास जाकर) आपका कल्याण हो ।

वधू—आर्य ! आपको प्रणाम है । आर्य, सम्मुख होइये ।

विदूषक—पूजनीये ! यह मैं आपके सामने हो गया हूँ ।

वधू—आर्य ! इसे ग्रहण कर लीजिये ।

विदूषक—यह क्या है ?

वधूः—अहं क्खु रअणसट्ठि उववसिदा आसि। तहिं जधाविहवाणुसारेण वम्हणो पडिग्गाहिदव्वो, सो अ ण पडिग्गाहिदो; ता तस्स किदे पडिच्छ इमं रअणमालिअं। (अहं खलु रत्नषष्ठीमुपोषिता आसम्। तस्मिन् यथाविभवानुसारेण ब्राह्मणः प्रतिग्राहयितव्यः, स च न प्रतिग्राहितः, तत् तस्य कृते प्रतीच्छ इमां रत्नमालिकाम्।)

विदूषकः—(गृहीत्वा) सोत्थि। गमिस्सं, पिअवअस्सस्स णिवेदेमि। (स्वस्ति। गमिष्यामि। प्रियवयस्यस्य निवेदयामि।)

वधूः—अज्ज मित्तेअ ! मा क्खु मं लज्जावेहि। (इति निष्क्रान्ता) (आर्य मैत्रेय ! मा खलु मां लज्जितां कुरु।)

विदूषकः—(सविस्मयम्) अहो ! से महाणुभावदा। (अहो ! अस्या महानुभावता।)

चारुदत्तः—अये ! चिरयति मैत्रेयः। मा नाम वैक्लव्यादकार्यं कुर्यात्। मैत्रेय ! मैत्रेय !

वधू—मैंने रत्नषष्ठी व्रत रखा था। उसमें अपनी सम्पत्ति के अनुसार ब्राह्मण को दान देना चाहिये; वह नहीं दिया है, अतः उसके लिये इस रत्नावली को ले लीजिये।

विदूषक—(लेकर) आपका कल्याण हो। प्रिय मित्र से निवेदित करूँगा।

वधू—आर्य मैत्रेय ! मुझे लज्जित मत करें।

(यह कह कर निकल जाती है।)

टीका—उपसर्प=समीपं गच्छ, पुरस्तान्मुखः = पुरस्तात् = पूर्वस्यां दिशि, मुखं यस्य सः, अभिमुख इत्यर्थः, प्रतीच्छ=गृहाण, रत्नषष्ठीम्=एतन्नाम्ना प्रसिद्धं व्रतम्, यस्यां रत्नदानं विहितमिति यावत्, अत्र अत्यन्तसंयोगे द्वितीया बोध्या, न च 'अभुक्त्यर्थस्य' इत्यनेन निषेधात् कथमत्र कर्मत्वम्, "गत्यर्थ०" (पा. सू. २।३।१२) इति सूत्रे 'हरिदिनमुपोषितः' इत्युदाहरणदानेन वसतेरत्र स्थितिरर्थः, भोजननिवृत्तिस्त्वार्थिकीति व्याचख्युः। यथाविभवानुसारेण=सम्पत्त्यनुरूपम्, अत्र यथाविभवम् इत्यव्ययीभावेनैव निर्वाहे सम्भवे 'अनुसार' शब्दप्रयोगश्चिन्त्यः। प्रतिग्राहितव्यः = दातव्यः, तस्य = व्रतस्य, मा लज्ज मदाशयं ज्ञात्वा मम लज्जाकरं न वदेति भावः।

अर्थ—विदूषक—(आश्चर्य के साथ) अहो, इसकी अतिशय उदारता।

चारुदत्त—अरे, मैत्रेय देर कर रहा है। कहीं दुःख या व्याकुलता के कारण (आत्महत्या आदि) अकार्य न कर डाले। मैत्रेय ! मैत्रेय !

विदूषकः—(उपसृत्य) **एसोम्हि । गेण्ह एदं ।** (एषोऽस्मि, गृहाण एताम्) (रत्नावलीं दर्शयति ।)

चारुदत्तः—**किमेतत् ?**

विदूषकः—**भो ! जं दे सरिस-दार-सङ्गहस्य फलं ।** (भोः ! यत् ते सदृशदारसंग्रहस्य फलम् ।)

चारुदत्तः—**कथं ब्राह्मणी मामनुकम्पते ? कष्टम् ! इदानीमस्मि दरिद्रः !**

आत्मभाग्यक्षतद्रव्यः स्त्रीद्रव्येणानुकम्पितः ।
अर्थतः पुरुषो नारी, या नारी साऽर्थतः पुमान् ॥ २७ ॥

विदूषक—(समीप आकर) मैं यह आ गया, इसे ले लीजिये । (रत्नावली दिखाता है ।)

चारुदत्त – यह क्या है ?

विदूषक—अरे, अपने योग्य पत्नी से विवाह करने का सुपरिणाम है ।

चारुदत्त—क्या ब्राह्मणी मुझ पर अनुकम्पा कर रही है । अब मैं (वास्तव में) दरिद्र हो गया !

टीका—महानुभावता=महाशयत्वम्, अस्याः=चारुदत्तस्य पत्न्याः, वैक्लव्यात्= शोकातिरेकात, अकार्यम् = आत्महत्यादिरूपमनुचितं कार्यम्, चिरयति = विलम्बं करोति, सदृशदारसङ्ग्रहस्य=स्वानुरूपपत्नीग्रहणस्य, सुपत्नीलक्षणम्—

सेवादासी, रतौ वेश्या, भोजने जाननी-समा ।
विपत्काले परं मित्रं सा भार्या भुवि दुर्लभा ॥

अन्वयः—आत्मभाग्यक्षतद्रव्यः, स्त्रीद्रव्येण, अनुकम्पितः पुरुषः, अर्थतः, नारी, (भवति), या नारी, सा, अर्थतः पुमान्, भवति ॥ २७ ॥

शब्दार्थ—आत्मभाग्यक्षतद्रव्यः = अपने दुर्भाग्य से विनष्ट धनवाला, स्त्री-द्रव्येण=स्त्री के धन से, अनुकम्पितः=अनुगृहीत होने वाला, पुरुषः=पुरुष, अर्थतः= धन से (अर्थात् धन के कारण) नारी=स्त्री, (भवति=हो जाता है और) या नारी = जो स्त्री, होती है, सा = वह, अर्थतः=धन के कारण, पुमान् = पुरुष हो जाती है ॥ २७ ॥

अर्थ—अपने दुर्भाग्य के कारण विनष्ट धनवाला तथा स्त्री के धन से अनुगृहीत होने वाला पुरुष धन (न होने) के कारण स्त्री (अर्थात् स्त्री के समान) हो जाता है, जो स्त्री होती है वह धन (होने) के कारण पुरुष (अर्थात् पुरुषतुल्य, प्रधान) बन जाती है ॥ २७ ॥

टीका—धूतया दत्तां विदूषकहस्तस्थां रत्नावलीं विलोक्य सनिर्वेदमाह—

अथवा नाहं दरिद्रः । यस्य मम—

विभवानुगता भार्या सुखदुःखसुहृद् भवान् ।
सत्यञ्च न परिभ्रष्टं यद्दरिद्रेषु दुर्लभम् ।। २८ ।।

आत्मभाग्येति । आत्मनः=स्वस्य, भाग्येन=दुर्दैवेन, क्षतम्=विनष्टम्, द्रव्यम्=धनं यस्य सः, भाग्यशब्दः सौभाग्यदौर्भाग्योभयसाधारणः प्रसङ्गात् योजनीयः, स्त्री-द्रव्येण=स्त्रीधनेन, अनुकम्पितः=अनुगृहीतः, पुरुषः=जनः, अर्थतः=धनेन, धनाभावेनेति यावत्, नारी=स्त्री, या नारी = स्त्री, सा, अर्थतः = धनेन, पुमान्=पुरुषः भवति । अत्र धनस्य सत्त्वासत्त्वाभ्यामेव स्त्रीत्वं पुरुषत्वं च नियम्यते इति भावः । अत्र पुरुषस्य अर्थतो नारीत्वे पूर्वार्द्धगतपदद्वयस्य हेतुत्वेन काव्यलिङ्गमलङ्कारः, पथ्यावक्त्रं वृत्तम् ।। २७ ।।

विमर्श—इदानीमस्मि दरिद्रः—यह चारुदत्तोक्ति अत्यन्त मार्मिक है। स्वाभिमान या पुरुषत्व पर होने वाले प्रहार को सहन करना चारुदत्त के वश के बाहर है। अर्थतः पुरुषो नारी—जब धन नहीं होता है तो पुरुष नारी बन जाता है क्योंकि उसमें शक्ति एवं सामर्थ्य नहीं रह पाते हैं। इसके विपरीत धन होने पर स्त्री पुरुष बन कर बड़े-बड़े कार्य करने में समर्थ हो जाती है। काव्यलिङ्ग अलंकार और पथ्यावक्त्र छन्द है ।। २७ ।।

अन्वयः—(यस्य, मम—इति गद्यस्थेनान्वयः) स्त्री, विभवानुगता, भवान्, सुखदुःखसुहृत्, सत्यम्, चं, न, परिभ्रष्टम्, यत्, दरिद्रेषु, दुर्लभम् ।। २८ ।।

शब्दार्थः—(यस्य = जिस, मम = मेरी—इन गद्यस्थ पदों के साथ जोड़ना चाहिये) स्त्री=पत्नी, विभवानुगता = विभव के अनुसार निर्वाह करने वाली है, भवान्=आप, सुखदुःखसुहृत्=सुख और दुःख के मित्र हैं, च=और, सत्यम्=सत्य, न=नहीं, परिभ्रष्टम् = छूटा, यत्=यह (तीन बातें), दरिद्रेषु = निर्धन लोगों में, दुर्लभम्=कष्ट से मिलने वाली हैं ।। २८ ।।

अर्थ—अथवा मैं दरिद्र नहीं हूँ।

जिस मेरी पत्नी सम्पत्ति के अनुसार चलनेवाली है, आप सुख और दुःख के साथी हैं, और सत्य नहीं छूटा है, ये (तीनों चीजें) दरिद्रों में दुर्लभ होती हैं ।। २८ ।।

टीका—आत्मनोऽदारिद्र्यं निरूपयन्नाह—स्त्रीति । स्त्री = पत्नी, विभवानुगता=विभवस्य = धनादेः, अनुसारिणी=अनुकूलकार्यकर्त्री, यथा धनादिकं भवति तथैव निर्वाहसमर्थेति भावः, भवान्=मैत्रेयः, सुखदुःखसुहृत्=सुखे दुःखे च, सम्पत्तौ विपत्तौ च सुहृत् = सखा, सत्यम् = सत्यभाषणम्, च, न=नैव, परिभ्रष्टम्=नष्टम्, यत्=पूर्वोक्तत्रयम्, दरिद्रेषु=निर्धनेषु, दुर्लभम्=दुष्प्रापम् । एवञ्च एषु त्रिषु सत्सु मम दारिद्र्यं नैवेति सिद्धम् । पथ्यावक्त्रं वृत्तम् ।। २८ ।।

मैत्रेय ! गच्छ रत्नावलीमादाय वसन्तसेनायाः सकाशम्; वक्तव्या च सा मद्वचनात्—"यत् खल्वस्माभिः सुवर्णभाण्डमात्मीयमिति कृत्वा विश्रम्भात् द्यूते हारितम्, तस्य कृते गृह्यतामियं रत्नावली" इति ।

विदूषकः—मा दाव अक्खाइदस्स अभुत्तस्स अप्पमुल्लस्स चोरेहिं अवहृदस्स कारणादो चदुस्समुद्दसारभूदा रअणावली दीअदि । (मा तावत् अखादितस्य अभुक्तस्य अल्पमूल्यस्य चौरैरपहृतस्य कारणात् चतुःसमुद्रसारभूता रत्नावली दीयते ।)

चारुदत्तः—वयस्य ! मा मैवम् !

यं समालम्ब्य विश्वासं न्यासोऽस्मासु तया कृतः ।
तस्यैतन्महतो मूल्यं प्रत्ययस्यैव दीयते ॥ २९ ॥

विमर्श—हर स्थिति में निर्वाह कर लेनेवाली पत्नी, हर दशा में साथ निभाने वाला मित्र और सत्यवचन की रक्षा – ये तीनों चारुदत्त अपने पास समझ रहा है । अतः वह दरिद्र नहीं है । दरिद्र नहीं है—इसके लिये तीन कारणों का उल्लेख करने से समुच्चय अलंकार है । पथ्यावक्त्र छन्द है ॥ २८ ॥

अर्थ—मैत्रेय ! रत्नावली लेकर वसन्तसेना के पास जाओ । और मेरी ओर से कहना –"सुवर्णभाण्ड को अपना समझ कर विश्वास से जुये में हार गया, उसके बदले में यह रत्नावली ले लो ।"

विदूषक—(जो बेंचकर) न खाया गया, न भोगा गया, अल्प मूल्यवाला, चोरों द्वारा चुराया गया जो सुवर्णभाण्ड था उसके बदले में चारों समुद्रों की सारभूत रत्नावली दी जा रही है ।

टीका—सकाशम् = समीपम्, विश्रम्भात् = विश्वासात्, हारितम्=पराजितम्, अखादितम्=विक्रीय धनं प्राप्य न भक्षितम्, अभुक्तस्य = धारणादिना अनुपयुक्तस्य, चतुःसमुद्रसारभूता=चतुर्णां सागराणाम्, तत्त्वभूता अतिमूल्यवतीति भावः ।

अन्वयः—तया, यम्, विश्वासम्, समालम्ब्य, अस्मासु, न्यासः, कृतः, तस्य, महतः, प्रत्ययस्य, एव एतत्, मूल्यम्, प्रदीयते ॥ २९ ॥

शब्दार्थ—तया=उस वसन्तसेना ने, यम् = जिस, विश्वासम्=विश्वास को, समालम्ब्य = मानकर, अस्मासु = हम लोगों के पास, न्यासः=धरोहर, कृतः=रखी, तस्य=उस, महतः = महान्, प्रत्ययस्य = विश्वास का, एव = ही, मूल्यम्=कीमत, प्रदीयते=दी जा रही है ॥ २९ ॥

अर्थ—चारुदत्त—मित्र ! ऐसा मत कहो—

उस वसन्तसेना ने जिस विश्वास को मानकर हम लोगों के पास धरोहर रखी थी, उस महान् विश्वास का ही यह मूल्य चुकाया जा रहा है ॥ २९ ॥

तद्वयस्य ! अस्मच्छरीरपृष्टिकया शापितोऽसि, नैनामग्राहयित्वा अत्रागन्तव्यम् । वर्द्धमानक !

एताभिरिष्टकाभिः सन्धिः क्रियतां सुसंहतः शीघ्रम् ।
परिवाद-बहलदोषान्न यस्य रक्षां परिहरामि ? ॥ ३० ॥

टीका—स्वल्पमूल्यकसुवर्णभाण्डस्य कृते महामूल्यवती–रत्नावलीदानं नोचितमिति विदूषकोक्तिं खण्डयन्नाह–यमिति । तया = वसन्तसेनया, यम् = अनुभूतम्, विश्वासम्=प्रत्ययम्, समालम्ब्य = आश्रित्य, अस्मासु = मादृशदरिद्रजनेषु इत्यर्थः, न्यासः=निक्षेपः, कृतः = स्थापितः, तस्य = तादृशस्य, महतः=उदारस्य, प्रत्ययस्य=विश्वासस्य, एव, मूल्यम् = मूल्यस्वरूपम्, प्रतिदानमिति यावत्, दीयते=प्रत्यर्प्यते । एवञ्च नेयं सुवर्णभाण्डस्य मूलयम्, प्रत्युत विश्वासमूल्यं मत्वा मया प्रदीयते इति भावः । अतिशयोक्तिरलंकारः पथ्यावक्त्रं वृत्तम् ॥ २९ ॥

विमर्श:—अस्मासु–हम लोगों जैसे निर्धन व्यक्ति धरोहर के रखने योग्य नहीं होते हैं फिर भी वसन्तसेना ने हम लोगों पर विश्वास करके धरोहर रखी । अब विश्वासघात करना ठीक नहीं है । यहाँ पथ्यावक्त्र छन्द है ॥ २९ ॥

अर्थ—अतः हे मित्र ! मेरे शरीर का स्पर्श करके तुम्हें शपथ है कि इस रत्नावली को दिये बिना यहाँ वापस मत आना ।

अन्वयः—एताभिः, इष्टकाभिः, सन्धिः, शीघ्रम, सुसंहतः, क्रियताम्, परिवाद-बहलदोषात्, यस्य, रक्षाम्, न, परिहरामि ॥ ३० ॥

शब्दार्थ—एताभिः = इन (निकाली गई), इष्टकाभिः = ईंटों से, सन्धिः= सेन्ध को, शीघ्रम्=जल्दी ही, सुसंहतः = भरी हुई, क्रियताम्=कर डालो, परिवाद-बहलदोषात् = लोकापवाद में बहुत दोष होने के कारण, यस्य = जिस, सेन्ध की, रक्षाम्=मरम्मत की, न=नहीं, परिहरामि=उपेक्षा कर सकता हूँ ॥ ३० ॥

अर्थ—वर्द्धमानक !

इन ईंटों से इस सेंध को शीघ्र ही भर डालो । लोगों में फैले हुये अपयश में बहुत दोष होने के कारण जिस सेन्ध की मरम्मत की उपेक्षा नहीं कर सकता हूँ ॥ ३० ॥

टीका—लोकापवादभीतः शीघ्रं सन्धिपूरणाय प्रयासमाह–एताभिरिति । एताभिः=बहिर्निःसारिताभिः, इष्टकाभिः=पक्वमृत्खण्डैः सन्धिः=छिद्रम्, शीघ्रम्=सत्वरम्, संहतः=परिपूर्णः, क्रियताम्=विधीयताम् । परिवादबहुलदोषात्=लोकापवादे दोषाधिक्यात्, यस्य = सन्धेः, रक्षाम् = रक्षणम्, पुनः यथास्थानस्थापनम्, न=नैव, परिहरामि=उपेक्षे, काव्यलिङ्गमलङ्कारः, आर्या वृत्तम् ॥ ३० ॥

विमर्श—परिवादबहलदोषात्—देखने पर लोगों में यह प्रवाद फैल सकता

वयस्य मैत्रेय ! भवताप्यकृपणशौण्डीर्यमभिधातव्यम् ।

विदूषकः—भो ! दलिद्दो किं अकिवणं मन्तेदि ? (भोः ! दरिद्रः किम् अकृपणं मन्त्रयति ?)

चारुदत्तः—अदरिद्रोऽस्मि सखे ! ('यस्य मम---विभवानुगता भार्या' इत्यादि पुनः पठति ।) **तद्गच्छतु भवान् । अहमपि कृतशौचः सन्ध्यामुपासे ।**

इति निष्क्रान्ताः सर्वे ।

इति सन्धिच्छेदो नाम तृतीयोऽङ्कः ।



है कि चारुदत्त ने स्वयं ही चोरी करने के लिये सेंध लगा ली है । इसी प्रकार के अन्य दोष आरोपित किये जा सकते हैं । अतः सेंध को, जितनी जल्दी हो भर देना चाहिये । पूर्वार्द्ध के प्रति हेतुरूप से उत्तरार्द्ध का कथन होने से काव्यलिङ्ग अलंकार है और आर्या छन्द है ।। ३० ।।

मित्र मैत्रेय ! आप को भी (वसन्तसेना के साथ) अत्यन्त उदारता से बात करनी है ।

विदूषक—अरे ! दरिद्र भी क्या उदारता से कह सकता है ?

चारुदत्त—मित्र मैं दरिद्र नहीं हूँ । (जिस मेरी —धनानुसार निर्वाह करने वाली पत्नी है---इत्यादि को फिर पढ़ाता है ।) तो आप जायँ । मैं भी शौच= स्नानादि से निवृत्त होकर (प्रातःकालिक) सन्ध्योपासना करता हूँ ।

इस प्रकार सभी निकल जाते हैं ।

।। इस प्रकार सन्धिच्छेद (सेंध फोड़ना) नामक तीसरा अङ्क समाप्त हुआ है ।।

।। जय-शङ्करलाल-त्रिपाठि-विरचित भावप्रकाशिका-व्याख्या में मृच्छकटिक का तृतीय अङ्क समाप्त हुआ ।।

—: :०: :—

चतुर्थोऽङ्कः

(ततः प्रविशति चेटी ।)

चेटी—आणत्तह्मि अत्ताए अज्जआये सआसं गन्तु । एसा अज्जआ चित्तफलअ-णिसण्ण-दिट्ठी मदणिआए सह किं पि मन्तअन्ती चिट्ठदि । ता जाव उपसप्पामि । (इति परिक्रामति) । (आज्ञप्तास्मि मात्रा आर्यायाः सकाशं गन्तुम् । एषा आर्य्या चित्रफलकनिषण्णदृष्टिर्मदनिकया सह किमपि मन्त्रयन्ती तिष्ठति । तद्यादुपसर्पामि ।)

(ततः प्रविशति यथानिर्दिष्टा वसन्तसेना मदनिका च ।)

वसन्तसेना—हञ्जे मदणिए ! अवि सुसदिसी इअं चित्ताकिदी अज्ज-चारुदत्तस्स ? (हञ्जे मदनिके ! अपि सुसदृशी इयं चित्राकृतिः आर्यचारुदत्तस्य ?)

मदनिका—सुसदिसी । (सुसदृशी ।)

वसन्तसेना—कधं तुमं जाणासि ? । (कथं त्वं जानासि ?)

मदनिका—जेण अज्जआए सुसिणिद्धा दिट्ठी अणुलग्गा । (येन आर्यायाः सुस्निग्धा दृष्टिरनुलग्ना ।)

वसन्तसेना—हञ्जे ! किं वेस-वास-दाक्खिण्णेण मदणिए ! एव्वं भणासि ? । (हञ्जे ! किं वेशवासदाक्षिण्येन मदनिके ! एवं भणसि ?) ।

(इसके बाद चेटी प्रवेश करती है ।)

अर्थ—चेटी—[वसन्तसेना की] माता ने वसन्तसेना के पास जाने की आज्ञा दी है । वह वसन्तसेना चित्रफलक (तस्वीर) पर आँख गड़ाये हुये मदनिका के साथ (कुछ) बातचीत करती हुई बैठीं है । तो अब उनके पास चलती हूँ । (इस प्रकार कहकर रंगमंच पर घूमती है ।)

(इसके बाद उपर्युक्त रीति से बैठी हुई वसन्तसेना और मदनिका प्रवेश करती है ।)

वसन्तसेना—चेटि मदनिके ! क्या आर्या चारुदत्त की यह चित्राकृति (चित्र में बनी हुई आकृति) मेरी सुन्दर आकृति के योग्य है ?

मदनिका—(हाँ), यह (आपके) अनुरूप ही है ।

वसन्तसेना—तुम कैसे जान रही हो ?

मदनिका—क्योंकि आर्या (आप) की स्नेहमयी दृष्टि इस पर लगी हुई है ।

वसन्तसेना—चेटी मदनिके ! क्या वेश्या के घर पर रहने से (सीखी गई) चतुरता के कारण ऐसा कह रही हो ?

मदनिका—अज्जए ! किं जो ज्जेव जणो वेसे पड़िवसदि, सो ज्जेव अलीअदक्खिणो भोदि ? । (आर्ये ! किं य एव जनो वेशे प्रतिवसति, स एव अलीकदक्षिणो भवति ?)

वसन्तसेना—हञ्जे । णाणा-पुरिससङ्गेण वेस्साजणो अलीअदक्खिणो भोदि । (हञ्जे ! नानापुरुषसङ्गेन वेश्याजनः अलीकदक्षिणो भवति ।)

मदनिका—जदो दाव अज्जआए दिट्ठी इध अभिरमदि हिअअं च; तस्स कारणं किं पुच्छीअदि ? । (यतस्तावद् आर्याया दृष्टिरिह अभिरमते हृदयञ्च, तस्य कारणं किं पृच्छ्यते ?)

वसन्तसेना—हञ्जे ! सहीजणादो उवहसणीअदां रक्खामि । (हञ्जे ! सखीजनादुपहसनीयतां रक्षामि ।)

मदनिका—अज्जए ! एव्वं णेदं । सहीजणचित्ताणुवत्ती अवलाजणो भोदि । (आर्ये ! एवं नेदम् । सखीजनचित्तानुवर्त्ती अबलाजनो भवति ।)

मदनिका—आर्ये ! क्या जो कोई भी व्यक्ति वेश्यागृह में रहता है, वह असत्य बोलने में कुशल हो जाता है ?

वसन्तसेना—चेटी ! विभिन्न प्रकार के लोगों का साथ होने के कारण वेश्यायें असत्यभाषण में चतुर हो जाती हैं ।

टीका—चेटी=वसन्तसेनागृहे स्थिता काचन दासी । मात्रा=वसन्तसेनायाः पालनकर्त्र्या जनन्या माधवसेनया, सकाशम् = समीपम्, चित्रफलके = चित्रपटे, निषण्णा=अनुलग्ना, दृष्टिः नेत्रद्वयं यस्याः सा, चारुदत्तचित्रावलोकनसंलग्ननेत्रा, मदनिकया=तन्नाम्न्या दास्या, मन्त्रयन्ती = गुप्तमालपन्ती, उपसर्पामि = समीपं गच्छामि, यथानिर्दिष्टा=चित्रफलकनिषण्णदृष्टिरिति भावः सुसदृशी=मत्सौन्दर्यानुरूपसौन्दर्यवतीत्यर्थः, चित्राकृतिः = चित्ररूपेण विद्यमाना आकृतिः = आकारः, सुसदृशी=तवाकृतिसम्वादिनी, सुस्निग्धा=अत्यनुरागपूर्णा, अनुलग्ना=संसक्ता, वेशे= वेश्यालये, वासेन=निवासेन, दाक्षिण्येन=पाटवेन, अलीके=असत्यभाषणे, दक्षिणः= कुशलः, नानापुरुषाणाम्=विविधजनानाम्, सङ्गेन=सङ्गत्या ।

अर्थ—**मदनिका**—जब आर्या की आखें और हृदय इस [चित्रफलक] में अनुरक्त हो रहे हैं [अर्थात् आखों और मन दोनों से आपको यह चित्र अच्छा लग रहा है ।] तो इस (अत्यनुराग) का कारण क्यों पूछ रहीं हैं ?

वसन्तसेना—सखि ! सखी लोगों की हँसी की रक्षा करना चाहती हूँ । (उनकी हँसी=मजाक का पात्र बनने से बचना चाहती हूँ ।)

मदनिका—आर्ये ! ऐसी बात नहीं है । स्त्रियाँ अपनी सखियों की भावना के अनुकूल व्यवहार करने वाली होती हैं ।

प्रथमा चेटी—(उपसृत्य) **अज्जए ! अत्ता आणवेदि—'गहिदावगुण्ठणं पक्खदुआरए सज्जं पवहणं । ता गेच्छ' त्ति ।** (आर्ये ! माता आज्ञापयति-'गृहीतावगुण्ठनं पक्षद्वारे सज्जं प्रवहणं तद्गच्छ' इति ।)

वसन्तसेना—**हञ्जे ! किं अज्जचारुदत्तो मं णइस्सदि ?** । (हञ्जे ! किम् आर्य-चारुदत्तो मां नेष्यति ?)

चेटी—**अज्जए ! जेण पवहणेण सह सुवण्ण-दससाहस्सिओ अलङ्कारओ अणुप्पेसिदो ।** (आर्ये ! येन प्रवहणेन सह सुवर्ण-दशसाहस्रिकोऽलङ्कारः अनुप्रेषितः ।)

वसन्तसेना—**को उण सो ?** (कः पुनः सः ?)

चेटी—**एसो ज्जेव राअस्सालो संठाणओ ।** (एष एव राजश्यालः संस्थानकः) ।

वसन्तसेना—(सक्रोधम्) **अवेहि । मा पुणो एव्वं भणिस्ससि ।** (अपेहि । मा पुनरेवं भणिष्यसि ।

चेटी—**पसीददु पसीसदु अज्जआ । सन्देसेण म्हि पेसिदो ।** (प्रसीदतु प्रसीदतु आर्या । सन्देशेनास्मि प्रेषिता) ।

वसन्तसेना—**अहं सन्देसस्य ज्जेव कुप्पामि ।** (अहं सन्देशस्यैव कुप्यामि)

चेटी—**ता किंत्ति अत्तं विण्णविस्सं ।** (तत् किमिति मातरं विज्ञापयिष्यामि ?)

पहली चेटी—(समीप जाकर) आर्ये ! माता जी यह आज्ञा दे रही हैं—बगलवाले दरवाजे पर ढंकी हुई गाड़ी (रथ) सजी हुई खड़ी है, अतः आप (उससे) जायें ।

वसन्तसेना—सखि ! क्या आर्य चारुदत्त मुझे ले जायेंगे ?

चेटी—आर्ये ! जिसने गाड़ी के साथ साथ दस हजार सोने के अलंकार [मोहरें या अशर्फी आदि] भेजे हैं ।

वसन्तसेना—वह कौन है ?

चेटी—वही राजा का शाला संस्थानक ।

वसन्तसेना—(क्रोध के साथ) दूर हट जाओ । फिर कभी ऐसा मत कहना ।

चेटी—आर्या, प्रसन्न हो जाँय, प्रसन्न हो जाँय । मैं तो [माता के] सन्देश से यहाँ भेजी गयी हूँ ।

वसन्तसेना—मैं भी सन्देश पर ही नाराज हो रही हूँ ।

चेटी—तो माता जी से क्या कहूँगी ?

वसन्तसेना——एव्वं विण्णाविदव्वा——'जइ मं जीअन्तीं इच्छसि ता एव्वं ण पुणो अहं अत्ताए आण्णाविदव्वा।' (एवं विज्ञापयितव्या——यदि मां जीवन्तीमिच्छसि, तदा एवं न पुनरहं मात्रा आज्ञापयितव्या।)

चेटी——जधा दे रोअदि। (यथा ते रोचते।) (इति निष्क्रान्ता।)

(प्रविश्य)

शर्विलक;——

दत्त्वा निशाया वचनीयदोषं निद्राञ्च जित्वा नृपतेश्च रक्ष्यान्।
स एष सूर्योदयमन्दरश्मिः क्षपाक्षयाच्चन्द्र इवास्मि जातः॥ १॥

वसन्तसेना——इस प्रकार से कहना–'यदि मुझे जीवित [रहने देना] चाहती हैं तब फिर कभी भी माता जी के द्वारा इस प्रकार की आज्ञा नहीं मिलनी चाहिये।'

चेटी——जैसी आपकी इच्छा। (यह कर निकल जाती है।)

टीका——यतः=यस्मात् कारणात्, आर्यायाः=पूज्यायाः वसन्तसेनायाः, इह=अस्मिन् चित्रफलके, अभिरमते = अनुरक्त भवति, तस्य = अनुरागातिशयस्य, किं पृच्छ्यते=कथं प्रश्नः क्रियते, एवं मनोहरे दयितेऽभिसारे विलम्बस्तेऽनुचित इति भावः, उपहसनीयताम्=उपहासयोग्यत्वम्, निर्धने असमाने वाऽभिरमणं मौर्ख्यमित्यादिसखीजनकृतोपहासादात्मानं रक्षामीति भावः, अबलाजनः = नारीलोकः, सखीजनचित्तानुवर्त्ती=सखीभावनानुसारी, गृहीतम्=धृतम्, अवगुण्ठनम्=आच्छादनम्, यस्मिन् येन वा, प्रवहणम्=शकटम्, पक्षद्वारे=पार्श्ववर्त्तिद्वारसम्मुखे, सज्जम्=प्रस्तुतम्, सुवर्णदशसाहस्रिकः=सुवर्णानाम्, तदानीं प्रसिद्ध–स्वर्णमुद्राणाम्, दशभिः सहस्रैः क्रीतः, तेन क्रीतम्' [पा. सू. ५।१।३७] इति ठक्।

अन्वयः——निशायाः, वचनीयदोषम्, दत्त्वा, निद्राम्, च, नृपतेः, रक्ष्यान्, च, जित्वा, सः, एषः, (अहम्), क्षपाक्षयात् सूर्योदयमन्दरश्मिः, चन्द्रः, इव, जातः, अस्मि॥ १॥

शब्दार्थ——निशायाः=रात को, वचनीयदोषम्=निन्दा के दोष को, दत्त्वा=देकर, च=और, निद्राम्=अपनी नींद को, च=तथा, नृपतेः=राजा के, रक्ष्यान्=रक्षापुरुषों, सिपाहियों को जीत कर, अर्थात् उनसे बच कर, सः=वह, एषः=यह, (अहम्=मैं), क्षपाक्षयात्=रात बीत जाने के कारण, सूर्योदयमन्दरश्मिः=सूर्य के उदित हो जाने के कारण फीकी किरणों वाले, चन्द्रः=चन्द्रमा के, इव=समान, जातः अस्मि=हो गया हूँ॥ १॥

(प्रवेश करके)

अर्थ——शर्विलक——रात को निन्दा का दोष देकर अर्थात् चोरी आदि निन्दित कार्य रात में होते हैं, ऐसा अपवाद देकर, (अपनी) नींद को तथा राजा के

अपि च—

यः कश्चित्त्वरितगतिर्निरीक्षते मां सम्भ्रान्तं द्रुतमुपसर्पति स्थितं वा।
तं सर्वं तुलयति दूषितोऽन्तरात्मा स्वैर्दोषैर्भवति हि शङ्कितो मनुष्यः ॥२॥

सिपाहियों को जीत कर अर्थात् उनसे बचकर यह मैं, सूर्योदय होने के कारण फीकी किरणोंवाले चन्द्र के समान (निष्प्रभ) हो गया हूँ ॥ १ ॥

टीका—चारुदत्तस्य भवनात् सुवर्णभाण्डं चोरयित्वा निशाया अवसाने शङ्कितः सन् स्वदुर्बलतां वर्णयति—दत्त्वेति। निशायाः=रजन्याः, सम्बन्धविवक्षया षष्ठी, वचनीयदोषम्=अनर्थकरीति अपवादरूपं दूषणम् दत्त्वा=आरोप्य, निद्राम्=आत्मनः स्वापम्, च, नृपतेः = राज्ञः, च, रक्ष्यान् = रक्षापुरुषान्, पाल्यान् जनान् जित्वा= पराजित्य, तेषां दृष्टिपथमनागत्य, सः एषः=पूर्वोक्तवैशिष्ट्ययुतः, अहम्=शर्विलकः, क्षपायाः = निशायाः क्षयात् = अवसानात्, सूर्योदयेन = दिनकरप्रकाशेन, मन्दाः= निष्प्रभाः, रश्मयः=किरणाः यस्य सः तादृशः चन्द्रः इव=निशाकर इव, जातः= संवृत्तः, अस्मि। अत्रोपमालंकारः, उपेन्द्रवज्रा वृत्तम् ॥ १ ॥

विमर्श—रक्ष्यान् -रक्ष धातु सकर्मक है अतः कर्म में ही यत् प्रत्यय होगा कर्ता में नहीं। अतः रक्ष्यान्=रक्षणीयान् यह अर्थ होता है। यहाँ तात्पर्य रक्षक पुरुषों से है। अतः इसे राजा से रक्ष्य और नगर के रक्षक—इस अर्थ में मान लेना चाहिये। जगद्धर ने इसके स्थान पर रक्षान्' यह पाठ माना है। वचनीयदोषम्= रात ही सभी अपराधों को कराती है, इस प्रकार की निन्दा को। यहाँ शर्विलक और चन्द्र की उपमा है। इन्द्रवज्रा उपेन्द्रवज्रा की उपजाति छन्द है ॥ १ ॥

अन्वयः—यः, कश्चित्, त्वरितगतिः, [सन्], सम्भ्रान्तम्, माम्, निरीक्षते; वा, स्थितम्, [माम्], द्रुतम्, उपसर्पतिः; दूषितः, अन्तरात्माः, तम्, सर्वम्, तुलयति; हि, मनुष्यः, स्वैः, दोषैः, शङ्कितः भवति ॥ २ ॥

शब्दार्थ—यः=जो, कश्चित् = कोई भी (व्यक्ति), त्वरितगतिः = तेजी से चलनेवाला, [सन्=होता हुआ], सम्भ्रान्तम्=चोरी करने के कारण घबराये हुये, माम्=मुझ शर्विलक को, निरीक्षते=देखता है; वा=अथवा, स्थितम्=छिपकर खड़े हुये, [माम् = मेरे समीप], द्रुतम् = जल्दी से, उपसर्पति=आ जाता है; दूषितः = अपराधी; अन्तरात्मा=मेरा मन, अन्तःकरण, तम्=उन, सर्वम्=सभी को, तुलयति= सन्देह की दृष्टि से तौलता है, मानता है, हि = क्योंकि, मनुष्यः=पुरुष, स्वैः= अपने, दोषैः = दोषों=अपराधों से, [ही], शङ्कितः = शङ्काग्रस्त, भवति = होता है ॥ २ ॥

अर्थ—और भी—

जो कोई भी जल्दी-जल्दी चलता हुआ घबड़ाये हुये मुझे [शर्विलक को]

मया खलु मदनिकायाः कृते साहसमनुष्ठितम् ।

परिजनकथासक्तः कश्चिन्नरः समुपेक्षितः

क्वचिदपि गृहं नारीनाथं निरीक्ष्य विवर्जितम् ।

नरपतिबले पार्श्वायाते स्थितं गृहदारुवद्

व्यवसितशतैरेवंप्रायैर्निशा दिवसीकृता ॥ ३॥

देखता है; अथवा [छिपकर] खड़े हुये मेरे समीप जल्दी से आता है;, दोषी मेरा मन उन सबको शङ्काग्रस्त होकर सोंचता है; क्योंकि मनुष्य अपने ही दोषों [अपराधों] के कारण शङ्कालु हो जाता है ॥ २ ॥

टीका—स्वापराधेनात्मीयां शंकाग्रस्ततां वर्णयति - य इति । यः कश्चित्= यः कोऽपि जनः, त्वरितगतिः=शीघ्रगतिकः, सन्, सम्भ्रान्तम् = अपराधकृत्यकरणात् भयभीतम्, माम्=शर्विलकम्, निरीक्षते=विलोकयति; वा=अथवा, स्थितम्=एकान्ते अवस्थितम्, माम् = शर्विलकम्, उपसर्पति = शर्विलक-समीपमागच्छति; दूषितः= सापराधः, अन्तरात्मा = अन्तःकरणम्, तम् = मन्निरीक्षकादिरूपम्, सर्वम्=समस्तं जनम्, तुलयति = परीक्षते, शंकादृष्टया चिन्तयति; हि=यतोहि, मनुष्यः=जनः, स्वैः = आत्मीयैः, दोषैः = दूषणैः अपराधैः वा, शङ्कितः=शङ्कास्थानम्, अन्यस्येति शेषः, भवति=जायते । चतुर्थपादार्थेन सामान्येन समर्थनात् अर्थान्तरन्यासः अलङ्कारः, प्रहर्षिणी वृत्तम् ॥ २ ॥

विमर्श—यहाँ समीप में आनेवाले पुरुषों आदि के द्वारा देखे जाने के कारण उत्पन्न हुई शर्विलक की दशाविशेष का समर्थन चतुर्थ पाद के द्वारा किया गया है । अतः अर्थान्तरन्यास अलंकार है । त्वरिता गतिः=गमनं यस्य सः । सम्भ्रान्तम्- सम् + √भ्रम् + क्त । तुलयति - तौलता है, समझता है, सन्देह करता है । शङ्कितः =शंका करने का विषय, अर्थात् उसका अपना ही आचरण ऐसा होने लगता है जिससे अन्य लोग शंका करने लग जाते हैं । इसमें प्रहर्षिणी छन्द है ॥ २ ॥

अर्थ—मैंने वास्तव में मदनिका [प्राप्त करने] के लिये ही इतना दुःसाहस किया है ।

अन्वयः—[अत्रापि 'मया' इति योज्यम्] परिजनकथासक्तः, कश्चित्, नरः, समुपेक्षितः; क्वचित्, अपि, नारीनाथम्, गृहम्, निरीक्ष्य, विवर्जितम्, नरपतिबले, पार्श्वायाते, गृहदारुवत्, स्थितम्; एवम्प्रायैः, व्यवसितशतैः, निशा, दिवसीकृता ।३।

शब्दार्थ—[मया=मैंने], परिजनकथासक्तः=बन्धुवर्गों से बातचीत में लगे हुये, कश्चित्=किसी, नरः=मनुष्य की, उपेक्षितः=उपेक्षा कर दी, उसे छोड़ दिया, क्वचिद् अपि = कहीं पर, गृहम् = घर को, नारीनाथम् = स्त्री रूपी स्वामीवाला अर्थात् केवल स्त्री ही रक्षक है उसे, निरीक्ष्य=देखकर, विवर्जितम्=छोड़ दिया;

(इति परिक्रामति)

वसन्तसेना—हञ्जे ! इमं दाव चित्तफलअं मम सअणीए ठाविअ तालवेण्टअं गेण्हिअ लहु आअच्छ । (हञ्जे ! इदं तावत् चित्रफलकं मम शयनीये स्थापयित्वा तालबृत्तकं गृहीत्वा लघु आगच्छ ।)

उसमें नहीं घुसा; नरपतिबले = राजा के सिपाहियों के, पार्श्वयाते=समीप में आ जाने पर, गृहदारुवत् = मकान में लगे लकड़ी के खम्भों के समान अर्थात् निश्चल, स्थितम्=खड़ा हो गया, एवम्प्रायैः=इसी प्रकार के, व्यवसितशतैः=सैकड़ों, प्रयासों=कार्यों के द्वारा, निशा=रात को, दिवसीकृता=दिन बना दिया ।। ३ ।।

अर्थ—(मैंने) अपने परिवारवालों से बातचीत करते हुये किसी व्यक्ति की उपेक्षा कर दी (वहाँ चोरी नहीं की) । कहीं पर केवल स्त्री को मालिक देखकर उस घर को भी छोड़ दिया । (वहाँ भी चोरी नहीं की ।) राजा के सिपाहियों के पास में आ जाने पर मकान में लगे हुये लकड़ी के खम्भे के समान निश्चल खड़ा हो गया । इस प्रकार के सैकड़ों कार्यों से रात को दिन बना दिया ।। ३ ।।

(ऐसा कहकर घूमता है ।)

टीका—मया—इति गद्यस्थेनात्रापि अन्वयः, परिजनकथासक्तः = परिवारिकजनैः, भृत्यादिजनैः वा सह वार्त्तालापे संलग्नः, कश्चित् नरः=कोपि पुरुषः, समुपेक्षितः=उपेक्षाविषयीकृतः, तत्र चौर्यं न कृतमिति भावः; क्वचिदपि=कुत्रचित् च, गृहम्=भवनम्, नारीनाथम् = स्त्रीमात्ररक्षितम्, निरीक्ष्य=अवलोक्य, विवर्जितम्=परित्यक्तम्, तत्रापि चौर्यं न कृतमिति भावः, नरपतिबले=राजपुरुषसमुदाये, पार्श्वायाते = समीपागते सति, गृहदारुवत् = भवने आधारतया निर्मितकाष्ठस्तम्भ इव, स्थितम्=अवस्थितम्; एवम्प्रायैः=एवम्भूतैः, व्यवसितशतैः=व्यापाराणाम्, प्रयासानां वा शतैः=अगणितैः, निशा=रात्रिः, दिवसीकृता=अदिवसः अपि दिवसवत् कृता । अत्र काव्यलिङ्गम्, अलंकारः हरिणीबृत्तम् ।। ३ ।।

विमर्श—नारीनाथम् – नारी मात्र है नाथ=सहायक या रक्षक जिसकी । गृहदारुवत्—गृह = गृह में लगाये गये, दारु = स्तम्भादि के समान । व्यवसितशतैः—व्यवसितानां शतानि, यहाँ शत के बाद बहुवचन विवक्षित है । दिवसीकृता—अदिवसः दिवसः कृतः—अभूत-तद्भाव अर्थ में च्वि-प्रत्ययान्तरूप है । निशा को दिन बनाना रूपी कार्य के लिये सैकड़ों उपायों का कारणरूप से उल्लेख होने से काव्यलिङ्ग अलंकार है और हरिणी छन्द है—न स म र स ला गः षड्वेदैर्हयैर्हरिणी मता ।। ३ ।।

अर्थ—वसन्तसेना—चेटि ! इस चित्रफलक (तस्वीर) को मेरे शयनकक्ष में रखकर पंखा लेकर जल्दी से आ जाओ ।

मदनिका—जं अज्जआ आणवेदि। (यदार्य्या आज्ञापयति ।) (इति फलकं गृहीत्वा निष्क्रान्ता ।)

शर्विलकः—इदं वसन्तसेनाया गृहम् । तद्यावत् प्रविशामि । (प्रविश्य) क्व नु मया मदनिका द्रष्टव्या ?

(ततः प्रविशति तालवृन्तहस्ता मदनिका ।)

शर्विलकः—(दृष्ट्वा) अये इयं मदनिका—

मदनमपि गुणैर्विशेषयन्ती
रतिरिव मूर्त्तिमती विभाति येयम् ।
मम हृदयमनङ्गवह्नितप्तं
भृशमिव चन्दनशीतलं करोति ।। ४ ।।

मदनिके !

मदनिका—आर्या की जैसी आज्ञा । (चित्रफलक लेकर चली जाती है ।)

शर्विलक—यह वसन्तसेना का घर है । तो इसमें प्रवेश करता हूँ । (प्रवेश करके) मुझे कहाँ मदनिका को देखना (ढूढ़ना) चाहिये ।

(इसके बाद ताड़ का पंखा लिये हुये मदनिका प्रवेश करती है ।)

अन्वय—या, गुणैः, मदनम्, अपि, विशेषयन्ती, मूर्तिमती, रतिः, इव, विभाति, (सा) इयम् , अनङ्गवह्नितप्तम्, मम, हृदयम्, भृशम्, चन्दनशीतलम्, इव, करोति ।। ४ ।।

शब्दार्थ—या=जो, गुणैः = सौन्दर्यादि विशेषताओं से, मदनम्=कामदेव को, अपि=भी, विशेषयन्ती=जीतती हुई, मूर्तिमती=शरीर-धारिणी, रतिः=कामदेव की पत्नी के, इव=समान, विभाति=शोभित हो रही है, अच्छी लग रही है; (सा= वही), इयम्=यह, अनङ्गवह्नितप्तम्=कामरूपी अग्नि से सन्तप्त, मम=मेरे, हृदयम् =चित्त को, भृशम्=बहुत अधिक, चन्दनशीतलम्=चन्दन के समान शीतल=ठण्डा, इव=सा, करोति=कर रही है ।। ४ ।।

अर्थ—**शर्विलक**—(देखकर) अरे यह मदनिका !

जो (अपने सौन्दर्यादि) गुणों के द्वारा कामदेव को भी जीतती हुई, शरीर-धारिणी, रति के समान शोभित हो रही है; वही यह कामाग्नि से सन्तप्त मेरे हृदय को चन्दन के समान अत्यधिक शीतल कर रही है ।। ४ ।।

मदनिके !

टीका—स्वाभिलषितां दयितां मदनिकां विलोक्य तस्याः सौन्दर्यवर्णनपूर्वकं स्वहृदयभावं प्रकटयति –मदनमपीति । या = पुरोवर्त्तिनी, मदनिकेत्यर्थः, गुणैः = सौन्दर्यादिवैशिष्ट्यैः, मदनम् अपि=कामदेवम् अपि, अन्येषां तु का कथा, विशेष-

मदनिका—(दृष्ट्वा) **अम्मो ! कथं सव्विलओ ? सव्विलअ ! साअदं ते। कहिं तुमं ?।** (अहो कथं शर्विलकः ! शर्विलक ? स्वागतं ते । कस्मिन् त्वम् ?)

शर्विलकः—कथयिष्यामि ।

(इति सानुरागमन्योन्यं पश्यतः ।)

वसन्तसेना—चिरअदि मदणिआ, ता कहिं णु क्खु सा ? (गवाक्षकेण दृष्ट्वा) **कधं एसा केणावि पुरिसकेण सह मन्तअन्ती चिट्ठदि । जधा अदिसिणिद्धाए णिच्चलदिट्ठिए आपिवन्ती विअ एदं णिज्झाअदि, तधा तक्केमि, एसो सो जणो एदं इच्छदि अभुजिस्सं कादुं । ता रमदु रमदु । मा कस्सावि पीदिच्छेदो भोदु । ण क्खु सद्दाविस्सं ।** (चिरयति मदनिका । तत् कस्मिन् नु खलु सा ? कथमेषा केनापि पुरुषकेण सह मन्त्रयन्ती तिष्ठति । यथा अतिस्निग्धया निश्चलदृष्ट्या आपिबन्तीव एतं निध्यायति तथा तर्कयामि—एष स जन एनामिच्छति अभुजिष्यां कर्तुम् । तत् रमतां रमताम् । मा कस्यापि प्रीतिच्छेदो भवतु । न खलु शब्दापयिष्यामि ।)

यन्ती=जयन्ती, आकर्षयन्ती वा, मूर्तिमती = शरीरधारिणी, रतिः = कामदेवभार्या, इव=यथा, विभाति=सुशोभते, (सा=पूर्वोक्तविशेषणविशिष्टा), इयम्=दृश्यमाना, अनङ्गवह्नितप्तम्=कामानलसन्तप्तम्, मम=शर्विलकस्य, हृदयम्=चित्तम्, भृशम्=अत्यधिकम्, चन्दनशीतलम् = चन्दनानुलेपवत् शीतस्पर्शम्, इव=यथा, करोति=विदधाति। ॥ ४ ॥

विमर्श—मदनमपि—जिसने कामदेव को भी जीत लिया उसके लिये मुझ जैसे को आकृष्ट करना आश्चर्य की बात नहीं है । विशेषयन्ती=जीतती हुयी, अथवा मोहित करती हुयी । चन्दनशीतलम्=चन्दनम् इव शीतलम् । यहाँ पूर्वार्द्ध में मदनिका की मूर्तिमती रति के रूप में सम्भावना के कारण द्रव्योप्रेक्षा तथा विना चन्दन के शीतल होने वाले हृदय में चन्दनशीलता की सम्भावना के कारण गुणोत्प्रेक्षा है । पुष्पिताग्रा छन्द है ॥ ४ ॥

अर्थ—मदनिका—(देखकर) अहो क्या शर्विलक ? शर्विलक ! तुम्हारा स्वागत है । तुम कहाँ ?

शर्विलक—बताऊँगा ।

(इस प्रकार दोनों प्रेम से एक दूसरे को देखते हैं ।)

वसन्तसेना—मदनिका देर लगा रही है । तो कहाँ चली गई होगी ? (झरोखे से देखकर) क्या, यह तो किसी प्रिय पुरुष से बातचीत करती हुई बैठी है । अत्यन्त प्रेम से युक्त, निश्चल दृष्टि से इस पुरुष का पान-सा करती हुई, जिस प्रकार से देख रही है उससे मैं यह अनुमान कर रही हूँ कि यह वही पुरुष है जो

मदनिका—सव्विलअ ! कधेहि । (शर्विलक ! कथय ।)

(शर्विलकः—सशङ्कं दिशोऽवलोकयति ।)

मदनिका—सव्विलअ ! किं ण्णेदं ? ससङ्को विअ लक्खीअसि । (शर्विलक ! किं न्विदम् ? सशङ्क इव लक्ष्यसे ।)

शर्विलकः—वक्ष्ये त्वां किञ्चित् रहस्यम्, तद्विविक्तमिदम् ?

मदनिका—अध इं ? (अथ किम् ?)

वसन्तसेना—कधं परमरहस्सं । ता ण सुणिस्सं । (कथं परमरहस्यम् ? तत् न श्रोष्यामि ।)

शर्विलकः—मदनिके ! किं वसन्तसेना मोक्ष्यति त्वां निष्क्रयेण ?

वसन्तसेना—कधं मम सम्बन्धिणो कधा । ता सुणिस्सं इमिणा गवक्खण ओवारिदसरीरा । (कथं मम सम्बन्धिनी कथा । तत् श्रोष्यामि अनेन गवाक्षेण अपवारितशरीरा ।)

मदनिका—सव्विलअ ! भणिदा मए अज्जआ । तदो भणादि, जइ मम सच्छन्दो, तदा विणा अत्थं सव्वं परिजणं अभुजिस्सं करइस्सं । अध सव्विलअ ! कुदो दे एत्तिओ विहवो, जेण मं अज्जआसआसादो मोआइस्ससि । (शर्विलक ! भणिता मया आर्य्या; ततो भणति—यदि मम स्वच्छन्दः

इसे [मदनिका को] दासी के कार्य से मुक्त कराना चाहता है । तो रमण करे, रमण करे [आनन्द उठाये], किसी का भी प्रीतिच्छेद [प्रेमव्यापारभंग] न हो । [अतः इसे] नहीं बुलाऊँगी ।

मदनिका—शर्विलक ! बताओ ।

(शर्विलक शंकाभरी दृष्टि से चारों ओर देखता है ।)

मदनिका—शर्विलक ! यह क्या है ? तुम शंकाग्रस्त से दिखाई दे रहो ।

शर्विलक—तुम्हें कुछ रहस्य=गुप्त बातें बताऊँगा । तो क्या यह एकान्त स्थान है ?

मदनिका—और क्या ?

वसन्तसेना—क्या बहुत गोपनीय बात है । तो नहीं सुनूंगी ।

शर्विलक—मदनिके ! क्या वसन्तसेना धन के बदले तुम्हें मुक्त कर देगी ?

वसन्तसेना—क्या मेरे विषय में बात है ? तो शरीर छिपाकर इस झरोखे से बात सुनूंगी ।

मदनिका—शर्विलक ! मैंने आर्या (वसन्तसेना) से कहा था, तो उन्होने उत्तर दिया था—'यदि मेरी स्वतन्त्रता (शक्ति) होती तब तो बिना धन लिये ही

तदा बिना अर्थं सर्वं परिजनमभुजिष्यं करिष्यामि । अथ शर्विलक ! कुतस्ते एतावान् विभवः येन मामार्य्यासकाशात् मोचयिष्यसि ?)

शर्विलकः—दरिद्रयेणाभिभूतेन त्वत्स्नेहानुगतेन च ।
अद्य रात्रौ मया भीरु ! त्वदर्थे साहसं कृतम् ॥ ५ ॥

सभी दासियों को मुक्त कर देती ।' फिर शर्विलक ! तुम्हारे पास इतना धन कहाँ जिससे तुम मुझे आर्या के पास से मुक्त करा सकोगे ?

टीका—कस्मिन्=कारणे वा, स्वागतम्=सुष्ठु आगतम्, चिरयति=विलम्बं करोति, चिरं करोति—इत्यर्थे णिच्, अन्योन्यम् = परस्परम्, पुरुषकेण=प्रियपुरुषेण, प्रियार्थे कः, मन्त्रयन्ती=गुप्तमालपन्ती, अतिस्निग्धया=अतिप्रेमपूरितया, निश्चलदृष्टया = निर्निमेषलोचनेन, आपिबन्ती = पानं कुर्वन्ती, निध्यायति=विलोकयति, अभुजिष्याम्=अकिङ्करीं स्वाधीनामित्यर्थः, स्वेतरेण केनापि भोगयोग्यां न कर्तुमिति भावः । प्रीतिच्छेदः=प्रेमप्रवाहभङ्गः, आकारयिष्यामि=आह्वयिष्यामि । रहस्यम्=रहसि=एकान्ते भवम्, गोपनीयम्, विविक्तम्=निर्जनम्, निष्क्रयेण=द्रव्यविनिमयेन, अपवारितशरीरा=अपवारितम्=गोपितम् शरीरं यस्या सा, छन्दः=इच्छा, सामर्थ्यमिति भावः ॥

अन्वय—हे भीरु, दारिद्र्येण, अभिभूतेन, त्वत्स्नेहानुगतेन, च, मया, त्वदर्थे, अद्य, रात्रौ, साहसम्, कृतम् ॥ ५ ॥

शब्दार्थ—हे भीरु !=हे डरनेवाली स्त्री, दारिद्रयेण = निर्धनता से, अभिभूतेन=पीड़ित, परेशान, च=और, त्वत्स्नेहानुगतेन=तुम्हारे प्रेम में आसक्त, मया=मुझ शर्विलक ने, त्वदर्थे=तुम्हारे [मदनिका के] लिये, अद्य=आज, रात्रौ=रात में, साहसम्=दुःसाहसिक कार्य अर्थात् चोरी, कृतम्=कर डाली ॥ ५ ॥

अर्थ—शर्विलक—

हे भीरु (डरपोक) स्त्री ! निर्धनता से पीड़ित और तुम्हारे प्रेमजाल में फंसे हुये मैंने तुम्हारे लिये आज रात में साहसिक कार्य अर्थात् चोर कर डाली ॥५॥

टीका—निर्धनस्य तव समीपे मम निष्क्रयार्थं सहसा धनागमः कुत इति शङ्कायां समाधिमाह—दारिद्रयेणेति । हे भीरु !=हे भयशीले मदनिके, दारिद्रयेण=निर्धनत्वेन, अभिभूतेन = आक्रान्तेन पीडितेन वा, त्वत्स्नेहानुगतेन = त्वदीयप्रणयसमासक्तेन, च, मया=शर्विलकेन, त्वदर्थे=मदनिकानिमित्तम्, अद्य रात्रौ=निशायाम्, साहसम् = सहसा=बलेन कृतम् यद्वा सहसा=अविविच्य कृतम् साहसं चौर्यरूपमिति यावत्, कृतम्=अनुष्ठितम् । पथ्यावक्त्रं वृत्तम् ॥ ५ ॥

विमर्श—अचानक धनी होने के विषय में स्पष्टीकरण देने के लिये शर्विलक का प्रस्तुत कथन है । साहसम्—'सहसा क्रियते यत्तु तत् साहसमिहोच्यते' इस

वसन्तसेना——पसण्णा से आकिदी, साहसकम्मदाए उण उव्वेअणीआ। (प्रसन्ना अस्य आकृतिः; साहसकर्म्मतया पुनरुद्वेजनीया।)

मदनिका——सव्विलअ ! इत्थीकल्लवत्तस्स कारणेण उहअं पि संसए विणिक्खित्तं। (शर्विलक ! स्त्रीकल्यवर्त्तस्य कारणेन उभयमपि संशये विनिक्षिप्तम् !)

शर्विलकः——किं किम् ?।

मदनिका——सरीरं चारित्तं च। (शरीरं चारित्रञ्च)

शर्विलकः——अपण्डिते ! साहसे श्रीः प्रतिवसति।

मदनिका——सव्विलअ ! अखण्डिदचारित्तोसि। ता ण क्खु ते मम कारणादो साहसं करन्तेण अच्चन्तविरुद्धं आचरिदं ? (शर्विलक ! अखण्डितचारित्रोऽसि, तत् न खलु त्वया मम कारणात् साहसं कुर्वता अत्यन्तविरुद्धमाचरितम् ?)

शर्विलकः——

नो मुष्णाम्यबलां विभूषणवतीं फुल्लामिवाहं लतां

वचन के अनुसार बलपूर्वक अथवा अविचारपूर्वक जो किया जाय वह 'साहस' कहा जाता है ॥ ५ ॥

अर्थ——**वसन्तसेना**——इसकी आकृति प्रसन्न है किन्तु दुःसाहसिक कर्म के कारण उद्वेग पैदा करनेवाली है।

मदनिका——शर्विलक ! कलेवातुल्य स्त्री के कारण तुमने दोनों को ही सन्देह में डाल दिया।

शर्विलक——किस-किस को ?

मदनिका——शरीर को और चरित्र को।

शर्विलक——अरे मूर्ख ! साहस में ही लक्ष्मी निवास करती है।

मदनिका——तुम अखण्डित [निर्दोष] चरित्रवाले हो। इसलिये मेरे कारण साहस करते हुये तुमने अत्यन्त विरुद्ध आचरण नहीं किया है ? [अर्थात् अवश्य किया है।]

टीका——प्रसन्ना=प्रसादयुक्ता, शोभना वा, साहसकर्मतया=साहसम्=चौर्यादिकं कर्म यस्य सः, तस्य भावस्तया, उद्वेजयतीति कर्तरि अनीयर्, स्त्रीकल्यवर्तः=स्त्रीरूपी कल्यवर्तः, तस्य, अपण्डिते = अविदुषि, अज्ञे, श्रीः = लक्ष्मीः, अखण्डितम्, चारित्रम्=वृत्तम्, यस्य सः, अत्यन्तविरुद्धम्=लोकशास्त्रमर्यादाप्रतिकूलम्, आचरितम् =कृतम्। अत्र काकुः, अवश्यमेवाचरितमितिभावः।

विप्रस्वं न हरामि काञ्चनमथो यज्ञार्थमभ्युद्धृतम् ।
धात्र्युत्सङ्गगतं हरामि न तथा बालं धनार्थी क्वचित्
कार्य्याकार्य्यविचारिणी मम मतिश्चौर्य्येऽपि नित्यं स्थिता ॥ ६ ॥

अन्वयः—धनार्थी, अहम्, फुल्लाम्, लताम्, इव, विभूषणवतीम्, अबलाम्, नो, मुष्णामि, विप्रस्वम्, अथो, यज्ञार्थम्, अभ्युद्धृतम्, काञ्चनम्, न, हरामि, तथा, क्वचित्, धात्र्युत्संगगतम्, बालम्, न हरामि, चौर्ये, अपि मम, मतिः, नित्यम्, कार्या-कार्यविचारिणी, [एव], स्थिता ॥ ६ ॥

शब्दार्थ—धनार्थी = धन पाने का इच्छुक, अहम्=मैं शर्विलक, फुल्लाम्=फूली हुई, फूलों से युक्त, लताम्=लता के, इव=समान, विभूषणवतीम्=आभूषणों से सजी हुई, अबलाम्=स्त्री को, नो=नहीं, मुष्णामि=चुराता हूँ अर्थात् लूटता हूँ, विप्रस्वम् =ब्राह्मण का धन, (नहीं चुराता हूँ), अथो=और, यज्ञार्थम्=यज्ञ के लिये, अभ्युद्-धृतम्=सुरक्षित रखे गये, काञ्चनम्=स्वर्णादि को, न=नहीं, हरामि=चुराता हूँ, तथा=और, क्वचित्=कहीं भी, धात्र्युत्संगगतम्=धाय की गोद में स्थित, बालम्=बच्चे को, न = नहीं, हरामि = चुराता हूँ, छीनता हूँ, चौर्ये = चोरी में, अपि=भी, मम=मेरी, मतिः=बुद्धि, नित्यम्=सदैव, कार्याकार्यविचारिणी=कर्तव्य और अकर्तव्य का विचार करनेवाली, ही, स्थिता=रहती है ॥ ६ ॥

अर्थ—शर्विलक—

धन का इच्छुक मैं, फूली हुयी लता के समान आभूषणों से सजी हुई स्त्री को नहीं चुराता हूँ । (उसके आभूषण नहीं लूटता हूँ ।) ब्राह्मण के धन को तथा यज्ञादि कार्यों के लिये संचित स्वर्ण को भी नहीं चुराता हूँ । कहीं भी धाय की गोद में स्थित बच्चे को नहीं चुराता हूँ (लेकर भागता हूँ) । चोरी में भी मेरी बुद्धि सदैव कर्तव्य तथा अकर्तव्य [उचित और अनुचित] का विचार करने वाली (ही) रहती है । अतः सोंच समझकर ही मैंने चोरी की है ॥ ६ ॥

टीका—मदनिकयाधिक्षिप्तः विवेकानुगताचरणैः स्वकीयं निर्दोषत्वं साधयति—नो इति । धनार्थी=परकीयधनलिप्सुः, अहम् = शर्विलकः, फुल्लाम् = विकसितपुष्प-युक्ताम्, लताम्=वल्लीम् इव, विभूषणवतीम्=अलङ्कारविभूषिताम्, अबलाम्=नारीम्, तद्धनमित्यर्थः नो=नैव, मुष्णामि=चोरयामि; विप्रस्वम्=ब्राह्मणधनम्, अथो=तथा, यज्ञार्थम्=क्रत्वर्थम्, अभ्युद्धृतम्=निःसार्य सञ्चितम्, सुरक्षितम्, काञ्चनम्=स्वर्णम्, न=नैव, हरामि=चोरयामि; क्वचित्=क्वापि, धात्र्याः=पालनकर्त्र्याः, उत्संगे=अङ्के, गतम्=स्थितम्=विद्यमानम् बालम्=शिशुम्, न=नैव, हरामि=चोरयामि, चौर्ये=चौरकर्मणि, अपि, मे=शर्विलकस्य, मतिः=बुद्धिः, नित्यम् = सर्वदा, कार्याकार्य-विचारिणी = कर्त्तव्याकर्तव्यविवेकिनी, स्थिता = तिष्ठति । चौर्यादिरूपमसत्कार्यं

तद्विज्ञाप्यतां वसन्तसेना—

अयं तव शरीरस्य प्रमाणादिव निर्म्मितः।
अप्रकाशो ह्यलङ्कारः मत्स्नेहाद्धार्य्यतामिति ॥ ७ ॥

मदनिका—सव्विलअ ! अप्पकाशो अलङ्कारओ अअं च जणो त्ति दुवेवि ण जुज्जदि। ता उवणेहि दाव, पेक्खामि एदं अलङ्कारअं। (शर्विलक !

कुर्वन्नपि अहं सदैवौचित्यं विचार्यैव प्रवृत्तो भवामि। एवञ्च मयानुचितं नानुष्ठितमिति भावः। अत्र काव्यलिङ्गमलङ्कारः, शार्दूलविक्रीडितं वृत्तम् ॥ ६ ॥

अन्वयः—तव, शरीरस्य, प्रमाणात् इव, निर्मितः, अयम्, अप्रकाशः, अलङ्कारः, मत्स्नेहात्, हि, धार्यताम् ॥ ७ ॥

शब्दार्थ—तव=तुम्हारे, वसन्तसेना के, शरीरस्य=देह अर्थात् अवयवों के, प्रमाणात्=नाप से, इव=मानों, निर्मितः=बनाया गया, अयम्=यह, अप्रकाशः=प्रकाशित न करने योग्य, न दिखाने लायक, अलङ्कारः=आभूषण को, मत्स्नेहात्=मुझ मदनिका में स्नेह करने के कारण, हि=अवश्य, धार्यताम्=धारण कीजिये ॥७॥

अर्थ—इसलिये [मदनिके !] वसन्तसेना से यह कहो —

तुम्हारे [वसन्तसेना के] शरीर की [अवयवों की] नाप से मानों बनाये गये, सबके सामने न दिखाने योग्य, इस गहने को मुझ [मदनिका] पर स्नेह करने के कारण अवश्य धारण कर लीजिये ॥ ७ ॥

टीका—किं विज्ञापनीयमित्याह—अयमिति। तव=वसन्तसेनायाः, शरीरस्य=देहस्य, अवयवानामिति भावः, प्रमाणात्=परिमाणात्, इव, अत्र ल्यब्लोपे पञ्चमी, परिमाणं गृहीत्वेत्यर्थः; निर्मितः=घटितः, अयम्=पुरो दृश्यमानः, अप्रकाशः=अनुचितः प्रकाशो यस्य सः, अप्रकाशनीय इत्यर्थः, अलङ्कारः=भूषणम्, मत्स्नेहात्=मदनिकायाम्, अनुरागात्, हि=अवश्यम्, धार्यताम्=गृह्यताम्। एवञ्च शर्विलकेन मदनिकायाः निष्क्रयार्थं समर्पितमिति न क्वापि प्रकाशनीयम्। अत्र शरीरप्रमाणानिर्मितत्वेऽपि तत्त्वसम्भावनात् उत्प्रेक्षाऽलङ्कारः, पथ्यावक्त्रं वृत्तम् ॥७॥

विमर्श—अप्रकाशः—अनुचितः प्रकाशः=प्रदर्शनं यस्य सः, जिसको दिखाना ठीक नहीं है। कुछ लोगों ने इसे क्रियाविशेषण मानकर 'अप्रकाशं धार्यताम्' यह लिखा है। कुछ ने 'अप्रकाश्यम्' यह माना है। परन्तु प्रथम पाठ ही अधिक तर्कसंगत है। 'प्रमाणात्' यहाँ 'प्रमाणं विलोक्य'—इस अर्थ में 'ल्यब्लोपे कर्मण्यधिकरणे च' इस वार्तिक से पञ्चमी है। मत्स्नेहात् मयि=मदनिकायाम्, स्नेहः—तस्मात्। शरीर के प्रमाण से निर्मित न होने पर उसमें उस प्रकार बनने की सम्भावना के कारण उत्प्रेक्षा अलङ्कार है, और पथ्यावक्त्र छन्द है ॥ ७ ॥

अर्थ—मदनिका—अरे शर्विलक ! न दिखाने लायक आभूषण; और यह [वेश्या] जन—ये दोनो बातें संगत नहीं हो रहीं है। [अर्थात् वेश्या तो

अप्रकाशोऽलङ्कारकः अयं च जन इति द्वयमपि न युज्यते । तदुपनय तावत् प्रेक्षे एतमलङ्कारकम् ।)

शर्विलकः—इदमलङ्करणम् । (इति साशङ्कं समर्पयति ।)

मदनिका—(निरूप्य) **दिट्ठपुरुव्वो विअ अअं अलङ्कारओ । ता भणेहि कुदो दे एसो ?** (दृष्टपूर्वक इवायमलङ्कारः ! तद्भण कुतस्ते एषः ?)

शर्विलकः—मदनिके ! किं तव अनेन । गृह्यताम् ।

मदनिका—(सरोषम्) **जइ मे पच्चअं ण गच्छसि, ता किं णिमित्तं मं णिक्किणासि ?।** (यदि मे प्रत्ययं न गच्छसि, तत् किं निमित्तं मां निष्क्रीणासि?)

शर्विलकः—अयि ! प्रभाते मया श्रुतं श्रेष्ठिचत्वरे–यथा सार्थवाहस्य चारुदत्तस्य इति ।

(वसन्तसेना मदनिका च मूर्च्छां नाटयतः ।)

शर्विलकः—मदनिके ! समाश्वसिहि । किमिदानीं त्वम्—

विषादस्रस्तसर्वाङ्गी सम्भ्रमभ्रान्तलोचना ।
नीयमानाऽभुजिष्यात्वं कम्पसे नानुकम्पसे ॥ ८ ॥

प्रदर्शन के लिये ही सभी के सामने आभूषण धारण करती है अतः इन्हें गुप्त रखना सम्भव नहीं है ।] तो लाओ, इस आभूषण को देखूँ ।

शर्विलक—यह अलंकार है । (इस प्रकार शङ्कित होकर देता है ।)

मदनिका—(देखकर) यह तो पहले देखा हुआ लगता है; तो बताओ यह तुम्हें कहाँ से मिला ?

शर्विलक—मदनिके ! तुम्हें इससे क्या ? लो ।

मदनिका—(क्रोध के साथ) यदि मुझ पर विश्वास नहीं है तो किस लिये मुझे मुक्त करा रहे हो ?

शर्विलक—अरे ! सबेरे मैंने सेठों की चौक में यह सुना—'सार्थवाह चारुदत्त का है ।'

टीका—अप्रकाशः = अनुचितः प्रकाशो यस्य सः, अप्रकाशनीय इत्यर्थः, अलङ्कारकः=अलङ्कारसमूहः, अय जनः=वेश्याजनः, द्वयम्=अलङ्कारधारणम्, अप्रकाशनीयत्वञ्च, युज्यते = उचितं भवति; प्रेक्षे = विलोकयामि, साशङ्कम्=सन्देहयुक्तम्, दृष्टपूर्वकः=पूर्वं दृष्टः, पूर्वं विलोकितः, तत्=तस्मात्, कुतः=कस्मात् स्थानात लब्ध इति शेषः, ते = तव, अनेन = आभूषणप्राप्तिस्थानादिविषयकज्ञानेन, किम् = किम् प्रयोजनमित्यर्थः, मे=मदनिकायाः, प्रत्ययम्=विश्वासम्, गच्छसि=करोषि, किंनिमित्तम्=किमर्थम्, निष्क्रीणासि=धनादिदानेन दास्यात् मोचयसि ? ॥ ७ ॥

अन्वय—अभुजिष्यात्वम्, नीयमाना, (अपि), विषादस्रस्तसर्वाङ्गी, संभ्रमभ्रान्तलोचना, कम्पसे, [माम्] न, अनुकम्पसे ॥ ८ ॥

मदनिका—(समाश्वस्य) साहसिअ ! ण क्खु तुए मम कारणादो इमं अकज्जं करन्तेण, तस्सिं गेहे कोवि वावादिदो परिक्खदो वा ? (साहसिक ! न खलु त्वया मम कारणादिदमकार्य्यं कुर्वता तस्मिन् गेहे कोऽपि व्यापादितः परिक्षतो वा ?) ।

शर्विलकः—मदनिके ! भीते सुप्ते न शर्विलकः प्रहरति; तन्मया न कश्चिद् व्यापादितो नापि परिक्षतः ।

मदनिका—सच्चं (सत्यम् ?)

शब्दार्थ—अभुजिष्यात्वम्=स्वतन्त्रता को, नीयमाना=प्राप्त कराई जाती हुई, (अपि=भी) तुम, विषादस्रस्तसर्वाङ्गी = अतिशय दुःख से शिथिल अङ्गोंवाली, सम्भ्रमभ्रान्तलोचना = भय से चकित नेत्रोंवाली, कम्पसे = काँप रही हो, [माम्= मुझ शर्विलक पर] न=नहीं, अनुकम्पसे=अनुग्रह कर रही हो ? ।। ८ ।।

अर्थ—**शर्विलक**—मदनिके ! धैर्य धारण करो । तुम इस समय किसलिये— स्वतन्त्र करायी जाती हुई भी, विषाद से शिथिल अवयवों वाली, भय से चकित नेत्रोंवाली, काँप रही हो, मुझ पर अनुकम्पा नहीं कर रही हो ? ।। ८ ।।

टीका—चारुदत्त-नाम-श्रवणमात्रेण त्रस्तां कम्पितां च मदनिकां विलोक्य तां सान्त्वयन्नाह —विषादेति । अभुजिष्यात्वम् = अदासीत्वम्, स्वाधीनतामिति भावः, नीयमाना = चौर्येणापि धनं नीत्वा प्राप्यमाणापि, त्वम्, विषादेन = दुःखातिरेकेण, स्रस्तम् = पतितम् शिथिलम्, सर्वम् = सकलम्, अङ्गम्=अवयवः यस्याः सा तादृशी, सम्भ्रमेण=भयेन, भ्रान्ते=घूर्णिते चकिते वा, लोचने=नेत्रे यस्याः सा तादृशी, सती, कम्पसे=वेपसे, माम् शर्विलकम्, न=नैव, अनुकम्पसे=अनुगृह्णासि, दयसे । एवञ्च विशेषोक्तिरलङ्कारः, पथ्यावक्त्रं वृत्तम् ।। ८ ।।

विमर्श—यहाँ काँपने का कारण न होने पर भी काँपना हो रहा है अतः विभावना अलङ्कार है । और अभुजिष्यात्व को प्राप्त कराना रूपी अनुकम्पाहेतु के रहने पर भी अनुकम्पा नहीं हो रही है । अतः विशेषोक्ति अलङ्कार भी है । अनुकम्पसे —अनु + √कम्प + लट् मध्यम पु० ए. व. । पथ्यावक्त्र छन्द है ।। ८ ।।

अर्थ—**मदनिका**—(धैर्य धारण करके) अरे दुःसाहसी ! मेरे कारण इस अनुचित कार्य [चोरी] को करते समय तुमने उस घर में किसी को मारा अथवा घायल तो नहीं किया है ?

शर्विलक—भयभीत [या] सोये हुये व्यक्ति पर शर्विलक प्रहार नहीं करता है; अतः मैंने न तो किसी का वध किया और न घायल किया ।

मदनिका—सच ?

शर्विलकः—सत्यम् ।

वसन्तसेना—(संज्ञां लब्ध्वा) अम्महे ! पच्चुवजीविदम्हि । (अहो प्रत्युपजीवितास्मि ।)

मदनिका—पिअं पिअं । (प्रियं प्रियम् ।)

शर्विलकः—(सेर्ष्यम्) मदनिके ! किं नाम प्रियमिति ?

त्वत्स्नेहबद्धहृदयो हि करोम्यकार्यं
सद्वृत्तपूर्वपुरुषेऽपि कुले प्रसूतः ।
रक्षामि मन्मथविपन्नगुणोऽपि मानं
मित्रञ्च मां व्यपदिशस्यपरञ्च यासि ॥ ९ ॥

शर्विलक—सच ।

वसन्तसेना—(होश में आकर) ओह ! पुनः जीवित हो गयी हूँ ।

मदनिका—बहुत अच्छा, बहुत अच्छा ।

शर्विलक—(ईर्ष्या के साथ) मदनिके ? क्या अच्छा हुआ ?

टीका—अकार्यम् = चौर्यादिरूपमनुचितं कृत्यम्, व्यापादितः=हतः, परिक्षतः= क्षतं प्रापितः; भीते = भययुक्ते, सुप्ते = शयाने, प्रहरति = प्रहारं करोति, संज्ञाम्= चेतनाम्, लब्ध्वा = प्राप्य, प्रत्युज्जीविता = पुनः प्राप्तजीविता, सेर्ष्यम् = ईर्ष्यया सहितम्, मदनिकायाः वचने रहस्यं ज्ञात्वा ईर्ष्यायुक्तो भवति । चारुदत्तं अपि तस्या अनुरागं च जानाति ।

अन्वयः—सद्वृत्तपूर्वपुरुषे, कुले, प्रसूतः, अपि, (अहम्), त्वत्स्नेहबद्धहृदयः, हि, अकार्यम्, करोमि, मन्मथविपन्नगुणः, अपि, मानम्, रक्षामि, (किन्तु, त्वम्), माम्, मित्रम्, व्यपदिशसि, च, अपरम्, च, यासि ॥ ९ ॥

शब्दार्थ—सद्वृत्तपूर्वपुरुषे = सदाचारयुक्त पूर्वजोंवाले,. कुले = उच्च कुल, (ब्राह्मणवंश) में, प्रसूतः = उत्पन्न हुआ भी, (अहम् = मैं शर्विलक), त्वत्स्नेह-बद्धहृदयः = तुम्हारे प्रेम से आबद्ध चित्तवाला, हि = निश्चय ही, अकार्यम्=चोरी आदि अनुचित कार्य, करोमि = करता हूँ, तथा, मन्मथविपन्नगुणः = कामभाव के कारण गुणहीन, (होता हुआ), अपि=भी, मानम्=गौरव की, रक्षामि=रक्षा करता हूँ, (किन्तु, त्वम्=तुम मदनिका), माम् = मुझे, मित्रम्=मित्र, व्यपदिशसि=कह रही हो, च=और, अपरम्=दूसरे के समीप, च=भी, यासि=जा रही है ॥ ९ ॥

अर्थ—सदाचारी पूर्वजों के उच्चकुल (ब्राह्मणवंश) में जन्म लेवे वाला भी मैं तुम्हारे प्रेम में आसक्त चित्तवाला होकर चोरी आदि अनुचित कार्य कर रहा हूँ । कामभाव के कारण गुणहीन होता हुआ भी अपने गौरव की रक्षा करता हूँ ।

(साकूतम्)

इह सर्वस्वफलिनः कुलपुत्रमहाद्रुमाः ।
निष्फलत्वमलं यान्ति वेश्याविहगभक्षिताः ॥ १० ॥

किन्तु तुम मुझे अपना मित्र कह रही हो और दूसरे पुरुष (चारुदत्त) के पास भी जा रही है ॥ ९ ॥

टीका—मदनिकार्थमकार्यं कुर्वन्तमपि स्वं प्रति तस्याः एकान्तप्रेम्णोऽभावं विचिन्त्य निर्विण्णः शर्विलकः स्वाभिप्रायं प्रकटयति—त्वत्स्नेहेति । सत्=शास्त्रादि-प्रतिपादितम्, वृत्तम्=आचरणम्, येषां ते, सद्वृत्ताः=सदाचारिणः, पूर्वपुरुषाः=पूर्वजाः पितृपितामहादयः, यस्मिन्, तादृशे, कुले = ब्राह्मणवंशे प्रसूतः=जातः, अपि, अहम्=शर्विलकः, तव = मदनिकायाः स्नेहेन=अनुरागेण, बद्धहृदयः=आकृष्टचित्तः, सन्, हि=निश्चयेन, अकार्यम्=अनुचितं चौर्यादिकृत्यम्, करोमि=विदधामि, मन्मथेन=कामभावेन, विपन्नाः = विपर्यस्ताः, नष्टाः, गुणाः=सदाचारविवेकादयः यस्य तादृशः सन्नपि, मानम्=सम्मानम्, गौरवम्, रक्षामि=सुरक्षितं स्थापयामि, न परित्यजामी-त्यर्थः, किन्तु, त्वम्=मदनिका, माम्=शर्विलकम्, मित्रम्=प्रणयिनम्, व्यपदिशसि=कथयसि, च = तथा, अन्यम् = अपरपुरुषम्, चारुदत्तमितिभावः, च=अपि, यासि=उपसरसि, रमणार्थमिति भावः । एवञ्च त्वमपि सामान्यवेश्येव व्यवहरसीति शर्वि-लकस्य तात्पर्यम् । वसन्ततिलकं वृत्तम् ॥ ९ ॥

विमर्श—यहाँ शर्विलक का स्वाभिमान जागृत हो उठता है और वह मदनिका को डाटने लगता है । मां मित्रं व्यमदिशसि= मुझे प्रेमी कह रही हो अथवा, मित्रं मां व्यपदिशसि=प्रेमी मुझे धोखा दे रही हो—यह दूसरा अथ भी सम्भव है । बाहरी प्रेम प्रकट करके मुझे मूर्ख बना रही है जब कि हृदय से तुम किसी अन्य पुरुष (चारुदत्त) से प्रेम करती हो । इसीलिये चारुदत्त के अप्रिय की सम्भावना से तुम मूर्च्छित हो गई और उसका अनिष्ट न जानकर—'अच्छा हुआ' कहकर प्रसन्नता व्यक्त कर रही हो ॥ वसन्ततिलका छन्द है ॥ ९ ॥

अन्वयः—इह, सर्वस्वफलिनः, कुलपुत्रमहाद्रुमाः, वेश्याविहगभक्षिताः, अलम्, निष्फलत्वम्, यान्ति ॥ १० ॥

शब्दार्थ—इह = इस संसार में, सर्व-स्व-फलिनः=सम्पूर्ण धनरूपी फलवाले, कुलपुत्रमहाद्रुमाः=उच्च कुल में उत्पन्न पुत्ररूपी महान वृक्ष, वेश्याविहगभक्षिताः=पक्षियों द्वारा खाये गये, अलम्=पूर्णरूप से, निष्फलत्वम्=फलहीनता (दरिद्रता) को, यान्ति=प्राप्त करते हैं ॥ १० ॥

अर्थ—इस संसार में, सारा धन जिनके फल हैं, ऐसे उच्च कुलोत्पन्न पुत्ररूपी

अयश्च सुरतज्वालः कामाग्निः प्रणयेन्धनः।
नराणां यत्र हूयन्ते यौवनानि धनानि च॥ ११ ॥

बड़े-बड़े वृक्ष, वेश्यारूपी पक्षियों द्वारा खाये हुये होते हुये पूर्णरूप से फलहीनता [दरिद्रता] को प्राप्त करते हैं ॥ १० ॥

टीका—मदनिकायाः वेश्यात्वेन तस्याः दोषान् वर्णयति—इहेति। इह= अस्मिन् संसारे, सर्वम् = समस्तम्, स्वम् = धनम्, एव फलम्=प्रसवः—इति मत्त्वर्थे इनिः, अत्र इनिस्तु चिन्त्यः, कुलपुत्राः = कुलीनाः एव महन्तः = त्रिशालाः द्रुमाः= वृक्षाः, वेश्याः=गणिकाः एव विहगाः, तैःभक्षिताः=खादिताः, चूषिताः इति भावः, सन्तः, अलम्=पूर्णतया, निष्फलत्वम् = फलहीनत्वम्, धनाभावं दारिद्र्यमिति भावः, यान्ति=व्रजन्ति। अत्र रूपकमलङ्कारः, पथ्यावक्त्रं वृत्तम्॥ १० ॥

विमर्श—यहाँ स्व=धनपर फल का, कुलपुत्र पर वृक्ष का और वेश्या पर विहग का आरोप होने से साङ्गरूपक अलङ्कार है। अलम्—यहाँ अत्यधिक अर्थ में है। पथ्यावक्त्र छन्द है ॥ १० ॥

अन्वयः—सुरतज्वालः, प्रणयेन्धनः, अयम्, कामाग्निः, [अस्ति], यत्र, नराणाम्, यौवनानि, धनानि, च, हूयन्ते ॥ ११ ॥

शब्दार्थ—सुरतज्वालः = सम्भोगरूपी ज्वालाओंवाला, प्रणयेन्धनः=प्रेमरूपी इंधनवाला, अयम् = यह, कामाग्निः=कामवासनारूपी अग्नि, (अस्ति=है), यत्र= जिस (आग) में, नराणाम्=पुरुषों के, यौवनानि=यौवन सम्पन्न शरीर, च=और, धनानि=धन, हूयन्ते=हनन कर दिये जाते हैं ॥ ११ ॥

अर्थ—सम्भोगरूपी ज्वालाओं (लपटों) वाला, प्रेमरूपी इंधनवाला, यह कामरूपी अग्नि है जिसमें पुरुषों के यौवन (युवावस्थायें) और धन हवन कर दिये जाते हैं ॥ ११ ॥

टीका—वेश्यामेव दूषयन्नाह—सुरतज्वालः = सुरतम्=सम्भोग एव, ज्वाला= शिखा यस्य सः, प्रणयेन्धनः = प्रणयः = अनुरागः एव इन्धनम्=काष्ठम्, यस्य सः, तादृशः, अयम् = अनुभूयमानः, कामाग्निः = कामरूपो वह्निः, अस्ति=वर्तते, यत्र= यस्मिन् कामाग्नौ, नराणाम् = पुरुषाणाम्, कामातुराणामिति भावः. यौवनानि= तारुण्यानि, धनानि=ऐश्वर्यादीनि, च, हूयन्ते=आहुतय इव प्रक्षिप्यन्ते। अत्र पूर्वार्द्धे रूपकमुत्तरार्द्धे उत्प्रेक्षा च, पथ्यावक्त्र वृत्तम् ॥ ११ ॥

विमर्श—प्रस्तुत श्लोक में कामातुर पुरुषों के विनाश का सुन्दर वर्णन है। सुरत पर ज्वाला का, काम पर अग्नि का और प्रणय पर इंधन का आरोप होने से रूपक अलंकार है। उत्तरार्द्ध में यौवन एवं धन की आहुति सम्भव नहीं है।

वसन्तसेना—(सस्मितम्) **अहो ! से अत्थाणे आवेओ !** (अहो ! अस्य अस्थाने आवेगः ।)

शर्विलकः—सर्वथा—

अपण्डितास्ते पुरुषा मता मे ये स्त्रीषु च श्रीषु च विश्वसन्ति ।
श्रियो हि कुर्वन्ति तथैव नार्यो भुजङ्गकन्यापरिसर्पणानि ॥ १२ ॥

अतः 'हूयन्ते' इव' इस उत्प्रेक्षा से ही वाक्यार्थसम्पन्न होने के कारण उत्प्रेक्षा भी है। पथ्यावक्र छन्द है ॥ ११ ॥

वसन्तसेना—(मुस्कराहट के साथ) अहो ! इसका क्रोध अनुचित स्थान पर है । (अर्थात् विना कारण है ।)

अन्वयः—ये, पुरुषाः, स्त्रीषु, च, श्रीषु, च, विश्वसन्ति, ते, मे, अपण्डिताः, मताः, हि, श्रियः, तथैव, नार्यः, भुजङ्गकन्यापरिसर्पणानि, कुर्वन्ति ॥ १२ ॥

शब्दार्थ—ये=जो, पुरुषाः = आदमी, स्त्रीषु=स्त्रियों पर, च=और, श्रीषु= लक्ष्मी, सम्पत्ति पर, विश्वसन्ति =विश्वास करते हैं, ते=वे, मे = मुझे, अपण्डिताः= मूर्ख, मताः=प्रतीत होते हैं, हि=क्योंकि, श्रियः = लक्ष्मी (सम्पत्ति), तथैव=उसी प्रकार, नार्यः=स्त्रियाँ, भुजङ्गकन्यापरिसर्पणानि=नागिन के समान टेढ़ी-मेढ़ी चाल, कुर्वन्ति=करती हैं, चलती हैं ॥ १२ ॥

अर्थ—**शर्विलक**—हर प्रकार से—

जो पुरुष स्त्रियों पर और लक्ष्मी पर विश्वास करते हैं, वे मुझे मूर्ख लगते हैं, क्योंकि लक्ष्मी के समान स्त्रियाँ भी नागिन के सदृश टेढ़ी-मेढ़ी चाल चलती हैं ।१२।

टीका—पूर्वं वेश्याभावस्य निन्दां कृत्वाऽधुना स्त्रीसामान्यमेव निन्दन्नाह— अपण्डिता इति । ये, पुरुषाः = मनुष्याः, स्त्रीषु = नारीषु, च, स्त्रीषु = लक्ष्मीषु, सम्पत्तिषु, च, विश्वसन्ति = प्रत्ययं गच्छन्ति, ते = पुरुषाः, मे = मम, अपण्डिताः= मूर्खाः, मताः = स्वीकृताः, हि = यतः, श्रियः = लक्ष्म्यः, सम्पत्तय, तथैवः=तद्वदेव, नार्यः=स्त्रियः, भुजङ्गकन्यापरिसर्पणानि=भुजङ्गिनीनाम् इव परितः वक्रगमनानि, वञ्चनार्थं विविधाचरणानि, कुर्वन्ति = विदधति । अत्रार्थान्तरन्यासः, दीपकं चालङ्कारद्वयम् । उपजातिवृत्तम् ॥ १२ ॥

विमर्श—स्त्रीषु च श्रीषु च—यहाँ दो का प्रयोग प्रत्येक की प्रधानताख्यापनार्थ है । मे मता यहाँ–'क्तस्य च वर्तमाने' [पा. सू. २।३।६७] से षष्ठी हुई है । अतः 'न लोकाव्यय० [पा. सू. २।३।६९] से निषेध की शंका नहीं करनी चाहिये । यहाँ पूर्वार्द्धप्रतिपादित वाक्यार्थ के प्रति परार्द्धप्रतिपादितवाक्यार्थ हेतु है । अतः कारण से कार्य का समर्थनरूप अर्थान्तरन्यास है । अप्रस्तुत श्री और प्रस्तुत नारियों का भुजङ्गकन्यापरिसर्पणकादित्वरूप एक धर्माभिसम्बन्ध होने से

स्त्रीषु न रागः कार्य्यो रक्तं पुरुषं स्त्रियः परिभवन्ति ।
रक्तैव हि रन्तव्या विरक्तभावा तु हातव्या ॥ १३ ॥

सुष्ठु खल्विदमुच्यते—

एता हसन्ति च रुदन्ति च वित्तहेतो-
विश्वासयन्ति पुरुषं न तु विश्वसन्ति ।
तस्मान्नरेण कुलशीलसमन्वितेन
वेश्याः श्मशानसुमना इव वर्जनीयाः ॥ १४ ॥

दीपक है। भुजंगकन्यानामिव—यहाँ उपमा भी है। परस्पर अङ्गाङ्गिभाव से सङ्कर है। उपेन्द्रवज्रा और इन्द्रवज्रा के योग से उपजाति छन्द है ॥ १२ ॥

अन्वयः—स्त्रीषु, रागः, न, कार्यः, (यतः), स्त्रियः, रक्तम्, पुरुषम्, परभवन्ति, हि, रक्ता, एव, रन्तव्या, विक्तभावा, तु, हातव्या ॥ १३ ॥

शब्दार्थ—स्त्रीषु = स्त्रियों पर, रागः=प्रेम, न=नहीं, कार्यः=करना चाहिये, (यतः=क्योंकि) स्त्रियः=स्त्रियाँ, रक्तम्=अनुरक्त, प्रेमी, पुरुषम्=पुरुष को, परिभवन्ति=अपमानित कर देती है, हि=अतः, रक्ता=(अपने प्रति) अनुरक्त, एव=ही, रन्तव्या=रमण=प्रेम योग्य होती है, विरक्तभावा=न चाहनेवाली, उदासीन को, तु=तो, हातव्या=छोड़ देना चाहिये ॥ १३ ॥

अर्थ—स्त्रियों पर (अनपेक्षित) अनुराग नहीं करना चाहिये, क्योंकि स्त्रियाँ अनुरागी (प्रेमी) पुरुष को अपमानित कर देती हैं। (अपने प्रति) अनुराग रखनेवाली के साथ ही रमण (प्रेम) करना चाहिये, न चाहनेवाली को छोड़ देना चाहिये, उससे प्रेम नहीं करना चाहिये ॥ १३ ॥

टीका—पुनः स्त्रीसामान्यविषयिणीं निन्दां करोति-स्त्रीष्विति। स्त्रीषु=नारीषु, रागः=अनपेक्षितोऽनुरागः, न=नैव, कार्यः=विधेयः, (हि=यतः), स्त्रियः=नार्यः, रक्तम्=स्वस्यां परमानुरागिणम्, पुरुषम्=नरम्, परिभवन्ति=अपमानयन्ति, वञ्चयन्तीति यावत्; हि=अतः, रक्ता=आत्मनि अनुरागवती, एव, रन्तव्या=रमणार्हा, विरक्तभावा-विरक्तः=अनुरागरहितः, भावः=चित्तम्, यस्याः, तादृशानुरागशून्येति भावः, हातव्या=परिवर्जनीया। काव्यलिङ्गमलङ्कारः, आर्या वृत्तम् ॥ १३ ॥

विमर्श—यहाँ अनुरागवती के साथ ही अनुराग करने का औचित्य प्रस्तुत किया है। यहाँ 'रक्ता एव' यह एवकार अन्ययोगव्यवच्छेद करा ही देता है, अर्थात् रक्ता से भिन्न के साथ रमण=अनुराग नहीं करना चाहिये—यह अर्थ प्रतीत हो जाता है। पुनः 'विरक्तभावा तु हातव्या' इस कथन से पुनरुक्तता दोष है। इसके लिये 'सुरक्ता हि रन्तव्या' ऐसा पाठ परिवर्तन कर लेना चाहिये—ऐसा जीवानन्दविद्यासागर का परामर्श है ॥१३॥

अन्वयः—एताः, वित्तहेतोः, हसन्ति, च, रुदन्ति, च, पुरुषम्, विश्वासयन्ति,

अपि च—

समुद्रवीचीव चलस्वभावाः सन्ध्याभ्रलेखेव मुहूर्त्तरागाः
स्त्रियो हृतार्थाः पुरुषं निरर्थं निष्पीडितालक्तकवत् त्यजन्ति ॥ १५ ॥

तु, न, विश्वसन्ति, तस्मात्, कुलशीलसमन्वितेन, नरेण, श्मशानसुमनाः, इव, वेश्याः, वर्जनीयाः ॥ १४ ॥

शब्दार्थ—एताः = ये (वेश्या में), वित्तहेतोः = धन प्राप्त करने के लिये, हसन्ति=हसती हैं। च=और, रुदन्ति=रोती हैं; पुरुषम्=पुरुष को, विश्वासयन्ति= विश्वास दिलाती है; तु=किन्तु, स्वयम् = स्वयम्, न=नहीं, विश्वसन्ति=विश्वास करती है; तस्मात्=इसलिये, कुलशीलसमन्वितेन=उच्च कुल एवं स्वभाव से युक्त, नरेण=पुरुष को, वेश्याः=वेश्यायें, श्मशानसुमनाः=श्मशानस्थल पर लगने वाले फूल के, इव=समान, वर्जनीयाः=छोड़ देनी चाहिये। (उनसे किसी प्रकार का सम्बन्ध नहीं रखना चाहिये।) ॥ १४ ॥

अर्थ—वस्तुतः यह उचित ही कहा जाता है—

ये (वेश्यायें) धन कमाने के लिये (प्रेमी के प्रति) हसती हैं और रोती हैं। पुरुष को (अपने ऊपर) विश्वास दिलाती है परन्तु (स्वयं पुरुषों पर) विश्वास नहीं करती हैं। अतः उत्तम कुल एवं स्वभाव वाले पुरुष को वेश्याओं का परित्याग श्मशानस्थल पर लगे हुये फूलों के समान कर देना चाहिने ॥ १४ ॥

टीका—स्त्रीसामान्यं विनिन्द्य पुनः स्त्रीविशेषां वेश्यां निन्दति—एता इति। एताः=वारनार्यः, वेश्याः, वित्तहेतोः=धनस्य कारणात्, अनुरागिपुरुषं प्रति, हसन्ति= हासं कुर्वन्ति, रुदन्ति=विलपन्ति, कदाचित् हासप्रदर्शनं कदाचिच्च अश्रुप्रदर्शनं कृत्वा विमोहयन्तीति भावः, पुरुषम्=अनुरागिणं जनम् विश्वासयन्ति=प्रत्याययन्ति, च, तु=किन्तु स्वयम्, न=नैव, विश्वसन्ति = प्रतियन्ति, विश्वासं कुर्वन्तीत्यर्थः, तस्मात्=पूर्वोक्तहेतोः, कुलेन = सद्वंशेन, स्वभावेन = उत्तमप्रकृत्या च समन्वितेन= युक्तेन, नरेण=पुरुषेण, वेश्याः=वारनार्यः, श्मशाने=श्मशानक्षेत्रे उत्पन्नाः, सुमनाः= पुष्पम् इव=तुल्याः, वर्जनीया=परिहातव्याः, वत्र दीपकमुपमा चालङ्कारः, वसन्त-तिलकं वृत्तम् ॥ १४ ॥

विमर्शः—वेश्याओं के सारे क्रियाकलाप धन=प्राप्ति के लिये ही होते हैं। अतः इनके हसने या रोने के चक्कर में नहीं फँसना चाहिये। यहाँ 'एताः' एक ही कर्ता (कर्त्री) का हास, रुदन, विश्वासोत्पादन आदि अनेक क्रियाओं के साथ सम्बन्ध होने से दीपक अलंकार है। उत्तरार्ध में, श्मशानपुष्पों के साथ वेश्याओं का परित्याग बताया गया है। अतः उपमा भी है। वसन्ततिलका छन्द है ॥ १४ ॥

अन्वयः—समुद्रवीची, इव, चलस्वभावाः, सन्ध्याभ्रलेखा, इव, मुहूर्तरागाः, स्त्रियः, हृतार्थाः, (सत्यः), निरर्थम्, पुरुषम्, निष्पीडितालक्तकवत्, त्यजन्ति ॥१५॥

स्त्रियो नाम चपलाः—

अन्यं मनुष्यं हृदयेन कृत्वा ह्यन्यं ततो दृष्टिभिराह्वयन्ति ।
अन्यत्र मुञ्चन्ति मदप्रसेकमन्यं शरीरेण च कामयन्ते ।। १६ ।।

शब्दार्थ—समुद्रवीची इव = सागर की तरङ्ग के समान, चलस्वभावाः= चञ्चलस्वभाव वाली; सन्ध्याभ्रलेखा इव=सायकालीन मेघों की पंक्ति के समान, मुहूर्तरागाः=क्षणिक अनुराग करने वालीं, स्त्रियः=औरतें (=वेश्यायें), हृतार्थाः= सारा धन हरण कर लेने वाली, [सत्यः=होती हुई], निरर्थम्=धनहीन, पुरुषम्= पुरुष को, निष्पीडितालक्तकवत्=निचोड़े गये आलता=महावर के समान, त्यजन्ति= छोड़ देती हैं, फेंक देती हैं ।। १५ ।।

अर्थ—और भी—

सागर की तरङ्गों के समान चञ्चल स्वाभाववाली, सायंकालीन मेघों की पंक्ति के समान क्षण भर के लिये रागवाली (मेघ पक्ष में राग=लालिमा, से युक्त, वेश्यापक्ष में राग=अनुराग से युक्त), स्त्रियाँ (वेश्यायें) सारा धन हरण कर लेने के बाद धनहीन पुरुष को निचोड़े गये आलता (महावर) के समान छोड़ देतीं हैं, फेंक देती हैं ।। १५ ।।

टीका—पुनः वेश्याभावमेव निन्दन्नाह—समुद्रवीचीति । समुद्रवीचीव= सागरतरङ्ग इव, चलः=चञ्चलः, स्वभावः=प्रकृतिर्यासां ताः, अतिचपला इत्यर्थः, सन्ध्याऽभ्रलेखा—सन्ध्यायाम् = सायंकाले यद् अभ्रम् = अस्तगमनोन्मुखसूर्यकिरण- रञ्जितो मेघः, तस्य, लेखा=रेखा, इव=यथा, मुहूर्तम्=अत्यल्पकालम्, रागः= अनुरागः, मेघपक्षे—रक्तिमा, यासां ताः, स्त्रियः=वेश्याः, हृतः=वञ्चितः, पुरुषात् गृहीतः, अर्थः=धनं याभिः तथाभूताः, सत्यः, निरर्थम्=धनहीनम्, पुरुषम्, निष्पी- डितम्=निःसारितम्, यद् अलक्तकम्=लाक्षारसः, तद्वत्, त्यजन्ति=परित्यजन्ति ।। उपमालङ्कारः उपजातिः वृत्तम् ।। १५ ।।

विमर्श—इसमें स्त्रीजाति का समुद्रवीची एवम् अभ्रलेखा के साथ सादृश्य होने से मालोपमा है। अलक्तकवत्–इसमें तद्धितगत श्रौती उपमा है। रुई में आलता (महावर) भरा रहता है। उसे पानी में भिगा कर स्त्रियाँ पैरों में लगाती हैं। जब तक लगाने लायक होता है लगाती रहती हैं। पूरी तरह निचोड़ने के बाद फेंक देती हैं। उसी प्रकार वेश्यायें भी मनुष्य का सर्वथा शोषण करके छोड़ देती हैं ।। १५ ।।

अन्वयः—(स्त्रियः), हृदयेन, अन्यम्, मनुष्यम्, कृत्वा, ततः, अन्यम्, दृष्टिभिः, आह्वयन्ति, अन्यत्र, मदप्रसेकम्, मुञ्चति, अन्यम्, च, शरीरेण, कामयन्ते ।। १६ ।।

सूक्तं खलु कस्यापि—

न पर्वताग्रे नलिनी प्ररोहति न गर्द्दभा वाजिधुरं वहन्ति ।
यवाः प्रकीर्णा न भवन्ति शालयो न वेशजाताः शुचयस्तथाऽङ्गना ॥१७॥

शब्दार्थ—(स्त्रियः=वेश्यायें), हृदयेन=हृदय से, मन से, अन्यम्=दूसरे, मनुष्यम्=मनुष्य को, कृत्वा=चाह कर या स्थापित करके, ततः=उसके बाद, अन्यम्=किसी दूसरे व्यक्ति को, दृष्टिभिः=आखों के (संकेतों) से, आह्वयन्ति= बुलाती हैं; अन्यत्र=किसी अन्य पुरुष में, मदप्रसेकम्=अपने यौवन मद के हाव भावादि को, मुञ्चन्ति=छोड़ती हैं; च=और शरीरेण=शरीर द्वारा, अन्यम्=किसी दूसरे को, कामयन्ते=चाहती हैं ॥ १६ ॥

अर्थ—अत्यन्त चञ्चल वेश्या स्त्रियाँ—

हृदय में किसी दूसरे को रख कर उससे भिन्न पुरुष को आँख के संकेतों से बुलाती हैं। किसी अन्य पुरुष के विषय में (अपने यौवन), मद के हाव भाव छोड़ती हैं या मदिरा का कुल्ला करती है। और किसी अन्य को शरीर से चाहती हैं ॥ १६ ॥

टीका—वेश्यात्वमेव निन्दन्नाह—अन्यमिति। अत्र सर्वत्र गद्यस्थेन 'स्त्रिय' इति कर्तृपदेनान्वयः। हृदयेन = मनसा, अन्यम्=एकम्, जनम्=पुरुषम् कृत्वा= निश्चित्य, संस्थाप्य वा, एकस्मिन् मनुष्ये मनः आधाय इति यावत्; ततः=तस्मात् जनात्, अन्यम्=भिन्नम्, दृष्टिभिः=कटाक्षैः, आह्वयन्ति=सङ्केतयन्ति; अन्यत्र= तस्मात् अपरस्मिन् जने, मदप्रसेकम् = यौवनजनितसाहङ्कारव्यवहारम् अथवा मदस्य=सुरागण्डूषस्य, प्रसेकम्=मुखात् प्रक्षेपम्, मुञ्चन्ति=त्यजन्ति। शरीरेण=देहेन, च, अन्यम्=ततो भिन्नम्, कामयन्ते=अभिलषन्ति। अत्र दीपकालङ्कारः, इन्द्रवज्रा वृत्तम् ॥ १६ ॥

विमर्श—इस श्लोक के चारो पादों में 'अन्य' शब्द के प्रयोग के कारण अनवीकृतत्व दोष है। एक स्त्रीरूप कर्तृपद का स्थापन, आह्वान, परित्याग एवं कामना रूपी क्रियाओं के साथ अन्वय होने से दीपक अलङ्कार है। ततः अन्यम्–यहाँ पृथक् अर्थ मान कर पञ्चमी में तसिल् प्रत्यय मानना चाहिये ॥ १६ ॥

अन्वय—नलिनी, पार्वताग्रे, न, प्ररोहति, गर्दभाः, वाजिधुरम्, न, वहन्ति; प्रकीर्णाः, यवाः, शालयः, न, भवन्ति; तथा, वेशजाताः अङ्गनाः, शुचयः, न भवन्ति ॥ १७ ॥

शब्दार्थ—नलिनी = कमलिनी, पार्वताग्रे = पहाड़ की चोटी पर, न=नहीं, प्ररोहति=पैदा होती है; गर्दभाः=गधे, वाजिधुरम्=घोड़े के बोझे को, न=नहीं, वहन्ति=ढोते हैं; प्रकीर्णाः=विखेरे गये, यवा=जौं, शालयः=धान, न=नहीं, भवन्ति=

आः, दुरात्मन् चारुदत्तहतक ! अयं न भवसि । (इति कतिचित् पदानि गच्छति)

मदनिका—(अञ्चले गृहीत्वा) **अइ अम्बद्धभासअ ! असम्भावणीए कुप्पसि ।** (अयि असम्बद्धभाषक ! असम्भावनीये कुप्यसि ।)

शर्विलकः—कथमसम्भावनीयं नाम ! ।

मदनिका—एसो क्खु अलङ्कारओ अज्जआकेरओ (एष खल्वलङ्कारः आर्य्यासम्बन्धी ।)

होते हैं; तथा = इसी प्रकार, वेशजाताः = वेश्या के घर में उत्पन्न होने वाली; अङ्गनाः=स्त्रियाँ, शुचयः=पवित्र, न=नहीं, भवन्ति=होती हैं ।। १७ ।।

अर्थ—किसी का समुचित कथन है—

कमलिनी पहाड़ की चोटी पर नहीं पैदा होती है। गधे घोड़े के बोझे को नहीं ढोते हैं। (खेत आदि में) छींटे गये, बिखेरे गये जौ धान नहीं बन जाते हैं। उसी प्रकार वेश्यागृह में उत्पन्न स्त्रियाँ पवित्र नहीं होती हैं ।। १७ ।।

टीका—वेश्यानां निरतिशयनीचतां प्रकटयितुं शिष्टोक्तिमुदाहरति—नेति। नलिनी=पद्मिनी, पर्वताग्रे = गिरिशिखरे, न=नैव, प्ररोहति=जायते; गर्दभाः= रासभाः, बाजिधुरम्=अश्ववाह्यं भारम्, न=नैव, वहन्ति=धारयन्ति; प्रकीर्णाः= उप्ताः, यवाः=एतन्नाम्ना प्रसिद्धा धान्यविशेषाः, शालयः=तन्नाम्ना प्रसिद्धाः धान्य-विशेषाः, न=नैव, भवन्ति=जायन्ते; तथा=तेनैव प्रकारेण, वेशजाताः=वेश्याजनाश्रये उत्पन्नाः, = स्त्रियः, वेश्या इति भावः, शुचयः=पवित्राचरणाः, न=नैव, भवन्ति। अत्र द्वितीयपादे एकाक्षरन्यूनत्वात् हतवृत्तता दोषः, वंशस्थबिलं वृत्तम् । दृष्टान्ता-लंकारः ।। १७ ।।

विमर्श—यहाँ तीन के असम्भवत्व के समान वेश्याजनों की पवित्रता का असम्भवत्व प्रतिपादित किया गया है। द्वितीय से चतुर्थपाद तक कर्ता बहुवचन है परन्तु प्रथमपाद में एकवचन है। अतः भग्नप्रक्रमता दोष है। यहाँ दृष्टान्त अलङ्कार फलित होता है। इसमें वंशस्थ छन्द है। परन्तु द्वितीयपाद में एक अक्षर न्यून होने के कारण हतवृत्तता दोष है ।। १७ ।।

अर्थ—अरे नीच चारुदत्त ! यह तुम (अब जीवित) नहीं हो। (अर्थात् मैं अभी तुम्हें मार डालता हूँ।) (यह कह कर कुछ कदम चलता है।)

मदनिका—(आँचल में पकड़ कर) अरे ऊटपटांग बोलने वाले ! असम्भाव-नीय (जिसकी सम्भावना नहीं की जा सकती उस) पर क्रोध कर रहे हो।

शर्विलक—असम्भावनीय कैसे ?

मदनिका—यह अलङ्कार आर्या (वसन्तसेना) का है।

शर्विलकः—ततः किम् ?

मदनिका—स च तस्य अज्जस्स हत्थे विणिक्खित्तो। (स च तस्य आर्यस्य हस्ते विनिक्षिप्तः।)

शर्विलकः—किमर्थम् ?

मदनिका—(कर्णे) एव्वं विअ। (एवमिव।)

शर्विलकः—(सवैलक्ष्यम्) भोः! कष्टम्।

छायार्थं ग्रीष्मसन्तप्तो यामेवाहं समाश्रितः।
अजानता मया सैव पत्रैः शाखा वियोजिता ॥ १८ ॥

शर्विलक—तो इससे क्या ?

मदनिका—यह उन आर्य (चारुदत्त) के हाँथ गिरवीं रखा गया था।

शर्विलक—किस लिये ?

मदनिका—(कान में) इस लिये।

शर्विलक—(लज्जा के साथ) हाय! कष्ट है।

अन्वयः—ग्रीष्मसन्तप्तः, अहम्, छायार्थम्, याम्, एव, समाश्रितः; अजानता, मया, सा, एव, शाखा, पत्रैः, वियोजिता ॥ १८ ॥

शब्दार्थ—ग्रीष्मसन्तप्तः=गर्मी=धूप से परेशान, अहम् = मैंने, छायार्थम्= छाया के लिये, याम्=जिस (शाखा) का, समाश्रितः=सहारा लिया था; अजानता= न जानते हुये, मया=मैंने, सा=उसी, शाखा=शाखा (पेड़ की डाल) को, पत्रैः= पत्तों से, वियोजिता=रहित कर दिया ॥ १८ ॥

अर्थ—गर्मी (की धूप) के कारण परेशान मैंने छाया (प्राप्त) करने के लिये (वृक्ष की) जिस शाखा का सहारा लिया था; अज्ञानवश उसे मैंने पत्तों से रहित बना डाला। (अर्थात् वसन्तसेना से छुड़वाने के लिये कोशिश की परन्तु ये गहने वसन्तसेना के ही हैं अतः अब मदनिका को छुड़वा सकना सम्भव नहीं हैं। यह सब अज्ञानता से हो गया।) ॥ १८ ॥

टीका—मदनिकामुक्त्यर्थमेवमकार्यं कुर्वन् शर्विलकः वसन्तसेनाया एव अनभिलषितं समाचरन् पश्चात्तपति छायार्थमिति। ग्रीष्मसन्तप्तः=निदाघपीडितः, अहम्=शर्विलकः, छायार्थम्=सन्तापदूरीकरणाम छायाप्राप्त्यर्थम्, यामेत्र=वृक्षशाखामेव, समाश्रितः=अवलम्बितवान्, अजानता=अनभिज्ञेन, मया=शर्विलकेन, सैव= तादृशी आश्रयीभूता शाखैव, पत्रैः = पल्लवैः, वियोजिता = पत्रशून्यीकृता। अत्राप्रस्तुतप्रशंसालङ्कारः, पथ्यावक्त्रं वृत्तम् ॥ १८ ॥

विमर्श—यहाँ शर्विलक अपनी गल्ती का पश्चात्ताप कर रहा है। यहाँ ग्रीष्मसन्तप्त का छायाप्राप्ति के लिये आश्रित शाखा के पत्तों का उजाड़ना अप्रस्तुत

वसन्तसेना—कधं एसो वि सन्तप्पदि ज्जेव। ता अजाणन्तेण एदिणा एव्वं अणुचिट्ठिदं। (कथमेषोऽपि सन्तप्यते एव। तदजानता एतेन एवमनुष्ठितम्।)

शर्विलकः—मदनिके! किमिदानीं युक्तम्?

मदनिका—इत्थं तुमं ज्जेव पण्डिओ। (अत्र त्वमेव पण्डितः।)

शर्विलकः—नैवम्। पश्य—

स्त्रियो हि नाम खल्वेता निसर्गादेव पण्डिताः।
पुरुषाणान्तु पाण्डित्यं शास्त्रैरेवोपदिश्यते॥ १९॥

है, इसके द्वारा कामाग्नि से सन्तप्त शर्विलक का मदनिकाप्राप्ति के लिये आश्रित वसन्तसेना के धरोहर के गहनों का चुरा लेना—इस प्रस्तुत का ज्ञान होने से अप्रस्तुतप्रशंसा अलंकार है। इसके माध्यम से मदनिका को न पा सकना द्योतित कर रहा है। पथ्यावक्त्र छन्द है॥ १८॥

अर्थ—वसन्तसेना—क्या, यह भी दुःखी हो रहा है? तो निश्चित ही इसने अनजान में चोरी की है।

शर्विलकः—अब क्या करना ठीक होगा?

मदनिका—इस विषय में तो तुम्हीं चतुर हो।

शर्विलक—ऐसा नहीं। देखो—

अन्वयः—एताः, स्त्रियः, हि, निसर्गात्, एव, पण्डिताः, खलु, नाम, तु, पुरुषाणाम्, पाण्डित्यम्, शास्त्रैः, एव, उपदिश्यते॥ १९॥

शब्दार्थ—एताः=ये, स्त्रियः=स्त्रियाँ, हि=निश्चय ही, निसर्गात्=प्रकृति से, एव=ही, पण्डिताः=चतुर, (होती हैं), खलु नाम=ऐसा माना जाता है। तु=किन्तु, पुरुषाणाम् = मनुष्यों का, पाण्डित्यम्=चातुर्य, शास्त्रैः=शास्त्रों के द्वारा, एव=ही उपदिश्यते=उपदिष्ट होता है, सिखाया जाता है॥ १९॥

अर्थ—ये स्त्रियाँ जन्म से ही अथवा स्वभाव से ही चतुर होती हैं। किन्तु पुरुषों की चतुरता तो शास्त्रों के द्वारा ही सिखाई जाती है। (अर्थात् स्त्रियाँ विना सिखाये ही चतुर होती हैं परन्तु पुरुष सिखाये जाने के बाद ही चतुर हो पाते हैं)॥ १९॥

टीका—उपस्थितसमस्यायां मदनिकाया एवोपायनिर्धारकत्वं व्यवस्थापयितु स्त्रीबुद्धेर्निसर्गसूक्ष्मत्वमाह—स्त्रिः इति। एताः=इमाः, स्त्रियः=नार्यः, निसर्गात्=स्वभावात्, जन्मतो वा, एव, पण्डिताः = चतुराः, खलु नाम = सम्भावनायाम्, ताः पण्डिता इति सम्भावयामि, तु = परन्तु, पुरुषाणाम् = मनुष्याणाम्, पाण्डित्यम्=चातुर्यम्, शास्त्रैः=शास्त्रदर्शनैः, एव, उपदिश्यते=शिक्ष्यते, कथ्यते वा विद्वद्भिरिति शेषः। एवञ्च अत्र मदनिकाया एव निर्धारकत्वक्षमत्वमिति बोध्यम्॥ १९॥

मदनिका--सव्विलअ ! जइ मम वअणं सणोअदि, ता तस्स ज्जेव महाणुभावस्स पड़िणिज्जादेहि। (शर्विलक ! यदि मम वचनं श्रूयते, तत् तस्यैव महानुभावस्य प्रतिनिर्यातय ।)

शर्विलकः--मदनिके ! यद्यसौ राजकुले मां कथयति ?

मदनिका--ण चन्दादो आदवो होदि। (न चन्द्रादातपो भवति ।)

वसन्तसेना--साहु, मदणिए ! साहु । (साधु, मदनिके ! साधु ।)

शर्विलकः--मदनिके !

न खलु मम विषादः साहसेऽस्मिन् भयं वा
कथयसि हि किमर्थं तस्य साधोर्गुणांस्त्वम् ।
जनयति मम वेदं कुत्सितं कर्म लज्जां
नृपतिरिह शठानां मादृशां किं नु कुर्य्यात् ? ॥ २० ॥

विमर्श--पुरुष एवं स्त्री की चतुरता के बारे में यहाँ सुन्दर चित्रण किया गया है। यहाँ स्त्रीजाति के उत्कर्ष का कथन होने से व्यतिरेक अलङ्कार है। पथ्यावक्त्र छन्द है ॥ १९ ॥

मदनिका--हे शर्विलक ! यदि मेरी बात सुनते हो (मानते हो) तो उन्हीं महानुभाव (चारुदत्त) को वापस दे आओ।

शर्विलक--मदनिके ! यदि ये (चारुदत्त) न्यायालय में कह दें तो ?

मदनिका--अरे, चन्द्रमा से धूप नहीं होती। (अर्थात् चारुदत्त ऐसा कृत्य नहीं कर सकता।)

वसन्तसेना--धन्य हो मदनिके ! धन्य हो।

टीका--मम=मदनिकायाः, श्रूयते=स्वीक्रियते, तत्=तस्मात्, तस्यैव=चारुदत्तस्यैव, सम्बन्धसामान्ये षष्ठी बोध्या, प्रतिनिर्यातय = प्रत्यर्पय, राजकुले = राजसभायाम्, न्यायालये इत्यर्थः, कथयति=वर्तमानसामीप्ये लट्, आतपः=घर्मः, यथा चन्द्रात् आतपो न समुदेति तथैव चारुदत्तेनेदं न सम्भाव्यते।

अन्वयः--अस्मिन्, साहसे, मम, विषादः, भयम् वा, न, खलु, (अस्ति), त्वम्, तस्य, साधोः, गुणान्, कथम्, कथयसि ? हि, इदम्, कुत्सितम्, कर्म, वा, मम, लज्जाम्, जनयति, इह, नृपतिः, मादृशाम्, शठानाम्, किम्, नु, कुर्यात् ॥ २० ॥

शब्दार्थ--अस्मिन्=इस, साहसे=दुस्साहसिक चौर्य कार्य में, मम=मुझ शर्विलक का, विषादः=खेद, वा=अथवा, भयम्=डर, न=नहीं है, खलु=निश्चय ही, त्वम्=तुम मदनिका, तस्य = उस, साधोः = सज्जन (चारुदत्त) के, गुणान् = सद्गुणों को, किमर्थम्=किसलिये, कथयसि = कह रही हो ? हि=क्योंकि, इदम्=यह, कुत्सित

तथापि नीतिविरुद्धमेतत् । अन्य उपायश्चिन्त्यताम् ।

मदनिका—सा अअ अवरो उवाओ । (सोऽयमपर उपायः ।)

वसन्तसेना—को क्खु अवरो उवाओ हुविस्सदि ? (कः खलु अपर उपायो भविष्यति ?)

कर्म=निन्दित चोरी का कार्य ही, वा=निश्चित रूप से, मम=मुझ शर्विलक की, लज्जाम्=लाज को, जनयति=उत्पन्न कर रहा है । (अर्थात् चोरी करने से ही मुझे लज्जा हो रही है ।) इह=इस विषय में, नृपतिः=राजा, मादृशाम्=हमारे जैसे, शठानाम्=धूर्तों का, किम् नु=क्या, कुर्यात्=कर सकेगा ? ।। २० ।

अर्थ—शर्विलक—मदनिके !

इस दुस्साहसिक (चोरी के) कार्य में, सचमुच, न तो किसी प्रकार का खेद (पश्चात्ताप) है और न (राजा के दण्ड का) भय है । इस स्थिति में तुम उन सज्जन चारुदत्त के गुणों का वर्णन क्यों कर रही हो ? क्योंकि यह चोरी करना कुत्सित कार्य ही मेरी लज्जा उत्पन्न कर रहा है । इस विषय में मेरे जैसे धूर्तों का राजा क्या कर सकता है ? अर्थात् कुछ नहीं कर सकता है ।। २० ।।

टीका—आत्मनः सामर्थ्यं प्रकटयन् मदनिकायाः, वचनं नीतिरुिद्धं प्रतिपादयन्नाह—न खल्विति । अस्मिन्=उपस्थिते, साहसे=चौर्यरूपे साहसकर्मणि, मम=शर्विलकस्य, विषादः = खेदः, पश्चात्तापो वा, न खलु = नैवास्ति, त्वम्=मदनिका, साधोः = सज्जनस्य, तस्य = चारुदत्तस्य, गुणान् = दयादाक्षिण्यादीन्, किमर्थम्=किन्निमित्तम्, कथयसि=वर्णयसि ? हि=अवधारणे, वा=अथवा, इदम्=मयाचरितम्, इदम्, कुत्सितम्=निन्दितम्, कर्म = चौर्यम्, मम=शर्विलकस्य, लज्जाम्=ह्रियम्, जनयति = उत्पादयति, इह = अस्मिन् विषये, नगरे वा, नृपतिः = राजा, मादृशाम्=मादृशानाम्, शठानाम्=धूर्तानाम्, किम् नु, कुर्यात्=किं कर्तुं शक्नुयात्, न किमपीत्यर्थः । काव्यलिङ्गमलंकारः, मालिनी वृत्तम् ।। २० ।।

विमर्श—साहसे—सहसा = बलेन, अविचारेण वा कृतम्—साहसम् = चौर्यादिकम्, तत्र । विषादः=खेद, पश्चात्ताप । इह=इस नगर में, इस विषय में । यहाँ काव्यलिङ्ग अलंकार और मालिनी छन्द है ।। २० ।।

अर्थ—फिर भी यह [चोरों की] नीति [सिद्धान्त] के विरुद्ध है । कोई दूसरा उपाय सोचो ।

मदनिका—तो फिर यह दूसरा उपाय है ।

वसन्तसेना—दूसरा उपाय क्या होगा ?

मदनिका—तस्स ज्जेव अज्जस्स केरओ भविअ एदं अलङ्कारअं अज्ज-आए उवणेहि । (तस्यैव आर्य्यस्य सम्बन्धी भूत्वा एतमलङ्कारकमार्य्याया उपनय ।)

शर्विलकः—एवं कृते किं भवति ?

मदनिका—तुम दाव अचोरो, सो वि अज्जो अरिणो, अज्जआए सकं अलङ्कारअं उवगदं भोदि । (त्वं तावदचौरः, सोऽपि आर्य्यः अनृणः, आर्य्यायाः स्वकः अलङ्कारक उपगतो भवति ।)

शर्विलकः—ननु ! अतिसाहसमेतत् ।

मदनिका—अइ ! उवणेहि । अण्णधा अदिसाहसं । (अयि ! उपनय । अन्यथा अतिसाहसम् ।)

वसन्तसेना—साहु मदणिए ! साहु । अभुजिस्सए विअ मन्तिदं । (साधु, मदनिके ! साधु ! अभुजिष्ययेव मन्त्रितम् ।)

शर्विलकः—मयाप्ता महती बुद्धिर्भवतीमनुगच्छता ।
निशायां नष्टचन्द्रायां दुर्लभो मार्गदर्शकः ॥ २१ ॥

मदनिका—उन आर्य चारुदत्त का ही सम्बन्धी बनकर इस अलंकार-समुदाय को आर्या [वसन्तसेना] के पास ले जाओ ।

शर्विलक—ऐसा करने पर क्या होगा ?

मदनिका—पहली बात, तुम चोर नहीं रहोगे, [दूसरी बात] वे आर्य भी उऋण [धरोहर वापस करने वाले] हो जायेंगे और [तीसरी बात] आर्या वसन्तसेना को अपने आभूषण प्राप्त हो जायेगें ।

शर्विलक—यह तो अतिदुःसाहस होगा ।

मदनिका—अरे ले जाओ । अन्यथा [न ले जाने पर ही] अतिदुःसाहस [की बात] है ।

वसन्तसेना—वाह मदनिके ! वाह ! विवाहिता स्त्री के समान सलाह दी है ।

अन्वयः—भवतीम्, अनुगच्छता, मया, महती, बुद्धिः, आप्ता, नष्टचन्द्रायाम्, निशायाम्, मार्गदर्शकः, दुर्लभः [भवति] ॥ २१ ॥

शब्दार्थ—भवतीम्=आप मदनिका का, अनुगच्छता=अनुसरण करते हुये, मया=मुझ शर्विलक ने, महती=बड़ी, बुद्धिः=बुद्धि, सूझबूझ, प्राप्ता=प्राप्त कर ली है; नष्टचन्द्रायाम्=चन्द्रमा से रहित, निशायाम्=रात में, मार्गदर्शकः=राह दिखाने वाला, दुर्लभः=मिलना कठिन [होता] है ॥ २१ ॥

अर्थ—तुम्हारा अनुसरण करते हुये मुझ शर्विलक ने बहुत बड़ी बुद्धि=सूझ बूझ प्राप्त की है । चन्द्रमा [के प्रकाश] से रहित रात में राह दिखाने वाला कष्ट से प्राप्त होता है ॥ २१ ॥

मदनिका—**तेण हि तुमं इमस्सिं कामदेवगेहे मुहुत्तअं चिट्ठ, जाव अज्जआए तुह आगमणं णिवेदेमि।** (तेन हि त्वमस्मिन् कामदेवगेहे मुहूर्त्तकं तिष्ठ, यावदार्यायै तवागमनं निवेदयामि।)

शर्विलकः—**एवं भवतु।**

मदनिका—(उपसृत्य) **अज्जए! एसो क्खु चारुदत्तस्स सआसादो बह्मणो आअदो।** (आर्ये! एष खलु चारुदत्तस्य सकाशात् ब्राह्मणः आगतः।)

वसन्तसेना—**हञ्जे! तस्स केरअ त्ति कधं तुमं जाणासि?** (हञ्जे! तस्य सम्बन्धीति कथं त्वं जानासि?)

मदनिका—**अज्जए! अत्तणकेरअं वि ण जानामि?।** (आर्य्ये! आत्मसम्बन्धिनमपि न जानामि?)

वसन्तसेना—(स्वगतं। सशिरःकम्पं विहस्य) **जुज्जदि।** (प्रकाशम्) **पविसदु।** (युज्यते। प्रविशतु)

टीका—मदनिकया पुनः प्रदर्शितस्य उपायस्य महत्त्वं स्वीकुर्वन् शर्विलकः तामेव प्रशंसन्नाह–मयेति। भवतीम्=मदनिकाम्, अनुगच्छता=अनुसरता सता, मया=शर्विलकेन, महती=उत्कृष्टा, बुद्धिः=ज्ञानम्, चातुर्यं वा, आप्ता=प्राप्ता; नष्टचन्द्रायाम्=लुप्तचन्द्रायाम् निशायाम्=रजन्याम्, मार्गदर्शकः=सत्पथप्रदर्शकः, दुर्लभः=दुष्प्रापः, भवति। अत्र भाग्यवशात् भवती मम मार्गदर्शिका जातेति भावः। अत्र वैधर्म्येण साम्यस्य गम्यतया दृष्टान्तालङ्कार इति बोध्यम्। अर्थान्तरन्यास इत्यपि केचित्। पथ्यावक्त्रं वृत्तम्॥ २१॥

विमर्श—यहाँ मदनिका के बुद्धिकौशल की प्रशंसा करता हुआ शर्विलक उसे अपनी ओर और अधिक आकृष्ट करना चाहता है॥ २१॥

अर्थ—**मदनिका**—इस लिये तुम इस कामदेवगृह में कुछ देर के लिये ठहरो। तब तक मैं तुम्हारे आगमन की सूचना आर्या [वसन्ततिलका] को दे आती हूँ।

शर्विलक—ऐसा ही हो।

मदनिका—[वसन्तसेना के] (पास जाकर) आर्ये! आर्य चारुदत्त के पास से यह ब्राह्मण आया है।

वसन्तसेना—सखि! तुम कैसे जानती हो कि उन [आर्य चारुदत्त] का सम्बन्धी है?

मदनिका—आर्ये! अपने सम्बन्धीजन को भी नहीं पहचानूँगी?

वसन्तसेना—[अपने में, सिर हिलाकर हँसती हुई) ठीक है। (**प्रकटरूप से**) उन्हें आने दो।

मदनिका—जं अज्जआ आणवेदि । (उपगम्य) पविसदु सव्विलओ । (यदार्य्या आज्ञापयति । प्रविशतु शर्विलकः ।)

शर्विलकः—(उपसृत्य । सवैलक्ष्यम्) स्वस्ति भवत्यै ।

वसन्तसेना—अज्ज ! वन्दामि ! उवविसदु अज्जो । (आर्य ! वन्दे । उपविशतु आर्यः ।)

शर्विलकः—सार्थवाहस्त्वां विज्ञापयति—जर्जरत्वाद् गृहस्य दूरक्ष्यमिदं भाण्डम्, तद् गृह्यताम् । (इति मदनिकायाः समर्प्य प्रस्थितः ।)

वसन्तसेना—अज्ज ! ममावि दाव पड़िसन्देसं तहिं अज्जो णेदु । (आर्य ! ममापि तावत् प्रतिसन्देशं तत्रार्य्यो नयतु ।)

शर्विलकः—(स्वगतम्) कस्तत्र यास्यति ? (प्रकाशम्) कः प्रतिसन्देशः ?

वसन्तसेना—पड़िच्छदु अज्जो मदणिअं । (प्रतीच्छतु आर्यो मदनिकाम् ।)

शर्विलक—भवति ! न खल्ववगच्छामि ।

वसन्तसेना—अहं अवगच्छामि । (अहमवगच्छामि ।)

शर्विलकः—कथमिव ? ।

वसन्तसेना—अहं अज्जचारुदत्तेण भणिदा—'जो इमं अलङ्कारअं समप्पइस्सदि, तस्स तुए मदणिआ दादव्वा ।' ता सो ज्जेव एदं दे देदित्ति एव्वं अज्जेंण अवगच्छिदव्वं । (अहमार्य्यचारुदत्तेन भणिता—य इममलङ्कारकं

मदनिका—आपकी जो आज्ञा । (जाकर) शर्बिलक ! अन्दर चलिये ।

शर्विलक—(आकर, लज्जाजनितव्यग्रता से) आपका कल्याण हो ।

वसन्तसेना—आर्य ! प्रणाम करती हूँ । श्रीमान् बैठिये ।

शर्विलक—सार्थवाह (चारुदत्त) आप से निवेदन करते हैं—घर जीर्ण होने के कारण इस स्वर्णाभूषणभाण्ड की सुरक्षा कठिन हो गयी है, अतः इसे ले लीजिये । (इस प्रकार मदनिका को देकर चल देता है ।)

वसन्तसेना—आर्य ! मेरा भी प्रतिसन्देश उनके पास ले जाइये ।

शर्विलक—(स्वगत) वहाँ कौन जायगा ? (प्रकाश) क्या प्रतिसन्देश है ?

वसन्तसेना—आप मदनिका को स्वीकार करें ।

शर्विलक—आर्ये ! [आपका तात्पर्य] मैं नहीं समझ पा रहा हूँ ।

वसन्तसेना—मैं समझ रही हूँ ।

शर्विलक—किस प्रकार ?

वसन्तसेना—'आर्य चारुदत्त ने मुझसे कहा था—'जो इस आभूषणसमुदाय को वापस लौटाये, उसको तुम [वसन्तसेना] मदनिका दे देना ।' इस प्रकार

समर्पयिष्यति, तस्य त्वया मदनिका दातव्या' तत् स एव एतां ते ददातीति एवमार्य्येण अवगन्तव्यम् ।)

शर्विलकः—(स्वगतम्) अये ! विज्ञातोऽहमनया । (प्रकाशम्) साधु, आर्यचारुदत्त ! साधु ।

गुणेष्वेव हि कर्त्तव्यः प्रयत्नः पुरुषैः सदा ।
गुणयुक्तो दरिद्रोऽपि नेश्वरैरगुणैः समः ॥ २२ ॥

अपि च—

गुणेषु यत्नः पुरुषेण कार्यो न किञ्चिदप्राप्यतमं गुणानाम् ।
गुणप्रकर्षादुडुपेन शम्भोरलङ्घ्यमुल्लङ्घितमुत्तमाङ्गम् ॥ २३ ॥

वे [चारुदत्त] ही आपको मदनिका दे रहे हैं—इस प्रकार आपको समझ लेना चाहिये ।

शर्विलक—(मन में) क्या इसने मुझे पहचान लिया ? (प्रकट में) धन्य हो आर्य चारुदत्त ! धन्य हो !

अन्वयः—पुरुषैः, सदा, गुणेषु, एव, प्रयत्नः कर्तव्यः, हि, गुणयुक्तः, दरिद्रः, अपि, अगुणैः, ईश्वरैः, समः, न, भवति ॥ २२ ॥

शब्दार्थ—पुरुषैः=लोगों के द्वारा, सदा=सर्वदा, गुणेषु=गुणों के विषय में, एव=ही, प्रयत्नः=उद्योग, कर्त्तव्यः=करना चाहिये, हि=क्योंकि, गुणवान्=गुणी, दरिद्रः=निर्धनः, अपि=भी, अगुणैः=गुणहीन, ईश्वरैः=धनियों के, समः=बराबर, न=नहीं, भवति=होता है ॥ २२ ॥

अर्थ—लोगों को सदैव गुणों के विषय में [उनकी प्राप्ति के लिये] ही प्रयास करना चाहिये, क्योंकि गुणवान् निर्धन व्यक्ति भी गुणहीन धनियों के बराबर नहीं होता, अर्थात् उनसे श्रेष्ठ ही रहता है ॥ २२ ॥

टीका—गुणवता चारुदत्तेन पूर्वमेव विहितां स्वाभीष्टसिद्धिं शृण्वन् हृष्टः शर्विलकः चारुदत्तं प्रशंसति—गुणेष्वेवेति । पुरुषैः = सर्वैः जनैः, सदा = सर्वदा, गुणेषु = दयादाक्षिण्यादिषु, विषयसप्तमी, निमित्तसप्तमी वेति बोध्यम्, एव= निश्चयेन, प्रयत्नः=प्रयासः, कर्तव्यः=विधेयः, हि=यतः, गुणयुक्तः=गुणी, दरिद्रः= निर्धनः, अपि, अगुणैः=गुणहीनैः, ईश्वरैः=धनिकैः, समः=तुल्यः, न=नैव, भवति= जायते, गुणी निर्धनोऽपि धनिकात् निर्गुणात् प्रशस्यतर इति भावः । अत्र कारणेन कार्यसमर्थनरूपोऽर्थान्तरन्यासोलंकारः । अनुष्टुप् वृत्तम् ॥ २२ ॥

विमर्शः—निर्धन होते हुये भी गुणों के कारण चारुदत्त की श्रेष्ठता ही है । अतः धन की अपेक्षा गुणों की प्राप्ति में प्रयास करना उचित है ॥ २२ ॥

अन्वयः—पुरुषेण, गुणेषु, यत्नः, कार्यं, गुणानाम्, किञ्चित्, अपि, अप्राप्य-

वसन्तसेना—को एत्थ पवहणिओ । (कोऽत्र प्रवहणिकः ?)

(प्रविश्य सप्रवहणः)

तमम्, न, [भवति], उडुपेन, शम्भोः, अलङ्घ्यम्, उत्तमाङ्गम्, गुणप्रकर्षात्, लङ्घितम् ।। २३ ।।

शब्दार्थः—पुरुषेण=पुरुष के द्वारा, गुणेषु=दयादाक्षिण्य आदि गुणों के विषय में, यत्नः=प्रयास, कार्यः=किया जाना चाहिये, (पुरुष को गुणों के विषय में प्रयास करना चाहिये ।) गुणानाम्=दया दाक्षिण्यादि गुणों को, किञ्चित्=कुछ, अपि=भी, वस्तु, अप्राप्यतमम्=दुर्लभ, (प्राप्त करना कठिन), न=नहीं, (भवति=होती है), उडुपेन=चन्द्रमा ने. शम्भोः=शंकर के, अलङ्घ्यम्=न उल्लङ्घनयोग्य, उत्तमाङ्गम्=मस्तक को, गुणप्रकर्षात्=गुणों के अतिशय (महत्त्व) के कारण, लङ्घितम्=लांघ लिया, उसके ऊपर स्थित हो गया ।। २३ ।।

अर्थ—और भी,

पुरुष को (दया दाक्षिण्यादि) गुणों के विषय में प्रयास करना चाहिये, क्योंकि गुणों को कोई भी वस्तु प्राप्त करना कठिन नहीं है, चन्द्रमा ने शंकर के अलंघनीय मस्तक को गुणों के प्रकर्ष के कारण ही लांघ लिया, अर्थात् उसके ऊपर स्थित हो गया ।। २३ ।।

टीका—चारुदत्तस्य गुणवत्तामेव प्रदर्शयन्नाह —गुणेष्विति । पुरुषेण=जनेन, गुणेषु=दयादाक्षिण्यादिषु, विषयसप्तमी चैषा, यत्नः=प्रयासः; कार्यः=करणीयः, गुणानाम्=दया-दाक्षिण्यादीनाम्, कर्तरि षष्ठीति बोध्यम्, किञ्चित् अपि=किमपि वस्तु, अप्राप्यतमम्=अतिदुष्प्रापम् न=नैव, (भवति=विद्यते); उडुपेन=तारापतिना, चन्द्रेणेत्यर्थः, कर्तरि तृतीया, शम्भोः=शङ्करस्य, अलङ्घ्यम्=केनापि अलङ्घनीयम् उत्तमाङ्गम् = 'उत्तमाङ्गं शिरः शीर्षम् इत्यमरः गुणप्रकर्षात् = गुणातिशयादेव, लङ्घितम् = उल्लङ्घ्य तदुपरि स्थितमिति भावः । अस्मिन् श्लोके गुणप्रकर्षात् चन्द्रकर्तृकशिरोलंघनरूपेण विशेषेण गुणवतः पुरुषस्य सकलकार्यक्षमत्वरूपस्य सामान्यस्य समर्थनात् विशेषेण सामान्यस्य समर्थनरूपोऽर्थान्तरन्यासोलङ्कारः । उपेन्द्रवज्रा वृत्तम् ।। २३ ।।

विमर्श—भगवान् शंकर सर्वोपरि हैं । उनके अंगों में मस्तक सर्वोपरि है । किन्तु चन्द्रमा उस मस्तक के भी ऊपर बैठा है । इसमें चन्द्रमा के गुणों का प्रकर्ष ही कारण है । अतः गुणीजन की श्रेष्ठता स्पष्ट है । यहाँ विशेष के द्वारा सामान्य का समर्थन होने से अर्थान्तरन्यास अलङ्कार है ।। २३ ।।

अर्थ—

वसन्तसेना—यहाँ कोई गाड़ीवान है ?

(गाड़ी के साथ प्रवेश करके)

चेटः—अज्जए ! सज्जं पवहणं । (आर्ये ! सज्जं प्रवहणम् ।)

वसन्तसेना—हञ्जे मदणिए ! सुदिट्ठं मं करेहि । दिण्णासि । आरुह पवहणं । सुमरेसि मं । (हञ्जे मदनिके ! सुदृष्टां मां कुरु । दत्ताऽसि । आरोह प्रवहणम् । स्मरसि माम् ।)

मदनिका—(रुदती) परिच्चत्तेम्हि अज्जआए । (परित्यक्ताऽस्मि आर्य्यया ।) (इति पादयोः पतति ।)

वसन्तसेना—सम्पदं तुमं ज्जेव वन्दणीआ संवुत्ता । ता गच्छ, आरुह पवहणं । सुमरेसि मं । (साम्प्रतं त्वमेव वन्दनीया संवृत्ता । तद् गच्छ, आरोह प्रवहणम्, स्मरसि माम्)

शर्विलकः—स्वस्ति भवत्यै । मदनिके !

सुदृष्टः क्रियतामेष शिरसा वन्द्यतां जनः ।
यत्र ते दुर्लभं प्राप्तं वधूशब्दावगुण्ठनम् ॥ २४ ॥

चेट—आर्ये ! गाड़ी तैयार है ।

वसन्तसेना—सखी मदनिके ! मुझे अच्छी प्रकार देख लेने दो । तुम (शर्विलक को) समर्पित की जा चुकी हो । गाड़ी पर सवार हो जाओ । मुझे याद रखना ।

मदनिका—(रोती हुई) आपने मुझे छोड़ दिया । (इस प्रकार पैरों पर गिर पड़ती है ।)

वसन्तसेना—इस समय तुम्हीं पूजनीया हो गई हो । अतः जाओ, गाड़ी पर सवार हो जाओ । मुझे याद रखना ।

शर्विलक—(वसन्तसेना जी !) आप का कल्याण हो ।

अन्वयः—मदनिके !, एषः, जनः, सुदृष्टः, क्रियताम्, (तथा) शिरसा, वन्द्यताम्; यत्र, ते, दुर्लभम्, वधूशब्दावगुण्ठनम्, प्राप्तम् ॥ २४ ॥

शब्दार्थ—मदनिके ! एषः=यह (वसन्तसेना), जनः=व्यक्ति, सुदृष्टः=अच्छी प्रकार देखा गया, क्रियताम्=कर दिया जाय, (तथा=और) शिरसा=मस्तक से, वन्द्यताम्=बन्दना की जाय अर्थात् इनका दर्शन अच्छी प्रकार से करो और इन्हें शिर झुका कर प्रणाम करो । यत्र=जिसके कारण अथवा जिसके अनुकम्पायुक्त होने पर, ते=तुमको, दुर्लभम्=दुर्लभ, वधूशब्दावगुण्ठनम्=वधू-विवाहित स्त्री शब्दरूपी घूंघट, प्राप्तम्=प्राप्त हो सका ॥ २४ ॥

अर्थ—मदनिके ! इन [वसन्तसेना जी] का दर्शन अच्छी प्रकार से करो (और) शिर से प्रणाम करो । इनके कारण [अथवा इनके अनुकम्पायुक्त होने पर ही] तुमको दुर्लभ वधू (विवाहित स्त्री)-शब्दरूपी घूंघट प्राप्त हो सका ॥२४॥

(इति मदनिकया सह प्रवहणमारुह्य गन्तुं प्रवृत्तः ।)

(नेपथ्ये) कः कोऽत्र भोः ! राष्ट्रियः समाज्ञापयति—'एष खलु आर्य्यको गोपालदारको राजा भविष्यती'ति सिद्धादेशप्रत्ययपरित्रस्तेन पालकेन राज्ञा घोषादानीय घोरे बन्धनागारे बद्धः। ततः स्वेषु स्वेषु स्थानेषु अप्रमत्तैर्भवद्भिर्भवितव्यम्।

टीका—वसन्तसेनायाः अनुकम्पातः प्राप्ताभीष्टः शर्विलकः तां प्रति कृतज्ञत्वं विज्ञापयितुं मदनिकामादिशन्नाह—सुदृष्ट इति। मदनिके ! एषः=पुरः स्थितः, जनः=वसन्तसेनारूपः, सुदृष्टः = शोभनावलोकितः, क्रियताम्=विधीयताम्; तथा, शिरसा = मस्तकेन, मस्तकनमनपूर्वमित्यर्थः, वन्द्यताम् = अभिवाद्यताम्। यत्र= यस्मिन् जने अनुकम्पमाने सति, हेतौ आधारविवक्षायां वा सप्तमी बोध्या, ते=तव (कर्तरि षष्ठी), मदनिकायाः इत्यर्थः, दुर्लभम्=वेश्यादासीत्वेन दुर्लभम्, वधूशब्दावगुण्ठनम् = वधूशब्दवाच्यरूपम् एव अवगुण्ठनम् = आवरणम्, वधूशब्देन सह अवगुण्ठनम् वधूशब्दः अवगुण्ठनञ्चैतद् द्वयमित्यभिप्रायः। एवञ्च ते सामाजिकी प्रतिष्ठा सञ्जातेति कृतज्ञतां प्रदर्शयेति भावः। अत्र पूर्वार्द्धगतवाक्यार्थं प्रति परार्द्धगत-वाक्यार्थस्य हेतुतया काव्यलिङ्गमलङ्कारः। पथ्यावक्त्रं वृत्तम् ॥ २४ ॥

विमर्श—सामान्यरूप से दासीत्व से मुक्ति पाना कठिन है और उस पर भी वधू=विवाहित पत्नी का पद प्राप्त करना और भी कठिन है। परन्तु वसन्तसेना की कृपा से यह सम्भव हो सका है। अतः उसके प्रति कृतज्ञता व्यक्त करना अत्यन्त आवश्यक है। वधू बन जाने के बाद वेश्या वसन्तसेना के घर आना समाजविरुद्ध है। अतः उस उपकारिका का भलीभाँति दर्शन और प्रणाम करने के लिये शर्विलक का कहना सर्वथा उचित है। पूर्व के वाक्यार्थ के प्रति उत्तरार्ध वाक्यार्थ हेतु है। अतः काव्यलिङ्ग अलंकार और पथ्यावक्त्र छन्द है ॥ २४ ॥

(इस प्रकार मदनिका के साथ गाड़ी पर चढ़ कर चलने लगता है।)

अर्थ (नेपथ्य में) अरे यहाँ कौन कौन है ? राष्ट्रीय (राजा का शाला शकार अथवा रापुरुष) यह सूचित करते हैं—'यह गोपालदारक (अहीर का लड़का) राजा होगा'—इस प्रकार के किसी सिद्ध पुरुष के वचन पर विश्वास करने से घबड़ाये हुये राजा पालक ने घोष (अहीरों की वस्ती) से लाकर कठोर जेलखाने में बन्द कर रखा है। इस लिये सभी (पहरेदारों) को अपने अपने स्थानों पर सावधान हो जाना चाहिये।

टीका—राष्ट्रियः = राजश्यालकः अथवा राष्ट्ररक्षायां नियुक्तोऽधिकारी। 'राष्ट्रावारपाराद्घखौ' इति घ—प्रत्ययः। गोपालस्य=आभीरकस्य, दारकः=पुत्रः, सिद्धस्य=सिद्धिमत ऋषेः, आदेशे=कथने, भविष्यद्वाण्यामिति भावः, यः प्रत्ययः=

शर्विलकः—(आकर्ण्य) कथं राज्ञा पालकेन प्रियसुहृदार्यको मे बद्धः। कलत्रवांश्चास्मि संवृत्तः। आः, कष्टम्। अथवा—

द्वयमिदमतीव लोके प्रियं नराणां सुहृच्च वनिता च।
सम्प्रति तु सुन्दरीणां शतादपि सुहृद्विशिष्टतमः ॥ २५ ॥

विश्वासः, तेन त्रस्तः = भीतः, तेन, घोषः = आभीरपल्ली, तस्मात्। अप्रमत्तैः= सावधानैः, स्थानेषु=पदेषु कर्त्तव्येषु वा।

अर्थ—

शर्विलक—(सुनकर) क्या राजा पालक ने मेरे प्रिय मित्र आर्यक को जेल में बन्द कर दिया हैं? इधर मैं स्त्रीवाला हो गया हूँ। ओह ! कष्ट है।

अन्वयः—लोके, सुहृत्, वनिता, च, इदम्, द्वयम्, नराणाम्, अतीव, प्रियम्, तु, सम्प्रति, सुन्दरीणाम्, शतात्, अपि, सुहृत्, विशिष्टतमः, (अस्ति) ॥ २५ ॥

शब्दार्थ—लोके=संसार में, सुहृत् = मित्र, च=और, वनिता=स्त्री, इदम्=ये, द्वयम्=दोनों, नराणाम्=लोगों की, अतीव=बहुत अधिक, प्रियम्=प्रिय (होती हैं); तु=किन्तु, सम्प्रति=इस समय, सुन्दरीणाम्=सुन्दर स्त्रियों के, शतात्=सौ से, अपि=भी अर्थात् सैकड़ों सुन्दर स्त्रियों से भी, सुहृत्=मित्र, विशिष्टतमः=श्रेष्ठ, सबसे प्रिय, (अस्ति=है) ॥ २५ ॥

अर्थ—अथवा, इस संसार में मित्र और स्त्री ये दो वस्तुये लोगों को सबसे अधिक प्रिय होती हैं। किन्तु इस समय सैकड़ों सुन्दर स्त्रियों से भी मित्र अधिक प्रिय है अर्थात् मित्र की उपेक्षा नहीं कर सकता हूँ ॥ २५ ॥

टीका—सुहृत्कलत्रयोरुभयोरेव प्रियतमत्वेऽपि कलत्रापेक्षया सुहृद एव प्रियतमत्वमधिकमिति प्रतिपादयन्नाह—द्वयमिति। लोके=संसारे, सुहृत्=मित्रम्, वनिता=प्रेयसी स्त्री, च, इदम्=एतद्द्वयम्, अतीव = अत्यधिकम्, प्रियम्=प्रीतिकरम्, भवति; तु = किन्तु, सम्प्रति = इदानीं सकलत्रतावस्थायाम्, सुन्दरीणाम्= स्त्रीणाम्, शतात्=शतसंख्यायाः, अपि, सुहृत्=मित्रम्, विशिष्टतमः=अधिकप्रिय इत्यर्थः। विपत्तिकाले स्त्रियमुपेक्ष्यापि मित्रस्य साहाय्यं कार्यमिति भावः। अत्र द्वयोर्मध्ये प्रकर्षकथने तरप्प्रत्ययस्यैवौचित्यम्। अत्र 'आश्रयो' नाम नाट्यालङ्कार इति जीवानन्दः। आर्या वृत्तम् ॥ २५ ॥

विमर्श—मित्र और स्त्री में विपत्ति के समय मित्र की सहायता करनी उचित हैं। यहाँ मित्रता का उत्कृष्टत्व माना है। विशिष्टतमः—यहाँ तमप् की अपेक्षा तरप् प्रत्यय उचित है, क्योंकि दो में ही एक का प्रकर्ष निर्धारित करना है ॥ २५ ॥

भवतु, अवतरामि । (इत्यवरति ।)

मदनिका——(सास्रमञ्जलिं बद्ध्वा) एव्वं णेदं । ता परं णेदु मं अज्जउत्तो समीवं गुरुअणाणं । (एवं न्विदम् । तत्परं नयतु मामार्यपुत्रः समीपं गुरुजनानाम् ।)

शर्विलकः——साधु, प्रिये ! साधु । अस्मच्चित्तसदृशमभिहितम् । (चेटमुद्दिश्य) भद्र ! जानीषे रेभिलस्य सार्थवाहस्य उदवसितम् ?

चेटः——अध इं । (अथ किम् ।)

शर्विलकः——तत्र प्रापय प्रियाम् ।

चेटः—जं अज्जो आणवेदि । (यदार्यं याज्ञापयति ।)

मदनिका—जधा अज्जउत्तो भणादि अप्पमत्तेण दाव अज्जउत्तेण होदव्वं । (यथा आर्यपुत्रो भणति, अप्रमत्तेन तावदार्यपुत्रेण भवितव्यम् ।) (इति निष्क्रान्ता ।)

शर्विलकः अहमिदानीम्—

ज्ञातीन् विटान् स्वभुजविक्रमलब्धवर्णान्
राजापमानकुपितांश्च नरेन्द्रभृत्यान् ।
उत्तेजयामि सुहृदः परिमोक्षणाय
यौगन्धरायण इवोदयनस्य राज्ञः ।। २६ ।।

अर्थ——अच्छा, उतरता हूँ । (इस प्रकार उतरता है ।)

मदनिका——(आँसू भरी आखों के साथ हाथ जोड़कर) यह ऐसा ही उचित है । तो आर्यपुत्र मुझे गुरुजनों (परिवार के बड़े लोगों) के समीप ले चलें ।

शर्विलक——वाह ! प्रिये वाह ! मेरे मन के अनुसार ही तुमने कहा है । (चेट को लक्षित करके) श्रीमन् ! सार्थवाह (श्रेष्ठ व्यापारी) रेभिल का आवास (घर) जानते हो ?

चेट——और क्या ?

शर्विलक—तो प्रिया (मदनिका) को वहाँ पहुँचा दो ।

चेट —आपकी जो आज्ञा ।

मदनिका—जैसा आप कहते हैं, आर्यपुत्र आप को सावधान रहना चाहिये । (इस प्रकार निकल जाती है ।)

अन्वयः—उदयनस्य, राज्ञः, यौगन्धरायणः, इव, सुहृदः, परिमोक्षणाय, (अहम्), ज्ञातीन्, विटान्, स्वभुजविक्रमलब्धवर्णान्, राजापमानकुपितान्, नरेन्द्रभृत्यान्, च, उत्तेजयामि ।। २६ ।।

भवतु, अवतरामि । (इत्यवरति ।)

मदनिका—(सास्रमञ्जलिं बद्ध्वा) एव्वं णेदं । ता परं णेदु मं अज्जउत्तो समीवं गुरुअआणं । (एवं न्विदम् । तत्परं नयतु मामार्यपुत्रः समीपं गुरुजनानाम् ।)

शर्विलकः—साधु, प्रिये ! साधु । अस्मच्चित्तसदृशमभिहितम् । (चेटमुदिश्य) भद्र ! जानीषे रेभिलस्य सार्थवाहस्य उदवसितम् ?

चेटः—अध इं । (अथ किम् ।)

शर्विलकः—तत्र प्रापय प्रियाम् ।

चेटः—जं अज्जो आणवेदि । (यदार्य याज्ञापयति ।)

मदनिका—जधा अज्जउत्तो भणादि अप्पमत्तेण दाव अज्जउत्तेण होदव्वं । (यथा आर्यपुत्रो भणति, अप्रमत्तेन तावदार्यपुत्रेण भवितव्यम् ।) (इति निष्क्रान्ता ।)

शर्विलकः अहमिदानीम्—

ज्ञातीन् विटान् स्वभुजविक्रमलब्धवर्णान्
राजापमानकुपितांश्च नरेन्द्रभृत्यान् ।
उत्तेजयामि सुहृदः परिमोक्षणाय
यौगन्धरायण इवोदयनस्य राज्ञः ॥ २६ ॥

अर्थ—अच्छा, उतरता हूँ । (इस प्रकार उतरता है ।)

मदनिका—(आँसू भरी आखों के साथ हाथ जोड़कर) यह ऐसा ही उचित है । तो आर्यपुत्र मुझे गुरुजनों (परिवार के बड़े लोगों) के समीप ले चलें ।

शर्विलक—वाह ! प्रिये वाह ! मेरे मन के अनुसार ही तुमने कहा है । (चेट को लक्षित करके) श्रीमन् ! सार्थवाह (श्रेष्ठ व्यापारी) रेभिल का आवास (घर) जानते हो ?

चेट—और क्या ?

शर्विलक—तो प्रिया (मदनिका) को वहाँ पहुँचा दो ।

चेट—आपकी जो आज्ञा ।

मदनिका—जैसा आप कहते हैं, आर्यपुत्र आप को सावधान रहना चाहिये । (इस प्रकार निकल जाती है ।)

अन्वयः—उदयनस्य, राज्ञः, यौगन्धरायणः, इव, सुहृदः, परिमोक्षणाय, (अहम्), ज्ञातीन्, विटान्, स्वभुजविक्रमलब्धवर्णान्, राजापमानकुपितान्, नरेन्द्रभृत्यान्, च, उत्तेजयामि ॥ २६ ॥

शब्दार्थ—उदयनस्य=उदयन=वत्सराज, राज्ञः=राजा के (छुड़ाने के लिये), यौगन्धरायण=यौगन्धरायण (नामक महामात्य) के, इव=समान, सुहृदः=मित्र आर्यक की, परिमोक्षणाय=मुक्ति के लिये (अहम्=मैं शर्विलक), ज्ञातीन्=कुल के बन्धु बान्धवों, विटान्=विटों, धूर्तों को, स्वभुजविक्रमलब्धवर्णान्=अपनी बाहुओं के पराक्रम से यश प्राप्त करने वालों को, च=और, राजापमानकुपितान्=राजा द्वारा किये गये अपमान से क्रुद्ध, नरेन्द्रभृत्यान्=राजा के कर्मचारियों को, उत्तेजयामि=उत्तेजित करता हूँ, राजा के विरुद्ध तैयार करता हूँ, उकसाता हूँ ॥ २६ ॥

अर्थ—**शर्विलक**—मैं इस समय—

उदयन (वत्सराज) नामक राजा की (मुक्ति के लिये) यौगन्धरायण (उनके महामात्य) के समान (मैं शर्विलक) मित्र आर्यक को छुड़ाने के लिये (राजा पालक के) बन्धुओं, अपनी भुजाओं के पराक्रम से यश प्राप्त करने वालों, और राजा द्वारा किये गये अपमान से क्रुद्ध कर्मचारियों को (राजा के विरुद्ध) उत्तेजित करता हूँ, उकसाता हूँ ॥ २६ ॥

टीका—सुहृद्बन्धनमाकर्ण्य शर्विलकस्तन्मोक्षोपायं निर्धारयन्नाह—ज्ञातीनिति। उदयनस्य=उदयनेति नाम्ना प्रसिद्धस्य, राज्ञः=नृपस्य, वत्सराजस्येत्यर्थः, (मोक्षणाय) यौगन्धरायणः=तन्नाम्ना प्रसिद्धः प्रधानामात्यः, इव, सुहृदः=मित्रस्य, आर्यकस्येत्यर्थः, परिमोक्षणाय = कारागारात् मोचनार्थम्, ज्ञातीन् = बान्धवान्, विटान्=धूर्तान्, स्वभुजविक्रमलब्धवर्णान्=निजबाहूनां पराक्रमेण लब्धः=प्राप्तः, वर्णः=यशः यैस्तान् 'वर्णो द्विजातिशुक्लादियशोगुणकथासु च'त्यमरः; अथवा स्वभुजविक्रमेण=स्वबाहुविक्रमप्रकाशेन, लब्धवर्णान्=विचक्षणान् 'लब्धवर्णो विचक्षणः' इत्यमरः, राजापमानकुपितान्=राज्ञः पालकस्य अवमानेन क्रुद्धान्, कर्तरि षष्ठी, पालककृतावज्ञया क्रोधयुतान्, नरेन्द्रभृत्यान्=राजपुरुषान्, च, उत्तेजयामि=प्रोत्साहयामि, राज्ञः पालकस्य विनाशाय प्रेरयामीति भावः। अत्रोपमालङ्कारः। वसन्ततिलका वृत्तम् ॥२६॥

विमर्श—पुराणों में यह कथा है कि वत्सराज उदयन को उज्जयिनी के राजा चन्द्रसेन ने कारागार में बन्द कर दिया था। तब उदयन के महामात्य यौगन्धरायण ने अपने बुद्धिकौशल से प्रजा में विद्रोह उत्पन्न कराकर अपने राजा उदयन को मुक्त कराया था। शर्विलक भी अपने मित्र और भावी राजा पालक की मुक्ति इसी प्रकार कराना चाहता है। 'सगोत्रबान्धवज्ञातिबन्धु—स्वस्वजनाः स्मृताः' अमरकोश।' 'वर्णो द्विजातिशुक्लादियशोगुणकथासु च' मेदिनीकोश। उत्तेजयामि-उत्पूर्वक √तिज निशाने' चौरादिक धातु ॥ २६ ॥

अपि च—

> **प्रियसुहृदमकारणे गृहीतं**
> **रिपुभिरसाधुभिराहितात्मशङ्कैः ।**
> **सरभसमभिपत्य मोचयामि**
> **स्थितमिव राहुमुखे शशाङ्कविम्बम् ॥ २७ ॥**

(इति निष्क्रान्तः ।) (प्रविश्य)

चेटी—अज्जए ! दिट्ठिआ वड्ढसि । अज्जचारुदत्तस्स सआसादो बम्हणो आअदा । (आर्य्ये ! दिष्टचा बर्द्धसे । आर्य्यचारुत्तस्य सकाशात् ब्राह्मण आगतः ।)

वसन्तसेना—अहो ! रमणीअदा अज्ज दिवसस्स । ता हञ्जे ! सादरं

अन्वयः—अकारणे, आहितात्मशङ्कैः, असाधुभिः, रिपुभिः गृहीतम्, राहुमुखे, स्थितम्, शशाङ्कविम्बम्, इव, प्रियसुहृदम्, सरभसम्, अभिपत्य, मोचयामि ॥२७॥

शब्दार्थ—अकारणे=कोई कारण न रहने पर भी, आहितात्मशङ्कै=अपने में भय बना लेने वाले, असाधुभिः=दुष्ट, रिपुभिः=शत्रुओं के द्वारा, गृहीतम्=कारागार में बन्द किये गये, राहुमुखे=राहुग्रह के मुख में, स्थितम्=विद्यमान, शशाङ्क-विम्बम्=चन्द्रमण्डल, इव=के समान, प्रियसुहृदम्=प्रियमित्र आर्यक को, सरभसम्=वेगपूर्वक, अभिपत्य=आक्रमण करके, शत्रुओं पर चढ़ कर, मोचयामि=कारागार से बाहर निकालता हूँ ॥ २७ ॥

अर्थ—और भी,

कोई कारण न रहने पर भी अपने में भय मानने वाले दुष्ट शत्रुओं द्वारा बन्धन में डाले गये, राहु के मुख में वर्तमान चन्द्रमा के समान, अपने प्रिय मित्र को वेगपूर्वक आक्रमण करके छुड़ाता हूँ ॥ २७ ॥

(यह कह कर निकल जाता है ।)

टीका—अकारणे=कारणाभावे सत्यपि, आहितात्मशङ्कैः=आहिता=स्थापिता, आत्मनि=स्वस्मिन्, शङ्का=भयम्, यैस्तैः, अकारणस्वभययुक्तैः, असाधुभिः=दुष्टैः, रिपुभिः=शत्रुभिः, गृहीतम्=कारागारे निगृहीतम्, राहुमुखे=राहुनामकस्य राक्षसस्य आनने, स्थितम्=बर्तमानम्, निगीर्णम् इत्यर्थः, शशाङ्कबिम्बम्=चन्द्रमण्डलम्, इव, प्रियसुहृदम्=परममित्रमार्यकम्, सरभसम्=सवेगं यथा स्यात् तथा, अभिपत्य=आक्रम्य, मोचयामि=मुक्तबन्धनं करोमि । अत्रोपमालङ्कारः । पुष्पिताग्रा वृत्तम् ।२७।

(प्रवेश करके)

अर्थ—चेटी—आर्ये ! आपका सौभाग्य है । आर्य चारुदत्त के पास से ब्राह्मण आया है ।

वसन्तसेना—अहा, आज का दिन कितना अच्छा है । अतः हे सखि ।

बन्धुलेण समं पवेसेहि णं। (अहो ! रमणीयता अद्य दिवसस्य । तत् हञ्जे ! सादरं बन्धुलेन समं प्रवेशय एनम् ।)

चेटी—जं अज्जआ आणवेदि । (इति निष्क्रान्ता ।) (यदार्या आज्ञापयति ।)

(विदूषको बन्धुलेन सह प्रविशति ।)

विदूषकः—**होही भोः ! तवच्चरणकिलेसविणिज्जिदेण रक्खसराओ रावणो पुष्पकेण विमाणेण गच्छदि; अहं उण बम्हणो अकिदतवच्चरण-किलेसो वि णरणारीजणेण गच्छामि ।** (आश्चर्यं भोः ! तपश्चरणक्लेशविनिर्जितेन राक्षसराजो रावणः पुष्पकेण विमानेन गच्छति; अहं पुनर्ब्राह्मणोऽकृततपश्चरणक्लेशोऽपि नरनारीजनेन गच्छामि ।)

चेटी—पेक्खदु अज्जो अम्हकेरकं गेहदुआरं। (प्रेक्षतामार्यः अस्मदीयं गेहद्वारम् ।)

विदूषकः—(अवलोक्य सविस्मयम्) **अम्मो ! सलिल–सित्त–मज्जिद–किदहरिदोवलेवणस्स, विविह–सुअन्धिकुसुमोवहार–चित्तालिहिद–भूमिभाअस्स, गअणतलालोअण–कोदूहल–दूरुण्णामिदसीसस्स, दोलाअमाणावलम्बिदैरावण–हत्थब्भमाइद–मल्लिआदामजुणालङ्किदस्स, समुच्छिद-**

बन्धुल के साथ आदरसहित उसे यहाँ लाओ ।

चेटी—आपकी जैसी आज्ञा । (इस प्रकार निकल जाती है ।)

(बन्धुल के साथ विदूषक प्रवेश करता है ।)

शब्दार्थ—तपश्चरणक्लेशविनिर्जितेन=तपस्या के कष्टों से प्राप्त होने वाले, पुष्पकेण=कुबेर के पुष्पकनामक विमान से, अकृततपश्चरणक्लेशः=तपस्या करने के कष्ट को न भोगने वाला। नरनारीजनेन = सामान्यजनों की नारीजनों= वेश्याजनों के साथ।

टीका—तपश्चरणस्य=तपोऽनुष्ठानस्य, यः क्लेशः=कष्टम् तेन विनिर्जितेन= प्राप्तेन, पुष्पकेण=कुबेरसम्बन्धिना, विमानेन=व्योमयामेन, राक्षसराजः=राक्षसाधिपतिः, अहम् = विदूषकः, अकृततपश्चरणक्लेशः = तपश्चरणस्य क्लेशः, न कृतः तपश्चरणक्लेशः येन स तादृशः । नरनारीजनेन=नाराणाम्=सामान्यजनानाम्, नारीजनेन=वेश्याजनेन सह, गच्छामि । यथा रावणः पुष्पकविमानेन सुखमनुभवति स्म तथैवाहं नरनारीजेनानुभवामि ।

अर्थ—विदूषक—अहो ! आश्चर्य है। राक्षसों का राजा रावण तपस्या के क्लेश से प्राप्त पुष्पक विमान से यात्रा करता था। किन्तु मैं ब्राह्मण तपस्या का कष्ट उठाये विना ही वेश्याजनों के साथ (सुखपूर्वक) जा रहा हूँ ।

चेटी—आर्य, हमारे घर का दरवाजा देखिये ।

दन्ति-दन्ततोरणावभासिदस्स, महारअणोवराओवसोहिणा पवणबलन्दोलणा–ललन्तचञ्चलग्गहत्थेण, 'इदो एहि' त्ति वाहरन्तेण विअ मं सोहग्गपड़ा-आणिवहेणोवसोहिदस्स, तोरणधरणत्थम्भवेदिआ–णिक्खित्त-समुल्लसन्त–हरिदचूदपल्लवललामफटिअ–मङ्गल–कलसाहिरामोहअपासस्स, महासुरवक्खत्थलदुब्भेज्जवज्जणिरन्तरपडिवद्धकणअकवाड़स्स, दुग्गदजणमणोरहाआसकरस्स, वसन्तसेणा–भवण–दुआरस्स सस्सिरीअदा। जं सच्चं मज्झत्थस्स वि जणस्स वलादिट्टिं आआरेदि। (अहो! सलिल-सिक्त-मार्जित–कृत–हरितोपलेपनस्य, विविध–सुगन्धिकुसुमोपहार–चित्रलिखितभूमि-

---

शब्दार्थ––सलिलसिक्त-मार्जित-कृत–हरितोपलेपनस्य = पानी से सींचकर=छिड़क कर, झाड़ू से साफ कर गोबर से लीपे गये, विविध-सुगन्धि-कुसुमोपहार-चित्रलिखित-भूमिभागस्य=विभिन्न प्रकार के सुगन्धित फूलों की रचनाओं से चित्रयुक्त भूमिभागवाले, गगनतलावलोकन-कौतूहल-दूरोन्नमितशीर्षस्य=आकाश को देखने की उत्सुकता से बहुत ऊँचाई तक शिर को उठाने वाले, दोलायमाना-वलम्बितैरावण-हस्तभ्रमायित-मल्लिकादाम-गुणालङ्कृतस्य=हिलने वाली, लटकने वाली, ऐरावत हाथी सूँड़ के भ्रम को पैदा करने वाली मल्लिका के फूल की मालाओं से सजे हुये, समुच्छ्रित-दन्ति-दन्त-तोरणावभासितस्य=बहुत ऊँचे, हाथी दाँत के तोरण से सुशोभित, महारत्नोपरागशोभिना-बड़े बड़े रत्नों के उपराग=रंग से शोभायुक्त, पवनबलान्दोलनाललच्चञ्चलाग्रहस्तेन = हवा के झोंकों से हिलने से कम्पमान एवं चञ्चल अग्रभागरूपी हाथ से, इतः=इधर, एहि=आइये, इति=इस प्रकार, माम्=मुझको, व्याहरता=बुलाते हुये, इव=से, सौभाग्यपताकानिवहेन=मङ्गलसूचक पताकाओं के समूह से, उपशोभितस्य = सुशोभित, तोरण-धरण-स्तम्भवेदिका-निक्षिप्तसमुल्लसद्धरित-चूतपल्लव-ललाम-स्फटिकमङ्गल-कलसाभिरामोभयपार्श्वस्य=बाहरी दरवाजों को धारण करने के लिये बनाये खम्भों की चौकियों पर रक्खे गये, सुन्दर हरे आम के पत्तों से शोभायमान, स्फटिकमणियों के मङ्गल कलसों से शोभित दोनों भाग वाले, महासुर-वक्षःस्थल-दुर्भेद्य-वज्र-निरन्तर-प्रतिबद्ध-कनक-कपाटस्य=महान् असुर=हिरण्यकशिपु की छाती के समान दुर्भेद्य=फाड़ने में कठिन तथा वज्र=हीरा की कीलों से जटित सोने के किवाड़ों वाले, दुर्गतजन-मनोरथा-यासकरस्य=निर्धन लोगों की अभिलाषा का परिश्रम कराने वाले, वसन्तसेना-द्वारस्य=वसन्तसेना के दरवाजे की, सश्रीकता=सुन्दरता=सम्पन्नता। मध्यस्थस्य=उदासीन की, आकारयति=खींच लेता है।

अर्थ––**विदूषक**––(देखकर आश्चर्यचकित होकर) अहो! जहाँ पानी छिड़क कर, झाड़ू लगा कर गोबर से लीपा गया है; जहाँ का भूमिभाग विभिन्न

भागस्य, गगनतलावलोकन–कौतूहलदूरोन्नामितशीर्षस्य, दोलायमानावलम्बितैरावण–हस्त–भ्रमायित–मल्लिकादामगुणालङ्कृतस्य, समुच्छ्रित–दन्तिदन्ततोरणावभासितस्य, महारत्नोपरागशोभिना पवनबलान्दोलना–ललच्चञ्चलाग्रहस्तेन 'इत एहि' इति व्याहरतेव मां सौभाग्यपताकानिवहेनोपशोभितस्य, तोरणधरणस्तम्भवेदिका-निक्षिप्तसमुल्लसद्धरित–चूतपल्लवललामस्फटिकमङ्गलकलसाभिरामोभयपार्श्वस्य, महासुर–वक्षः–स्थल–दुर्भेद्य–वज्र–निरन्तरप्रतिबद्ध–कनक–कपाटस्य दुर्गतजन-मनोरथायासकरस्य, वसन्तसेनाभवनद्वारस्य सश्रीकता। यत् सत्यं मध्यस्थस्यापि जनस्य बलाद्दृष्टिमाकारयति।)

प्रकार के पुष्पों के चढ़ाने से चित्र में चित्रित सा लग रहा है; आकाश की सुन्दरता देखने की उत्सुकता के कारण जिसने अपने शिर (ऊपरी भाग) को बहुत ऊँचा उठा रक्खा है, जो हिलती हुई एवं लटकती हुई तथा ऐरावत हाथी की सूड़ के भ्रम को उत्पन्न कराने वाली 'मल्लिका=जूही' के फूलों की माला से शोभित है; जो हाथी के दाँतो से बने हुये, बहुत ऊँचे तोरणों से शोभायमान है; मूल्यवान् विशाल रत्नों के सम्पर्क से अच्छे लगने वाले, हवा के झोंको से हिलने के कारण कांपते हुये एवं चञ्चल अग्रभागरूपी हाथ से, 'इधर आइये' इस प्रकार मुझे पुकारते हुये से, मंगलसूचक पताका-समुदाय से जो शोभित हो रहा है; तोरण (बाहरी दरवाजा) को धारण करने के लिये बनाये गये खम्भों की चौकियों पर रक्खे हुये, लहलहाते हरे आम के पत्तों से सुन्दर, स्फटिकमणि से बने हुये मंगल-कलसों से जिसकी दोनों बगलें (ओर) आकर्षक लग रहीं हैं, 'हिरण्यकशिपु' की छाती के समान दुर्भेदनीय तथा हीरे की बनी हुई कीलों से जड़े हुये सोने के किवाड़ जिसमें लगे हुये हैं, निर्धन लोगों के मनोरथों को पीडित करने वाले, अहो! वसन्तसेना के भवन के दरवाजे की सुन्दरता (दर्शनीय) है। यह सच में निस्पृह लोगों की भी दृष्टि को बलपूर्वक अपनी ओर खींच लेता है।

टीका—पूर्वम्=प्रथमम्, सलिलेन=जलेन, सिक्तम्=आर्द्रीकृतम्, ततः मार्जितम्=मार्जन्या स्वच्छीकृतम्, शोधितम्, ततः कृतम्=विहितम्, हरितेन=गोमयादिना द्रव्येण उपलेपनम्=प्रलेपनं यत्र तादृशस्य (षष्ठ्यन्तानि सर्वाणि पदानि वसन्तसेना-भवनद्वारस्य विशेषणानीति बोध्यम्।), विविधानाम्=विभिन्नानाम् सुगन्धीनाम्=गन्धयुक्तानाम्, कुसुमानाम्=पुष्पाणाम् उपहारैः=रचनाविशेषैः, चित्रलिखित इव=आलेख्यप्रदर्शित इव भूमिभागः=भूस्थलं यस्मिन् तस्य तादृशस्य, गगनतलस्य=आकाशस्य, अवलोकनाय=विलोकनाय, यत् कौतूहलम्=औत्सुक्यम्, तेन दूरम्=दूरपर्यन्तम्, उपरिभागे इत्यर्थः, उन्नमितम्=उत्थापितम्, शीर्षम्=शिरः, येन तस्य, दोलायमानः = वायुसम्पर्केण कम्पमानः, तथा अवलम्बितः = अधोलम्बितः, तथा

चेटी—एदु एदु अज्जो। इमं पढ़मं पओट्ठं पविसदु अज्जो। (एतु एतु आर्यः। इमं प्रथमं प्रकोष्ठं प्रविशतु आर्यः।)

विदूषकः—(प्रविश्यावलोक्य च) **ही ही भोः! इध वि पढ़मे पओट्ठे ससिसङ्ख-मुणालसच्छाओ, विणिहिद-चूण्ण-मुट्ठिपाण्डुराओ विविह-रअण-पड़िबद्धकञ्चण-सोवाण सोहिदाओ, पासादपन्तिओ, ओलम्बिदमुत्तादामेहिं फटिअवादाअणमुहचन्देहिं णिज्झाअन्ती विअ उज्जइणिं। सोत्तिओ विअ**

ऐरावणस्य=सुरगजस्य, हस्तः=शुण्डादण्डः, तस्य भ्रमः यस्मिन् स, तद्वदाचरितः, ऐरावतशुण्डभ्रमजनक इति यावत्, यो मल्लिकादामगुणः=मल्लिकापुष्पमालागुणः, तेन अलङ्कृतस्य=विभूषितस्य, समुच्छ्रितेन = समुन्नतेन, दन्तिदन्ततोरणेन=गज-दन्तविनिर्मितबहिर्द्वारेण अवभासितस्य=शोभायमानस्य। महारत्नानाम्=विशाल-मण्यादीनाम् उपरागेण=सम्पर्केण, शोभिना=शोभावता, इमानि तृतीयान्तपदानि सौभाग्यपताकानिवहस्य विशेषणानि बोध्यानि। पवनबलेन = वायुप्रघातेन, या आन्दोलना=इतस्ततश्चलनम्, तया ललन्=प्रकम्पमानः, अत एव, चञ्चलः=अस्थिरः अग्रहस्तः=कराग्रं यस्य तेन, इत एहि=अत्र आगच्छ, इति, व्याहरता=कथयता, इव, सौभाग्यपताकानाम्=मंगलार्थसज्जितपताकानाम्, निवहेन=समूहेन, उपशोभि-तस्य=शोभमानस्य, तोरणानाम्, धरणाय=अवलम्बनाय ये स्तम्भाः-तेषां वेदिकाः= मूलभागे मृदादिनिर्मिताः भूभागाः, तासु निक्षिप्तैः = स्थापितैः, समुल्लसद्भिः हरितवर्णैः चूतपल्लवैः = आम्रपल्लवैः ललामानाम् = सुन्दराणाम्, स्फटिकानाम्= स्फटिकमणीनाम्, निर्मितैः मङ्गलकलसैः=जलपूर्णघटैः, अभिरामम्=शोभमानम्, उभयपार्श्वम्=उभयप्रान्तभागः यस्य तस्य, महासुरस्य = हिरण्यकशिप्वादेः वक्षः स्थलवत् दुर्भेद्यानि = विदारयितुमशक्यानि, वज्रैः = हीरकैः, तन्निर्मितकीलकादि-भिरित्यर्थः, निरन्तरम्=घनरूपम् प्रतिबद्धानि=जटितानि, कनककपाटानि=स्वर्णमय-कपाटानि यत्र तस्य, दुर्गतानाम् = निर्धनानाम्, ये मनोरथाः = अभिलाषाः 'मम समीपेऽपि एतादृशं स्यादित्याङ्क्षाः' तेषाम्, आयासकरस्य = परिश्रमजनकस्य, वसन्तसेनाभवनद्वारस्य=वसन्तसेनायाः भवनस्य प्रमुखद्वारस्य, सश्रीकता=सौन्दर्यम्। मध्यस्थस्यापि = विषयोपभोगादुदासीनस्यापि, बलात् = हठात्, आकारयति= आकर्षतीति भावः।

विमर्श—इस गद्यांश में 'अहो' के बाद 'वसन्तसेनाभवनद्वारस्य सश्रीकता' यह मिलकर मुख्यवाक्य बनता है। षष्ठचन्त सभी पद इसी के विशेषण हैं। तृतीयान्त पद 'निवहेन' के विशेषण हैं।

अर्थ—चेटी—आइये, आर्य! आइये, पहले प्रकोष्ठ (भवनखण्ड) में आर्य प्रवेश करिये।

सुहोबविट्टो णिद्दाअदि दोवारिओ। सदहिणा कलमोदणेण पलोहिदा ण भक्खन्ति वाअसा वलिं सुधाअवण्णदाए। आदिसदु भोदी। (आश्चर्यं भोः! इहाऽपि प्रथमे प्रकोष्ठे शशि–शङ्ख–मृणालसच्छायाः, विनिहितचूर्णमुष्टि-पाण्डुराः विविध–रत्न–प्रतिबद्ध–काञ्चन–सोपान–शोभिताः, प्रासादपङ्क्तयः, अवलम्बितमुक्तादामभिः स्फटिकवातायनमुखचन्द्रैर्निध्यायन्तीव उज्जयिनीम्। श्रोत्रिय इव सुखोपविष्टो निद्राति दौवारिकः। सदध्ना कलमौदनेन प्रलोभिता न भक्षयन्ति वायसा बलिं सुधासवर्णतया। आदिशतु भवती)

शब्दार्थ—शशिशंखमृणाल-सच्छाया=चन्द्रमा, शंख एवं मृणाल के समान कान्तिवाली, विनिहितचूर्णमुष्टिपाण्डुरा=मुठ्ठी भर आंटा रखने से सफेद, विविध-रत्न-प्रतिबद्ध-कांचन-सोपान-शोभिताः=अनेक प्रकार के रत्नों से जड़ी हुयी सोने की सीढ़ियों से सुशोभित, प्रासादपङ्क्तयः=महलों की पङ्क्तियाँ (कतारें), अवलम्बितमुक्तादामभिः = लटकती हुई मोतियों की मालाओं से युक्त, स्फटिक-वातायन-मुखचन्द्रैः=स्फटिक मणि से बने हुये झरोखे रूपी मुखचन्द्रों से, उज्जयिनीम् =उज्जायिनी नगरी को, निध्यायन्ति इव=एकाग्रचित्त से मानों देख रहीं हैं। श्रोत्रियः=वेदपाठी, निद्राति=ऊँघ रहा है, सदध्ना=दही के साथ, कलमौदनेन= 'कलम' नामक चावलों के भात से, प्रलोभिताः=आकृष्ट किये गये, वायसाः=कौवे, सुधा-सवर्णतया = चूने के समान होने के कारण, बलिम्=दहीमिश्रित बलि के अन्न को, न भक्षयन्ति=नहीं खाते हैं।

अर्थ-विदूषक—(प्रवेश करके देख कर) अरे आश्चर्य है! इधर पहले प्रकोष्ठ में भी चन्द्रमा, शंख और कमलनाल के समान कान्तिवाली, समान मात्रा में रखे गये (चूना अथवा अन्न के) चूर्ण की मुठ्ठियों से धवल वर्णवाली, अनेक प्रकार के रत्नों से जड़ी गयीं सोने की सीढ़ियों से युक्त, विशाल भवनों की श्रेणियाँ, लटकनेवाली मुक्तामालाओं से युक्त, स्फटिक मणि के बने झरोखे रूपी मुखचन्द्रों से मानों उज्जयिनी नगरी को ध्यान से देख रहीं हैं। आनन्दपूर्वक बैठा हुआ द्वारपाल श्रोत्रिय (वेदादिपाठकर्ता) के समान ऊँघ सा रहा है, सो रहा है। दही में सने हुये कलम (उत्कृष्ट) चावल के भात से ललचाये गये भी कौवे बलि (बलिहेतु प्रस्तुत) को चूने के समान सफेद होने के कारण नहीं खा रहे हैं। (दही की सफेदी भात में कौवों को चूना मिला होने का भ्रम हो रहा है। अतः वे नहीं खा रहे हैं।) श्रीमती! आप आदेश करें।

टीका—शशि-शङ्खमृणाल-सच्छायाः=चन्द्रस्य, कम्बोः, बिसस्य च सच्छायाः= समाना कान्तिर्यासां ताः, विनिहितैः=स्थापितैः, तुल्यरूपेण प्रकीर्णैः, चूर्णस्य= सुधाचूर्णस्य, अन्नादीनां श्वेतचूर्णस्य, मुष्टिभिः=परिमाणविशेषैः, पाण्डुराः=शुभ्रवर्णाः

चेटी—एदु एदु अज्जो इमं दुदिअं पओट्ठं पविसदु अज्जो। (एतु एतु आर्यः। इमं द्वितीयं प्रकोष्ठं प्रविशतु आर्यः।)

विदूषकः—(प्रविश्यावलोक्य च) ही ही भोः ! इध वि दुदिए पओट्ठे पज्जन्तोवणीद-जवस-वुस-कवलसुपट्ठा-तेलब्भङ्गिदविसाणा वद्धा पवहण-बइल्ला। अअं अण्णदरो अवमाणिदो विअ कुलीणो दीहं णीससदि सेरिहो। इदो अ अवणीदजुज्झस्स मल्लस्स विअ मद्दीअदि गीवा मेसस्स। इदो इदो अवराणं अस्साणं केसकप्पणा करीअदि। अअं अवरो पाड़च्चरो विअ दिढ़वद्धो मन्दुराए साहामिओ। (अन्यतोऽवलोक्य च) इदो अ कूरच्चुअ-तेल्लमिस्सं पिण्डं हत्थी पड़िच्छवीअदि मेत्थपुरिसेहिं। आदिसदु भोदो। (आश्चर्यं भोः ! इहाऽपि द्वितीये प्रकोष्ठे पर्यन्तोपनीत-यवसबुस-कवलसुपुष्टास्तैलाभ्यक्तविषाणा बद्धाः प्रवहणबलीवर्दाः। अयमन्यतरः अवमानित इव दृढवद्धो दीर्घः

विविधैः=विभिन्नरूपैः, रत्नैः=मणिभिः, प्रतिबद्धानि=खचितानि=जटितानि, यानि काञ्चनसोपनानि=स्वर्णमयारोहणसाधनानि, तैः, शोभिताः=अलङ्कृताः, प्रासादानाम्=भव्यानाम् भवनानाम् पङ्क्तयः=श्रेणयः, अवलम्बितानि= अधोलम्बितानि, मुक्तादामानि=मुक्तानिर्मितहाराः येषु तैः, स्फटिकस्य=तन्नामकस्य वातायनानि= गवाक्षाः एव मुखचन्द्राः तैः, निध्यायन्ति इव=आलोकयन्ति इव। श्रोत्रियः=वेदादि-निष्णातविप्रः, निद्राति=निद्रामनुभवति। सदध्ना=दधिमिश्रितेन, कलमस्य=धान्य-विशेषस्य, ओदनेन=भक्तेन, समासे कलमौदनेन इत्येवोचितः पाठः, वृद्धेरपरिहार्यत्वात्, सुधासवर्णतया=सुधातुल्यतया, सुधाभ्रान्त्येति भावः।

विमर्श—प्रायः 'कलमोदनेन' यह पाठ मिलता है। यहाँ कलम + ओदनेन में वृद्धिघटित पाठ शुद्ध है—कलमौदनेन। भ्रान्ति का कारण प्राकृत का पाठ—'कलमोदणेण' प्रतीत होता है।

अर्थ—

चेटी—आइये श्रीमन्, आइये। आर्य ! इस दूसरे प्रकोष्ठ में प्रवेश करिये।

शब्दार्थ—पर्यन्तोपनीत-यवसबुसकवलसुपुष्टाः=समीप में ही रखी गयी घास एवं भूसे के ग्रासों से (उन्हें खाने से) खूब तगडे, तैलाभ्यक्तविषाणाः=तेल से युक्त=लिप्त सींगों वाले, प्रवहणबलीवर्दा=गाड़ियों के बैल, बद्धाः=बाँधे गये हैं। अन्यतरः=दो में से एक, सैरिभः=भैंसा, अवमानितः=अपमानित, कुलीनः=उच्च-कुलोत्पन्न व्यक्ति, दीर्घं निश्वसिति=लम्बी साँसें भर रहा है। अपनीतयुद्धस्य= लड़ाई से अलग किये गये, केशकल्पना=गर्दन के बालों का शृंङ्गार (काटना), पाटच्चरः=चोर, शाखामृगः=बन्दर, मन्दुरायाम्=घुड़साल में, कूरच्युततैलमिश्रम्= भात या अन्य कूरनामक पदार्थ से गिरने वाले तेल से सने हुये, पिण्डम्=अन्नादि को, मात्रपुरुषैः=महावतों द्वारा।

निश्वसिति सैरिभः ! इतश्च अपनीतयुद्धस्य मल्लस्येव मर्द्यते ग्रीवा मेषस्य । इत इतः अपरेषामश्वानां केशकल्पना क्रियते । अयमपरः पाटच्चर इव दृढबद्धो मन्दुरायां शाखामृगः । इतश्च कूर–च्युत–तैलमिश्रं पिण्डं हस्ती प्रतिग्राह्यते मात्रपुरुषैः । आदिशतु भवती ।)

चेटी—एदु एदु अज्जो । इमं तइअं पओट्ठं पविसदु अज्जो । (एतु एतु आर्य्यः । इमं तृतीयं प्रकोष्ठं प्रविशतु आर्य्यः ।)

अर्थ—विदूषक—(प्रवेश करके देख कर) अरे आश्चर्य है ! यहाँ दूसरे प्रकोष्ठ (भवनखण्ड) में समीप में रक्खी गयी घास के तृण एवं भूसा खाने से खूब मोटे तगड़े और तेल लगे सींगों वाले गाड़ी के बैल बन्धे हुये हैं । इधर एक भैंसा अपमानित उच्चकुलोत्पन्न व्यक्ति के समान लम्बी-लम्बी सांसें ले रहा है । इधर लड़कर वापस लौटे हुये पहलवान के समान भेंड़े की गर्दन मली जा रही है । इधर घोड़ों के बाल काटे जा रहे हैं । इधर घुड़साल में चोर के समान बन्दर बाँधा गया है । (दूसरी ओर देखकर) इधर महामात्र कूर (भात) से टपकने वाले तेल से मिला हुआ पिण्ड हाथी को खिला रहा है । अब आप [आगे का मार्ग] बतायें ।

टीका—पर्यन्तेषु=प्रान्तसीमसु, उपनीतानि = भक्षणार्थं स्थापितानि यानि यवसानि = घासतृणादीनि बुसानि = धान्यत्वचः, तेषां कवलैः = ग्रासैः सुपुष्टाः= सुस्वस्थाः, स्थूलदेहा इति भावः, तैलेन=स्नेहेन, अभ्यक्तानि=लिप्तानि, विषाणानि= शृङ्गाणि येषा ते प्रवहणस्य = यानविशेषस्य, बलीवर्दाः = वृषभाः, अन्यतरः= द्वयोर्मध्ये एकः, कुलीनः = सत्कुले जातः पक्षे कौ = पृथिव्याम्, लीनः=स्थितः, सैरिभः = महिषः, निःश्वसिति = निःश्वासत्यागेन दुःखं प्रकटयति । अपनीतम्= समाप्तम् युद्धम्=मल्लयुद्धं यस्य तस्य केशकल्पना = केशकर्तनम्, केशसज्जा वा । पाटच्चरः=चोरः, मन्दुरायाम्=अश्वशालायाम्, शाखामृगः=वानरः, कूरात्='कूरो-भक्तम्' इति हलायुधः, भक्तात् इति पृथ्वीधरः, द्रव्यविशेषात् इति जीवानन्दः, च्युतम्=निःसृतम्, यत् तैलम्=स्नेहनम्, तेन मिश्रम्=युक्तम्, पिण्डम्=अन्नपिण्डम्, महामात्रैः=हस्तिपकैः, प्रतिग्राह्यते=भक्षणार्थं प्रदीयते ।

विमर्श—कुलीन—कुले जातः = इस अर्थ में ख = ईन तद्धित प्रत्यय । कु पृथिवी, तस्यां लीनः=उपविष्टः । कूर–इसका अर्थ 'कौर' कर दिया गया है । परन्तु यह भ्रान्तिमूलक है । 'कूरं भक्तम्' इस हलायुध के अनुसार इसका अर्थ भात है । भात से चूते हुये तेल से सना हुआ अन्नपिण्ड हाथी को खिलाया जा रहा है ।

अर्थ-चेटी—आइये आर्य ! आइये । आर्य, इस तीसरे प्रकोष्ठ में प्रवेश करें ।

विदूषकः—(प्रविश्य दृष्ट्वा च) ही ही भो ! इध वि तइए पओट्ठे इमाइं दाव कुलउत्तजणोववेसणणिमित्तं विरचिदाइ आसणाइं । अद्धवाचिदो पासअपीठे चिट्ठइ पोत्थवो । एसो अ मणिमअ-सारिआ-सहिदो पास-अपीठो । इमे अ अवरे मअणसन्धि-विग्गह-चदुरा विविह-वण्णिआ-विलित्त-चित्त-फलअग्गहत्था इदो तदो परिब्भमन्ति गणिआ वुड्ढविड़ा अ । आदिसदु भोदी । (आश्चर्यं भोः ! इहाऽपि तृतीये प्रकोष्ठे इमानि तावत् कुलपुत्रजनोपवेशननिमित्तं विरचितानि आसनानि । अर्द्धवाचितं पाशकपीठे तिष्ठति पुस्तकम् । एतच्च मणिमय-सारिका-सहितं पाशकपीठम् । इमे च अपरे मदन-सन्धि-विग्रह-चतुरा विविध-वर्णिका-विलिप्त-चित्रफलकाग्रहस्ता इतस्ततः परि-भ्रमन्ति गणिका बृद्धविटाश्च । आदिशतु भवती ।)

चेटी—एदु एदु अज्जो । इमं चउट्ठं पओट्ठं पविसदु अज्जो । (एतु एतु आर्य्यः । इमं चतुर्थं प्रकोष्ठं प्रविशतु आर्य्यः ।)

शब्दार्थ—कुलपुत्रजनोपवेशननिमित्तम्=उच्चकुलोत्पन्न व्यक्तियों के बैठने के लिये, अर्द्धवाचितम्=आधी पढ़ी गई, पाशकपीठे=पांशे खेलने की चौकी पर, मणिमय-सारिकासहितम्=मणियों की बनी हुई मैनाओं से व्याप्त, मदनसन्धि-विग्रहचतुराः=कामसम्बन्धी मिलाप और अलगाव कराने में चतुर, विविधवर्णिकाविलिप्तचित्र-फलकाग्रहस्ता=अनेक रंगों से बनी हुई फोटो को हाथों में लिये हुये, परिभ्रमन्ति=घूम रहे हैं ।

अर्थ—विदूषक—(प्रवेश करके और देखकर) अरे आश्चर्य है, यहाँ तीसरे प्रकोष्ठ में भी कुलीन पुत्रों के बैठने के लिये ये आसन लगाये गये हैं । जुआ खेलने की चौकी पर आधी पढ़ी हुई पुस्तक रखी हुई है । और यह चौकी अकृत्रिम (असली) मणियों से बनी हुई मैनाओं (मैना के आकारवाली गोटों) से युक्त है । और ये दूसरे काम-सम्बन्धी सन्धिविग्रह कराने में निपुण वेश्यायें और बूढ़े विट लोग विभिन्न रंगों से रंगे हुये चित्रपटों को हाथों में लिये हुये इधर-उधर घूम रहे हैं । श्रीमती, आगे के मार्ग का निर्देशन कीजिये ।

टीका—कुलपुत्रजनानाम् = उच्चकुलोत्पन्नपुरुषाणाम् उपवेशननिमितम्= उपवेशनाय, अर्धवाचितम्=अर्धपठितम्, पुस्तकम्=कामशास्त्रीयं पुस्तकम्, मणि-मयसारिकासहितम् = मणिनिर्मित-सारिकाकृतिगुटिकासहितम्, मदनसन्धिविग्रह-चतुराः = कामविषयकमिलन-कलहकार्ये निपुणाः, विविधाभिः = अनेकाभिः, वर्णि-काभिः = रंजनद्रव्यैः, विलिप्तानि = चित्रितानि, चित्रफलकानि = आलेख्यपटाः, अग्रहस्ते=कराग्रे येषां ते, परिभ्रमन्ति=इतस्ततः सञ्चरन्ति ।

अर्थ-चेटी—आइये आर्य ! आइये । इस चौथे प्रकोष्ठ (भवनखण्ड) में प्रवेश करिये ।

विदूषकः—(प्रविश्यावलोक्य च) ही ही भोः ! इध वि चउट्ठे पओट्ठे जुवदिकर-ताड़िदा जलधरा विअ गम्भीरं णदन्ति मुदङ्गा । हीणपुण्णाओ विअ गअणादो तारआओ णिवड़न्ति कंसतालआ । महुअर-विरुअ-महुरं वज्जदि वंसो । इअं अवरा ईसाप्पणअ-कुविद-कामिणी विअ अङ्कारोविदा कररुह-परामरिसेण सारिज्जदि वीणा । इमाओ अवराओ कुसुम-रस-मत्ताओ विअ महुअरिओ अदिमहुरं पगीदाओ गणिआदारिआओ णच्चीअन्ति, णट्टअं पढीअन्ति ससिङ्गारओ । ओवग्गिदा गवक्खेसु वादं गेण्हन्ति सलिल-गग्गरीओ । आदिसदु भोदी । (आश्चर्यं भोः ! इहाऽपि चतुर्थे प्रकोष्ठे युवति-कर-ताडिता जलधरा इव गम्भीरं नदन्ति मृदङ्गाः । क्षीणपुण्या इव गगनात्तारका निपतन्ति कांस्यतालाः । मधुकर-विरुत-मधुर वाद्यते वंशः । इयमपरा ईर्ष्या-प्रणयकुपितकामिनीव अङ्कारोपिता कररुहपरामर्शेन सार्यते वीणा ।

शब्दार्थ—युवतिकरताडिता = युवतियों के हाथों से बजाये गये, जलधरा इव=मेघों के समान, नदन्ति=आवाज कर रहे हैं; क्षीणपुण्याः=जिनके पुण्य समाप्त हो चुके हैं, तारका इव=ताराओं के समान, कांस्यतालाः=करताल, निपतन्ति=एक दूसरे के ऊपर गिर रहे हैं, मधुकर-विरुतमधुरम्=भौरें की गुंजन के समान मधुर, वंशः=बांस की बनी बांसुरी, वाद्यते=बजाई जा रही है । ईर्ष्याप्रणयकुपितकामिनी= दूसरी स्त्री की ईर्ष्या के कारण प्रणय में कुपित नायिका, इव=के समान, अंकारोपिता=गोद में रखी हुई, वीणा, कररुहस्पर्शेन=नाखूनों के स्पर्श से, सार्यते=सहलाई जा रही है, बजाई जा रही है, कुसुमरसमत्ताः=फूलों के रस से मदमाती, मधुकर्यः= भ्रमरियों के समान, प्रगीताः=गातीं हुई, गणिकादारिकाः=वेश्याओं की कन्यायें, नृत्यन्ति=नाँच रही है । सश्रृङ्गारम् = श्रृङ्गारसहित, पाठम् = संगीतादि का पाठ, पाठ्यन्ते=पढ़ाई जा रहीं हैं । गवाक्षेषु=झरोखों में, अपवल्गिताः=झुकी रखी हुई, सलिलगर्यः=पानी की गगरियाँ=झज्झर, वातम्=हवा, गृह्णन्ति=ले रहीं हैं ।

अर्थ—विदूषकः—(प्रवेश करके और देखकर) अरे ! आश्चर्य है । इधर चौथे प्रकोष्ठ (भवनखण्ड) में भी, युवतियों के हाथों से बजाये जाते हुये मृदंग मेघों के समान आवाज कर रहे हैं । पुण्य समाप्त हो जानेवाली ताराओं के समान करताल (मंजीरे) एक दूसरे पर गिर रहे हैं । भौंरे के गुंजन के समान मधुर वंशी बज रही है । (दूसरी स्त्री के साथ सम्पर्क करने से उत्पन्न) ईर्ष्या के कारण प्रणय में कुपित स्त्री के समान गोद में रखी गयी यह वीणा नाखूनों के स्पर्श से सहलाई (बजाई) जा रही है । पुष्पों के रसपान करने से मतवाली भौरियों के समान अत्यन्त मधुर गाती हुई ये गणिकाकन्यायें इधर उधर घूम रहीं हैं । श्रृङ्गार

इमा अपराश्च कुसुमरसमत्ता इव मधुकर्यः अतिमधुरं प्रगीता गणिकादारिकाः नर्त्यन्ते, नाटयं पाठ्यन्ते सशृङ्गारम्। अपवलिगता गवाक्षेषु वातं गृह्णन्ति सलिलगगर्य्यः। आदिशतु भवती।)

चेटी—एदु एदु अज्जो। इमं पञ्चमं पओट्ठं पविसदु अज्जो। (एतु एतु आर्यः। इमं पञ्चमं प्रकोष्ठं प्रविशतु आर्यः।)

विदूषकः—(प्रविश्य दृष्ट्वा च) ही ही भो! इध वि पञ्चमे पओट्ठे अअं दलिद्द-जण लोहुप्पादणअरो आहरइ उवचिदो हिङ्गु तेलगन्धो। विविहसुरहि-धूमुग्गारेहिं णिच्चं सन्ताविज्जमाणं णीससदि विअ महाणसं दुआरमुहेहिं। अधिअं उसुसावेदि मं सासिज्जमाणं-वहुविह-भक्ख-भोअण-गन्धो। अअं अवरो पड्च्चरं विअ पोट्टिं धोअदि रूपिदारओ। बहुविहाहारविआरं उवसाहेदि सूवआरो। वज्झन्ति मोदआ, पच्चन्ति अपूवआ। (आत्मगतम्) अवि दाणिं इह वड्ढिअं भुञ्जसु त्ति पादोदअं लहिस्सं? (अन्यतोऽवलोक्य च) इदो गन्धव्व-सुरगणेहिं विअ विविहालङ्कारसोहिदेहिं गणिआजणेहिं बन्धलेहिं अ जं सच्चं सग्गीअदि एदं गेहं। भोः! के

सहित नाटच पढ़ाया जा रहा है। झरोखों पर रखी गयी पानी की सुराहियाँ हवा ले रही हैं। आप (आगे के मार्ग का) आदेश दीजिये।

टीका—युवतीनाम्=तरुणीनाम्, करैः=हस्तैः, ताडिताः=वादिताः, मृदङ्गाः=मुरजाख्याः, वाद्यविशेषाः, जलधराः इव=मेघा इव, नदन्ति=अव्यक्तं शब्दं कुर्वन्ति। क्षीणं पुण्यं यासां ताः, समाप्तपुण्यफलाः, तारकाः = तारागणा इव, कांस्यतालाः= कांस्यनिर्मितवाद्यविशेषाः, निपतन्ति=परस्परम्, अन्योन्योपरि पतन्ति। मधुकरस्य =भ्रमरस्य, विरुतम्=गुञ्जनम् इव मधुरम्=हृदयहारि, क्रियाविशेषणमेतत्। ईर्ष्याप्रणयकुपिता = अन्यस्त्रीसम्पर्कजन्य-प्रणयकोपयुता, अङ्के = क्रोडे, आरोपिता = स्थापिता, कररुहाणाम् = नखानाम्, परामर्शेन=स्पर्शेन, सार्यते=प्रसाद्यते, वाद्यते च, कुसुमानाम्=पुष्पाणाम्, रसैः, मत्ता=क्षीबाः, मधुकर्यः=भ्रमर्यः, इव, प्रगीताः= प्रकृष्टगानयुक्ताः, गणिकानाम् = वेश्यानाम्, दारिकाः = कन्यकाः, सशृङ्गारम्= शृङ्गारपूर्वकम्, पाठ्यन्ते=शिक्ष्यन्ते। गवाक्षेषु=वातायनेषु, अपवलिगता=संस्थापिता सलिलगगर्यः=जलघटिकाः, गृह्णन्ति=आत्मसात्कुर्वन्ति।

अर्थ-चेटी—आइये आर्य! आइये। इस पाँचवें प्रकोष्ठ में आर्य! प्रवेश करें।

शब्दार्थ—दरिद्रजनलोभोत्पादनकरः = निर्धनों के लोभ को पैदा करनेवाला, उपचितः = तीव्र, बढ़ा हुआ, हिङ्गुतैलगन्धः = हींगयुक्त तेल की गन्ध, आहरति= अपनी ओर खींच रही है। सन्ताप्यमानम् = सन्तप्त=आगयुक्त किया जानेवाला, महानसम्=रसोई घर, विविधसुरभिधूमोद्गारैः=विभिन्न प्रकार के सुगन्धित धुओं को निकालने वाले, द्वारमुखैः=द्वाररूपी मुखों से, निश्वसिति इव=मानो उच्छ्वास

तुम्हे बन्धुला णाम ? (आश्चर्यं भोः ! इहाऽपि पञ्चमे प्रकोष्ठे अयं दरिद्र-जन-लोभोत्पादनकरः आहरति उपचितो हिङ्गुतैलगन्धः । विविध—सुरभि-धूमोद्गारैः नित्यं सन्ताप्यमानं निःश्वसितीव महानसं द्वारमुखैः । अधिकमुत्सुकायते मां साध्यमानबहुविध-भक्ष्य-भोजनगन्धः । अयमपरः पटच्चरमिव पेशिं धावति रूपिदारकः । बहुविधाहार-विकारमुपसाधयति सूपकारः । बध्यन्ते मोदकाः, पच्यन्ते च पूपकाः । अपि इदानीमिह वर्द्धितं भुङ्क्ष्व इति पादोदकं लप्स्ये ? इह गन्धर्व्वाप्सरोगणैरिव विविधालङ्कारशोभितैः गणिकाजनैः बन्धुलैश्च यत्सत्यं स्वर्गायते इदं

ले रहा है। साध्यमानबहुविध-भक्ष्य-भोजन-गन्धः=पकाये जाते हुये अनेक प्रकार के भक्षणीय भोजनों की गन्ध, माम्=मुझ विदूषक को, उत्सुकायते=उत्सुक कर रही है। पटच्चरम् इव=पुराने वस्त्रखण्ड के समान, हतपशूदरपेशिम्=मारे गये पशुओं की अंतड़ियों को, रूपिदारकः=कसाई, धावति=धो रहा है, स्वच्छ कर रहा है। सूपकारः=रसोइया, बहुविधाहार-विकारम्=अनेक प्रकार के भोजन, उपसाधयति=पका रहा है। बध्यन्ते=बाँधे जा रहे हैं। अपूपकाः=मालपुआ, पच्यन्ते=पकाये जा रहे हैं। वर्द्धितम्=उत्कृष्ट, भुङ्क्ष्व=खाइये, इति=इस लिये, पादोदकम्=पैर धोने के लिये पानी, लप्स्ये=प्राप्त कर सकूंगा। गन्धर्वाप्सरोगणैः इव=गन्धर्वों एवम् अप्सराओं के समुदायों के सामन, विविधालंकारशोभितैः=अनेक प्रकार के आभूषणों से शोभित, गणिकाजनैः = गणिका लोगों से, बन्धुलैश्च = बन्धुलों से, स्वर्गायते=स्वर्ग के समान हो रहा है।

अर्थ—विदूषक—(प्रवेश करके और देखकर) अरे आश्चर्य है, आश्चर्य ! यहाँ पाँचवें प्रकोष्ठ (भवनखण्ड) में भी गरीबों को ललचाने वाली तीव्र हींग-मिश्रित तैल की गन्ध [मुझे] अपनी ओर आकृष्ट कर रही है। सदैव आग से जलता हुआ (अग्नियुक्त) रसोई घर अनेक प्रकार की गन्धों से युक्त धुंये को प्रकट करने वाले द्वाररूपी मुखों से मानो उच्छ्वास ले रहा है, [अपना कष्ट व्यक्त कर रहा है।] पकाये जाते हुये अनेक प्रकार के भोज्य पदार्थों की गन्ध मुझे अधिक उत्सुक बना रही है। यह कसाई जीर्ण वस्त्रखण्डों के समान मांस-पेशियाँ (मृत पशु के मांसखण्डों) को धो रहा है। रसोइया अनेक प्रकार के भोजन पका रहा है। लड्डू बाँधे जा रहे हैं, मालपुये पकाये जा रहे हैं। (अपने आप में) 'अब आप (विदूषक) इधर आइये, बढ़िया भोजन करिये [ऐसी प्रार्थना कर किसी से] मैं पैर धोने के लिये जल पा सकूंगा ? (दूसरी ओर देखकर) यहाँ गन्धर्वों एवम् अप्सराओं की भाँति विविध आभूषणों से सुशोभित गणिकाओं और बन्धुलों के कारण यह घर वास्तव में स्वर्ग के समान प्रतीत हो

गेहम् । भोः ! के यूयं बन्धुला नाम ?)

बन्धुलाः—वयं खलु—

परगृहललिताः परान्नपुष्टाः
परपुरुषैर्जनिताः पराङ्गनासु ।
परधननिरता गुणेष्ववाच्या
गजकलभा इव बन्धुला ललामः ॥ २८ ॥

रहा है । अरे ! बन्धुल नामवाले तुम लोग कौन हो ?

टीका—दरिद्रजनानाम्=निर्धनलोकानाम्, लोभस्य=लिप्सायाः, उत्पादनकरः=उत्थापकः, उपचितः=वृद्धिं गतः, तीव्रः, हिङ्गुतैलगन्धः=पक्वहिंगुमिश्रिततैलगन्धः, आहरति=चित्तमाकर्षति । नित्यम्=प्रतिदिनम्, सन्ताप्यमानम्=पाकादिना सन्तप्तम्, महानसम्=भोजनालयः, विविधानाम्=विभिन्नप्रकाराणाम्, सुरभीणाम्=गन्धयुतानाम्, धूमानाम्, उद्गारैः = उद्गीर्णैः, द्वारमुखैः=द्वाररूपिभिराननैः, निःश्वसिति इव = सन्तापाभिव्यक्तिं करोतीव । साध्यमानानाम्=पच्यमानानाम्, बहुविधानाम्=अनेकप्रकाराणाम्, भक्ष्याणाम्, भोजनानाम्=भक्ष्यातिरिक्तचर्व्यचोष्यादिभोजनानाम्, गन्धः=सौरभः, माम्=विदूषकम्, उत्सुकायते=भोजनायोत्सुकं करोति । रूपिदारकः=रूपिणां पशवादीनां दारकः=हन्ता, पटच्चरम्=जीर्णवस्त्रखण्डम्, इव, पेशिम् धावति=शोधयति, '√धाव गतिशुद्धयोः' सूपकारः=पाचकः, बहुविधानाम्=अनेकप्रकाराणाम्, आहाराणाम् = भोज्यपदार्थानाम्, विकारम् = प्रकारम्, साधयति = निष्पादयति । वर्धितम् = सम्पन्नम्, भुङ्क्ष्व = भक्षय' इति=एतदर्थम्, पादोदकम्=पादप्रक्षालनाय जलम्, लप्स्ये=प्राप्स्यामीति काकुः, विविधालंकारशोभितैः=विभिन्नाभूषणभूषितैः, गन्धर्वाणाम्, अप्सरसां च गणैः=समूहैः इव, गणिकाजनैः=वेश्यालोकैः, बन्धुलैश्च=बन्धुलजनैश्च, स्वर्गायते=स्वर्गमिव आचरति ।

अन्वयः—परगृहललिताः, परान्नपुष्टाः, परपुरुषैः, पराङ्गनासु, जनिताः, परधननिरताः, गुणेषु, अवाच्याः, (एते वयम्) बन्धुलाः, गजकलभाः, इव, ललामः ॥ २८ ॥

शब्दार्थः—परगृहललिताः=दूसरों के घरों में पालित होनेवाले, परान्नपुष्टाः=दूसरों के अन्न से परिपुष्ट होनेवाले, परपुरुषैः=दूसरे पुरुषों द्वारा, पराङ्गनासु=दूसरों की स्त्रियों में, जनिताः=पैदा कराये गये, परधननिरताः=दूसरों के धन में अनुरक्त, गुणेषु = अच्छे गुणों में, अवाच्याः=अकथनीय, अर्थात् गुणहीन, (ये हम) बन्धुलाः=बन्धुल लोग, गजकलभा इव=हाथी के बच्चों के समान, ललामः=स्वच्छन्द विहार करते हैं ॥ २८ ॥

अर्थ—बन्धुल—हम लोग—

विदूषकः—आदिसदु भोदी । (आदिशतु भवती ।)

चेटी—एदु एदु अज्जो ! इमं छट्ठं पओट्ठं पविसदु अज्जो । (एतु एतु आर्य्यः, इमं षष्ठं प्रकोष्ठं प्रविशतु आर्य्यः ।)

विदूषकः—(प्रविश्यालोक्य च) ही ही भो ! इध वि छट्ठे पओट्ठे अमुं दाव सुवण्ण–रअणाणं कम्मतोरणाइं णील–रअण–विणिक्खित्ताइं इन्दाउहट्ठाणं विअ दरिसअन्ति । वेदुरिअ–मोत्तिअपवालपुप्फराअ–इन्द-णील–कक्केतरअ–पउमराअ–मरगअ–पहुदिआइं रअणविसेसाइं अण्णोण्णं विआरेन्ति सिप्पिणो । वज्झन्ति जादरूवेहिं माणिक्काइं, घड्डिज्जन्ति सुव-ण्णालङ्कारा । रत्तसुत्तेण गत्थीअन्ति मोत्तिआभरणाइं, घसीअन्ति धीरं वेदु-रिआइं, छेदीअन्ति सङ्खआ, साणिज्जन्ति पवालआ, सुक्खविअन्ति ओल-विदकुङ्कुमपत्थरा, सालीअदि कत्थूरिआ, विसेसेण घिस्सदि चन्दण-रसो, संजोईअन्ति गन्धजुत्तीओ, दीअदि गणिआ–कामुकाणं सकप्पूरं तम्बोलं, अवलोईअदि सकडक्खअं, पअट्ठदि हासो, पिवीअदि अ अणवरअं ससिक्कारं मइरा । इमे चेडा, इमा चेड़िआओ, इमे अवरे अवधोरिद–पुत्त–दार–वित्ता मणुस्सा आसव-करआ–सहिद–पीद–मदिरेहिं गणिआ–

दूसरों के घरों में पलनेवाले, दूसरों के अन्न से परिपुष्ट होनेवाले, दूसरे पुरुषों द्वारा दूसरों की स्त्रियों में उत्पन्न कराये गये, दूसरों के धन से आनन्द करनेवाले, गुणों से रहित ये हम बन्धुल लोग हाथी के बच्चों के समान स्वच्छन्द विचरण करते हैं ॥ २८ ॥

टीका—विदूषकेण पृष्टाः के यूयमिति बन्धुलाः स्वस्वरूपं प्रकटयन्त आहुः—परगृहेति । परेषाम् गृहेषु = भवनेषु, ललिताः यद्वा परगृहंललितम् अभीप्सितं येषां ते, परेषाम् अन्नेन=अन्नादिना पुष्टाः=परिपुष्टाः, परपुरुषैः=पतिभिन्ननरैः, परेषाम्=परपुरुषाणाम्, अङ्गनासु=पत्नीषु, जनिताः=उत्पादिताः, परेषां धनेषु=वित्तेषु, निरताः=उपभोगे संलग्नाः, गुणेषु=दाक्षिण्यादिषु, अवाच्याः=अवचनीयाः, गुणहीना इति भावः, बन्धुलाः = उक्तलक्षणाः 'वयं खलु' इति गद्यांशेनान्वयः, गजकलभाः=हस्तिशावकाः, इव, ललामः=स्वच्छन्दं विहराम इत्यर्थः । √लड् विलासे इत्यस्य रूपम्, डस्य लत्वादेशोऽनुप्रासानुरोधात् । पुष्पिताग्रा वृत्तम् ॥२८॥

विमर्श—आजकल बन्धुल किसे कहते हैं, यह प्रसिद्ध नहीं है । सम्भवतः जारज सन्तानें जो वेश्यागृह में पाली जाती थीं, उन्हीं के लिये यह वर्णन है ।

अर्थ—विदूषक—आप (आगे का मार्ग) बताइये ।

चेटी—आर्य ! आइये, आइये, इस छठें प्रकोष्ठ में आर्य ! प्रवेश करिये ।

जणेहिं जे मुक्का आसआ ताइं पिअन्ति । आदिसदु भोदी । (आश्चर्यं भोः ! इहाऽपि षष्ठे प्रकोष्ठे अमूनि तावत् सुवर्णरत्नानां कर्मतोरणानि नील-रत्न-विनि-क्षिप्तानि इन्द्रायुधस्थानमिव दर्शयन्ति । वैदूर्य-मौक्तिक-प्रवाल-पुष्परागेन्द्र-नील-कर्केतरकपद्मराग-मरकतप्रभृतीन् रत्नविशेषान् अन्योन्यं विचारयन्ति शिल्पनः । वध्यन्ते जातरूपैर्माणिक्यानि, घटयन्ते सुवर्णालङ्काराः, रक्तसूत्रेण ग्रथ्यन्ते मौक्तिकाभरणानि, घृष्यन्ते धीरं वैदूर्याणि; छिद्यन्ते शङ्खाः, शाण्यन्ते प्रवालकाः, शोष्यन्ते आर्द्रकुङ्कुमप्रस्तराः, सार्य्यते कस्तूरिका, विशेषेण घृष्यते चन्दनरसः, संयोज्यन्ते गन्धयुक्तयः, दीयते गणिकाकामुकयोः सकर्पूरं ताम्बूलम्, अवलोक्यते सकटाक्षम्, प्रवर्त्तते हासः, पीयते च अनवरतं ससीत्कारं मदिरा । इमे चेटाः, इमाश्चेटिकाः,

---

शब्दार्थ—नीलरत्नविनिक्षिप्तानि = इन्द्रनीलमरकत आदि मणियों से जड़े हुये, सुवर्णरत्नानाम्=रत्नजटित सोने के, कर्मतोरणानि=कलाकृतियुक्त (नक्काशीदार) बाहरी दरवाजे, इन्द्रायुधस्थानम् इव—इन्द्रधनुष के प्रदेश, या सौन्दर्य को, दर्शयन्ति=दिखा रहे हैं । शिल्पिनः=कारीगर लोग, वैदूर्य–मौक्तिक–प्रवाल–पुष्पराग–इन्द्रनील–कर्केतरक–पद्मराग–मरकतप्रभृतीन्=वैदूर्य, मोती, मूंगा, पुखराज, इन्द्रनील, कर्केतरक, पद्मराग, मरकत आदि, रत्नविशेषान्=विशेष विशेष रत्नों के विषय में, विचारयन्ति = विचार करते हैं । जातरूपैः=सोने के द्वारा, बाध्यन्ते=बांधे जा रहे हैं । घृष्यन्ते=घिसी जा रहीं हैं, तरासी जा रहीं हैं, आर्द्रकुंकुमप्रस्तराः =गीले कुंकुम के पत्थर, शोष्यन्ते=सुखाये जा रहे हैं । अवधीरित–पुत्रदारवृत्ताः= पुत्र एवं पत्नी की उपेक्षा करनेवाले, आसवकरकापीतः = मदिरा के प्यालों (गिलासों) में मदिरा पी चुकनेवाली, गणिकाजनैः=गणिकाओं द्वारा, मुक्ताः= पीकर छोड़ी गयी ।

अर्थ—विदूषक—(प्रवेश करके और देखकर) अरे आश्चर्य है इस छठे प्रकोष्ठ (भवन खण्ड) में भी मरकत मणि से जटित, सोने और रत्नों के (बने हुये) चित्रकलायुक्त (नक्काशीदार) तोरण इन्द्रधनुष की छटा दिखा रहे हैं । कारीगर (जौहरी लोग) वैदूर्य, मोती, मूंगा, पुष्पराज (पुखराज) इन्द्रनील, कर्केतरक, पद्मराग, तथा मरकत आदि रत्नों के विषय में परस्पर विचार विनिमय कर रहे हैं । सोने के साथ मणियाँ जड़ी जा रही हैं । सोने के गहने गढ़े जा रहे हैं । लाल सूत्रों में मोती के गहने गूंथे जा रहे हैं । वैदूर्य धीरे-धीरे घिसे जा रहे हैं । शंख छेदे जा रहे हैं । मूंगे शान द्वारा खरादे जा रहे हैं । गीली केशर की परतें सुखाई जा रहीं हैं । कस्तूरी (सूखने के लिये बार-बार) ऊपर नीचे की जा रही है । चन्दन का रस (सन्दल) विशेष रूप से घिसा जा रहा है । कई प्रकार की सुगन्धित वस्तुयें मिलाई जा रहीं है । गणिकाओं और कामुकों को कपूरयुक्त पान दिये जा रहे

इमे अपरे अवधीरितपुत्रदारवित्ता मनुष्याः आसव-करकासहितपीतमदिरैर्गणिकाजनैर्ये मुक्ता आसवाः तान् पिबन्ति । आदिशतु भवती ।)

चेटी—एदु एदु अज्जो । इमं सत्तमं पओट्ठं पविसदु अज्जो । (एतु एतु आर्यः । इमं सप्तमं प्रकोष्ठं प्रविशतु आर्यः ।)

विदूषकः—(प्रविश्यावलोक्य च) **हीही भो ! इध वि सत्तमे पओट्ठे सुसिलिट्ट-विहङ्ग-वाड़ीसुह-णिसण्णाइं अण्णोण-चुम्बणपराइं सुहं अणुभवन्ति पारावद-मिहुणाइं । दहिभत्त-पुरिदोदरो बम्हणो विअ सुत्तं पढदि पञ्जरसुओ । इअं अवरा सामि-संमाणणा-लद्ध-पसरा विअ घरदासी अधिअं कुरकुराअदि मदणसारिआ । अणेअ-फलरसास्साद-पतुट्ठ-कण्ठा कुम्भदासी विअ कूअदि परपुट्ठा । आलम्बिदा णागदन्तेसु पञ्जर-परम्पराओ । जोधीअन्ति लावआ । आलवीअन्ति पञ्जरकविञ्जला । पेसीअन्ति पञ्जरकवोदा । इदो तदो विविहमणि-चित्तलिदो विअ अअं सहरिसं णच्चन्तो रवि-किरण-सन्तत्तं पक्खुक्खेवेहिं विधुवेदि विअ पासादं घरमोरो ।** (अन्यतोऽवलोक्य) **इदो पिण्डोकिदा विअ चन्दपादा पदगदिं सिक्खन्ता विअ कामिणीणं पच्छादो परिब्भमन्ति राअहंसमिहुणा । एदे अवरे वुड्ढ-महल्लका विअ इदो तदो सञ्चरन्ति घरसारसा । हीही भो ! पसारअं किदं गणिआए णाणापक्खिसमूहेहिं । जं सच्चं क्खु णन्दणवणं विअ मे गणिआघरं पड़िभासदि । आदिसदु भोदी ।** (आश्चर्यं भोः ! इहाऽपि सप्तमे

हैं । कटाक्षसहित देखा जा रहा है । हँसी हो रही है । सीत्कार (सी सी शब्द) के साथ मदिरा पी जा रही है । ये चेट हैं, ये चेटिकायें है । अपने पुत्र, पत्नी और धन सभी को छोड़ देने वाले ये लोग, गणिकाओं द्वारा शकोरों में पी कर छोड़ी गयी जो मदिरा उसे पी रहे हैं। वेश्याओं ने मदिरा पीकर जूठी प्याली उन्हें दे दी है, उसे ही पी रहे हैं । आप (आगे के मार्ग का) आदेश करें ।

टीका—नीलरत्नैः = मरकतमणिभिः, विनिक्षिप्तानि = खचितानि, सुवर्णरत्नानाम्=सुवर्णे जटितरत्नानाम्, कर्मतोरणानि=शिल्पकर्मणा निर्मितानि बहिर्द्वाराणि, इन्द्रायुधस्य=शक्रचापस्य, स्थानम्=आस्पदम्, सौन्दर्यं वा, शिल्पिनः=शिल्पकाराः, रत्नविशेषान् विचारयन्ति=रत्नविशेषाणामुपयुक्तताविषये चिन्तयन्ति । जातरूपैः=स्वर्णैः । अवधीरिताः=तिरस्कृताः, पुत्राः = आत्मजाः, दाराः=भार्याः, वित्तम्=धनं च यैः ते, कामुकाः जनाः, करकासहितपीतमदिरैः=करका=चषकः तेन सहितं यथा स्यात् तथा पीता मदिरा=आसवः यैस्तैः, गणिकाजनैः=वेश्याजनैः, ये आसवाः मुक्ताः=पीत्वा परित्यक्ताः ।

अर्थ—चेटी—आइये आर्य ! आइये । आर्य, इस सातवें प्रकोष्ठ में प्रवेश करिये ।

प्रकोष्ठे सुश्लिष्ट-विहङ्गवाटी-सुखनिषण्णानि अन्योन्यचुम्बनपराणि सुखमनुभवन्ति पारावतमिथुनानि। दधिभक्तपूरितोदरो ब्राह्मण इव सूक्तं पठति पञ्जरशुकः। इयम-परा स्वामिसम्माननालब्धप्रसुरा इव गृहदासी अधिकं कुरकुरायते मदनसारिका। अनेकफलरसास्वादप्रतुष्टकण्ठा कुम्भदासीव कूजति परपुष्टा। आलम्बिता नाग-दन्तेषु पञ्जरपरम्पराः। योध्यन्ते लावकाः। आलाप्यन्ते पञ्जरकपिञ्जलाः।

शब्दार्थः—सुश्लिष्टविहङ्गवाटीसुखनिषण्णानि=सुन्दर चिड़िया घर में आराम से बैठे हुये, अन्योन्यचुम्बनपराणि=एक दूसरे के चूमने में लगे हुये, पारावत-मिथुनानि=कबूतरों के जोड़े, अनुभवन्ति=अनुभव कर रहे हैं। दधिभक्तपूरितोदरः= दही भात से भरे हुये पेट वाला, पञ्जरशुकः = पिंजड़े का तोता, सूक्तम्=अच्छी अच्छी बातें, स्वामिसम्माननालब्धप्रसरा=मालिक द्वारा किये गये सम्मान के कारण बढ़ी हुयी अर्थात् मुँह लगी, मदनसारिका=मैना, अनेकफलरसास्वादप्रहृष्ट-कण्ठा=अनेकफलों के रसों को चखने से खिले हुये कण्ठवाली, कुम्भदासी=कुट्टिनी, परभृता=कोयल, नागदन्तेषु=खूँटियों पर। लावकाः=बटेर। कपिञ्जलाः=गौरवर्ण के तीतर पक्षी, विविधमणिचित्रितम्=अनेक मणियों से जटित, रविकिरणसन्तप्तम्= सूर्य की किरणों से सन्तप्त, विधुवति=हवा कर रहा है। चन्द्रपादाः=चन्द्रमा की किरणें,वृद्धमहल्लका=बड़े बुढ़े पुरुष, गृहसारसाः=पालतू सारस।

अर्थ—**विदूषक**—(प्रवेश करके और देखकर) अरे ! आश्चर्य है, यहाँ सातवें प्रकोष्ठ (भवनखण्ड) में भी सुन्दर बने हुये चिड़ियाघर में आराम से बैठे हुये, परस्पर चुम्बन करने वाले कबूतरों के जोड़े आनन्द का अनुभव कर रहे हैं। दही भात (खाने) से भरे हुये पेट वाले ब्राह्मण के समान पिंजरे का तोता सूक्त= अच्छी-अच्छी बातें बोल रहा है। दूसरी, यह मैना, अपने मालिक के अधिक आदर पाने से मुँह लगी नौकरानी के समान, कुर कुर शब्द कर रही है। अनेक फलों के रसों को चखने से प्रहृष्ट=विकसित कण्ठवाली यह कोयल कुट्टिनी स्त्री के समान कूक रही है। खूँटियों पर पिंजड़ों की पंक्तियाँ लटक रहीं हैं। बटेर लड़ाई जा रही है। तित्तिर पक्षियों से बात की जा रही है। पिंजड़े के कबूतर उड़ाये जा रहे हैं। आनन्द से नाचता हुआ, विभिन्न प्रकार की मणियों से चित्रित सा यह पालतू मोर, सूरज की किरणों से गर्म हुये भवन को अपने पंखों को फड़फड़ाने से, मानों हवा कर रहा है। (दूसरी ओर देख कर) इधर, एकत्रित की गई चन्द्रमा की किरणों के समान ऊँची जाति के हसों के जोड़े सुन्दर स्त्रियों के पीछे पीछे अच्छी चाल सीखते हुये इधर घूम रहे हैं। दूसरे ये पालतू सारस पक्षी बहुत बूढ़ें पुरुषों के समान इधर उधर घूम रहे हैं। अरे ! आश्चर्य है, इस वेश्या ने तो अनेक प्रकार के पक्षिसमूहों से (घर) भर रखा है। सचमुच मुझे वेश्या का यह घर (इन्द्र

प्रेष्यन्ते पञ्जरकपोताः। इतस्ततो विविधमणिचित्रित इवायं सहर्षं नृत्यन् रविकिरणसन्तप्तं पक्षोत्क्षेपैर्विधुवतीव प्रासादं गृहमयूरः। इतः पिण्डीकृता इव चन्द्रपादाः पदगतिं शिक्षमाणानीव कामिनीनां पश्चात् परिभ्रमति राजहंसमिथुनानि। एते अपरे वृद्धमहल्लका इव इतस्ततः संचरन्ति गृहसारसाः। आश्चर्यं भोः! प्रसारणं कृतं गणिकाया नानापक्षिसमूहैः। यत्सत्यं खलु नन्दनवनमिव मे गणिकागृहं प्रतिभासते। आदिशतु भवती।)

चेटी—**एदु एदु अज्जो। इमं अट्ठमं पओट्ठं पविसदु अज्जो।** (एतु एतु आर्यः। इमम् अष्टमं प्रकोष्ठं प्रविशतु आर्यः।)

विदूषकः—(प्रविश्यावलोक्य च) **भोदि! को एसो पट्टपावारअपाउदो अधिअदरं अच्चब्भुद-पुणरुत्तालङ्कारालङ्किदो अङ्गभङ्गेहिं परिक्खलन्तो इदो तदो परिब्भमदि।** (भवति! क एष पट्टप्रावारकप्रावृतः अधिकतरमत्यद्भुत-पुनरुक्तालंकारालङ्कृतः अङ्गभङ्गैः परिस्खलन्नितस्ततः परिभ्रमति?)

के) नन्दनवन के समान प्रतीत हो रहा है। श्रीमती! आप (आगे का मार्ग) बतलाइये।

टीका—सुश्लिष्टा=सुनिर्मिता, या विहङ्गमानाम्=पक्षिणाम्, वाटी=शाला, तस्याम्, सुखेन=आनन्देन, निषण्णानि=उपविष्टानि, अन्योन्यम्=परस्परम्, चुम्बनपराणि = चुम्बनसंसक्तानि, पारावतमिथुनानि = कपोतयुगलानि, दध्ना मिश्रितेन भक्तेन=ओदनेन, पूरितम्=परिपूर्णम् उदरं यस्य सः, पञ्जरशुकः=पञ्जरस्थः शुकः, सूक्तम्=सद्वचनम्। स्वामिनः सम्मानना=अत्यादरः, तया, लब्धः=प्राप्तः, प्रसरः=प्रभावः, यया सा, कुरकुरायते=कुर कुर इति शब्दं करोति। अनेकफलानाम्=विविधफलानाम्, रसानाम्, आस्वादेन=पानेन, भक्षणेन वा, प्रहृष्टः=उत्कृष्टः, कण्ठः=कण्ठस्वरः यस्याः सा, कुम्भदासी इव=कुट्टिनी इव, नागदन्तेषु=भित्त्यादिषु स्थितेषु काष्ठखण्डेषु,। लावकाः = पक्षिविशेषाः 'बटेर' इति हिन्दीभाषायाम्। पञ्जरकपिञ्जलाः पञ्जरस्थाः गौरतित्तिराः। पक्षोत्क्षेपैः = पक्षाणां सञ्चालनैः, विधुवति=कम्पयति इव। चन्द्रपादाः=चन्द्रकिरणाः, वृद्धमहल्लकाः=गृहस्य वृद्धपुरुषाः, प्रसारणम्=व्यापनम्, नन्दनवनम्=इन्द्रवनम्, गणिकागृहम्=वसन्तसेनाभवनम्।

चेटी—आर्य! आइये, आइये। इस आठवें प्रकोष्ठ (भवनखण्ड) में आप प्रवेश करिये।

विदूषक—(घुस कर और देखकर) श्रीमतिके! यह कौन है, जो रेशमी दुपट्टे को ओढ़े हुये, अत्यन्त विलक्षण, एक ही प्रकार के लगने वाले आभूषणों से सजा हुआ, अङ्गों को टेढ़ा मेढ़ा चलाता हुआ इधर उधर खूब घूम रहा है।

चेटी—अज्ज ! एसो अज्जआए भादा भोदि । (आर्य्य ! एष आर्य्याया भ्राता भवति ।)

विदूषक—केत्तिअं तवच्चरणं कदुअ वसन्तसेणाए भादा भोदि । अथवा
मा दाव, जइ वि एसो उज्जलो सिणिद्धोअ सुअन्धोअ ।
तहवि ससाणवीधीए जादो विअ चम्पअरुक्खो अणहिगमणीओ लोअस्स ।२९।

(अन्यतोऽवलोक्य) भोदि ! एसा उण का ? फुल्लपावारअपाउदा उवाणह-जुअलणिक्खित्ततेल्ल-चिक्कणेहिं पादेहिं उच्चासणे उवविट्टा चिट्ठदि ? (कियत् तपश्चरणं कृत्वा वसन्तसेनाया भ्राता भवति । अथवा
मा तावत्, यद्यप्येष उज्ज्वलः स्निग्धश्च सुगन्धश्च ।
तथापि-श्मशानवीथ्यां जात इव चम्पकवृक्षोऽनभिगमनीयो लोकस्य ॥ २९ ॥

चेटी—आर्य ! यह आर्या वसन्तसेना का भाई लगता है ।

विदूषक—कितनी तपस्या करके वसन्तसेना का भाई बनता है । अथवा—

अन्वयः—मा, तावत्, यद्यपि एषः, उज्ज्वलः, स्निग्धः, च, सुगन्धः, च, (अस्ति), तथापि श्मशानवीथ्याम्, जातः, चम्पकवृक्षः, इव, लोकस्य, अनभिगमनीयः (अस्ति) ॥ २९ ॥

शब्दार्थ—मा तावत्=[इसके विषय में मुझे इतना अच्छा] नहीं [सोंचना चाहिये]; यद्यपि = यद्यपि, एषः = यह, उज्ज्वलः=उज्वल, च = और, स्निग्धः = चिकना, च = और, सुगन्धः=सुगन्धियुक्त है; तथापि=फिर भी, श्मशानवीथ्याम्= मरघट की गली (मार्ग) में, जातः=उत्पन्न हुये, चम्पकवृक्षः इव=चम्पा के पौधे के समान, लोकस्य=लोगों के लिये, अनभिगमनीयः=त्याज्य है ॥ २९ ॥

अर्थ—ऐसी बात नहीं है [अर्थात् मुझे इसके विषय में इतना अच्छा नहीं सोंचना चाहिये ।] यद्यपि यह साफ, चिकना और सुगन्धित है । फिर भी मरघट की गली में उत्पन्न चम्पा के पौधा के समान यह लोगों के लिये त्याज्य है ॥ २९ ॥

टीका—तपश्चरणेन वसन्तसेनाया भ्रातृपदं लभ्यते इति मम चिन्तनं नोपयुक्तमिति तस्य त्याज्यत्वं निरूपयन्नाह—मा तावदिति । यद्यपि, एषः=सम्मुखीनः वसन्तसेनाभ्राता, उज्जलः = स्वच्छः, गौरवर्ण इति भावः, स्निग्धः = तैलादिभिः चिक्कणः, च, सुगन्धः=सौगन्धिकद्रव्यैः समलङ्कृतश्चास्ति; तथापि, श्मशानवीथ्याम्=श्मशानमार्गे, जातः=उत्पन्नः, चम्पकवृक्षः=चम्पानामक-पुष्पविशेषवृक्षः, इव= यथा, लोकस्य=सामाजिकस्य, अनभिगमनीयः=स्पर्शायोग्यः, अग्राह्य इति भावः, भवति, तथैव वेश्याजातत्वादयमपि समाजे अस्त्रीकार्यः ॥ २९ ॥

विमर्शः—प्रस्तुत अंश का कुछ संस्करणों में गद्य के रूप में भी प्राप्त होता है । परन्तु शैली के अनुसार इसे पद्य ही मानना ठीक है ॥२९॥

भवति ! एषा पुनः का फुल्लप्रावारकप्रावृता उपानद्युगलनिक्षिप्त-तैल-चिक्कणाभ्यां पादाभ्यामुच्चासनोपविष्टा तिष्ठति ?)

चेटी—अज्ज ! एसा क्खु अम्हाणं अज्जआए अत्तआ। (आर्य ! एषा खल्वस्माकम् आर्याया माता ।)

विदूषकः—अहो ! से अपवित्तडाइणीए पोट्टवित्थारो ता किं एदं पवेसिअ महादेवं विअ दुआरसोहा इह घरे णिम्मिदा ? । (अहो ! अपवित्र-डाकिन्या उदरविस्तारः । तत् किम् एतां प्रवेश्य महादेवमिव द्वारशोभा इह गृहे निर्म्मिता ?)

चेटी—हदास ! मा एव्वं उवहस अम्हाण अत्तिअं । एसा क्खु चाउत्थिएण पीडिअदि । (हताश ! मैवमुपहस अस्माकं मातरम् । एषा खलु चातुर्थिकेन पीडयते ।)

विदूषकः—(सपरिहासम्) **भअवं चाउत्थिअ ! एदिणा ऊवआरेण मं वि बम्हणं आलोएहि ।** (भगवन् चातुर्थिक ! एतेनोपकारेण मामपि ब्राह्मणमालोकय ।)

शब्दार्थ—फुल्लप्रावारकवृता=फूले हुये या फूलों की आकृति से युक्त कढ़ाई वाली चादर ओढ़े हुये, उपानद्-युगल-निक्षिप्त-तैल-चिक्कणाभ्याम्=दोनों जूतियों में डाले गये तेल से चिकने, पादाभ्याम् = पैरों से । आर्यायाः=वसन्तसेना की । अपवित्रडाकिन्याः = अपवित्र डाइन का, कहीं कहीं कपर्दडाकिन्याः = दूषित डाइन का—यह पाठ है । हताश=मूर्ख । प्रवेश्य=प्रवेश कराकर । चातुर्थिकेन=चौथिया, चार चार दिन पर होने वाले बुखार से । शूनपीनजठरः=बढ़े एवं मोटे पेटवाला ।

अर्थ—(दूसरी ओर देखकर) श्रीमती जी ! यह कौन है जो फूलोंवाली चादर ओढ़े हुये, दोनों जूतों में तेल डालने से चिकने पैरों वाली ऊँचे आसन पर बैठी है ।

चेटी—आर्य ! ये हम लोग की आर्या (मालकिन वसन्तसेना) की माता जी हैं ।

विदूषक—ओह ! इस गन्दी डाइन के पेट का फैलाव । तो क्या महादेव के समान इसको पहले (घर में) प्रवेश कराकर यहाँ घर में सुन्दर दरवाजों की शोभा बनाई गयी होगी । [दरवाजे बन जाने के बाद इतने बड़े पेटवाली इसको घर में घुसा सकना कठिन होता ।]

चेटी—मूर्ख ! हम लोगों की माताजी की हंसी मत उड़ाओ । यह तो चौथिया बुखार से पीड़ित है ।

विदूषक—भगवन् चातुर्थिक ! इसी उपकार की दृष्टि से मुझ ब्राह्मण को भी देखिये ।

चेटी—हदास ! मरिस्ससि । (हताश ! मरिष्यसि ।)

विदूषकः—(सपरिहासम्) **दासीए धीए ! वरं ईदिसो सूण-पीण-जठरो मुदो ज्जेव ।** (दास्याः पुत्रि ! वरम् ईदृशः शूनपीनजठरो मृत एव ।)

सीहु-सुरासव-मत्तिआ एआवत्थ गदा हि अत्तिआ ।

जइ मरइ एत्थ अत्तिआ भोदि सिआल-सहस्स-जत्तिआ ॥ ३० ॥

(सीधुसुरासवमत्ता एतावदवस्थां गता हि माता ।

यदि म्रियतेऽत्र माता भवति शृगालसहस्रयात्रा ॥ ३० ॥)

भोदि ! किं तुम्हाणं जाणवत्ता वहन्ति ? (भवति ! किं युष्माकं यानपात्राणि वहन्ति ?)

चेटी—मूर्ख ! मारे जाओगे ।

विदूषक—(हँसी से) दासी की बच्ची ! बढ़े हुये और मोटे पेटवाला व्यक्ति मरा हुआ ही अच्छा है ।

अन्वयः—सीधुसुरासवमत्ता, माता, एतदवस्थाम्, गता, हि, अत्र, यदि, माता, म्रियते, शृगालसहस्रयात्रा, भवति ॥ ३० ॥

शब्दार्थ—सीधुसुरासवमत्ता=सीधु, सुरा और आसव [इन तीन प्रकार की मदिराओं] से मत्त, माता = वसन्तसेना की माँ, एतावदवस्थाम्=इस प्रकार की मोटापा की दशा को, गता=प्राप्त कर चुकी है, हि=निश्चित, यदि=यदि, माता=माता, म्रियते=मर जाती है, तो, शृगालसहस्रयात्रा=हजारों सियारों की जीवन-यात्रा=भोजन, भवति=हो जाय े ॥ ३० ॥

अर्थ—सीधु, सुरा और आसव—इन तीन प्रकार की मदिराओं के पीने से मतवाली यह माता इस [मोटापा की] हालत को प्राप्त हुयी हैं, यदि ये माता मर जाती हैं तो हजारों सियारों की यात्रा=जीवनयात्रा=भोजन बन जायगी ॥३०॥

टीका—वसन्तसेनायाः मातुः स्थौल्यं विलोक्य जीवनापेक्षया तस्य मरणमुपकारकमिति प्रतिपादयति —सीधुसुरेति । सीधु-सुरासवैः = त्रिविधैः मदिराविशेषैः, तासां भृशं पानेनेत्यर्थः, मत्ता=मदयुक्ता, माता=वसन्तसेनायाः माता, एतावदवस्थाम्=एतादृशीं स्थूलावस्थाम्, गता=प्राप्ता, माता, यदि, म्रियते=निधनं प्राप्नोति, तदा, शृगालसहस्राणाम्, यात्रा=जीवनयात्रा, भोजनमिति भावः, भवति=सम्पद्यते । एवञ्च जीवनात् मरणं श्रेयः । आर्या वृत्तम् ॥ ३० ॥

विमर्श—अन्न, फल आदि से बननेवाली तीनों मदिराओं को यहाँ लिखा है । शृगालसहस्रयात्रा-के स्थान पर कहीं-कहीं 'शृगालसहस्रपर्याप्तिका' यह पाठ है । अभिप्राय समान है ॥ ३० ॥

अर्थ—आर्ये ! क्या [व्यापारादि के लिये] आप लोगों की गाड़ियाँ चलती हैं ?

चेटी—अज्ज ! णहि णहि । (आर्य ! नहि नहि ।)

विदूषकः—किंवा एत्थ पुच्छीअदि । तुम्हाणं क्खु पेम्मणिम्मलजले मअण-समुद्दे त्थण-णिअम्ब-जहणा-ज्जेव जाणवत्ता मणहरणा । एव्वं वसन्तसेणाए पहुवुत्तन्तं अट्ठपओट्ठं भवणं पेक्खिअ, जं सच्चं जाणामि, एकत्थं विअ तिविट्ठवं दिट्ठं । पसंसिदुं णत्थि मे वाआविहवो । किं दाव गणिआघरो ? अहवा कुबेरभवणपरिच्छेदो ति ? । कहिं तुम्हाणं अज्जआ ? (किंवा अत्र पृच्छयते ? युष्माकं खलु प्रेमनिर्म्मलजले मदनसमुद्रे स्तननितम्बजघनान्येव यानपात्राणि मनोहराणि । एवं वसन्तसेनाया बहुवृत्तान्तम् अष्टप्रकोष्ठं भवनं प्रेक्ष्य, यत् सत्यं जानामि; एकस्थमिव त्रिविष्टपं दृष्टम् । प्रशंसितुं नास्ति मे वाचाविभवः । किं तावत् गणिकागृहम्, अथवा कुबेरभवनपरिच्छेद इति । कस्मिन् युष्माकमार्या ?)

चेटी—अज्ज ! एसा रुक्खवाड़िआए चिट्ठदि । ता पविसदु अज्जो ।
(आर्य ! एषा वृक्षवाटिकायां तिष्ठति । तत् प्रविशतु आर्य्यः ।)

चेटी—आर्य ! नहीं, नहीं ।

शब्दार्थ – प्रेमनिर्मलजले=प्रेमरूपी निर्मल जलवाले, मदनसमुद्रे=कामदेवरूपी सागर में, यानपात्राणि=वाहन हैं । बहुवृत्तान्तम्=बहुत वर्णनीय, एकस्थम्=एकही स्थान में स्थित, त्रिविष्टपम् = स्वर्ग, कुबेरभवनपरिच्छेदः=कुबेर के भवन का एक भाग है ।

अर्थ – विदूषकः—अथवा इसमें पूछने की क्या बात ? आप लोगों के प्रेमरूपी निर्मल जलवाले, कामरूपी समुद्र में, स्तन, नितम्ब और जाँघें ही सुन्दर यानपात्र= वाहन हैं । वसन्तसेना के इस प्रकार के बहुत प्रशंसनीय, आठ खण्डों वाले भवन को देखकर यह सच समझता हूँ कि मानों स्वर्ग एक ही स्थान पर एकत्रित होकर है । प्रशंसा करने के लिये मेरी वाणी की शक्ति नहीं है । तो क्या यह वेश्या का घर है अथवा धनाधिपति कुबेर के प्रासाद का एक हिस्सा है । तुम्हारी आर्या [स्वामिनी वसन्तसेना] कहाँ हैं ?

टीका—यानपात्राणि = व्यापारार्थं वाहनादीनि, प्रेम एव निर्मलम् = स्वच्छं जलं यस्मिन् तस्मिन्, बहुवृत्तान्तम् = बहूनि वृत्तान्तानि = वर्णनानि यस्य तत्, बहु प्रशंसनीयमिति भावः, एकस्थम् = एकस्मिन् स्थाने स्थितम्, त्रिविष्टपम्=स्वर्गम्, वाचाविभवः=वाणीशक्तिः, कुबेरस्य=धनाधिपतेः, भवनस्य=प्रासादस्य, परिच्छेदः= भागविशेषः ।

अर्थ–चेटी -आर्य ! ये वृक्षवाटिका में बैठीं हैं । इसलिये आप प्रवेश करें ।

विदूषकः—(प्रविश्य दृष्ट्वा च) ही ही भो ! रुक्खवाडिआए सस्सिरीअदा । अच्छरीदि-कुसुमपत्थारा रोविदा अणेअपादवा णिरन्तर-पादवतल-णिम्मिदा जुवदिजण-जहणप्पमाणा पट्टदोला, सुवण्णजूहिआ-सेहालिआ-मालई-मल्लिआ-णोमालिआ-कुरवआ-अदिमोत्तअ-प्पहुदिकुसुमेहिं सअं णिवड़िदेहिं जं सच्चं लहु करेदि विअ णन्दणवणस्स सरिसरीअदं । (अन्यतोऽवलोक्य) इदो अ उदअन्त-सूरसमप्पहेहिं कमलरत्तोप्पलेहिं । संज्झाअदि विअ दीहिआ । (आश्चर्यं भोः ! अहो वृक्षवाटिकायाः सश्रीकता ! अच्छरीतिकुसुमप्रस्तारा: रोपिता अनेकपादपाः, निरन्तर-पादपतल-निर्म्मिता युवति-जन-जघनप्रमाणा पट्टदोला, सुवर्णयूथिका-शेफालिका-मालती-मल्लिका-नवमल्लिका-कुरबकातिमुक्तकप्रभृतिकुसुमैः स्वयं निपतितैर्यत्सत्यं लघूकरोतीव नन्दनवनस्य सश्रीकताम् । इतश्च उदयत्-सूर्य-समप्रभैः कमलरक्तोत्पलैः सन्ध्यायते इव दीर्घिका ।)

शब्दार्थ—सश्रीकता=सौन्दर्यम् । अच्छरीतिकुसुमप्रस्तारा=सुन्दर ढंग से फूलों के फैलाववाले, रोपिताः=लगाये गये, निरन्तर-पादपतलनिर्मिता=घने पेड़ों के नीचे बनीं हुयीं, युवतिजनजघनप्रमाणा=युवतियों के पृष्ठ भाग=नितम्ब के समान प्रमाण-वाली, पट्टदोला=रेशम से बने हुये झूले हैं, नन्दनवनस्य=इन्द्र के उपवन को, लघू-करोतीव=मानों तुच्छ कर रहा है। उदयत्-सूर्यसमप्रभैः=उदित होनेवाले सूर्य के समान, कमलरक्तोत्पलैः = सफेद कमल और लाल कमलों से, दीर्घिका = बावड़ी, सन्ध्यायते इव=सन्ध्या के समान लग रही है।

अर्थ—विदूषक—(प्रवेश करके और देखकर) अरे आश्चर्य है। अहो ! इस वृक्ष वाटिका की सुन्दरता [अपूर्व है] ! अच्छे ढंग से फैले हुये फूलों के विस्तार वाले अनेक पेड़ लगे हैं, घने पेड़ों के नीचे बने हुये, युवतियों की जघन [कटि अधोभाग] के समान प्रमाणवाले, रेशमी झूले हैं। अपने आप गिरे हुये, सुवर्ण—यूथिका, शेफालिका, मालती, मल्लिका, नवमल्लिका, कुरबक, अतिमुक्तक आदि के फूलों से सचमुच इन्द्रवन की सुन्दरता को कम कर रहा है। (दूसरी ओर देखकर) और इधर उदित होते हुये सूर्य के समान कान्तिवाले श्वेत और लाल कमलों से यह वापी सन्ध्या के समान लग रही है। [इस की शोभा सन्ध्याकाल के समान लग रही है।].

टीका—अच्छरीत्या = शोभनप्रकारेण, कुसुमानाम् = पुष्पाणाम्, प्रस्तारः= विस्तारः, येषु ते तादृशाः, रोपिताः=आरोपिताः; निरन्तराः—अन्तरशून्याः सघनाः ये पादपाः=वृक्षाः तेषां तले=अधोभागे, निर्मिता=रचिता, युवतिजनानां जघनम्= कटितटाधोभागः, प्रमाणं यस्याः सा, तादृशी, पट्टस्य=क्षौमस्य, दोला=प्रेङ्खा, स्वयं निपतितैः=समयप्रवाहेण स्वयं भूमौ पतितैः, नन्दनवनस्य=इन्द्रवनस्य, सश्रीकताम्=

अवि अ (अपि च)—

एसो असोअबुच्छो णवणिग्गअ-कुसुम-पल्लवो भादि ।
सुभडो व्व समरमज्झे घण-लोहिद-पङ्क-चच्चिक्को ॥ ३१ ॥

(एषोऽशोकवृक्षो नवनिर्गतकुसुमपल्लवो भाति ।
सुभट इव समरमध्ये घनलोहितपङ्कचर्चितः ॥ ३१ ॥)

भोदु, ता कहिं तुम्हाणं अज्जआ ? (भवतु । तत् कस्मिन् युष्माक-मार्य्या ?)

चेटी—अज्ज ! ओणमेहि दिट्ठिं; पेक्ख अज्जअं । (आर्य्य ! अवनमय दृष्टिम्, प्रेक्षस्व आर्याम् ।)

विदूषकः—(दृष्ट्वा उपसृत्य) **सोत्थि भोदिए ।** (स्वस्ति भवत्यै ।)

सुन्दरताम्, लघूकरोतीव=अलघु लघु करोति । उदयन् सूरः=सूर्य, तत्समप्रभैः=तत्तुल्यकान्तिभिः, कमलैः=सामान्यपंकजैः, रक्तोत्पलैः=कुवलयैः, च, दीर्घिका=वापी, सन्ध्यायते=सन्ध्या इवाचरति ।

अन्वयः—नवनिर्गतकुसुमपल्लवः, एषः, अशोकवृक्षः, समरमध्ये, घनलोहित-पंकचर्चितः, सुभटः, इव, भाति ॥ ३१ ॥

शब्दार्थ—नवनिर्गतकुसुमपल्लवः=नये निकले हुये फूलों एवं पत्तोंवाला, एषः=यह, अशोकवृक्षः=अशोक का पेड़, समरमध्ये=युद्धक्षेत्र में, घनलोहितपंक-चर्चितः=गाढ़े खूनरूपी कीचड़ से लिप्त, सुभटः=योद्धा, इव=के समान, भाति=शोभित हो रहा है ॥ ३१ ॥

अर्थ—नये निकले हुये फूलों एवं पत्तोंवाला यह [यह सामने स्थित] अशोक का पेड़, युद्धक्षेत्र में गाढ़े खूनरूपी कीचड़ से लिप्त योद्धा के समान शोभित हो रहा है ॥ ३१ ॥

टीका—अशोकवृक्षस्य सौन्दर्यं निरूपयति —नवनिर्गताः=नवीनोत्पन्नाः, कुसुम-पल्लवाः पुष्पाणि पत्राणि च यस्य सः, एषः=पुरो दृश्यमानः, अशोकवृक्षः=तन्नामकः पादपः समरमध्ये=युद्धभूमौ, घनैः=प्रगाढैः, लोहितैः=रक्तैः एव पङ्कैः=रुधिर-रूपिपङ्कैः, चर्चितः=लिप्तः, सुभटः=योद्धा, इव, भाति=शोभते । उपमालङ्कारः । आर्या वृत्तम् ॥ ३१ ॥

विमर्श—अशोक वृक्ष के विकसित होने के लिये सुन्दर स्त्रियों के पैरों का प्रहार होना चाहिये—'पादाघातादशोकः विकसति ।' इससे वहाँ अनेक सुन्दर नायिकाओं का अस्तित्व सिद्ध होता है ॥ ३१ ॥

अर्थ—अच्छा तो आपकी स्वामिनी कहाँ है ?

चेटी—आर्य ! दृष्टि नीचे की ओर कीजियें और आर्या का दर्शन करिये ।

विदूषक—(देख कर और समीप जाकर) आपका कल्याण हो ।

वसन्तसेना—(संस्कृतमाश्रित्य) अये ! मैत्रेयः । (उत्थाय) स्वागतम् । इदमासनम्, अत्रोपविश्यताम् ।

विदूषक—उववि सदु भोदी । (उपविशतु भवती ।)

(उभावुपविशतः)

वसन्तसेना—अपि कुशलं सार्थवाहपुत्रस्य ?

विदूषकः—भोदि ! कुशलं । (भवति ! कुशलम् ।)

वसन्तसेना—आर्य्य मैत्रेय ! अपीदानीम्—

गुणप्रवालं विनयप्रशाखं विस्रम्भमूलं महनीयपुष्पम् ।
तं साधुवृक्षं स्वगुणैः फलाढ्यं सुहृद्विहङ्गाः सुखमाश्रयन्ति ? ॥ ३२ ॥

वसन्तसेना—(संस्कृत में) अरे मैत्रेय ! (उठ कर) आपका स्वागत है । यह आसन है । इस पर बैठिये ।

विदूषक—आप बैठिये ।

(दोनों बैठते हैं ।)

वसन्तसेना—आर्य चारुदत्त कुशल तो हैं ?

विदूषक—हाँ, कुशल हैं ।

अन्वयः—गुणप्रवालम्, विनयप्रशाखम्, विश्रम्भमूलम्, महनीयपुष्पम्, स्वगुणैः, फलाढ्यम्, तम्, साधुवृक्षम्, सुहृद्विहङ्गाः, सुखम्, आश्रयन्ति ? ॥ ३२ ॥

शब्दार्थ—गुणप्रवालम्=गुणरूपी नवपल्लवों=कोपलों वाले, विनयप्रशाखम्=विनम्रतारूपी शाखाओंवाले, विश्रम्भमूलम्=विश्वासरूपी जड़वाले, महनीयपुष्पम्=बड़प्पनरूपी फूलोंवाले, स्वगुणैः=अपने गुणों से, फलाढ्यम्=फलों से परिपूर्ण, तम्=उस, साधुवृक्षम्=सज्जनरूपी वृक्ष पर, सुहृद्विहङ्गाः=मित्ररूपी पक्षीगण, सुखम्=सुखपूर्वक, आश्रयन्ति=बैठते हैं ॥ ३२ ॥

अर्थ—वसन्तसेना—अरे मैत्रेय ! इस समय भी क्या—

गुण ही जिसके नवपल्लव हैं, विनम्रता ही शाखायें है, विश्वास ही जड़ें हैं, बड़प्पन ही फूल हैं, अपने गुणों से फलपरिपूर्ण ऐसे उस सज्जनरूपी (चारुदत्त) बृक्ष पर मित्ररूपीपक्षी सुखपूर्वक आश्रय लेते हैं अर्थात् अभी भी मित्रगण उनके पास आते हैं ? ॥ ३२ ॥

टीका—विभववन्तमेव बन्धुम्मन्याः सेवन्ते इति लोके दृश्यते, भवान् निर्धनमपि चारुदत्तं किं पूर्ववत् सेवते ? इति जिज्ञासायामाह—गुणप्रवालमिति । गुणाः=दयादाक्षिण्यादय एव प्रवालाः=नवपल्लवाः यस्य तम्, विनयः = विनम्रता एव, प्रशाखाः–प्रकृष्टाः शाखाः यस्य तम्, विश्रम्भः=विश्वासः एव मूलं यस्य तम्, महनीयम्=पूजनीयचरित्रमेव पुष्पं यस्य तम्, स्वगुणैः=निजसद्गुणैः, फलाढ्यम्=

विदूषकः—(स्वगतम्) सुट्ठु उवलक्खिदं दुट्टविलासिणीए । (प्रकाशम्) अध इ । (सुष्ठु उपलक्षितं दुष्टविलासिन्या । अथ किम् ?)

वसन्तसेना—अये ! किमागमनप्रयोजनम् ?

विदूषकः—सुणादु भोदी । तत्तभवं चारुदत्तो सीसे अञ्जलिं कदुअ भोदिं विण्णवेदि । (शृणोतु भवती । तत्रभवान् चारुदत्तः शीर्षे अञ्जलिं कृत्वा भवतीं विज्ञापयति ।)

वसन्तसेना—(अञ्जलिं बद्ध्वा) किमाज्ञापयति ?

विदूषकः—मए तं सुवण्णभण्डअं विस्सम्भादो अत्तणकेरकेत्ति कदुअ जूदे हारिदं । सो अ सहिओ राअवात्थहारी ण जाणिअदि कहिं गदो त्ति । (मया तत् सुवर्णभाण्डं विस्रम्भादात्मीयमिति कृत्वा द्यूते हारितम् । स च सभिको राजवार्ताहारी न ज्ञायते कुत्र गत इति ।)

चेटी—अज्जए ! दिट्ठिआ वड्ढसि । अज्जो जूदिअरो संवुत्तो । (आर्ये ! दिष्टया वर्द्धसे । आर्यो द्यूतकरः संवृत्तः ।)

वसन्तसेना—(स्वगतम्) कधं चोरेण अवहिदं पि सोण्डोरदाए जूदे हारिदं त्ति भणादि । अदो ज्जेव कामीअदि । (कथं चौरेणापहृतमपि शौण्डीरतया द्यूते हारितमिति भणति । अत एव काम्यते ।)

फलपरिपूर्णम् तम्=पूर्वोक्तम्, चारुदत्तरूपम् साधुवृक्षम्=सज्जनमहीरुहम्, सुहृदः=मित्राणि एव विहङ्गाः=पक्षिणः, सुखम्=सानन्दं यथा स्यात् तथा आश्रयन्ति=अवलम्बन्ते, किम् ? अत्र रूपकमलङ्कारः, उपजातिः वृत्तम् ॥ ३२ ॥

अर्थ—विदूषक—(अपने में) इस कुटिल वेश्या ने ठीक ही अनुमान किया है । (प्रकटरूप में) और क्या ? [अर्थात् मित्र अभी भी उनके साथ हैं ।]

वसन्तसेना—अच्छा, आपके आने का उद्देश्य क्या है ?

विदूषक—आर्ये सुनिये, सम्माननीय चारुदत्त सिर पर अंजिल बाँध कर आपसे प्रार्थना करते हैं ।

वसन्तसेना—(हाथ जोड़ कर) क्या आज्ञा देते है ?

विदूषक—मैं विश्वास करके अपना मानकर उस गहनों के पात्र को जुआ में हार गया हूँ । और राजाओं का सन्देश पहुँचाने वाला वह प्रधान जुआरी न जाने कहाँ चला गया है, यह मालूम नहीं है ।

चेटी—आर्ये । आपकी भाग्यबृद्धि हो रही है । आर्य जुआड़ी बन गये ।

वसन्तसेना—(अपने में) क्या चोर द्वारा चुराये गये भी [आभूषणों के डब्बे], को उदारता के कारण जुआ में हार गया, ऐसा कह रहें है ? इसी कारण इन्हें चाहती हूँ ।

विदूषकः—ता तस्स कारणादो गेण्हदु भोदी इमं रअणावलिं। (तत् तस्य कारणात् गृह्णातु भवती इमां रत्नावलीम्।)

वसन्तसेना—(आत्मगतम्) किं दसेमि तं अलङ्कारअं? (विचिन्त्य) अथवा ण दाव। (किं दर्शयामि तमलङ्कारकम्? अथवा न तावत्।)

विदूषकः—किं दाव ण गेण्हदि भोदी एदं रअणावलिं? (किं तावत् न गृह्णाति भवती एतां रत्नावलीम्?)

वसन्तसेना—(विहस्य सखीमुखं पश्यन्ती) मित्तेअ! कधं ण गेण्हिस्सं रअणावलिं। (इति गृहीत्वा पार्श्वे स्थापयति। स्वगतम्) कधं झीणकुसुमादो वि सहआरपादवादो मअरन्दविन्दओ णिवड़न्ति। (प्रकाशम्) अज्ज! विण्णवेहि तं जूदिअरं मम वअणेण अज्जचारुदत्तं-'अहं पि पदोसे अज्जं पेक्खिदुं आअच्छामि' त्ति। (मैत्रेय! कथं न ग्रहीष्यामि रत्नावलीम्? कथं हीनकुसुमादपि सहकारपादपात् मकरन्दबिन्दवो निपतन्ति। आर्य! विज्ञापय तं द्यूतकरं मम वचनेन आर्यचारुदत्तम्—'अहमपि प्रदोषे आर्यं प्रेक्षितुमागच्छामि' इति)

विदूषकः—(स्वगतम्) किं अण्णं तहिं गदुअ गेण्हिस्सदि। (प्रकाशम्) भोदि! भणामि (स्वगतम्) णिअत्तीअदु गणिआपसङ्गादो त्ति। (किमन्यत् तस्मिन् गत्वा ग्रहीष्यति। भवति! भणामि। निवर्त्ततामस्माद् गणिकाप्रसङ्गात् इति।)

(इति निष्क्रान्तः।)

वसन्तसेना—हञ्जे! गेण्ह एदं अलङ्कारअं चारुदत्तं अहिरमिदुं गच्छम्ह। (हञ्जे! गृहाणैतमलङ्कारम्, चारुदत्तमभिरन्तुं गच्छामः।)

विदूषक—इस कारण उसके बदले में आप इस रत्नावली को स्वीकार लें।

वसन्तसेना—(अपने में) क्या वह गहनों का डब्बा दिखा दूँ। (सोचकर) अथवा अभी नहीं।

विदूषक—तो क्या आप इस रत्नावली को नहीं ले रहीं हैं?

वसन्तसेना—(हँस कर सखी का मुख देखती हुई) मैत्रेय! रत्नावली क्यों नहीं लूँगी? (इस प्रकार लेकर समीप में रख लेती है। अपने में) क्या पुष्प (मंजरी)-हीन आम के वृक्ष से भी मकरन्द की बूँदे गिरतीं हैं? (प्रकाश) आर्य मेरी ओर से उस जुआड़ी चारुदत्त से कह देना—'मैं भी शाम को आर्य का दर्शन करने के लिये आ रही हूँ।'

विदूषक—(अपने में) क्या वहाँ जाकर और दूसरी चीज लेगी? (प्रकाश) श्रीमती जी! कह दूँगा—(अपने में) 'इस वेश्या के साथ से अलग हो जाओ। (इसका साथ छोड़ दो)।'

(यह कह कर चला जाता है।)

वसन्तसेना—सखि। इस आभूषण को पकड़ो (रखो)। चारुदत्त के साथ अभिरमण=कामक्रीडा करने के लिये चलते हैं।

चेटी—अज्जए ! पेक्ख पेक्ख, उण्णमदि अकालदुद्दिणं। (आर्य ! प्रेक्षस्व, प्रेक्षस्व, उन्नमति अकालदुर्द्दिनम्।)

वसन्तसेना—

उदयन्तु नाम मेघाः भवतु निशा, वर्षमविरतं पततु।
गणयामि नैव सर्वं दयिताभिमुखेन हृदयेन ॥ ३३ ॥

हञ्जे हारं गेण्हिअ लहुँ आअच्छ। (हञ्जे ! हारं गृहीत्वा लघु आगच्छ।)

इति निष्क्रान्ताः सर्वे।

इति मदनिका-शर्विलको नाम चतुर्थोऽङ्कः।

—: ० :—

चेटी—सखि देखो, देखो, असमय में ही दुर्दिन (मेघों से युक्त दिन) उमड़ रहा है।

अन्वयः—मेघाः, उदयन्तु, नाम; निशा, भवतु; अविरतम् वर्षम्, पततु; दयिताभिमुखेन, हृदयेन, सर्वम्, नैव, गणयामि ॥ ३३ ॥

शब्दार्थ—मेघाः=बादल, (घटायें), उदयन्तु=उमड कर आजायें; निशा=रात, भवतु=हो जाय; अवितरम्=लगातार, वर्षम् = वर्षा, पततु=होती रहे; (किन्तु) दयिताभिमुखेन = प्रियसमासक्त-हृदयेन = हृदय के कारण, सर्वम्=इन सभी को, नैव=कुछ भी नहीं, गणयामि=गिनती हूँ ॥ ३३ ॥

अर्थ—**वसन्तसेना**—घोर घटायें उमड़ कर आ जायें, रात हो जाय, लगातार वर्षा होती रहे; किन्तु प्रिय चारुदत्त में समासक्त चित्त के कारण इन सभी को कुछ भी नहीं गिनती हूँ ॥ ३३ ॥

टीका—अयि अविज्ञातमच्चित्ते ! मेघादीनां विभीषिकां मां किं दर्शयसि ! साम्प्रतं कोपि मां चारुदत्तरमणात् प्रतिरोद्धुं न शक्नोति इत्यत आह—उदयन्त्विति। मेघाः = मेघघटाः, उदयन्तु = उद्गच्छन्तु, नाम इति स्वीकारे। निशा=रात्रिः, भवतु=अस्तु, अविरतम्=अनवरतम्, वर्षम्=वृष्टिः, पततु=क्षरतु, किन्तु दयितस्य=चारुदत्तस्य अभिमुखेन=तं प्रति गमनायोत्सुकेन, चित्तेन=हृदयेन, सर्वम्=पूर्वोक्तम्, नैव=न किञ्चिदपि, गणयामि=चिन्तयामि। एतत् सर्वमेकस्मिन्नवसरेऽपि आगत्य मामवरोद्धुं न समर्थमिति भावः। आर्या वृत्तम् ॥ ३३ ॥

अर्थ—सखि ! हार लेकर शीघ्र ही आ जाओ।

इस प्रकार सभी चले जाते हैं।

॥ इस प्रकार मदनिका और शर्विलक नामक चतुर्थ अंक समाप्त हुआ ॥

॥ इस प्रकार जयशङ्करलाल-त्रिपाठि-विरचित 'भावप्रकाशिका' व्याख्या में मृच्छकटिक का चतुर्थ अङ्क समाप्त हुआ ॥



पञ्चमोऽङ्कः

(ततः प्रविशति आसनस्थः सोत्कण्ठश्चारुदत्तः ।)

चारुदत्तः—(ऊर्ध्वमवलोक्य) उन्नमत्यकालदुर्दिनम् । यदेतत्—

आलोकितं गृहशिखण्डिभिरुत्कलापैः
हंसैर्यियासुभिरपाकृतमुन्मनस्कैः ।
आकालिकं सपदि दुर्दिनमन्तरिक्ष-
मुत्कण्ठितस्य हृदयञ्च समं रुणद्धि ॥ १ ॥

(इसके बाद आसन पर बैठे हुये उत्कण्ठित (विरहकातर) चारुदत्त का प्रवेश ।)

अन्वयः—उत्कलापैः, गृहशिखण्डिभिः, आलोकितम्, यियासुभिः, उन्मनस्कैः, हंसैः, अपाकृतम्, आकालिकम्, दुर्दिनम्, सपदि, अन्तरिक्षम्, उत्कण्ठितस्य, हृदयम्, च, समम्, रुणद्धि ॥ १ ॥

शब्दार्थ—उत्कलापैः=पंखों को ऊपर फैलाये हुये, गृहशिखण्डिभिः=घरेलू=पालतू मोरों द्वारा, आलोकितम्=देखा गया; यियासुभिः=[मानसरोवर] जाने के इच्छुक, उन्मनस्कैः=खिन्न मनवाले, हंसैः=हंसों द्वारा, अपाकृतम्=तिरस्कृत किया गया, आकालिकम् = असमय में होनेवाला, दुर्दिनम्=मेघाच्छन्न दिन, सपदि=शीघ्र ही, अन्तरिक्षम् = आकाश को, च = और, उत्कण्ठितस्य = विरहातुर व्यक्ति के, हृदयम्=हृदय को, समम्=एक साथ, रूणद्धि=आवृत कर रहा है, ढंक ले रहा है ॥१॥

अर्थ—चारुदत्त—(ऊपर की ओर देखकर) असमय में होनेवाला दुर्दिन (मेघाच्छन्न दिन) बढ़ता जा रहा है। जो यह ...

पंखों को ऊपर फैलाये हुये मोरों द्वारा देखा गया, (मानसरोवर) जाने के इच्छुक उदास हंसों द्वारा तिरस्कृत किया गया, असमय का यह दुर्दिन (बादलों से घिरा हुआ दिन) शीघ्र ही आकाश तथा विरही व्यक्ति के हृदय को एकही साथ आच्छादित कर (ढक) रहा है ॥ १ ॥

टीका—पूर्वं वसन्तसेनोक्तं दुर्दिनमेव चारुदत्त-कथनेनापि साधयन्नाह—आलोकितमिति । उत्कलापैः उत्=ऊर्ध्वं गताः कलापाः=पिच्छाः येषां ते तादृशैः, (मेघोदये कलापिनां हर्षपूर्वकं नृत्यं भवतीति लोके कविसम्प्रदाये च प्रसिद्धिः ।) गृहशिखण्डिभिः=गृहपरिपालितमयूरैः, आलोकितम्=सस्पृहं यथा स्यात् तथा विलोकितम्, यियासुभिः = मानसरोवरं जिगमिषुभिः, उन्मनस्कैः = उत्कण्ठितैः, हंसैः= मरालैः, अपाकृतम् = निरस्कृतम्, अनभिनन्दितमिति भावः, आकालिकम्=अकाले उत्पन्नम्, दुर्दिनम् = मेघाच्छन्नं दिनम्, वस्तुतस्तु लक्षणया दुर्दिनशब्दो मेघपर इति

अपि च—

मेघो जलार्द्रमहिषोदरभृङ्गनीलो
　　विद्युत्प्रभा-रचित-पीत-पटोत्तरीयः ।
आभाति संहतबलाक-गृहीतशङ्खः
　　खं केशवोऽपर इवाक्रमितुं प्रवृत्तः ॥ २ ॥

जीवानन्दः, सपदि=सत्त्वरम्, अन्तरिक्षम्=गगनम्, उत्कण्ठितस्य=प्रियविरहव्याकुलस्य जनस्य, हृदयम्=मानसम्, च=तथा, समम्=एककालमेव, रुणद्धि=आवृणोति, विषयान्तरात् विमुखीकरोति चित्तमिति भावः । अत्र सहोक्तिरलङ्कारः, वसन्ततिलका वृत्तम् ॥ १ ॥

विमर्श—कामप्रभाववृद्धि में वर्षा का विशेष योग रहता है । यहाँ छह श्लोकों में यही वर्णन है । 'मेघाच्छन्नं तु दुर्दिनम्' कोश के अनुसार बादलों से घिरा हुआ दिन 'दुर्दिन' होता है । परन्तु यहाँ केवल मेघ अर्थ करना चाहिये क्योंकि मेघ ही आकाश और चित्त दोनों को आच्छादित करता है ॥ १ ॥

अन्वय—जलार्द्रमहिषोदरभृङ्गनीलः, विद्युत्प्रभारचितपीतपटोत्तरीयः, संहतबलाकगृहीतशङ्खः, अपरः, केशवः, इव, खम्, आक्रमितुम्, प्रवृत्तः, मेघः, आभाति ॥२॥

शब्दार्थ—जलार्द्रमहिषोदरभृङ्गनीलः = पानी से गीले किये गये भैंसे के पेट और भौंरे के समान नील (काले) वर्णवाला, विद्युत्प्रभारचितपीतपटोत्तरीयः= बिजली की चमक से बने हुये पीले दुपट्टे वाला, सहतबलाकगृहीतशङ्खः=एक साथ चलनेवाले बगुलों की पंक्तिरूपी शंख को लेनेवाला, अपरः = दूसरे, केशवः=विष्णु के, इव=समान, खम् = आकाश को, आक्रमितुम्=लांघने के लिये, प्रवृत्तः=सन्नद्ध, तैयार, मेघः=बादल, आभाति=शोभित हो रहा है ।

विष्णुपक्ष में—जलार्द्रमहिषोदरभृङ्गनीलः—इसमें अर्थभेद नहीं है । परन्तु विद्युत्प्रभारचितपीतपटोत्तरीयः'—बिजली की चमक के समान बने हुये पीतवस्त्र के दुपट्टेवाले—और संहतबलाकगृहीतशङ्खः=एकत्रित बगुलों की पंक्ति के समान पांचजन्यनामक अपने शंख को धारण किये हुये—यह अर्थ है ॥ २ ॥

अर्थ—और भी—

पानी से गीले किये गये भैंसे के पेट और भौंरें के समान काला, बिजली की चमक से बने हुये पीतवस्त्र के दुपट्टे को धारण करनेवाला, (विष्णुपक्ष में—बिजली की कान्ति के समान बने हुये पीताम्बर के दुपट्टेवाले), एकत्रित बगुलों की पंक्तिरूपी शंखवाला (विष्णुपक्ष में—एकत्रित हुये बगुलों की पांत के समान शंख को धारण करनेवाले) दूसरे (वामनरूपधारी) विष्णु के समान, आकाश को लांघने के लिये तैयार मेघ शोभित हो रहा है । [यहाँ वामनरूपी विष्णु के साथ मेघ की सुन्दर उपमा है ।] ॥ २ ॥

अपि च—

केशवगात्रश्यामः, कुटिल-बलाकावली-रचित-शङ्खः।
विद्युद्गुणकौशेयश्चक्रधर इवोन्नतो मेघः॥ ३॥

टीका—मेघसौन्दर्यं वर्णयन्नाह—मेघ इति। जलेनार्द्रं जलार्द्रं च तन्महिषोदरं च जलार्द्रमहिषोदरं भृङ्गश्च तद्वन्नीलः = श्यामः। महिषस्य स्वत एव श्यामत्वेऽपि जलार्द्रस्यातिश्यामलता ततोऽप्युदरदेशे नैल्याधिक्यमिति प्रतिपादनाय तथोक्तिः। विद्युत्प्रभया रचितं पीतपटवदुत्तरीयं यस्य सः। विष्णुपक्षे विद्युत्प्रभा इव रचितं पीतपटः=पीताम्बरमेव उत्तरीयं येन सः; संहताः=पुञ्जीभूताः बलाकाः=बका एव गृहीतः शंखो येन सः, विष्णुपक्षे संहतबलाकवद् गृहीतः शङ्खः=पाञ्चजन्यो येन सः, वर्णेन साम्यम्; एतादृशः मेघः=घनः, अपरः=अन्यः, केशवः=विष्णुः, इव, खम् = आकाशम्, आक्रमितुम् = आच्छादयितुम्, विष्णुपक्षे पादविक्षेपेणाधिकर्तुम्, प्रवृत्तः=उद्युक्तः सन्, विभाति=शोभते। अत्र प्रसिद्धातिरिक्तस्य केशवस्याभेदेन मेघे उत्कटकोटिकसंशयादुत्प्रेक्षालङ्कारः। एवं प्रथमे पादे तादृशमहिषोदरभृङ्गाभ्यां मेघस्य अवैधर्म्यसाम्यकथनात् उपमा, द्वितीये च विद्युत्प्रभायां विषये तादात्म्येनारोपितस्य पीतोत्तरीयस्य केशवसाम्यरूपप्रकृतार्थोपयोगित्वात् परिणामालंकारः, तृतीये च निरपह्नुतविषये बलाके शङ्खस्याभेदेनारोपात् रूपकम्—इत्येतेषामलङ्काराणां परस्परसापेक्षतया सङ्करः इति जीवानन्दाचार्यः। वसन्ततिलकं वृत्तम्॥ २॥

विमर्श—इसमें मेघ का वर्णन वामनरूपधारी विष्णु के समान किया गया है। पौराणिक कथानुसार वामनरूप में विष्णु ने आकाशपर्यन्त पैर से नाम लिया था। इसमें संकर अलङ्कार की छटा संस्कृत टीका में देखें॥ २॥

अन्वयः—केशवगात्रश्यामः, कुटिलबलाकावलीरचितशङ्खः, विद्युद्गुणकौशेयः, मेघः, चक्रधरः, इव, उन्नतः, [दृश्यते]॥ ३॥

शब्दार्थ—केशवगात्रश्यामः = भगवान श्रीकृष्ण के शरीर के समान श्यांवला, कुटिलबलाकावलीरचितशङ्खः = तिरछी बगुलियों की पंक्तिरूपी शङ्ख धारण करने वाला, विद्युद्गुणकौशेयः=बिजली रूपी सूत्रों से बने हुये रेशमी वस्त्रवाला, मेघः= बादल, चक्रधरः=चक्रधारी, विष्णु, इव=के समान, उन्नतः=उमड़ता हुआ [दृश्यते= दिखाई दे रहा है।]॥ ३॥

अर्थ—और भी—

भगवान् श्रीकृष्ण के समान श्यांवले रंगवाला, बगुलों की तिरछी पंक्तिरूपी शङ्ख धारण करने वाला, बिजलीरूपी सूत्रों से बने हुये रेशमी वस्त्र (पीताम्बर) वाला बादल चक्रधारी विष्णु के समान उमड़ता हुआ [दिखाई] दे रहा है॥३॥

**एता निषिक्तरजतद्रवसन्निकाशा धारा जवेन पतिता जलदोदरेभ्यः।
विद्युत्प्रदीपशिखया क्षणनष्टदृष्टाश्छिन्ना इवाम्बरपटस्य दशाः पतन्ति ॥४॥**

टीका पूर्वोक्तमेवार्थं पुनरार्यया प्रतिपादयति—केशवेति। केशवगात्रवत् = श्रीकृष्णशरीरमिव, श्यामः=नीलः, कुटिला=वक्रा या, बलाकानाम्=वकानाम् अवली=पङ्क्तिः, सा एव रचितः = धृतः, शङ्खः = कम्बुः येन सः तादृशः, विद्युत्=तडित् एव, गुणः = सूत्रम्, तदेव कौशेयम्=चीनवस्त्रं यस्य सः तथोक्तः, मेघः = जलधरः, चक्रधरः=चक्रधारी विष्णुः, इव=यथा, उन्नतः=उदितः, दृश्यते इति शेषः। उपमा रूपकं चालंकारौ। आर्या वृत्तम् ॥ ३ ॥

विमर्श—इसमें द्वितीय श्लोक के भावार्थ की पुनरुक्ति है। अतः यह प्रक्षिप्त सा प्रतीत होता है॥ ३ ॥

अन्वयः—निषिक्तरजतद्रवसन्निकाशाः, जलदोदरेभ्य, जवेन, पतिताः, विद्युत्-प्रदीपशिखया, क्षणदृष्टनष्टाः, एताः, धाराः, अम्बरपटस्य, छिन्नाः, दशाः, इव, पतन्ति ॥ ४ ॥

शब्दार्थ—निषिक्तरजतद्रवसन्निकाशाः=टपकते हुये चाँदी के घोल के समान, जलदोदरेभ्यः=मेघों के पेटों से, जवेन=शीघ्रता से, पतिताः=गिरती हुयीं विद्युत्-प्रदीपशिखया=बिजलीरूपीदीपक की शिखा (लौ) से, क्षणदृष्टनष्टाः=क्षणभर के लिये दिखाई देकर नष्ट = अदृश्य हो जानेवाली, एताः = ये, धाराः = जलधारायें, अम्बरपटस्य=आकाशरूपी वस्त्र की, छिन्नाः=टूटी हुई, दशाः=छोर, इव=के समान, पतन्ति=गिर रहीं हैं ॥ ४ ॥

अर्थ—टपकते हुये चाँदी के घोल के समान, मेघों के पेट (मध्यभाग) से जल्दी जल्दी गिरतीं हुयीं, बिजलीरूपी दीपक की शिखा से क्षणभर के लिये दिखाई देकर अदृश्य हो जानेवालीं ये पानी की धारायें आकाशरूपी वस्त्र के टूटे हुये छोर=सूत्रों के समान गिर रहीं हैं ॥ ४ ॥

टीका—दुर्दिनस्यैव वैचित्र्यं निरूपयति—एता इति। निषिक्ताः=क्षरिताः, ये रजतद्रवाः=द्रवीभूतरजतानीत्यर्थः, तेषां सन्निकाशाः=समानाः, जलदानाम्=मेघानाम्, उदरेभ्यः—जठरेभ्यः, पतिताः = निर्गताः, विद्युदेव=तडिदेव, प्रदीपशिखा=दीपक-ज्वाला, तया, क्षणेन=मुहूर्तम्, दृष्टाः=अवलोकिताः पश्चात् नष्टाः=अदर्शनं गताः, एताः = पुरो वर्तमानाः, धाराः = जलधाराः, अम्बरपटस्य = आकाशरूपवस्त्रस्य, छिन्नाः = त्रुटिताः, दशाः = प्रान्तभागाः, सूत्राणि, इव, पतन्ति = क्षरन्ति। यथा जीर्णवस्त्रात् सूत्राणि निःसृत्य पतन्ति तथैव आकाशात् जलधाराः क्षरन्तीति भावः। अत्र रूपकमुत्प्रेक्षा चालङ्कारौ वसन्ततिलकं वृत्तम् ॥ ४ ॥

संसक्तैरिव चक्रवाकमिथुनैर्हंसैः प्रडीनैरिव
व्याविद्धैरिव मीनचक्रमकरैर्हर्म्यैरिव प्रोच्छ्रितैः।
तैस्तैराकृतिविस्तरैरनुगतैर्मेघैः समभ्युन्नतैः
पत्रच्छेद्यमिवेह भाति गगनं विश्लेषितैर्वायुना ।। ५ ।।

अन्वयः—संसक्तैः, चक्रवाकमिथुनैः, इव, प्रीडनैः, हंसैः, इव व्याविद्धैः, मीनचक्र-मकरैः, इव, प्रोच्छितैः, हर्म्यैः, इव, तैः, तैः, आकृतिविस्तरैः, वायुना, विश्लैषितैः, अनुगतै, समभ्युन्नतैः, मेघैः, इह, गगनम्, पत्रच्छेद्यम्, इव, भाति ।।५।।

शब्दार्थः—संसक्तैः = आपस में सटे हुये, चक्रवाकमिथुनैः = चकवी चकवे के जोड़ों के, इव=समान, प्रडीनैः=उड़ते हुये, हंसैः=हंसों के, इव=समान, व्याविद्धैः= इधर उधर उछाले गये, मीनचक्रमकरैः=मछलियों के समुदाय और मगरों के, इव= समान, प्रोच्छ्रितैः=अत्यन्त ऊँचे, हर्म्यैः=महलों के, इव=समान, तैः तैः=उन-उन, आकृतिविस्तरैः = आकार से फैलनेवाले, वायुना=हवा से, विश्लेषितैः=अलग किये गये, अनुगतैः=एक दूसरे के पीछे आनेवाले, समभ्युन्नतैः=बहुत ऊँचे, मेघैः=बादलों से, इह=यहाँ, गगनम्=आकाश, पत्रच्छेद्यम्=चित्र के, इव=समान, भाति=शोभित हो रहा है ।। ५ ।।

अर्थ—आपस में मिले हुये चकवीचकवे के जोड़े के समान, उड़ते हुये हंसों के समान, (समुद्रमन्थन के समय इधर उधर) उछाले गये मछलियों के समूह और मगरों के समान, अत्यन्त ऊँचे ऊँचे महलों के समान, उन उन [भिन्न भिन्न] आकारों के विस्तारवाले, हवा के [झोकों] द्वारा तितर बितर किये गये, एक दूसरे के पीछे आने वाले, ऊँचे ऊँचे बादलों से यहाँ आकाश चित्र के समान शोभित हो रहा है ।। ५ ।।

टीका—दुर्दिनमेव भङ्ग्यन्तरेण साधयति—संसक्तैरिति । संसक्तैः=परस्पर-मिलितैः, चक्रवाकमिथुनैः=कोकयुगलैः, इव; प्रडीनैः=उड्डीयमानैः, हंसैः=मरालैः, इव; व्याविद्धैः=समुद्रमथनकाले समन्तात् विक्षिप्तैः, मीनानाम्=मत्स्यानाम्, चक्रैः= समूहैः, तथा मकरैः=एतन्नाम्ना प्रसिद्धैः जलजन्तुविशेषैः, इव; प्रोच्छ्रितैः=अत्युन्नतैः, हर्म्यैः=प्रासादैः इव; तैः तैः=तत्तद्दिगवस्थितैः, आकृतिभिः=आकृतिभेदेन, विस्तरैः =बहुलैः, वायुना=पवनेन, विश्लेषितैः=इतस्ततश्चालितैः, अनुगतैः=युक्तैः, समभ्युन्नतैः= अत्युन्नतैः, मेघैः=जलदैः, करणभूतैः, इह=एतद्देशावच्छिन्नम्, गगनम्=आकाश-तलम्, पत्रच्छेद्यम्=आलेख्यम्, चित्रम्, इव, भाति=शोभते । यथा चित्रं विविधाकृति-विशिष्टं भवति तथैवाकाशमपि वर्तते । अत्र वायुवेगविच्छिन्ने प्रकृते मेघे तत्तद्-विशेषणविशिष्टानां परेषां चक्रवाकमिथुनादीनामुत्कटकोटिकसंशयादुत्प्रेक्षालङ्कार इति तत्त्वविदः । शार्दूलविक्रीडितं वृत्तम् ।। ५ ।।

एतत्तद्धृतराष्ट्रवक्त्रसदृशं मेघान्धकारं नभो
हृष्टो गर्जति चातिदर्पितबलो दुर्योधनो वा शिखी ।
अक्षद्यूतजितो युधिष्ठिर इवाध्वानं गतः कोकिलो
हंसाः सम्प्रति पाण्डवा इव वनादज्ञातचर्यां गताः ॥ ६ ॥

अन्वयः—मेघान्धकारम्, एतत्, नभः, तद्धृतराष्ट्रवक्त्रसदृशम्, [अस्ति]; अतिदर्पितबलः, शिखी, दुर्योधनः, वा, हृष्टः [सन्], गर्जति; कोकिलः, अक्षद्यूतजितः, युधिष्ठिरः, इव, अध्वानम्, गतः, सम्प्रति, हंसाः, पाण्डवाः, इव, वनात्, अज्ञातचर्याम्, गताः ॥ ६ ॥

शब्दार्थ—मेघान्धकारम् = मेघों के कारण अन्धकारयुक्त, एतत्=यह, नभः= आकाश, तद्धृतराष्ट्रवक्त्रसदृशम्=उस धृतराष्ट्र के मुख के समान, [अस्ति=है]; अतिदर्पितबलः=रूप के अति घमण्डवाला [दुर्योधनपक्ष में—अत्यन्त अभिमानयुक्त सेनावाला], शिखी=मोर, दुर्योधनः वा=दुर्योधन के समान, हृष्टः=हर्षित होता हुआ, गर्जति = चिल्ला रहा है; कोकिलः=कोयल, अक्षद्यूतजितः=पासे के खेल में पराजित, युधिष्ठिरः=ज्येष्ठ पाण्डव, इव=के समान, अध्वानम्=मौन [अध्वानम् । युधिष्ठिर पक्ष में वनमार्ग] को, गतः = चली गयी है, सम्प्रति=इस वर्षाकाल में, हंसाः=हंस पक्षी, पाण्डवाः=पाण्डवों के, इव=समान, वनात्=वनसे, अज्ञातचर्याम्= अज्ञातवास को, गताः=चले गये ॥ ६ ॥

अर्थ—[दुर्योधन के कुशासन की तुलना वर्षा के साथ है ।] बादलों के कारण अन्धकारयुक्त यह आकाश धृतराष्ट्र (दुर्योधन के पिता) के मुख के समान है । [आखों से रहित धृतराष्ट्र का मुख और चन्द्रसूर्यरहित आकाश इन दोनों की समानता है ।] अपने रूप के घमण्डवाला मोर [दुर्योधनपक्ष में अतिघमण्डी सेनावाला] दुर्योधन के समान प्रसन्न होता हुआ शब्द कर रहा है । कोयल पांसे में हारे हुये युधिष्ठिर के समान मौन [युधिष्ठिर पक्ष में—वनमार्ग] को प्राप्त हो गयी है । इस वर्षाऋतु में हंस पाण्डवों के समान वन [हंसपक्ष में पानी] से अज्ञातवास को चले गये हैं [अर्थात् वन से जैसे पाण्डव अज्ञातस्थान पर चले गये उसी प्रकार यहाँ के वन=जल को छोड़कर हंस मानसरोवर चले गये ।] ॥ ६ ॥

टीका—वर्षाकाले विविधप्राणिनां स्वाभाविकीं स्थितिं वर्णयति—एतदिति । मेघैः=अभ्रैः, अन्धकारः=तमो यत्र तत्, एतत्=दृश्यमानम्, नभः=गगनम्, तस्य= प्रसिद्धस्य महाभारतीयस्य धृतराष्ट्रस्य=दुर्योधनजनकस्य, वक्त्रसदृशम्=आननतुल्यम्; सादृश्यञ्चोभयोः आलोकनासामर्थ्यरूपम्, यथा नेत्रशून्यतया धृतराष्ट्रोऽवलोकयितुं न समर्थः तथैव सूर्यचन्द्राभावात् गगनमपि प्रकाशशून्यमस्तीति भावः, अतिदर्पितबलः = मयूरपक्षे—मेघावलोकनजन्यानन्दाभिव्यञ्जकम्, बलम् = रूपम् यस्य

(विचिन्त्य) चिरं खलु कालो मैत्रेयस्य वसन्तसेनायाः सकाशं गतस्य, नाद्यापि आगच्छति ।

(प्रविश्य)

विदूषकः—अहो ! गणिआए लोभो अदक्खिणदा अ, जदो ण कधावि किदा अण्णा, अणाअरेण ज्जेव अभणिअ किंवि एव्वमेव गहिदा रअणावली । एत्तिआए ऋद्धीए ण तए अहं भणिदो, 'अज्ज मित्तअ ! वीसमीअदु मल्ल-

---

तादृशः, दुर्योधनपक्षे –अतिदर्पितम् = अतिगर्वितम्, बलम् = सैन्यम् यस्य तादृशः, शिखी=मयूरः, दुर्योधनः=ज्येष्ठकौरवः, वा = इव (वा स्याद् विकल्पोपमयोरेवार्थेऽपि समुच्चये—इति विश्वः) हृष्टः = प्रसन्नः, सन्, गर्जति = शब्दायते, पक्षे दपर्युक्तं गर्जनं करोति; कोकिलः = पिकः, अक्षद्यूते = पाशक्रीडायाम्, निर्जितः= पराभूतः, युधिष्ठिरः = ज्येष्ठपाण्डवः, इव, अध्वानम् = ध्वानस्य = शब्दस्य अभावम्, मौनमित्यर्थः, पक्षे वनमार्गम्, गतः=प्राप्तः, कोकिलः मौनाऽभूत्, पराजयात् युधिष्ठिरो वनं जगाम; सम्प्रति=अस्मिन् वर्षाकाले, हंसाः=मरालाः, पाण्डवाः= पाण्डुपुत्राः, इव, वनात् = जलात् 'जीवनं भुवनं वनम्' इत्यमरः, पक्षे सर्वविदितवनात्, यद्वा ल्यब्लोपे पञ्चमी, वनं परित्यज्येत्यर्थः अज्ञाते=लोकैरविदिते विराट्राज्ये इत्यर्थः, हंसपक्षे अज्ञाते=लोकैरविदिते मानसरोवराख्ये, चर्याम्=गमनम्, गताः= प्राप्ताः, वर्षतौं हंसा मानसरोवरं यान्तीति प्रसिद्धिः । अत्रोपमालङ्कारः, शार्दूलविक्रीडितं वृत्तम् ' । ६ ।।

विमर्श—जन्मान्ध धृतराष्ट्र और चन्द्रसूर्यरहित आकाश की सुन्दर उपमा है । कोकिल शब्द पुल्लिङ्ग है । ध्वान=शब्द, न ध्वानम्=अध्वानम् अर्थात् मौन । युधिष्ठिरपक्ष में अध्वानम्=मार्ग द्वितीयान्त एकवचन है । अज्ञातचर्याम् के स्थान पर अज्ञातचर्यम्–यह भी पाठ है । 'वा' शब्द इव के अर्थ में भी प्रयुक्त होता है— 'वा स्यादविकल्पोपमयोरेवार्थेऽपि समुच्चये । विश्वकोष । यहाँ चारों पादों में उपामायें हैं ।। ६ ।।

अर्थ—(सोंचकर) मैत्रेय को वसन्तसेना के पास गये हुये बहुत समय बीत चुका है, अभी भी नहीं [वापस] आया है ।

शब्दार्थ—अदक्षिणता=उदार न होना । मल्लकेन=मिट्टी आदि के वर्तन से । अकन्दसमुत्थिता=विना जड़ के पैदा होने वाली । अकलहः=झगड़ारहित, ग्रामसमागमः=गाँव वालों की सभा । गणिकाप्रसङ्गात्=वेश्या के सम्पर्क से ।

(प्रवेश करके)

अर्थ—विदूषक—अहो ! वसन्तसेना का लोभ और अनुदारता (देखो) । (रत्नावली लेने के) अतिरिक्त दूसरी बात ही नहीं कही । उपेक्षापूर्वक विना

केण पाणीअं पि पिविअ गच्छीअदु त्ति। ता मा दाव दासीए धीआए गणिआए मुहं पि पेक्खिस्सं। (सनिर्वेदम्) सुट्ठु क्खु वुच्चदि 'अकन्दसमुत्थिदा पउमिणी, अवञ्चओ वाणिओ अचोरो सुवण्णआरो, अकलहो गामसमागमो अलुद्धा गणिआ' त्ति, दुक्करं एदे संभावीअन्ति। ता पिअवअस्सं गदुआ इमादो गणिआ–पसङ्गादो णिवत्तावेमि। (परिक्रम्य दृष्ट्वा) कध पिअवअस्सो रुक्खवाडिआए उवविट्ठो चिट्ठदि; ता जाव सप्पामि। (उपसृत्य) सोत्थि भवदे, वड्ढदु भवं। (अहो! गणिकाया लोभोऽदक्षिणता च यतो न कथाऽपि कृता अन्या। अनादरेणैव अभणित्वा किमपि एवमेव गृहीता रत्नावली। एतावत्या ऋद्धया न तया अहं भणितः 'आर्य मैत्रेय! विश्रम्यताम्, मल्लकेन पानीयमपि पीत्वा गम्यता'मिति। तत् मा तावत् दास्याः पुत्र्या गणिकाया मुखमपि प्रेक्षिष्ये। सुष्ठु खलु उच्यते–'अकन्दसमुत्थिता पद्मिनी, अवञ्चको वणिक्, अचौरः सुवर्णकारः,अकलहो ग्रामसमागमः, अलुब्धा गणिका' इति, दुष्करमेते सम्भाव्यन्ते। तत् प्रियवयस्य गत्वा अस्मात् गणिकाप्रसङ्गात् निवर्त्तयामि। कथं प्रियवयस्यो वृक्षवाटिकायामुपविष्टस्तिष्ठति; तद्यावदुपसर्पामि। स्वस्ति भवते, वर्द्धतां भवान्।)

चारुदत्तः—(विलोक्य) अये! सुहृन्मे मैत्रेयः प्राप्तः। वयस्य! स्वागतम्, आस्यताम्।

कुछ कहे हुये यों ही रत्नावली ले ली। इतनी सम्पन्न होने पर भी उसने यह नहीं कहा —'आर्य मैत्रेय! आराम कर लीजिये, मिट्टी के पात्र से पानी भी पीकर जाइये।' इसलिये अब इस वेश्या की बच्ची का मुह भी नहीं देखूँगा। (कष्टपूर्वक) यह ठीक ही कहा जाता है—मूल के विना उत्पन्न होने वाली कमलिनी, न ठगने वाला बनिया, चोरी न करने वाला सुनार, झगड़ा-रहित ग्रामसभा (गाँववालों की सभा), निर्लोभ वेश्या—ये सभी होना कठिन हैं। इसलिये प्रिय मित्र के पास चल कर इस वेश्या के संसर्ग से छुड़वाता हूँ। (घूम कर देख कर) क्या प्रिय मित्र बगीचे में बैठे हुये हैं। तो इनके पास चलता हूँ। (पास जाकर) आपका कल्याण हो। आपकी वृद्धि हो।

टीका—अदक्षिणता=दाक्षिण्यस्याभावः, कृपणता, अन्या = रत्नावलीग्रहणातिरिक्ता। अनादरेणैव = उप्रेक्षयैव। मल्लकेन = मृदादिनिर्मितपात्रेण। कन्दात्=मूलात्, समुत्थिता=उत्पन्ना, तथा न भवतीति भावः। अविद्यमानः कलहः यस्मिन् तादृशः। ग्रामशब्दो लक्षणया ग्रामवासिनां बोधकः, ग्रामवासिनां, सम्मेलनं कलहशून्यं न भवतीति। गणिकाप्रसङ्गात्=वेश्यासंसर्गात्, निवर्तयामि=दूरीकरोमि।

अर्थ—**चारुदत्त**—(देखकर) अरे! मेरे मित्र मैत्रेय आ गये। मित्र! स्वागत है, बैठिये।

विदूषकः—उवविट्ठोम्हि। (उपविष्टोऽस्मि।)

चारुदत्तः—वयस्य ! कथय तत् कार्यम्।

विदूषकः—तं क्खु कज्जं विणट्टं। (तत् खलु कार्य्यं विनष्टम्।)

चारुदत्तः—किं तया न गृहीता रत्नावली ?

विदूषकः—कुदो अम्हाणं एत्तिअं भाअधेअं ? णव-णलिण-कोमलं अञ्जलिं मत्थए कदुअ पडिच्छिआ। (कुतोऽस्माकमेतावद् भागधेयम् ? नव-नलिन-कोमलमञ्जलिं मस्तके कृत्वा प्रतीष्टा।)

चारुदत्तः—तत् किं ब्रवीषि विनष्टमिति ?

विदूषकः—भो ! कधं ण विणट्टं ? जं अभुत्तस्स अपीदस्स चोरेहिं अवहिदस्स अप्पमूल्लस्स सुवण्णभण्डअस्स कारणादो चदुस्समुद्द-सारभूदा रअणमाला हारिदा। (भोः ! कथं न विनष्टम् ? यद् अभुक्तस्य अपीतस्य चौरैरपहृतस्य अल्पमूल्यस्य सुवर्णभाण्डकस्य कारणात् चतुःसमुद्रसारभूता रत्नमाला हारिता।)

चारुदत्तः—वयस्य ! मा मैवम्।

यं समालम्ब्य विश्वासं न्यासोऽस्मासु तया कृतः।
तस्यैतन्महतो मूल्यं प्रत्ययस्यैव दीयते ॥ ७ ॥

विदूषक—बैठा हूँ।

चारुदत्त—मित्र ! उस काम के विषय में कहिये।

विदूषक—मित्र वह कार्य तो चौपट (नष्ट) हो गया।

चारुदत्त—क्या उसने रत्नावली नहीं ली ?

विदूषक—हम लोगों का ऐसा भाग्य कहाँ ? नवीन कमल के समान अंजलि सिर पर रख कर उसको ले लिया।

चारुदत्त—तब क्यों कह रहे हो—नष्ट हो गया ?

विदूषक—क्यों नहीं नष्ट हो गया ? जो न भोग किये गये, न पान किये गये, चोरों द्वारा चुराये गये अल्पमूल्यवाले सुवर्ण आभूषणों के बदले में चारों समुद्रों [से घिरी पृथ्वी) की सारभूत रत्नावली खो दी।

अन्वयः—यम्, विश्वासम्, समालम्ब्य, अस्मासु, तया, न्यासः, कृतः, तस्य, महतः, प्रत्ययस्य, एव, एतत्, मूल्यम्, दीयते ॥ ७ ॥

शब्दार्थ—यम् = जिस, विश्वासम् = विश्वास को, समालम्ब्य=मान कर, अस्मासु=हम लोगों में अर्थात् हमारे पास, तया=उस वसन्तसेना ने, न्यासः=धरोहर, कृतः=रखी थी, तस्य=उस, महतः=महान्, प्रत्ययस्य=विश्वास का, एव=ही, एतत्=यह, मूल्यम्=कीमत, दीयते=दी जा रही है ॥ ७ ॥

विदूषकः——भो वअस्स ! एदं पि मे दुदिअं सन्तावकारणं जं सहीअण-दिण्ण-संणाए पडन्तोवारिवं मुहं कदुअ, अहं उवहसिदो, ता अहं बम्हणो भविअ दाणिं भवन्तं सीसेण पडिअ विण्णवेमि——णिवत्तीअदु अप्पा इमादो बहु-पच्चवाआदो गणिआपसङ्गादो। गणिआ णाम, पादुअन्तर-प्पविट्ठा विअ लेट्टुआ दुक्खेण उण णिराकरीअदि। अवि अ, भो वअस्स ! गणिआ, हत्थी, काअत्थओ, भिक्खु, चाटो, रासहो अ, जहिं एदे णिवसन्ति, तहिं दुट्टा वि ण जाअन्ति। (भो वयस्य ! एतदपि मे द्वितीयं सन्तापकारणम्, यत् सखीजन-दत्त-संज्ञया पटान्तापवारितं मुखं कृत्वा अहमुपहसितः, तदहं ब्राह्मणो भूत्वा इदानीं भवन्तं शीर्षेण पतित्वा विज्ञापयामि——निवर्त्यतामात्मा अस्मात् बहु-प्रत्यवायात् गणिकाप्रसङ्गात्। गणिका नाम पादुकान्तरप्रविष्टा इव लेष्टुका, दुःखेन पुनर्निराक्रियते। अपि च भो वयस्य ! गणिका, हस्ती, कायस्थः, भिक्षुः, चाटः, रासभश्च——यत्र एते निवसन्ति, तत्र दुष्टा अपि न जायन्ते।)

अर्थ——जिस विश्वास को मान कर हम लोगों के पास उस वसन्तसेना ने धरोहर रखी थी उस महान विश्वास का ही यह मूल्य चुकाया जा रहा है; (दिया जा रहा है) ॥ ७ ॥

टीका——त्वया अल्पस्य हेतो बहु हारितमिति विदूषकवचनस्य प्रत्युत्तरं वदति——यमिति। यम्=लोकोत्तरम्, विश्वासम्=प्रत्ययम्, समालम्ब्य=समाश्रित्य, तया=वसन्तसेनया, अस्मासु=अस्मादृशेषु, न्यासः=अलङ्कारनिक्षेपः, कृतः=निहितः, महतः = अमितमूल्यस्य, तस्य, प्रत्ययस्य = विश्वासस्य, एतत् = इदम्, मूल्यम्= निष्क्रियम्, दीयते = समर्प्यते। इयं रत्नावली विश्वासस्यैव प्रतिदानम्, न तु अलङ्कारभाण्डस्येति भावः पथ्यावक्त्रं वृत्तम् ॥ ७ ॥

विमर्श——संकुचित वृत्तिवाले विदूषक के कथन का निराकरण करने के लिये यहाँ चारुदत्त का कथन उसके व्यक्तित्व की महत्ता एवम् उदारता प्रकट करता है ॥ ७ ॥

अर्थ——विदूषक——मित्र ! मेरे सन्ताप का दूसरा यह भी कारण है कि अपनी सखियों की ओर इशारा करके अपने आँचल के किनारे से मुख ढक करके (छिपा करके) उस (वसन्तसेना) ने मेरी हँसी भी उड़ायी, तो अब मैं ब्राह्मण होकर भी (आपके पैरों पर) शिर रखकर आप से यह निवेदन करता हूँ कि बहुत कठिनाइयों से भरे हुये इस वेश्यासंसर्ग से अपने को मुक्त कर लीजिये। वेश्या तो जूते में पड़ी हुयी कंकड़ी के समान बाद में बहुत कष्ट से निकाली जाती है। और भी मित्र ! जहाँ वेश्या, हाथी, कायस्थ, भिक्षुक, शठ और गधे रहते हैं वहाँ दुष्ट भी नहीं रह सकते।

चारुदत्तः—वयस्य ! अलमिदानीं सर्वं परिवादमुक्त्वा; अवस्थयै-वास्मि निवारितः । पश्य—

वेगं करोति तुरगस्त्वरितं प्रयातुं
प्राणव्ययान्न चरणास्तु तथा वहन्ति ।
सर्वत्र यान्ति पुरुषस्य चलाः स्वभावाः
खिन्नास्ततो हृदयमेव पुनर्विशन्ति ।। ८ ।।

अर्थ—**चारुदत्त**—मित्र इस समय निन्दा करना व्यर्थ है, (निर्धन) अवस्था ने ही (वेश्यासर्ग से) रोक दिया है । देखो—

अन्वयः—तुरगः, त्वरितम्, प्रयातुम्, वेगम्, करोति, तु, प्राणव्ययात्, तस्य, चरणाः, तथा, न, वहन्ति; (एवमेव), पुरुषस्य, चलाः, स्वभावाः, सर्वत्र, यान्ति, (परन्तु), ततः, खिन्नाः, पुनः, हृदयम्, एव, विशन्ति ॥ ८ ॥

शब्दार्थ—तुरगः = घोड़ा, त्वरितम् = शीघ्र ही, प्रयातुम् = दौड़ने के लिये, वेगम्=वेग को, करोति=करता है; तु=लेकिन, प्राणव्ययात्=शक्तिक्षीणता के कारण, तस्य = उस घोड़े के, चरणाः = कदम, पैर, तथा=उस प्रकार (वेग से), न=नहीं, वहन्ति = ढोते हैं, चल पाते हैं; (एवम् एव=इसी प्रकार) पुरुषस्य=मनुष्य के, चलाः=चञ्चल, स्वभावाः=स्वभाव, मनोवृत्तियाँ, सर्वत्र=सभी स्थानों पर, यान्ति= जाती हैं, (परन्तु=लेकिन), ततः=उन स्थानों से, खिन्नाः=निराश होती हुयीं, पुनः=फिर, हृदयम् एव=मनमें ही, विशन्ति=घुस जाती हैं, वापस लौट आती हैं ॥८॥

अर्थ—घोड़ा शीघ्र भागने के लिये वेग (ताकत) लगाता है परन्तु शक्तिक्षीणता के कारण पैर उस प्रकार वेग से नहीं चलते हैं, इसी प्रकार मनुष्य के चञ्चल स्वभाव (मनोवृत्तियाँ) सभी ओर जाते हैं परन्तु (कहीं भी सफल न हो सकने के कारण) निराश होकर पुनः मनमें ही वापस लौट आते हैं । (अतः निर्धनता के कारण ही वेश्यासंग छूट जायगा, उसकी निन्दा करने का कोई लाभ नहीं है)।।८।।

टीका—निर्धनतैव गणिकाप्रसङ्गात् वारयति, न तत्र अन्यदपेक्ष्यमिति साधयन्नाह—वेगमिति । तुरगः=अश्वः, त्वरितम्=शीघ्रम्, प्रयातुम्=गन्तुम्, धावितुमिति भावः, वेगम् = जवम्, करोति = विदधाति, तु=किन्तु, प्राणव्ययात्=शक्तिक्षीणतया, हेतोः, तस्य=अश्वस्य, चरणाः=पादाः, तथा=वेगपूर्वकम्, न, वहन्ति=न चलन्ति, एवमेव, पुरुषस्य = मनुष्यस्य, चलाः = चञ्चलाः, स्वभावाः = मनोवृत्तयः, सर्वत्र=साध्यासाध्येषु, यान्ति=व्रजन्ति, तु=किन्तु, ततः=तत्तत्स्थानेभ्यः; खिन्नाः= निराशाः, असफला इति भावः, पुनः, हृदयम्=चित्तम्, एव, विशन्ति=प्रविशन्ति, परावर्तन्ते इति भावः । एवञ्च अस्मद्दरिद्रतैव मनोरथबाधिकेति बोध्यम् । दृष्टान्तालङ्कारः, वसन्ततिलका वृत्तम् ॥ ८ ॥

अपि च—वयस्य !

यस्यार्थास्तस्य सा कान्ता, धनहार्यो ह्यसौ जनः ।

(स्वगतम्) न, गुणहार्यो ह्यसौ जनः । (प्रकाशम्)

वयमर्थैः परित्यक्ताः, ननु त्यक्तैव सा मया ॥ ९ ॥

विमर्श—किसी समय तेज दौड़नेवाला घोड़ा भी शक्तिक्षीण होने पर चाह कर भी जैसे नहीं दौड़ पाता है, उसी प्रकार असमर्थ मनुष्य की चित्तवृत्तियाँ भी दौड़कर मनमें ही रह जाती हैं। चारुदत्त का स्वभाव वसन्तसेना के पास गया हुआ भी अर्थाभाव के कारण दुःखी होकर वहाँ से वापस लौट आया'—इस विशेष के प्रस्तुत रहते उसी प्रकार के अप्रस्तुत सामान्य का कथन होने से उत्तरार्ध में अप्रस्तुतप्रशंसा है और वह—शीघ्र चलने की इच्छा करता हुआ भी घोड़ा असमर्थ होने के कारण नहीं चल पाता—इस प्रकार समान धर्मवाली वस्तु का प्रतिबिम्बित होने से पूर्वार्द्ध के दृष्टान्त अलङ्कार से सङ्कीर्ण है। दोनों का संकर अलङ्कार है ॥८॥

अन्वयः—यस्य, अर्थाः, (सन्ति), तस्य, सा, कान्ता, हि, असौ, जनः, धनहार्यः, न, असौ, जनः, गुणहार्यः (अस्ति), वयम्, अर्थैः, परित्यक्ताः, (अतः), सा, मया, ननु, त्यक्ता, एव ॥ ९ ॥

शब्दार्थ—यस्य=जिसके पास, अर्थाः=धन, सन्ति=हैं, तस्य=उसकी, सा=वह वसन्तसेना, कान्ता=प्रेयसी है, हि=क्योंकि, असौ=वह, जन=वेश्या, धनहार्यः=धन से खरीदी जाने योग्य, न=नहीं, असौ जनः=वह वसन्तसेना, गुणहार्यः=गुणों से वश में होने वाली, अस्ति=है, वयम्=हम लोग, अर्थैः=धन के द्वारा, परित्यक्ताः=छोड़ दिये गये हैं, (अतः=इसलिये), ननु=निश्चित ही, सा=वह वसन्तसेना, मया=मुझ चारुदत्त के द्वारा, त्यक्ता एव=छोड़ ही दी गयी ॥ ९ ॥

अर्थ—और भी मित्र !

जिसके पास धन है, उसी की वह वसन्तसेना है क्योंकि वह वेश्या धन से खरीदी जाने योग्य है।

(अपने में) नहीं, वह तो गुणों से वश में होने योग्य है।

(प्रकाश) धन ने हम लोगों को छोड़ दिया, अतः निश्चित ही हम लोगों ने वेश्या को छोड़ दिया ॥ ९ ॥

टीका—मद्गुणवशवर्त्तिनी वसन्तसेना निर्धनमपि मां न परित्यजतीति सम्यग् जानन्नपि विदूषकस्य सन्तोषायान्यथा वदति–यस्येति। यस्य=पुरुषस्य, समीपे, अर्थाः =धनानि, सन्ति; तस्य=जनस्य, सा=वसन्तसेना, कान्ता=प्रेयसी, हि=यतः, असौ= वेश्यारूपी जनः, धनेन=वित्तेन, हार्यः=वश्यः, अस्ति, परन्तु वयम्, अर्थैः=धनैः, परित्यक्ताः=विरहिताः, अतः, मया=चारुदत्तेन, सा=वसन्तसेना, त्यक्ता=परित्यक्ता

विदूषकः—(अधोऽवलोक्य, स्वगतम्) **जधा एसो उद्धं पेक्खिअ दीहं णिस्ससदि, तधा तक्केमि मए विणिवारिअन्तस्स अधिअदरं वड्ढिदा से उक्कण्ठा। ता सुट्ठु क्खु एव्वं वुच्चदि–'कामो वामो'त्ति।** (प्रकाशम्) **भो वअस्स! भणिदं अ ताए–'भणेहि चारुदत्तं अज्ज पओसे मए एत्थ आअन्तव्वं'त्ति। ता तक्केमि रअणावलीए अपरितुट्ठा अवरं मग्गिदुं आअमिस्सदि' त्ति।** (यथा एष ऊर्ध्वं प्रेक्ष्य दीर्घं निःश्वसिति; तथा तर्कयामि-मया निवार्यमाणस्य अधिकतरं वृद्धा अस्य उत्कण्ठा। तत् सुष्ठु खल्वेवमुच्यते 'कामो वामः' इति। भो वयस्य! भणितञ्च तया 'भण चारुदत्तम्–अद्य प्रदोषे मया अत्र आगन्तव्यम्, इति, तत् तर्कयामि रत्नावल्या अपरितुष्टा अपरं याचितुमागमिष्यतीति।)

चारुदत्तः—वयस्य! आगच्छतु, परितुष्टा यास्यति।

चेटः—(प्रविश्य) **अवेध माणहे!** (अवेत मानवाः!)

जधा जधा वश्शदि अब्भखण्डे तधा तधा तिम्मदि पुट्ठिचम्मे।
जधा जधा लग्गदि शीदवादे तधा तधा वेवदि मे हुक्के॥ १०॥

यथा यथा वर्षति अभ्रखण्डम्, तथा तथा तिम्यति पृष्ठचर्म।
यथा यथा लगति शीतवातस्तथा तथा वेपते मे हृदयम्॥ १०॥

एव। एवञ्च तस्याः परित्यागविषये विदूषकेण न किमपि कर्तव्यमिति भावः। अत्र श्लोके चतुर्थपादस्यार्थं प्रति तृतीयपादस्य अर्थस्य हेतुतया काव्यलिङ्गमलङ्कारः॥९॥

अर्थ—विदूषक—(नीचे की ओर देखकर अपने में) जिस प्रकार ये ऊपर देखकर लम्बी सांसें ले रहे हैं (आहें भर रहे हैं) इससे मैं अनुमान कर रहा हूँ कि मेरे द्वारा वेश्यासंग से रोके जानेवाले इनकी उत्कण्ठा और अधिक बढ़ रही है। इसलिये यह ठीक ही कहा गया है—'कामविकार उल्टा होता है।' (प्रकट में) हे मित्र! और उसने यह कहा है—'चारुदत्त से कहना कि आज सायंकाल मुझे उनके पास आना है।' इससे यह सोंचता हूँ कि रत्नावली से सन्तुष्ट न होनेवाली वह वेश्या कुछ और लेने के लिये आयेगी।'

चारुदत्त—मित्र, आने दो। सन्तुष्ट होकर जायेगी।

अन्वयः—अभ्रखण्डम्, यथा, यथा, वर्षति, पृष्ठचर्म, तथा, तथा, तिम्यति; शीतवातः, यथा, यथा, लगति, तथा, तथा, मे, हृदयम्, वेपते॥ १०॥

शब्दार्थ—अभ्रखण्डम् = बादलों का टुकड़ा, यथा यथा = जैसे जैसे, वर्षति= बरस रहा है, पृष्ठचर्म=पीठ का चमड़ा, तथा तथा=वैसे वैसे, तिम्यति=भीग रहा है; शीतवातः=ठण्डी हवा, यथा, यथा=जैसे जैसे, लगति=लग रही है, तथा तथा= वैसे वैसे, मे=मेरा, हृदयम्=हृदय, वेपते=कांप रहा है॥ १०॥

(प्रहस्य)

वंशं वाए शत्तच्छिद्दं शुशद्दं वीणं वाए शत्ततन्ति णदन्ति ।
गीअं गाए गद्दहश्शाणुलूअं के मे गाणे तुम्बुलू णालदे वा ॥११॥

वंश वादयामि सप्तच्छिद्रं सुशब्दं वीणां वादयामि सप्ततन्त्रीं नदन्तीम् ।
गीतं गायामि गर्दभस्यानुरूपं को मे गाने तुम्बुरुर्नारदो वा ॥ ११ ॥

आणत्तम्हि अज्जआए वसन्तसेणाए—कुम्भीलआ ! गच्छ तुमं मम

अर्थ—चेट—(प्रवेश करके) मनुष्यों ! [यह] समझ जाइये—

बादलों का टुकड़ा जैसे जैसे बरस रहा है, पीठ का चमड़ा वैसे वैसे भीग रहा है; जैसे जैसे ठण्डी हवा लग रही है, वैसे वैसे मेरा हृदय काँप रहा है ॥ १० ॥

टीका—वर्षाजलेनार्द्रशरीरः कम्पमानश्चेटोऽन्यान् सावधानान् कर्तुमाह—यथा यथेति । अभ्रखण्डम् = मेघखण्डम्, यथा यथा=येन येन प्रकारेण, वर्षति=कटति, जलवर्षणं करोति, पृष्ठचर्म=शरीरस्य पश्चाद्भागः, तथा तथा, तिम्यति=आर्द्रीभवति; शीतवातः=शीतलः पवनः, यथा यथा, लगति=शरीरं स्पृशति, तथा तथा, मे=मम, हृदयम्=मनः, अन्तःकरणम्, वेपते=कम्पते । उपेन्द्रवज्रा वृत्तम् ॥१०॥

विमर्श—वर्षा की अवस्था प्रस्तुत करने के लिये चेट का कथन है ॥ १० ॥

अन्वयः—सप्तच्छिद्रम्, सुशब्दम्, वंशम्, वादयामि; नदन्तीम्, सप्ततन्त्रीम्, वीणाम्, वादयामि; गर्दभस्य, अनुरूपम्, गीतम्, गायामि; गाने, तुम्बुरुः, नारदः, वा, मे, कः ॥ ११ ॥

शब्दार्थ—सप्तच्छिद्रम् = सात छेदों वाली, सुशब्दम् = मधुर आवाजवाली, वंशम्=वाँसुरी को, वादयामि = बजा रहा हूँ; नदन्तीम्=झंकार करनेवाली, सप्ततन्त्रीम्=सात स्वरों के उत्पादक तन्त्रों से युक्त, वीणाम्=वीणा को, वादयामि=बजा रहा हूँ; गर्दभस्य = गधे के, अनुरूपम्=समान, गीतम्=गाना को, गायामि=गा रहा हूँ; गाने=गाने में, तुम्बुरुः=तुम्बुर, वा=अथवा, नारदः=नारद, मे=मेरे विषय में, कः=कौन हैं, अर्थात् मेरे सामने कुछ नहीं है ॥ ११ ॥

(हंस कर)

अर्थ—सात छेदोंवाली, मधुर आवाजवाली वाँसुरी बजा रहा हूँ। झंकार करनेवाली, सात तारोंवाली वीणा बजा रहा हूँ। गधे के समान मैं गाता हूँ। गाने में तुम्बुरु (गन्धर्व) या नारद मेरे सामने क्या हैं ? अर्थात् कुछ नहीं है ॥११॥

टीका—इदानीं चेटः स्वगीतकौशलं प्रदर्शयितुमाह—सप्तच्छिद्रमिति । सप्तच्छिद्रम् = षड्जादिसप्तस्वरोत्पादकसप्तरन्ध्रयुक्तम्, सुशब्दम् = सुस्वरम्, वंशम्=वेणुम्, वादयामि=ध्वनयामि । नदन्तीम्=शब्दायमानाम्, सप्ततन्त्रीम्=सप्तसंख्याक-

आगमणं अज्जचारुदत्तश्श णिवेदेहि'त्ति। ता जाव आज्जचारुदत्तश्श गेहं गच्छामि। (परिक्रम्य प्रविष्टकेन दृष्ट्वा) **एशे चारुदत्ते रुक्खवाडिआए चिट्ठदि। एशे वि शे दुट्ट बडुके। ता जाव उपशप्पेमि। कधं ढक्किदे दुवाले रुक्खवाडिआए। भोदु, एदश्श दुट्टवडुकश्श शण्णं देमि।** (इति लोष्टगुटिकाः क्षिपति।) (आज्ञप्तोस्मि आर्यया वसन्तसेनया-'कुम्भीलक ! गच्छ त्वम्, मम आगमनम् आर्यचारुदत्तस्य निवेदय' इति। तद् यावत् आर्यचारुदत्तस्य गेहं गच्छामि। एष चारुदत्तो वृक्षवाटिकायां तिष्ठति एषोऽपि स दुष्टवटुकः। तद्यावदुपसर्पामि। कथमाच्छादितं द्वारं वृक्षवाटिकायाः। भवतु, एतस्य दुष्टवटुकस्य संज्ञां ददामि।)

विदूषकः—अए ! को दाणिं एसो पाआरवेट्ठिदं विअ कइत्थं मं लोट्टएहिं ताडेदि ?। (अये ! क इदानीमेष प्राकारवेष्टितमिव कपित्थं मां लोष्टकैस्ताडयति ?)

चारुदत्तः—आराम-प्रासाद-वेदिकायां क्रीडद्भिः पारावतै पातितं भवेत्।

स्वरोत्पादकसप्ततन्त्रीयुक्ताम्, वीणाम् = वाद्यविशेषम्, च, वादयामि = शब्दितां करोमि। गर्दभस्य=रासभस्य, अनुरूपम्=तुल्यम्, गीतम्=गानम्, गायामि=करोमीति भावः। गाने=गानकलायाम्, तुम्बुरुः=तन्नाम्ना प्रसिद्धो गन्धर्वः, वा=अथवा, नारदः = देवर्षिः, मे = मम सम्बन्धे, कः = कीदृशो गुणशाली, न गणनीय इति भावः। अत्रोपमानापेक्षयोपमेयस्याधिक्यवर्णनात् व्यतिरेकालङ्कारः। शालिनीवृत्तम् ॥ ११ ॥

अर्थ—आर्या वसन्तसेना ने आज्ञा दी है—'कुम्भीलक ! तुम जाओ, आर्य चारुदत्त को मेरे आगमन की सूचना दे दो।' इसलिये आर्य चारुदत्त के घर जाता हूँ। (घूमकर घुसनेवाले दरवाजे से देखकर) ये आर्य चारुदत्त वृक्षवाटिका (फुलवाड़ी) में बैठे हैं, और वह दुष्ट ब्राह्मण का बच्चा भी है। तो अब समीप में चलता हूँ। क्या वृक्षवाटिका (फुलवाड़ी) का दरवाजा बन्द है। अच्छा, इस दुष्ट ब्राह्मण को इशारा करता हूँ। (इस प्रकार कहकर कंकड़ियाँ=मिट्टी के ढेले फेंकता है।)

विदूषक—अरे ! इस समय कौन चहारदीवार से घिरे हुये कैथे के समान मुझे कंकड़ियों से मार रहा है।

चारुदत्त—फुलवाड़ी के महल की चौकी पर खेलते हुये कबूतरों ने गिरा दी होंगी।

विदूषक:—दासीए पुत्त ! दुट्ट पारावअ ! **चिट्ठ चिट्ठ, जाव एदिणा दण्डकट्ठेण सुपक्कं विअ चुअफलं इमादो पासादादो भमिए पाडइस्सं ।** (इति दण्डकाष्ठमुद्यम्य धावति) दास्याः पुत्र ! दुष्ट पारावत ! तिष्ठ तिष्ठ, यावदेतेन दण्डकाष्ठेन सुपक्वमिव चूतफलम् अस्मात् प्रासादात् भूमौ पातयिष्यामि ।)

चारुदत्त:—(यज्ञोपवीते आकृष्य) **वयस्य ! उपविश । किमनेन । तिष्ठतु दयितासहितस्तपस्वी पारावतः ।**

चेट:—कधं **पारावदं पेक्खदि, मं ण पेक्खदि । भोदु, अवराए लोट्ट-गुडिआए पुणो वि ताडइस्सं ।** (तथा करोति ।) कथं परावतं प्रेक्षते, मां न प्रेक्षते ! भवतु, अपरया लोष्टगुटिकया पुनरपि ताडयिष्यामि ।)

विदूषक:—(दिशोऽवलोक्य) **कधं कुम्भीलओ ! ता जाव उपसप्पामि ।** (उपसृत्य द्वारमुद्घाटच) **अरे कुम्भीलअ ! पविश । साअदं दे ।** (कथं कुम्भीलक ! तद् यावदुपसर्पामि । अरे कुम्भीलक ! प्रविश । स्वागतं ते ।)

चेट:—(प्रविश्य) **अज्ज ! वन्दामि ।** (आर्य ! वन्दे ।)

विदूषक:—**अरे ! कहिं तुमं ईदिसे दुद्दिणे अन्धआरे आअदो ।** (अरे ! कस्मिन् त्वमीदृशे दुर्दिने अन्धकारे आगतः ।)

चेट:—**अले एशा शा ।** (अरे एषा सा ।)

विदूषक:—**का एशा का ?** (का एषा का ?)

चेट:—**एशा शा ।** (एषा सा ।)

विदूषक—अरे दासी के बच्चे, दुष्ट कबूतर ! ठहर जा, ठहर जा; इस लकड़ी के डण्डे से पके हुये आम के समान तुझे इस महल से नीचे गिराता हूँ । (यह कह कर लकड़ी का डण्डा लेकर दौड़ता है ।)

चारुदत्त—(जनेऊ पकड़ कर) मित्र ! बैठो । इससे क्या लाभ ? उस बेचारे कबूतर को अपनी प्रेयसी कबूतरी के साथ बैठा रहने दो ।

चेट—क्या, कबूतर को देख रहा है, मुझे नहीं देख रहा है । अच्छा अब दूसरी कंकड़ी से फिर मारता हूँ । (वैसा ही करता है ।)

विदूषक—(चारों ओर देखकर) क्या कुम्भीलक ! तो पास चलता हूँ । (पास जाकर दरवाजा खोलकर) अरे कुम्भीलक ! आओ, तुम्हारा स्वागत है ।

चेट—(प्रवेश करके) आर्य ! प्रणाम करता हूँ ।

विदूषक—अरे ! तुम इस प्रकार के दुर्दिन के अन्धेरे में किस लिये आये हो ?

चेट—अरे ! यह वह है ।

विदूषक—वह कौन वह कौन ?

चेट—वह यह है ।

विदूषकः—**किं दाणिं दासोए पुत्ता ! दुब्भिक्खकाले वुड्ढरङ्को विअ उद्धकं सासाअसि 'एसा सा सा' त्ति !** (किमिदानीं दास्याः पुत्रः ! दुर्भिक्ष-काले बृद्धरङ्कः इव उद्र्ध्वकं श्वासायसे 'एषा सा सा' इति)

चेटः—**अले तुमं पि दाणिं इन्द्र-मह-कामुको विअ सुट्ठु किं काका-असि 'का का' त्ति।** (अरे त्वमपीदानीमिन्द्रमहकामुक इव सुष्ठु किं काका-यसे 'का का' इति ?)

विदूषकः—**ता कहेहि ।** (तत् कथय ।)

चेटः—(स्वगतम्) **भोदु, एव्वं भणिश्शं ।** (प्रकाशम्) **अले ! पण्हं दे दइश्शं ।** (भवतु, एवं भणिष्यामि । अरे ! प्रश्नं ते दास्यामि ।)

विदूषकः—**अहं दे मुण्डे गोड़ं दइस्सं ।** (अहं ते मुण्डे पादं दास्यामि)

चेटः—**अले, जाणाहि दाव, तेण हि कश्शिं काले चूआ मोलेन्ति ।** (अरे ! जानीहि तावत्, तेन हि कस्मिन् काले चूता मुकुलयन्ति ?)

विदूषकः—**अरे दासीए पुत्ता ! गिम्हे ।** (अरे ! दास्याः पुत्र ! ग्रीष्मे ।)

चेटः—(सहासम्) **अले ! णहि णहि ।** (अरे ! नहि नहि ।)

विदूषकः—(स्वगतम्) **किं दाणिं एत्थ कहिस्सं ? ।** (विचिन्त्य) **भोदु, चारुदत्तं गदुअ पुच्छिस्सं ।** (प्रकाशम्) **अरे ! मुहुत्तअं चिट्ठ ।** (चारुदत्त-मुपसृत्य) **भो वअस्स ! पुच्छिस्सं दाव, कस्सिं काले चूआ मोलेन्ति ?** (किमिदानीमत्र कथयिष्यामि ? भवतु चारुदत्तं गत्वा प्रक्ष्यामि । अरे मुहूर्तकं तिष्ठ ! भो वयस्य ! प्रक्ष्यामि तावत्, कस्मिन् काले चूता मुकुलिता भवन्ति ?)

विदूषक—अरे दासी के बच्चे ! दुर्भिक्ष के समय वृद्ध कृपण के समान इस समय क्यों लम्बी लम्बी सांस ले रहे हो—'एषा सा सा, (वह यह) ।'

चेट—अरे ! तुम भी इस समय इन्द्रोत्सव के लोभी कौआ के समान 'का का' ऐसा कह रहे हो ?

विदूषक—तो कहो ।

चेट—(अपने में) अच्छा, ऐसा कहूँगा । (प्रकट में) अरे ! तुम्हें प्रश्न देता हूँ । (सवाल पूँछता हूँ ।)

विदूषक—अरे ! मैं तेरे सिर पर पैर रख दूँगा ।

चेट—अरे ! जानते हो आम में मंजरी कब लगतीं हैं ?

विदूषक—अरे दासी के बच्चे ! गर्मी में ।

चेट—(हंसी के साथ) अरे ! नहीं । नहीं ।

विदूषक—(अपने में) इसका क्या उत्तर देना चाहिये ? (सोचकर) अच्छा, चारुदत्त के पास जाकर पूँछता हूँ । (प्रकट में) अरे ! कुछ देर ठहरो ।

चारुदत्तः—मूर्ख ! वसन्ते ।

विदूषक—(चेटमुपगम्य) **मुक्ख ! वसन्ते ।** (मूर्ख ! वसन्ते ।)

चेटः—दुदिअं दे पण्हं दइश्शं । शुशमिद्धाणं गामाणं का लक्खअं कलेदि ? । (द्वितीयं ते प्रश्नं दास्यामि । सुसमृद्धाणां ग्रामाणां का रक्षां करोति ?)

विदूषकः—अरे रच्छा । (अरे ! रथ्या ।)

चेटः—(सहासम्) **अले ! णहि णहि ।** (अरे ! नहि नहि ।)

विदूषकः—भोदु, संसए पड़िदम्हि । (विचिन्त्य) **भोदु, चारुदत्तं पुणो वि पुच्छिस्सं ।** (पुनर्निवृत्य चारुदत्तं तथैवोदाहरति ।) (भवतु, संशये पतितोऽस्मि । भवतु चारुदत्तं पुनरपि प्रक्ष्यामि ।)

चारुदत्तः—वयस्य ! सेना ।

विदूषकः—(चेटमुपगम्य) **अरे ! दासीए पुत्ता ! सेणा ।** (अरे । दास्याः पुत्र ! सेना ।)

चेटः—अले ! दुवे बि एक्कस्शि कदुअ शिग्घं भणाहि । (अरे । द्वे अपि एकस्मिन् कृत्वा शीघ्रं भण ।)

विदूषकः—सेणावसन्ते । (सेनावसन्ते ।)

चेटः– णं पलिवत्तिअ भणाहि । (ननु परिवर्त्य भण ।)

विदूषकः (कायेन परिवृत्य) **सेणावसन्ते ।** (सेनावसन्ते ।)

(चारुदत्त के पास जाकर) हे मित्र ! मैं तुमसे पूँछता हूँ किस समय आम में मञ्जरी आतीं हैं ?

चारुदत्त—मूर्ख ! वसन्त में ।

विदूषक—(चेट के पास जाकर) मूर्ख ! वसन्त में ।

चेट—दूसरा प्रश्न देता हूँ । अत्यन्त समृद्ध गावों की रक्षा कौन करता है ?

विदूषक—अरे ! रथ्या (रक्षा करती है) ।

चेट—(हँसी के साथ) नहीं, नहीं ।

विदूषक—अरे ! संशय में फँस गया हूँ । (सोच कर) अच्छा, फिर चारुदत्त से पूँछता हूँ । (फिर चारुदत्त के पास जाकर उसी प्रकार पूँछता है ।)

चारुदत्त—मित्र ! सेना ।

विदूषक—(चेट के पास जाकर) अरे दासी के बच्चे ! सेना ।

चेट—अरे ! दोनों को एक में मिलाकर जल्दी से कहो ।

विदूषक—सेना-वसन्त ।

चेट— अरे ! उलटा कर कहो ।

विदूषक—(शरीर से उलट=घूमकर) सेना-वसन्त ।

चेटः—अले मुक्ख वडुका ! पदाइं पलिवत्तावेहि । (अरे मूर्ख वटुक ! पदे परिवर्त्तय ।)

विदूषकः—(पादौ परिवर्त्त्य) सेणावसन्ते । (सेनावसन्ते ।)

चेटः—अले मुक्ख ! अक्खलपदाइं पलिवत्तावेहि । (अरे मूर्ख ! अक्षरपदे परिवर्त्तय ।)

विदूषकः—(विचिन्त्य) वसन्तसेणा । (वसन्तसेना ।)

चेटः—एशा शा आअदा । (एषा सा आगता ।)

विदूषकः—ता जाव चारुदत्तस्स णिवेदेमि । (उपसृत्य) भो चारुदत्त ! धणिओ दे आअदो । (तद् यावत् चारुदत्तस्य निवेदयामि । भो चारुदत्त ! धनिकस्ते आगतः ।)

चारुदत्तः—कुतोऽस्मत्कुले धनिकः ?

विदूषकः—जइ कुले णत्थि, ता दुवारे अत्थि । एसा वसन्तसेणा आअदा । (यदि कुले नास्ति, तद्द्वारे अस्ति । एषा वसन्तसेना आगता ।)

चारुदत्तः—वयस्य ! किं मां प्रतारयसि ?

विदूषकः—जइ मे वअणे ण पत्तिआअसि, ता एदं कुम्भीलअं पुच्छ । अरे दासीए पुत्ता ! कुम्भीलअ ! उवसप्प । (यदि मे वचने न त्येषि । तत् एतत् कुम्भीलकं पृच्छ । अरे दास्याः पुत्र ! कुम्भीलक उपसर्प ।)

चेटः—(उपसृत्य) अज्ज ! वन्दामि । (आर्य ! वन्दे ।)

चेट—अरे मूर्ख ब्राह्मण ! पद बदल कर ।

विदूषक—(पैर बदल कर) सेनावसन्त ।

चेट—अरे मूर्ख ! अक्षरों के पद बदल कर ।

विदूषक—(सोचकर) वसन्तसेना ।

चेट—वह यह आयी हुई है ।

विदूषक—तो आर्य चारुदत्त से निवेदन करता हूँ । (पास जाकर) हे चारुदत्त ! आपका धनिक (साहूकार) आ गया है ।

चारुदत्त—अरे हमारे कुल में धनिक कहाँ से ?

विदूषक—यदि कुल में नहीं है तो दरवाजे पर है । यह वसन्तसेवा आयी हुयी है ।

चारुदत्त—मित्र ! क्यों मुझे ठग रहे हो ?

विदूषक—यदि मेरी बात पर विश्वास नहीं करते हो तो इस कुम्भीलक से पूछो । अरे दासी के बच्चे कुम्भीलक ! इधर आओ ।

चेट—(पास जाकर) आर्य ! प्रणाम करता हूँ ।

चारुदत्तः—भद्र ! स्वागतम् । कथय—सत्यं प्राप्ता वसन्तसेना ?

चेटः– एशा शा आअदा वसन्तसेणा । (एषा सा आगता वसन्तसेना ।)

चारुदत्तः—(सहर्षम्) भद्र ! न कदाचित् प्रियवचनं निष्फलीकृतं मया । तद् गृह्यतां परितोषिकम् । (इत्युत्तरीयं प्रयच्छति ।)

चेटः—(गृहीत्वा प्रणम्य सपरितोषम्) जाव अज्जआए णिवेदेमि । (यावदार्यायै निवेदयामि ।) (इति निष्क्रान्तः ।)

विदूषकः-भो ! अवि जाणासि; किं णिमित्तं ईदिसे दुद्दिणे आअदेत्ति? । (भोः ! अपि जानासि; किं निमित्तमीदृशे दुर्दिने आगतेति ?)

चारुदत्तः—वयस्य ! न सम्यगवधारयामि ।

विदूषकः–मए जाणिदं । अप्पमुल्ला रअणावली, बहुमूल्लं सुवण्णभण्डअं त्ति ण परिदुट्टा अवरं मग्गिदुं आअदा (मया ज्ञातम् । अल्पमूल्या रत्नावली, बहुमूल्यं सुवर्णभाण्डकम् इति न परितुष्टा, अपरं याचितुमागता ।)

चारुदत्तः—(स्वगतम्) परितुष्टा यास्यति ।

(ततः प्रविशति उज्ज्वलाभिसारिकावेशेन वसन्तसेना सोत्कण्ठा, छत्रधारिणी विटश्च ।)

विटः—(वसन्तसेनामुद्दिश्य)

अपद्मा श्रीरेषा प्रहरणमनङ्गस्य ललितं
कुलस्त्रीणां शोको मदनवरवृक्षस्य कुसुमम् ।

चारुदत्त—भद्र ! स्वागत है । कहो, सचमुच वसन्तसेना आयी है ?

चेट—हाँ, वह वसन्तसेना आयी हुयी है ।

चारुदत्त—(हर्ष के साथ) भद्र ! मैंने कभी भी प्रियवचन को निष्फल नहीं किया । [अर्थात् प्रिय बोलने वाले को खाली नहीं लौटाया), इस लिये पुरस्कार ग्रहण करो । (यह कह कर डुपट्टा दे देता है ।)

चेट—(लेकर सन्तोष के साथ प्रणाम करके) तो चल कर आर्या (वसन्तसेना) से निवेदन करता हूँ । (यह कर निकल जाता है ।)

विदूषक—मित्र, जानते हो इस दुर्दिन में क्यों आयी है ?

चारुदत्त—मैं ठीक से नहीं समझ पा रहा हूँ ।

विदूषक—मैंने समझ लिया । रत्नावली कम मूल्य की है और सुवर्णभाण्ड अधिक मूल्य का है अतः वह सन्तुष्ट नहीं है, और कुछ लेने के लिये आयी है ।

चारुदत्त—(अपने आप में) सन्तुष्ट होकर वापस जायेगी ।

(इसके बाद उज्वल अभिसारिका वेश से उत्कण्ठित वसन्तसेना, छत्रधारिणी दासी और विट का प्रवेश) ।

सलीलं गच्छन्ती रतिसमयलज्जाप्रणयिनी
रतिक्षेत्रे रङ्गे प्रियपथिकसार्थैरनुगता ॥ १२ ॥

अन्वयः—रतिसमयलज्जाप्रणयिनी, प्रियपथिकसार्थैः, अनुगता, रङ्गे, (इव), रतिक्षेत्रे, सलीलम्, गच्छन्ती, एषा, अपद्मा, श्रीः, अनङ्गस्य, ललितम्, प्रहरणम्, कुलस्त्रीणाम्, शोकः, मदनवरवृक्षस्य, कुसुमम्, [अस्ति] ॥ १२ ॥

शब्दार्थ—रतिसमय लज्जाप्रणयिनी = सम्भोग काल में [कृत्रिम] लज्जा प्रदर्शित करने वाली, प्रियपथिकसार्थैः=प्रिय पथिकों के समूहों के द्वारा, अनुगता= पीछा की गयी, रङ्गे=नाट्य रंगमंच [के, इव=समान], रतिक्षेत्रे=संकेतित रतिस्थल पर, सलीलम् = हावभाव के साथ, गच्छन्ती = जाने वाली, एषा = यह वसन्तसेना, अपद्मा = विना कमल की, श्रीः=लक्ष्मी, अनङ्गस्य = कामदेव का, ललितम्=सुन्दर, प्रहरणम् = अस्त्र, कुलस्त्रीणाम् = कुलवधुओं का, शोकः=शोक, मदनवरवृक्षस्य=कामदेवरूपी श्रेष्ठ वृक्ष का, कुसुमम्=पुष्प, है ॥ १२ ॥

अर्थ—विट—(वसन्तसेना को लक्षित करके)—

सम्भोग के समय [कृत्रिम] लज्जा प्रदर्शित करने वाली, प्यारे पथिकों से पीछा की गयी, नाट्य रंगमंच के समान संकेतित रतिस्थल पर हावभाव के साथ जाने वाली यह वसन्तसेना विना कमल की लक्ष्मी (है), कामदेव का सुकुमार अस्त्र (है), उच्चकुलोत्पन्न वधुओं के लिये [साक्षात्] शोक (है), कामरूपी सुन्दर वृक्ष का फूल है ॥ १२ ॥

टीका—अभिसारार्थं गच्छन्त्याः वसन्तसेनायाः सौन्दर्यातिशयं वर्णयति—अपद्मेति । रतिसमये = सम्भोगकाले, या, लज्जा = त्रपा कुलस्त्रीणामिति भावः, तस्याः प्रणयिनी=सहचरी, वेश्या भूत्वापि संभोगावसरे कुलस्त्रीणामिव कृत्रिम-त्रपाप्रदर्शिनीति भावः, यद्वा रतिसमये लज्जाया अप्रणयिनीति च्छेदः, तेन स्वच्छन्द-रतिसम्भव इति बोध्यम् । प्रियाः=हृद्याः ये पथिकाः=पान्थाः, तेषाम्, सार्थैः= समूहैः, अनुगता=अनुसृता, रङ्गे=रागवर्द्धिनि, रंगमंच इव, रतिक्षेत्रे=संकेतित-रतिक्रीडास्थले, सलीलम्=सविलासम्, गच्छन्ती = प्रयान्ती, एषा=पुरोवर्तमाना, वसन्तसेनेति भावः, अपद्मा=पद्मरहिता, कमलेऽनुपविष्टा, श्रीः=लक्ष्मीः, अनङ्गस्य= कामदेवस्य, ललितम् = सुन्दरम्, प्रहरणम् = अस्त्रम्, कुलस्त्रीणाम्=कुलवधूनाम्, शोकः=साक्षात् शोकस्थानम्, अस्यामासक्ताः स्वकुलपत्नीः अपि त्यजन्ति तेनेयं तासां शोकजनिकेति भावः, मदनवरवृक्षस्य=कामरूपश्रेष्ठवृक्षस्य, कुसुमम्=पुष्पम्, अस्तीति शेषः । अत्र विषयं निरपह्नुत्य वसन्तसेनायां श्रीप्रभृतीनां तादात्म्येनारोपात् मालारूपकमलङ्कार इति बोध्यम् । शिखरिणी वृत्तम् ॥ १२ ॥

वसन्तसेने । पश्य, पश्य–

गर्जन्ति शैलशिखरेषु विलम्बिबिम्बा
मेघा वियुक्तवनिताहृदयानुकाराः ।
येषां रवेण सहसोत्पतितैर्मयूरैः
खं वीज्यते मणिमयैरिव तालवृन्तैः ॥ १३ ॥

अपि च—

पङ्कक्लिन्नमुखाः पिबन्ति सलिलं धाराहता दर्दुराः
कण्ठं मुञ्चति बर्हिणः समदनो नीपः प्रदीपायते ।

विमर्श– यहाँ विषय का अपह्नव किये विना ही एक वसन्तसेना में अनेकों के तादात्म्य का आरोप होने से मालारूपक अलंकार है ॥ १२ ॥

अन्वयः शैलशिखरेषु, विलम्बिबिम्बाः, वियुक्तवनिताहृदयानुकाराः, मेघाः, गर्जन्ति, येषाम्, रवेण, सहसोत्पतितैः, मयूरैः, मणिमयैः, तालवृन्तैः, इव, खम् बीज्यते ॥ १३ ॥

शब्दार्थ--शैलशिखरेषु=पहाड़ों की चोटियों पर, विलम्बिबिम्बाः=लकटते हुये आकारवाले, वियुक्तिनताहृदयानुकाराः=वियोगिनी वियों के हृदय के समान [मलिन वर्ण वाले], मेघाः=बादल, गर्जन्ति=गरज रहे हैं, येषाम्=जिनके रवेण=शब्दों से, सहसा = अचानक, उत्पतितैः = उड़नेवाले, मयूरैः = मोरों द्वारा, मणिमयैः=मणि से बने हुये, तालबृन्तैः = ताड़वृक्ष के पंखों से, खम्=आकाश को, वीज्यते=हवा की जा रही है ॥ १३ ॥

अर्थ—वसन्तसेना देखो, देखो—

पहाड़ों की चोटियों पर लटकते हुये आकारवाले, वियोगिनी स्त्रियों के हृदय के समान [मलिनवर्ण] मेघ गरज रहे हैं, जिनके शब्दों से अचानक उड़नेवाले मोरों के द्वारा मणि से बने हुये ताड़ के पंखों से आकाश को हवा की जा रही है ॥१३॥

टीका—मेघोदयस्य कामोद्दीपकत्वेन तस्यैव वर्णनं करोति—गर्जन्तीति । शैलानाम्=पर्वतानाम्, शिखरेषु=अग्रभागेषु, विलम्बि=लम्बमानम्, बिम्बम्=आकारः येषां ते, वियुक्तानाम्=पति–विरहितानाम्, वनितानाम्=नायिकानाम् हृदयम्=चेतः अनुकुर्वन्तीति अनुकाराः=मलिनाः इति भावः, जलाधिक्यात् मेघानाम्, वियोगाग्निना च वनितानां मलिनत्वम्=श्यामत्वमिति बोध्यम्, मेघाः=वारिदाः, गर्जन्ति= नदन्ति, येषाम्=अभ्राणामित्यर्थः, रवेण = ध्वनिना, सहसा=अकस्मात् उत्पतितैः= उड्डीनैः, मयूरैः = बर्हिभिः, मणिमयैः=मणिखचितैः, तालमृन्तैः=व्यजनैः, खम्= आकाशम्, वीज्यतेइव । अत्रोत्प्रेक्षालङ्कारः । वसन्ततिलका वृत्तम् ॥ १३ ॥

संन्यासः कुलदूषणैरिव जनैर्मेघैर्वृतश्चन्द्रमाः ।
विद्युन्नीचकुलोद्गतेव युवतिर्नैकत्र सन्तिष्ठते ।। १४ ।।

अन्वयः—धाराहताः, पंकक्लिन्नमुखाः, दर्दुराः, सलिलम्, पिबन्ति, समदनः, बर्हिणः, कण्ठम् मुञ्चति; नीपः, प्रदीपायते; कुलदूषणैः, जनैः, संन्यासः, इव, मेघैः, चन्द्रमाः, वृतः, नीचकुलोद्गता, युवतिः, इव, विद्युत्, एकत्र, न, सन्तिष्ठते ।। १४ ।।

शब्दार्थ—धाराहताः = जलधाराओं से ताडित, पंकक्लिन्नमुखाः = कीचड़ से व्याप्त मुख वाले, दर्दुराः = मेढक, सलिलम्= पानी, पिबन्ति=पीते हैं । समदनः= कामातुर, मस्त, बर्हिणः = मोर, कण्ठम् = कण्ठध्वनि को, मुञ्चति = छोड़ रहा है, अर्थात् बोल रहा हैं, नीपः = कदम्बवृक्ष, प्रदीपायते = दीपक के समान प्रतीत हो रहा हैं । कुलदूषणैः=वंश को दूषित करने वाले, जनैः=लोगों के द्वारा, संन्यासः= संन्यास, इव=के समान, मेघैः=बादलों के द्वारा, चन्द्रमाः=चन्द्रमा, वृतः=ढक दिया गया है, नीचकुलोद्गता = नीच कुल में उत्पन्न होने वाली, युवतिः = युवती स्त्री, इव=के समान, विद्युत्=बिजली, एकत्र=एक स्थान पर, न=नहीं, सन्तिष्ठते=स्थिर रह रही है ।। १४ ।।

अर्थ—और भी -

जल की धाराओं से ताडित, कीचड़ से लिप्त मुखवाले मेढक [बरसात का] पानी पी रहे हैं । कामातुर मोर आवाज कर रहा है । कदम्ब का पेड़ [अपने फूलों से] दीपक के समान प्रतीत हो रहा है । कुल को कलङ्कित करने वाले लोगों के द्वारा संन्यास के समान बादलों के द्वारा चन्द्रमा को ढंक लिया गया है । नीच कुल में पैदा होने वाली स्त्री के समान बिजली किसी एक जगह नहीं ठहर रही है ।। १४ ।।

टीका—अभिसारे सहायकं वर्षाकालमेव वर्णयति-पङ्कक्लिन्नेति । पङ्कक्लिन्न-मुखाः = पङ्केन = कर्दमेन क्लिन्नानि = व्याप्तानि मुखानि येषां ते, धाराभिः= वर्षाजलधाराभिः, आहताः=ताडिताः, दर्दुराः=मण्डूकाः, सलिलम्=जलम्, पिबन्ति= गृह्णन्ति; समदनः=कामातुरः, बर्हिण;=मयूरः, कण्ठम्=कण्ठध्वनिम्, मुञ्चन्ति= त्यजति, केकारवं करोतीति भावः । नीपः = कदम्बवृक्षः, प्रदीपायते = पीतपुष्पैः दीप इवाचरति; कुलदूषणैः=कुलकलङ्कैः, जनैः=लोकैः, संन्यासः=यतिधर्मः, इव, मेघैः=वारिदैः, चन्द्रमाः=चन्द्रः, वृतः=पूर्वत्र कलङ्कितः, परत्र चाच्छादित, नीचकुले उद्गता=उत्पन्ना, युवतिः=यौवनसम्पन्ना नारी, इव, विद्युत्, एकत्र=एकस्मिन् स्थाने एव, न = नैव, सन्तिष्ठते = विराजते । 'समवप्रविभ्यः स्थः' १।३।२२ इत्यात्मने-पदम् । अत्रोपमालङ्कारः । शार्दूलविक्रीडितं वृत्तम् ।। १४ ।।

वसन्तसेना—भाव ! सुट्ठु दे भणिदं। (भाव ! सुष्ठु ते भणितम्।) एषा हि—

मूढे ! निरन्तरपयोधरया मयैव
कान्तः सहाभिरमते यदि किं तवात्र।
मां गर्जितैरपि मुहुर्विनिवारयन्ती
मार्गं रुणद्धि कुपितेव निशा सपत्नी ॥ १५ ॥

विमर्श—कुल को कलङ्कित करने वाले लोग संन्यास अवस्था को भी कलङ्कित करते हैं। कुलटा युवती जिस प्रकार एक पति के पास नहीं रहती हैं, प्रतिदिन घर बदलती रहती है, उसी प्रकार बिजली भी आकाश में भिन्न-भिन्न स्थानों पर चमकती रहती है। 'सम्' पूर्वक ष्ठा = स्था धातु से आत्मनेपद का विधान 'समवप्रविभ्यः स्थः' १।३।२२ सूत्र करता है॥ १४॥

अन्वयः—मूढे ! निरन्तरपयोधरया, मया, एव, सह, यदि, कान्तः, अभिरमते, तदा, अत्र, तव, किम् ? [ईदृशैः] गर्जितैः, अपि, माम्, मुहुः, निवारयन्ती, कुपिता, सपत्नी, इव, निशा, मम, मार्गम्, रुणद्धि ॥ १५ ॥

शब्दार्थ—मूढे ! = रे मूर्खवसन्तसेने !, निरन्तरपयोधरया = घने पयोधरों [रात्रिपक्ष में बादल और सपत्नीपक्ष में स्तनों] वाली, मया=मेरे, एव=ही, सह=साथ, यदि=यदि कान्तः=प्रिय, अभिरमते=अभिरमण करता है, अत्र=इसमें तव=तुम्हारा=वसन्तसेना का क्या ? [ईदृशैः=इस प्रकार के] गर्जितैः=बार-बार गरजनों से, अपि=भी, माम्=मुझ=वसन्तसेना को, मुहुः=बार-बार, निवारयन्ती= रोकती हुयी, कुपिता=प्रणयकोपवती, सपत्नी=सौतन, इव=के समान, निशा=रात, मम=मेरा, वसन्तसेना का, मार्गम्=रास्ता, रुणद्धि=रोकती है ॥ १५ ॥

अर्थ—वसन्तसेना—भाव ! तुमने ठीक ही कहा है। क्योंकि यह—

'मूर्ख वसन्तसेने ! घने पयोधरों [रात्रिपक्ष में बादलों और सौतनपक्ष में स्तनों] वाली मुझ [रात या सौतन] के साथ ही यदि कान्त [चन्द्रमा या चारुदत्त] अभिरमण कर लेता है तो इसमें तुम्हारा [वसन्तसेना का] क्या ? इस प्रकार के गर्जनों से भी मुझे [वसन्तसेना को] बार-बार रोकती हुयी सौतन के समान यह रात मेरा रास्ता रोक रही है ॥ १५ ॥

टीका—विटोक्ति समर्थयमाना रात्रिं सपत्नीत्वेनोपपादयन्ती आह—मूढे इति। रे मूढे ! = परवृथानभिज्ञे, वसन्तसेने इति भावः, निरन्तरपयोधरया= निविडमेघावृतया पक्षे निविडकुचयुग्मया; मया = निशया, एव, सह = सार्द्धम्, कान्तः=चन्द्रः, पक्षे चारुदत्तः, यदि, अभिरमते=अभिरमणं करोति, अत्र=अस्मिन् विषये, तव=वसन्तसेनायाः किम्=न किमपीति भावः। ईदृशैः, गर्जितैः=गर्जनैः,

विटः—भवतु एवं तावत्, उपालभ्यतां तावदियम्।

वसन्तसेना—भाव ! किमनया स्त्री-स्वभाव-दुर्विदग्धया उपालब्धया। पश्यतु भावः—

मेघा वर्षन्तु गर्जन्तु मुञ्चन्त्वशनिमेव वा।
गणयन्ति न शीतोष्णं रमणाभिमुखाः स्त्रियः ॥ १६ ॥

अपि, माम् = वसन्तसेनामित्यर्थः, मुहुः = वारं वारम्, निवारयन्ती = प्रियसंगमे अवरोधमुत्पादयन्ती, कुपिता=प्रणयकोपवती, सपत्नी, इव, निशा=रात्रिः, मम= वसन्तसेनायाः मार्गम्, रुणद्धि = आवृणोति। यथा काचित् सपत्नी प्रियसंगमे वाधामुत्थापयति तथैवेयं निशा मम चारुदत्तस्य च संगमे वाधामुत्थापयतीति बोध्यम्। अत्रोपमालङ्कारः, वसन्ततिलका वृत्तम् ॥ १५ ॥

विमर्शः—चारुदत्त के साथ अभिसार में विघ्न डालने वाली रात को सपत्नी के रूप में सुन्दर ढंग से चित्रित किया गया है ॥ १५ ॥

अर्थ—विट-अच्छा यही सही, इस रात को ही उलाहना दो।

वसन्तसेना—स्त्रीस्वभाव से हठी होने के कारण इसको उपालम्भ देने से क्या [लाभ] ? भाव ! देखिये—

अन्वयः—मेघाः, वर्षन्तु, गर्जन्तु. अशनिम्, एव, वा, मुञ्चन्तु, [किन्तु] रमणाभिमुखाः, स्त्रियः, शीतोष्णम्, न, गणयन्ति ॥ १६ ॥

शब्दार्थ—मेघाः=बादल, वर्षन्तु=बरसें, गर्जन्तु=गरजें, वा=अथवा, अशनिम्= वज्र (बिजली) को, एव=ही, मुञ्चन्तु=गिरा दें; [किन्तु] रमणाभिमुखाः=रमण के लिये तैयार, स्त्रियः-स्त्रियाँ, शीतोष्णम्=सर्दी गर्मी, आग, पानी, न=नहीं, गणयन्ति=गिनतीं है ॥ १६ ॥

अर्थ—बादल बरसें, गरजें अथवा वज्र (बिजली) को ही गिरा दें [किन्तु] प्रेमी के साथ रमण के लिये तैयार स्त्रियाँ सर्दी और गर्मी को कुछ भी नहीं गिनती हैं, इनकी चिन्ता नहीं करती हैं ॥ १६ ॥

टीका—निशायाः मेघानां वा रमणे बाधकाभावत्वं घोषयति—मेघा इति। मेघाः=वारिदाः, वर्षन्तु=जलं कटन्तु, गर्जन्तु=नदन्तु, अशनिम्=वज्रम् एव, वा= अथवा, मुञ्चन्तु = परित्यजन्तु, किन्तु, रमणाभिमुखाः = पतिरमणे तत्पराः, स्त्रियः = नार्यः, शीतोष्णम् = शिशिरजाड्यम्, ग्रीष्मसन्तापम्, वर्षणक्लेशञ्च न=नैव, गणयन्ति=प्रतिबन्धकत्वेन मन्यन्ते। पूर्वार्द्धे मेघस्यैकस्यानेकक्रियासम्बन्धात् दीपकालंकारः। उत्तरार्धे अप्रस्तुतप्रशंसा चेति बोध्यम्। पथ्यावक्त्रं वृत्तम् ॥ १६ ॥

विटः—वसन्तसेने ! पश्य पश्य ! अयमपरः—

पवन-चपल-वेगः स्थूलधारा-शरौघः
स्तनित-पटह-नादः स्पष्टविद्युत्पताकः ।
हरति करसमूहं खे शशाङ्कस्य मेघो
नृप इव पुरमध्ये मन्दवीर्यस्य शत्रोः ॥ १७ ॥

अन्वयः—पवनचपलवेगः, स्थूलधाराशरौघः, स्तनितपटहनादः, स्पष्टविद्युत्पताकः, मेघः, मन्दवीर्यस्य, शत्रोः, पुरमध्ये, नृपः, इव, खे, शशाङ्कस्य, करसमूहम्, हरति ॥ १७ ॥

शब्दार्थ—पवनचपलवेगः=हवा के द्वारा चञ्चल वेगवाला [नृपपक्ष में—हवा के समान तेज गति वाला] स्थूलधाराशरौघः = मोटी जलधारारूपी वाणों वालों [नृपपक्ष में—मोटी जलधाराओं के समान वाणसमूह वाला] स्तनितपटहनादः=गर्जनरूपी नगाड़े की आवाजवाला, [नृपपक्ष में—मेघों की गर्जन के समान युद्ध के नगाड़ों कीं आवाजवाला], स्पष्टविद्युत्पताकः=स्पष्ट बिजलीरूपी पताकावाला [नृपपक्ष में—चमकती हुयी बिजली के समान पताकाओं वाला] मेघः=बादल, मन्दवीर्यस्य=अल्पपराक्रमी, शत्रोः=शत्रु के, पुरमध्ये=नगर के मध्य में, नृपः=आक्रमणकारी राजा, इव=के समान, खे=आकाश में, शशाङ्कस्य=चन्द्रमा के, करसमूहम् = किरणसमुदाय को [नृपपक्ष में—टैक्ससमुदाय को], हरति = छीन ले रहा है ॥ १७ ॥

अर्थ—विट—वसन्तसेना ! देखो, देखो । यह दूसरा—

मोटी पानी की धारारूपी वाणों वाला, गरजनारूपी नगाड़े की आवाजवाला, स्पष्ट बिजलीरूपी पताकावाला मेघ कम पराक्रमवाले शत्रु के नगर के बीच में [आक्रमणकारी] राजा के समान आकाश में चन्द्रमा की किरणों के समूह का हरण कर ले रहा है । राजापक्ष में हवा के समान चञ्चल या तीव्रगतिवाला, मोटी मोटी जलधाराओं के समान वाणसमूह वाला, बादलों की गर्जन के समान युद्ध के नगाड़ों की आवाजवाला, चमकती हुई बिजली के समान पताकावाला विजयी राजा कमजोर शत्रु के नगर में उससे कर=टैक्स लेने लग जाता है ॥ १७ ॥

टीका—वसन्तसेनोक्त मेघोपद्रवं समर्थयमानो विट आह पवनेति । पवनेन=वायुना, चपलः = चञ्चलः, वेगः=जवः यस्य सः, नृपपक्षे—पवन इव चपलवेगः, स्थूला चासौ धारा=वर्षणप्रवाहः, शरौघः=वाणसमूह इव यस्य सः, नृपपक्षे—स्थूलधारा इव शरौघः यस्य सः, निरन्तरवाणवर्षीत्यर्थः, स्तनितम्=घनगर्जितम्, पटहनादः = रणवाद्यविशेषरवः इव यस्य सः, अन्यत्र स्तनितमिव पटहनादो यस्य सः, स्पष्टा = सुव्यक्ता, विद्युत् = चपला, पताका=ध्वज इव यस्य सः, अन्यत्र स्पष्ट-

वसन्तसेना—एव्वं णेदं । ता कधं एसो अवरो (एवं न्विदम् । तत् कथमेषः अपरः)—

> एतैरेव यदा गजेन्द्रमलिनैराध्मातलम्बोदरै-
> गर्जद्भिः सतडिद्बलाकशबलैर्मेघैः सशल्यं मनः ।
> तत् किं प्रोषित-भर्तृ-वध्य-पटहो हा हा हताशो वकः
> प्रावृट् प्रावृडिति ब्रवीति शठधीः क्षारं क्षते प्रक्षिपन् ।।१८।।

विद्युदिव पताका यस्य सः, मेघः=वारिदः, मन्दवीर्यस्य=अल्पपराक्रमस्य पराजित-स्येत्यर्थः, शत्रोः = रिपोः, पुरमध्ये=नगरमध्ये, नृप इव=विजयी राजा इव, खे=गगने, शशाङ्कस्य=चन्द्रस्य, करसमूहम् = किरणजालम्, नृपपक्षे=राजकोषसमुदायम्, हरति=आवृणोति, अन्यत्र=गृह्णातीत्यर्थः । अत्रोपमारूपकयोः सङ्करः । मालिनी वृत्तम् ।। १७ ।।

विमर्श—यहाँ मेघ की प्रबलता का कथन विजयी राजा के समान किया गया है ।। १७ ।।

अन्वयः—यदा, गजेन्द्रमलिनैः, आध्मातलम्बोदरैः, सतडिद्बलाकशबलैः, गर्जद्भिः, एतैः, मेघैः, एव, मनः; सशल्यम्, भवति, हा, हा, तत्, प्रोषितभर्तृ-वध्यपटहः, हताशः, शठधीः, बकः, क्षते, क्षारम्, प्रक्षिपन्, इव, किम्, प्रावृट् प्रावृट्, इति, ब्रवीति ? ।। १८ ।।

शब्दार्थ—यदा=जब, गजेन्द्रमलिनैः=गजराजों के समान मलिन, आध्मात-लम्बोदरैः=फूले एवं लटकते हुये पेटवाले, सतडिद्बलाकशबलैः=बिजली एवं बगुलों की पाँत से चितकबरे, गर्जद्भिः=गरजनेवाले, एतैः=इन, मेघैः=बादलों के कारण, एव = ही, मनः = मन, सशल्यम् = काँटे से युक्त, [भवति=हो रहा है]; हा-हा= हाय-हाय, तत्=उस समय, प्रेषितभर्तृवध्यपटहः=प्रवासी पतियोंवाली विरहिणियों की हत्या के समय बजनेवाला नगाड़ारूपी, हताशः=अभागा, शठधीः=धूर्तबुद्धिवाला, बकः = बगुला, क्षते=कटे हुये पर, क्षारम् = नमक को, प्रक्षिपन्=छिड़कता हुआ, इव = मा, किम् = क्यों, प्रावृट् प्रावृट् = वर्षा वर्षा ऐसी ध्वनि, ब्रवीति = बोल रहा है ? ।। १८ ।।

अर्थ—वसन्तसेना—ऐसा ही है । तो क्या यह दूसरा—

जब गजराजों के समान मलिन [मटमैला], फूले एवं लटकते हुये पेटवाले [मध्य भागवाला] बिजली एवं बगुलों की पाँत से चितकबरे इन मेघों के कारण ही [वियोगिनी स्त्रियों का] मन काटें से युक्त हो रहा है, उनके मनमें काटें चुभ रहे हैं । हाय हाय ! तब परदेश गये हुये पतियोंवाली नायिकाओं के बध के समय बजनेवाले नगाड़े के समान अभागा धूर्त बुद्धिवाला यह बगुला घाव (कटे)

विटः—वसन्तसेने ! एवमेतत् । इदमपरं पश्य—

बलाका-पाण्डुरोष्णीषं विद्युदुत्क्षिप्तचामरम् ।
मत्त-वारण-सारूप्यं कर्त्तुकाममिवाम्बरम् ॥ १९ ॥

पर नमक छिड़कता हुआ सा क्यों 'वर्षा वर्षा' ऐसा बोल रहा है अर्थात् आवाज कर रहा है ? ॥ १८ ॥

टीका—वसन्तसेना मेघानामुद्दीपनत्वमेव वर्णयति—एतैरेवेति । यदा=यस्मिन् काले, यद्वा यतः हेतोरित्यर्थः एवञ्च तत् इत्यस्य तदा यद्वा ततः हेतोरित्यर्थो बोध्यः । गजेन्द्रवत् मलिनैः=मलिनवर्णैः, आध्मातानि=जलप्रपूरितानि, लम्बानि=अधोलम्बमानानि च उदराणि = मध्यभागाः येषां तादृशैः, तडिद्भिः वर्तमानाः, सतडितः, ते बलाकाः=बकाः, तैः=हेतुभूतैः, शबलैः=चित्रवर्णैः, गर्जद्भिः=ध्वनद्भिः, एतैः= पुरो दृश्यमानैः, मेघैः=वारिदैः, एव, मनः=विरहिणीनां चित्तम्, सशल्यम्=विरह-वेदनाशल्येन विद्धम्, हा हा—खेदबोधकमव्ययमिदम्, तत्=तस्मात् कारणात् तदा वा, प्रोषिताः=विदेशं प्रयाताः, भर्तारः=पतयो यासां ताः, तासाम्, वध्यपटहः=वधकाले वाद्यमानपटहतुल्यः, हता=नष्टा, आशा यस्य सः, भाग्यरहितः, शठा = प्रतारणशीला, बुद्धिः = मतिर्यस्य सः, बकः = बलाकः, क्षते = व्रणादौ, क्षारम्=लवणम्, प्रक्षिपन्=पातयन्, इव, किम् = कस्मात् प्रावृट् प्रावृट् = वर्षा वर्षा इति ब्रवीति= वदति, तादृशध्वनिं करोतीति भावः । अत्र 'गजेन्द्रमलिनैः' अत्रोपमा' 'वध्यपटहः' अत्र रूपकम् 'क्षारं क्षते प्रक्षिपन्' इत्यत्र निदर्शना । एतेषां निरपेक्षतया संसृष्टिरिति तत्त्वविदः । शार्दूलविक्रीडितं वृत्तम् ॥ १८ ॥

विमर्श—'प्रावृट् प्रावृडिति' इसका व्याखयान प्रायः 'वर्षा वर्षा' ऐसा किया गया है । परन्तु यह तर्कसंगत नहीं है । यह बगुला की आवाज का अनुकरण है । उसकी आवाज के लिये ही इस शब्द का प्रयोग समझना चाहिये ॥ १८ ॥

अन्वयः—बलाकापाण्डुरोष्णीषम्, विद्युदुत्क्षिप्तचामरम्, अम्बरम्, मत्तवारण-सारूप्यम्, कर्तुकामम्, इव, [पश्य —गद्यस्थेनान्वयः] ॥ १९ ॥

शब्दार्थ—बलाकापाण्डुरोष्णीषम्=बक [पंक्तिरूपी] श्वेत पगड़ीवाले, गज-पक्ष में—बगुलों के समान सफेद पगड़ीवाले, विद्युदुक्षिप्तचामरम्=डुलाये जाते हुये बिजलीरूपी चामरवाले, गजपक्ष में—बिजली के समान डुलाये जाते हुये चामरवाले, अम्बरम्=आकाश को, मत्तवारणसारूप्यम् मतवाले हाथी की समानता को, कर्तु-कामम्=करने का इच्छुक, इव=सा, [पश्य=देखो] ॥ १९ ॥

अर्थ—**विट**—वसन्तसेना ! यह ठीक है । किन्तु इस दूसरे बादल को देखो—

बगुला [की पंक्तिरूपी) श्वेत पगड़ीवाले (गजपक्ष में—बगुला के समान श्वेत पगड़ीवाले), बिजलीरूपी चंचल चामरवाले (गजपक्ष में—बिजली के

वसन्तसेना—भाव ! पेक्ख पेक्ख । (भाव ! प्रेक्षस्व प्रेक्षस्व ।)

एतैरार्द्र-तमालपत्र-मलिनैरापीतसूर्यं नभो
वल्मीकाः शरताडिता इव गजाः सीदन्ति धाराहताः ।
विद्युत्काञ्चनदीपिकेव रचिता प्रासादसञ्चारिणी
ज्योत्स्ना दुर्बलभर्तृकेव वनिता प्रोत्सार्य मेघैर्हृता ।। २० ।।

समान हिलते हुये चामर से युक्त) आकाश को मतवाले हाथी के समान करने के इच्छुक से (इस दूसरे बादल को देखो) ।। १९ ।।

टीका—बलाकादिभिः कृतस्याकाशस्य सौन्दर्यातिशयं विटो वर्णयति—बलाकेति । बलाका=बकपङ्क्तिरेव, पाण्डुरम्=श्वेतम्, उष्णीषम्=किरीटम्, यस्य तादृशम्, गजपक्षे–बकपङ्क्तिरिव श्वेतम् उष्णीषं यस्य तादृशम्, विद्युदेव=तडिदेव उत्क्षिप्तः=ऊर्ध्वीकृतः, चामरः=बालकव्यजनं यस्य तादृशम्, पक्षे तडिदिव उत्क्षिप्त-चामरविशिष्टम्, अम्बरम्=गगनम्, मत्तस्य=मदोन्मत्तस्य, वारणस्य=गजस्य, सारुप्यम्=समानरूपताम्, कर्तुकामम्=कर्तुमिच्छुकमिव, पश्येति गद्यस्थेनान्वयः, यद्वा-वर्तते इति बोध्यम् ।। १९ ।।

विमर्श—प्रस्तुत श्लोक में क्रिया पद नहीं है । कुछ व्याख्याकारों ने 'वर्तते' जैसे क्रियापद आक्षिप्त किये हैं । परन्तु इसकी अपेक्षा 'इदम् अपरं पश्य' इस गद्यवाक्य में स्थित दर्शन क्रिया का कर्म मानना उचित प्रतीत है । इस प्रकार के बादल को दिखाना विट का उद्देश्य है ।।१९।।

अन्वयः—आर्द्रतमालपत्रमलिनैः, एतैः, (मेघैः) नभः, आपीतसूर्यम्, (कृतम्), धाराहताः, वल्मीकाः, शरताडिताः, गजाः, इव, सीदन्ति; विद्युत्, प्रासादसञ्चारिणी, काञ्चनदीपिका, इव, रचिता, दुर्बलभर्तृका, वनिता, इव, ज्योत्स्ना, मेघैः, प्रोत्सार्य, हृता ।। २० ।।

शब्दार्थ—आर्द्रतमालपत्रमलिनैः=तमालवृक्ष के गीले पत्तों के समान मलिन, एतैः=इन्होंने, (मेघैः=बादलों ने), नभः=आकाश, आपीतसूर्यम्=ढके हुये सूरजवाला, कृतम्=कर दिया है । धाराहताः = वर्षा की धारा से गिराये गये, बल्मीकाः= दीमकों के पुञ्ज, शरताडिताः=वाणों से मारे गये, गजाः=हाथियों, इव=के समान सीदन्ति=नष्ट हो रहे हैं । विद्युत्=बिजली, प्रासादसञ्चारिणी = महल में घूमने वाली, कांचनदीपिका=सोने की लालटेन, इव=के समान, रचिता=बना दी गयी है, दुर्बलभर्तृका = कमजोर पतिवाली, वनिता = स्त्री, इव = के समान, ज्योत्स्ना= चाँदनी, मेघैः = बादलों द्वारा, प्रोत्सार्य = बलपूर्वक छीनकर, हृता = हर ली गयी है ।। २० ।।

अर्थ—वसन्तसेना—भाव ! देखो, देखो—

विटः—वसन्तसेने ! पश्य पश्य—

एते हि विद्युद्गुण-बद्ध-कक्षा
गजा इवान्योन्यमभिद्रवन्तः ।
शक्राज्ञया वारिधराः सधारा
गां रूप्यरज्ज्वेव समुद्धरन्ति ॥ २१ ॥

तमालवृक्ष के गीले पत्तों के समान मलिन इन मेघों द्वारा आकाश को ढके हुये सूर्यवाला बना दिया गया है अर्थात् आकाश में सूर्य को ढँक लिया है। वर्षा की जलधाराओं से गिराये गये बल्मीकों (दीमक) के घर वाणों से मारे गये हाथियों के समान नष्ट हो रहे हैं। बिजली महलों में घुमाई जानेवाली दीपिका (लालटेन) के समान बना दी गयी है (अर्थात् कभी कहीं, कभी कहीं चमकती रहती है।) कमजोर पतिवाली स्त्री के समान चाँदनी मेघों द्वारा बलपूर्वक छीनकर हर ली गयी है ॥ २० ॥

टीका—मेघानां बाहुल्यं तेन कृतञ्च प्राकृतिकं वर्णनं प्रस्तौति–एतैरिति। आर्द्राणि = जलसिक्तानि, तमालपत्राणि = एतन्नामकवृक्षविशेषपत्राणि, मलिनैः= श्यामवर्णैः, एतैः=पुरो दृश्यमानैः, मेघैः, नभः=गगनम्, आपीतः=आच्छादितः, सूर्यः=दिनकरः, यस्मिन्, तादृशम्, कृतम्, जातं पश्येत्यादि क्रिया-पदमध्याहार्यम्। धाराभिः=वर्षाजलधाराभिः, आहता=प्रताडिताः, वल्मीकाः=कीटविशेषरचित-मृत्तिकास्तूपाः, शरताडिताः=शरैराहताः, गजाः=हस्तिनः, इव=यथा, सीदन्ति= विनाशं यान्ति। विद्युत्=तडित्, कर्मेदम्, प्रासादसंचारिणी=प्रासादे सञ्चरणशीला, कांचनदीपिका = सुवर्णदीपिका, इव, रचिता = विहिता, दुर्बलः = क्षीणशक्तिकः, भर्ता=पतिर्यस्याः सा, तादृशी, वनिता=भार्या, इव, ज्योत्स्ना=चन्द्रिका, मेघैः= वारिदैः, प्रोत्सार्य=बलाद् आकृष्य, हृता=नीता। निर्बलपुरुषस्य समक्षमेव यथा तस्य भार्यां शत्रुर्हरति तथैव मेघैः चन्द्रभार्या ज्योत्स्नापि हृतेति भावः ॥ अत्रोपमा-लङ्कारः, शार्दूलविक्रीडतम् वृत्तम् ॥ २० ॥

अन्वयः—विद्युद्गुणबद्धकक्षाः, अन्योन्यम्, अभिद्रवन्तः, गजाः, इव, सधाराः, एते, वारिधराः, शक्राज्ञया, गाम्, रूप्यरज्वा, समुद्धरन्ति, इव ॥ २१ ॥

शब्दार्थ—विद्युद्गुणबद्धकक्षः=बिजलीरूप रस्सी से बंधी हुई कमर वाले, [गजपक्ष में—बिजली के समान रस्सी से कसी हुयी कमर वाले] अन्योन्यम्= एक दूसरे को, अभिद्रवन्तः=पीछे धक्का देते हुये, गजाः=हाथियों, इव=के समान, एते=ये, सधाराः=जलधारासहित, वारिधराः=बादल, शक्राज्ञया=इन्द्र की आज्ञा से, गाम्=पृथ्वी को, रूप्यरज्वा=चाँदी की रस्सियों से, समुद्धरन्ति इव=ऊपर उठा से रहे हैं ॥ २१ ॥

अपि च । पश्य—

महावाताध्मातैर्महिष-कुल-नीलैर्जलधरैः
चलैर्विद्युत्पक्षैर्जलधिभिरिवान्तःप्रचलितैः ।
इयं गन्धोद्दामा नव-हरित-शष्पाङ्कुरवती
धरा धारापातैर्मणिमयशरैर्भिद्यत इव ॥ २२ ॥

अर्थ—**विट**—वसन्तसेना जी ! देखो, देखो—

विजलीरूपी रस्सी से बंधी हुयी कमरवाले [गजपक्ष में—बिजली के समान रस्सी से बंधी कमरवाले], आपस में एक दूसरे को धक्का देते हुये जलधारा वाले ये बादल इन्द्र की आज्ञा से मानो पृथ्वी को चाँदी की रस्सियों से ऊपर उठा रहे हैं ॥ २१ ॥

टीका—मेघसौन्दर्यमेवाह—एत इति । विद्युत्=तडित् एव गुणः=रज्जुः, तेन बद्धाः=संयमिताः, कक्षाः=मध्यभागः येषां ते, गजपक्षे—विद्युदिव गुणः, तेन बद्धाः=आबद्धाः, कक्षाः—उदरभागाः येषां ते, अन्योन्यम्=परस्परम्, अभिद्रवन्तः= संघर्षयन्तः, गजाः = दन्तिनः, इव, सधाराः = जलधारासहिता एते वारिधराः= वारिदाः, शक्रस्य = इन्द्रस्य, आज्ञया = आदेशेन, गाम् = पृथ्वीम्, रूप्यरज्वा= रजतमयीरज्वा, समुद्धरन्ति इव=ऊर्ध्वं कर्षन्तीव । अत्रोपमोत्प्रेक्षे अलङ्कारौ, उपजातिः बृत्तम् ॥ २१ ॥

अन्वयः—महावाताध्मातैः, महिषकुलनीलैः, विद्युत्पक्षैः, अन्तः प्रचलितैः, जलधिभिः इव, चलैः जलधरैः, मणिमयशरैः, धारापातैः, गन्धोद्दामा, नवहरित-शष्पाङ्कुरवती, इयम्, धरा, भिद्यते, इव ॥ २२ ॥

शब्दार्थ—महावाताध्मातैः=प्रचण्डवायु के कारण गर्जन करने वाले अथवा प्रबल वायु से परिपूर्ण, महिषकुलनीलैः=भैंसों के समुदाय के समान नीलै=काले वर्ण वाले, विद्युत्पक्षैः=बिजलीरूपसहायक से युक्त, अन्तःप्रचलितैः=अन्तरिक्ष में घूमने वाले, चलैः=इधर उधर सञ्चरणशील, जलधिभिः=समुद्रों, इव=के समान, **जलधरैः**=बादल समुदाय, मणिमयशरैः मणि से बने हुये वाणों के द्वारा, धारा-**सम्पतैः**=धारारूप से वर्षा के द्वारा, गन्धोद्यामा=उठने वाली उत्कट गन्ध से युक्त, नवहरितशष्पांकुरवती=नवीन हरे घास के अंकुरों से व्याप्त, इयम्=इस, धरा= पृथिवी को, भिद्यते इव=विदीर्ण सा कर रहे हैं ॥ २२ ॥

अर्थ—और भी देखो—

प्रचण्ड वायु के कारण गर्जन करने वाले अथवा प्रबल वायु से परिपूर्ण, भैंसों के समुदाय के समान नीले=काले रंगवाले, समुद्रों के समान इधर उधर घूमते हुये बादल [कर्ता] मणिमय बाणों से धारारूप से वर्षा के द्वारा गन्ध से युक्त, नवीन हरे घास से व्याप्त इस पृथिवी को विदीर्ण सा कर रहे हैं ॥ २२ ॥

वसन्तसेना——भाव ! एसो अवरो (भाव ! एष अपरः ।)——

एह्येहीति शिखण्डिनां पटुतरं केकाभिराक्रन्दितः
प्रोड्डीयेव बलाकया सरभसं सोत्कण्ठमालिङ्गितः ।
हंसैरुज्झित-पङ्कजैरतितरां सोद्वेगमुद्वीक्षितः
कुर्वन्नञ्जनमेचका इव दिशो मेघः समुत्तिष्ठति ॥ २३ ॥

टीका——प्रस्तुतमेवार्थं प्रकारान्तरेण प्रतिपादयति— महावातेति । महावातेन= प्रचण्डवायुना, आध्मातैः=शब्दितैः, [आध्मातः शब्दिते दग्धे–इति मेदिनी] यद्वा, परिपूरितैः, महिषाणां कुलम्=समूहः, तद्वत् नीलैः=श्यामैः, विद्युतः=चपला एव पक्षाः=सहायाः येषां तैः [पक्षः पत्रं सहायोऽस्त्री–इत्यमरः], अन्तः प्रचलितैः= अन्तः = अन्तरीक्षे गगनमध्ये वा, प्रचलितैः = आन्दोलितैः, यद्वा अन्तः क्षुब्धैः, जलधिभिः=समुद्रैः, इव=यथा, जलधरैः=वारिदैः [कर्तृपदमेतत्], मणिमयशरैः= मणिनिर्मितबाणैः, तत्तुल्यैरिति भावः, [करणपदे इमे] धारापातैः = धाराप्रवाह-वर्षणैः, गन्धोद्दामा=गन्धेन उद्दामा=प्रथमवृष्टया जायमानगन्धविशिष्टा, नवैः= सद्यो जातैः, हरितैः=हरितवर्णैः, शष्पाणामङ्कुरैः युक्ता, इयम्=पुरोदृश्यमाना, धरा=पृथिवी, भिद्यते इव=छिद्यते, विदीर्यते इव । पूर्वार्धे=उपमा, उत्तरार्धे च उत्प्रेक्षालंकारः, शिखरिणी वृत्तम् ॥ २२ ॥

विमर्श——यहाँ मेघों को समुद्रों के समान बताया गया है । किन्तु आकाश में समुद्र का चित्रण तर्कसंगत नहीं है । गन्धोद्दामा–जब सबसे पहली वर्षा होती है, उस समय जमीन से एक उत्कट गन्ध निकलना सर्वानुभवसिद्ध है । शष्पाङ्कुर— इसकी व्याख्या 'संलग्नशरतुल्या' यह भी गयी है । उपमा, रूपक और उत्प्रेक्षा की संसृष्टि अलंकार है । शिखरिणी छन्द है ॥ २२ ॥

अन्वयः——शिखण्डिनाम्, केकाभिः, एहि, एहि, इति, पटुतरम्, आक्रन्दितः, बलाकया, सरभसम्, प्रोड्डीय, सोत्कण्ठम्, आलिङ्गितः, इव, उज्झितपंकजैः, हंसैः, सोद्वेगम्, अतितराम्, उद्वीक्षितः, [एषः, अपरः] मेघः, दिशः, अञ्जनमेचकाः, कुर्वन्, इव, समुत्तिष्ठति ॥ २३ ॥

शब्दार्थ——शिखण्डिनाम्=मोरों की, केकाभिः=आवाजों से, एहि एहि= इधर आओ, इधर आओ, इति=इस प्रकार, पटुतरम्=व्यक्ततर रूप से, आक्रन्दितः= बुलाया गया, बलाकया=बगुली [के समूह] द्वारा, सरभसम्=वेग या हर्ष के साथ, प्रोड्डीय=आकाश में उड़कर, सोत्कण्ठम्=उत्सुकतासहित, आलिङ्गितः=आश्लिष्ट, इव=सा, उज्झितपङ्कजैः=कमलों को छोड़ने वाले, हंसैः=हंसों के द्वारा, सोद्वेगम्= उद्वेगसहित, अतितराम्=अत्यधिक, उद्वीक्षितः=देखा गया, [एषः अपरः=यह

विटः—एवमेतत् । तथाहि पश्य—

निष्पन्दीकृत-पद्मषण्ड-नयनं नष्ट-क्षपा-वासरं
विद्युद्भिः क्षण-नष्ट-दृष्ट-तिमिरं प्रच्छादिताशामुखम् ।

दूसरा] मेघः=बादल, दिशः=सभी दिशाओं को, अञ्जनमेचकाः=काजल के समान काला, कुर्वन् इव=करता हुआ सा, समुत्तिष्ठति=ऊपर उठ रहा है ॥ २३ ॥

अर्थ—वसन्तसेना—भाव यह दूसरा—

मयूरों की 'आओ, आओ' इस प्रकार की ध्वनियों से अच्छी प्रकार से बुलाया गया, बगुलियों के द्वारा वेगपूर्वक ऊपर उड़ कर उत्कण्ठापूर्वक आलिङ्गित किया गया सा, कमलों को छोड़ने वाले हसों द्वारा उद्‌विग्नता के साथ खूब देखा गया [यह दूसरा] बादल सभी दिशाओं को काजल के समान नीला करता हुआ सा उठ रहा है ॥ २३ ॥

टीका—अन्यदपि मेघोत्थानप्रकारं निरूपयति—एहीति । शिखण्डिनाम्=मयूराणाम्, केकाभिः=वाणीभिः, "केका वाणी मयूरस्य" इत्यमरः, एहि एहि=आगच्छ, आगच्छ, इति=इत्थम्, पटुतरम्=व्यक्ततरं यथा स्यात् तथा, आक्रन्दितः=बान्धवबुद्धया आहूतः, मेघोदये मयूराः हृष्टाः नृत्यन्तीति लोकप्रसिद्धिः, बलाकया=बकस्त्रिया वकपङ्क्त्या वा, सरभसम्=वेगपूर्वकं, सहर्षं वा, प्रोड्डीय=नभसि उत्थाय, सोत्कण्ठम्=सौत्सुक्यम्, आलिङ्गितः इव=आश्लिष्ट इव, उज्झितपङ्कजैः=परित्यक्त-कमलैः, वर्षाकाले हंसाः कमलवनानि परित्यज्य मानस गच्छन्तीति लोकप्रसिद्धिः, हंसैः=मरालैः, सोद्‌वेगम्=उद्‌वेगपूर्वकम्, अतितराम्=अतिशयेन, उद्‌वीक्षितः=मानसगमनायोद्ध्वं निरीक्षितः, [अपर—=इति गद्यस्थेन योज्यम्] मेघः=वारिदः, दिशः=दिक्समूहम् अञ्जनमेचकाः=कज्जलवत् मलिनाः, कुर्वन् इव=विदधत् इव, समुत्तिष्ठति=ऊर्ध्वमुत्तिष्ठति । अत्र 'आक्रन्दित इव, अलिङ्गित, इव कुर्वन् इव—इत्यादावुत्प्रेक्षा दिशां मेचकीकरणत्वेन च गम्यसाम्यप्रतीत्या उपमा चेत्यनयोः परस्परनैरपेक्ष्येण संसृष्टिः शार्दूलविक्रीडितम् वृत्तम् । क्वचित्तु 'समुत्तिष्ठते' इत्यपपाठः 'उदोऽनूर्ध्वकर्मणि' (पा. सू. १।३।२४) इत्यात्मनेपदनिषेधात् । क्वचित्तु समुज्जृम्भते इति पाठः ॥ २३ ॥

विमर्श—हस कमलवनों में रहते हैं परन्तु वर्षा ऋतु के आते ही मानसरोवर को चले जाते हैं । जाते समय वे बादलों की अच्छी भावना से नहीं देखते हैं ।

'समुत्तिष्ठति' के स्थान पर कहीं कहीं 'समुज्जृम्भते'—यह भी पाठ है । किसी ने 'समुत्तिष्ठते' यह पाठ लिखा है, परन्तु अशुद्ध है क्योंकि 'उदोऽनूर्ध्व-कर्मणि' (पा. सू. १।३।२४) से आत्मनेपद का निषेध हो जाता है ॥ २३ ॥

विश्चेष्टं स्वपितीव सम्प्रति पयोधारा-गृहान्तर्गतं
स्फीताम्भोधर-धाम-नैक-जलद-च्छत्रापिधानं जगत् ॥ २४ ॥

अन्वयः—निष्पन्दीकृत-पद्मषण्डनयनम्, नष्टक्षपा-वासरम्, विद्युद्भिः, क्षण-नष्टदृष्टतिमिरम्, प्रच्छादिताशामुखम्, पयोधारागृहान्तर्गतम्, 'स्फीताम्भोधरधाम-नैकजलदच्छत्रापिधानम्, जगत्, सम्प्रति, निश्चेष्टम्, स्वपिति, इव ॥ २४ ॥

शब्दार्थ—निष्पन्दीकृत-पद्मषण्डनयनम् = कमलसमूहरूपी नेत्रों को जिसने बन्द कर लिया है, नष्टक्षपावासरम्=रात और दिन का भेद जिसमें समाप्त हो गया है अर्थात् एक रूप, विद्युद्भिः = बिजली के द्वारा, क्षणनष्टदृष्टतिमिरम्= जिसमें क्षण में अन्धकार नष्ट हो गया, दूसरे क्षण में दिखाई दे रहा है, प्रच्छा-दिताशामुखम्=जिसका दिशारूपी मुख ढक गया है, मेघों की धारारूपी गृहों के मध्य में स्थित, स्फीताम्भोधरधामनैक-जलद-छत्रापिधानम् = विस्तृत, मेघों के स्थान आकाश में अनेक बादलरूपी छातों से ढंका हुआ, जगत=संसार, सम्प्रति= इस समय, निश्चेष्टम्=निष्क्रिय होकर, स्वपिति इव=सो सा रहा है ॥ २४ ॥

अर्थ—विट—यह ऐसा ही है। जैसा कि देखो ...

जिसकी कमलसमूहरूपी आखें निश्चल हो गयी हैं, जिसमें दिन और रात [के भेद] का ज्ञान नहीं हो रहा है, जिसमें बिजली के कारण कभी अन्धकार दिखाई देता है, कभी नहीं दिखाई देता है, जिसमें सारी दिशारूपी मुख बन्द हो गये हैं, जो जलधाराओं के मध्य में स्थित है, जो विशाल मेघों के गृहभूत आकाश में अनेक बादलरूपी छातों से आच्छादित है, ऐसा जगत् इस समय निश्चेष्ट= क्रियाशून्य होकर सो सा रहा है ॥ २४ ॥

टीका—मेघाच्छन्नत्वेन तात्कालिकीं जगदवस्थां वर्णयति—निष्पन्दीति। निष्पन्दीकृतानि = सूर्योदयाभावात् अविकसितीकृतानि, पद्मषण्डानि एव=कमल-बृन्दानि एव नयनानि = नेत्राणि यस्य तत्, प्रथमान्तानि पदानि 'जगत्' इत्यस्य विशेषणानि, नष्टाः=अदर्शनं प्राप्ताः क्षपाः=रात्रयः, वासराश्च=दिवसाश्च यस्मिन् तत्, विद्युद्भिः = तडिद्भिः, तडित्प्रकाशेनेति भावः, क्षणम् = निमेषक्रियायाः चतुर्थभागपरिमितकालविशेषं व्याप्य, नष्टम्=अपसृतम्, दृष्टम्=पश्चात् विद्युत्प्र-काशाभावे सति दृष्टञ्च, तिमिरम्=अन्धकारः यत्र तथाभूतम्, प्रच्छादितानि= आसृतानि, आशाः दिशा, एव मुखानि यस्य तत्, पयोधाराः=जलधारा एव गृहाणि= भवनानि, तेषामन्तर्गतम्, तन्मध्यस्थितम्, स्फीते = विशाले, अम्भोधराणाम् = मेघानाम्, धामनि = आश्रये आकाशे इत्यर्थः यद्वा स्फीतानाम् अम्भसां धराणि= धारकाणि, धामानि=आधाराः, ये नैके=अनेके, जलदः=मेघाः, ते छत्राणि=आतप-त्राणि इव तानि अपिधानानि = आच्छादनानि यस्य तथोक्तम्, जगत्=विश्वम्,

वसन्तसेना—भाव ! एव्वं णेदं। ता पेक्ख पेक्ख—(भाव ! एवं न्विदम् । तत् प्रेक्षस्व प्रेक्षस्व—)

गता नाशं तारा उपकृतमसाधाविव जने
वियुक्ताः कान्तेन स्त्रिय इव न राजन्ति ककुभः ।
प्रकामान्तस्तप्तं त्रिदशपति-शस्त्रस्य शिखिना
द्रवीभूतं मन्ये पतति जलरूपेण गगनम् ॥ २५ ॥

सम्प्रति=इदानीम्, निश्चेष्टम्=निष्क्रियं सत्, स्वपिति इव=शेते इव । अत्र रूपक-मुत्प्रेक्षा च । शार्दूलविक्रीडितं वृत्तम् ॥ २४ ॥

विमर्श—दुर्दिन में जैसे कोई अपने घर के भीतर वस्त्रादि ओढ़ कर सो जाता है । उसी प्रकार सारा संसार भी क्रियाशून्य होकर सो रहा है ॥ २४ ॥

अन्वयः—असाधौ, जने, उपकृतम्, इव, तारा, नाशम्, गता, कान्तेन, वियुक्ताः, स्त्रियः, इव, ककुभः, न, राजन्ति, त्रिदशपतिशस्त्रस्य, शिखिना, प्रकामान्त-स्तप्तम्, गगनम्, द्रवीभूतम्, (सत्), जलरूपेण, पतति, मन्ये ॥ २५ ॥

शब्दार्थ—असाधौ=दुष्ट, जने=व्यक्ति के विषय में, उसके लिये, उपकृतम्=उपकार, इव = के समान, तारा=तारागण, नाशम्=अभाव, अदर्शन को, गताः=प्राप्त हो गये; वियुक्ताः=पतियों से रहित, स्त्रियःइव=स्त्रियों के समान, ककुभः=दिशायें, न=नहीं, राजन्ति=शोभित हो रही हैं, त्रिदशपतिशस्त्रस्य=देवराज इन्द्र के शस्त्रभूत वज्र की, शिखिना = आग से, प्रकामान्तस्तप्तम् = अत्यन्त सन्तप्त, गगनम्=आकाश, द्रवीभूतम्=पिघला, (सत्=होता हुआ), जलरूपेण=पानी के रूप से, पतति=गिर रहा है, मन्ये=मैं समझ रही हूँ ॥ २५ ॥

अर्थ—वसन्तसेना—भाव ऐसा होता है, देखो, देखो—

दुर्जन व्यक्ति के विषय में किये गये उपकार के समान तारागण [आकाश से] बिलीन हो गये हैं । पतियों से रहित स्त्रियों के समान दिशायें शोभित नहीं हो रहीं हैं । देवराज इन्द्र के वज्ररूपी शस्त्र की आग से भीतर खूब सन्तप्त यह बादल पिघला हुआ होकर मानो जलरूप से गिर रहा है ॥ २५ ॥

टीका—विटोक्ति समर्थयमाना वसन्तसेना प्राकृतिकं दृश्यं वर्णयति—गता इति । असाधौ=दुष्टे, जने=लोके, तद्विषय इति भावः, उपकृतम्=उपकार, इव, तारा=नक्षत्रसमूहः, नाशम्=अभावम्, गता=प्राप्ता, दुष्टाय कृत उपकारो यथा व्यर्थस्तैव आकाशस्थिता तारा अपि व्यर्थीभूताः । वियुक्ताः=पतिविरहिताः स्त्रियः=नार्यः, इव=यथा, ककुभः=दिशाः, न=नैव, राजन्ति=शोभन्ते, त्रिदशपत्युः=देव-राजस्य, शस्त्रम्=वज्रम् तस्य, शिखिना=अग्निना, प्रकामम्=अत्यन्तम्, अन्तस्तप्तम्=अभ्यन्तरसन्तप्तम्, गगनम्=अम्बरम्, द्रवीभूतम्=द्रवरूपं प्राप्तम्, सत् जलरूपेण=

अपि च पश्य—

उन्नमति नमति वर्षति गर्जति मेघः करोति तिमिरौघम् ।
प्रथमश्रीरिव पुरुषः करोति रूपाण्यनेकानि ॥ २६ ॥

वारिरूपेण पतति = अध आयातीति भावः । अत्रोपमोत्प्रेक्षयोः संसृष्टिरलंकारः शिखरिणी वृत्तम् ॥ २५ ॥

विमर्श—कृतघ्न दुर्जन पुरुष के लिये वास्तव में कोई उपकार किया जाने पर भी वह उसे नहीं मानता है, उसी प्रकार आकाश में तारागण हैं तथापि अन्धकारातिशय के कारण उनका अस्तित्व समाप्त सा प्रतीत होने लगता है ॥२५॥

अन्वयः—मेघः, उन्नमति, नमति, वर्षति, गर्जति, तिमिरौघम्, करोति, प्रथमश्रीः, पुरुष, इव, अनेकानि, रूपाणि, करोति ॥ २६ ॥

शब्दार्थ—मेघः=बादल, उन्नमति=ऊपर उठता हैं, नमति=नीचे जाता है, वर्षति=बरसता है, गर्जति=गरजता है, तिमिरौघम्=अन्धकारसमुदायम्, करोति=करता है, प्रथमश्रीः=पहलीबार सम्पत्ति प्राप्त करने वाले, पुरुषः=पुरुष, इव=के समान, अनेकानि=भिन्न भिन्न प्रकार के, रूपाणि=रूपों को, करोति=धारण करता है ॥ २६ ॥

अर्थ—और भी, देखो —

बादल [कभी] ऊपर उठता है, [कभी] नींचे आता है, [कभी] बरसता है, [कभी] गरजता हैं, [कभी] अन्धकारसमूह कर देता है, पहले पहल सम्पत्ति प्राप्त करने वाले पुरुष के समान भिन्न-भिन्न प्रकार के अनेक रूप धारण करता है ॥ २६ ॥

टीका—नवसमृद्धियुतस्य पुरुषस्य मेघस्य च साम्यं निरूपयन्नाह—उन्नमतीति । मेघः=वारिदः, उन्नमति=कदाचित् ऊर्ध्वं गच्छति, नमति=कदाचित् अधो याति, वर्षति=जलं मुञ्चति, गर्जति=नदति, कदाचित् तिमिरस्य=अन्धकारस्य ओघम्=समूहम् करोति=सम्पादयति । प्रथमा=अभिनवा, न तु पितृपितामहादिसम्बन्धिनी, श्रीः = सम्पत्तिः, यस्य सः, पुरुषः=जनः, इव, अनेकानि=विविधप्रकाराणि, रूपाणि=स्वरूपाणि करोति=धारयति । यथा सर्वप्रथमं सम्पत्तियुक्तो जनः क्षणे क्षणे स्वव्यवहारे भिन्नतां प्रकटयति तथैव वारिदोऽपि क्षणे क्षणे अवस्थाभेदं करोतीति भावः । अत्र पूर्वार्द्धे मेघस्योन्नमनाद्यनेकक्रियासम्बन्धात् दीपकालङ्कारः, उत्तरार्द्धे चोपमा, अनयोः परस्परसापेक्षत्वादङ्गाङ्गिभावेन सङ्करः । आर्या वृत्तम् ॥ २६ ॥

विमर्श—जिस व्यक्ति ने कभी भी सम्पत्ति नहीं देखी वह जब सबसे पहले

विटः—एवमेतत् ।

विद्युद्भिर्ज्वलतीव संविहसतीवोच्चैर्बलाकाशतै-
माहेन्द्रेण विवल्गतीव धनुषा धाराशरोद्गारिणा ।
विस्पष्टाशनि-निस्वनेन रसतीवाघूर्णतीवानिलै-
र्नीलैः सान्द्रमिवाहिभिर्जलधरैर्धूपायतीवाम्बरम् ।। २७ ।।

सम्पत्ति प्राप्त करता हैं, धनी बन जाता है, तब वह नाना प्रकार के व्यवहार प्रकट करने लगता है। यही दशा बादलों की है।

यहाँ मेघरूपी एक कर्ता का उन्नमन आदि अनेक क्रियाओं के साथ सम्बन्ध होने के कारण 'दीपक' अलंकार है। उत्तरार्ध में उपमा है। दोनों सापेक्ष हैं। अतः संकर अलंकार है ।। २६ ।।

अन्वयः—अम्बरम्, विद्युद्भिः, ज्वलति, इव, बलाकाशतैः, उच्चै, संविहसति, इव, धाराशरोद्गारिणा, माहेन्द्रेण, धनुषा, विवल्गति, इव, विस्पष्टाशनिस्वनेन, रसति, इव, अनिलैः आघूर्णति, इव, अहिभिः, इव, नीलैः, जलधरैः, सान्द्रम्, धूपायति, इव ।। २७ ।।

शब्दार्थ—अम्बरम्=आकाश, विद्युद्भिः=विजलियों [की आग] से ज्वलति इव=जल सा रहा है; बलाकाशतैः=सैकड़ों बगुलियों से, संविहसति इव=हंस सा रहा है; धाराशरोद्गारिणा=जलधारारूपी वाणों की वर्षा करने वाले, माहेन्द्रेण=इन्द्रसम्बन्धी, धनुषा=धनुष से अर्थात् इन्द्रधनुष से, विवल्गति इव=विशेष गति अर्थात् पैंतरे बदल रहा है; विस्पष्टाशनिनिस्वनेन=वज्र [बिजली] के स्पष्ट स्वर से, रसति इव=गर्जन सा कर रहा है; अनिलैः=हवाओं से, आघूर्णति इव=चारो ओर घूम सा रहा है; अहिभिः इव=सापों के समान, नीलैः=काले, जलधरैः=बादलों से, सान्द्रम्=घना, धूपायति इव=धूप के समान आचरण कर रहा है अर्थात् धूप से उठने वाले धूमसमूह के समान प्रतीत हो रहा है। कहीं कहीं 'धूमायति' यही पाठ है ।। २७ ।।

अर्थ - विट—ऐसा ही है—

यह आकाश बिजलियों से जल सा रहा है; सैकड़ों बगुलियों के द्वारा जोर से हंस सा रहा है; जलधारारूपी बाणों की बर्षा करने वाले इन्द्रधनुष से विशेष गति=पैंतरे दिखा सा रहा है; वज्र=बिजली के स्पष्ट स्वर से गर्जन सा कर रहा है; वायुओं के द्वारा चारो ओर घूम सा रहा है; सापों के समान नीले बादलों से घना धूपित [धूप के धुयें] सा प्रतीत हो रहा हैं ।। २७ ।।

टीका—विटोपि वसन्तसेनाकथनं समर्थयन्नाह—विद्युद्भिरिति । अम्बरम्=गगनम् [कर्तृपदमेतत्] विद्युद्भिः=तडिद्भिः, तस्याः प्रकाशैरितिभावः, ज्वलति इव=

वसन्तसेना—

जलधर ! निर्लज्जस्त्वं यन्मां दयितस्य वेश्म गच्छन्तीम् ।
स्तनितेन भीषयित्वा धाराहस्तैः परामृशसि ॥ २८ ॥

उद्भासते इव; बलाकाशतैः=बलाकासमूहैः, उच्चैः=अत्यन्तम्, संविहसति इव=सम्यग् रूपेण हासं करोतीव; धाराः = जलधाराः, एव शराः = वाणाः, तान् उद्गिरति= उद्वमति, यत्, तेन जलधारावाणप्रवर्षकेण, माहेन्द्रेण = महेन्द्रसम्बन्धिना, धनुषा= चापेन, इन्द्रधनुषेति भावः, विवल्गति इव=विशेषेण गतिप्रदर्शनं करोति इव; युद्धायाह्वयते इति भावः; विस्पष्टः = विशेषरूपेण प्रकटः यो यो अशनिस्वनः= वज्रशब्दः, तेन, रसति इव = उच्चैः क्रोशति इव; अनिलैः = पवनैः, आघूर्णति= मण्डलाकरेण भ्राम्यति इव; अहिभिः इव = सर्पतुल्यैः, नीलैः=श्यामैः, जलधरैः= वारिदैः, सान्द्रम् = गाढं यथा स्यात् तथा, क्रियाविशेषणमेतत्, धूपायति इव=धूप-प्रज्वालनोत्थितधूमसमूहव्याप्तम् इव भवति । क्वचित्तु 'धूमायति' इत्येव पाठः, धूमवद्भवतीति तदर्थः । अत्रोत्प्रेक्षा मालारूपा बोध्या । शार्दूलविक्रीडितं वृत्तम् ।२७॥

विमर्श—यहाँ विभिन्न कारणीभूत पदार्थों के द्वारा आकाश में विभिन्न क्रियाओं की सम्भावना की गयी है । यहाँ प्रकृत—आकाश-शोभा-विधायक विद्युद्-विलसित, बलाकाशत, माहेन्द्रशरासन विकाशादि का अप्रकृत प्रज्वलन, संविहसन, विजृम्भण आदि के साथ तादात्म्याध्यास होने से उत्कट—एककोटिक संशय के उदय होने से उत्प्रेक्षा है, इसके द्योतक 'इव' आदि क्रियागतों के अभिधान से वाच्य क्रियारूप है, इसके सजातीयों का बहुत बार उल्लेख होने से यह उत्प्रेक्षा मालारूपा समझना चाहिये । इन सजातीयों की अन्योन्यसापेक्ष=रूप से स्थिति होने के कारण सजातीय संकर समझना चाहिये । ऐसा जीवानन्द का कथन है ।

धूपायति—यहाँ धूप का अर्थ धूप जलाने से उठने वाले धूम के समान प्रतीत हो रहा है, यह है । कहीं - कहीं, इसीलिये 'धूमायति' यही पाठ मिलता है । 'लोहितादिडाज्भ्यः क्यष्' (पा. सू. ३।१।१३) से आकृतिगण मानकर क्यष् प्रत्यय करके यह नामधातु का रूप है । 'रसति' का अर्थ भी शब्द करना है क्योंकि पाणिनि ने 'तुस, ह्रस, ह्लस, रस शब्दे' ऐसा धातुपाठ किया है । शार्दूलविक्रीडित छन्द है ॥ २७ ॥

अन्वयः—(हे) जलधर ! त्वम्, निर्लज्जः, [असि], यत्, दयितस्य, वेश्म, गच्छन्तीम्, माम्, स्तनितेन, भीषयित्वा, धाराहस्तैः, परामृशसि ॥ २८ ॥

शब्दार्थ—हे जलधर !=हे मेघ !, त्वम्=तुम, निर्लज्जः=बेशर्म, [असि=हो], यत्=क्योंकि, दयितस्य=प्रेमी (चारुदत्त) के, वेश्म=घर को, गच्छन्तीम्=जाती

भोः शक्र !

किं ते ह्यहं पूर्वरतिप्रसक्ता यत्त्वं नदस्यम्बुद-सिंहनादैः ।
न युक्तमेतत् प्रियकाङ्क्षितायाः मार्गं निरोद्धुं मम वर्षपातैः ॥ २९ ॥

हुई माम्=मुझे (वसन्तसेना) को, स्तनितेन=गर्जन से, भीषयित्वा=डराकर, धाराहस्तैः=जलधारारूपी हाथों से, परामृशसि=छू रहे हो ॥ २८ ॥

अर्थ—वसन्तसेना —

हे मेघ ! तुम बेशर्म हो, क्योंकि प्रेमी (चारुदत्त) के घर जाती हुई मुझ [वसन्तसेना] को गर्जन से डराकर जलधारारूपी हाथों से छू रहे हो ॥ २८ ॥

टीका—दयितगृहगमने विघ्नमुत्पादयन्तं मेघं वसन्तसेना तस्याचारणं निन्दन्ती उपालभते-जलधरेति । हे जलधर=हे वारिवाह ! त्वम्, निर्लज्जः=निस्त्रपः धृष्ट इति यावत्, असि, यत्=यस्मात्, दयितस्य=प्रियतमस्य चारुदत्तस्येत्यर्थः, वेश्म=भवनम्, गच्छन्तीम्=प्रयान्तीम्, माम्=वसन्तसेनाम्, स्तनितेन=गर्जितेन, भीषयित्वा=त्रासयित्वा, धाराः=जलधारा एव हस्ताः=कराः तैः, परामृशसि=स्पृशसि । परासक्तायाः दयितगृहगमनोत्सुकायाः स्त्रियः अङ्गस्पर्शं निर्लज्ज एव करोति । अत्र समेन कार्येण प्रस्तुते जलधरे अप्रस्तुत-हठकामुकव्यवहार-समारोपात् समासोक्तिरलङ्कारः । आर्या वृत्तम् ॥ २८ ॥

विमर्श—यहाँ कामासक्त वसन्तसेना द्वारा मेघ के साथ मनुष्य के समान व्यवहार वर्णित है । यहाँ मेघदूतस्थ कालिदासीय उक्ति घटित होती है—'कामार्त्ताः हि प्रकृतिकृपणाश्चेतनाचेतनेषु' ॥ २८ ॥

अन्वयः—(भोः शक्र ! इति गद्यस्थेन अन्वयः—) अहम्, ते, पूर्वरतिप्रसक्ता, [आसम्], किम्, यत्, त्वम्, अम्बुदसिंहनादैः, नदसि; प्रियकाङ्क्षितायाः, मम, मार्गम्, वर्षपातैः, निरोद्धुम्; न, युक्तम्, एतत् [विचारयेति शेषः] ॥ २९ ॥

शब्दार्थ—भोः शक्र !=हे इन्द्र !, अहम् = मैं वसन्तसेना, ते = तुम्हारी [इन्द्र की], पूर्वरतिप्रसक्ता=पहले तुम्हारे प्रेम में आसक्त, [आसम्=थी], किम्=क्या ? यत् = जिस कारण, त्वम्=तुम=इन्द्र, अम्बुदसिंहनादैः = मेघों के सिंहवद् गर्जनों से, नदसि=गरज रहे हो, शब्द कर रहे हो; प्रियकाङ्क्षितायाः= प्रेमी चारुदत्त द्वारा चाही गयी अथवा प्रेमी चारुदत्त को चाहने वाली, मम=मेरे [वसन्तसेना के], मार्गम्=रास्ता को, वर्षपातैः=वर्षा के प्रपात द्वारा, निरोद्धुम्= रोका जाना, न=नहीं, युक्तम्=ठीक है, एतत्=यह, [विचारय=तुम सोचो] ॥२९॥

अर्थ—हे इन्द्र ! क्या मैं पहले तुम्हारे साथ रति (प्रेम) में आसक्त थी जिससे तुम बादलों के सिंहनाद से गरज रहे हो । प्रिय को चाहने वाली मेरा मार्ग वर्षा की जलधाराओं से रोकना ठीक नहीं है, यह तुम सोचो ॥ २९ ॥

टीका—देवराजेन पतिगृहगमने विघ्नोत्थानं दृष्ट्वा तमपि उपालभते वसन्त-

अपि च—यद्वदहल्याहेतोर्मृषा वदसि शक्र ! गोतमोऽस्मीति ।
तद्वन्ममापि दुःखं निरवेक्ष्य निवार्यतां जलदः ॥ ३० ॥

सेना—किमिति । भोः शक्र !=हे इन्द्र ! इति गद्यस्थेनाऽन्वयः कार्यः, अहम् = वसन्तसेना, ते =तव, इन्द्रस्येत्यर्थः, पूर्वम्=पूर्वस्मिन् काले कदाचिदपीत्यर्थः, रतौ = अनुरागे, प्रसक्ता=आसक्ता, (आसम्) किम्, यद्वा पूर्वजन्मनि तव प्रणयिनी आसम्, किम्, यत्=यस्मात्, त्वम्=इन्द्रः, अम्बुदसिंहनादैः—अम्बुदशब्दो लक्षणया अम्बुद-नादपरः, अम्बुदनादा एव सिंहनादाः तैः, मेघगर्जनरूपसिंहनादैरिति भावः, नदसि= शब्दायसे; पाठं पठसीतिवत् प्रयोगः; प्रियकाङ्क्षितायाः=प्रियेण चारुदत्तेन अभि-लषितायाः, यद्वा, एषः प्रियः रत्यर्थं काङ्क्षितः यया सा तस्याः, मम=वसन्त-सेनायाः, मार्गम्=पन्थानम्, वर्षपातैः=जलधारासम्पातैः, निरोद्धुम्=अवरोद्धुम्, न= नैव, युक्तम्=उचितम्, एतत्=इदम्, विचिन्तयेति शेषः । अत्र काव्यलिङ्गमलङ्कारः उपजातिः वृत्तम् ॥ २९ ॥

विमर्शः—अम्बुदसिंहनादैः—यहाँ अम्बुद की लक्षणा अम्बुदनाद में करके अम्बुदनादरूपी सिंहनाद—यह अर्थ करना चाहिये । अम्बुदसिंहनादैः नदसि— यहाँ पाठं पठसि के समान उपपादन करना चाहिये । प्रियकाङ्क्षतायाः—पद का सामान्य अर्थ है—'प्रियेण काङ्क्षितायाः' परन्तु प्रकृत कथानक के द्वारा इस समय वसन्तसेना ही अभिसार के लिये उत्सुक है । अतः बहुव्रीहि करना ही उचित है – प्रियः काङ्क्षितः यया सा तस्याः । कहीं-कहीं एतत् को भी समास में ही माना गया है वहाँ —एषः=समीपवर्त्ती प्रियः आदि अन्वय करना चाहिये । 'मार्गम्' के साथ 'एतत्' का अन्वय उचित नहीं है । इसीलिये कुछ विद्वान इसे अलग रखकर 'विचिन्तय' आदि क्रियापद के अध्याहार के पक्ष में हैं जो अधिक तर्कसंगत है । तुमुन् का प्रयोग खटकता है क्योंकि क्रियाफलक क्रिया उपपद रहते ही तुमुन् का विधान है । अतः 'इष्यते' आदि का अध्याहार करना चाहिये 'निरोद्धुम् इष्यते यत् तत् न युक्तम्' ॥ २९ ॥

अन्वयः—हे शक्र !, अहल्याहेतोः, यद्वत्, 'गौतमः, अस्मि, इति', मृषा, वदसि, तद्वत्, मम, अपि, दुःखम्, निरवेक्ष्य, जलदः, निवार्यताम् ॥ ३० ॥

शब्दार्थ—हे शक्र !=हे इन्द्र, अहल्याहेतोः = गौतम की पत्नी अहल्या [के साथ रति करने] के लिये, यद्वत् = जिस प्रकार, गोतमः अस्मि = मैं गौतम हूँ, इति=ऐसा, मृषा=असत्य, वदसि=बोलते हो [बोले थे], तद्वत्=उसी प्रकार, मम अपि=मुझ वसन्तसेना का भी, दुःखम्=कष्ट, निरवेक्ष्य=देख कर, जलदः=बादल को, निवार्यताम्=हटा दो ॥ ३० ॥

अर्थ—और भी—

हे इन्द्र ! तुमने अहल्या [के साथ रति करने] के लिये जिस प्रकार 'मैं इन्द्र हूँ' ऐसा झूठ बोला था, उसी प्रकार मेरी भी पीड़ा को अच्छी प्रकार समझ कर बादलों को हटा दो ॥ ३० ॥

टीका—पुरा इन्द्रेण कृतमपराधं स्मारयित्वा आत्मनोऽपि तादृशीमेवावस्थां वर्णयन्ती इन्द्रस्यानुरोधं करोति वसन्तसेना—यद्वदिति । हे शक्र ! = हे इन्द्र !, अहल्या=गौतमपत्नी, तस्याः हेतो=तां सम्भोक्तुमित्यर्थः यद्वत्=यथा, गौतमोऽस्मि= कामसन्तापनिवारणाय गौतमस्वरूपं धारयित्वा 'अहं गौतम अस्मि' इति मृषा= असत्यम्, वदसि = कथयसि, अकथयः इति भावः । तद्वत्=तथैव, मम=वसन्त-सेनायाः, दुःखम् = प्रियसम्भोगलालसाजनितं कष्टम्, निरवेक्ष्य=निःशेषेण विचार्य, जलदः=मेघः, जातावेकवचनम्; निवार्यताम्=निषिध्यताम्, प्रिय-समागम-विरोधिनो मेघान् निवारयेति भावः । अत्र 'वदसि' इत्यत्र लट्लकारस्यौचित्यं साधयन्तो बुधाः भ्रान्ता एव । कामातुराया वसन्तसेनायास्तादृशप्रयोगस्यौचित्यस्य अनुभवसिद्ध-त्वात् । अत एव भाष्यादौ परोक्षे लिट्-प्रयोगसाधनाय 'मत्तोऽहं किहं विललाप, मत्तोऽहं किल विचचार' इत्यादौ उत्तमपुरुषत्वं साधितम्, अन्यथाऽऽत्मनः परोक्ष-त्वोपपादनं सर्वथासम्भवमिति विचारणीयम् । अत्र पुराणादौ वैदिकसाहित्ये च वर्णिता इन्द्राहल्याकथाऽनुसन्धेया । आर्या वृत्तम् ॥ ३० ॥

विमर्श—इन्द्र मेघों का देवता है । मेघ प्रियमिलन में बाधक बन रहे हैं । अतः वसन्तसेना इन्द्र को उसकी पुरानी कामावस्था में किये गये अपराध का स्मरण कराकर अपनी कामावस्था की असहनीयता का प्रतिपादन कर रही है ।

इन्द्र और अहल्या का आख्यान वेदों और पुराणों में प्राप्त होता है । यह एक रूपक है । कथा के अनुसार गौतम स्नानादि के लिये अपनी कुटिया से बाहर गये थे, उसी समय कामातुर इन्द्र गौतम का रूप बनाकर आया और अहल्या से अपने को गौतम ही बता कर अपनी इच्छा की पूर्ति कर ली । बाद में रहस्यो-द्घाटन होने पर अहल्या ने इन्द्र को शाप दे दिया । वसन्तसेना इन्द्र को यह कह कर काम की असहनीयता का वर्णन करके उससे विघ्न न करने का अनुरोध करती है ।

आख्यानों में इन्द्र जल का देवता है, अहल्या [अ + हल + यत्] बिना जोती हुयी जमीन है, उसमें इंद्र द्वारा जलवर्षण का रूपक है । इसी प्रकार इन्द्र = सूर्य, रात्रि को अहल्या=रात और गौतम=चंद्र है ।

'मृषा वदसि' यहाँ लट् के प्रयोग का औचित्य अनेक प्रकार से सोचा गया है । वास्तव में कामातुरा वसन्तसेना द्वारा भूत के लिये भी लट् का प्रयोग अनुचित नहीं है । क्योंकि मानसिक अनवधानता में सब उचित माना जाता है—जैसे 'मत्तोहं किल विललाप' 'बहु जगद पुरस्तात्तस्य कामातुराहम्' आदि प्रयोगों में

अपि च--गर्ज वा वर्ष वा शक्र मुञ्च वा शतशोऽशनिम् ।
न शक्या हि स्त्रियो रोद्धुं प्रस्थिता दयितं प्रति ॥ ३१ ॥
यदि गर्जति वारिधरो गर्जतु तन्नाम निष्ठुराः पुरुषाः ।
अयि विद्युत् ! प्रमदानां त्वमपि च दुःखं न जानासि ? ॥ ३२ ॥

लिट् उत्तम पुरुष का प्रयोग देखा गया है। अन्यथा अपनी परोक्षता का उपपादन करना कठिन है ॥ ३० ॥

अन्वयः—हे शक्र ! गर्ज, वा, वर्ष, शतशः, अशनिम्, वा, मुञ्च, किंतु, दयितम्, प्रति, प्रस्थिताः, स्त्रियः, रोद्धुम्, न, शक्याः ॥ ३१ ॥

शब्दार्थ—हे शक्र !=हे इन्द्र, गर्ज=गरजो, वा=अथवा, वर्ष=बरसो, अथवा, शतशः=सैकड़ों बार, अशनिम् = वज्र (बिजली) को, मुञ्च = गिराओ, किंतु, दयितम्=प्रेमी, प्रति=के प्रति, प्रस्थिताः=चल चुकीं, स्त्रियः=कामिनियों को, रोद्धुम् =रोका जाना, न=नहीं, शक्याः=सम्भव है ॥ ३१ ॥

अर्थ—और भी—

हे इन्द्र ! गरजो, अथवा बरसो, या सैकड़ों बार वज्र (बिजली) गिराओ लेकिन प्रेमी की ओर चल चुकीं कामनियों को रोकना सम्भव नहीं है ॥ ३१ ॥

टीका—हे शक्र ! हे इन्द्र !, गर्ज=स्तनितं कुरु, वा=अथवा, वर्ष=वर्षणं कुरु, वा=अथवा, शतशः=शतशतवारम्, अशनिम्=वज्रम्, मुञ्च=परित्यज, निक्षिप, तुभ्यं यद् रोचते तत् कुर्विति भावः, किंतु दयितम्=कान्तम्, प्रति, प्रस्थिताः=प्रचलिताः, स्त्रियः=कामिन्यः, रोद्धुम्=निवारयितुम्, न=नैव, शक्याः=शकनीया अतो वृथैव ते व्यापार इति भावः । अत्र पूर्वार्द्धेऽनेकक्रियासम्बन्धात् दीपकम्, उत्तरार्धे तु वैधर्म्येण सामान्येन विशेषसमर्थनरूपोऽर्थान्तरन्यासः, अनयोश्च साकाङ्क्षतया स्थितेः सङ्करः । पथ्यावक्त्रं वृत्तम् ॥ ३१ ॥

विमर्श—यहाँ कामातुर कामिनियों की स्वाभाविकी दशा का वर्णन है। पूर्वार्द्ध में अनेक क्रियाओं का एक कर्ता के साथ सम्बद्ध होने से 'दीपक' है। और उत्तरार्द्ध में 'प्रेमी के प्रति अभिसारगत मुझे किसी प्रकार रोकना सम्भव नहीं है' इस विशेष वक्तव्य से 'कान्तार्थिनी कामिनियाँ किसी भी प्रकार नहीं रोकी जा सकतीं—इस प्रकार अभावमुखेन सामान्य के अभिधान से, वैधर्म्य सामान्य से विशेष समर्थनरूप अर्थान्तरन्यास अलङ्कार है। ये दोनों परस्पर अनुकूल होते हुये साकाङ्क्षतया स्थित हैं अतः सङ्कर है ॥ ३१ ॥

अन्वयः—वारिधरः, यदि, गर्जति, तत्, गर्जतु, पुरुषाः, निष्ठुराः, नाम; अयि विद्युत् !, प्रमदानाम्, दुःखम्, त्वम्, अपि, न, जानासि ॥ ३२ ॥

शब्दार्थ—वारिधरः = बादल, यदि = यदि, गर्जति=गरजता है, तत्=वह,

विटः—भवति ! अलमलमुपालम्भेन, उपकारिणो तवेयम्—

ऐरावतोरसि चलेव सुवर्णरज्जुः
शैलस्य मूर्ध्नि निहितेव सिता पताका ।
आखण्डलस्य भवनोदरदीपिकेय-
माख्याति ते प्रियतमस्य हि सन्निवेशम् ॥ ३३ ॥

गर्जतु=गरजे, पुरुषाः = पुरुष, निष्ठुराः=निर्दयः, नाम=होते हैं, अयि विद्युत् = हे बिजली !, प्रमदानाम्=कामातुरकामिनियों के, दुःखम्=कामवासनाजनित कष्ट को, त्वम् अपि=बिजली तुम [स्त्री होकर] भी, न=नहीं, जानती हो, अर्थात् तुम्हें तो समझना ही चाहिये ॥ ३२ ॥

अर्थ—बादल गरज रहा है, गरजता रहे, क्योंकि पुरुष तो निर्दय होते ही हैं। अरे बिजली ! कामिनियों के कष्ट को तुम [औरत होकर] भी नहीं समझती हो, अर्थात् समझना चाहिये और बाधक नहीं बनना चाहिये ॥ ३२ ॥

टीका—प्राक् शक्रमुपालभ्य साम्प्रतं कामिनीशिरोमणिभूतां स्वतुल्यां चपलां तिरस्कुर्वन्ती आह—यदीति। वारिधरः = मेघः, यदि = चेत्, गर्जति=नदति, गर्जतु=नदतु, न मे किमपि, वक्तव्यम्, तत् = तत्र, पुरुषाः=पुमांसः, निष्ठुराः= निर्दयाः, नाम=इति स्वीकारोक्तौ; अयि विद्युत् !=हे कामिनीशिरोमणिभूते चपले, प्रमदानाम्=कामातुराणां वनितानाम्, दुःखम्=कान्तविरहजनितक्लेशम्, त्वम् अपि= भवती अपि, न = नैव, जानाति=अनुभवति। विजातीयपुरुषा मम कष्टं नानुभवन्तीत्यत्र न मे किमपि वक्तव्यम्, परन्तु त्वन्तु कामिनीनां शिरोमणिभूता वर्तते तथापि मम व्यथां नानुभवसि आश्चर्यमेतत्। आर्या वृत्तम् ॥ ३२ ॥

विमर्श—वसन्तसेना पुरुष-जाति की निष्ठुरता का संकेत करती हुई स्त्री-शिरोमणि विजली द्वारा किये जाने वाले विघ्न के प्रति आश्चर्य व्यक्त करती है। स्त्री को तो स्त्री की पीड़ा समझनी ही चाहिये ॥ ३२ ॥

अन्वयः—हि, ऐरावतोरसि, चला, सुवर्णरज्जुः, इव, शैलस्य, मूर्ध्नि, निहिता, सिता, पताका, इव, आखण्डलस्य, भवनोदरदीपिका, इव, [इयम्] ते, प्रियतमस्य, सन्निवेशम्, आख्याति, इव ॥ ३३ ॥

शब्दार्थ—हि=क्योंकि, ऐरावतोरसि=इन्द्र के हाथी ऐरावत के वक्षस्थल पर, चला=चञ्चल, सुवर्णरज्जुः = सोने की रस्सी, इव = के समान, शैलस्य=पर्वत के, मूर्ध्नि=चोटी पर, निहिता=स्थापित की गयी, सिता=श्वेत, पताका=ध्वजा, इव= के समान, आखण्डलस्य = इन्द्र के, भवनोदरदीपिका = भवन के मध्य में स्थित दीपिका = लालटेन, इव = के समान, [इयम्=यह बिजली] ते=तुम्हारे

वसन्तसेना—भाव ! एव्वं । तं ज्वेव एदं गेहं । (भाव ! एवम् । तदेवैतद गेहम्)

विटः—सकल-कलाभिज्ञाया न किञ्चिदिह तवोपदेष्टव्यमस्ति । तथापि स्नेहः प्रलापयति । अत्र प्रविश्य कोपोऽत्यन्तं न कर्त्तव्यः ।

[वसन्तसेना के], प्रियतमस्य = सबसे अधिक प्रिय=चारुदत्त के, सन्निवेशम्=घर को, आख्याति=कह रही है ।। ३३ ।।

अर्थ—विट—माननीये ! इसको उलाहना देना बन्द कीजिये, बन्द कीजिये । यह बिजली तो आपकी उपकारिका है—

क्योंकि, ऐरावत हाथी के वक्षस्थल पर चञ्चल सुवर्णमयी रस्सी के समान, पर्वत की चोटी पर स्थापित की गयी श्वेत पताका के समान, इन्द्र के भवन के भीतर स्थित दीपिका=लालटेन के समान यह बिजली तुम्हारे प्रियतम चारुदत्त के घर को बतला रही है ।। ३३ ।।

टीका—विद्युदुपालम्भं श्रुत्वा वसन्तसेनायाः अज्ञानतां प्रदर्शयन् विद्युत उपकारकत्वं वर्णयति—ऐरावतेति । हि = यतः, ऐरावतस्य=एतन्नाम्ना ख्यातस्य इन्द्रगजस्य, इराः = जलानि, तानि सन्त्यस्येति इरावान्=सागरः, तत्र भवः—ऐरावतः, समुद्रमथनादुत्थितो गजविशेषः तस्य, उरसि = वक्षस्थले, विद्यमाना, सुवर्णरज्जुः = हिरण्मयबन्धनसाधनदाम, इव, शैलस्य = पर्वतस्य, मूर्ध्नि=शिखरे, निहिता = स्थापिता, सिता = शुभ्रा, पताका =ध्वज इव, आखण्डलस्य=इन्द्रस्य, भवनोदरे = भवनमध्यभागे वर्तमाना दीपिका = प्रकाशसाधनीभूतवस्तुविशेष इव, इयम् = दृश्यमाना विद्युत्, ते = वसन्तसेनायाः, प्रियतमस्य=अतिप्रियचारुदत्तस्य, सन्निवेशम्=गृहम्, आख्याति=कथयति । अत्र पूर्वमेवोक्तेन 'उपकारिणी तवेयमि'ति गद्यस्थेनान्वयः । अत्र तादृशोपमानद्वयस्याप्रसिद्धया प्रकृतायाः विद्युतः उपमानभूतयोः सुवर्णरज्जुसित - पताकयोस्तादात्म्याध्यासादुत्कटैककोटिकसंशयसमुदयात् उत्प्रेक्षा-द्वयमङ्गाङ्गिभावेन सजातीयतया संकीर्यते, परार्द्धे तु विद्युद्रूपं विषयं सर्वथैव निर्गीर्य आखण्डलभवनोदरदीपिकास्वरूपत्वेन तदभिधानात् निश्चयात्मिकायाः प्रतीतेरुदया-दभेदाध्यवसानरूपातिशयोक्तिः पूर्वोक्ताभ्यामुत्प्रेक्षाभ्यां सापेक्षतया संस्थितेः सङ्कीर्यते इति जीवानन्दः । वसन्ततिलकं वृत्तम् ।। ३३ ।।

विमर्श—प्रस्तुत श्लोक में प्रसिद्ध उपमानों का प्रयोग न होने के कारण उपमा न होकर उत्प्रेक्षा अलंकार है । विशेष के लिये ऊपर टीका में देखें ।। ३३ ।।

अर्थ—वसन्तसेना—भाव ! ऐसा ही है । यही उनका घर है ।

विट—समस्त कलाओं की जानकार आपको कोई भी उपदेश देने की आव-श्यकता नहीं है । फिर भी स्नेह कहलवा रहा है । [कहने के लिये बाध्य कर

यदि कुप्यसि नास्ति रतिः कोपेन विनाऽथवा कुतः कामः ?
कुप्य च कोपय च त्वं प्रसीद च त्वं प्रसादय च कान्तम् ॥ ३४ ॥
भवतु, एवं तावत् । भोः भोः ! निवेद्यतामार्य्यचारुदत्ताय—
एषा फुल्ल-कदम्ब-नीप-सुरभौ काले घनोद्भासिते
कान्तस्यालयमागता समदना हृष्टा जलार्द्रालिका ।

रहा है ।] यहाँ चारुदत्त के घर जाकर आपको अधिक कोप [का प्रदर्शन] नहीं करना चाहिये ।

अन्वयः—यदि, कुप्यसि, रतिः, नास्ति, अथवा, कोपेन, विना, कुतः, कामः, त्वम्, कुप्य, च, कोपय, च, [कान्तम्], त्वम्, प्रसीद, च, कान्तम्, च, प्रसादय ॥ ३४ ॥

शब्दार्थ—यदि=यदि, कुप्यसि=कोप करोगी, तो, रतिः=रति, नास्ति=नहीं होगी, अथवा कोपेन=क्रोध के, विना=विना, कुतः=कहाँ से अथवा कैसे, कामः=काम का आविर्भाव, होगा, अतः, त्वम्=तुम वसन्तसेना, कुप्य=कोप करना, कान्तम् = प्रियतम चारुदत्त को भी, कोपय = कुपित करना, त्वम् च=और तुम, प्रसीद= प्रसन्न हो जाना, कान्तम् च = और प्रियतम चारुदत्त को, प्रसादय= खुश करना ॥ ३४ ॥

अर्थ—यदि तुम क्रोध करोगी तो रति=अनुराग कैसे होगा, अथवा क्रोध के विना काम=सम्भोग [का आनन्द] नहीं होता है । तुम स्वयं कोप करना और अपने प्रेमी को क्रोध करवाना । तुम स्वयं प्रसन्न हो जाना और अपने प्रेमी को भी प्रसन्न कर देना ॥ ३४ ॥

टीका—प्राथमिकमिलनावसरे सावधानतया भाव्यमिति रतिवर्धनोपायं वर्णयति विटः—यदीति । यदि = चेत्, कुप्यसि=केवलं कोप करोषि, तदा, रतिः= अनुरागः, तज्जन्यं सम्भोगसुखम्, न = नैव, अस्ति=भविष्यति, वर्तमानसामीप्ये लड् बोध्यः, अथवा कोपेन=प्रणयकोपेन, विना=ऋते, कामः=सम्भोगानन्दप्राप्तिः, कुतः ? न कथमपीति भावः, अतः त्वम्, कुप्य=कोपं कुरु, कान्तम्=प्रियतमम्, च, कोपय=कोपयुक्तं कुरु, त्वम्=वसन्तसेना, च, प्रसीद=प्रसन्ना भव, कान्तम्=प्रियतमं च, प्रसादय=प्रसन्नतायुक्तं कुरु । एवञ्च औचित्यानुसारमेव कोपप्रसादौ कार्यौ येन सम्भोगसुखप्राप्तिः स्यादिति भावः ॥ ३४ ॥

विमर्श—विट का यह रहस्य है कि कुछ नकली गुस्सा दिखाना आवश्यक है । उसे मानकर यदि प्रेमी वास्तव में गुस्सा करने लग जाय तो अपना गुस्सा समाप्त करके उसे खुश करने का प्रयास करना चाहिये ॥ ३४ ॥

अन्वयः—फुल्लकदम्बनीपसुरभौ, घनोद्भासिते, काले, समदना, हृष्टा, जला-

विद्युद्वारिदगर्जितैः सचकिता त्वद्दर्शनाकाङ्क्षिणी
पादौ नूपुर-लग्न-कर्दम-धरौ प्रक्षालयन्ती स्थिता ॥ ३५ ॥

र्द्रालिका, विद्युद्वारिदगर्जितैः, सचकिता, त्वद्दर्शनाकांक्षिणी, कान्तस्य, लयम्, आगता, एषा, नूपुरलग्नकर्दमधरौ, पादौ, प्रक्षालयन्ती स्थिता, [अस्ति] ॥३५॥

शब्दार्थ—फुल्लकदम्बनीपसुरभौ = फूले हुये कदम्बपुष्पों से युक्त नीपवृक्षों के कारण सुगन्धयुक्त, घनोद्भासिते=मेघों से सुशोभित, काल=समय में, समदना=कामयुक्त, हृष्टा=प्रसन्न, जलार्द्रालिका=पानी से गीले बालोंवाली, विद्युद्वारिद-गर्जितैः=बिजली तथा बादलों के गर्जनों से, सचकिता=भयभीत, त्वद्दर्शनाका-ङ्क्षिणी =तुम्हारे दर्शनों की इच्छा रखनेवाली, कान्तस्य = प्रेमी के, आलयम्=घर को, आगता = आयी हुई, एषा = यह वसन्तसेना, नूपुरलग्नकर्दमौ=नूपुरों में लगे हुये कीचड़वाले, पादौ = पैरों को, प्रक्षालयन्ती=धोती हुई, स्थिता=खड़ी, [अस्ति=है] ॥ ३५ ॥

अर्थ—अच्छा ऐसा ही है। अरे, अरे ! आर्य चारुदत्त से यह निवेदन [कथन] कर दो—

फूले हुये कदम्बपुष्पों से युक्त नीपवृक्षों से सुगन्धित, बादलों से सुशोभित समय में कामभावातुर, प्रसन्न चित्तवाली, पानी से गीले बालोंवाली, बिजली तथा बादलों के गरजने से भयभीत [घबड़ाई हुई], आपके दर्शनों को चाहनेवाली, प्रेमी के घर आयी हुई यह वसन्तसेना नूपुर में लगे हुये कीचड़वाले पैरों को धोती हुई खड़ी है ॥ ३५ ॥

टीका—तादृशेऽपि दुर्दिने वसन्तसेना चारुदत्तेन सह रिरंसया समागतेति तस्याः आगमनं सूचयितुं विट आह—एषेति। फुल्लकदम्बनीपसुरभौ=फुल्लैः=विकसितैः, कदम्बैः = एतन्नामकवृक्षैः नीपैश्च = धराकदम्बैश्च सुरभिः=सुगन्धः यस्मिन् तस्मिन्, घनोद्भासिते=घनैः = मेघैः, उद्भासिते=शोभिते, काले=समये, वर्षासमये इति भावः, समदना=मदनेन=कामभावेन सहिता, कामपीडातुरेति भावः, हृष्टा=प्रसन्ना, जलार्द्रालिका = जलेन आर्द्राः = क्लिन्ना, अलकाः=केशाः यस्याः तादृशी, विद्युद्वारिदगर्जितैः=विद्युद्भिः वारिदानां गर्जितैश्च, सचकिता=सत्रासा, तव=चारुदत्तस्य दर्शनस्य आकाङ्क्षणी=अभिलाषिणी, कान्तस्य=प्रियस्य, चारु-दत्तस्य, आलयम् = भवनम्, आगता=समागता, एषा=इयम्, वसन्तसेनेति भावः, नूपुरलग्नकर्दमधरौ = कर्दमव्याप्तनूपुरयुक्तौ, पादौ=चरणौ, प्रक्षालयन्ती=धावन्ती, 'धाव् गतिशुद्धयोः', स्थिता=बहिर्विराजमाना, अस्ति। वसन्तसेना समागमायात्यन्त-मुत्सुका येनैतादृशेऽपि दुर्दिनेऽत्र समागतेति तस्या आगमनं शीघ्रमेव चारुदत्तं सूच-येति भावः। शार्दूलविक्रीडितं वृत्तम् ॥ ३५ ॥

चारुदत्तः—(आकर्ण्य) **वयस्य ! ज्ञायतां किमेतदिति ।**

विदूषकः—**जं भवं आणवेदि ।** (वसन्तसेनामुपगम्य सादरम्) **सोत्थि भोदीए ।** (यद्भवानाज्ञापयति ।) (स्वस्ति भवत्यै ।)

वसन्तसेना—**अज्ज ! वन्दामि । साअदं अज्जस्स ।** (विटं प्रति) **एसा छत्तधारिआ भावस्स ज्जेव भोदु ।** (आर्य वन्दे । स्वागतमार्यस्य ।) (भाव एषा छत्रधारिका भावस्यैव भवतु ।)

विटः—(स्वगतम्) **अनेनोपायेन निपुणं प्रेषितोऽस्मि ।** (प्रकाशम्) **एवं भवतु । भवति ! वसन्तसेने !**

साटोप-कूट-कपटानृतजन्मभूमेः शाठ्यात्मकस्य रति-केलिकृतालयस्य ।
वेश्यापणस्य सुरतोत्सवसंग्रहस्य दाक्षिण्यपण्य-सुख-निष्क्रय-सिद्धिरस्तु ॥३६॥

विमर्श—'तूलं च नीपप्रियककदम्बास्तु हलिप्रियें' [अमरकोश २।४।४२] के अनुसार नीप और कदम्ब पर्यायवाची हैं । अतः एक साथ प्रयोग में इनके अर्थ का अन्तर करना चाहिये । अतः नीप का अर्थ वन्धूक पुष्प करना चाहिये । अथवा कदम्ब को पुष्पवाची मानकर कदम्बपुष्पों से युक्त नीप वृक्षों से सुगन्धित— यह अर्थ करना चाहिये । यह भी सम्भव है जैसे कमलसामान्य और कमलविशेष के लिये कुछ शब्द हैं उसी प्रकार कदम्बसामान्य और विशेष के लिये यहाँ अलग-अलग शब्दों का प्रयोग हों ॥ २५ ॥

अर्थ—चारुदत्त—(सुनकर) मित्र ! पता लगाओ यह किसकी आवाज है ?

विदूषक—आपकी जैसी आज्ञा । (वसन्तसेना के पास जाकर) आपका कल्याण हो ।

वसन्तसेना—आर्य ! प्रणाम करती हूँ। आर्य आपका स्वागत है । (विट से) भाव ! यह छत्रधारिणी (परिचारिका) आपकी ही (आपके ही साथ) रहे ।

अन्वयः—साटोपकूटकपटानृतजन्मभूमेः, शाठ्यात्मकस्य, रतिकेलिकृतालयस्य, सुरतोत्सवसंग्रहस्य, वेश्यापणस्य, दाक्षिण्यपण्य-सुखनिष्क्रयसिद्धिः, अस्तु ॥ ३६ ॥

शब्दार्थ—साटोपकूटकपटानृतजन्मभूमेः=आटोप=दम्भ के सहित जो कूट=माया, कपट=छल और असत्यभाषण उसकी उत्पत्तिस्थान, शाठ्यात्मकस्य=धूर्ततारूपी, रतिकेलिकृतालयस्य=कामक्रीडा द्वारा अपना घर बनायी गयी, सुरतोत्सव-संग्रहस्य=रमण के आनन्दरूपी उत्सव के संग्रहवाली, वेश्यापणस्य=वेश्यारूपी बाजार की, दाक्षिण्यपण्यसुखनिष्क्रयसिद्धिः=उदारता से यौवनरूपी विक्रेयवस्तु का सुखपूर्वक (विना कष्ट के) विनिमय (आदान-प्रदान) की सिद्धि, अपनी उदारता से अपने यौवन का दान करते हुये चारुदत्त के यौवन के सुख की उपलब्धि, अस्तु=हो ॥ ३६ ॥

(इति निष्क्रान्तो विटः ।)

वसन्तसेना—अज्जमित्तेअ ! कहिं तुम्हाणं जूदिअरो ? (आर्यमैत्रेय ! कस्मिन् युष्माकं द्यूतकरः ?)

अर्थ—विट—(अपने में) इस उपाय द्वारा बड़ी चतुरता से वापस कर दिया गया हूँ। (प्रकट रूप में) ऐसा ही हो, अच्छी बात है। माननीय वसन्तसेना जी !—

जो दम्भसहित माया, छल, एवं झूठ की जन्मस्थान [उत्पत्तिस्थल] है, धूर्तता ही जिसकी आत्मा है, सम्भोगक्रीडा ने जिसको अपना घर बना लिया है, सुरतक्रीडारूपी उत्सव का जहाँ संग्रह है, ऐसे वेश्यारूपी बाजार की उदारता से (न कि धन से) बिकने वाली (तुम्हारी भरी जवानीरूपी) वस्तु की सुखपूर्वक (बिना किसी कष्ट के) आदान-प्रदान की सिद्धि होवे, अर्थात् तुम धन का लोभ छोड़कर अपनी जवानी का आनन्द चारुदत्त को दो और उसकी जवानी का सुख स्वयं प्राप्त करो ॥ ३६ ॥

टीका—चारुदत्तं प्रति गमनोत्सुकां वसन्तसेनां विटः आशीर्वचोभिर्विभूषयति—आटोपः=दम्भः, तेन सहितम्, कूटम्=माया, कपटम्=छलम्, अनृतम्=असत्यभाषणम् च—एतेषां जन्मभूमिः = उत्पत्तिस्थलस्य, शाठ्यम्=धूर्तता एव आत्मा=स्वभावः यस्य तादृशस्य, रतिकेल्या=सुरतक्रीडया, कृतः=विहितः, आलयः=आस्पदं यत्र तस्य, यद्वा रतिकेलये=रतिक्रीडार्थं कृतः=विहितः यः आलयः=निकेतनं यथाभूतस्वसुरतम्=सम्भोग एवं उत्सवः=आनन्दः, तस्य संग्रहः=सम्यग् ग्रहणम्, आस्वादः यत्र तथाभूतस्य, वेश्यापणस्य=वेश्यारूपस्य आपणस्य=विपणेः, क्रयविक्रयस्थानस्येति भावः, दाक्षिण्येन = औदार्येण न तु अर्थविनियोगेन, पण्यस्य=विक्रेयस्य=स्वयौवनस्येति भावः, सुखेन=अनायासेन, निष्क्रयः=विनिमयः तस्य सिद्धिः=सफलता, अस्तु = भवतु। स्वकीयमसामान्यमौदार्यं प्रकटय्य चारुदत्तेन सह निरतिशयं सम्भोगसुखमनुभूयताम्, परस्परं चोभौ एतत्सुखमनुभवतामिति भावः। वसन्ततिलका वृत्तम् ॥ ३६ ॥

विमर्श—आटोपो दम्भः, तेन सहितम्=इति विद्याधरः। वेश्यापणस्य=वेश्या के व्यवहार की, वेश्यारूपी बाजार की। निष्क्रयः=विनिमय, अदला-बदली। दोनों की समान प्रवृत्ति से ही संभोगसुखनिष्पत्ति होती है। वसन्ततिलका छन्द है। समास के लिये संस्कृत टीका देखें ॥ ३६ ॥

(ऐसा कह कर विट निकल जाता है।)

अर्थ—वसन्तसेना—आर्य मैत्रेय ! तुम्हारा जुआरी कहाँ है ?

विदूषकः—(स्वगतम्) हीही भो ! जुदिअरो त्ति भणन्तीए अलङ्किदो पिअवअस्सो । (प्रकाशम्) भोदि ! एसो क्खु सुक्खरुक्ख-वाडिआए ! (हीही भोः ! द्यूतकर इति भणन्त्या अलङ्कृतः प्रियवयस्यः । भवति ! एष खलु शुष्क-वृक्ष-वाटिकायाम् ।)

वसन्तसेना—अज्ज ! का तुम्हाणं सुक्ख-रुक्ख-वाडिआ वुच्चदि ? (आर्य ! का युष्माकं शुष्क-वृक्ष-वाटिका उच्यते ?)

विदूषकः—भोदि ! जहिं ण खाईअदि ण पीईअदि । (भवति ! यस्मिन् न खाद्यते न पीयते ।)

(वसन्तसेना स्मितं करोति ।)

विदूषकः—ता पविसदु भोदी ! (तत्प्रविशतु भवती ।)

वसन्तसेना—(जनान्तिकम्) एत्थ पविसिअ कं मए भणिदव्वं ? (अत्र प्रविश्य किं मया भणितव्यम् ?)

चेटी—जूदिअर ! अवि सुहो दे पदोसो ? त्ति । (द्यूतकर ! अपि सुखस्ते प्रदोषः ? इति ।)

वसन्तसेना—अवि पारइस्सं ? (अपि पारयिष्यामि ?)

चेटी—अवसरो ज्जेव पारइस्सदि । (अवसर एव पारयिष्यति ।)

विदूषकः—पविसदु भोदी । (प्रविशतु भवती ।)

वसन्तसेना—(प्रविश्योपसृत्य च पुष्पैस्ताडयन्ती) अइ जूदिअर ! अवि-सुहो दे पदोसो ? (अयि द्यूतकर ! अपि सुखस्ते प्रदोषः ?)

विदूषक—(अपने में) आश्चर्य है ! जुँआरी ऐसा कहती हुई इसने आर्य चारुदत्त को विभूषित कर दिया है । (प्रकट रूप में) माननीये ! वे इस सूखे वृक्षों वाली फुलवाड़ी में हैं ।

वसन्तसेना—आर्य ! सूखे वृक्षों वाली आपकी फुलवाड़ी कौन है ?

विदूषक—माननीये ! जहाँ न कुछ खाया जाता है और न पिया जाता है ।

(वसन्तसेना मुस्कराती है ।)

विदूषक—तो आप भीतर चलिये ।

वसन्तसेना—(जनान्तिक) यहाँ जाकर मुझे क्या कहना चाहिये ?

चेटी—जुआरी ! आपकी शाम सुखद तो है ? [ऐसा कहिये ।]

वसन्तसेना—ऐसा कह सकूँगी ?

चेटी—समय ही तुम्हें समर्थ बना देगा ।

विदूषक—आप भीतर चलें ।

वसन्तसेना—(प्रवेश करके, पास जाकर) फूलों से मारती हुई जुआरी ! तुम्हारी आपकी शाम सुखद तो है ?

चारुदत्तः—(अवलोक्य) अये ! वसन्तसेना प्राप्ता । (सहर्षमुत्थाय) अयि प्रिये !

सदा प्रदोषो मम याति जाग्रतः
सदा च मे निश्वसतो गता निशा ।
त्वया समेतस्य विशाललोचने
ममाद्य शोकान्तकरः प्रदोषकः ॥ ३७ ॥

अन्वयः—सदा, जाग्रतः, (एव), मम, प्रदोषः, याति; सदा, निश्वसतः, [एव], मे, निशाः; गताः; हे विशाललोचने ! अद्य, त्वया, समेतस्य, मम, प्रदोषकः, शोकान्तकरः [भवति, भविष्यति वा] ॥ ३७ ॥

शब्दार्थ—सदा=प्रतिदिन, जाग्रतः एव=जागते हुये हीं मम=मेरा, प्रदोषः= सायंकाल का समय, याति=बीतता है; सदा=रोज, निश्वसतः=निश्वासें=आहें लेते हुये ही, मे=मेरी, निशाः=रात, गताः=बीती हैं; हे विशाललोचने=हे बड़ी-बड़ी आखों वाली प्रिये वसन्तसेने !, अद्य=आज, इस समय, त्वया=तुम्हारे (वसन्तसेना के) समेतस्य=मिले हुये, मम=मुझ चारुदत्त का, प्रदोषकः=सायंकाल, शोकान्तरः= शोकों को समाप्त कर देने वाला, [भवति=हो रहा हैं, अथवा भविष्यति=हो जायगा] ॥ ३७ ॥

अर्थ—चारुदत्त—(देखकर) अरे ! वसन्तसेना आयीं हैं । [हर्षसहित उठकर) हे प्रिये !

हमेशा जागते हुये ही मेरा प्रदोष (शाम का समय) बीता है, और हमेशा आहें भरते हुये ही रातें बीतीं है, (किन्तु) हे विशाल नेत्रोंवाली वसन्तसेने आज तुम्हारे साथ मिलने वाले मेरा प्रदोष (सायं काल) शोकों का समाप्त कर देने वाला (हो रहा है, अथवा होगा) ॥ ३७ ॥

टीका—वसन्तसेनायाः समागमेन स्वकीय शोकापहरणं वर्णयन् तां प्रशंसति चारुदत्तः—सदेति । सदा=प्रतिदिनम्, जाग्रतः=अनिद्रितस्य, एव, मम=चारुदत्तस्य, प्रदोषः=रात्रिमुखं, प्रथमप्रहर इति भावः, याति=गच्छति, तर्हि द्वितीयप्रहरादौ निद्रासुखं जायते, तदपि नेत्याह—सदा=नित्यम्, निश्वसतः=दीर्घतरं श्वासं त्यजतः, एव, निशा=रात्रिः, गता=याता, हे विशाललोचने=विशालनेत्रे !, त्वया=वसन्तसेनया, समेतस्य=सम्मिलितस्य, मम=चारुदत्तस्य, अद्य=अस्मिन् काले, प्रदोषकः=सन्ध्या-समयः, शोकान्तकरः-विरहजनितसन्तापहरः, भवति, भविष्यति वा । वंशस्थ-बिलं वृत्तम् ॥ ३७ ॥

विमर्श—अपनी सायंकालीन और सम्पूर्ण रात्रिकालीन व्यथा का उल्लेख करके आज उनसे मुक्ति का संकेत चारुदत्त करता है । यहाँ दो बार 'सदा' शब्द

तत्स्वागतं भवत्यै । इदमासनम्, अत्रोपविश्यताम् ।

विदूषकः—इदं आसणं, उवविसदु भोदी । (इदमासनम्, उपविशतु भवती ।)

(वसन्तसेना आसीना । ततः सर्वे उपविशन्ति ।)

चारुदत्तः—वयस्य ! पश्य पश्य—

वर्षोदकमुद्गिरता श्रवणान्तविलम्बिना कदम्बेन ।
एकः स्तनोऽभिषिक्तो नृपसुत इव यौवराज्यस्थः ॥ ३८ ॥

'तद्वयस्य, क्लिन्ने वाससी वसन्तसेनायाः अन्ये प्रधानवाससी समुपनीयेतामि'ति ।

का प्रयोग अच्छा नहीं है । दूसरी पंक्ति में 'सदाच' के स्थान पर तथैव' पाठ करना अच्छा रहता । यहाँ वंशस्थबिल छन्द है ॥ ३७ ॥

अर्थ—इसलिये आपका स्वागत है । यह आसन है, इस पर विराजिये ।

विदूषक—यह आसन है, इस पर आप बैठिये !

(वसन्तसेना बैठ जाती है । इसके बाद सभी बैठते हैं ।)

अन्वयः—वर्षोदकम्, उद्गिरता, श्रवणान्तविलम्बिना, कदम्बेन, यौवराज्यस्थः, नृपसुतः, इव, एकः, स्तनः, अभिषिक्तः ॥ ३८ ॥

शब्दार्थ—वर्षोदकम्=वर्षा के पानी को, उद्गिरता=गिराते हुये श्रवणान्तविलम्बिना=कान के छोर पर लटकने वाले, कदम्बेन=कदम्बपुष्प के द्वारा, यौवराज्यस्थः=युवराज के पद पर बैठे हुये, नृपसुतः=राजपुत्र के, इव=समान, एकः=एक, स्तनः=स्तन, अभिषिक्तः=अभिषिक्त करा दिया गया है ॥ ३८ ॥

अर्थ—**चारुदत्त**—मित्र ! देखो, देखो,

वर्षा के पानी को गिराने वाले, कान के किनारे पर लटकने वाले कदम्बपुष्प ने युवराज-पद पर बैठे हुये राजकुमार के समान एक स्तन को अभिषिक्त कर दिया है ॥ ३८ ॥

टीका—वर्षाजलेन क्लिन्नस्य स्तनस्य शोभां वर्णयति चारुदत्तः—वर्षेति । वर्षोदकम्=वर्षणस्य जलम्, उद्गिरता=पातयता, श्रवणस्य अन्ते=अन्तिमे भागे विलम्बिना=विलम्बमानेन, कदम्बेन=एतन्नामकपुष्पेण, यौवराज्यस्थः = युवराजपदे प्रतिष्ठितः नृपसुतः=राजपुत्रः, इव=यथा, एकः, स्तनः=वक्षोजः, अभिषिक्तः=अभिषेकं प्रापितः । यथा राज्ञः एकः पुत्र एव यौवराज्यपदेऽभिषिच्यते तथैव वर्षाजलेनापि वसन्तसेनाया एक एव स्तनोऽभिषिक्तः । एवञ्च तस्य स्तनस्य महत्त्वं युवराज इव वर्तते इति भावः । स्तनस्य महत्त्वं कामशास्त्रविदां न तिरोहितमिति तत्त्वम् । अत्रोपमालंकारः आर्या च वृत्तम् ॥ ३८ ॥

विमर्श—यहाँ वर्षा से एक ही स्तन का भीगना कुछ कम व्यावहारिक प्रतीत

विदूषकः—जं भवं आणवेदि। (यद्भवानाज्ञापयति ।)

चेटी—अज्जमित्तेअ ! चिट्ठ तुमं, अहं ज्जेव अज्जअं सुस्सूसइस्सं। (आर्यमैत्रेय ! तिष्ठ त्वम्, अहमेवार्यां शुश्रूषयिष्यामि ।) (तथा करोति ।)

विदूषकः—(अपवारितकेन ।) **भो वअस्स ! पुच्छामि दाव तत्थभोदिं किं पि ।** (भो वयस्य ! पृच्छामि तावदत्रभवतीं किमपि ।)

चारुदत्तः—एवं क्रियताम् ।

विदूषकः—(प्रकाशम् ।) **अध किं णिमित्तं उण इदिसे पणट्टचन्दालोए दुद्दिण अन्धआरे आअदा भोदि ?** (अथ किं निमित्तं पुनरीदृशे प्रणष्टचन्द्रालोके दुर्दिनान्धकारे आगता भवती ?)

चेटी—अज्जए ! उजुओ बम्हणो । (आर्ये ! ऋजुको ब्राह्मणः ।)

वसन्तसेना—णं णिउणोत्ति भणाहि । (ननु निपुण इति भण ।)

चेटी—एषा क्खु अज्जआ एव्वं पुच्छिदुं आअदा,—केत्तिअं ताए रअणावलीए मुल्लं त्ति । (एषा खलु आर्या एवं प्रष्टुमागता,—'कियत्तस्या रत्नावल्या मूल्यम्' इति ।)

विदूषकः—(जनान्तिकम् ।) **भो ! भणितं मए, जधा अप्पमुल्ला रअणावली, बहुमुल्लं सुवण्णभण्डअं, ण परितुट्टा, अवरं मग्गिदुं आअदा।**

होता है। यहाँ ऐसी उपमा देनी चाहिये थी जिससे दोनों स्तनों का महत्त्व सिद्ध होता ॥ ३८ ॥

अर्थ—इस लिये हे मित्र ! वसन्तसेना के दोनों वस्त्र गीले हो गये हैं, दूसरे उत्कृष्ट कोटि के वस्त्र (साड़ी आदि) ले आइये ।'

विदूषक—आपकी जो आज्ञा ।

चेटी—आर्य मैत्रेय ! आप बैठिये=रहने दीजिये, मैं ही आर्या की सेवा करूँगी । (वैसा ही करने लगती है ।)

विदूषक—(जनान्तिक) हे मित्र ! श्रीमती वसन्तसेना से कुछ पूछूँ ?

चारुदत्त—ऐसा ही करो, अर्थात् पूछो ।

विदूषक—(प्रकटरूप में) चन्द्रमा की चाँदनी से शून्य दुर्दिन से होने वाले इस अन्धकार में आप किस लिये आयीं हैं ?

चेटी—आर्ये ! यह ब्राह्मण बड़ा सीधा है ।

वसन्तसेना—अरे, चालाक है, ऐसा कहो ।

चेटी—आर्या यह पूछने के लिये आई हैं कि 'उस रत्नावली की क्या कीमत है ।'

विदूषक—(जनान्तिक) हे मित्र ! मैंने कहा था 'वह रत्नावली कम कीमत

(भोः ! भणितं मया—यथा अल्पमूल्या रत्नावली, बहुमूल्यं सुवर्णभाण्डकम्, न परितुष्टा, अपरं याचितुमागता ।)

चेटी—सा क्खु अज्जआए अत्तणकेरकेत्ति भणिअ जूदे हारिदा, सोअ सहिअ राओ-वात्थहारी ण जाणीअदि कहिं गदो त्ति। (सा खलु आर्यया आत्मीयेति भणित्वा द्यूते हारिता । स च सभिको राजवार्त्ताहारी न ज्ञायते कुत्र गत इति ।)

विदूषकः—भोदि ! मन्तिदं ज्जेव मन्तीअदि । (भवति ! मन्त्रितमेव मन्त्यते ।)

चेटी—जाव सो अण्णेसीअदि, ताव एदं ज्जेव गेण्ह सुवण्णभण्डअं । (इति दर्शयति ।) (यावत् सः अन्विष्यते, तावदिदमेव गृहाण सुवर्णभाण्डकम् ।)

(विदूषको विचारयति ।)

चेटी—अदिमेत्तं अज्जो णिज्झाअदि, ता किं दिट्ठपुरुव्वं दे ? (अतिमात्रमार्यो निध्यायति, तत् किं दृष्टपूर्वं ते ?)

विदूषकः—भोदि ! सिप्पकुसलदाए ओवन्धेदि दिट्ठिं । (भवति ! शिल्पकुशलतया अवबध्नाति दृष्टिम् ।)

चेटी—अज्ज ! वञ्जिदोसि दिट्ठीए । तं ज्जेव एदं सुवण्णभण्डअं । (आर्य ! वञ्चितोऽसि दृष्ट्या । तदेवैतत् सुवर्णभाण्डकम् ।)

की है और सुवर्णभाण्ड अधिक कीमत का, अतः असन्तुष्ट यह और मांगने के लिये आई है ।

चेटी—उस रत्नावली को 'अपनी है यह मानकर' आर्या जुआ में हार गयीं है । और वह जुआ खिलाने वाला, राजा का सन्देशवाहक कहीं चला गया है; पता नहीं चला ।

विदूषक—श्रीमती जी ! आप तो (मेरी) कही हुई ही बात दोहरा रही हैं ।

चेटी—जब तक वह प्रधान जुआड़ी खोजा जाता है तब तक इस सुवर्णभाण्ड को ग्रहण कर लीजिये । (ऐसा कह कर सुवर्णभाण्ड दिखलाती है ।)

(विदूषक सोचता है ।)

चेटी—आर्य ! आप बहुत गम्भीरता से देख रहें हैं, तो क्या यह पहले से देखा हुआ है ।

विदूषक—श्रीमतीजी ! निर्माण की कुशलता के कारण यह आँख को आकृष्ट कर रहा है ।

चेटी—आर्य ! आपकी आखें धोखा दे रहीं हैं, यह वही सुवर्णभाण्ड है ।

विदूषकः—(सहर्षम् ।) **भो वअस्स ! तं ज्जेव एदं सुवण्णभण्डअं जं अम्हाणं गेहे चोरेहिं अवहिदं।** (भो वयस्य ! तदेवैतत् सुवर्णभाण्डकम्, यदस्माकं गेहे चौरैरपहृतम् ।)

चारुदत्तः—वयस्य !

योऽस्माभिश्चिन्तितो व्याजः कर्त्तुं न्यासप्रतिक्रियाम् ।
स एव प्रस्तुतोऽस्माकं किन्तु सत्यं विडम्बना ॥ ३९ ॥

विदूषक—(खुशी के साथ) मित्र ! यह वही सुवर्णभाण्ड है जिसे चोरों ने हम लोगों के घर से चुराया था ।

टीका—प्रधानवाससी=उत्कृष्टवस्त्रे, चन्द्रस्य आलोकः=प्रकाश–चन्द्रालोकः, प्रनष्टः=अविद्यमानः चन्द्रालोकः यस्मिन् तादृशे, दुर्दिनान्धकारे = मेघाच्छन्नं तु दुर्दिनम्, तादृशेन समुत्पन्ने तमसि, ऋजुकः=सरलः । अल्पं मूल्यं यस्याः सा= अल्पमूल्या, सुवर्णभाण्डापेक्षया न्यूनमूल्येति भावः । अपरम्=अधिकं मूल्यमित्यर्थः । सभिकः=प्रधानद्यूतकरः । राजवार्ताहारी=राजसन्देशवाहकः । मन्त्रितमेव=विदूषकेण पूर्वमुक्तमेव । निध्यायति='ध्यै चिन्तायाम्' अस्य निपूर्वस्य रूपम् । अतिमात्रं विचारयन् पश्यतीति भावः । दृष्टपूर्वं = पूर्वं दृष्टः, शिल्पकुशलतया = शिल्पस्य= निर्माणस्य कौशलेन, अवबध्नाति=आकर्षति ।

अन्वयः—अस्माभिः, न्यासप्रतिक्रियाम्, कर्तुम्, यः, व्याजः, चिन्तितः, स, एव, अस्माकम्, प्रस्तुतः, किन्तु, सत्यम्, [इयम्], विडम्बना ॥ ३९ ॥

शब्दार्थ—अस्माभिः=हम लोगों [चारुदत्त आदि] ने, न्यासप्रतिक्रियाम्= धरोहर का बदला देने की सुवर्णभाण्ड की क्षति की पूर्ति को, कर्तुम्=करने के लिये, यः=जिस, व्याजः = बहाने को, चिन्तितः=सोंचा था, सः=वह, एव=ही, अस्माकम्=हम लोगों के लिये, प्रस्तुतः=उलटा उपस्थित हो गया, किन्तु=लेकिन, सत्यम्=सच है, (इयम्=यह), विडम्बना=प्रतारणा=धोखेबाजी है ॥ ३९ ॥

अर्थ—चारुदत्त—मित्र !

हम लोगों ने उस धरोहर (सुवर्णभाण्ड) की क्षतिपूर्ति करने के लिये जो बहाना सोंचा था, वही बहाना हमारे सामने भी उपस्थित हो गया, किन्तु यह सच है, यह विडम्बना है ॥ ३९ ॥

टीका—तदेवेदं सुवर्णभाण्डं वसन्तसेनयोपन्यस्तमिति विदूषकात् श्रुत्वा पूर्व-विहिता वञ्चना वसन्तसेनया ज्ञातेति विचिन्त्याह—योऽस्मेति । अस्माभिः = चारुदत्तादिभिः, न्यासस्य प्रतिक्रियाम् = वसन्तसेनयोपनिहितवस्तुनः प्रतिशोधम्, कर्तुम्=विधातुम्, यः व्याजः=य उपधिः, छलं वा, चिन्तितः=विचारितः, अस्माकम्= न्यासप्रत्यर्पणोपायमन्वेषमाणानाम्, सः = पूर्वमनुसृतः व्याजः, एव, प्रस्तुतः=अन्य-

विदूषकः—**भो वअस्स ! सच्चं सवामि बम्हण्णेण ।** (भो वयस्य ! सत्यं शपे ब्राह्मण्येन ।)

चारुदत्तः—**प्रियं नः प्रियम् ।**

विदूषकः—(जनान्तिकम् ।) **भो ! पुच्छामि णं कुदो एदं समासादिदं त्ति ?** (भोः ! पृच्छामि ननु कुत इदं समासादितमिति ?)

चारुदत्तः—**को दोषः ?**

विदूषकः—(चेटचाः कर्णे) **एव्वं विअ ।** (एवमिव ।)

चेटी—(विदूषकस्य कर्णे) **एव्वं विअ ।** (एवमिव ।)

चारुदत्तः—**किमिदं कथ्यते ? कि वयं बाह्याः ?**

विदूषकः—(चारुदत्तस्य कर्णे ।) **एव्वं विअ ।** (एवमिव ।)

चारुदत्तः—**भद्रे ! सत्यं तदवेदं सुवर्णभाण्डम् ?**

चेटी—**अज्ज ! अध इं ?** (आर्य ! अथ किम् ?)

रूपेण वसन्तसेनया प्रकटीकृतः, किन्तु, सत्यम्, इयम्, बिडम्बना एव=प्रतारणा एव । अस्माभिस्तु तन्न्यासस्य प्रत्यर्पणाय छलमाश्रित्य रत्नावली प्रेषिता किन्तु वसन्तसेनया अस्माकं छलं जानन्त्या तदत्र प्रकटीकृतमिति भावः । अत्र विषमालङ्कारः, पथ्यावक्त्रं वृत्तम् ॥ ३६ ॥

विमर्श—चारुदत्त वसन्तसेना द्वारा दिखाये गये सुवर्णभाण्ड को देख कर अपने उस छल को सोंचने लगता है । उसे दुःख है कि उसने धरोहर के बदले में जो रत्नावली भेजी थी और जिस प्रकार बहाना बनाया था वही अस्त्र वसन्तसेना ने भी अपना लिया । साथ ही उसका व्याज सत्य प्रतीत हो रहा है ॥ ३६ ॥

अर्थ—**विदूषक**—हे मित्र ! मैं अपने ब्राह्मणत्व की शपथ लेकर कहता हूँ कि यह सच है ।

चारुदत्त—हमारे लिये अच्छा है, अच्छा है ।

विदूषक—(जनान्तिक) मित्र ! पूछूँ—'यह कहाँ से प्राप्त हुआ है ।'—

चारुदत्त—क्या बुराई है ? (अर्थात् पूछो ।)

विदूषक—(चेटी के कान में) ऐसा ही था ?

चेटी—(विदूषक के कान में) वह ऐसा ही था ।

चारुदत्त—यह क्या कहा जा रहा है ? क्या हम लोग बाहरी हैं ?

विदूषक—(चारुदत्त के कान में) ऐसा ही था ।

चारुदत्त—भद्रे ! सच ही यह वही सुवर्णभाण्ड है ?

चेटी—आर्य ! और क्या ?

चारुदत्तः—भद्रे ! न कदाचित् प्रियनिवेदनं निष्फलीकृतं मया। तद् गृह्यतां पारितोषिकमिदमङ्गुलीयकम्। (इत्यनङ्गुलीयकं हस्तमवलोक्य लज्जां नाटयति।)

वसन्तसेना—(आत्मगतम्) अदो ज्जेव कामीअसि। (अत एव काम्यसे।)

चारुदत्तः—(जनान्तिकम्।) भोः ! कष्टम्।

धनैर्वियुक्तस्य नरस्य लोके किं जीवितेनादित एव तावत्।
यस्य प्रतीकारनिरर्थकत्वात् कोपप्रसादा विफलीभवन्ति ॥ ४० ॥

चारुदत्त—भद्रे। मैंने अच्छी बात कहना कभी निष्फल नहीं किया है। [अर्थात् वक्ता को उसका पुरस्कार अवश्य दिया है।] इसलिये पुरस्कार रूप में यह अँगूठी ग्रहण करो। (ऐसा कह कर अँगूठीशून्य हाथ को देखकर लज्जा का अभिनय करता है।)

वसन्तसेना—(स्वगत) इसीलिये तो मैं तुम्हें चाहती हूँ।

अन्वयः—लोके, धनैः, वियुक्तस्य, नरस्य, आदितः, एव जीवितेन, किम्, तावत्; यस्य, कोपप्रसादाः, प्रतीकारनिरर्थकत्वात्, विफलीभवन्ति ॥ ४० ॥

शब्दार्थ—लोके=संसार में, धनैः=धन से, वियुक्तस्य=रहित, नरस्य=मनुष्य के, आदितः=आदिकाल अर्थात् जन्मसमय से, एव=ही, जीवितेन=जीवित रहने से, किं तावत्=क्या लाभ ? अर्थात् कोई लाभ नहीं; यस्य=जिसके, कोपप्रसादाः= प्रसन्नता और अप्रसन्नता, खुशी और नाराजगी, प्रतीकारनिरर्थकत्वात्=प्रतीकार में समर्थ न होने के कारण, विफलीभवन्ति=बेकार हो जाते हैं ॥ ४० ॥

अर्थ—**चारुदत्त**—(जनान्तिक) मित्र ! कष्ट है—

संसार में धनहीन व्यक्ति के जन्म से ही लेकर जीवित रहने का क्या लाभ ? जिसकी प्रसन्नता और अप्रसन्नता दोनों ही, बदला चुकाने में असमर्थ होने के कारण, व्यर्थ हो जाती है, अर्थात् धनहीन व्यक्ति खुश होकर कुछ दे नहीं सकता और नाराज होकर कुछ बिगाड़ नहीं सकता ॥ ४० ॥

टीका—प्रियसम्वादप्रदायिन्यै चेटयै स्वप्रकृत्यनुसारं पुरस्कारं प्रदातुमसमर्थः चारुदत्तः धनहीनस्य नरस्य जीवनवैफल्यं प्रतिपादयति—धनैरिति। लोके=संसारे, धनैः=सम्पद्भिः, वियुक्तस्य=रहितस्य, नरस्य=पुरुषस्य, आदितः एव=जन्मकालादेव, जीवितेन = प्राणधारणेन, किम्, न कोऽपि लाभ इत्यर्थः, यस्य = धनहीनपुरुषस्य, कोपप्रसादाः = क्रोधानुग्रहाः, प्रतीकारे = प्रतिशोधे निरर्थकत्वात्=निर्विषयकत्वात्, प्रतीकारकरणासमर्थत्वादिति भावः, विफलीभवन्ति=निष्फलाः जायन्ते। निर्धनो नरः प्रसन्नो भूत्वाऽपि किमपि दातुं न समर्थः, रुष्टो भूत्वापि किमप्यनिष्टं कर्तुं न

अपि च—पक्षविकलश्च पक्षी, शुष्कश्च तरुः, सरश्च जलहीनम् ।
सर्पश्चोद्धृतदंष्ट्रस्तुल्यं लोके दरिद्रश्च ॥ ४१ ॥

अपि च—शून्यैर्गृहैः खलु समाः पुरुषा दरिद्राः
कूपैश्च तोयरहितैस्तरुभिश्च शीर्णैः ।
यद् दृष्टपूर्व-जन-सङ्गम-विस्मृताना-
मेवं भवन्ति विफलाः परितोषकालाः ॥ ४२ ॥

क्षमते । एवञ्च चारुदत्तो निर्धनतामयं जीवनं व्यर्थं मन्यते इति भावः । अत्राप्रस्तुत-प्रशंसा काव्यलिङ्गं चालंकारौ उपजातिर्वृत्तम् ॥ ४० ॥

विमर्श—चेटी के मुख से अत्यन्त प्रिय समाचार सुनकर अपने स्वभाव के अनुसार तत्काल पुरस्कृत करना चाहता हुआ भी चारुदत्त जब अपनी निर्धनता को देखता है तो उसे लगता है कि ऐसे जीवन से तो मरना ही अच्छा है ॥ ४० ॥

अन्वयः—लोके, पक्षविकलः, पक्षी, च, शुष्कः, तरुः, च, जलहीनम् सरः, च, उद्धृतदंष्ट्रः, सर्पः, च, दरिद्रः, च [एतत् सर्वं] तुल्यम् ॥ ४१ ॥

शब्दार्थ—लोके=संसार में, पक्षविकलः = पंखों से रहित, पक्षी=पक्षी, च=और, शुष्कः = सूखा हुआ, तरुः=पेड़, च=और, जलहीनम्=पानीरहित, सरः=तालाब, उद्धृतदंष्ट्रः=निकाली गयी विष दाढ़ वाला, सर्पः=साँप, च=और, दरिद्रः=निर्धन पुरुष, [एतत् सर्वम्=ये सभी] तुल्यम्=बराबर होते हैं ॥ ४१ ॥

अर्थ—और भी—

संसार में बिना पंखों का पक्षी, बिना पानी का तालाब, (विष की) दाढ़ निकाला गया साँप और दरिद्र पुरुष—ये सभी बराबर होते हैं (अर्थात् ये सभी व्यर्थ होते हैं ।) ॥ ४१ ॥

टीका—निर्धनस्य साम्यमन्यैः पदार्थैः प्रतिपादयन्नाह—पक्षेति । लोके=संसारे, पक्षाभ्यां विकलः=विरहितः, पक्षी=खगः, च, शुष्कः=शुष्कतां यातः, पल्लवादिरहितः, तरुः=वृक्षः, च=तथा, जलहीनम्=वारिशून्यम्, सरः=जलाशयः तडागादिः, उद्धृता=उत्पाटिता, दंष्ट्रा = विषदंष्ट्रा यस्य सः, विषदन्तशून्यः, सर्पः = अहिः, च=तथा, दरिद्रः = निर्धनः, एतत् सर्वम् तुल्यम् = समानमेव । एतेषां सर्वेषां वैयर्थ्यमनुभव-सिद्धमेवेति भावः । अत्र मालोपमा सा च तुल्यपदोपादानादार्थीति बोध्यम् । आर्या वृत्तम् ॥ ४१ ॥

विमर्श—निर्धन व्यक्ति के जीवन की व्यर्थता बताने के लिये प्रसिद्ध वस्तुओं की व्यर्थता को प्रस्तुत किया गया है । यहाँ अनेक उपमाओं के कारण मालोपमा है और 'तुल्य' शब्द का उपादान होने से इसे आर्थी समझना चाहिये ।४१।

अन्वयः—दरिद्राः, पुरुषाः, शून्यैः, गृहैः, तोयरहितैः, कूपैः, च, शीर्णैः, तरुभिः,

विदूषकः—(जनान्तिकम् ।) **भो ! अलं अदिमेत्तं सन्तप्पिदेण** (प्रकाशं सपरिहासम् ।) **भोदि ! समप्पीअदु मम केरिआ ण्हाणा—साडिआ ।** (भोः ! अलमतिमात्रं सन्तापितेन ।) (भवति ! समर्प्यतां मम स्नानशाटिका ।)

च, समाः, खलु, यद्, दृष्टपूर्वजनसंगमविस्मृतानाम्, (दरिद्राणाम्) परितोषकालाः, एवम्, विफलीभवन्ति ॥ ४२ ॥

शब्दार्थ—दरिद्राः = गरीब, पुरुषाः=लोग, शून्यैः=सूने, गृहैः=घरों के, च=और, तोयरहितैः=पानी से रहित, कूपैः=कुओं के, च=और, शीर्णैः=सूख कर नष्ट हुये, तरुभिः=वृक्षों के, समाः=बराबर हैं, यत्=क्योंकि, दृष्टपूर्वजनसंगमविस्मृतानाम्=पूर्व-परिचित लोगों के मिलने पर आतुरता में अपनी वर्तमान दरिद्रता को भूल जाने वाले, (दरिद्राणाम् = निर्धनों के) परितोषकालाः=परितोष-प्रदान के अवसर, एवम्=इसी प्रकार, विफलाः=फलशून्य, भवन्ति=होते हैं ॥ ४२ ॥

अर्थ—और भी—

गरीब लोग सूने घरों, पानीरहित कुओं और सूखे वृक्षों के समान हैं, क्योंकि पूर्व काल के परिचित लोगों के मिलने पर आतुरता के कारण अपनी वर्तमान दरिद्रता को भूल जाने वाले दरिद्र लोगों के परितोषकाल (पुरस्कार-प्रदान करने के अवसर) इसी प्रकार व्यर्थ होते हैं । (जैसे मैं पुरस्कार के समय भी पुरस्कार नहीं दे पा रहा हूँ क्योंकि निर्धन हूँ ।) ॥ ४२ ॥

टीका—दरिद्राणामन्यैः पदार्थैः साम्यं प्रतिपादयन् परितोषकालस्य वैयर्थ्यमाह-शून्यैरिति । दरिद्राः = निर्धनाः, पुरुषाः=जनाः, शून्यैः=निवासिजनरहितैः, गृहैः= भवनैः, तोयरहितैः=जलरहितैः, कूपैः, च=तथा, शीर्णैः=शुष्कतया पत्रादिरहितैः, तरुभिः=वृक्षैः, समाः=समानाः, खलु=निश्चयेन; यतः=यस्मात्, दृष्टपूर्वजनस्य=परिचितजनस्य, सङ्गमेन=संगमजन्यानन्दातिशयेन हेतुना, विस्मृतानाम्=विद्यमाननिजदैन्यविस्मरणवताम्, दरिद्राणाम्, परितोषकालाः=परितोषप्रदानावसराः, एवम्= अनेन रूपेण मम यथा, विफलाः=निष्फलाः, भवन्ति=जायन्ते । प्रकृष्टानन्ददायकसमाचारप्रदर्शनादिकाले दानयोग्यसमयेऽपि निर्धनतया दानकरणासामर्थ्यात् तस्य कालस्य वैफल्यमिति भावः । अत्रापि मालोपमाऽप्रस्तुतप्रशंसा च । वसन्ततिलका वृत्तम् ॥ ४२ ॥

विमर्श—पहले धनी होकर बाद में जो निर्धन हो जाता है उसे जब अपने पूर्वपरिचित व्यक्ति मिलते हैं तो हर्षातिरेक में अपनी वर्तमान दरिद्रता का ध्यान न रखकर परितोष आदि देने की इच्छा करने लगता है, परन्तु धनाभाव के कारण दे नहीं पाता है । इस प्रकार उस समय की विफलता हो जाती है ॥ ४२ ॥

अर्थ—विदूषकः—[जनान्तिक] हे मित्र ! अत्यधिक सन्ताप मत करिये [प्रकट-

वसन्तसेना—अज्ज चारुदत्त ! जुत्तं णेदं इमाए रअणावलोए इमं जणं तुलइदुं। (आर्य चारुदत्त ! युक्तं नेदम् अनया रत्नावल्या इमं जनं तुलयितुम्।)

चारुदत्तः—(सविलक्षस्मितम्।) वसन्तसेने ! पश्य पश्य—

> कः श्रद्धास्यति भूतार्थं सर्वो मां तुलयिष्यति।
> शङ्कनीया हि लोकेऽस्मिन् निष्प्रतापा दरिद्रता ॥ ४३ ॥

विदूषकः—हञ्जे ! किं भोदिए इध ज्जेव सुविदव्वं ? (हञ्जे ! किं भवत्या इहैव स्वप्तव्यम् ?)

रूप में, हंसी के साथ] श्रीमती जी ! मेरी स्नान की साड़ी वापस लौटा दीजिये।

वसन्तसेना—आर्य चारुदत्त ! इस रत्नावली से इस व्यक्तिको [मुझको] तौलना ठीक नहीं है।

चारुदत्त—(लज्जा के साथ मुस्कराकर) वसन्तसेना देखो, देखो—

अन्वय—कः, भूतार्थम्, श्रद्धास्यति, सर्वः, माम्, तुलयिष्यति, हि, अस्मिन्, लोके, निष्प्रतापा, दरिद्रता, शङ्कनीया [भवति] ॥ ४३ ॥

शब्दार्थ—कः=कौन, भूतार्थम्=सच घटना को, श्रद्धास्यति=मानेगा, विश्वास करेगा, सर्वः=सभी लोग, माम्=मुझ चारुदत्त को, तुलयिष्यति=तौलेंगे, [मुझ पर शंकाभरी दृष्टि रखेंगे], हि=क्योंकि, अस्मिन्=इस, लोके=लोक में, निष्प्रतापा=प्रतापशून्य, दरिद्रता=निर्धनता, शङ्कनीया=शङ्का=सन्देह का विषय होती है ॥४३॥

अर्थ—सच घटी हुई बात पर कौन विश्वास करेगा, सभी मुझे तौलेंगे [बेईमान समझेंगे] क्योंकि इस संसार में निर्बल निर्धनता शङ्का का विषय बनती है ॥ ४३ ॥

टीका—अनपराधी अपि दरिद्रतयाऽपराधित्वेन लोके शङ्क्यते इत्यत आह—क इति। कः=को जनः, भूतार्थम्=वस्तुतो जातं सत्यं चौरकार्यम्, श्रद्धास्यति=सत्यतया स्वीकरिष्यति, सर्वः=सर्वो लोकः, माम्=चारुदत्तम्, तुलयिष्यति=लघुकरिष्यति, हि = यतः, अस्मिन् लोके = अस्मिन् संसारे, निष्प्रतापा=निष्पौरुषा, दरिद्रता = निर्धनता, शङ्कनीया = शङ्कास्थानम्, भवतीति शेषः। अर्थान्तरन्यासोऽलंकारः ॥ ४३ ॥

विमर्श—तृतीय अंक में श्लोक सं० २४ पृष्ठ २२१ में इसकी विशेष व्याख्या की जा चुकी है। वहीं पर देखें ॥ ४३ ॥

अर्थ—विदूषक—प्रिय सखि ! क्या आप [वसन्तसेना] इसी घर में सोयेंगी ?

चेटी—(विहस्य) **अज्ज मित्तेअ ! अदिमेत्तं दाणिं उजुअं अत्ताणअं दंसेसि ।** (आर्य मैत्रेय ! अतिमात्रमिदानीम् ऋजुमात्मानं दर्शयसि ।)

विदूषकः—भो वअस्स ! एसोक्खु ओसारन्तो विअ सुहोवविट्टं जणं पुणोवि वित्थारिवारिधाराहिं पविट्ठो पज्जण्णो । (भो वयस्य ! एष खलु अपसारयन्निव सुखोपविष्टं जनं पुनरपि विस्तारिवारि-धाराभिः प्रविष्टः पर्जन्यः ।)

चारुदत्तः—सम्यगाह भवान् ।

अमूर्हि भित्त्वा जलदान्तराणि पङ्कान्तराणीव मृणालसूच्यः ।
पतन्ति चन्द्रव्यसनाद्विमुक्ता दिवोऽश्रुधारा इव वारिधाराः ॥ ४४ ॥

चेटी—(हंसकर) आर्य मैत्रेय ! इस समय अपने आपको बहुत सीधा-सादा दिखा रहे हो ।

विदूषक—हे मित्र ! सुख से बैठे हुये [हम] लोगों को (यहाँ से) हटाता हुआ सा यह मेघ बड़ी - बड़ी पानी की बूंदों के साथ पुनः आ गया, अर्थात् फिर वर्षा होने लगी ।

अन्वयः—हि, अमूः, वारिधाराः, मृणालसूच्यः, पङ्कान्तराणि, इव, जलदान्तराणि, भित्त्वा, चन्द्रव्यसनात्, विमुक्ताः, दिवः, अश्रुधाराः, इव, पतन्ति ॥ ४४ ॥

शब्दार्थ—हि=क्योंकि, अमूः=ये, जलधाराः=पानी की धारायें, मृणालसूच्यः= कमल की जड़ के अकुर, पङ्कान्तराणि=कीचड़ के मध्यभाग, इव=के समान, जलदान्तराणि=मेघों के मध्यभाग को, भित्त्वा=फाड़ कर, चन्द्रव्यसनात्=चन्द्रमा की विपत्ति के कारण, विमुक्ताः=छोड़ी गयी, दिवः = आकाश की, अश्रुधाराः= आँसुओं की धारा, इव=के समान, पतन्ति=गिर रहीं है ॥ ४४ ॥

अर्थ—**चारुदत्त**—आपने ठीक ही कहा है—

क्योंकि ये जलधारायें (वर्षा की बूंदें), कीचड़ को फाड़ कर निकली हुई कमल की जड़ों के समान मेघों के मध्यभाग को फाड़ कर चन्द्रमा की विपत्ति (लोप) के कारण बहायी गयी आकाश के आँसुओं की धाराओं के समान गिर रही हैं ॥ ४४ ॥

टीका—वर्षायाः प्राबल्यं वर्णयति—अमूरिति । हि=यतः, अमूः=इमाः दृश्यमानाः, वारिधाराः = जलधाराः, मृणालसूच्यः = मृणालस्य अङ्कुराणामग्रभागाः, पंकान्तराणि=कर्दममध्यभागान्, इव=यथा, जलदान्तराणि=जलदानाम्=मेघानाम्, अन्तराणि=मध्यभागान्, भित्त्वा=विदीर्य, चन्द्रव्यसनात्=चन्द्रमसोऽदर्शनरूपसंकटात्, चन्द्रमसः मेघावरणरूपं सङ्कटं विलोक्येत्यर्थः ल्यब्लोपे **पञ्चमी बोध्या, दिवः**= आकाशस्य, अश्रुधाराः=नेत्राम्बुप्रवाहाः, इव=यथा, पतन्ति । **स्वस्वामिनश्चन्द्रस्य**

अपि च—

धाराभिरार्यजनचित्तसुनिर्म्मलाभि-
श्चण्डाभिरर्जुन-शर-प्रतिकर्कशाभिः ।
मेघाः स्रवन्ति बलदेव–पट–प्रकाशाः
शक्रस्य मौक्तिकनिधानमिवोद्गिरन्तः ॥ ४५ ॥

वियोगे सति गगनं तद्दुखेन रोदितीत्यर्थः । अत्रोपमा, उत्प्रेक्षा समासोक्तिश्चेति बोध्यम् । उपजातिर्वृत्तम् ॥ ४४ ॥

विमर्श—जैसे काले कीचड़ को फाड़ कर कमल की जड़ों के श्वेत अंकुर ऊपर निकल आते हैं उसी प्रकार काले बादलों को फाड़ कर श्वेत जलविन्दुयें निकल कर गिर रहीं हैं । यहाँ 'आकाश की अश्रुधारा के समान' इसमें उत्प्रेक्षा है, उपमा नहीं क्योंकि यह अप्रसिद्ध उपमान है । आकाश का स्वामी चन्द्रमा मेघों से आवृत होकर विपत्ति में पड़ गया है । अतः आकाश उसके लिये आँसू गिरा रहा है । ऐसा व्यवहार-समारोप होने से समासोक्ति है । 'चन्द्रव्यसनं विलोक्य' यह ल्यब्लोप में पञ्चमी है ॥ ४४ ॥

अन्वयः—बलदेवपटप्रकाशाः, मेघाः, आर्यजनचित्तसुनिर्मलाभिः, अर्जुनशरप्रतिकर्कशाभिः, चण्डाभिः, धाराभिः, शक्रस्य, मौक्तिकविधानम्, उद्गिरन्तः, इव, स्रवन्ति ॥ ४५ ॥

शब्दार्थः—बलदेवपटप्रकाशाः=बलराम के वस्त्रों के समान [नीली] आभा वाले, मेघाः = बादल, आर्यजनचित्तसुनिर्मलाभिः = सज्जनों के हृदय के समान निर्मल=स्वच्छ, अर्जुनशर-कर्कशाभिः=अर्जुन के बाणों के समान कठोर, चण्डाभिः= तीखी, धाराभिः = जलधाराओं के द्वारा, शक्रस्य = इन्द्र के, मौक्तिकनिधानम्= मोतियों के खजाने को, उद्गिरन्तः = बिखराते, गिराते हुये, इव = के समान, स्रवन्ति=झर रहे हैं ॥ ४५ ॥

अर्थ—[कृष्ण के बड़े भाई] बलराम के नीले वस्त्रों की आभा के समान आभावाले मेघ आर्यजनों के चित्त के समान स्वच्छ (और) अर्जुन के बाणों के समान कठोर तीखी जलधाराओं के द्वारा इन्द्र के मोतियों के खजाने को बिखेरते हुये से झर रहे हैं ॥ ४५ ॥

टीका—मेघस्य जलवर्षणप्रकारमेवाह—धारेति । बलदेवपटप्रकाशाः=बलराम-वस्त्रसदशाः, नीला इत्यर्थः, मेघाः=जलदाः, आर्यजनानां चित्तवत् सुनिर्मलाभिः= विमलाभिः, अथ च, अर्जुनस्य = मध्यमपाण्डवस्य, शरवत्, प्रतिकर्कशाभिः= अतिकठोराभिः, अथ च, चण्डाभिः=उग्राभिः, धाराभिः=जलधाराभिः, शक्रस्य= इन्द्रस्य, मौक्तिकनिधानम्=मुक्ताकोशम्, मुक्तासमूहं वा, उद्गिरन्तः=निःसारयन्तः,

प्रिये ! पश्य पश्य—

एतैः पिष्ट-तमाल-वर्णकनिभैरालिप्तमम्भोधरैः
संसक्तैरुपजीवितं सुरभिभिः शीतैः प्रदोषानिलैः।
एषाऽम्भोद-समागम-प्रणयिनी स्वच्छन्दमभ्यागता
रक्ता कान्तमिवाम्बरं प्रियतमा विद्युत् समालिङ्गति ॥ ४६ ॥

विकिरन्तः वा, इव, स्रवन्ति=क्षरन्ति, वर्षन्तीति भावः। अत्र सर्वत्र लुप्तोपमा 'उद्गिरन्त इव' इत्यंशे क्रियोत्प्रेक्षा चेत्यनयोः संकरः। वसन्ततिलका वृत्तम् ॥४५॥

अन्वयः—अम्भोदसमागम-प्रणयिनी, स्वच्छन्दम्, अभ्यागता, रक्ता, प्रियतमा, इव, एषा, विद्युत्, पिष्टतमालवर्णकनिभैः, एतैः, अम्भोधरैः, आलिप्तम्, संसक्तैः, सुरभिभिः, शीतैः, प्रदोषानिलैः, उपवीजितम्, (च), कान्तम् इव, अम्बरम्, समालिङ्गति ॥ ४६ ॥

शब्दार्थ—अम्भोदसमागमप्रणयिनी = मेघ के समागम में अभिलाषा रखने वाली, (प्रियतमा-पक्ष में उपपति के साथ समागम-विषयिणी इच्छा रखने वाली), स्वच्छन्दम्=अपनी इच्छा से, अभ्यागता=समीप में आयी हुई, रक्ता=लालरंगवाली [प्रियतमा-पक्ष में—अनुराग करने वाली], प्रियतमा=प्रेयसी, इव=के समान एषा=यह, सामने दिखाई देने वाली, विद्युत्=बिजली, पिष्टतमालवर्णकनिभैः= पीसे गये तमालपत्र के रंग के समान, नीले, एतैः=इन, अम्भोधरैः=बादलों से, [प्रियतमापक्ष में—अंगराग आदि से], आलिप्तम्=अनुलिप्त, व्याप्त, ससक्तैः= अत्यन्त घनीभूत, सुरभिभिः=सुगन्धयुक्त, शीतैः = शीतल, प्रदोषानिलैः—सायंकालीन हवा के झोकों से, उपवीजितम्=हवा किये जाते हुये, कान्तम्=प्रेमी, इव=के समान, अम्बरम्=आकाश का, समालिङ्गति=आलिङ्गन कर रही है, लिपट रही है ॥ ४६ ॥

अर्थ—प्रिये ! देखो, देखो।

मेघ के साथ समागमविषयिणी इच्छा रखने वाली [प्रियतमापक्ष में—उपपति के साथ मिलने की अभिलाषा रखने वाली] स्वयम् पास आयी हुयी लाल रंगवाली [प्रियतमापक्ष में—अनुराग करने वाली] प्रियतमा के समान यह बिजली पीसे गये तमालपत्र के समान नीले इन बादलों से व्याप्त, और तेज, सुगन्धित एवं शीतल सायंकालीन हवा के झकोरों से हवा किये जाते हुये प्रेमी के समान आकाश का आलिङ्गन कर रही है ॥ ४६ ॥

टीका—विद्युत्कर्तृकमेघसमालिङ्गनमाह-एतैरिति। अम्भोदेन=मेघेन उपपतिना च सह यः समागमः=सम्मेलनम्, तत्र प्रणयिनी=प्रणयवती, स्वच्छन्दम्=स्वेच्छयैव, अभ्यागता=समीपम् उपपन्ना, रक्ता=रक्तवर्णा, अनुरागवती च, प्रियतमा=प्रेयसी,

(वसन्तसेना शृङ्गारभावं नाटयन्ती चारुदत्तमालिङ्गति ।)

चारुदत्तः—(स्पर्शं नाटयन् प्रत्यालिङ्ग्य ।)

भो मेघ ! गम्भीरतरं नद त्वं तव प्रसादात् स्मरपीडितं मे ।
संस्पर्शरोमाञ्चितजातरागं कदम्बपुष्पत्वमुपैति गात्रम् ।। ४७ ।।

इव=यथा, एषा=पुरो दृश्यमाना, विद्युत्=चपला, पिष्टं यत् तमालपत्रम्, तदेव वर्णकः=विलेपनम्, तन्निभैः=तत्सदृशैः, नीलैरित्यर्थः, एतैः=गगनस्थितैः, अम्भोधरैः=जलधरैः, आलिप्तम्=सर्वत्रानुलिप्तम्, अम्बरस्य विशेषणमेतत् संसक्तैः=घनीभूतैः, तीव्रैरिति भावः, सुरभिभिः=सुगन्धिभिः, शीतैः=शीतलैः, प्रदोषानिलैः=सायन्तन-पवनैः, उपवीजितम्=पवनैः व्यजनेनेवोपसेवितमिति भावः, कान्तम्=प्रियतमम्, इव, अम्बरम्=आकाशम्, समालिङ्गति=आश्लेषयति ।।४६।।

विमर्श—यहाँ उपमा अलंकार के साथ साथ समासोक्ति अलंकार भी है क्योंकि विद्युत् में नायिका-व्यापार का और आकाश में नायक-व्यापार का समारोप है ।

अम्भोदसमागम-प्रणयिणी—यहाँ अम्भोदेन समागमः, अम्भोदसमागमः, तस्मिन् प्रणयिनी—यह समास विद्युत्-पक्ष में है । अम्भोदे समागमप्रणयिनी—यह प्रियतमा-पक्ष में समास है । अथवा अम्भोदस्य समागमे=उदये प्रणयिनी यह है । स्वच्छन्दम् अभ्यागता—कथनद्वारा चमत्कारातिशय प्रकट होता है । इसमें शार्दूलविक्रीडित छन्द है ।। ४६ ।।

अर्थ—(वसन्तसेना शृङ्गारभाव का अभिनय करती हुई चारुदत्त का समालिङ्गन करती है ।)

अन्वयः—भो मेघ ! त्वम्, गम्भीरतरं, नद, तव, प्रसादात्, स्मरपीडितम्, मे, गात्रम्, स्पर्शरोमाञ्चितजातरागम्, (सत्), कदम्बपुष्पत्वम्, उपैति ।। ४७ ।।

शब्दार्थ—भो मेघ !=हे बादल !, त्वम्=तुम, गम्भीरतरम्=और अधिक घोर, नद=गरजो; तव=तुम्हारे, प्रसादात्=प्रसाद से, अनुग्रह से, स्मरपीडितम्=कामपीडा से व्याकुल, मे=मेरा, गात्रम्=शरीर, संस्पर्श-रोमाञ्चितजातरागम्=आलिङ्गन के कारण रोमाञ्चयुक्त और वासनायुक्त, (सत्=होता हुआ), कदम्बपुष्पत्वम्=कदम्ब के फूल की समानता को, उपैति=प्राप्त कर रहा है ।। ४७ ।।

अर्थ—चारुदत्त—(स्पर्श का अभिनय करते हुये प्रत्यालिङ्गन करके ।)

हे मेघ ! तुम और अधिक जोर से गरजो, तुम्हारे अनुग्रह से कामपीडित मेरा शरीर आलिङ्गन से रोमाञ्चयुक्त और कामवासनायुक्त होता हुआ कदम्ब के पुष्प की समानता को प्राप्त कर रहा है, उसी के समान हो रहा है ।। ४७ ।।

विमर्श—संस्पर्शेन रोमाञ्चितं जातरागं च—यह विग्रह है । जातः रागः=

विदूषकः--दासीए पुत्ता ! दुद्दिण ! अणज्जो दाणिं सि तुमं, जं अत्तभोदिं विज्जुआए भाआवेसि। (दास्याः पुत्र ! दुर्दिन ! अनार्य इदानीमसि त्वम्, यदत्रभवतीं विद्युता भाययसि)।

चारुदत्तः--वयस्य ! नार्हस्युपालब्धुम्।

वर्षशतमस्तु दुर्दिनमविरतधारं शतह्रदा स्फुरतु।
अस्मद्विधदुर्लभया यदहं प्रियया परिष्वक्तः॥ ४८॥

अनुरागः यस्मिन् तत्। स्पर्श से रोमाञ्च और अनुराग दोनों की उत्पत्ति हुई है। कदम्बपुष्प जैसे कण्टकित और राग=रक्तवर्ण युक्त होता है, उसी प्रकार चारुदत्त का शरीर हो रहा है। अतः यहाँ निदर्शना अलंकार है। उपजाति छन्द है॥४७॥

अर्थ--विदूषक--अरे दासी के बच्चे दुर्दिन ! तुम इस समय बहुत नीच हो जो आर्या [वसन्तसेना] को बिजली से डरा रहे हो।

अन्वयः--अविरतधारम्, दुर्दिनम्, वर्षशतम्, अस्तु, शतह्रदा, स्फुरतु, यत्, अहम्, अस्मद्विधदुर्लभया, प्रियया, परिष्वक्तः॥ ४८॥

शब्दार्थ--अविरतधारम्=अनवरत जलधारावाला, दुर्दिन=मेघादि-युक्त दिन, वर्षशतम्=सैकड़ों वर्ष तक, अस्तु=बना रहे; शतह्रदा=बिजली, स्फुरतु=चमकती रहें; यत्=क्योंकि, अहम्=मैं (चारुदत्त), अस्मद्विधदुर्लभया=हमारे जैसे गरीब लोगों के लिये दुर्लभ, प्रियया=प्रियतमा वसन्तसेना के द्वारा, परिष्वक्तः=अलिङ्गित किया जा रहा हूँ॥ ४८॥

अर्थ--चारुदत्त--मित्र ! दुर्दिन को उलाहना नहीं देना चाहिये--

अनवरत जलधारा वाला (यह) दुर्दिन सैकड़ों वर्षों तक बना रहे। बिजली चमकती रहे, क्योंकि हमारे जैसे गरीब लोगों के लिये दुर्लभ प्रिया (वसन्तसेना) के द्वारा मेरा आलिङ्गन किया जा रहा है॥ ४८॥

टीका--दुर्दिनस्य प्रशंसां कृत्वा तदनुग्रह-प्रभावं वर्णयति--वर्षशतेति। अविरता=अविच्छिन्ना, धाराः=जलधाराः यस्मिन् तादृशम्, दुर्दिनम्=मेघाच्छन्नं दिनम्, वर्षशतम् = शतवर्षपर्यन्तम्, असीमितकालपर्यन्तमिति यावत्; अस्तु=भवतु; शतह्रदा=विद्युत्, स्फुरतु=स्फुरिता भवतु, यत्=यस्मात्, निर्धनानाम्, दुर्लभा=दुष्प्रापा, तया, प्रियया=वसन्तसेनया, परिष्वक्तः=भृशमालिङ्गितः॥ ४८॥

विमर्श--चारुदत्त उस दुर्दिन की महिमा का वर्णन कर रहा है जिसकी कृपा से निर्धन भी वह वसन्तसेना के आलिङ्गन का सुख प्राप्त कर रहा है। शंपा शतह्रदा ह्रादिन्यैरावत्यः क्षणप्रभा। अमरकोश दिग्वर्ग १।९ के अनुसार शतह्रदा =बिजली। आर्या छन्द है॥ ४८॥

अपि च,—वयस्य !
धन्यानि तेषां खलु जीवितानि ये कामिनीनां गृहमागतानाम् ।
आर्द्राणि मेघोदकशीतलानि गात्राणि गात्रेषु परिष्वजन्ति ॥ ४९ ॥
प्रिये वसन्तसेने !
स्तम्भेषु प्रचलित-वेदि-सञ्चयान्तं शीर्णत्वात् कथमपि धार्यते वितानम् ।
एषा च स्फुटित-सुधा-द्रवानुलेपात् संक्लिन्ना सलिल-भरेण चित्रभित्तिः ।५०।

अन्वयः—ये, गृहम्, आगतानाम्, कामिनीनाम्, मेघोदकशीतलानि, आर्द्राणि, गात्राणि, गात्रेषु, परिष्वजन्ति, तेषाम्, जीवितानि, धन्यानि, खलु ॥ ४९ ॥

शब्दार्थ—ये = जो लोग, गृहम् = घर में, आगतानाम् = स्वतः आई हुयी, कामिनीनाम्=रमणियों के, मेघोदकशीतलानि=वर्षा के जल से शीतल, आर्द्राणि= गीले, गात्राणि = अंगों का, गात्रेषु = अंगों में, परिष्वजन्ति=कस कर आलिङ्गन करते हैं, तेषाम् = उन लोगों के, जीवितानि = जीवन, धन्यानि=धन्य हैं, खलु= निश्चित रूप से ॥ ४९ ॥

अर्थ—और भी, मित्र !

जो लोग घर में आई हुई कामनियों के वर्षा के जल से शीतल और गीले (कामसन्तापनिवारक) अङ्गों का अङ्गों में कसकर आलिङ्गन करते हैं, उनके जीवन निश्चित ही धन्य हैं ॥ ४९ ॥

टीका—गृहागतवसन्तसेनायाः समालिङ्गनेन स्वजीवनस्य साफल्यं प्रतिपादयति—धन्यानीति । ये=भाग्यवन्तः पुरुषाः, गृहम्=भवनम्, आगतानाम्=स्वयमेव समागतानाम्, कामिनीनाम्=कामयुक्तानां रमणीनाम्, मेघोदकेन=वारिदजलेन शीतलानि=शीतानि, आर्द्राणि=क्लिन्नानि, सन्तापनिवारकाणीत्यर्थः, गात्राणि=अङ्गान्, गात्रेषु=अङ्गेषु, यद्वा शरीराणि शरीरेषु, परिष्वजन्ति=समाश्लिष्यन्ति, तेषाम्= तादृशसमागमसुखयुक्तानां जनानाम्, जीवितानि = जीवनानि, खलु = निश्चयेन, धन्यानि=सफलानीति भावः । ष्वज्धातोरात्मनेपदित्वेऽपि कविना परस्मैपदप्रयोगः । अत्राप्रस्तुतप्रशंसालंकारः इन्द्रवज्रा वृत्तम् ॥ ४९ ॥

विमर्श—मेघोदकशीतलानि—इससे शरीरावयवों की शीतलता प्रतिपादित करके भी 'आर्द्राणि' यह कहना अत्यन्तशीतलता का द्योतक है । इससे अत्यन्त-कामसन्तप्त अङ्गों की शीतलता सम्भव है, यह भाव है । यहाँ अप्रस्तुतप्रशंसा अलंकार है, और इन्द्रवज्रा छन्द ॥ ४९ ॥

अन्वयः—प्रचलितवेदिसञ्चयान्तम्, वितानम्, शीर्णत्वात्, स्तम्भेषु, कथमपि, धार्यते, एषा, च, चित्रभित्तिः, स्फुटितसुधा-द्रवानुलेपात्, सलिलभरेण संक्लिन्ना ।५०।

शब्दार्थ—प्रचलितवेदिसञ्चयान्तम्=जिसकी वेदियों के समूह का अन्त भाग

(ऊर्ध्वमवलोक्य) अये ! इन्द्रधनुः । प्रिये ! पश्य पश्य—

विद्युज्जिह्वेनेदं महेन्द्रचापोच्छ्रितायतभुजेन ।
जलधर-विवृद्ध-हनुना विजृम्भितमिवान्तरीक्षेण ॥ ५१ ॥

हिलने लगा है ऐसा, वितानम् = वितान=तम्बू, शीर्णत्वात्=सड़ा जीर्ण होने के कारण, स्तम्भेषु=आधारभूत खम्भों पर, कथमपि=किसी प्रकार, धार्यते=धारण किया जा रहा है, च=और, एषा=यह, चित्रभित्तिः=चित्रयुक्त दीवार, स्फुटित-द्रवानुलेपात्=सुधाद्रव=सफेदी के लिये प्रयुक्त किये गये चूने के फूट जाने के कारण, सलिलभरेण=अत्यधिक पानी से, संक्लिन्ना=भीग गई है ॥ ५० ॥

अर्थ—प्रिय वसन्तसेना जी !

जिसकी [आधारभूत] वेदियों के समूह का अन्तभाग हिलने लगा है ऐसा वितान=तम्बू जीर्ण होने के कारण खम्भों पर जिस किसी प्रकार धारण किया=रोका जा रहा है और यह चित्रों से युक्त दीवार चूना के लेप के फूट जाने (अलग हो जाने) के कारण अत्यधिक पानी से भीग गई है ॥ ५० ॥

टीका—निजगृहस्य जीर्णतां दर्शयन् वर्षया प्रभावितं तद् वसन्तसेनां प्रति वर्णयति—स्तम्भेष्विति । प्रचलितः=वायुवेगेन प्रकम्पितः, वेदीनां सञ्चयानाम्=समूहानाम्, अन्तः=पर्यन्तभागः यस्य तादृशम्, वितानम्=वस्त्रनिर्मितम् आवरणम् 'तम्बू' इत्यादिनाम्ना लोके प्रसिद्धम्, शीर्णत्वात्=जीर्णत्वात्, स्तम्भेषु=आधार-स्थूणासु, कथमपि=येन केनापि प्रकारेण, धार्यते=अवलम्ब्यते, स्थीयते इति भावः, एषा च=पुरोदृश्यमाना इयं च, चित्रभित्तिः = विविधचित्रमयी भित्तिः=कुडयम्, स्फुटितः=यत्र तत्र गलितः, त्रुटितः वा यः सुधाद्रवस्य=श्वेतताधायकपदार्थविशेषस्य द्रव्यस्य 'चूना' इति लोके ख्यातस्य, अनुलेपः=विलेपः, तस्मात्, 'स्फुटित' इदमनु-लेपस्य विशेषणम्, यत्र तत्र भागे सुधाद्रवस्य पतनं जातमिति हेतोरिति भावः, सलिलभरेण = जलाधिक्येन, सुधाद्रवरहितांशे जलप्रभावस्याधिक्येन, संक्लिन्ना=अतिसिक्ता, आर्द्रेति भावः जातेति शेषः । एवञ्चात्र स्थातुं नोचितमिति चारुदत्तस्य तात्पर्यम् । प्रहर्षिणी वृत्तम्—त्र्याशाभिर्मनजरगाः प्रहर्षिणीयम् ॥ ५० ॥

विमर्श—चारुदत्त कपड़े के तम्बू या चन्दोवा के नीचे वर्षा का आनन्द ले रहा है । परन्तु उसकी सभी चीजें पुरानी होने से वेगवती वर्षा से रक्षा नहीं कर पा रही हैं । सामने की दीवालों पर लगा चूना छूट गया है ऐसी जगहों पर पानी का जोर अधिक हो रहा है । इसलिये वसन्तसेना को वहाँ से भीतर चलने का संकेत कर रहा है ॥ ५० ॥

अन्वयः—विद्युज्जिह्वेन, महेन्द्रचापोच्छ्रितायतभुजेन, जलधरविवृद्धहनुना, अन्तरीक्षेण, इदम्, विजृम्भितम्, इव ॥ ५१ ॥

तदेहि, अभ्यन्तरमेव प्रविशावः । (इत्युत्थाय परिक्रामति ।)
प्रिये पश्य—
तालीषु तारं विटपेषु मन्द्रं शिलासु रुक्षं सलिलेषु चण्डम् ।
सङ्गीतवीणा इव ताड्यमानास्तालानुसारेण पतन्ति धाराः ॥ ५२ ॥

शब्दार्थ—विद्युज्जिह्वेन=बिजलीरूप जीभवाले, महेन्द्रचापोच्छ्रितायतभुजेन= इन्द्रधनुष रूपी ऊपर उठी हुई और लम्बी भुजाओं वाले, जलधरविवृद्धहनुना= मेघरूपी बढ़ी हुई ठोढ़ीवाले, अन्तरीक्षेण = आकाश ने, इदम्=यह, विजृम्भितम् इव=मानो जभाँई ली है ॥ ५१ ॥

अर्थ—(ऊपर देखकर) अरे इन्द्रधनुष, प्रिये ! देखो, देखो—

बिजलीरूपी जीभवाले, इन्द्रधनुषरूपी ऊपर उठी हुई और लम्बी भुजाओंवाले, मेघरूपी बढ़ी हुई ठोढ़ीवाले आकाश ने मानों यह जभाँई ली है ॥ ५१ ॥

टीका—आकाशसौन्दर्यं प्रतिपादयति—विद्युदिति । विद्युत् एव=तडित् एव जिह्वा=रसना यस्य सः तेन, महेन्द्रस्य=शक्रस्य चापः=धनुः एव, उच्छ्रितौ=उत्थापितौ, आयतौ=विशालौ च, भुजौ यस्य तेन, जलधरः=वारिदः एव, विवृद्धा=वृद्धि प्राप्ता, लम्बितेति भावः, हनुः = चिबुकप्रदेशः यस्य तेन, अन्तरीक्षेण=आकाशेन, विज्जृम्भितम् इव=मुखव्यादानम् इव कृतमित्यर्थः । अत्र विद्युदादौ जिह्वाद्यारोपात् रूपकम्, अन्ते चोत्प्रेक्षेति । आर्या वृत्तम् ॥ ५१ ॥

विमर्श—वसन्तसेना चारुदत्त के समीप प्रदोषकाल में पहुँचती है । वार्तालाप के प्रसंग में और अधिक देर होने से रात हो जाती है । जैसा कि श्लोक संख्या ४४ के 'अनुव्यसनाद्' आदि पदों से स्पष्ट है । इस परिस्थिति में 'इन्द्रधनुष' की कल्पना का औचित्य नहीं प्रतीत होता है । यदि यह मान लिया जाय कि पहले बादलों की अधिकता से असमय में ही सन्ध्या की प्रतीत होने लगी थी, वर्षा हो जाने पर आकाश स्वच्छ हो गया और कुछ प्रकाश आ गया । फलतः इन्द्रधनुष की कल्पना हो सकती है । अथवा वसन्तसेना की कामुकता बढ़ाने के लिये चारुदत्त ने यों ही कह दिया हो । बिजली, इन्द्रचाप और जलधर पर जिह्वा, भुजा और हनु का आरोप होने से रूपक है । और इव से उत्प्रेक्षा प्रतीत हो रही है । 'अन्तरीक्षेण' और 'अन्तरिक्षेण' दोनों पाठ मिलते हैं । आर्या छन्द है ॥ ५१ ॥

अर्थ—तो आइये, [हम लोग] भीतर ही चलें । (ऐसा कहकर उठ कर घूमता है ।)—

अन्वयः—तालानुसारेण, ताड्यमानाः, सङ्गीतवीणाः, इव, धाराः, तालीषु, तारम्, विटपेषु, मन्द्रम्, शिलासु, रुक्षम्, सलिलेषु, चण्डम्, पतन्ति ॥ ५२ ॥

शब्दार्थ—तालानुसारेण=लयताल के अनुसार, ताड्यमानाः=बजाई जातीं हुई, संगीतवीणाः=संगीत की वीणाओं के, इव=समान, धाराः=जलधारायें, तालीषु=

(इति निष्क्रान्ताः सर्वे ।)

दुर्द्दिनो नाम पञ्चमोऽङ्कः ।

—: ० :—

ताड़ के पत्तों पर, तारम्=ऊँचे स्वर से, विटपेषु=पेड़ों पर, मन्द्रम्=गम्भीर ध्वनि के साथ, शिलासु=पहाड़ों की चट्टानों पर, रुक्षम्=कर्कश, और, सलिलेषु=जल में, चण्डम्=प्रचण्ड ध्वनि के साथ, पतन्ति=गिर रहीं हैं ॥ ५२ ॥

अर्थ—प्रिये ! देखो—

लय के अनुसार बजायी जातीं हुईं संगीत की वीणाओं के समान ये पानी की धारायें ताड़ के पत्तों पर ऊँची ध्वनि से, पेड़ों पर गंभीर ध्वनि से, चट्टानों पर कर्कश ध्वनि से और पानी में प्रचण्ड ध्वनि से गिर रहीं हैं ॥ ५२ ॥

(सब निकल जाते हैं ।)

इस प्रकार दुर्दिन नामक पाँचवाँ अङ्क समाप्त हुआ ।

टीका—जलधारापातेन जन्यं विविधध्वनिं निरूपयति—तालीष्विति । तालानुसारेण = संगीतशास्त्रप्रतिपादिततालसिद्धान्तानुसारेण, ताड्यमानाः=वाद्यमानाः, संगीतवीणाः=संगीतकार्यक्रमे प्रयुक्तवीणाः, इव, धाराः=वर्षाजलधाराः, तालीषु=तालाख्यवृक्षस्य पत्रेषु, तारम्=उच्चैः यथा स्यात् तथा, विटपेषु=पादपेषु, मन्द्रम्=गम्भीरं यथा स्यात् तथा, शिलासु=पाषाणखण्डेषु रुक्षम्=कर्कशं कठिनं वा यथा स्यात् तथा, सलिलेषु = तडागादिस्थितजलेषु, चण्डम् = प्रचण्डं यथा स्यात् तथा, पतन्ति=क्षरन्ति, वर्षन्तीति भावः । अत्रोपमालङ्कारः, उपजातिर्वृत्तम् ॥ ५२ ॥

विमर्श—वर्षा के समय में बादलों से गिरने वाली जलधाराओं की भिन्न-भिन्न पदार्थों पर अलग-अलग प्रकार की आवाजें होना सर्वानुभवसिद्ध है । जलधारा सभी देखने में एक-सी होती हैं । परन्तु ध्वनियाँ अलग-अलग होती हैं । जैसे वीणा के तार देखने में एक जैसे ही लगते हैं परन्तु उनकी ध्वनियाँ अलगअलग प्रतीत होती हैं, वही सादृश्य यहाँ प्रतिपादित है । 'धाराः' और 'ताड्यमानाः' ये दोनों बहुवचनान्त हैं अतः उपमान 'वीणाः' भी बहुवचनान्त रहना उचित है । यहाँ वीणा का तात्पर्य वीणा के तारों से है जिन्हें बजाया जाता है ॥ ५२ ॥

॥ इस प्रकार जयशङ्कर लाल त्रिपाठि-विरचित 'भावप्रकाशिका' संस्कृत-हिन्दी व्याख्या में मृच्छकटिक का पञ्चम अङ्क समाप्त हुआ ॥

—: ० :—

षष्ठोऽङ्कः

(ततः प्रविशति चेटी)

चेटी—कधं अज्ज वि अज्जआ ण विवुज्झदि। भोदु, पविसिअ पडिबोधइस्सं। (कथमद्यापि आर्या न विबुध्यते। भवतु, प्रविश्य प्रतिबोधयिष्यामि।)

(इति नाट्येन परिक्रामति।)

(ततः प्रविशति आच्छादितशरीरा प्रसुप्ता वसन्तसेना।)

चेटी—(निरूप्य) उत्थेदु उत्थेदु अज्जआ। पभादं संवुत्तं। (उत्तिष्ठतु उत्तिष्ठतु आर्या। प्रभातं संवृत्तम्)

वसन्तसेना—(प्रतिबुध्य) कधं रत्ति ज्जेव पभादं संवुत्तं? (कथं रात्रिरेव प्रभातं संवृत्तम्?)

चेटी—अम्हाणं एसो पभादो, अज्जआए उण रत्तिज्जेव। (अस्माकमेतत् प्रभातम्. आर्यायाः पुनः रात्रिरेव)

शब्दार्थ—विबुध्यते=जाग रही है। प्रतिबोधयिष्यामि=जगाऊँगी। आच्छादितशरीरा = चादर आदि से ढके हुये शरीरवाली। प्रसुप्ता=गंभीर रूप से सोती हुई। पुष्पकरण्डकम् = यह एक बगीचे का नाम है। समादिश्य = आदेश देकर। प्रवहणम्=गाड़ी। कस्मिन्=किस स्थान पर। निध्यातः=देखा गया। अभ्यन्तरचतुःशालकम्=भीतर के चौशाल में। सन्तप्यते=दुःखी हो रहे हैं। परिजनः=सम्बन्धी जन। सन्तप्तव्यम् = दुःखी होना चाहिये। गुणनिर्जिता = गुणों से वशीभूत। कण्ठाभरणम् = गले का गहना = शोभा। प्रसादीकृता=सेवा में समर्पित की है। आभरणविशेषः=विशेष अलङ्कार।

अर्थ—(इसके बाद चेटी प्रवेश करती है।)

चेटी—क्या आर्या [वसन्तसेना] सोकर अभी भी नहीं जागीं=उठीं है? अच्छा, (भीतर) जाकर जगाऊँगी। [जगाती हूँ।]

[ऐसा कहकर अभिनय के साथ घूमती है।]

[इसके बाद वस्त्रादि से ढके हुये शरीरवाली सोती हुई वसन्तसेना प्रवेश करती है।]

चेटी—(देख कर) आर्ये! उठिये, उठिये। सबेरा हो गया।

वसन्तसेना—(जाग कर) क्या रात ही सबेरा बन गयी?

चेटी—हम लोगों का तो यह सबेरा है, किन्तु आर्या की तो रात ही है।

वसन्तसेना—हञ्जे ! कहिं उण तुम्हाणं जूदिअरो ? (हञ्जे ! कस्मिन् पुनर्युष्माकं द्यूतकरः ?)

चेटी—अज्जए ! वड्ढमाणअं समादिसिअ पुप्फकरण्डअं जिण्णुज्जाणं गदो अज्जचारुदत्तो । (आर्ये ! वर्द्धमानकं समादिश्य पुष्पकरण्डकं जीर्णोद्यानं गत आर्यचारुदत्तः ।)

वसन्तसेना—किं समादिसिअ ? (किं समादिश्य ?)

चेटी—जोएहि रत्तीए पवहणं । वसन्तसेना गच्छदु, त्ति । (योजय रात्रौ प्रवहणम् । वसन्तसेना गच्छतु इति)

वसन्तसेना—हञ्जे ! कहिं मए गन्तव्वं ? (हञ्जे ! कस्मिन् मया गन्तव्यम् ?)

चेटी—अज्जए ! जहिं चारुदत्तो । (आर्ये ! यस्मिन् चारुदत्तः ।)

वसन्तसेना—(चेटीं परिष्वज्य) हञ्जे ! सुट्ठु ण णिज्झाइदो रत्तीए, ता अज्ज पच्चक्खं पेक्खिस्सं । हञ्जे ! किं पविट्ठा अहं इह अब्भन्तरचदुस्सालअं ? (हञ्जे ! सुष्ठु न निध्यातो रात्रौ, तदद्य प्रत्यक्षं प्रेक्षिष्ये । हञ्जे ! किं प्रविष्टा अहमिह अभ्यन्तरचतुःशालकम् ?)

चेटी—ण केवलं अब्भन्तरचदुस्सालअं, सव्वजणस्स वि हिअअं पविट्ठा । (न केवलमभ्यन्तरचतुःशालकम्, सर्वजनस्यापि हृदयं प्रविष्टा ।)

वसन्तसेना—सखि ! तुम लोगों का जुआड़ी (चारुदत्त) कहाँ है ?

चेटी—आर्ये ! वर्धमानक [गाड़ीवान] को आदेश देकर आर्य चारुदत्त पुष्पकरण्डक नामक जीर्ण बगीचे में गये हैं ।

वसन्तसेना—क्या आदेश देकर ?

चेटी—रात में ही गाड़ी तैयार कर लो । वसन्तसेना चली जाय [यह कहा है] ।

वसन्तसेना—सखि ! मुझे कहाँ जाना है ?

चेटी—आर्ये ! जहाँ आर्य चारुदत्त गये हैं ।

वसन्तसेना—(चेटी का आलिगन करके) सखि ! रात में (मैंने चारुदत्त को) अच्छी तरह नहीं देखा था, अतः आज (दिन में) प्रत्यक्ष=अच्छी तरह से देखूंगी । सखि ! क्या मैं यहाँ भीतरी चौशाल में आ गयी हूँ ?

चेटी—केवल भीतरी चौशाल=अन्तःपुर में ही नहीं, अपितु सभी लोगों के हृदय में प्रवेश कर चुकी हैं ।

वसन्तसेना—अवि सन्तप्पदि चारुदत्तस्स परिअणो ? (अपि सन्तप्यते चारुदत्तस्य परिजनः ?)

चेटी—सन्तप्पिस्सदि । (सन्तप्स्यति ।)

वसन्तसेना—कदा ? (कदा ?)

चेटी—जदा अज्जआ गमिस्सदि । (यदा आर्या गमिष्यति ।)

वसन्तसेना—तदो मए पढमं सन्तप्पिदव्वं । (सानुनयम्) हञ्जे ! गेण्ह एदं रअणावलिं, मम बहिणिआए अज्जाधूदाए गदुअ समप्पेहि । भणिदव्वं अ—'अहं सिरिचारुदत्तस्स गुणणिज्जिदा दासी, तदा तुम्हाणं पि; ता एसो तुह ज्जेव कण्ठाहरणं होदु रअणावली । (ततो मया प्रथमं सन्तप्तव्यम् । हञ्जे ! गृहाण एतां रत्नावलीम्, मम भगिन्यै आर्याधूतायै गत्वा समर्पय, वक्तव्यञ्च—'अहं श्रीचारुदत्तस्य गुणनिर्जिता दासी, तदा युष्माकमपि; तदेषा तवैव कण्ठाभरणं भवतु रत्नावली' ।)

चेटी—अज्जए ! कुविस्सदि चारुदत्तो अज्जाए दाव । (आर्ये ! कुपिष्यति चारुदत्त आर्यायै तावत् ।)

वसन्तसेना—गच्छ, ण कुविस्सदि । (गच्छ, न कोपिष्यति ।)

चेटी—(गृहीत्वा) जं अज्जआ आणवेदि । (इति निष्क्रम्य पुनः प्रविशति ।) अज्जए ! भणादि अज्जा धूदा—अज्जउत्तेण तुम्हाणं पसादीकिदा, ण जुत्तं मम एदं गेण्हिदुं । अज्जउत्तो ज्जेव मम आहरणविसेसो त्ति

वसन्तसेना—क्या चारुदत्त के सम्बन्धी लोग (मेरे यहाँ आने के कारण) दुःखी हो रहे हैं ?

चेटी—दुःखी होंगे ।

वसन्तसेना—कब ?

चेटी—जब आर्या चली जायेंगी ।

वसन्तसेना—तब तो सबसे पहले मैं ही दुःखी होऊँगी (अनुनय के साथ) सखि ! यह रत्नावली लीजिये । जाकर मेरी बहिन आर्या धूता को दे दीजिये । और यह कह दीजिये—'गुणों से वश में की गयी यह मैं (वसन्तसेना) श्रीमान् चारुदत्त की दासी हूँ, अतः आपकी भी दासी बन गयी हूँ । इस कारण यह रत्नावली आपके ही कण्ठ का गहना बने ।' [आप इस रत्नावली को स्वीकार कर गले में पहन लें ।]

चेटी—आर्ये ! आर्य चारुदत्त आर्या [धूता] पर नाराज हो जायेंगे ।

वसन्तसेना—जाओ, नहीं नाराज होंगे ।

चेटी—(लेकर) जैसी आपकी आज्ञा । (ऐसा कहकर निकल कर पुनः

जाणादु भोदी । (यदाज्ञापयसि ।) (आर्ये ! भणति आर्या धूता—'आर्यपुत्रेण युष्माकं प्रसादीकृता न युक्तं ममैतां ग्रहीतुम् । आर्यपुत्र एव मम आभरणविशेष इति जानातु भवती' ।)

(ततः प्रविशति दारकं गृहीत्वा रदनिका ।)

प्रवेश करती है ।) आर्ये ! आर्या धूता यह कह रही हैं—'आर्यपुत्र ने प्रसन्न होकर आपको समर्पित की है, मेरा लेना ठीक नहीं है । आर्यपुत्र ही मेरे विशेष [सर्वश्रेष्ठ] आभूषण हैं—यह आप जान लीजिये ।'

टीका—अद्यापि = इदानीमपि, विबुध्यते=जागर्ति, निद्रां परित्यजति, प्रतिबोधयिष्यामि = जागरयिष्यामि; आच्छादितम्=वस्त्रादिना आवृतं शरीरं=कलेवरं यस्याः सा, प्रसुप्ता=गभीरं सुप्ता, कामक्रीडोत्तरं दीर्घस्वापस्य स्वाभाविकत्वात्, वर्धमानम्=एतन्नामकं शकटवाहकम्, समादिश्य=सम्यग्रूपेण बोधयित्वा, पुष्पाणां करण्डकम् = मधुकोषः, यस्मिन् तत्, जीर्णोद्यानम्=जीर्णं च तद् उद्यानम्, योजय=सन्नद्धं कुरु, निध्यातः=अवलोकितः, अद्य=दिने इति भावः, प्रत्यक्षम्=स्वयमेवेत्यर्थः, चतसृणां शालानां समाहारः चतुःशालम्, आभ्यन्तरं च चतुःशालं चेति कर्मधारयः, षष्ठीतत्पुरुषो वा, सन्तप्यते=वेश्यागमनजन्यं कष्टमनुभवतीति भावः, परिजनः=सम्बन्धिजनः, जातावेकवचनम्, सन्तप्तव्यम्=सन्तापयुक्तया भवितव्यम्, भगिन्यै=सम्मानातिशयबोधनार्थमिदम्, समर्पय=समर्पितं कुरु, गुणैः=दयादाक्षिण्यादिगुणैः, निर्जिता=वशीकृता, दासी=सेविका, तत्तुल्येति भावः, कोपिष्यति=कोपं करिष्यति, प्रसादीकृता=प्रसन्नतापूर्वकं समर्पिता, आभरणविशेषः=सर्वोत्कृष्टं भूषणमित्यर्थः, जानातु=अवगच्छतु । मत्कृते चारुदत्त एव सर्वस्वमिति ज्ञात्वैव भवत्या व्यवहरणीयमिति भावः ।

शब्दार्थ—दारकम्=बच्चे को, शकटिकया=छोटी गाड़ी से, मृत्तिकाशकटिकया=मिट्टी की गाड़ी से, सनिर्वेदम्=दुःख के साथ, सुवर्णव्यवहारः=सोने का प्रयोग, अनलंकृतशरीरोऽपि=आभूषणरहित शरीरवाला भी, पुत्रकः—प्रिय बेटा, अनुकृतम्=पितृसदृश ही रूप धारण किया है, प्रतिवेशिकगृहपतिदारकस्य=पड़ोस के घरवाले के बच्चे की, सन्तप्यते=दुःखी हो रहा है, पुष्करपत्रपतितजलबिन्दुसदृशैः=कमलपत्र पर गिरे हुये पानी की बूंद के समान, पुरुषभागधेयैः=मनुष्य के भाग्य से, गुणनिर्जिता=गुणों से वश में की गयी, अतिकरुणम्=अत्यन्त दुःखद, अवतार्य=उतार कर, घटय=बनवा लो, पूरयित्वा=भर कर, कारय=बनवा लो ।

अर्थ—(इसके बाद बच्चे को लेकर रदनिका प्रवेश करती है ।)

रदनिका—एहि वच्छ ! सअड़िआए कीलम्ह । (एहि वत्स ! शकटिकया क्रीडावः ।)

दारकः—(सकरुणम) रदणिए ! किं मम एदाए मट्टिआसअड़िआए, तं ज्जेव सोवण्ण-सअड़िअं देहि । (रदनिके ! किं मम एतया मृत्तिकाशकटिकया; तामेव सौवर्णशकटिकां देहि ।)

रदनिका—(सनिर्वेदं निश्वस्य) जाद ! कुदो अम्हाणं सुवण्णवव-हारो ? तादस्य पुणो वि रिद्धीए सुवण्णसअड़िआए कीलिस्ससि । ता जाव विणोदेमि णं, अज्जआ—वसन्तसेणाआए समीवं उवसप्पिस्सं । (उप-सृत्य) अज्जए ! पणमामि । (जात ! कुतोस्माकं सुवर्णव्यवहारः ? तातस्य पुनरपि ऋद्ध्या सुवर्णशकटिकया क्रीडिष्यसि । तद्यावद्विनोदयाम्येनम् । आर्यावसन्तसेनायाः समीपमुपसर्पिष्यामि ।) (आर्ये ! प्रणमामि ।)

वसन्तसेना—रदणिए ! साअदं दे । कस्स उण अअं दारओ ? अणलंक-ङ्किद-सरीरो वि चन्दमुहो आणन्देदि मम हिअअं । (रदनिके ! स्वागतं ते । कस्य पुनरयं दारकः ? अनलङ्कृतशरीरोऽपि चन्द्रमुख आनन्दयति मम हृदयम् ।)

रदनिका—एसो क्खु अज्जचारुदत्तस्स पुत्तो रोहसेणो णाम । (एष खलु आर्यचारुदत्तस्य पुत्रो रोहसेनो नाम ।)

वसन्तसेना—(बाहू प्रसार्य) एहि मे पुत्तअ ! आलिङ्ग । (इत्यङ्क उपवेश्य) अणुकिदं अणेण पिदुणो रूवं । (एहि मे पुत्रक ! आलिङ्ग । अनुकृतमनेन पितुः रूपम् ।)

रदनिका—आओ बच्चे ! गाड़ी से खेलें ।

बालक—(करुणा के साथ) रदनिके, इस मिट्टी की गाड़ी से मेरा क्या [प्रयोजन] ? मुझे वही सोने की बनी गाड़ी दीजिये ।

रदनिका—(दुःख के साथ निःश्वास लेकर) बेटे ! हम लोगों का सोने का व्यवहार कहाँ ? पिता की पुनः सम्पन्नता से सोने की गाड़ी से खेलोगे । तब तक इस बालक का मन बहलाती हूँ, आर्या वसन्तसेना के पास चलती हूँ । (पास जाकर) आर्ये ! प्रणाम करती हूँ ।

वसन्तसेना—रदनिके ! तुम्हारा स्वागत है । यह किसका बेटा है ? आभूषण-शून्य शरीरवाला भी चन्द्रतुल्य मुखवाला यह मेरे हृदय को आनन्दित कर रहा है ।

रदनिका—यह आर्यचारुदत्त का पुत्र रोहसेम है ।

वसन्तसेना—(दोनों हाथ फैलाकर) आओ मेरे प्यारे बेटे ! आलिङ्गन करो । (यह कह कर गोद में बैठा कर) इसने अपने पिता के रूप की नकल की है, वह भी अपने पिता के समान ही है ।

रदनिका—ण केवलं रूवं सीलं पि तक्केमि, एदिणा अज्जचारुदत्तो अत्ताणअं विणोदेदि। (न केवलं रूपम्, शीलमपि तर्कयामि। एतेन आर्यचारुदत्त आत्मानं विनोदयति।)

वसन्तसेना—अध किं णिमित्तं एसो रोअदि ? (अथ किं निमित्तमेष रोदिति ?)

रदनिका—एदिणा पड़िवेसिअ–गहवइ-दारअ–केरिआए सुवण्ण–सअड़िआए कीलिदं, तेण अ सा णीदा, तदो उण तं मग्गन्तस्स मए इअं मट्टिआ–सअड़िआ कदुअ दिण्णा। तदो भणादि–रदणिए ! किं मम एदाए मट्टिआ–सअड़िआए, तं ज्जेव सोवण्ण–सअड़िअं देहि' त्ति। (एतेन प्रतिवेशिकगृहपति-दारकस्य सुवर्णशकटिकया क्रीडितम्, तेन च सा नीता, ततः पुनस्तां याचतो मया इयं मृतिकाशकटिका कृत्वा दत्ता। ततो भणति—'रदनिके ! किं मम एतया मृत्तिका-शकटिकया, तामेव सौवर्ण-शकटिकां देहि' इति।)

वसन्तसेना—हद्धी हद्धी ! अअं पि णाम पर-सम्पत्तीए सन्तप्पदि ! भअवं कअन्त ! पोक्खर-वत्त–वड़िद–जलविन्दु–सरिसेहिं कीलसि तुमं पुरिस–भाअधेएहिं (इति सास्रा) जाद ! मा रोद, सोवण्ण–सअड़िआए कीलिस्ससि। (हा धिक्, हा धिक्, अयमपि नाम परसम्पत्त्या सन्तप्यते। भगवन् कृतान्त ! पुष्कर-पत्र-पतित-जलबिन्दु-सदृशैः क्रीडसि त्वं पुरुषभाग-धेयैः। जात ! मा रुदिहि, सौवर्णशकटिकया क्रीडिष्यसि।)

दारकः—रदणिए ! का एसा ? (रदनिके ! का एषा ?)

रदनिका—केवल रूप की ही नहीं, स्वभाव की भी (नकल की है); ऐसा सोचती हूँ। आर्य चारुदत्त इसके साथ अपना मनोविनोद करते हैं।

वसन्तसेना—अच्छा, यह किसलिये रो रहा है ?

रदनिका—इसने पड़ोस के घर के मालिक के बच्चे की सोने की गाड़ी से खेला है, और उसने वह गाड़ी ले ली है, इसके बाद उसको मांगते हुये इसे मैंने मिट्टी की गाड़ी बनाकर दे दी। इसके बाद यह कह रहा है—'रदनिके ! इस मिट्टी की गाड़ी से मेरा क्या (प्रयोजन) ? वही सोने की बनी हुई गाड़ी दो।'

वसन्तसेना—हाय ! हाय ! यह भी दूसरे की सम्पत्ति के कारण दुःखी हो रहा है। भगवन् भाग्य ! तुम कमलपत्र पर गिरे हुये पानी के बूंद के समान पुरुष के भाग्य से खेल करते हो। (इस प्रकार अश्रुयुक्त होकर) वेटा ! मत रोओ, (फिर) सोने की गाड़ी से खेलोगे।

वालक—रदनिके ! यह कौन है ?

वसन्तसेना—पिदुणो दे गुणणिज्जिदा दासी। (पितुस्ते गुणनिर्जिता दासी।)

रदनिका—जाद ! अज्जआ दे जणणी भोदि। (जात ! आर्या ते जननी भवति।)

दारकः—रदणिए ! अलिअं तुमं भणासि, जइ अम्हाणं अज्जआ जणणी, ता कीस अलङ्किदा ? (रदनिके ! अलीकं त्वं भणसि, यद्यस्माकमार्या जननी, तत् केन अलङ्कृता ?)

वसन्तसेना—जाद ! मुद्धेण मुहेण अदिकरुणं मन्तेसि। (नाट्येनाभरणान्यवतार्य रुदती।) एसा दाणिं दे जणणी संवुत्ता, ता गेण्ह एदं अलङ्कारअं सोवण्ण-सअडिअं घडावेहि। (जात ! मुग्धेन मुखेन अतिकरुणं मन्त्रयसि।) (एषा इदानीं ते जननी संवृत्ता। तद् गृहाणैतमलङ्कारकम्, सौवर्णशकटिकां घटय।)

दारकः—अवेहि, ण गेण्हिस्सं, रोदसिं तुमं। (अपेहि, न ग्रहीष्यामि, रोदिषि त्वम्।)

वसन्तसेना—(अश्रूणि प्रमृज्य) जाद ! ण रोदिस्सं गच्छ, कील। (अलङ्कारैर्मृच्छकटिकां पूरयित्वा) जाद ! कारेहि सोवण्णसअडिअं। (जात ! न रोदिष्यामि, गच्छ, क्रीड।) (जात ! कारय सौवर्णशकटिकाम्।)

(इति दारकमादाय निष्क्रान्ता रदनिका।)

वसन्तसेना—तुम्हारे पिता के गुणों से वश में की गयी दासी।

रदनिका—बेटा ! यह तुम्हारी माता लगती हैं।

बालक—रदनिके ! तुम झूठ बोलती हो, यदि आर्या हमारी जननी है, तो किसलिये सजी हुयी हैं ?

वसन्तसेना—बेटे ! भोले मुख से अति कठिन बात कह रहे हो। (अभिनय के साथ गहने उतार कर रोती हुई) लो, यह मैं अब तुम्हारी जननी बन गई। तो इन गहनों को ले लो, सोने की गाड़ी बनवा लो।

बालक—हट जाओ, नहीं लूंगा, तुम रो रही हो।

वसन्तसेना—(आंसू पोंछकर) बेटे ! नहीं रोऊँगी, जाओ, खेलो। बेटे ! सोने की गाड़ी बनवा लो।

(इस प्रकार बच्चे को लेकर रदनिका चली जाती है।)

टीका—दारकम्=बालकम्, सनिर्वेदम्=निर्वेदः=कष्टम्, तेन सह, सौवर्णशकटिकाम्=सुवर्णेन निर्मिता सौवर्णा, सा चासौ शकटिका=यानम्, सुवर्णव्यवहारः=हैम्नो व्यवहारः=प्रयोगः, अनलंकृतं शरीरं यस्य तादृशः=आभूषणशून्यदेहः, चन्द्रमुखः=चन्द्रसदृशमुखः, अनुकृतम् = धृतम्, प्रतिवेशिगृहस्तैः=प्रतिवेशिगृहस्वामिनः, दारकस्य=

(प्रविश्य प्रवहणाधिरूढः)

चेटः—रदणिए ! रदणिए ! णिवेदेहि अज्जआए वशन्तशेणाए—'ओहालिअं पक्खदुआलाए शज्जं पवहणं चिट्ठति ।' (रदनिके ! रदनिके ! निवेदय आर्यायै वसन्तसेनायै—'अपवारितं पक्षद्वारके सज्जं प्रवहणम् तिष्ठति' ।)

(प्रविश्य)

रदनिका—अज्जए ! एसो वड्ढमाणओ विण्णवेदि—'पक्खदुआरए

बालकस्य, सन्तप्यते=सन्तापमनुभवति, पुष्करपत्रे=कमलपत्रे, पतितः=निपतितो यो जलबिन्दुः, तेन सदृशैः = समानैः, पुरुषभागधेयैः=मनुष्यभाग्यैः, 'भागरूपनामभ्यो धेयः' इति स्वार्थे धेयप्रत्ययः, सास्रा=अश्रुसहिता, जननी भवति=जननी लगति, न तु वस्तुतः जन्मदात्रीति भावः, अतिकरुणम्=सकारुण्यम्, मन्त्रयसि=वदसि, अवतार्य= स्वशरीरात् पृथक्कृत्य, घटय=निर्मापय, अपेहि=दूरं याहि, मृच्छकटिकाम्=मृण्मयीं शकटिकामित्यर्थः ॥

विमर्श—इस प्रकरण के नाम का आधार यहीं की घटना है। मिट्टी की गाड़ी से न खेलने की जिद करनेवाले रोहसेन के साथ वसन्तसेना का व्यवहार अनुकरणीय है। वह गणिका केवल चारुदत्त के साथ वासनात्मक सम्बन्ध की ही भूखी नहीं है, वह उसके प्रत्येक सुख-दुःख की भागीदार बनना चाहती है। वह चारुदत्त के बालक की मार्मिक बात "यदि अस्माकमार्या जननी, तत् केन अलंकृता' सुनकर स्त्रीसुलभ करुणा से पिघल जाती है और तत्काल सभी आभूषण उतारकर बच्चे को सोने की गाड़ी बनाने के लिये दे देती है।

यद्यपि यह घटना अत्यल्पकालिक है तथापि वसन्तसेना के चरित्र को उत्कृष्टता के शिखर पर पहुँचाने के लिये पर्याप्त है।

शब्दार्थ—अपवारितम्=वस्त्रादि से ढकी हुई, प्रवहणम्=बैलगाड़ी, पक्षद्वारके= बगलवाले दरवाजे पर, सज्जम्=हर प्रकार की सुविधा से सजी हुई, प्रसाधयामि= सजा लूं, यानास्तरणम् = गाड़ी का बिछौना, नस्यरज्जुकटुका=नाक में पड़ी हुई रस्सी के कारण और तेज भागने वाले, गतागतिम् = आना-जाना। उपनय= ले आओ।

(गाड़ी पर बैठा हुआ प्रवेश करके)

अर्थ—चेट—रदनिके ! रदनिके ! आर्या वसन्तसेना से यह निवेदन कर दो कि—'वस्त्र=पर्दे से ढकी हुई गाड़ी बगलवाले दरवाजे पर तैयार खड़ी है।'

(प्रवेश करके)

रदनिका—आर्ये ! यह वर्धमानक सूचित कर रहा है कि—बगलवाले दरवाजे

सज्जं पवहणं' त्ति । (आर्ये! एष वर्द्धमानको विज्ञापयति–'पक्षद्वारे सज्जं प्रवहणम्' इति ।)

वसन्तसेना—हञ्जे ! चिट्ठदु मुहुत्तअं, जाव अहं अत्ताणअं पसाधेमि। (हञ्जे ! तिष्ठतु मुहूर्त्तकम्, यावदहमात्मानं प्रसाधयामि ।)

(निष्क्रम्य)

रदनिका—वड्ढमाणअ ! चिट्ठ मुहुत्तअं जाव अज्जआ अत्ताणअं पसाधेदि। (वर्द्धमानक ! तिष्ठ मुहूर्त्तकम्, यावदार्या आत्मानं प्रसाधयति ।)

चेटः—ही ही भो ! मए वि जाणत्थलके विसुमलिदे, ता जाव गेण्हिअ आअच्छामि । एदे णश्शा-लज्जु-कडुआ बइल्ला । भोदु, पवहणेण ज्जेव गदागदिं कलिश्शं । (इति निष्क्रान्तश्चेटः ।) (हीही भोः ! मयापि यानास्तरणं विस्मृतम्, तत् यावद् गृहीत्वा आगच्छामि । एतौ नस्यरज्जु-कटुकौ बलीवर्दौ । भवतु, प्रवहणेनैव गतागतिं करिष्यामि ।)

वसन्तसेना—हञ्जे ! उवणेहि मे पसाधणं. अत्ताणअं पसाधइस्सं । (हञ्जे उपनय मे प्रसाधनम्, आत्मानं प्रसाधयिष्यामि ।) (इति प्रसाधयन्ती स्थिता ।)

पर गाड़ी तैयार खड़ी है ।

वसन्तसेना—सखि ! वह कुछ देर रुक जाय, तब तक मैं अपने को सजा लेती हूँ, [तैयार कर लेती हूँ ।]

(निकल कर)

रदनिका—वर्धमानक ! कुछ देर रुक जाओ, जब तक आर्या अपने को सजा लेती हैं ।

चेट—अरे आश्चर्य है, मैं भी गाड़ी का बिछावन भूल गया, तो तब तक जाकर ले आता हूँ । नथी हुई नाक में रस्सी पड़ी होने से ये बैल और तेज भागने वाले हो गये हैं । अच्छा तो मैं गाड़ी से ही आना जाना कर लेता हूँ [गाड़ी से जाऊँगा और गाड़ी से वापस आऊँगा ।] (ऐसा कह कर चेट निकल जाता है ।)

वसन्तसेना—सखि ! सजाने की सामग्री लाओ, मैं अपने को सजाऊँगी ।

(ऐसा कह कर सजाती हुई खड़ी है ।)

टीका—प्रवह्यतेऽनेनेति प्रवहणम्, तत्र आरूढः=आसीनः, चेटः=सेवकविशेषः, अपवारितम्=वस्त्रादिपरिवृतम्, पक्षद्वारके=पक्षस्थं=पार्श्वस्थं द्वारम् एव द्वारकम्, तत्र, सज्जम्=अपेक्षितवस्तुयुक्तमिति भावः, मुहूर्तकम्=अल्पकालम्, तिष्ठतु=प्रतीक्षताम्, प्रसाधयामि = सज्जीकरोमि, यानास्तरणम्=यानस्य उपवेशनोपयोगिवस्त्रादिकम्, नस्या=नासिकायां स्थिता रज्जुः, सा चासौ तथोक्ता, तथा कटुकाः=अतितीव्रधावकाः, बलीवर्दाः=वृषभाः, गतागतिम्=गमनागमनम्, उपनय=आनीय समर्पय, प्रसाधनम्=अलंकरणपदार्थम् ।

(प्रविश्य प्रवहणाधिरूढः)

स्थावरकः चेटः——आणत्तोम्हि लाअ-शालअशण्ठाणेण—'थावलआ ! पवहणं गेण्हिअ पुप्फकलण्डअं जिण्णुज्जाणं तुलिदं आअच्छेहि' त्ति। भोदु, तहिं ज्जेव गच्छामि। वहध वइल्ला ! वहध। (परिक्रम्यावलोक्य च।) कधं गामशअलेहिं लुद्धे मग्गे। किं दाणिं एत्थ कलइश्शं। (साटोपम्) अले ले ! ओशलध ओशलध। (आकर्ण्य) किं भणाध—'ऐशे कश्श केलके पवहणे' त्ति। एशे लाअ-शालअ-शण्ठाणकेलके पवहणे त्ति। ता शिग्घं ओशलध। (अवलोक्य।) कधं एशे अवले शहिअं विअ मं पेक्खिअ शहश ज्जेव जूदपलाइदे विअ जूदिअले ओहालिअ अत्ताणअं अण्णदो अवक्कन्ते ! ता को उण एशे ? अधवा किं मम एदिणा। तुलिदं गमिश्शं। अले ले गामेलुआ ! ओशलध ओशलध। किं भणाध—'मुहुत्तअं, चिट्ठ, चक्कपलिवट्टिं देहि' त्ति। अले ले ! लाअशालअ-शण्टाण—केलके हग्गे शूले चक्कपलिवट्टिं दइश्शं ? अधवा

शब्दार्थ——राजश्यालकसंस्थानेन=राजा के साले संस्थानक नामवाले के द्वारा, पुष्पकरण्डक=बगीचा-विशेष, वहतम् = दोनों चलो, ग्रामशकटैः = गाँववालों की गाड़ियों से, अपसरत=अलग हटो, सभिकम्=प्रधान जुआड़ी, द्यूतपलायितः=जुये से हारकर भागा हुआ, अपवार्य=छिपा कर, अपक्रान्तः=निकल कर भाग गया, चक्र-परिवृत्तिम्=पहिये को घुमाने में सहारा, तपस्वी=असहाय, नेमिशब्दः=धुरी की आवाज, त्वरते=मिलने के लिये जल्दीबाजी कर रहा है, विश्राम्य=विश्राम करो, दक्षिणाक्षिस्पन्दम्=दाहिनी आँख का फड़कना, अधिरुह्य=चढ़कर अनिमित्तम्=अपशकुन, प्रमार्जयिष्यति=दूर करेगा, अपसारिताः=हटा दिये, भारिकम्=वजन वाला, चक्रपरिवृत्तिकया=पहिया घुमाने में होनेवाले कष्ट के कारण, परिश्रान्तस्य=अधिक थक जानेवाले।

(गाड़ी पर चढ़ा हुआ चेट प्रवेश करके)

अर्थ—स्थावरक—चेट—राजा के साले संस्थानक ने मुझे यह आज्ञा दी है—स्थावरक ! गाड़ी लेकर पुष्पकरण्डक जीर्ण उद्यान में जल्दी से आ जाना।' अच्छा, वहीं चलता हूँ। अच्छा चलो बैलों ! चलो। (घूम कर और देख कर) क्या गाँव की गाड़ियों से रास्ता रुक गया ? अब यहाँ क्या करूँ ? (गर्व के साथ) अरे रे ! हटो,हटो। (सुनकर) क्या कह रहे हो—'यह किसकी गाड़ी है ? यह राजा के साले संस्थानक की गाड़ी है।' इसलिये जल्दी से हट जाओ। (देखकर) जुआ से भागे हुये जुआड़ी के समान यह दूसरा (पुरुष) जुआ खिलाने वाले (प्रधान जुआरी) के समान मुझे देखकर अपने को छिपा कर जल्दी से दूसरी ओर क्यों भाग गया ?

एशे एआइ तवश्शी। ता एव्वं कलेमि, एदं पवहणं अज्जचालुदत्ताश्श लुक्खवाड़िआए पक्खदुआलए थावेमि। (इति प्रवहणं संस्थाप्य।) एशे म्हि आअदे। (आज्ञप्तोऽस्मि राज-श्यालक-संस्थानेन-'स्थावरक! प्रवहणं गृहीत्वा पुष्पकरण्डकं जीर्णोद्यानं त्वरितमागच्छ' इति। भवतु तत्रैव गच्छामि। वहतं बलीवर्दौ! वहतम्। कथं ग्रामशकटैः रुद्धो मार्गः। किमिदानीमत्र करिष्यामि? अरे रे! अपसरत अपसरत। किं भणत-'एतत् कस्य प्रवहणम्?' इति। एतत् राज्यश्यालक-संस्थानस्य प्रवहणमिति। तत् शीघ्रमपसरत। कथम् एषः अपरः सभिकमिव मां प्रेक्ष्य सहसैव द्यूतपलायित इव द्यूतकरः अपवार्यात्मानम् अन्यतः अपक्रान्तः। तत् कः पुनरेषः? अथवा किं मम एतेन? त्वरितं गमिष्यामि। अरे रे ग्राम्याः! अपसरत अपसरत। किं भणथ-'मुहूर्त्तकं तिष्ठ, चक्रपरिवृत्तिं देहि' इति। अरे रे! राज-श्यालक-संस्थानस्य अहं शूरः चक्रपरिवृत्तिं दास्यामि? अथवा एष एकाकी तपस्वी। तदेवं करोमि। एतत् प्रवहणमार्यचारुदत्तस्य वृक्षवाटिकायाः पक्षद्वारके स्थापयामि। एषोऽस्मि आगतः।) (इति निष्क्रान्तः।)

चेटी—अज्जए! णेमिसद्दो विअ सुणीअदि, ता आअदो पवहणो। (आर्ये! नेमिशब्द इव श्रूयते, तदागतं प्रवहणम्।)

वसन्तसेना—हञ्जे! गच्छ, तुवरदि मे हिअअं। ता आदेसेहि पक्खदुआरअं। (हञ्जे! गच्छ, त्वरते मे हृदयम्। तदादेशय पक्षद्वारकम्।)

चेटी—एदु, एदु अज्जआ। (एतु, एतु आर्या।)

वसन्तसेना—(परिक्रम्य।) हञ्जे! वीसम तुमं। (हञ्जे विश्राम्य त्वम्।)

अच्छा तो फिर यह कौन है? अथवा मुझे इससे क्या [प्रयोजन]? शीघ्र चलूंगा। अरे गाँववालों! दूर हटो। (सुनकर) क्या कह रहे हो—कुछ देर रुक जाओ, (फंसे) पहिये को घुमाने में सहायता कर दो।' अरे मैं राजा के साले संस्थानक का बहादुर आदमी पहिया घुमाने में सहायता करूँगा? अथवा यह बेचारा अकेला है। तो ऐसा करता हूँ (इसकी सहायता कर देता हूँ।) यह गाड़ी चारुदत्त के बगीचे के किनारे वाले दरवाजे के पास खड़ी करता हूँ। (गाड़ी को खड़ी करके) यह मैं आ गया। (यह कहकर चला जाता है।)

चेटी—आर्ये! धुरी की आवाज सुनाई देती है, अतः गाड़ी आ गई [ऐसा लगता है]।

वसन्तसेना—सखि! आओ, मेरा हृदय मिलने के लिये उतावला है। अतः बगलवाला दरवाजा दिखाओ।

चेटी—आर्या, आइये, आइये।

वसन्तसेना—(घूमकर) सखि! तुम विश्राम करो।

चेटी—जं अज्जआ आणवेदि। (यदार्या आज्ञापयति।) (इति निष्क्रान्ता।)

वसन्तसेना—(दक्षिणाक्षिस्पन्दं सूचयित्वा प्रवहणमधिरुह्य च।) **किण्णेदं फुरदि दाहिणं लोअणं? अथवा चारुदत्तस्स ज्जेव दंसणं अणिमित्तं पमज्जइस्सदि।** (किन्नु इदं स्फुरति दक्षिणं लोचनम्? अथवा चारुदत्तस्यैव दर्शनमनिमित्तं प्रमार्जयिष्यति।)

(प्रविश्य)

स्थावरकश्चेटः—**ओशालिदा मए शअड़ा, ता जाव गच्छामि।** (इति नाट्येनाधिरुह्य चालयित्वा स्वगतम्।) **भालिके पवहणे। अधवा चक्कपलिवट्टिआए पलिश्शन्तश्श भालिके पवहणे पडिभाशेदि। भोदु, गमिश्शं। जाध गोणा जाध।** (अपसारिता मया शकटाः तद् यावद् गच्छामि। भारिकं प्रवहणम्। अथवा चक्र-परिवृत्तिकया परिश्रान्तस्य भारिकं प्रवहणं प्रतिभासते। भवतु, गमिष्यामि। यातं गावौ! यातम्।)

चेटी—आर्या की जैसी आज्ञा। (वह निकल जाती है।)

वसन्तसेना—(दाहिनी आँख का फड़कना सूचित करके और गाड़ी पर बैठकर) यह दाहिनी आँख किस लिये फड़क रही है? अथवा चारुदत्त का दर्शन ही अपशकुन दूर करेगा।

(प्रवेश करके)

स्थावरक चेट—मैंने गाड़ियाँ हटा दीं है, तो अब चलता हूँ। (यह कहकर अभिनय के साथ गाड़ी पर चढ़कर और चलाकर—अपने में) गाड़ी बोझदार लगती है। अथवा पहिया घुमाने में परिश्रम करने से थके हुये मुझको गाड़ी बोझवाली लग रही है। अच्छा, चलूं। चलो बैलों! चलो॥

टीका—प्रवहणाधिरूढः=वाहनारूढः, ग्रामशकटैः=ग्राम्यवाहनैः, रुद्धः=अवरुद्धः, अपसरत=अपगच्छत, सभिकमिव = द्यूतसभाध्यक्षमिव, प्रेक्ष्य=विलोक्य, द्यूतपलायितः=पराजितः सन् द्यूतस्थलात् अन्यत्र प्रयातः, अपवार्य=गोपायित्वा, अपक्रान्तः=पलायितः, किम् एतेन=एतेन किमपि साध्यं नास्ति, चक्रपरिवृत्तिम्=भूमादावरुद्धचक्रनिःसारणे साहाय्यमिति भावः, शूरः=वीरः, तपस्वी=वराकः, एकाकी=असहायः, नेमिशब्दः = चक्राधारयन्त्रावयवविशेषस्य ध्वनिः, त्वरते=प्रियमिलनायोत्कण्ठितं भवतीति भावः, पक्षद्वारकम्=पक्षद्वारगमनाय मार्गमित्यर्थः, विश्राम्य=विश्रामं कुरु, अत्रैव तिष्ठेति भावः, दक्षिणाक्षिस्पन्दम्=सव्येतरनेत्रस्फुरणम्, स्त्रीणां दक्षिणाङ्गस्फुरणमनिष्टसूचकमिति शास्त्रादावुक्तम्, अनिमित्तम्=अपशकुनम्, प्रमार्जयिष्यति=वनाशियिष्यति, भारिकम् = भारवत्, ठकि प्रत्यये साधु—भारमस्ति अस्येत्यर्थः,

(नेपथ्ये)

अरे रे दोवारिआ ! अप्पमत्ता सएसु सएसु गुम्मट्ठाणेसु होध । एसो अज्ज गोवालदारओ गुत्तिअं भञ्जिअ, गुत्तिवालअं वावादिअ, बन्धणं भेदिअ, परिब्भट्टो अवक्कमदि । ता गेण्हध गेण्हध । (अरे रे दौवारिकाः ! अप्रमत्ताः स्वकेषु स्वकेषु गुल्मस्थानेषु भवत । एषोद्य गोपालदारको गुप्तिं भङ्क्त्वा, गुप्तिपालकं व्यापाद्य, बन्धनं भित्त्वा, परिभ्रष्टोऽपक्रामति । तद्गृह्णीत गृह्णीत ।)

(प्रविश्य अपटीक्षेपेण सम्भ्रान्त एकचरणलग्ननिगडोऽवगुण्ठित आर्यकः परिक्रामति-)

चेटः—(स्वगतम् ।) **महन्ते णअलीए शम्भमे उप्पण्णे, ता तुलिदं तुलिदं गमिश्शं ।** (महान् नगर्यां सम्भ्रम उत्पन्नः, तत् त्वरितं त्वरितं गमिष्यामि ।)

(इति निष्क्रान्तः ।)

आर्यकः—**हित्वाऽहं नरपतिबन्धनापदेश-**
व्यापत्ति-व्यसन-महार्णवं महान्तम् ।
पादाग्र-स्थित-निगडैक-पाश-कर्षी
प्रभ्रष्टो गज इव बन्धनाद् भ्रमामि ।। १ ।।

परिश्रान्तस्य = अत्यन्तश्रान्तस्य, प्रतिभासते = प्रतीयते, वस्तुतस्तथाऽभावेऽपि तथा प्रतीयते इति भावः, यातम्=युवां गच्छतम् ।।

शब्दार्थ—दौवारिकः = चौकीदार, गुल्मस्थानेषु = रक्षणीय स्थानों अर्थात् चौकियों पर, अप्रमत्ताः = सावधान, गुप्तिम्=कैदखाना, गुप्तिपालक=कैदखाने के रक्षक को, व्यापाद्य = मारकर, बन्धनम्=हथकड़ी, बेड़ी, परिभ्रष्टः=कारागार से निकला हुआ ।

अर्थ—अरे रे द्वारपालो ! अपने अपने गुल्मस्थानों (सेना की चौकियों) पर सावधान हो जाओ । आज वह अहीर का लड़का जेलखाना को तोड़कर रक्षक (चौकीदार) को मारकर बन्धन (हथकड़ी-बेड़ी) तोड़ कर निकला हुआ भागा जा रहा है । अतः उसे पकड़ो, पकड़ो ।

(पर्दा गिराये विना ही प्रवेश करके घबड़ाया हुआ, एक पैर में बेड़ीवाला, कपड़े से मुख ढके हुये आर्यक घूमता है ।)

अर्थ—चेट—(अपने में) नगरी में बहुत घबड़ाहट हो गई है, अतः अब जल्दी जल्दी चलता हूँ ।।

अन्वयः—महान्तम्, नरपतिबन्धनापदेशव्यापत्ति-व्यसन-महार्णवम्, हित्वा, पादाग्रस्थितनिगडैकपाशकर्षी, अहम्, बन्धनात्, प्रभ्रष्टः, गजः, इव, भ्रमामि ।।१।।

शब्दार्थ—महान्तम्=बहुत विशाल, नरपतिबन्धनापदेशव्यापत्तिव्यसनमहार्णवम्=राजा की कैद के बहाने होनेवाली महती विपत्तिरूपी संकटरूपी समुद्र को, हित्वा=छोड़कर, पारकर, पादाग्रस्थितनिगडैकपाशकर्षी=पैर के अगले=नीचे भाग में बन्धी हुई बेड़ीरूप पाश = फन्दे को खींचने वाला, अहम्=मैं, गोपालदारक,

भोः ! अहं खलु सिद्धादेश–जनित–परित्रासेन राज्ञा पालकेन घोषा-दानीय विशसने गूढागारे बन्धनेन बद्धः। तस्माच्च प्रियसुहृच्छर्विलक-प्रसादेन बन्धनात् परिभ्रष्टोऽस्मि। (अश्रूणि विसृज्य।)

बन्धनात्=जंजीर आदि बन्धन से, प्रभ्रष्टः=छूटे हुये, गजः=हाथी, इव=के समान, भ्रमामि=घूम रहा हूँ ।। १ ।।

अर्थ—राजा की कैद के बहाने होनेवाली बहुत बड़ी आपत्तिरूपी संकटरूपी समुद्र को पारकर एक पैर के नीचे की ओर लगी हुई बेड़ीरूप एक पाश (फन्दे) को खींचता हुआ मैं, बन्धन से छूटे हुये हाथी के समान घूम रहा हूँ ।। १ ।।

टीका—सिद्धादेशभीतेन राज्ञा पालकेन कारागरे बद्धः गोपालदारकः आर्यकः कथञ्चित् कारागारबन्धनात् मुक्तः आत्मनो गजतुल्यतां प्रतिपादयति—हित्वेति। महान्तम्=अतिविशालम्, दुस्तरमित्यर्थः, नरपतिना=राज्ञा पालकेन; बन्धनम्=कारागरे निग्रहः, तदेव अपदेशः=व्याजः; यद् वा नरपतिबन्धनम् अपदेशः यस्याः सा नरपतिबन्धनापदेशा या व्यापत्तिः=महाविपत्तिः, तद्रूपं तत्सम्बन्धि यद् व्यसनम्, तदेव महार्णवः=महासमुद्रः, तम्, हित्वा=त्यक्त्वा, समुत्तीर्य, पादाग्रे=एकपादस्याधो-भागे, स्थितः=विद्यमानः, यो निगडः=बन्धनशृङ्खला; 'बेड़ी' इति भाषायाम्, स एव एकपाशः, तं कर्षति=धारयति, तथोक्तः, अहम्=गोपालदारक आर्यकः, बन्धनात्=शृंखलादितः, प्रभ्रष्टः=प्रमुक्तः, गजः=हस्ती, इव=यथा, भ्रमामि=इतस्ततो विचरामि। उपमालंकारः, प्रहर्षिणी वृत्तम् ।। १ ।।

विमर्श—किसी सिद्ध पुरुष ने यह भविष्यवाणी की थी कि गोपालपुत्र आर्यक राजा बनेगा। वह सुन कर तत्कालीन राजा पालक घबड़ा गया। उसने आर्यक को बिना अपराध ही जेल में बन्द करवा दिया था। वह शर्विलक के सहयोग से किसी प्रकार जेल से निकलकर बाहर आ गया। वह अपनी अवस्था बन्धन से छूटे हुये हाथी के समान बता रहा है।

बन्धन के बहाने—यहाँ अपह्नुति, संकटरूपी महार्णव में रूपक और गज इव में उपमा है, सभी का संकर है, प्रहर्षिणी छन्द है ।। १ ।।

शब्दार्थ—सिद्धादेशजनितपरित्रासेन=सिद्ध महापुरुष की भविष्यवाणी से भय-भीत, घोषात्-अहीरों की बस्ती से, विशसने=मृत्युतुल्य कष्टकारक, परिभ्रष्टः=प्रमुक्त हो गया।

अर्थ—अरे ! सिद्ध महात्मा द्वारा की गई भविष्यवाणी से भयभीत राजा पालक द्वारा अहीरों की बस्ती से लाकर मृत्युकारक गूढ़ कारागार में बन्धनों (हथकड़ी और बेड़ियों) से बांध दिया गया था। उस कारागार के बन्धन से प्रिय मित्र शर्विलक की कृपा से मुक्त हो गया हूँ। (आँसू गिराकर)

भाग्यानि मे यदि तदा मम कोऽपराधो
यद्वन्यनाग इव संयमितोऽस्मि तेन।
दैवी च सिद्धिरपि लङ्घयितुं न शक्या
गम्यो नृपो बलवता सह को विरोधः ? ॥ २ ॥

टीका—सिद्धस्य=सिद्धिसम्पन्नस्य महापुरुषस्य, आदेशेन=कथनेन, घोषणया, जनितः=उत्पन्नः, परित्रासः=स्वराज्यहानिरूपं भयं यस्य तादृशेन, पालकेन=एतन्नामकेन, घोषात्=आभीरपल्लीतः, विशसने=मृत्युतुल्यकष्टकारके, गूढ़ागारे=गुप्ते कठिने च कारागारे, तस्मात्=गूढ़ागारात्, बन्धनात्=हस्तपादसंलग्न-लौहादि-बन्धनात्, परिभ्रष्टः=प्रमुक्तः।

अन्वयः—यदि, मे, भाग्यानि, तदा, मम, कः, अपराधः, यत्, तेन, वन्यनागः, इव, संयमितः, अस्मि, दैवी, च, सिद्धिः, अपि, लङ्घयितुम्, न, शक्या, [तथापि], नृपः, गम्यः, बलवता, सह, कः, विरोधः ? ॥ २ ॥

शब्दार्थ—यदि=यदि, मे=मुझ आर्यक के, भाग्यानि=(राजा बनने के) भाग्य हैं, तदा=तब, मम=मेरा, कः=कौन सा, अपराधः=गल्ती, है, यत्=जिसके कारण, तेन=इस राजा पालक ने, वन्यनागः इव=जंगली हाथी के समान, संयमितः =बांध दिया गया, अस्मि=हूँ, दैवी=भाग्य से होने वाली, सिद्धिः=राज्यादि की प्राप्ति, अपि=भी, लंघयितुम्=टाली जाने के लिये, न=नहीं, शक्या=योग्य, है, [तथापि=फिर भी] नृपः=राजा, गम्यः=सभी के द्वारा सेवा करने योग्य होता है, बलवता=बलशाली के साथ, कः=कौन, विरोधः=झगड़ा ? ॥ २ ॥

अर्थ—यदि [राज्यप्राप्ति करना] मेरे भाग्य हैं तो इसमें मेरा क्या अपराध है जिसके कारण उस राजा पालक ने मुझे जंगली हाथी के समान बन्धन में डलवा दिया था। भाग्य से होने वाली सिद्धि (राज्यादिप्राप्ति) टाली नहीं जा सकती। (यह सच है फिर भी) राजा (सभी के लिये) सेवा करने योग्य है, (क्योंकि) बलवान् के साथ क्या विरोध ? [भाग्य में यदि राज्यप्राप्ति है तो वह अवश्य होगी अतः राजा के साथ मेरे विरोध का औचित्य नहीं है।] ॥२॥

टीका-भाग्यवशात् राज्यप्राप्तिनिश्चये सति राज्ञा विरोधो न करणीय इति प्रतिपादयति—यदीति। यदि=चेत्, मे=मम आर्यकस्य, भाग्यानि=राज्यादि-सुखभोगादीनि पूर्वतः निश्चितानि, अवश्यप्राप्तव्यानि, तदा=तर्हि, मम=मे; कः= कीदृशः, अपराधः=दोषः ? अत्र विषये अहं कथमपि न दोषीति भावः। यत्= यस्मात्, तेन=पालकेन राज्ञा, वन्यः=वने भवः, नागः=गजः, आरण्यो हस्ती, इव, संयमितः=बद्धः, अस्मि, दैवी=देवाद् आगता; सिद्धिः=राज्यादिप्राप्तिः, अपि, लंघयितुम्=वारयितुम्, न=नैव, शक्या=योग्या, मम भाग्ये यल्लिखितं तदवश्यमेव

तत् कुत्र गच्छामि मन्दभाग्यः ? (विलोक्य) इदं कस्यापि साधोर-नावृतपक्षद्वारं गेहम् ।

इदं गृहं भिन्नमदत्तदण्डो विशीर्णसन्धिश्च महाकपाटः ।
ध्रुवं कुटुम्बी व्यसनाभिभूतां दशां प्रपन्नो मम तुल्यभाग्यः ॥ ३ ॥

प्राप्स्यतीति ज्ञात्वा न केनापि तद् वारयितुं शक्यते । तथापि=पूर्वस्थितौ सत्यामपि, नृपः=राजा, गम्यः=सर्वैः सेव्यः, भवतीति शेषः, यतो हि, बलवता=बलशालिना लोकेन सह, कः=कीदृशः, विरोधः=वैरम्, निर्बलस्येति शेषः । एवञ्च नाहं तेन सह शत्रुतामिच्छामीति तस्य भावः । अत्रोपमार्थान्तरन्यासावलंकारौ, वसन्ततिलका वृत्तम् ॥ २ ॥

विमर्श—आर्यक भाग्य की महिमा बताते हुये राजा पालक की आलोचना करता हुआ भी उससे वैर करने के पक्ष में नहीं है । इस श्लोक में उपमा और अर्थान्तरन्यास अलंकार हैं । वसन्ततिलका छन्द है ॥ २ ॥

शब्दार्थ—मन्दभाग्यः=अभागा, साधोः=सज्जन पुरुष का, अनावृतपक्षद्वारम्=खुले हुये बगल के दरवाजा वाला, गेहम्=घर ।

अर्थ—तो अब अभागा मैं कहाँ जाऊ ? (देखकर) यह किसी सज्जन पुरुष का घर है जिसका बगलवाला दरवाजा खुला हुआ है ।

टीका—मन्दभाग्यः=मन्दं भाग्यं यस्य सः, भाग्यहीन इत्यर्थः, साधोः=सज्जनस्य, पक्षस्य=पार्श्वस्य, द्वारम्=पक्षद्वारम्, अनावृतम्=उद्घाटितं पक्षद्वारं यस्य तत् गेहम्=गृहम् ।

अन्वयः—इदम्, गृहम्, भिन्नम्, अदत्तदण्डः, विशीर्णसन्धिः, महाकपाटः, च, अस्ति, (एतेन प्रतीयते यत्) मम, तुल्यभाग्यः, कुटुम्बी, ध्रुवम्, व्यसनाभिभूताम्, दशाम्, प्रपन्नः, [अस्ति] ॥ ३ ॥

शब्दार्थ—इदम्=यह, सामने दिखाई देनेवाला, गृहम्=घर, भिन्नम्=टूटा फूटा हुआ, च=और, अदत्तदण्डः=ब्योड़ा से शून्य, विशीर्णसन्धिः=खुले हुये जोड़ोंवाला, महाकपाटः=विशाल किवाड़ है, [अतः इससे, प्रतीयते=प्रतीत होता है, यत्=कि], मम=मेरे, तुल्यभाग्यः=समान भाग्यवाला, अभागा, कुटुम्बी=परिवारवाला, ध्रुवम्=निश्चित ही, व्यसनाभिभूताम् = परेशानियों से युक्त, दशाम्=दुर्दशा को, प्रपन्नः=प्राप्त हो चुका है ॥ ३ ॥

अर्थ—**यह घर टूटा फूटा है । बिना ब्योड़ावाला, ढीले हुये जोड़ोंवाला विशाल किवाड़ है । [इससे यह प्रतीत होता है कि] मेरे समान भाग्यवाला अर्थात् अभागा यह परिवारवाला निश्चित ही दुःखों से युक्त दुर्दशा को प्राप्त हो चुका है ॥ ३ ॥**

तदत्र तावत् प्रविश्य तिष्ठामि ।

(नेपथ्ये)

जाध गोणा ! जाध । (यातं गावौ ! यातम् ।)

आर्यकः—(आकर्ण्य) अये ! प्रवहणमित एवाभिवर्त्तते ।

भवेद् गोष्ठीयानं न च विषमशीलैरधिगतं
वधूसंयानं वा तदभिगमनोपस्थितमिदम् ।
बहिर्नेतव्यं वा प्रवर-जन-योग्यं विधिवशाद्
विविक्तत्वाच्छून्यं मम खलु भवेद्दैवविहितम् ॥ ४ ॥

इसलिये इसमें घुसकर (छिपकर) बैठता हूँ ॥ ३ ॥

टीका—सम्मुखस्थं जीर्णं शीर्णं गृहं विलोक्य तत्स्वामिनोऽपि स्वतुल्यां दुर्दशां प्रतिपादयति—इदमिति । इदम् = पुरोदृश्यमानम्, गृहम्=भवनम्, भिन्नम्=अनेकभागेषु विदीर्णम्, अस्ति, च=तथा, अदत्तदण्डः=अदत्तः दण्डः=पृष्ठभागे अवरोधाय काष्ठविशेषः, अर्गला वा यस्य तादृशः, विशीर्णसन्धिः=विशीर्णः=विश्रृंखलितः सन्धिः = काष्ठखण्डानां संयोजनस्थानानि यस्य सः, एतद् द्वयमयि महाकपाटस्य विशेषणम्, महाकपाटः=विशालकपाटः, अस्ति, [एतेन इदं प्रतीयते=ज्ञायते यत्] मम=आर्यकस्य, तुल्यभाग्यः=सदृशं भाग्यं यस्य तादृशः, भाग्यहीन इत्यर्थः, कुटुम्बी=गृहाधिपतिः, ध्रुवम्= निश्चितरूपेण, व्यसनाभिभूताम्=विपत्तिसमाक्रान्ताम्, दशाम्=दुरवस्थाम्, प्रपन्नः=प्राप्तः, एवञ्चायमपि मत्सदृश एव वर्तते । अतोऽयं मां रक्षिष्यतीति भावः । अत्रोपमालंकारः, उपेन्द्रवज्रा च वृत्तम् ॥ ३ ॥

विमर्शः—यहाँ 'अदत्तदण्डः' और 'विशीर्णसन्धिः' ये दोनों महाकपाट के विशेषण हैं । किवाड़ों के पीछे की ओर सुरक्षा के लिये एक लकड़ी लगाई जाती है, जिसे 'व्योड़ा' कहा जाता है, वह बन्द दरवाजे में ही लगता है । सांकड़ के स्थान पर भी इसका प्रयोग होता है । यह यहाँ नहीं लगा है क्योंकि दरवाजा खुला है । लकड़ियों के जोड़ ढीले होने से उस किवाड़ में कई काष्ठखण्ड लगे हुये प्रतीत होते हैं । विशाल भवन और विशाल दरवाजा देखकर मकान-मालिक की बीती हुई सम्पन्नता का अनुमान होता है । यहाँ उपमा अलंकार और उपेन्द्रवज्रा छन्द है ॥ ३ ॥

(नेपथ्य में)

अर्थ—चलो बैलों, चलो ।

अन्वयः—इदम्, विषमशीलैः, अधिगतम्, गोष्ठीयानम्, न, च, भवेत्, वा, वधूसंयानम्, तदभिगमनोपस्थितम्, [भवेत्], अथवा, प्रवरजनयोग्यम्, बहिः, नेतव्यम्, [भवेत्], विधिवशात्, विविक्तत्वात्, शून्यम्, मम, खलु, दैवविहितम्, भवेत् ॥ ४ ॥

(ततः प्रवहणेन सह प्रविश्य ।)

शब्दार्थ—इदम्=यह सामने आती हुई, विषमशीलैः=बुरे लोगों द्वारा, अधिगतम्=युक्त, बैठी हुयी, गोष्ठीयानम्=उत्सव या सभा आदि में जानेवाली गाड़ी, न च = न, भवेत्=हो, वा=अथवा, वधूसंयानम् = बहू को ले जानेवाली गाड़ी, तदभिगमनोपस्थितम्=उसे ले जाने के लिये आयी हुई, हो, वा=अथवा, प्रवरजनयोग्यम्=श्रेष्ठ लोगों के योग्य, बहिः=बाहर, नेतव्यम्=ले जाने योग्य, [न भवेत्=न हो] अथवा, विधिवशात् = भाग्यवश, विविक्तत्वात्=खाली होने से, मम=मेरे लिये, खलु=निश्चित रूप से, दैवविहितम्=विधि द्वारा भेजी हुई, भवेत्=हो ।।४।।

अर्थ—आर्यक—(सुनकर) यह गाड़ी इधर ही आ रही है—

यह बुरे लोगों द्वारा चढ़ी गई किसी उत्सवादि में जानेवाली गाड़ी न हो, अथवा बहू की गाड़ी उसे ले जाने के लिये आई हुई न हो, अथवा श्रेष्ठ व्यक्तियों के योग्य बाहर ले जानेवाली हो, अथवा भाग्यवश और किसी के न होने के कारण शून्य यह निश्चित ही परिजनादिरहित मेरे भाग्य से आई हुई हो ।। ४ ।।

टीका—पुरोदृश्यमानं यानं विलोक्य विविधं संकल्पयति आर्यकः—भवेदिति । इदम्=पुरोविद्यमानम्, विषमम्=अनुचितं, शीलम्=स्वभावो येषां तादृशैः, दुर्जनैरित्यर्थः, अधिगतम् = आरूढम्, गोष्ठीयानम्=सभोत्सवादिवाहनम्, न च, भवेत्, सम्भावनायां लिङ्, वा=अथवा, वधूसंयानम्=वध्वाः पतिगृहादौ नयनाय वाहनम्, तस्या अभिगमनायोपस्थितम् भवेत्, अथवा, प्रवराणाम्=श्रेष्ठानां जनानां योग्यम्=अनुरूपम्, बहिः नेतव्यम्=बाह्यप्रदेशे नेतुं योग्यम्, भवेत्, विधिवशात्=भाग्यवशात्, विक्तित्वात्=परिजनादिरहितत्वात्, शून्यम्=रिक्तम्, आरोहणयोग्यमिति भावः, मम=आर्यकस्य, खलु=निश्चयेन, दैवविहितम्=विधिप्रेषितम्, भवेत् । अत्र सन्देहालंकार इति केचित् । शिखरिणी वृत्तम् ।। ४ ।।

विमर्श—सामने आती हुई गाड़ी को देखकर आर्यक अनेक संकल्प-विकल्प करता हुआ अपने लिये ही आयी हुई समझने लगता है । गोष्ठीयानम्=गोष्ठी में ले जानेवाली गाड़ी । विविक्तत्वात् शून्यम् = परिजन आदि किसी के न होने से खाली है; अतः मेरे बैठने योग्य है । यहाँ अनेक विकल्प होने से सन्देह नामक अलंकार है । शिखरिणी छन्द है ।। ४ ।।

शब्दार्थ—अवस्थितम् = सामने खड़ी है, गणिकाप्रवहणम्=वेश्या की गाड़ी, बहिर्यानम्=बाहर जानेवाली, अधिरोहामि=चढ़ता हूँ, नस्यकटुकौ=नाक में नाथ=रस्सी पड़ी होने से तेज भागनेवाले, पादोत्फालचालितानाम्=पैरों को ऊपर उठाने के लिये चलाये = हिलाये गये, विश्रान्तः = बन्द हो गया, भाराक्रान्तम् = बोझा से भरी हुई ।

(इसके बाद प्रवहण=गाड़ी के साथ प्रवेश करके)

वर्द्धमानकश्चेटः—हीणामहे ! आणीदे मए जाणत्थलके । रदणिए ! णिवेदेहि अज्जआए वशन्तशेणाए 'अवत्थिदे शज्जे पवहणे अहिलुहिअ पुप्फकलण्डअं जिण्णुज्जाणं गच्छदु अज्जआ ।' (आश्चर्यम् ! आनीतं मया यानास्तरणम् । रदनिके ! निवेदय आर्यायै वसन्तसेनायै 'अवस्थितं सज्जं प्रवहणम्, अधिरुह्य पुष्पकरण्डकं जीर्णोद्यानं गच्छतु आर्या ।')

आर्यकः—(आकर्ण्य ।) **गणिकाप्रवहणमिदं बहिर्यानिश्च । भवतु, अधिरोहामि ।** (इति स्वैरमुपसर्पति ।)

चेटः—(श्रुत्वा) **कधं णेउलशद्दे ? ता आअदा क्खु अज्जआ । अज्जए ! इमे णश्श-कडुआ वइल्ला, ता पिट्ठदो ज्जेव आलुहदु अज्जआ ।** (कथं नूपुरशब्दः ? तदागता खलु आर्या । आर्ये ! इमौ नस्यकटुकौ बलीवर्दौ; तत् पृष्ठत एवारोहतु आर्या ।)

(आर्यकस्तथा करोति)

चेटः—पादुप्फाल-चालिदाणं णेउलाणं वीशन्तो शद्दो, भलक्कन्ते अ पवहणे; तधा तक्केमि शम्पदं अज्जआए आलुढाए होदव्वं; ता गच्छामि । जाध गोणा ! जाध । (पादोत्फालचालितानां नूपुराणां विश्रान्तः शब्दः । भाराक्रान्तं च प्रवहणम्, तथा तर्कयामि, साम्प्रतमार्यया आरूढया भवितव्यम्, तद्गच्छामि । यातं गावौ यातम् ।) (इति परिक्रामति ।)

अर्थ—वर्धमानक चेट—आश्चर्य है ! मैं गाड़ी का विछावन ले आया हूँ । रदनिके ! वसन्तसेना से यह निवेदन कर दो—'सजी हुई गाड़ी तैयार खड़ी है उस पर चढ़कर आर्या पुष्पकरण्डक नामक जीर्णोद्यान के लिये प्रस्थान करें ।'

आर्यक—(सुनकर) यह गणिका की गाड़ी है और बाहर जानेवाली है । अच्छा, चढ़ता हूँ । (यह कहकर धीरे-धीरे पास जाता है ।)

चेट—(सुनकर) क्या नूपुरों की आवाज है ? इसलिये लगता है कि आर्या आ गई । आर्ये ! नाक में नाथ (रस्सी) पड़ी होने से अधिक तेज भागनेवाले ये बैल हैं । इसलिये आप पीछे की ओर से ही गाड़ी पर चढ़िये ।

(आर्यक वैसा ही करता है अर्थात् पीछे से चढ़ता है ।)

चेट—पैर ऊपर उठाने से हिले हुये नूपुरों की आवाज शान्त हो गई है । और गाड़ी बोझ से भर गई है, इसलिये यह अनुमान करता हूँ कि आर्या चढ़ चुकी होंगी, अतः अब चलूं । चलो, बैलों ! चलो । (यह कहकर घूमता है ।)

टीका—पृष्ठतः=पृष्ठभागादेव, पादयोः =चरणयोः, उत्फालनेन=आरोहणावसरे उन्नयनेन चालितानाम् = सञ्चालितानाम्, प्रकम्पितानाम्, शब्दः = ध्वनिः,

(प्रविश्य)

वीरकः—अरे रे अरे ! जअ-जअमाण-चन्दणअ-मङ्गलफुल्ल-भद्दप्पमुहा !

(अरे रे अरे ! जय-जयमान-चन्दनक-मङ्गल-पुष्पभद्र-प्रमुखाः !)

किं अच्छध वीसद्धा जो सो गोवालदारओ रुद्धो ।
भेत्तूण समं वच्चइ णरवइ-हिअअं बन्धणं अ ॥ ५ ॥

(किं स्थ विश्रब्धाः, यः स गोपालदारको रुद्धः ।
भित्वा समं व्रजति नरपतिहृदयं बन्धनञ्च ॥ ५ ॥)

विश्रान्तः=शान्तिमुपगतः, भारेण आक्रान्तम्=व्याप्तम्, आरुढया=आरुह्य स्थितया, यातम्=चलतम् ।

अन्वयः—विश्रब्धाः, किम्, स्थ, यः, गोपालदारकः, अवरुद्धः, सः, नरपति-हृदयम्, बन्धनम्, च, समम्, भित्वा, व्रजति ॥ ५ ॥

शब्दार्थ—विश्रब्धाः = निश्चिन्त होकर, किम्=क्यों, स्थ=बैठे हो, यः=जो, गोपालदारकः=अहीर का लड़का आर्यक, अवरुद्धः=कारागार में बन्दी किया गया था, सः = वह, नरपतिहृदयम् = राजा के हृदय को, च=और, बन्धनम्=बन्धन, हथकड़ी बेड़ी को, समम्=एक साथ, भित्वा=तोड़कर, व्रजति=भाग रहा है, भाग गया है ॥ ५ ॥

(प्रवेश करके)

अर्थ—वीरक—अरे रे अरे ! जय, जयमान, चन्दनक, मंगल और पुष्पभद्र आदि प्रधान रक्षकों !

तुम लोग निश्चिन्त होकर क्यों बैठे हुये हो, अहीर का जो लड़का (आर्यक) जेलमें बन्द किया गया था वह राजा (पालक) के हृदय को और बन्धन को एक साथ तोड़कर जा रहा है, भाग गया है ॥ ५ ॥

टीका—आर्यकस्य पलायनं सूचयति—किमिति । अरे रे इत्यादिगद्यस्थेनान्वयः । विश्रब्धाः=विश्वस्ताः, निश्चिन्ता इति भावः, किम्=कथम्, स्थ=तिष्ठथ, यः, गोपालस्य दारकः=पुत्रकः आर्यकनामा, रुद्धः=कारागारेऽवरुद्धः, सः, नरपतेः=पालकस्य, हृदयम्=चित्तम्, जीवनमिति भावः, बन्धनम्=शृंखलादिकम्, च, समम्=सहैव, भित्वा=विदार्य, व्रजति=इतः पलाय्य गच्छतीत्यर्थः । सहोक्तिरलंकारः आर्या वृत्तम् ॥ ५ ॥

विमर्श—वीरक का आशय यह है कि वह गोपाल बन्धन तोड़कर ही नहीं अपितु राजा पालक का दिल भी तोड़कर भागा है क्योंकि उसके भाग जाने से राजा को भविष्यवाणी के अनुसार अपने राज्य की हानि की शंका बढ़ जाती है । यहाँ सहोक्ति अलंकार है, आर्या छन्द है ॥ ५ ॥

शब्दार्थ—पुरस्तात्=पूरब की ओर, प्रतोलीद्वारे=गली के मुहाने, प्राकारखण्डः=चहारदीवारी का हिस्सा, अधिरुह्य=चढ़कर ।

अले पुरत्थिमे पदोली-दुआरे चिट्ठ तुमं। तुमं पि पच्छिमे, तुमं पि दक्खिणे, तुमं पि उत्तरे। जो वि एसो पाआरखण्डो, एदं अहिरुहिअ चन्दणेण समं गदुअ अवलोएमि। एहि चन्दणअ! एहि, इदो दाव।
(अरे! पुरस्तात् प्रतोलीद्वारे तिष्ठ त्वं, त्वमपि पश्चिमे, त्वमपि दक्षिणे, त्वमपि उत्तरे। योऽपि एष प्रकारखण्डः, एतमधिरुह्य चन्दनेन समं गत्वा अवलोकयामि। एहि चन्दनक! एहि, इतस्तावत्।)

(प्रविश्य सम्भ्रान्तः)

चन्दनकः— अरे रे वीरअ-विसल्ल-भीमङ्गअ-दण्डकालअ-दण्डसूर-प्पमुहा! (अरे रे वीरक-विशल्य-भीमाङ्गद-दण्डकाल-दण्ड-शूरप्रमुखाः!)

आअच्छध वीसत्था तुरिअं जत्तेह लहु करेज्जाह।
लच्छी जेण ण रण्णो पहवइ गोत्तंतरं गंतुं॥ ६॥
(आगच्छत विश्वस्तास्त्वरितं यतध्वं लघु कुरुत।
लक्ष्मीर्येन न राज्ञः प्रभवति गोत्रान्तरं गन्तुम्॥ ६॥)

अर्थ—अरे! पूरब की ओर गली के मुहाने पर तुम बैठो, तुम पश्चिम की ओर, तुम दक्षिण की ओर, तुम उत्तर की ओर। जो यह चहारदीवार का हिस्सा है, इस पर चढ़ कर चन्दनक के साथ मैं देखता हूँ। आओ चन्दनक! आओ इधर आओ।

अन्वयः—हे विश्वस्ताः! आगच्छत, त्वरितम्, यतध्वम्, लघु, कुरुत, येन, राज्ञः, लक्ष्मीः, गोत्रान्तरम्, गन्तुम्, न, प्रभवति॥ ६॥

शब्दार्थ—हे विश्वस्ताः = विश्वास रखनेवाले लोगों, आगच्छत = आओ, त्वरितम्=शीघ्र ही, यतध्वम्=प्रयास करो, लघु=शीघ्र ही, कुरुत=आवश्यक काम करो, येन=जिससे, राज्ञः=राजा पालक की, लक्ष्मीः=राज्यलक्ष्मी, गोत्रान्तरम्= किसी दूसरे वंश के पास, गन्तुम् = जाने के लिये, न = नहीं, प्रभवति = समर्थ हो सके॥ ६॥

(घबड़ाया हुआ प्रवेश करके)

अर्थ—चन्दनक—अरे! वीरक, विशल्य, भीम, अंगद, दण्डकाल, दण्डशूर आदि प्रधान रक्षकों!

विश्वस्त लोगों आओ, शीघ्र ही प्रयास करो, जल्दी (अपेक्षित) कार्य करो, जिससे राजा पालक की राज्यलक्ष्मी दूसरे कुल [में उत्पन्न व्यक्ति] के पास न जा सके॥ ६॥

टीका—आर्यकग्रहणार्थं ये विश्वासयुक्ताः ते त्वरितमागत्य यथोचितं कुर्युरिति सूचयितुमाह—आगच्छतेति। विश्वस्ताः = आर्यकं ग्रहीष्यामीति विश्वासवन्तः,

अवि अ (अपि च)

उज्जाणेसु सहासु अ मग्गे णअरीअ आवणे घोसे ।
तं तं जोहह तुरिअं संका वा जाअए जत्थ ॥ ७ ॥
(उद्यानेषु सभासु च मार्गे नगर्यामापणे घोषे ।
तं तमन्वेषयत त्वरितं शङ्का वा जायते यत्र ॥ ७ ॥)
रे रे वीरअ ! किं किं दरिसेसि भणाहि दाव वीसद्धं ।
भेत्तूण अ बन्धणअं को सो गोवालदारअं हरइ ॥ ८ ॥
(रे रे वीरक ! किं किं दर्शयसि भणसि तावद्विश्रब्धम् ।
भित्त्वा च बन्धनकं कः स गोपालदारकं हरति ॥ ८ ॥)

यद्वा मयि विश्वासवन्तः, जनाः, आगच्छत=आयात, त्वरितम्=सत्वरम्, यतध्वम्=तद्ग्रहणाय प्रयत्नं कुरुध्वम्, लघु=शीघ्रमेव, कुरुध्वम्=अपेक्षितं कार्यं सम्पादयत, येन=येन हेतुना, राज्ञः=नृपस्य पालकस्य, राज्यलक्ष्मीः=राज्यश्रीः, गोत्रान्तरम्=पालकाद्भिन्नस्य आर्यकस्य समीपम्, गन्तुम्=व्रजितुम्, न=नैव, प्रभवति=समर्था भवेत् । गाथा वृत्तम् ॥ ६ ॥

अन्वयः—उद्यानेषु, सभासु, मार्गे, नगर्याम्, आपणे, घोषे, च, यत्र, वा, शङ्का जायते, तम्, तम्, त्वरितम्, अन्वेषयत ॥ ७ ॥

शब्दार्थ—उद्यानेषु=बगीचों में, सभासु=सभाओं में, मार्गे=रास्ते में, नगर्याम्=नगरी में, आपणे=बाजार में, च=और, घोषे=अहीरों की बस्ती में, वा=अथवा, यत्र यत्र=जहाँ जहाँ, शंका=सन्देह, जायते=उत्पन्न होता हो, तम् तम्=उस उसको, त्वरितम्=शीघ्र ही, अन्वेषयत=खोजो ॥ ७ ॥

अर्थ—बगीचों में, सभाओं में, रास्ते में, नगर में, बाजार में और बस्ती में अथवा जहाँ जहाँ सन्देह हो जाय उस उसको शीघ्र ही खोजो ॥ ७ ॥

टीका—रक्षकान् अन्वेषणीयस्थानानि सूचयति—उद्यानेष्विति । उद्यानेषु=आक्रीडेषु, सभासु=उत्सवादिस्थलेषु, मार्गे=पथि, नगर्याम्=नगरमध्ये, आपणे=हट्टे, च=तथा, घोषे=आभीरपल्ल्याम्, वा=अथवा, यत्र यत्र=यस्मिन् यस्मिन् स्थाने, शङ्का=आर्यकसद्भावसन्देहः, जायते=उत्पद्यते, तम् तम्=स्थानविशेषम्, त्वरितम्=शीघ्रमेव, अन्वेषयत=गवेषयत । आर्या वृत्तम् ॥ ७ ॥

विमर्श—यहाँ सभा शब्द से वे सभी स्थान लेने चाहिये जहाँ कई लोग एकत्रित होकर बैठे हों । 'नगरी' इससे नगर का घनी आबादीवाला क्षेत्र लेना चाहिये । यहाँ आर्या अथवा गाथा छन्द है ॥ ७ ॥

अन्वय—रे रे वीरक ! किम्, किम्, दर्शयसि, विश्रब्धम्, तावत्, भणसि, बन्धनकम्, भित्त्वा, सः, कः, गोपालदारकम्, हरति ? ॥ ८ ॥

(युग्मकम्)

कस्सट्ठमो दिणअरो कस्स चउत्थो अ बट्टए चन्दो ।
छट्ठो अ भग्गवगहो भूमिसुओ पंचमो कस्स ॥ ६ ॥
(कस्याष्टमो दिनकरः कस्य चतुर्थश्च वर्त्तते चन्द्रः ।
षष्ठश्च भार्गवग्रहो भूमिसुतः पञ्चमः कस्य ॥ ६ ॥)

शब्दार्थ—रे रे वीरक !=अरे वीरक !, किम् किम्=क्या क्या, दर्शयसि=दिखा रहे हो, दूसरों को देखने के लिये कह रहे हो, विश्रब्धम्=विश्वस्त होते हुये, तावत्=निश्चय रूप से, भणसि = कह रहे हो, बन्धनकम् = हथकड़ी और बेड़ीको, भित्त्वा=तोड़कर, सः=वह, कः=कौन, गोपालदारकम्=अहीर के बच्चे को, आर्यक को, हरति=लेकर भाग रहा है ? ॥ ८ ॥

अर्थ—अरे अरे वीरक ! क्या क्या दिखला रहे हो ? (देखने के लिये कह रहे हो ?) विश्वास के साथ क्या कह रहे हो, बंन्धन तोड़कर वह कौन गोपाल के बेटे आर्यक को लेकर भाग रहा है ॥ ८ ॥

टीका—चन्दनकः गोपालदारकहरणे आश्चर्यं व्यनक्ति—रे रे इति । रे रे वीरक !=अरे अरे वीरक ! सेनाप्रमुख !, किम् किम्=स्थानविशेषम्, दर्शयसि= अवलोकनाय निर्दिशसि; विश्रब्धम्=विश्वासपूर्वकम्, तावत्=वाक्यालंकारे, आश्चर्ये वा, भणसि=कथयसि, बन्धनकम्—कारागृहसम्बन्धिबन्धनसमूहम्, भित्त्वा=विदार्य, सः, कः=किन्नामा, गोपालदारकम्=आभीरपुत्रम् आर्यकमित्यर्थः हरति=रक्षिणः पराभूय बलपूर्वकम् नयति । आर्या गाथा वा वृत्तम् ॥ ८ ॥

विमर्श—दर्शयसि—'यह देखने के लिये प्रेरित कर रहे हो'—इस भाव का सूचक है। विश्रब्धं भणसि तावत्—तुम क्या विश्वासपूर्वक ऐसा कह रहे हो । 'कः सः' किसमें इतनी शक्ति आ गई जो यह दुःसाहस कर रहा है ॥ ८ ॥

अन्वय—कस्य, अष्टमः, दिनकरः, कस्य, चतुर्थः, चन्द्रः, कस्य, षष्ठः, भार्गवग्रहः, कस्य, च, पञ्चमः, भूमिसुतः, वर्तते ॥ ६ ॥

शब्दार्थ—कस्य=किसका, अष्टमः=आठवाँ, दिनकरः=सूर्य (है), कस्य= किसका, चतुर्थः = चौथा, चन्द्रः = चन्द्रमा (है), कस्य=किसका, षष्ठः=छठा, भार्गवग्रहः=शुक्र (है), च=और, पञ्चमः=पाँचवाँ, भूमिसुतः=मंगल, वर्तते=है ॥९॥

अर्थ—किसका आठवाँ सूर्य है ? किसका चौथा चन्द्रमा है ? किसका छठा शुक्र है ? और किसका पाँचवाँ मंगल है । अर्थात् इन स्थानों में उक्त ग्रह किसके जन्मपत्र में हैं ? ॥ ९ ॥

टीका—आर्यकस्यापहारकस्य मृत्युयोगमाह—कस्येति । कस्य=जनस्य, अष्टमः =अष्टमस्थानीयः, दिनकरः=सूर्यः, कस्य=जनस्य, चतुर्थः=चतुर्थस्थानीयः, चन्द्रः= निशाकरः, कस्य=जनस्य, भार्गवग्रहः=शुक्रः, षष्ठः=षष्ठस्थानीयः, च=तथा, कस्य=

भण कस्स जम्म–छट्ठो जीवो णवमो तहेअ सूरसुओ ।
जोअंते चंदणए को सो गोवालदारअं हरइ ॥ १० ॥
(भण कस्य जन्मषष्ठो जीवो नवमस्तथैव सूरसुतः ।
जीवति चन्दनके कः स गोपालदारकं हरति ॥ १० ॥)

वीरकः——भड चन्दणआ ! (भट चन्दनक !)

अवहरइ कोवि तुरिअं चंदणअ ! सवामि तुज्ज हिअएण ।
जह अद्धुइद–दिणअरे गोवालअ–दारओ खुड़िदो ॥ ११ ॥

जनस्य, पञ्चमः = पञ्चमस्थानीयः, भूमिसुतः = भौमः, वर्तते इति शेषः । एवञ्चै-तादृशग्रहयोगवतस्तस्य गोपालदारकापहारकस्य तस्य मृत्युर्ध्रुव इति भावः । आर्या वृत्तम् ॥ ९ ॥

विमर्श——यहाँ ज्योतिषशास्त्रानुसार मृत्युयोग का लक्षण बताया गया है । इसे और अग्रिम श्लोक को मिलाकर यह 'युग्मक' है ॥ ९ ॥

अन्वयः——भण, कस्य, जीवः, जन्मषष्ठः, तथा, सूरसुतः, नवमः, कः, सः, चन्दनके, जीवति, गोपालदारकम्, हरति ॥ १० ॥

शब्दार्थ——भण = बताओ, कस्य = किसके, जीवः=बृहस्पति, जन्मषष्ठः=जन्मराशि से या लग्न से छठें है, तथा, सूरसुतः=शनि, नवमः=नवें स्थान पर है, कः सः = वह कौन है, (जो), चन्दनके = चन्दनक के, जीवति=जीवित रहते, गोपालदारकम् = अहीर के बेटा आर्यक को, हरति = (कारागार से) ले जा रहा है ॥ १० ॥

अर्थ——बताओ, किसका बृहस्पति जन्मराशि (या लग्न) से छठे स्थान पर है और शनि नवम स्थान पर है ? वह कौन है जो (मुझ) चन्दनक के जीवित रहते गोपालपुत्र आर्यक को ले जा रहा है ? ॥ १० ॥

टीका——पुनरपि अपहारकस्य मृत्युयोगमेवाह——भणेति । भण=कथय, कस्य=जनस्य, जीवः = बृहस्पतिः, जन्मषष्ठः=जन्मराशेः लग्नात् वा षष्ठस्थानीयः, तथा, सूरसुतः=सूर्यपुत्रः शनिः, नवमः=नवमस्थानीयः, कः सः=किन्नामा सः, यः, चन्दनके=एतन्नामके मयि, जीवति = जीवनं धारयति सति, गोपालदारकम्=गोपालपुत्रम्, आर्यकमित्यर्थः, हरति=बन्धनान्मोचयित्वा, नयति, एवञ्च यस्यैतादृशाः मारणकारका ग्रहाः सञ्जाताः स एव तस्य अपहरणं करिष्यतीति भावः । गाथा वृत्तम् ॥ १० ॥

अन्वयः——हे चन्दनक !, तव, हृदयेन, शपे, कोऽपि, (आर्यकम्) त्वरितम्, अपहरति, यथा, अर्धोदितदिनकरे, गोपालदारकः, खुटितः ॥ ११ ॥

(अपहरति कोऽपि त्वरितं चन्दनक ! शपे तव हृदयेन ।
यथा अर्द्धोदितदिनकरे गोपालक-दारकः खुडितः ॥ ११ ॥),

चेटः—जाध गोणा ! जाध । (यातं गावौ ! यातम् ।)

चन्दनकः—(दृष्ट्वा) अरे रे ! पेक्ख पेक्ख । (अरे रे ! प्रेक्षस्व प्रेक्षस्व ।)

ओहारिओ पवहणो वच्चइ मज्झेण राअमग्गस्स ।
एदं दाव विआरह, कस्स कहिं पवसिओ पवहणो त्ति ॥ १२ ॥
(अपवारितं प्रवहणं व्रजति मध्येन राजमार्गस्य ।
एतत्तावद्विचारय कस्य कुत्र प्रेषितं प्रवहणमिति ॥ १२ ॥)

शब्दार्थ—हे चन्दनक=हे चन्दनक, तव=तुम्हारी, हृदयेन=हृदय से, शपे=शपथ खाता हूँ, कोऽपि = कोई (आर्यकम्=गोपाल के पुत्र), त्वरितम्=शीघ्र ही, अपहरति=लेकर भाग रहा है, यथा = जैसे कि, अर्धोदितदिनकरे=सूर्य के आधा निकलने पर, गोपालदारकः = गोपाल का पुत्र आर्यक, खुटितः = बन्धन तोड़कर भगाया गया ॥ ११ ॥

अर्थ—वीरक – वीर चन्दनक !

मैं तुम्हारे हृदय की शपथ खाता हूँ । हे चन्दनक ! कोई जल्दी से (आर्यक को छुड़ा कर) लेकर जा रहा है । सूर्य के आधा निकलने पर वह गोपालपुत्र [किसी के द्वारा] बन्धन तोड़कर भगाया जा रहा है ॥ ११ ॥

टीका—आर्यकस्य पलायनं सत्यमिति प्रतिपादयति—अपहरतीति । हे चन्दनक !, तव=त्वदीयेन, हृदयेन=चित्तेन, शपे=शपथं गृह्णामि, कोऽपि=अज्ञातनामा, आर्यकम्, त्वरितम्=शीघ्रमेव, अपहरति=बन्धनान्मोचयित्वा नयति, यथा=यतोहि, अर्धोदिते दिनकरे = सूर्ये, गोपालदारकः=गोपालपुत्रः, आर्यकः, खुटितः=बन्धनं विदार्य मोचित इति भावः । आर्या वृत्तम् ॥ ११ ॥

विमर्श—तव हृदयेन शपे=तुम्हारे हृदय से शपथ लेता हूँ -- यह अर्थ सामान्यतया प्रतीत होता है । परन्तु दूसरे के हृदय की शपथ दूसरा ले, यह व्यावहारिक नहीं प्रतीत होता है । अतः हृदयेन तव शपे=अपने हृदय से तुमको शपथ लेकर कहता हूँ—ऐसा भावार्थ करना चाहिये ॥ ११ ॥

अर्थ—चेट –चलो बैलों ! चलो ।

चन्दनक—अरे, अरे, देखो देखो—

अन्वयः—अपवारितम्, प्रवहणम्, राजमार्गस्य, मध्येन, व्रजति, तावत्, एतत्, विचारय, कस्य, प्रवहणम्, कुत्र, प्रेषितम्, इति ॥ १२ ॥

शब्दार्थ—अपवारितम्=वस्त्रादि से ढकी हुई, प्रवहणम्=गाड़ी, राजमार्गस्य=मुख्य मार्ग के, मध्येन=बीच से, व्रजति=जा रही है, तावत्=इसलिये, एतत्=यह,

वीरकः—(अवलोक्य) अरे पवहणवाहआ ! मा दाव एदं पवहणं वाहेहि । कस्सकेरकं एदं पवहणं ? को वा इध आरूढ़ो ? कहिं वा वज्जइ ? (अरे प्रवहणवाहक ! मा तावदेतत् प्रवहणं वाहय । कस्यैतत् प्रवहणम् ? को वा इहारूढः ? कुत्र वा व्रजति ?)

चेटः—**एशे क्खु पवहणे अज्जचालुदत्तश्शकेलके, इध अज्जआ वशन्तशेणा आलूढ़ा, पुप्फुकरण्डअं जिण्णुज्जाणं कीलिदं चालुदत्तश्श णीअदि ।** (एतत् खलु प्रवहणमार्यचारुदत्तस्य, इह आर्या वसन्तसेना आरूढा, पुष्पकरण्डकं जीर्णोद्यानं क्रीडितुं चारुदत्तस्य नीयते' इति ।)

विचारय=सोंचो, विचार करो, कस्य=किसकी, प्रवहणम्=गाड़ी है, कुत्र=कहाँ, प्रेषितम्=भेजी गयी है ।। १२ ।।

अर्थ—[वस्त्रादि से] ढकी हुयी यह किसकी गाड़ी राजमार्ग के बीच से जा रही है, यह विचार करो, किसकी गाड़ी है और कहाँ भेजी गयी है ? ।। १२ ।।

टीका—प्रवहणं विलोक्य तद्विषयिणीं जिज्ञासामाह—अपवारितेति । अपवारितम्=वस्त्रादिनाच्छादितम्, अनिषिद्धं वा, प्रवहणम्=शकटयानम्, राजमार्गस्य=मुख्यमार्गस्य, मध्येन=मध्यभागेन, व्रजति=याति, तावत् हेतोरिति भावः, एतत्=इदम्, विचारय=चिन्तय, पृच्छ वा, कस्य=कस्य जनस्य, प्रवहणम्=शकटयानम्, कुत्र=कस्मिन् स्थाने, प्रेषितम्=गमनाय निर्दिष्टम्, इति=इदं जानीहि । अपवारितेऽस्मिन् प्रवहणे गोपालदारको भवितुमर्हति अतस्त्वरितमेवान्वेषणीयमिदमिति भावः । अत्र गाथा वृत्तम् ।। १२ ।।

विमर्श—अपवारितम्=सामान्यतया इसका अर्थ 'ढका हुआ' होता है । परन्तु-'विना रोकटोक के'—यह भी हो सकता है । क्योंकि जल्दी-जल्दी जानेवाली गाड़ी में छिपा हुआ आर्यक भाग सकता है, ऐसी शंका स्वाभाविक है ।। १२ ।।

शब्दार्थ—इहारूढः=इस गाड़ी पर बैठा है, क्रीडितुम्=क्रीडाविहार के लिये, अनवलोकितः=विना देखी हुई, विनाजाँच पड़ताल की हुई, प्रत्ययेन=विश्वास से, ज्योत्स्नासहितम्=चाँदनी के साथ ।

अर्थ—**वीरक**—(देख कर) अरे गाड़ीवान ! इस गाड़ी को आगे मत ले जाओ । यह किसकी गाड़ी है ? इस पर कौन बैठा है ? और कहाँ जा रही है ?

चेट—यह आर्य चारुदत्त की गाड़ी है । कामक्रीडा-विहारसम्बन्धी इस गाड़ी पर आर्या वसन्तसेना विराजमान हैं । आर्य चारुदत्त के समीप पुष्प-करण्डक जीर्णोद्यान में क्रीडा के लिये ले जाई जा रही है ।

वीरकः—(चन्दनकमुपसृत्य) **एसो पवहणवाहओ भणादि—'अज्ज-चालुदत्तश्श पवहणं, वशन्तशेणा आलूढ़ा, पुप्फकरण्डअं जिण्णुज्जाणं णीअदि' त्ति।** (एष प्रवहणवाहको भणति—'आर्यचारुदत्तस्य प्रवहणम्, वसन्तसेना आरूढ़ा, पुष्पकरण्डकं जीर्णोद्यानं नीयते, इति।)

चन्दनकः—**ता गच्छदु।** (तद्‌गच्छतु।)

वीरकः—**अणवलोइदो ज्जेव ?** (अनवलोकित एव ?)

चन्दनकः—**अध इं।** (अथ किम्।)

वीरकः—**कस्स पच्चाएण ?** (कस्य प्रत्ययेन ?)

चन्दनकः—**अज्जचारुत्तस्स** (आर्यचारुत्तस्य।)

वीरकः—**को अज्जचारुदत्तो ? का वा वसन्तसेणा ? जेण अणवलोइदं वज्जइ।** (क आर्यचारुदत्तः ? का वा वसन्तसेना ? येनानवलोकितं व्रजति।)

चन्दनकः—**अरे ! अज्जचारुदत्तं ण जाणासि ? ण वा वसन्तसेणिअं ? जइ अज्जचारुदत्तं वसन्तसेणिअं वा ण जाणासि, ता गअणे जोण्हासदिदं चन्दं पि तुमं ण जाणासि।** (अरे ! आर्यचारुदत्तं न जानासि ? न वा वसन्तसेनिकाम् ? यदि आर्यचारुदत्तं वसन्तसेनिकां वा न जानासि, तदा गगने ज्योत्स्नासहितं चन्द्रमपि त्वं न जानासि।)

को तं गुणारविन्दं सीलमिअङ्कं जणो ण जाणादि ?
आवण्ण-दुक्ख-मोक्खंचउ-साअर-सारअं रअणं ॥ १३ ॥

वीरक—(चन्दनक के पास जाकर) यह गाड़ीवाला ऐसा कह रहा है—'आर्य चारुदत्त की गाड़ी है। इस पर वसन्तसेना बैठी है। पुष्पकरण्डक जीर्ण उद्यान में ले जाई जारही है ?'

चन्दनक—तो जाने दो।

वीरक—विना देखे हुये ही।

चन्दनक—और क्या ?

वीरक—किसके विश्वास से ?

चन्दनक—आर्य चारुदत्त के।

वीरक—कौन आर्य चारुदत्त ? और कौन वसन्तसेना ? जिनके कारण विना देखे हुये ही जा रही है ?

चन्दनक—अरे आर्य चारुदत्त को नहीं जानते हो ? और न वसन्तसेना को जानते हो ? यदि आर्य चारुदत्त को और वसन्तसेना को नहीं जानते हो तो आकाश में चान्दनी के सहित चन्द्रमा को भी नहीं जानते हो।

अन्वयः—गुणारविन्दम्, शीलमृगाङ्कम्, आपन्नदुःखमोक्षम्, चतुःसागरसारम्, रत्नम्, तम्, कः, जनः, न, जानाति ॥ १३ ॥

(कस्तं गुणारविन्दं शीलमृगाङ्कं जनो न जानाति ?)
आपन्न-दुःखमोक्षं चतुःसागरसारं रत्नम् ॥ १३ ॥)
दो ज्जेव पूअणीआ एत्थ णअरीए तिलअभूदा अ ।
अज्जा वसन्तसेणा, धम्मणिही चारुदत्तो अ ॥ १४ ॥
(द्वावेव पूजनीयौ अत्र नगर्यां तिलकभूतौ च ।
आर्या वसन्तसेना धर्मनिधिश्चारुदत्तश्च ॥ १४ ॥)

शब्दार्थ—गुणारविन्दम्=गुणों के कमल, कमलतुल्य गुणोंवाले, शीलमृगाङ्कम्=स्वभाव में चन्द्रमा के तुल्य, आपन्नदुःखमोक्षम्=शरणागत के दुःख दूर करनेवाले, चतुःसागरसारम्=चारों समुद्रों के सारभूत, रत्नम्=रत्न, तम्=उन आर्य चारुदत्त को, कः जनः=कौन व्यक्ति, न=नहीं, जानाति=जानता है, अर्थात् प्रत्येक व्यक्ति जानता है ॥ १३ ॥

अर्थ—गुणों के कमल अर्थात् कमलतुल्य गुणोंवाले [निर्मल], चन्द्रतुल्य स्वभाववाले [सभी को आनन्दित करनेवाले] शरण में आये हुये के दुःखों को दूर करनेवाले, चारों समुद्रों के सारभूत उन आर्य चारुदत्त को कौन व्यक्ति नहीं जानता है ॥ १३ ॥

टीका—चारुदत्तस्य वैशिष्टयं निर्दिशति—क इति । गुणानाम्=दयादाक्षिण्यादीनाम्, अरविन्दम् = कमलम्, कमलं यथा मधुनः निवासस्थानं तथैव अयमपि सर्वगुणानामास्पदम्, यद्वा गुणा अरविन्दम् इव यस्य तम्, शीलस्य=सत्स्वभावस्य मृगाङ्कम्=चन्द्रम् इव, चन्द्रतुल्यं सर्वेभ्य आनन्दप्रदम्, आपन्नानाम्=शरणागतानाम्, दुःखमोक्षम्=दुःखविनाशकम्, चतुर्णां समुद्राणाम्, सारम्=सारभूतम्, रत्नम्=सर्वोत्कृष्टं मणिम्, तम्=प्रसिद्धम् आर्यचारुदत्तम्, कः जनः=कः पुरुषः, न=नैव, जानाति=वेत्ति । सर्वेऽपि तं सुष्ठु जानन्तीत्यर्थः । रूपकमलंकारः । आर्या वृत्तम् ॥ १३ ॥

विमर्श—गुणारविन्दम्=गुणानाम् अरविन्दम् अथवा गुणैः अरविन्दम् इव—ऐसा विग्रह करके कथञ्चित् समास उपपादित करना चाहिये । इसी प्रकार शीलमृगाङ्कम्=शीले मृगाङ्कम् इव ऐसा विग्रह करना चाहिये । इन दोनों का तात्पर्यार्थ लेना ही उचित है । रूपक अलंकार सम्भव है । आर्या वृत्त है ॥ १३ ॥

अन्वयः—इह, नगर्याम्, द्वौ एव, पूजनीयौ, तिलकभूतौ, च, आर्या, वसन्तसेना, धर्मनिधिः, चारुदत्तः, च ॥ १४ ॥

शब्दार्थ—इह=इस, नगर्याम्=(उज्जयिनी) नगरी में, द्वौ=दो, एव=ही, पूजनीयौ=पूजा के योग्य, च=और, तिलकभूतौ=तिलक के समान सर्वोच्च हैं, आर्या=सम्माननीय, वसन्तसेना=वसन्तसेना, च=और, धर्मनिधिः=धर्म के सिन्धु, चारुदत्तः=चारुदत्त ॥ १४ ॥

वीरकः—अरे चन्दणओ ! (अरे चन्दनक !)

जाणमि चारुदत्तं वसन्तसेणं अ सुट्ठु जाणामि ।
पत्ते अ राअकज्जे पिदरं पि अहं ण जाणामि ॥ १५ ॥
(जानामि चारुदत्तं वसन्तसेनाञ्च सुष्ठु जानामि ।
प्राप्ते च राजकार्ये पितरमपि अहं न जानामि ॥ १५ ॥)

अर्थ—इस उज्जयिनी नगरी में दो ही पूजा के योग्य हैं और तिलकतुल्य सर्वोपरि हैं—(एक) आर्या वसन्तसेना और (दूसरे) धर्मसिन्धु चारुदत्त ॥१४॥

टीका—चारुदत्त—वसन्तसेनयोर्महत्त्वं निर्दिशति—इहेति । इह=अस्याम्, नगर्याम्=उज्जयिन्याम्, द्वौ एव, पूजनीयौ=पूजार्हौ, (एका) आर्या=सम्मान्या, वसन्तसेना=तन्नाम्नी गणिका, (अपरः) च, धर्मनिधिः=धर्मसिन्धुः, चारुदत्तः=एतन्नामकः, प्रकरणस्यैतस्य नायक इत्यर्थः । परिकरालंकारः, गाथा वृत्तम् ॥ १४ ॥

विमर्श—चन्दनक यहाँ वसन्तसेना और चारुदत्त को सर्वश्रेष्ठ तथा उज्जयिनी के महत्त्वपूर्ण व्यक्ति कहता है ॥ १४ ॥

अन्वयः—चारुदत्तम्, जानामि, वसन्तसेनाम्, च, सुष्ठु, जानामि, राजकार्ये, च, प्राप्ते, अहम्, पितरम्, अपि, न, जानामि ॥ १५ ॥

शब्दार्थ—चारुदत्तम्=चारुदत्त को, जानामि=जानता हूँ, च=और, वसन्तसेनाम्=वसन्तसेना को, सुष्ठु=अच्छी प्रकार, जानामि=जानता हूँ, राजकार्ये=राजा का कार्य, प्राप्त=उपस्थित होने पर, अहम्=मैं, पितरम्=अपने पिता को, अपि=भी, न=नहीं, जानामि=जानता हूँ, पहचानता हूँ ॥ १५ ॥

अर्थ—मैं चारुदत्त को जानता हूँ और वसन्तसेना को भी अच्छी प्रकार से जानता हूँ किन्तु राजा का कार्य उपस्थित हो जाने पर मैं अपने पिता को भी नहीं जानता हूँ । अर्थात् मेरी दृष्टि में राजा का कार्य ही सर्वोपरि है ॥ १५ ॥

टीका—वीरकः राज्ञः कार्यमेव सर्वोपरि प्रतिपादयन्नाह—जानामीति । चारुदत्तम्=तन्नामकं प्रकरणस्य नायकमित्यर्थः, जानामि=वेद्मि, वसन्तसेनाम्=तन्नाम्नीं गणिकाम्, च=तथा, सुष्ठु = सम्यग्रूपेण, जानामि = वेद्मि, च=किन्तु, राजकार्ये=राज्ञः पालकस्य रक्षाकार्ये, प्राप्ते=समुपस्थिते, अहम्=वीरकः, पितरम्=स्वजनकम्, अपि, नैव, जानामि=वेद्मि । एवञ्चेदानीं राजकार्ये उपस्थिते सति तस्यैव महत्त्वं सर्वोपरि मन्यते वीरक इति भावः । आर्या वृत्तम् ॥ १५ ॥

विमर्श—वीरक का आशय यह है कि इस समय राजा के संकट की घड़ी है । मैं किसी पर भी विश्वास नहीं कर सकता, वह चाहे मेरा पिता ही क्यों न हो ॥ १५ ॥

आर्यकः—(स्वगतम्) अयं मे पूर्ववैरी, अयं मे पूर्वबन्धुः। यतः—

एककार्यनियोगेऽपि नानयोस्तुल्यशीलता।
विवाहे च चितायाञ्च यथा हुतभुजोर्द्वयोः॥ १६॥

चन्दनकः—तुमं तन्तिलो सेणावई रण्णो पच्चइदो, एदे धारिदा मए वइल्ला, अवलोएहि। (त्वं तन्त्रिलः सेनापतिः राज्ञः प्रत्ययितः, एतौ धारितौ मया बलीवर्दौ, अवलोकय।)

अर्थ—**आर्यक**—(अपने में) यह (वीरक) मेरा पुराना शत्रु है और यह (चन्दनक) मेरा पुराना मित्र है। क्योंकि—

अन्वयः—एककार्यनियोगे, अपि, अनयोः, तुल्यशीलता, न, यथा, विवाहे, च, चितायाम्, च, द्वयोः, हुतभुजोः [तुल्यशीलता न]॥ १६॥

शब्दार्थ—एककार्यनियोगे=एक ही प्रकार के कार्य में लगे रहने पर, अपि=भी, अनयोः = इन दोनों चन्दनक और वीरक का, तुल्यशीलता = एक प्रकार का स्वभाव, न=नहीं है, यथा=जिस प्रकार, विबाहे=विवाह में, च=और, चितायाम्=श्मशान की चिता में, द्वयोः=दोनों, हुतभुजोः=अग्नियों की, [तुल्यशीलता=समानस्वभावता, न=नहीं होती हैं]॥ १६॥

अर्थ—[पलायित अपराधी को पकड़ना रूपी] एक ही कार्य में लगे रहने पर भी इन दोनों वीरक और चन्दनक का स्वभाव एक जैसा नहीं है, जिस प्रकार विवाह में और श्मशान की चिता में अग्नि एक प्रकार की नहीं मानी जाती है॥ १६॥

टीका—वीरकचन्दनकयोः स्वभावस्यान्तरं प्रतिपादयति आर्यकः—एकेति। एककार्ये=मम बन्धनरूपे एकस्मिन्नेव कर्मणि नियोगे=नियोजने, अपि, अनयोः=वीरकचन्दनकयोः, तुल्यशीलता=तुल्यस्वभावत्वम् न=नैव, अस्ति, यथा=येन प्रकारेण, विवाहे पाणिग्रहणसंस्कारे, चितायाम् च=शवदाहार्थं प्रयुक्तायां चितायाम् च, तुल्यशीलता नैव दृश्यते। पथ्यावक्त्रं वृत्तम्॥ १६॥

विमर्श—तुल्यशीलता=तुल्यं शीलं ययोः ते शीले, तद्भावः। दोनों को आर्यक की खोज करने का कार्य सौंपा गया है परन्तु वीरक धूर्तता के साथ और चन्दनक शालीनता से सम्पादित कर रहा है॥ १६॥

शब्दार्थ—तन्त्रिलः=प्रधान, प्रत्ययितः=विश्वस्त, धारितः=पकड़ लिये गये, उन्नामय=उठाओ, धुरम्=जुआ को।

अर्थ—**चन्दनक**—तुम प्रधान सेनापति राजा के विश्वासपात्र हो; मैंने इन दोनों बैलों को पकड़ लिया है, देख लो।

वीरकः—तुमं पि रण्णो पच्चइदो बलवइ, ता तुमं ज्जेव अवलोएहि। (त्वमपि राज्ञः प्रत्ययितो बलपतिः, तत् त्वमेव अवलोकय।)

चन्दनकः—मए अवलोइदं तुए अवलोइदं भोदि? (मया अवलोकितं त्वया अवलोकितं भवति?)

वीरकः—जं तुए अवलोइदं तं रण्णा पालएण अवलोइदं। (यत् त्वया अवलोकितं तत् राज्ञा पालकेनावलोकितम्।)

चन्दनकः—अरे! उण्णामेहि धुरं। (अरे! उन्नामय धुरम्।)

(चेटस्तथा करोति)

आर्यकः—(स्वगतम्) अपि रक्षिणो मामवलोकयन्ति? अशस्त्र-श्चास्मि मन्दभाग्यः। अथवा—

भीमस्यानुकरिष्यामि बाहुः शस्त्रं भविष्यति।
वरं व्यायच्छतो मृत्युर्न गृहीतस्य बन्धने॥ १७॥

वीरक—तुम भी राजा के विश्वस्त सेनापति हो, अतः तुम्हीं देख लो।

चन्दनक—क्या मेरा देखा जाना तुम्हारा देखा जाना हो जायगा।

वीरक—जो तुमने देख लिया वह राजा पालक ने देख लिया।

चन्दनक—अरे! इस गाड़ी का जुआ उठाओ।

(चेट उसी प्रकार जुआ ऊपर उठाता है।)

आर्यक—(अपने आप में) क्या सिपाही मुझे देखेंगे, और मैं अभागा विना शस्त्र के हूँ। अथवा

अन्वय—[अहम्] भीमस्य, अनुकरिष्यामि, बाहुः [मे], शस्त्रम्, भविष्यति, व्यायच्छतः, मृत्युः, वरम्, गृहीतस्य, बन्धने, न, वरम्॥ १७॥

शब्दार्थ—[अहम्=मैं आर्यक] भीमस्य=भीमसेन का, अनुकरिष्यामि=अनुकरण करूँगा, बाहुः=भुजा, [मे=मेरा] शस्त्रम्=शस्त्र, भविष्यति=बनेगा, व्यायच्छतः=लड़ते हुये, मृत्युः=मौत, वरम्=ठीक है, बन्धने=बन्धन, जेल आदि में, गृहीतस्य=पकड़े गये, मेरी मौत, न=ठीक नहीं हैं॥ १७॥

अर्थ—[मैं] भीम का अनुकरण=नकल करूँगा, बाहु मेरा शस्त्र बनेगी, लड़ते हुये मर जाना ठीक है, बन्धन में पड़े हुये की मृत्यु ठीक नहीं है॥ १७॥

टीका—तत्कालमुचितं विचार्य बाहुयुद्धमेव श्रेयस्करं मन्यते—भीमस्येति। भीमस्य=मध्यमपाण्डवस्य, अनुकरिष्यामि = अनुकरणं विधास्यामि, बाहुः=भुजा, मे=मम, शस्त्रम्=आयुधम्, भविष्यति=सम्पत्स्यते। यथा खलु भीमः बाहुयुद्धं कृतवान् तथैवाहमपि करिष्यामीति भावः। व्यायच्छतः=युद्धं कुर्वतः, (मे=आर्यकस्य) मृत्युः=मरणम्, वरम्=श्रेयस्करम् बन्धने=कारागारादौ, निगृहीतस्य=निगडितस्य, अवरुद्धस्य, न वरमिति भावः। पथ्यावक्त्रं वृत्तम्॥ १७॥

अथवा साहसस्य तावदनवसरः ।

(चन्दनको नाटचेन प्रवहणमारुह्यावलोकयति ।)

आर्यकः—शरणागतोऽस्मि ।

चन्दनकः—(संस्कृतमाश्रित्य) **अभयं शरणागतस्य ।**

आर्यकः—

त्यजति किल तं जयश्रीर्जहति च मित्राणि बन्धुवर्गश्च ।
भवति च सदोपहास्यो यः खलु शरणागतं त्यजति ॥ १८ ॥

विमर्श—शस्त्रहीन आर्यक भीमसेन के समान बाहुयुद्ध करना उचित समझता है। फिर सोचता है कि अकेला क्या कर सकेगा, तब लड़ते हुये मौत ही श्रेयस्कर समझता है, जेलखाने में कैद होकर सड़ते हुये जीवित रहना या मरना अच्छा नहीं समझता है ॥ १७ ॥

अर्थ—अथवा साहस (प्रदर्शन) का यह [उचित] अवसर नहीं है।

चन्दनक—(अभिनय के साथ गाड़ी पर चढ़कर देखता है ।)

आर्यक—मैं [आपकी] शरण में आया हूँ ।

चन्दनक—(संस्कृत भाषा में) शरण में आये हुये को अभय प्रदान करता हूँ।

अन्वयः—यः शरणागतम्, त्यजति, तम्, जयश्रीः, खलु, त्यजति, मित्राणि, बन्धुवर्गः च, किल, जहति, सदा, च, उपहास्यः, भवति ॥ १८ ॥

शब्दार्थ—यः=जो व्यक्ति, शरणागतम्=शरण में आये हुये को, त्यजति=छोड़ देता है, तम्=ऐसे व्यक्ति को, जयश्रीः=विजयलक्ष्मी, खलु=निश्चितरूप से, त्यजति=छोड़ देती है; मित्राणि=मित्रलोग, च=और, बन्धुवर्गः=भाई बन्धुजन, किल=निश्चितरूप से, जहति=छोड़ देते हैं, च=और, सदा=सदैव, उपहास्यः=उपहास के योग्य, भवति=होता है ॥ १८ ॥

अर्थ—आर्यक—जो व्यक्ति शरण में आये हुये को छोड़ देता है [अर्थात् उसकी रक्षा नहीं करता है] उस व्यक्ति को विजयलक्ष्मी छोड़ देती है, और मित्र तथा बन्धुबान्धव भी छोड़ देते हैं, वह सदैव उपहास का पात्र होता है ॥ १८ ॥

टीका—शरणागतस्य परित्यागे रक्षणाभावे च दोषमाह चन्दनकः—त्यजतीति । यः=यः कश्चित् जनः, शरणागतम्=शरणे=आश्रये समागतम्, त्यजति=जहाति, तम्=तादृशं शरणागतपरित्यागिनम् जनम्, जयश्रीः=विजयलक्ष्मीः, खलु=निश्चयेन, त्यजति=परिहरति, मित्राणिः=सखायः, च=तथा, बन्धुवर्गः=बान्धवजन-समूहः, किल = निश्चयेन, जहति=परित्यजति, ओहाक् त्यागे इति जुहोत्यादिः । सदा = सर्वकालम्, उपहास्यः = उपहासयोग्यः, भवति=जायते । एवञ्च शरणागत-परित्यागे विविधदूषणानि सन्तीति तत्परित्यागो न करणीय इति भावः । समुच्चया-लंकारः, आर्या वृत्तम् ॥ १८ ॥

चन्दनकः—कधं अज्जओ गोवालदरओ सेणवित्तासिदो विअ पत्तरहो साउणिअस्स हत्थे णिवडिदो। (विचिन्त्य) एसो अणवराधो सरणाअदो अज्जचारुदत्तस्स पवहणं आरूढो पाणप्पदस्स मे अज्जसव्विलअस्स मित्तं, अण्णदो राअ-णिओओ। ता किं दाणिं एत्थ जुत्तं अणुचिट्ठिदुं? अधवा, जं भोदु, तं भोदु पढमं ज्जेव अभअं दिण्णं। (कथमार्यको गोपालदारकः श्येनवित्रासित इव पत्ररथः शाकुनिकस्य हस्ते निपतितः। एषोऽनपराधः, शरणागत,: आर्यचारुदत्तस्य प्रवहणमारूढः, प्राणप्रदस्य मे आर्यशर्विलकस्य मित्रम्; अन्यतो राजनियोगः। तत् किमिदानीमत्र युक्तमनुष्ठातुम्? अथवा यद्-भवतु तद्भवतु, प्रथममेवाभयं दत्तम्।)

भीदाभअप्पदाणं दत्तस्स परोवआर-रसिअस्स।
जइ होइ होउ णासो तहवि अ लोए गुणो ज्जेव्व॥ १९॥

विमर्श—किसी की शरण में जानेवाला व्यक्ति उससे अपनी रक्षा की आशा करता है। अतः यदि कोई शरणागत की रक्षा न करके अपना स्वार्थ ही देखता है, वह समाज में सर्वत्र निन्दित ही होता है। अतः चन्दनक निन्दा के भय से शरणागत आर्यक की रक्षा में ही लग जाना उचित मानता है। एक कार्य के प्रति अनेक कारणों का उपन्यास होने से समुच्चय अलंकार है। आर्या छन्द है॥ १८॥

शब्दार्थ—श्येनवित्रासितः=बाज से डराया गया, पत्ररथः=साधारण पक्षी, शाकुनिकस्य=शिकारी बहेलियाके, निपतितः=आ गिरा, प्राणप्रदस्य=जीवनदान करने वाले, अनपराधः=निरपराध, राजनियोगः=राजा का कार्य=आदेश, अनुष्ठातुम्=करना, यद्भवतु तद्भवतु=जो हो सो हो॥

अर्थ—चन्दनक—क्या अहीर का पुत्र आर्यक बाज से भयभीत पक्षी के समान शिकारी बहेलिया के हाथ में आ गिरा? (सोंचकर) (एक ओर तो) यह निरपराध है, (मेरी) शरण में आया है, आर्य चारुदत्त की गाड़ी पर चढ़ा=बैठा है, जीवनदान देने वाले आर्य शर्विलक का मित्र है दूसरी ओर राजा का आदेश है। इसलिये इस विषय में क्या करना उचित है। अथवा जो हो, सो हो [मैं तो] पहले ही अभय प्रदान कर चुका हूँ।

टीका—श्येनेन=हिंसकपक्षिविशेषेण, वित्रासितः=भयं प्रापितः, पत्रम्=पक्ष एव रथः=यानसाधनं यस्य सः, पक्षी इत्यर्थः, शाकुनिकः=शकुनिवधेन जीविका-निर्वाहकः व्याध इत्यर्थः, निपतितः=स्वयमेव आपतितः, अनपराधः=अपराधरहितः, शरणागतः = आश्रये समागतः, प्रवहणम् = यानम्, प्राणप्रदस्य = जीवनप्रदातुः, राजनियोगः=राजाज्ञा, राजकार्यं वा, अत्र=द्विविधास्पदे विषये।

अन्वयः—भीताभयप्रदानम्, ददतः, परोपकाररसिकस्य, (पुरुषस्य) यदि, नाशः, भवति, भवतु, तथापि, लोके, गुणः, एव, [अस्ति]॥ १९॥

(भीताभयप्रदानं ददतः परोपकाररसिकस्य ।
यदि भवति, भवतु नाशस्तथापि च लोके गुण एव ॥ १९ ॥)

(सभयमवतीर्य) **दिट्ठो अज्जो** (इत्यर्धोक्ते) **ण, अज्जआ वसन्तसेणा। तदो एसा भणादि--'जुत्तं ण्णेदं, सरिसं ण्णेदं जं अहं अज्जचारुदत्तं अहिसारिदुं गच्छन्ती राअमग्गे परिभूदा।'** (दृष्ट आर्यः, न, आर्या वसन्तसेना। तदेषा भणति---'युक्तं नेदम्, सदृशं नेदम्, यदहमार्यचारुदत्तमभिसत्तुं गच्छन्ती राजमार्गे परिभूता।')

वीरकः---चन्दणआ ! एत्थ मह संसओ समुप्पण्णो। (चन्दनक ! अत्र मम संशयः समुत्पन्नः ।)

शब्दार्थ---भीताभयप्रदानम् = डरे हुये को अभयदान, ददतः = देने वाले, परोपकाररसिकस्य = परोपकार करने के प्रेमी (पुरुषस्य=व्यक्ति) का, यदि= अगर, नाशः=विनाश, मृत्यु आदि, भवति=हो जाती है, भवतु=हो जाय, तथापि= फिर भी, लोके=संसार में, [वह विनाश भी], गुणः=गुण, अच्छाई, एव=ही, [अस्ति=है] ॥ १९ ॥

अर्थ---भयभीत को अभय प्रदान करने वाले परोपकार के प्रेमी [पुरुष] का यदि नाश [मृत्यु आदि] हो जाता है, तो हो जाय, तथापि वह संसार में गुण ही [माना जाता] है ॥ १९ ॥

टीका--शरणागतरक्षणे स्वप्राणपरित्यागमपि श्रेयस्करमेव मत्वाह—भीतेति। भीताय भयाक्रान्ताय, अभयप्रदानम्=अभयस्य प्रदानम्, ददतः=समर्पयतः, परोपकारे= परेषां हितसाधने, रसिकस्य=अनुरागवतः, पुरुषस्य इति शेषः, यदि=चेत्, नाशः= विनाशः, मृत्युरिति भावः, भवति=जायते, भवतु=जायताम्, तथापि=एवं सत्यपि, लोके=संसारे, गुणः=कीर्तिः, एव। पररक्षणे यदि कस्यापि मृत्युर्भवति सोऽपि संसारे यशोवर्धक एवास्ति अतोऽत्रार्यकरक्षणे मम मृत्युरपि स्यादिति न मे चिन्तेति भावः। आर्या वृत्तम् ॥ १९ ॥

विमर्श---भयभीत को शरणदेने में कभी कभी अपने से अधिक बलशाली और सम्पन्न के साथ शत्रुता हो जाने पर मृत्यु की भी सम्भावना हो जाती है। किन्तु उसकी निन्दा नहीं अपितु प्रशंसा ही की जाती है ॥ १९ ॥

अर्थ---(घबड़ाहट के साथ उतर कर) मैंने आर्य को देख लिया (ऐसा आधा कह कर) नहीं, आर्या वसन्तसेना को देख लिया। वह कह रही है—'यह उचित नहीं है, यह [मेरी प्रतिष्ठा के] योग्य नहीं है, जो कि आर्य चारुदत्त के पास अभिसार के लिये जाती हुये, मुझे मार्ग मेंअपमानित किया जा रहा है।

वीरक---चन्दनक ! यहाँ मुझे सन्देह उत्पन्न हो गया है।

चन्दनकः—कधं दे संसओ ? (कथं ते संशयः ?)

वीरकः—

सम्भम-घग्घरकण्ठो तुमं पि जादोसि जं तुए भणिदं ।
दिट्ठो मए क्खु अज्जो पुणोवि अज्जा वसन्तसेणेत्ति ।। २० ।।

(सम्भ्रम-घर्घर-कण्ठस्त्वमपि जातोऽसि यत्त्वया भणितम् ।
दृष्टो मया खलु आर्यः पुनरप्यार्या वसन्तसेनेति ।। २० ।।)

एत्थ मे अप्पच्चओ । (अत्र मे अप्रत्ययः ।)

चन्दनकः—**अरे ! को अप्पच्चओ तुह ? वअं दक्खिणत्ता अव्वत्तभा-भासिणो । खस-खत्ति-खडो-खडट्ठविलअ-कण्णाट-कण्ण-प्पावरण-दविड-**

चन्दनक—तुम्हें सन्देह क्यों हो गया ?

अन्वयः—त्वम्, अपि, सम्भ्रमघर्घरकण्ठः, जातः, असि, यत्, त्वया, (प्रथमम्) भणितम्, मया, खलु, आर्यः, दृष्टः, पुनरपि, आर्या, वसन्तसेना, दृष्टा, इति [भणितम्] ।। २० ।।

शब्दार्थ—त्वम्=तुम चन्दनक, अपि = भी, संभ्रमघर्घरकण्ठः = घबड़ाहट के कारण घरघराहट युक्त कण्ठवाले, जातः=बन गये, असि=हो, यत्=क्योंकि, त्वया= तुमने, (प्रथमम् = पहले) भणितम् = कहा, मया = मैंने [चन्दनक ने], खलु= निश्चितरूपसे, आर्यः=आर्य चारुदत्त को, दृष्टः=देख लिया, पुनरपि=इसके बाद फिर, आर्या=सम्माननीय, वसन्तसेना=वसन्तसेना को, [दृष्टा=देखा] ।। २० ।।

अर्थ—वीरक—

घबराहट के कारण तुम भी घरघराहटयुक्त कण्ठवाले बन गये हो, अर्थात् तुम साफ साफ नहीं बोल पा रहे हो, क्योंकि पहले तुमने कहा कि आर्य [चारुदत्त] को देख लिया, फिर [कहा कि] आर्या वसन्तसेना को देखा ।। २० ।।

इस [दो प्रकार की बातों] में मुझे सन्देह है ।

टीका—वीरकः संशयहेतुं प्रतिपादयति—सम्भ्रमेति । त्वम् = चन्दनकः अपि; सम्भ्रमेण=व्यग्रतया, घर्घरध्वनियुक्तः कण्ठः गलविवरं यस्य तादृशः, जातः= भूतः, असि=भवसि, यत्=यस्मात्, त्वया=चन्दनकेन, [प्रथमम्] भणितम्=उक्तम्, मया=चन्दनकेन, खलु = निश्चयेन, आर्यः = माननीयः चारुदत्त इति भावः, दृष्टः= अवलोकितः, पुनरपि=तदनन्तरम्, आर्या=सम्मान्या, वसन्तसेना, दृष्टेति शेषः । एवञ्च द्विविधप्रतिवचनमेव मम सन्देहहेतुरिति भावः । गीतिः वृत्तम् ।। २० ।।

शब्दार्थ—अप्रत्ययः = अविश्वास, अव्यक्तभाषिणः = अस्पष्ट बोलने वाले, प्रलोकयामि=ठीक से देख लेता हूँ, प्रत्ययितः = विश्वस्त, अपक्रामति=भाग कर

चोल–चीण–वव्वर–खेर–खाण–मुख–मधु–घाट–पहुदाणं मिलिच्छजादीणं अणेअ–देस-भासाभिण्णा जहेट्ठं मन्तआम—'दिट्ठो दिट्ठा वा, अज्जो अज्जआ वा।' (अरे! कः अप्रत्ययस्तत्र? वयं दाक्षिणात्या अव्यक्तभाषिणः। खस-खत्ति-खड़ा-खड्ट्टो-विलय-कर्णाट-कर्ण-प्रावरण-द्रविड - चोल-चीन-वर्वर-खेर-खान-मुख-मधुघात-प्रभृतीनां म्लेच्छजातीनाम् अनेकदेशभाषाभिज्ञा यथेष्टं मन्त्रयामः—'दृष्टो दृष्टा वा, आर्यः आर्या वा।')

वीरकः—णं अहं पि पलोएमि। राअ–अण्णा एसा। अहं रण्णो पच्चइदो। (ननु अहमपि प्रलोकयामि। राजाज्ञा एषा। अहं राज्ञः प्रत्ययितः।)

चन्दनकः—ताकि अहं अप्पचचइदो संवुत्तो। (तत् किमहमप्रत्ययितः संवृत्तः?)

वीरकः—णं सामि-णिओओ। (ननु स्वामिनियोगः।)

चन्दनकः—(स्वगतम्) अज्जगोवालदारओ अज्जचारुदत्तस्स पवहणं अहिरुहिअ अवक्कमदि त्ति जइ कहिज्जदि, तदो अज्जचारुदत्तो रण्णा सासिज्जइ, ता को एत्थ उवाओ? (विचिन्त्य) कण्णाट-कलह-प्पओअं कलेमि। (प्रकाशम्) अरे वीरअ! मए चन्दणकेण पलोइदं पुणो वि तुमं पलोएसि, को तुमं? (आर्यगोपालदारकः आर्यचारुदत्तस्य प्रवहणमधिरुह्य अपक्रामतीति यदि कथ्यते, तदा आर्यचारुदत्तो राज्ञा शिष्यते, तत् कोऽत्र उपायः? कर्णाट-कलह-प्रयोगं करोमि। अरे वीरक! मया चन्दनकेन प्रलोकितं पुनरपि

जा रहा है, शिष्यते=दण्डित किया जायगा। कर्णाटकलहप्रयोगम् = कर्नाटक के लोगों के झगड़े को अपनाना, पूज्यमानः=पूज्य माने जाने वाले।

अर्थ—चन्दनक—अरे तुम्हारा कैसा अविश्वास? हम दक्षिण देशवाले अस्पष्ट बोलने वाले हैं। खस, खत्ति, खड़ा, खड्ट्ठ, बिड, कर्णाट, कर्ण, प्रावरण, द्राविड, चोल, चीन, बर्बर, खेर, खान, मुख, मधुघात आदि म्लेच्छ जातियों की अनेक देशी भाषाओं को जानने वाले हम लोग अपनी इच्छा के अनुसार बोलते हैं—'दृष्टः, अथवा दृष्टा, आर्यः अथवा आर्या।'

वीरक—अरे! मैं भी ठीक से देख लूँ। यह राजा की आज्ञा है। मैं राजा का विश्वासपात्र हूँ।

चन्दनक—तो क्या मैं अविश्वस्त हो गया?

वीरक—(नहीं) यह तो राजा का कार्य=आज्ञा है।

चन्दनक—(अपने आप में) आर्य गोपालपुत्र आर्य चारुदत्त की गाड़ी पर बैठ कर भाग रहा है—ऐसा यदि कहा जाता है तो आर्य चारुदत्त को राजा दण्ड देगा, इस लिये अब यहाँ क्या उपाय है! (सोंच कर) कर्णाटकलह का दिखावा

त्वं प्रलोकयसि, कस्त्वम् ?)

वीरकः—अरे तुमं पि को ? (अरे त्वमपि कः ?)

चन्दनकः—पूइज्जन्तो माणिज्जन्तो तुमं अप्पणो जादिं ण सुमरेसि । (पूज्यमानो मान्यमानस्त्वमात्मनो जातिं न स्मरसि ?)

वीरकः—(सक्रोधम्) अरे ! का मह जादी ? (अरे ! का मम जातिः ?)

चन्दनकः—को भणउ ? (को भणतु ?)

वीरकः—भणउ ! (भणतु ।)

चन्दनकः—अहवा ण भणामि । (अथवा न भणामि ।)

जाणन्तो वि हु जादिं तुज्झ अ ण भणामि सील-विहवेण ।
चिट्ठउ महच्चिअ मणे किं हि कइत्थेण भग्गेण ॥ २१ ॥

(जानन्नपि खलु जातिं तव च न भणामि शीलविभवेन ।
तिष्ठतु ममैव मनसि किं हि कपित्थेन भग्नेन ॥ २१ ॥)

करता हूँ । (प्रकट रूप में) अरे वीरक ! मुझ चन्दनक के द्वारा देखे गये को फिर तुम भी देखोगे, तुम कौन हो (दुबारा देखने वाले) ?

वीरक—तुम भी कौन हो ?

चन्दनक—पूजनीय और सम्माननीय तुम अपनी जाति को नहीं याद करते हो ?

वीरक—(क्रोध के साथ) अरे ! मेरी क्या जाति है ?

चन्दनक—कौन बताये ?

वीरक—[तुम्हीं] बताओ ।

चन्दनक—नहीं, मैं नहीं बताऊँगा ।

अन्वयः—तव जातिम्, खलु, जानन्, अपि, शीलविभवेन, न, भणामि, मम, मनसि, एव, [सा], तिष्ठतु, हि, कपित्थेन, भग्नेन, किम् ॥ २१ ॥

शब्दार्थ—तव=तुम्हारी, जातिम्=जातिको, खलु=निश्चितरूप से, जानन्=जानता हुआ, अपि=भी, शीलविभवेन=अच्छे स्वभाव के कारण, न=नहीं, भणामि=कह रहा हूँ, मम=मेरे, मनसि=मन में, एव=ही, [सा=वह तुम्हारी जाति] तिष्ठतु = रहे, कपित्थेन = कैथा फल को, भग्नेन = तोड़ देने से, किम् = क्या लाभ ? ॥ २१ ॥

अर्थ—तुम्हारी जाति को जानता हुआ भी अपने अच्छे स्वभाव के कारण नहीं कह रहा हूँ, वह [तुम्हारी जाति] मेरे मन में ही रहे, कैथा को फोड़ने से क्या लाभ ? [तुम्हारी जाति बताने से कोई लाभ नहीं है ।] ॥ २१ ॥

वीरकः——णं भणउ भणउ। (ननु भणतु भणतु।)

(चन्दनकः संज्ञां ददाति।)

वीरकः——अरे ! किं णेदं ? (अरे ! किन्नु इदम् ?)

चन्दनकः——

सण्णी-सिलाअल-हत्थो पुरिसाणं कुच्च-गण्ठि-सण्ठवणो।
कत्तरि-वावुद-हत्थो तुमं पि सेणावई जादो॥ २२॥

(शीर्णशिलातलहस्तः पुरुषाणां कूर्च्च-ग्रन्थि-संस्थापनः।
कर्त्तरी-व्यापृत-हस्तस्त्वमपि सेनापतिर्जातः॥ २२॥)

टीका—वीरकस्य जातेरकथने हेतुमाह——जानन्नपीति। तव=वीरकस्य, जातिम्=जन्मगोत्राश्रितां लोकप्रसिद्धां वा जातिम्, खलु, जानन्=विदन्, अपि, न च=नैव, भणामि = कथयामि, [सा तव जातिः] मम = चन्दनकस्य, मनसि=हृदये, एव, तिष्ठतु=अस्तु, हि=यतः, कपित्थेन=दधित्थेन, 'कैथा' इति लोकप्रसिद्धेन फलेन, भग्नेन = त्रोटनेन, किम् = न किमपि फलमिति भावः। अत्र दृष्टान्तालंकारः, आर्या वृत्तम्॥ २१॥

अर्थ - वीरक—अरे ! बताओ, बताओ।

(चन्दनक इशारा करता है।)

वीरक—अरे ! यह क्या है ?

अन्वयः—शीर्णशिलातलहस्तः, पुरुषाणाम्, कूर्च्चग्रन्थिसंस्थापनः, कर्त्तरी-व्यापृतहस्तः, त्वम्, अपि, सेनापतिः, जातः॥ २२॥

शब्दार्थ——शीर्णशिलातलहस्तः=पुराने पत्थरके टुकड़े को हाथ में रखने वाले, पुरुषाणाम्=पुरुषों की, कूर्चग्रन्थिसंस्थापनः=दाढ़ी की गाँठ को स्वच्छ करने वाले, संवारने वाले, कर्त्तरीव्यापृतहस्तः=कैंची [चलाने] में लगे हुये हाथ वाले, त्वम्=तुम वीरक, अपि=भी, सेनापतिः=सेनापति, जातः=बन गये, हो॥ २२॥

अर्थ——चन्दनक——

[उस्तरा की धार पैनी करने के लिये] पुराना पत्थर का टुकड़ा [सिल्ली] हाथ में रखने वाले, पुरुषों की दाढ़ी की गाँठों की सफाई करने वाले, कैंची [चलाने] में लगे हुये हाथ वाले अर्थात् नाई तुम वीरक भी सेनापति बन गये हो॥ २२॥

टीका——वीरकस्य नापितत्वजातिसूचकानि चिह्नानि प्रतिपादयति—शीर्णेति। शीर्णम् = चिरकालपर्यन्तमुपयोगात् घर्षितपृष्ठम्, शिलातलम् = पाषाणखण्डतलम्, हस्ते=वामकरे, यस्य तादृशः, पुरुषाणाम्=मानवानाम्, कूर्चस्य=श्मश्रोः, ग्रन्थीनाम्=बन्धनस्थानाम्, मूलभागानामिति भावः, संस्थापनम्=समुच्छेदः येन तादृशः, पुरुष-श्मश्रुस्वच्छतादिसम्पादकः, कर्त्तर्याम्=पुरुषादिकेशानां कर्त्तनाय प्रयुक्ते लौहयन्त्र-

वीरकः—अरे चन्दणआ ! तुमं पि माणिज्जन्तो अप्पणोकेरिकं जादि ण सुमरेसि ? (अरे ! चन्दनक ! त्वमपि मान्यमान आत्मनः जातिं न स्मरसि ?)

चन्दनकः—अरे का मह चन्दणअस्स चन्दविसुद्धस्स जादी ? (अरे ! का मम चन्दनकस्य चन्द्रविशुद्धस्य जातिः ?)

वीरकः—को भणउ ? (को भणतु ?)

चन्दनकः—भणउ भणउ । (भणतु, भणतु ?)

(वीरकः नाटचेन संज्ञां ददाति ।)

चन्दनकः—अरे ! किं णेदं । (अरे ! किन्नु इदम् ।)

वीरकः—अरे ! सुणाहि सुणाहि । (अरे ! शृणु शृणु ।)

जादी तुज्झ विसुद्धा मादा भेरी पिदा वि दे पड़हो ।
दुम्मुह ! करडअ-भादा तुमं पि सेणावई जादो ॥ २३ ॥

(जातिस्तव विशुद्धा माता भेरी पितापि ते पटहः ।
दुर्म्मुख ! करटकभ्राता त्वमपि सेनापतिर्जातः ॥ २३ ॥)

विशेषे, व्यापृतः=संलग्नः, करः=हस्तः यस्य तादृशः, नापित इति भावः, त्वम्=वीरकः, अपि, सेनापतिः=बलपतिः, जातः=भूतः, असि । नापितत्वेऽपि भाग्यवशात् सैनापत्येऽभिषिक्त इति भावः । आर्या वृत्तम् ॥ २२ ॥

अर्थ—वीरक—अरे चन्दनक ! माननीय तुम भी अपनी जाति को याद नहीं करते हो ?

चन्दनक—अरे ! चन्दन के समान पवित्र मेरी कौन सी जाति है ?

वीरक—कौन बताये ।

चन्दनक—बताओ, बताओ ।

(वीरक अभिनय के साथ इशारा करता है ।)

चन्दनक—अरे ! यह क्या है ?

वीरक—अरे ! सुन, सुन ।

अन्वयः—तव, जातिः, विशुद्धा, भेरी, ते, माता, ते, पिता, अपि, पटहः, दुर्मुख ! करटकभ्राता, त्वम्, अपि, सेनापतिः, जातः ॥ २३ ॥

शब्दार्थ—तव=तुम्हारी, जातिः = जाति, विशुद्धा=अत्यन्त पवित्र है, भेरी=दुन्दुभी, ते=तुम्हारी चन्दनक की, माता=माँ, है, ते=तुम्हारा, पिता=पिता, अपि=भी, पटहः=ढोल है; दुर्मुख !=अरे बकवादी, करटकभ्राता=करटक [चमड़ा का एक बाजा] के भाई, त्वम्=तुम, अपि = भी, सेनापतिः = सेनापति, जातः = बन गये, हो ॥ २३ ॥

चन्दनकः—(सक्रोधम्) अहं चन्दणओ चम्मारओ ! ता पलोएहि पवहणं। (अहं चन्दनकश्चर्मकारः ! तत् प्रलोकय प्रवहणम् ।)

वीरकः—अरे पवहणवाहआ ! पडिवत्तावेहि पवहणं, पलोइस्सं। (अरे ! प्रवहणवाहक ! परिवर्त्तय प्रवहणं, प्रलोकयिष्यामि ।)

(चेटस्तथा करोति । वीरकः प्रवहणमारोढुमिच्छति, चन्दनकः सहसा केशेषु गृहीत्वा पातयति पादेन ताडयति च ।)

वीरकः—(सक्रोधमुत्थाय) अरे अहं तुए वीसत्थो राआण्णत्तिं करेन्तो सहसा केसेसु गेण्हिअ पादेण ताड़िदो। ता सुणु रे ! अहिअरणमज्झे जइ दे चउरङ्गं ण कप्पावेमि, तदो ण होमि वीरओ। (अरे ! अहं त्वया

अर्थ—तुम्हारी जाति बहुत पवित्र है, दुन्दुभी तुम्हारी माता है, तुम्हारा पिता भी ढोल है। अरे बकवादी ! करटक के भाई तुम भी सेनापति बन गये हो, अर्थात् चमार होकर भी सेनापति बने हो ।। २३ ।।

टीका—चन्दनकस्य चर्मकारत्वजातिलक्षणं सूचयति - तवेति । तव=चन्दनकस्य, जातिः=जन्मगोत्रमूला लोकप्रसिद्धा वा जातिः, विशुद्धा=अत्यन्तपवित्रा, अस्ति, भेरी=दुन्दुभिः, ते=तव चन्दनकस्य, माता=पोषिका, ते=तव, पिता=परिपालकः, अपि, पटहः = ढक्का, चर्मवाद्यविशेषः, अस्ति, दुर्मुख !=अरे प्रलापिन्, करटस्य = चर्मनिर्मितवाद्यविशेषस्य भ्राता = सहचारी, त्वम् = चन्दनकः अपि, चर्मकारः सन्नपि, सेनापतिः = बलपतिः, जातः = भूतः, असि । चर्मकारजातौ समुत्पन्नोऽपि दैवयोगादेव सेनापतित्वे नियुक्त इति भावः । आर्या वृत्तम् ।। २३ ।।

शब्दार्थ—परिवर्त्तय=घुमाओ, आरोढुम् = चढ़ने के लिये, केशेषु=बालों को, राजाज्ञप्तिम् = राजा की आज्ञा को, अधिकरणमध्ये=न्यायालय के बीच में, चतुरङ्गम्=(१) शिर मूड़ा जाना, (२) कोंड़े लगाना, (३) धन ले लिया जाना और (४) देश से बाहर निकाला जाना, कल्पयामि=करवाता हूँ, शुनकसदृशेन=कुत्ते के समान, अभिज्ञान=पहचान ।।

अर्थ—**चन्दनक**—(क्रोध के साथ) मैं चन्दनक चमार हूँ, तो देख लो गाड़ी।

वीरक—अरे गाड़ीवाले ! घुमाओ गाड़ी, मैं अच्छी तरह देखूंगा ।

(चेट उसी प्रकार गाड़ी घुमाता है ।)

(वीरक गाड़ी पर चढ़ना चाहता है, अचानक चन्दनक बाल पकड़कर गिरा देता है और पैर से पीटता है ।)

अर्थ—**वीरक**—(क्रोध के साथ उठकर) अरे ! राजा के विश्वस्त और राजा की आज्ञा का पालन करनेवाले मुझको तुमने अचानक बाल पकड़कर पैर से

विश्वस्तो राजाज्ञप्तिं कुर्वन् सहसा केशेषु गृहीत्वा पादेन ताडितः। तत् शृणु रे! अधिकरणमध्ये यदि ते चतुरङ्गं न कल्पयामि, तदा न भवामि वीरकः।)

चन्दनकः—**अरे राअउलं अहिअरणं वा वच्च। किं तुए सुअण-सरिसेण?** (अरे! राजकुलमधिकरणं वा व्रज। किं त्वया शुनकसदृशेन?)

वीरकः—**तह।** (तथा) (इति निष्क्रान्तः।)

चन्दनकः—(दिशोऽवलोक्य) **गच्छ रे पवहणवाहआ गच्छ। जइ को वि पुच्छेदि, तदो भणसि 'चन्दणअ-वीरएहिं अवलोइदं पवहणं वज्जइ। अज्जे वसन्तसेणे! इमं च अहिण्णाणं दे देमि।** (गच्छ रे प्रवहण-वाहक! गच्छ। यदि कोऽपि पृच्छति, ततो भणिष्यसि 'चन्दनक—वीरकाभ्याम् अवलोकितमिदं प्रवहणं व्रजति।' आर्ये वसन्तसेने! इदञ्च अभिज्ञानं ते ददामि।) (इति खड्गं प्रयच्छति।)

आर्यकः—(खड्गं गृहीत्वा सहर्षमात्मगतम्।)

अये! शस्त्रं मया प्राप्तं स्पन्दते दक्षिणो भुजः।
अनुकूलञ्च सकलं हन्त संरक्षितो ह्यहम्॥ २४॥

पीटा है। तो सुन ले अरे! न्यायालय के बीच में यदि तेरे चतुरङ्ग न करवा दूं तो मेरा नाम वीरक नहीं है।

चन्दनक—अरे! राजा के घर अथवा न्यायालय कहीं भी जाओ। कुत्ते के समान तुमसे [मुझे] क्या [डर]?

वीरक—अच्छी बात है। (यह कहकर चला जाता है।)

चन्दनक—(चारो ओर देखकर) जाओ अरे गाड़ीवान! जाओ, [मार्ग में] यदि कोई पूछे तो कह देना—'चन्दनक और वीरक के द्वारा देखी गई यह गाड़ी जा रही है।' आर्ये वसन्तसेने! यह पहचान (प्रमाण) तुम्हें देता हूँ। (ऐसा कहकर तलवार देता है।)

अन्वयः—अये!, मया, शस्त्रम्, प्राप्तम्, दक्षिणः, भुजः, स्पन्दते, सकलम्, अनुकूलम्, हन्त! अहम्, हि, रक्षितः॥ २४॥

शब्दार्थ—अये!=अरे, मया = मैंने, शस्त्रम् = शस्त्र, प्राप्तम्=पा लिया है, दक्षिणः=दाहिना, भुजः=हाथ, स्पन्दते=फड़क रहा है, सकलम्=सभी कुछ, अनुकूलम्=अनुकूल, सहायक है, हन्त!=ओह, अहम्=मैं आर्यक, हि=निश्चितरूप से, संरक्षितः=बचा लिया गया हूँ॥ २४॥

अर्थ—आर्यक—(तलवार लेकर हर्ष के साथ अपने आप में)

अरे! मैंने शस्त्र प्राप्त कर लिया है, [मेरा] दाहिना हाथ फड़क रहा है; सभी कुछ अनुकूल है, ओह! मैं बचा लिया गया हूँ॥ २४॥

चन्दनकः--अज्जए ! (आर्ये ।)

एत्थ मए विण्णविदा पच्चइदा चन्दणं पि सुमरेसि ।
ण भणामि एस लुद्धो णेहस्य रसेण बोल्लामो ।। २५ ।।

(अत्र मया विज्ञप्ता प्रत्ययिता चन्दनमपि स्मरसि ।
न भणामि एष लुब्धः स्नेहस्य रसेन ब्रूमः ।। २५ ।।)

टीका--स्वजीवनरक्षोपायं लब्ध्वाऽनुकूल्य प्रतिपादयति--अये इति । अये ! आश्चर्यं इदम्,मया=आर्यकेण, शस्त्रम्=आयुधम्, प्राप्तम्=लब्धम्, दक्षिणः=वामेतरः, भुजः=बाहुः, स्पन्दते=स्फुरति, एतच्च पुरुषाणां मंगलसूचकम्, अतः सकलम्=सम्पूर्णम्, अनुकूलम् = साधकम् अस्ति, हन्त ! इदं प्रसन्नताबोधकमव्ययम्, अहम् = आर्यकः, संरक्षितः=परित्रात, भाग्येनेति शेषः । एवञ्च न राज्ञो भयमिति भावः । समाधिरलंकारः, पथ्यावक्त्रं वृत्तम् ।। २४ ।।

विमर्श--आर्यक जब तलवार पा लेता है तो उसे अपनी रक्षा का विश्वास होने लगता है, साथ ही ज्योतिषशास्त्रोक्त लक्षणों के अनुसार पुरुष के दाहिने अंगों का फड़कना शुभसूचक माना जाता है । यहाँ समाधि अलंकार है । पथ्यावक्त्र छन्द है ।। २४ ।।

अन्वयः--अत्र, मया, विज्ञप्ता, प्रत्ययिता, (त्वम्) चन्दनम्, अपि, स्मरसि, एषः, लुब्धः, सन्, न, भणामि, किन्तु, स्नेहस्य, रसेन, ब्रूमः ।। २५ ।।

शब्दार्थ--अत्र=विपत्ति के समय में, मया = मेरे द्वारा, विज्ञप्ता=पहचानी गयी, प्रत्ययिता = और विश्वास करायी गई, [त्वम् = वसन्तसेना], चन्दनम्= चन्दनक को, अपि=भी, स्मरसि = याद रखना, एषः=यह मैं, लुब्धः=लोभी, सन्= होता हुआ, न=नहीं, भणामि=कह रहा हूँ, किन्तु=लेकिन, स्नेहस्य=प्रेम के, रसेन= रस से, ब्रूमः=कह रहे हैं ।। २५ ।।

अर्थ-चन्दनक--आर्ये !

इस विपत्ति के समय मेरे द्वारा पहचानी गयी और विश्वास कराई गयी [तुम वसन्तसेना], चन्दनक को भी याद रखना । यह मैं लोभी होकर [किसी चीज को पाने की इच्छा से] नहीं, अपि तु स्नेह के रस से कह रहा हूँ ।। २५ ।।

टीका--विपत्तिं समुत्तीर्य राज्यप्राप्तौ ममापि स्मरणं करणीयमिति प्रतिपादयति - अत्रेति । अत्र=अस्मिन् विपत्तिकाले, मया=चन्दनकेन, विज्ञप्ता=परिज्ञाता, प्रत्ययिता = विश्वासमुपपादिता, [त्वम्=वसन्तसेना], चन्दनकम् = एतन्नामकम्, अपि, स्मरसि = स्मरिष्यसि, सामीप्ये लट्बोध्यः, एषः=अहम् चन्दनकः, लुब्धः= प्रत्युपकारलोभी, सन्, न=नैव, भणामि=वदामि, अपितु, स्नेहस्य=प्रेम्णः, रसेन= भावेन, ब्रूमः = वदामः । अत्र ब्रूमः, इति बहुवचनम्, भणामीति एकवचनमिति वचनभेदो न समीचीन इति बोध्यम् । गाथा वृत्तम् ।। २५ ।।

आर्यकः—

चन्दनश्चन्द्रशीलाढ्यो दैवादद्य सुहृन्मम ।
चन्दनं भोः ! स्मरिष्यामि सिद्धादेशस्तथा यदि ॥ २६ ॥

चन्दनकः—

अभअं तुह देउ हरो विण्हू वम्हा रवी अ चन्दो अ ।
हत्तूण सत्तुवक्खं सुम्भ-णिसुम्भे जधा देवी ॥ २७ ॥

विमर्श—विज्ञप्ता—इसके दो अर्थ हैं (१) चन्दनक द्वारा प्रार्थित, (२) जिसको चन्दनक ने पहचान लिया है। प्रत्ययिता—प्रत्ययः संजातः अस्याः सा। जिसको अपनी रक्षा का विश्वास उत्पन्न करा दिया गया है। 'भणामि' यह उत्तम पुरुष एकवचन और 'ब्रूमः' यह उत्तम पुरुष बहुवचन का एक साथ प्रयोग सामान्यतया असंगत है किन्तु 'अस्मदो द्वयोश्च' (पा. सू. १।२।५९) के अनुसार ऐसा वचनव्यत्यय भी हो सकता है ॥ २५ ॥

अन्वयः—चन्द्रशीलाढ्यः, चन्दनः, दैवात्, अद्य, मम, सुहृत् [जातः], भोः !, यदि, सिद्धादेशः, तथा, [तदानीम्] चन्दनम्, स्मरिष्यामि ॥ २६ ॥

शब्दार्थ—चन्द्रशीलाढ्यः = चन्द्रमा के समान स्वच्छ स्वभाववाला, चन्दनः= चन्दनक, दैवात् = भाग्यवश, अद्य=आज, मम=मेरा, आर्यक का, सुहृत्=मित्र, [जातः=बन गया है], भोः !=हे मित्र !, यदि=अगर, सिद्धादेशः=सिद्ध महापुरुष की भविष्यवाणी, तथा=वैसा ही अर्थात् सत्य होती है, तदा=उस समय, चन्दनम्= चन्दनक को, स्मरिष्यामि=याद करूँगा ॥ २६ ॥

अर्थ—आर्यक—चन्द्रमा के समान उज्वल स्वभाववाले चन्दनक तुम आज संयोगवश मेरे मित्र बन गये हो। हे मित्र चन्दनक ! यदि उस सिद्ध-महापुरुष की भविष्यवाणी सच निकलती है तो चन्दनक को [अवश्य] याद रखूंगा ॥२६॥

टीका—चन्दनककृतमुपकारं भविष्यति कालेऽपि राज्यप्राप्त्यवसरेऽवश्यं स्मरिष्यतीति सूचयति—चन्दन इति। चन्द्रवत्=सुधांशुवत् शीलेन=सत्स्वभावेन, आढ्यः=सम्पन्नः, चन्दनः=चन्दनकः, दैवात्=भाग्यात्, अद्य=अस्मिन् दिने, मम= गोपालदारकस्य, आर्यकस्य, सुहृद् = मित्रम्, जात इति शेषः, भोः !=हे मित्र !, यदि=चेत्, सिद्धादेशः=सिद्धिसम्पन्नस्य महापुरुषस्य भविष्यत्कथनम्, तथा=सत्य-मिति यावत्, तदा=तस्मिन् काले, राज्यप्राप्तौ सत्यामिति भावः, चन्दनम्=साम्प्र-तिक-सहायकं चन्दनकम्, स्मरिष्यामि=स्मरणविषयीकरिष्यामि, उचित-सम्मान-प्रदानार्थमिति भावः। अत्रोपमालंकारः, पथ्यावक्त्रं वृत्तम् ॥ २६ ॥

अन्वयः—हरः, विष्णुः, ब्रह्मा, रविः, चन्द्रः, च, तव, अभयम्, ददातु, शुम्भनिशुम्भौ, हत्वा, देवी, यथा, (तथैव), शत्रुपक्षम्, [हत्वा, विजयस्व] ॥ २७ ॥

(अभयं तव ददातु हरो विष्णुर्ब्रह्मा रविश्च चन्द्रश्च ।
हत्वा शत्रुपक्षं शुम्भनिशुम्भौ यथा देवी ॥ २७ ॥)

(चेटः प्रवहणेन निष्क्रान्तः ।)

चन्दनकः—(नेपथ्याभिमुखमवलोक्य) अरे ! णिक्कमन्तस्स से पिअवअस्सो सव्विलओ पिट्ठदो ज्जेव अणुलग्गो गदो। भोदु, पधाणदण्डधारओ वीरओ राअ-पच्चअ-आरो विरोधिदो। ता जाव अहं पि पुत्त-भादु-पड़ि-

शब्दार्थ—हरः=शंकर, विष्णुः=विष्णु, ब्रह्मा=ब्रह्मा, रविः=सूर्य, च=और, चन्द्रः=चन्द्रमा, तव=तुम्हें, आर्यक को, अभयम्=अभय, ददातु=प्रदान करें; शुम्भनिशुम्भौ=शुम्भ और निशुम्भ राक्षसों को, हत्वा=मारकर, देवी=दुर्गा ने, यथा=जैसे विजय प्राप्त की, (तथैव = उसी प्रकार), शत्रुपक्षम्=शत्रुपक्ष को, [हत्वा=मारकर, विजयस्व=विजय प्राप्त करो] ॥ २७ ॥

अर्थ--चन्दनक--

शंकर, विष्णु, ब्रह्मा, सूर्य और चन्द्रमा तुम्हें अभयदान दें। शुम्भ और निशुम्भ को मारकर देवी ने जिस प्रकार विजय प्राप्त की उसी प्रकार शत्रुपक्ष को मारकर तुम भी विजय प्राप्त करो ॥ २७ ॥

टीका—चन्दनकः आर्यकस्य विजयाय आशीर्ददाति—हर इति । हरः=शिवः, विष्णुः=लक्ष्मीपतिः, ब्रह्मा=जगत्-सृष्टिकर्ता, रविः=सूर्यः, चन्द्रः=निशाकरः, च, तव=तुभ्यम्, आर्यकायेति भावः, अभयम्=भयाभावम्, ददातु=प्रयच्छतु, शुम्भनिशुम्भौ=एतन्नामानौ, राक्षसौ, हत्वा=मारयित्वा, देवी=दुर्गा, यथा=यद्वत्, तथैव=तद्वत्, शत्रुपक्षम्=पालकराज्ञः सम्बन्धिनम्, हत्वा=विनाश्य, त्वं विजयस्व । तुल्ययोगितालंकारः, आर्या वृत्तम् ॥ २७ ॥

विमर्श—प्रसन्न होकर चन्दनक आशीर्वाद देता है। जिस प्रकार दुर्गा ने शुम्भ निशुम्भ दोनों राक्षसों का संहार करके शान्ति-स्थापना की थी उसी प्रकार दुष्ट पालक राजा का संहार करके तुम भी शान्तिस्थापना के लिये राज्य-भार प्राप्त कर लो। यहाँ तुल्ययोगिता अलंकार है और आर्या छन्द है ॥ २७ ॥

(चेट गाड़ी के साथ चला जाता है।)

शब्दार्थ—निष्क्रामतः=निकलते हुये ही इसके, अनुलग्नः=पीछे-पीछे लग गया, प्रधानदण्डकारकः = प्रमुख दण्ड देनेवाला, राजप्रत्ययकारी = राज का विश्वस्त, विरोधितः=विरोधी बना दिया गया, एतम् = इस शर्विलक के, अनुगच्छामि=पीछे जा रहा हूँ।

अर्थ--चन्दनक—(नेपथ्य की ओर देखकर) अरे, निकलते ही आर्यक के पीछे मेरा प्रिय मित्र शर्विलक लगा हुआ चला गया है। अच्छा, राजा के विश्वास-

बुदो एदं ज्जेव अणुगच्छामि । (अरे ! निष्क्रामतो मम प्रियवयस्यः शर्विलकः पृष्ठत एवानुलग्नो गतः । भवतु, प्रधानदण्डधारको वीरको राजप्रत्ययकारी विरोधितः । तद्यावदहमपि पुत्रभ्रातृपरिवृत एतमेवानुगच्छामि ।) (इति निष्क्रान्तः ।)

इति प्रवहणविपर्ययो नाम षष्ठोऽङ्कः ।

—: ० :—

पात्र प्रधान दण्डाधिकारी से मैंने विरोध कर लिया है । अतः मैं भी पुत्र, भाई आदि के साथ होकर इस [शर्विलक अथवा आर्यक] के ही पीछे-पीछे जाता हूँ ।

।। इस प्रकार गाड़ी बदलना नामक छठा अंक समाप्त हुआ ।।

टीका—निष्क्रामतः=अस्मात् स्थानात् निःसरतः, अनुलग्नः=अनुगतः, प्रधानः= प्रमुखः, दण्डधारकः = रक्षापुरुषः, विरोधितः=विरोधं प्रापितः, पुत्रभ्रातृपरिवृतः= पुत्रभ्रात्रादिसमेतः, एतम् एव = शर्विलकम्, आर्यकम् एव वा, अनुगच्छामि= अनुसरामि ।

।। इस प्रकार जयशङ्करलाल-त्रिपाठिविरचित 'भावप्रकाशिका' हिन्दी-संस्कृत-व्याख्या में मृच्छकटिक का छठां अंक समाप्त हुआ ।।

—: ० :—

सप्तमोऽङ्कः

(ततः प्रविशति चारुदत्तो विदूषकश्च ।)

विदूषकः—भो ! पेक्ख पेक्ख पुप्फकरण्डअ-जिण्णुज्जाणस्य सस्सिरीअदां । (भोः ! प्रेक्षस्व, प्रेक्षस्व, पुष्पकरण्डक-जीर्णोद्यानस्य सश्रीकताम् ।)

चारुदत्तः—वयस्य ! एवमेवैतत् । तथाहि—

वणिज इव भान्ति तरवः पण्यानीव स्थितानि कुसुमानि ।
शुल्कमिव साधयन्तो मधुकर-पुरुषाः प्रविचरन्ति ॥ १ ॥

(इसके बाद चारुदत्त और विदूषक प्रवेश करते हैं ।)

अर्थ—**विदूषक**—देखिये, देखिये, पुष्पकरण्डक जीर्णोद्यान की शोभा तो देखिये ।

चारुदत्त—मित्र ! हाँ, ऐसा ही है । क्योंकि—

अन्वयः—तरवः, वणिजः, इव, भान्ति, कुसुमानि, पण्यानि, इव, स्थितानि, मधुकरपुरुषाः, शुल्कम्, साधयन्तः, इव, प्रविचरन्ति ॥ १ ॥

शब्दार्थ—तरवः=वृक्ष, वणिजः=व्यापारियों के, इव=समान, भान्ति=शोभित हो रहे हैं, कुसुमानि=फूल, पण्यानि=बेचने योग्य वस्तुओं के, इव=समान, स्थितानि=स्थित हैं; मधुकरपुरुषाः=पुरुषों के समान भौंरे, शुल्कम् = शुल्क को साधयन्तः इव=वसूल करते हुये से, प्रविचरन्ति=घूम रहे हैं ॥ १ ॥

अर्थ—वृक्ष बनियों के समान शोभित हो रहे हैं, फूल बेचने योग्य वस्तुओं के समान लगे हुये हैं, पुरुषों के समान भौंरे कर [टैक्स] को वसूल करते हुये से घूमते फिर रहे हैं ॥ १ ॥

टीका—उद्यानस्य सौन्दर्यमापणमिव वर्णयति—वणिज इति । तरवः=वृक्षाः, वणिजः=व्यापारिवर्गाः, विक्रेतार इति यावत्, इव=यथा, भान्ति=शोभन्ते, कुसुमानि=पुष्पाणि, पण्यानि=विक्रेयद्रव्याणि, इव = यथा, स्थितानि=विद्यमानानि, सन्ति, मधुकरपुरुषाः = मधुकराः पुरुषा इव, उपमितसमासः, शुल्कम्=राजग्राह्य करम्, साधयन्तः =गृह्णन्तः, इव, उत्प्रेक्षाबोधकम्, प्रविचरन्ति=इतस्ततः भ्रमन्ति । अत्रोपमोत्प्रेक्षयोः संसृष्टिः । आर्या वृत्तम् ॥ १ ॥

विमर्श—चारुदत्त उपवन का सौन्दर्य देखकर उसे एक सजी-सजायी बाजार के समान समझता है । जहाँ दूकानदार बनियाँ हैं, अनेक बिक्रीयोग्य चीजें हैं,

विदूषकः—भो ! इमं असक्कार-रमणीअं सिलाअलं उपविसदु भवं ।
(भोः ! इदमसंस्काररमणीयं शिलातलमुपविशतु भवान् ।)

चारुदत्तः—(उपविश्य) वयस्य ! चिरयति वर्द्धमानकः ।

विदूषकः—भणिदो मए 'वड्ढमाणओ ! वसन्तसेणअं गेण्हिअ लहुं लहुं आअच्छ' त्ति । (भणितो मया—'वर्द्धमानक ! वसन्तसेनां गृहीत्वा लघु लघु आगच्छ' इति)

चारुदत्तः—तत् किं चिरयति ? ।

किं यात्यस्य पुरः शनैः प्रवहणं तस्यान्तरं मार्गते ?
भग्नेऽक्षे परिवर्तनं प्रकुरुते ? छिन्नोऽथवा प्रग्रहः ?
वर्त्मान्तोज्झित-दारु-वारित-गतिर्मार्गान्तरं याचते ?
स्वैरं प्रेरितगोयुगः किमथवा स्वच्छन्दमागच्छति ? ॥ २ ॥

राजा के पुरुष कर वसूल रहे हैं । यहाँ वृक्ष, पुष्प और भौंरे उक्त तीन कार्य सम्पादित कर रहे हैं ॥ १ ॥

शब्दार्थ—असंस्काररमणीयम् = स्वभावतः मनोहारी, शिलातलम्=चट्टान का आसन, चिरयति=देर कर रहा है, लघु-लघु=जल्दी जल्दी ।

अर्थ—**विदूषक**—हे मित्र ! स्वभावतः मनोहारी इस शिलातल पर आप बैठिये ।

चारुदत्त—(बैठकर) मित्र ! वर्द्धमानक देर कर रहा है ।

विदूषक—मैंने तो यह कहा था—वर्धमानक वसन्तसेना को लेकर जल्दी-जल्दी ही आना ।'

अन्वयः—किम्, अस्य, पुरः, प्रवहणम्, शनैः, याति, तस्य, अन्तरम्, मार्गते ? अथवा, अक्षे, भग्ने, [सति, तस्य] परिवर्तनम्, कुरुते, अथवा, प्रग्रहः, छिन्नः, अथवा, वर्त्मान्तोज्झितदारुवारितगतिः, [सन्], मार्गान्तरम्, याचते, अथवा, स्वैरम्, प्रेरितगोयुगः, स्वच्छन्दम्, आगच्छति, किम् ? ॥ २ ॥

शब्दार्थ—किम् = क्या, अस्य=इस (वर्धमानक की गाड़ी) के, पुरः=आगे, प्रवहणम्=दूसरी गाड़ी, शनैः=धीरे-धीरे, याति=जा रही है, तस्य=उस गाड़ी का, अन्तरम्=अवकाश, खाली स्थान, मार्गति=ढूंढ़ रहा है ? अथवा, अक्षे=धुरा के, भग्ने=टूट जाने पर, [तस्य=उसका] परिवर्तनम्=बदलना, कुरुते=कर रहा है ? अथवा, प्रग्रहः=बैलों को नियन्त्रित करने की रस्सी, छिन्नः=टूट गयी है ? अथवा वर्त्मान्तोज्झितदारुवारितगतिः=रास्ते के बीच में रखी गयी लकड़ी [कटे हुये वृक्ष आदि] से रोक दिया गया है गमन जिसका ऐसा वह, मार्गान्तरम्=दूसरी रास्ता, याचते=प्रार्थना कर रहा है ? अथवा, स्वैरम्=धीरे-धीरे, प्रेरितगोयुगः=

बैलों को चलने के लिये प्रेरित करता हुआ, हांकता हुआ, स्वच्छन्दम्=धीरे-धीरे, आगच्छति किम्=आ रहा है क्या ? ॥ २ ॥

अर्थ - **चारुदत्त**—तो देर क्यों कर रहा है ?

क्या इस [वर्धमानक की गाड़ी] के आगे दूसरी गाड़ी धीरे-धीरे जा रही है, उसका अवकाश=खाली रास्ता ढूंढ़ रहा है ? अथवा धुरा टूट जाने पर उसे बदल रहा है ? अथवा लगाम की रस्सी टूट गयी है ? अथवा रास्ते के बीच में पेड़ आदि लकड़ी रख देने से इसका गमन रुक गया है अतः दूसरे रास्ते की प्रार्थना कर रहा है ? अथवा धीरे-धीरे बैलों की जोड़ी को हांकता हुआ अपनी इच्छा से धीरे-धीरे आ रहा है ? ॥ २ ॥

टीका—प्रवहणस्य विलम्बेनागमने हेतुमुत्प्रेक्षते—किमति । किम्=इदं जिज्ञासायाम्, अस्य=वर्धमानस्य शकटस्य, पुरः=अग्रे, प्रवहणम्=अन्यत् शकटम्. शनैः=मन्दंमन्दम्, याति=व्रजति, तस्य=अग्रेगामिनः शकटस्य, अन्तरम्=अग्रे गमनायावकाशम्, मार्गते=अन्विष्यति ? अक्षे=कूबरे, भग्ने=त्रुटिते, विकृते वा, परिवर्तनम्=विनिमयम्, तदपाकृत्यान्यसंयोजनमित्यर्थः, कुरुते=करोति ?, अथवा विकल्पार्थकमव्ययम्, प्रग्रहः=वृषभादीनां नियन्त्रणरज्जुः, छिन्नः=त्रुटितो, भग्नो वा, अथवा, वर्त्मनः=मार्गस्य, अन्ते=प्रान्तभागे, मध्यभागे इति भावः, उज्झितानि=पातितानि यानि दारूणि तैः वारिता = निवारिता गतिः=गमनं यस्य तादृशः, राजाज्ञया गमनागमनावरोधाय मार्गे दार्वादिकं निपात्य मार्गस्यावरोधः कृत इति भावः, कुत्रचित् कर्मान्तोज्झितेत्यादिपाठः, कर्मान्तः = राजादिनियोगः, मार्गान्तरम् अन्यं पन्थानम्, याचते = प्रार्थयते, अन्विष्यतीति भावः, अथवा, स्वैरम्=मन्दंमन्दम्, प्रेरितम्=सञ्चालितम्, गोयुगम् = बलीवर्दद्वयम्, येन तादृशः, सन्, स्वच्छन्दम्=यथेच्छम्, शनैः शनैरिति भावः, आयाति=आगच्छति । एवञ्च विलम्बमसहमानश्चारुदत्तोऽनेक-संकल्प-विकल्पान् कल्पयति । अत्र सन्देहालंकरः, शार्दूलविक्रीडितं वृत्तम् ॥ २ ॥

विमर्श—वसन्तसेना को लेकर वर्धमानक नहीं आ सका । इसके विलम्ब के लिये चारुदत्त तरह-तरह की शंकायें करता है । वर्त्मान्तोज्झितदारुवारितगतिः—इसके स्थान पर कर्मान्तोज्झितदारुवारितगतिः—यह पाठ भी है । कभी-कभी यातायात रोकने के लिये मार्ग के मध्यभाग में बड़ी-बड़ी लकड़ी के लट्ठे आदि रख दिये जाते हैं । यहाँ 'याचते' क्रियापद महत्त्वपूर्ण है । चारुदत्त सोंचता है कि कहीं सभी रास्ते बन्द न कर दिये गये हों, अतः वर्धमानक किसी अन्य सुरक्षित रास्ते से जाने की प्रार्थना कर रहा होगा । अनेक सन्देह होने से सन्देहालंकार है । शार्दूलविक्रीडित छन्द है ॥ २ ॥

(प्रविश्य गुप्तार्यकप्रवहणस्थः ।)

चेटः--जाध गोणा जाध । (यातं गावौ ! यातम् ।)

आर्यकः—(स्वगतम्)

नरपतिपुरुषाणां दर्शनाद्भीतभीतः
सनिगडचरणत्वात् सावशेषापसारः ।
अविदितमधिरूढो यामि साधोस्तु याने
परभृत इव नीडे रक्षितो वायसीभिः ।। ३ ।।

(आर्यक जिसमें छिपा हुआ बैठा है ऐसी गाड़ी में बैठा हुआ प्रवेश करके ।)

अर्थ--चेट--चलो बैलों, चलो ।

अन्वयः--नरपतिपुरुषाणाम्, दर्शनाद्, भीतभीतः, सनिगडचरणत्वात्, सावशेषापसारः, तु, नीडे, वायसीभिः, रक्षितः, परभृतः, इव, (अहम् आर्यकः), साधोः, याने, अविदितम्, अधिरूढः, यामि ।। ३ ।।

शब्दार्थ—नरपतिपुरुषाणाम्=राजपुरुषों रक्षक सिपाहियों आदि के, दर्शनाद्=देखने से, भीतभीतः=बहुत डरा हुआ, सनिगडचरणत्वात्=पैरों में बेड़ियाँ जकड़ी हुईं होने के कारण, सावशेषापसारः=भागने में पूर्णतया समर्थ न होनेवाला, तु=लेकिन, नीडे=घोसले में, वायसीभिः = कौवे की पत्नियों द्वारा, रक्षितः=रक्षित, पोषित, परभृतः=कोयल के, इव=समान, (अहम्=मैं आर्यक), साधोः=सज्जन चारुदत्त की, याने=गाड़ी में, अविदितम्=विना जानकारी के, छिपा हुआ, अधिरूढः=बैठा हुआ, यामि=जा रहा हूँ ।। ३ ।।

अर्थ–आर्यक–(अपने आप में)

राजा के सिपाहियों को देखने से अत्यन्त भयभीत, पैरों में बेड़ियाँ जकड़ी होने से भागने में पूर्णतया असमर्थ, लेकिन घोसले में कौवे की पत्नियों द्वारा रक्षित कोयल [के बच्चे] के समान [मैं आर्यक] उस सज्जन चारुदत्त की गाड़ी में छिपा बैठा हुआ जा रहा हूँ ।। ३ ।।

टीका– स्वकीयसुरक्षितगमने हेतुमाह आर्यकः–नरपतीति । नरपतेः=राज्ञः पालकस्य, पुरुषाणाम्=रक्षकजनानाम्, दर्शनाद्=अवलोकनाद्, भीतभीतः=अत्यन्तं भयभीतः, निगडेन सहितौ–सनिगडौ=शृंखलाबद्धौ चरणौ=पादौ यस्य सः सनिगडचरणः, तस्य भावः, तस्मात् शृंखलाबद्धचरणत्वात् सावशेषः=किञ्चिदवशिष्टः, अपसारः=पलायनं यस्य सः, स्वेच्छया पलायनेऽसमर्थ इति भावः, तु=किन्तु, नीडे=कुलाये, रक्षितः=पालितः पोषितश्च, परभृतः=कोकिलशावकः, इव=यथा, [अहम् आर्यकः), साधोः=सज्जनस्य चारुदत्तस्येत्यर्थः, याने=शकटे, अविदितम्=अज्ञातं यथा स्यात् तथा, अधिरूढः = आसीनः, प्रच्छन्नरूपेण स्थित इत्यर्थः, यामि=सकुशलं व्रजामि । उपमालंकार, मालिनी वृत्तम्–न-न-म-य-य-युतेयं मालिनी भोगिलोकैः ।।३।।

अहो ! नगरात् सुदूरमपक्रान्तोऽस्मि । तत् किमस्मात् प्रवहणादवतीर्य वृक्षवाटिकागहनं प्रविशामि ? उताहो प्रवहणस्वामिनं पश्यामि ? अथवा कृतं वृक्षवाटिकागहनेन । अभ्युपपन्नवत्सलः खलु तत्रभवानार्यचारुदत्तः श्रूयते; तत् प्रत्यक्षीकृत्य गच्छामि ।

स तावदस्माद्व्यसनार्णवोत्थितं निरीक्ष्य साधुः समुपैति निर्वृतिम् ।
शरीरमेतत् गतमीदृशीं दशां धृतं मया तस्य महात्मनो गुणैः ॥ ४॥

विमर्श– भीतभीतः–एक शब्द के प्रयोग से उतना अधिक अर्थ नहीं निकलता है, 'आबाधे च' पा. सू. ८।१।१० से द्वित्व किया गया है । सावशेषापसारः–लम्बी अवधि तक पैर जकड़े रहने के कारण भागने में कठिनाई होने से इच्छानुसार भागना सम्भव नहीं है । वायसीभिः रक्षितः––यह प्रसिद्धि है कि कोयल अपना अण्डा कौवा के घोसले में रख देती है कौवी भ्रमवश अपना अण्डा समझकर उसकी रक्षा करती हुई पालन-पोषण करती रहती है । आर्यक अपने को भी उसी प्रकार समझ रहा है । क्योंकि वह गाड़ी चारुदत्त की है, अतः उसमें वह या उसके सम्बन्धी ही बैठे होंगे । इस कारण आर्यक की रक्षा होती जा रही है । वह सुरक्षित चला जा रहा है । यहाँ उपमा अलंकार है और मालिनी छन्द है ॥ ३ ॥

अर्थ– ओह ! नगर से बहुत दूर निकल आया हूँ । तो क्या इस गाड़ी से उतर कर घने पेड़ों के समूह में चला जाऊँ, अथवा गाड़ी के स्वामी चारुदत्त का दर्शन कर लूं । अथवा घने वृक्षों के समूह में जाना व्यर्थ है । माननीय चारुदत्त शरणागतों की रक्षा करने वाले हैं, ऐसा सुना जाता है । अतः उनका दर्शन करके ही जाऊँगा ।

टीका—सुदूरम्=बहुदूरम्, अपक्रान्तः=अपसृतः, वृक्षवाटिकाभिः=वृक्षसमूहैः, गहनम् = गभीरम्, संकुलम्, प्रविशामि=आत्मरक्षार्थं व्रजामि, उताहो=अथवा, प्रवहणस्य स्वामिनम्=चारुदत्तम्, वृक्षवाटिकागहनेन तत्र प्रवेशेन, कृतम्=न किमपि फलम् इत्यर्थः, अभ्युपपन्नेषु=शरणागतेषु वत्सलः=पालकः, प्रत्यक्षीकृत्य=अवलोक्य, गच्छामि=अस्मात् स्थानात् अन्यत्रात्मरक्षार्थं व्रजिष्यामीत्यर्थः ।

अन्वयः—साधुः, सः, अस्मात्, व्यसनार्णवोत्थितम्, [माम्] निरीक्ष्य, निर्वृतिम्, समुपैति, तावत्, ईदृशीम्, दशाम्, गतम्, एतत्, शरीरम्, मया, तस्य, महात्मनः, गुणैः, धृतम् ॥ ४ ॥

शब्दार्थ—साधुः=सज्जन, सः=वे चारुदत्त, अस्मात्=इस, पूर्वोक्त स्वभाव के कारण, व्यसनार्णवोत्थितम्=विपत्तिरूपी सागर से निकले हुये, माम्=मुझ आर्यक को, निरीक्ष्य=देख कर, निर्वृतिम् = सुख, आनन्द को, उपैति=प्राप्त करेंगे, तावत्= यह वाक्यालंकार के लिये है, ईदृशीम्=इस प्रकार की, दशाम्=अवस्था को, गतम्=

चेटः—इमं तं उज्जाणं, ता जाव उवशप्पामि । (उपसृत्य) **अज्ज मित्तेअ** ! । (इदं तदुद्यानम्, तद् यावदुपसर्पामि ।) (आर्य मैत्रेय !)

विदूषकः—भो ! पिअं दे णिवेदेमि, वड्ढमाणओ मन्तेदि, आगदाए वसन्तसेणाए होदव्वं (भोः ! प्रियं ते निवेदयामि, वर्द्धमानको मन्त्रयति, आगतया वसन्तसेनया भवितव्यम् ।)

प्राप्त हुआ, एतत्=यह, शरीरम्=शरीर, तस्य=उस, महात्मनः = महापुरुष के, गुणैः=गुणों के कारण, धृतम्=धारण किया हुआ है ।। ४ ।।

अर्थ—वे सज्जन [चारुदत्त] इस अपने स्वभाव से, विपत्तिरूपी समुद्र से पार निकले हुये मुझको देखकर सुख प्राप्त करेंगे, प्रसन्न होगें । इस प्रकार की दशा को प्राप्त हुआ यह शरीर उसी महापुरुष के गुणों के कारण धारण किया हुआ है, [अन्यथा समाप्त कर दिया जाता ।] ।। ४ ।।

टीका—साधुः = सज्जनः, सः = चारुदत्तः, अस्मात् = शरणागतवात्सल्यात्, व्यसनम्=कारागारादौ बन्धनम् एव अर्णवः=सागरः, तस्मात् उत्थितम्=बहिर्भूतम्, सुरक्षितम्, [माम्=आर्यकम्], निरीक्ष्य=विलोक्य, निर्वृतिम्=आनन्दम्, समुपैति= प्राप्स्यति, वर्तमानसामीप्यात् भविष्यति लट्, ईदृशीम्=पूर्वानुभूताम्, दशाम्= अवस्थाम्, गतम्=प्राप्तम्, एतत्=इदम्, शरीरम्=कायः, महात्मनः=महापुरुषस्य, तस्य=चारुदत्तस्य, गुणैः=परोपकारादिसद्गुणैः, धृतम् = त्रातम्, महापुरुषस्य तस्य याने समारोहणेनैव मम शरीरमेतावत्कालपर्यन्तं सुरक्षितं वर्ततेऽन्यथा राज- पुरुषादिभिः गृहीत्वा कारागारादौ बद्धं स्यादिति भावः । वंशस्थबिलं वृत्तम् ।। ४ ।।

विमर्श—इस श्लोक में 'अस्मात्' इसका अर्थ सन्दिग्ध है । सामान्यतया इसको 'व्यसनार्णव' का परामर्शक माना गया है परन्तु ऐसा मानने पर व्याकरण- शास्त्रानुसार समास होना कठिन है क्योंकि 'साकाङ्क्ष' का समास नहीं होता है । इस स्थिति में इसका अर्थ पूर्वोक्त 'अभ्युपपन्नवत्सलत्व' के साथ करना चाहिये- ऐसा कुछ लोग कहते हैं । परन्तु अर्थ के औचित्य को ध्यान में रखने पर इसको 'व्यवसनार्णव' का ही परामर्शक मानना चाहिये । जैसे कुछ विशेष उदाहरणों में साकाङ्क्षता में भी समास हुये हैं, वैसा ही यहाँ भी मान लेना चाहिये ।। ४ ।।

अर्थ चेट—यही वह बगीचा है, तो वहीं चलता हूँ । (पास जाकर) आर्य मैत्रेय !

विदूषक—मित्र, मित्र, आपको शुभ समाचार बता रहा हूँ । वर्द्धमानक पुकार रहा है । वसन्तसेना आ गई होगी ।

चारुदत्तः—प्रियं नः प्रियम् ।

विदूषकः—दासीए पुत्ता ! किं चिरइदोसि ? (दास्याः पुत्र ! किं चिरायितोऽसि ?).

चेटः—अज्ज मित्तेअ ! मा कुप्प, जाणत्थलके विशुमलिदे त्ति कदुअ गदार्गदि कलेन्ते चिलइदेम्हि । (आर्य मैत्रेय ! मा कुप्य, यानास्तरणं विस्मृतमिति कृत्वा गतागतिं कुर्वन् चिरायितोऽस्मि ।)

चारुदत्तः—वर्द्धमानक ! परिवर्त्तय प्रवहणम् । सखे मैत्रेय ! अवतारय वसन्तसेनाम् ।

विदूषकः—किं णिअडेण वद्धा से गोडा जेण सअं ण ओदरेदि । (उत्थाय प्रवहणमुद्घाटच) भोः ! ण वसन्तसेणा, वसन्त-सेणो क्खु एसो । (किं निगडेन बद्धावस्याः पादौ येन स्वयं नावतरति ।) (भोः न वसन्तसेना, वसन्तसेनः खल्वेषः ।)

चारुदत्तः—वयस्य ! अलं परिहासेन, न कालमपेक्षते स्नेहः । अथवा स्वयमेवावतारयामि । (इत्युत्तिष्ठति)

आर्यकः—(दृष्ट्वा) अये ! अयमेव प्रवहणस्वामी । न केवलं श्रुतिरमणीयो दृष्टिरमणीयोऽपि । हन्त ! रक्षितोऽस्मि ।

चारुदत्तः—(प्रवहणमधिरुह्य दृष्ट्वा च) अये ! तत् कोऽयम् ?

'करिकर-समबाहुः सिंहपीनोन्नतांसः
पृथुतर-सम-वक्षास्ताम्रलोलायताक्षः ।

चारुदत्त—प्रिय है, हमारे लिये प्रिय है ।

विदूषक—दासी के बच्चे ! क्यों देर कर दी ?

चेट—आर्य मैत्रेय ! मत नाराज होइये । गाड़ी का विछावन भूल गया था इसलिये आना जाना करने में देर हो गयी ।

चारुदत्त—वर्धमानक गाड़ी घुमाओ । मित्र मैत्रेय ! वसन्तसेना को उतारो ।

विदूषक—क्या इसके पैर बेड़ी से बंधे हैं जो यह स्वयं नहीं उतर पा रही है । (उठ कर, गाड़ी खोलकर) अरे ! यह वसन्तसेना नहीं है, यह तो वसन्तसेन है ।

चारुदत्त—मित्र हंसी मत करो । प्रेम समय का विलम्ब नहीं चाहता है । अथवा मैं स्वयं ही उतारता हूँ । (यह कह कर उठता है ।)

आर्यक—(देखकर) अरे ! ये ही गाड़ी के स्वामी हैं । ये केवल सुनने में ही अच्छे नहीं हैं अपि तु देखने में भी अच्छे लगते हैं । अहो ! अब (मेरी) रक्षा हो गयी ।

अन्वयः—करिकरसमबाहुः, सिंहपीनोन्नतांशः, पृथुतरसमवक्षाः, ताम्रलोलाय-

कथमिदमसमानं प्राप्त एवंविधो यो
वहति निगडमेकं पादलग्नं महात्मा ॥ ५ ॥

ततः को भवान् ?

आर्यकः — शरणागतो गोपालप्रकृतिरार्यकोऽस्मि ।

ताक्षः, एवंविधः, महात्मा [अस्ति, सः] कथम्, इदम्, असमानम्, [दण्डम्], प्राप्तः, पादलग्नम्, एकम्, निगडम्, वहति ॥ ५ ॥

शब्दार्थ —करिकर-समबाहुः = हाथी की सूँड़ के समान भुजाओं वाला, सिंहपीनोन्नतांशः=शेर के समान मोटे और ऊँचे कन्धों वाला, पृथुतरसमवक्षाः= विशाल और समतल वक्षस्थलवाला, ताम्रलोलायताक्षः=ताम्बें के समान, चञ्चल और बड़ी-बड़ी आँखोंवाला, यः=जो, एवंविधः=इस प्रकार का महात्मा=महापुरुष है वह, कथम्=कैसे, इदम समानम्=इस प्रकार के अनुचित [दण्ड] को, प्राप्तः=प्राप्त कर, पादलग्नम्=पैर में लटकी हुई एक, निगडम्=बेड़ी को, वहति=ढो रहा है, धारण किये हुये है ॥ ५ ।

अर्थ —**चारुदत्त**—(गाड़ी पर चढ़कर और देखकर) अरे, तो यह कौन है ?

हाथी की सूँड़ के समान विशाल भुजाओं वाला, शेर के समान ऊँचे और मोटे कन्धों वाला, विशाल और समतल वक्षस्थलवाला, ताम्वें के समान रंगवाले चञ्चल और विशाल नेत्रों वाला जो इस प्रकार का महापुरुष है वह कैसे इस प्रकार के अनुचित दण्ड को प्राप्त करके पैर में लगी हुई एक बेड़ी को ढो रहा है, धारण किये हुये है ॥ ५ ॥

तब आप कौन हैं ?

टीका—आर्यकस्य स्वरूपं बन्धनं च विलोक्य चारुदत्त उत्प्रेक्षते—करिकरेति । करिणः=गजस्य करेण=शुण्डादण्डेन समौ=तुल्यौ बाहू=भुजौ यस्य तादृशः, सिंहस्य= मृगाधिपस्य इव पीनौ = परिपुष्टौ, उन्नतौ = उच्छ्रितौ च अंशौ = स्कन्धौ यस्य तादृशः, पृथुतरम्=अतिविशालम् समम्=अनुच्चनीचम्, वक्षः=उरःस्थलं यस्य सः, ताम्रे=ताम्रवर्णे, लोले=चञ्चले, आयते=आयताकारे विशाले इत्यर्थः, अक्षिणी= नेत्रे यस्य तादृशः, सः=पुरोदृश्यमानः, एवम्विधः=पूर्वोक्तवैशिष्टयुक्तः, महात्मा= महापुरुषः, अस्ति, सः, कथम् = कस्मात् कारणात्, इदम्=पुरो दृश्यमानम्, असमानम् = अयोग्यम् अनुचितं बन्धनम्, प्राप्तः = उपगतः, सन्, पादलग्नम्= चरणनिबद्धम् एकम्, निगडम्=शृङ्खलाम्, वहति=धारयति । एवम्विध-महापुरुष-लक्षणवत इदं बन्धनमाश्चर्यकरमिति भावः । लुप्तोपमालंकारः । मालिनी वृत्तम् ॥ ५ ॥

अर्थ—**आर्यक**—शरण में आया हुआ, अहीर का पुत्र आर्यक हूँ ।

चारुदत्तः—किं घोषादानीय योऽसौ राज्ञा पालकेन बद्धः ?

आर्यकः —अथ किम् ।

चारुदत्तः—

विधिनैवोपनीतस्त्वं चक्षुर्विषयमागतः ।
अपि प्राणानहं जह्यां न तु त्वां शरणागतम् ॥६॥

(आर्यको हर्षं नाटयति)

चारुदत्तः—वर्द्धमानक ! चरणान्निगडमपनय ।

चेटः—जं अज्जो आणवेदि । (तथा कृत्वा) अज्ज ! अवणीदाइं णिगलाइं । (यदार्य आज्ञापयति ।) (आर्य ! अपनीतानि निगडानि ।)

चारुदत्त—क्या जिसे राजा पालक ने अहीरों की बस्ती से पकड़ कर जेल में बन्द करा दिया था ?

आर्यक—हाँ, वही ।

अन्वयः—विधिना, एव, उपपन्नः, त्वम्, चक्षुर्विषयम्, आगतः, अहम्, प्राणान्, अपि, जह्याम्, तु, शरणागतम्, त्वाम्, न, [जहामि] ॥ ६ ॥

शब्दार्थ—विधिना = भाग्य से, एव=ही, उपनीतः = लाये गये, त्वम्=तुम आर्यक, चक्षुर्विषयम्=दर्शन के विषय को, आगतः=प्राप्त हुये हो, दिखाई दिये हो, अहम् = मैं चारुदत्त, प्राणान् = अपने प्राणों को, अपि = भी, जह्याम् = छोड़ दूँ, तु = किन्तु, शतणागतम् = शरण में आये हुये, त्वाम् = तुम को, न=नहीं, [छोड़ सकता] ॥ ६ ॥

अर्थ—चारुदत्त—

भाग्य द्वारा ही लाये गये तुम मेरे नेत्रों के विषय बने हो, दिखाई पड़ रहे हो, मैं अपने प्राणों को भी छोड़ दूँ किन्तु शरण में आये हुये तुम [आर्यक] को नहीं छोड़ सकता । (तुम्हारी जीवनरक्षा अवश्य करूँगा ।) ॥ ६ ॥

टीका—विधिना=भाग्येन, एव उपनीतः=अत्र प्रापितः, त्वम्=आर्यकः, मम, चक्षुषोः = नेत्रयोः, विषयम् = गोचरम्, आगतः=प्राप्तः, असि, अहम् = चारुदत्तः, प्राणान्=अशून्, अपि, जह्याम्=त्यजेयम्, तु=परन्तु, शरणे=रक्षणे, आगतम्=प्रपन्नम्, त्वाम्=आर्यकम्, न=नैव, जहामीत्यर्थः । स्वकीयप्राणपरित्यागेनापि तव जीवनरक्षां करिष्यामीति भावः । पथ्यावक्त्रं वृत्तम् ॥ ६ ॥

(आर्यक हर्ष का अभिनय करता है ।)

अर्थ—चारुदत्त—वर्धमानक ! पैर से बेंड़ी हटा दो ।

चेट—आर्य की जो आज्ञा । (पैर की बेड़ी हटा कर) आर्य । बेंड़ियाँ हटा दीं ।

आर्यकः--स्नेहमयान्यन्यानि दृढतराणि दत्तानि ।

विदूषकः—सङ्कच्छेहि णिअडाइं, एसो वि मुक्को, सम्पदं अम्हे वज्जिस्सामो । (सङ्कच्छस्व निगडानि, एषोऽपि मुक्तः, साम्प्रतं वयं व्रजिष्यामः ।)

चारुदत्तः धिक् शान्तम् ।

आर्यकः—सखे चारुदत्त ! अहमपि प्रणयेनेदं प्रवहणमारूढः । तत् क्षन्तव्यम् ।

चारुदत्तः—अलङ्कृतोऽस्मि स्वयंग्राहप्रणयेन भवता ।

आर्यकः—अभ्यनुज्ञातो भवता गन्तुमिच्छामि ।

चारुदत्तः—गम्यताम् ।

आर्यक :—भवतु, अवतरामि ।

चारुदत्तः—सखे ! नावतरितव्यम् । प्रत्यग्रापनीतसंयमनस्य भवतः अलघुसंचारा गतिः । सुलभपुरुषसञ्चारेऽस्मिन् प्रदेशे प्रवहणं विश्वासमुत्पादयति, तत् प्रवहणेनैव गम्यताम् ।

आर्यकः —यथाह भवान् ।

आर्यक—प्रेममयी दूसरी बेड़ियाँ डाल दीं ।

विदूषक—(चारुदत्त के पैर में) बेड़िया डाल दो । यह भी छूट गया । अब हम लोग (कारागार) चलेंगे ।

चारुदत्त—ऐसी बात को धिक्कार है । शान्त रहो ।

आर्यक —मित्र चारुदत्त ! मैं भी प्रेम के कारण ही इस गाड़ी पर चढ़ा । अतः क्षमा करिये ।

चारुदत्त—आपके द्वारा स्वयं इस गाड़ी पर चढ़ने के स्नेह से मैं अलंकृत हो गया हूँ ।

आर्यक—आपसे आज्ञा लेकर जाना चाहता हूँ ।

चारुदत्त —जाइये ।

आर्यक—अच्छा, उतरता हूँ ।

चारुदत्त—मित्र ! मत उतरो । अभी अभी बेड़ी हटाने से आपकी गति तेज नहीं है (अर्थात् आप जल्दी जल्दी नहीं चल पायेंगे ।) राजपुरुषों के आवागमन से युक्त इस स्थान पर (मेरी) गाड़ी विश्वास उत्पन्न कराती है, इसलिये गाड़ी से ही जाइये ।

आर्यक —आप की जैसी आज्ञा ।

चारुदत्तः—क्षेमेण व्रज बान्धवान्,—
आर्यकः—ननु मया लब्धो भवान् बान्धवः।
चारुदत्तः—स्मर्त्तव्योऽस्मि कथान्तरेषु भवता,—
आर्यकः—स्वात्मापि विस्मर्यते ?
चारुदत्तः—त्वां रक्षन्तु पथि प्रयान्तममराः,—
आर्यकः—संरक्षितोऽहं त्वया।
चारुदत्तः—स्वैर्भाग्यैः परिरक्षितोऽसि—,
आर्यकः—ननु हे ! तत्रापि हेतुर्भवान् ॥ ७ ॥

अन्वयः—क्षेमेण, बान्धवान्, व्रज। ननु, मया, भवान्, बान्धवः, लब्धः। भवता, कथान्तरेषु स्मर्तव्यः। स्वात्मा, अपि, विस्मर्यते ? पथि, प्रयान्तम्, त्वाम्, अमराः, रक्षन्तु, अहम्, त्वया, रक्षितः। स्वैः भाग्यैः, परिरक्षितः, असि, ननु, हे, तत्र, अपि, भवान्, हेतुः ॥ ७ ॥

शब्दार्थ—क्षेमेण = कुशलतापूर्वक, बाधवान् = बन्धुबान्धवों के पास, व्रज= जाइये। ननु = निश्चित ही, मया=मुझे, भवान्=आप चारुदत्त, बान्धवः =बान्धव, लब्धः = प्राप्त हो गये। भवता = आप (आर्यक) द्वारा, कथान्तरेषु=अन्य बात-चीत के प्रसंग में, अस्मि स्मर्तव्यः=मेरी याद करनी चाहिये। स्वात्मा=अपनी आत्मा, अपि=भी, विस्मर्यंते = भुलाई जाती है ?, पथि = मार्ग में, प्रयान्तम् = जाते हुये, त्वाम्=तुम्हारी (आर्यक की), अमराः=देवता लोग, रक्षन्तु=रक्षा करें, अहम्=मुझ आर्यक की, त्वया = तुम [चारुदत्त] ने, रक्षितः = रक्षा की है, स्वैः = अपने [आर्यक के], भाग्यैः=भाग्य से, परिरक्षितः=सुरक्षित, असि=हो, ननु=निश्चित ही, तत्र=उसमें, अपि=भी, भवान्=आप [चारुदत्त] ही, हेतुः = कारण, हैं ॥ ७ ॥

अर्थ—चारुदत्त—कुशलता के साथ अपने बन्धुओं के पास जाइये।

आर्यक—निश्चित ही मैंने आपको बन्धु पा लिया है।

चारुदत्त—अन्य प्रसङ्गों में मुझे भी याद करना।

आर्यक—क्या अपनी आत्मा भी भुलाई जाती है ?

चारुदत्त—मार्ग में जाते हुये तुम्हारी रक्षा देवता करें।

आर्यक—मेरी रक्षा तो आपने ही कर दी।

चारुदत्त—अपने भाग्य से सुरक्षित हो।

आर्यक—मित्रवर ! इसमें भी तो आप ही कारण हैं।

टीका—साम्प्रतं प्रयाणसमये आर्यकचारुदत्तौ परस्परं शिष्टाचारं विधातु-मुक्तिप्रत्युक्तिभ्यां प्रतिपादयतः—क्षेमेणेति। क्षेमेण=आर्यक ! त्वं कुशलेन, बान्धवान्=आत्मीयान्, व्रज=याहि। आर्यकः प्रतिवदति—ननु भोः=निश्चयेन, मित्रवर !,

चारुदत्तः--यत्, उद्यते पालके महती रक्षा न वर्त्तते, तत् शीघ्रमपक्रामतु भवान्।

आर्यकः—एवं पुनर्दर्शनाय। (इति निष्क्रान्तः)

चारुदत्तः—

कृत्वैवं मनुजपतेर्महद्व्यलीकं
स्थातुं हि क्षणमपि न प्रशस्तमस्मिन्।
मैत्रेय ! क्षिप निगडं पुराणकूपे
पश्येयुः क्षितिपतयो हि चारदृष्ट्या ॥ ८ ॥

भवान्=चारुदत्तः, मया = आर्यकेण, बान्धवः=आत्मीयः, लब्धः=प्राप्तः, 'राजद्वारे श्मशाने च यस्तिष्ठति सः बान्धवः' इत्याद्युक्तेः। चारुदत्तो ब्रूते-भवता=आर्यकेण त्वया, कथान्तरेषु=अन्यविषयकवार्ताप्रसङ्गेषु, स्मर्तव्यः=स्मरणीयः, अस्मि=अहम्, अत्र 'अहमर्थकः 'अस्मि' इति अव्ययशब्दः। आर्यकः प्रतिब्रूते- स्वात्मा अपि=निजात्मा अपि, विस्मर्यते=विस्मरणीयो भवति ? चारुदत्तः शुभमांशसति-पथि=मार्गे, प्रयान्तम्=व्रजन्तम्, त्वाम्=आर्यकम्, अमराः=देवाः, रक्षन्तु=अवन्तु, त्रायन्ताम्, आर्यकः प्रतिवदति--अहम्=आर्यकः, त्वया=चारुदत्तेन, संरक्षितः=परित्रातः, चारुदत्तः स्वस्य हेतुत्वं निराकरोति-स्वैः = निजैः, भाग्यैः=भागधेयैः, परिरक्षितः=परित्रातः, असि, आर्यकस्तत्रापि चारुदत्तस्यैव हेतुत्वमङ्गीकर्तुं प्रतिवदति ननु=निश्चये, हे=भोः मित्र !, तत्रापि=तादृशस्क्षणेऽपि, भवान्=चारुदत्तः, एव, हेतुः=कारणमिति भावः। एवञ्च भवानेव मे मुख्यः परित्रातेति आर्यकस्याशयः। शार्दूलविक्रीडितं वृत्तम् ॥ ७ ॥

विमर्श—यहाँ उक्ति-प्रत्युक्ति के माध्यम से आर्यक की कृतज्ञता और चारुदत्त की महानुभावता का अति सुन्दर चित्रण किया गया है ॥ ७ ॥

अर्थ—**चारुदत्त**—चूंकि पालक राजा (आपको पकड़ने के लिये) उद्यत है और सुरक्षा की व्यवस्था नहीं है अतः आप शीघ्र ही चले जाइये।

आर्यक—अच्छा, फिर दर्शन करने के लिये (आशा बनाये हुवे) जा रहा हूँ। (यह कहकर निकल जाता है।)

अन्वयः—एवम्, मनुजपतेः, महत्, व्यलीकम्, कृत्वा, अस्मिन् (स्थाने) क्षणम्, अपि, स्थातुम्, न, हि, प्रशस्तम्, मैत्रेय; निगडम्, पुराणकूपे, क्षिप, हि, क्षितिपतयः, चारदृष्ट्या, पश्येयुः ॥ ८ ॥

शब्दार्थ—एवम्=पूर्वोक्त प्रकार का, मनुजपतेः=राजा पालक का, महत्=बहुत बड़ा, व्यलीकम्=अपराध, कृत्वा=करके, अस्मिन्=इस स्थान पर, स्थान में, क्षणम्=थोड़ी देर, अपि=भी, स्थातुम्=रुकना, न हि=निश्चित रूप से नहीं,

(वामाक्षिस्पन्दनं सूचयित्वा) सखे मैत्रेय ! वसन्तसेनादर्शनोत्सुकोऽयं जनः । पश्य —

अपश्यतोऽद्य तां कान्तां वामं स्फुरति लोचनम् ।
अकारणपरित्रस्तं हृदयं व्यथते मम ॥ ९ ॥

प्रशस्तम्=अच्छा है, मैत्रेय=मित्र मैत्रेय !, निगडम्=बेड़ी को, पुराणकूपे=पुराने कुआँ में, (जिसका पानी सूख जाने से कोई वस्तु दिखाई नहीं देती है), क्षिप=फेंक दो, हि=क्योंकि, क्षितिपतयः=राजा, चारदृष्ट्या=गुप्तचररूपी नेत्र से, पश्येयुः= देख लेंगे ॥ ८ ॥

अर्थ—चारुदत्त—

राजा पालक का ऐसा [आर्यकरक्षारूपी] महान् अपराध करके यहाँ क्षण भर भी रुकना ठीक नहीं है । हे मैत्रेय ! बेंड़ी को पुराने [अन्धे] कुआँ में फेंक दो । क्योंकि राजा लोग गुप्तचर रूपी नेत्र से देख लेंगे ॥ ८ ॥

टीका—सुरक्षितं कृत्वाऽऽर्यकं विसृज्य चारुदत्तः आत्मनः सुरक्षार्थं मैत्रेयं निर्दिशति—कृत्वैवमिति । एवम्=इत्थम्, मनुजपतेः=राज्ञः पालकस्येत्यर्थः, महत्= अत्यन्तम्, व्यलीकम्=अप्रियम्, अहितमिति भावः, कृत्वा=विधाय, अस्मिन्=प्रदेशे इत्यर्थः, क्षणम् अपि=मुहूर्तमपि, स्थातुम्=वर्तितुम्, नहि=नैव, प्रशस्तम्=युक्तम्, अतः हे मैत्रेय=मित्र, निगडम्=आर्यकस्य पादादपाकृतं निगडम्, पुराणकूपे=जलादि-शून्ये 'अन्धकूपे' इति प्रसिद्धम्, क्षिप=पातय, हि=यस्मात्, क्षितिपतयः=राजानः, चारदृष्ट्या=गुप्तचररूपदृष्ट्या, पश्येयुः=अवलोकयेयुः । 'चारैः पश्यन्ति राजानः' इति वचनमनुस्मृत्य चारुदत्तः भयमुपैति । अत्र कारणेन कार्यसमर्थनरूपोऽर्थान्तर-न्यासोऽलङ्कारः, प्रहर्षिणी वृत्तम् ॥ ८ ॥

अर्थ—(बायीं आँख का फड़कना सूचित करके) मित्र मैत्रेय । यह व्यक्ति [मैं] वसन्तसेना के दर्शन के लिये अति उत्सुक है । देखो—

अन्वयः—अद्य, ताम्, कान्ताम्, अपश्यतः, मम, वामम्, लोचनम्, स्फुरति, अकारणपरित्रस्तम्, मम, हृदयम्, व्यथते ॥ ९ ॥

शब्दार्थ—अद्य=आज, इस समय, ताम्=उस, कान्ताम्=प्रेयसी वसन्तसेना को, अपश्यतः=न देखने वाले, मम=मेरा [चारुदत्त का], वामम्=बाँया, लोचनम्= आँख, स्फुरति=फड़क रही है, अकारणपरित्रस्तम्=बिना किसी कारण के घबड़ाया हुआ, हृदयम्=हृदय, व्यथते=व्यथित हो रहा है, परेशान हो रहा है ॥ ९ ॥

अर्थ—आज [इस समय] उस प्रेयसी वसन्तसेना का दर्शन न करने वाले मेरी बाँयी आँख फड़क रही है । बिना किसी कारण के घबड़ाया हुआ मेरा हृदय व्यथित हो रहा है ॥ ९ ॥

तदेहि, गच्छावः। (परिक्रम्य) कथमभिमुखमनाभ्युदयिकं श्रमणकदर्शनम्। (विचार्य) प्रविशत्वयमनेन पथा, वयमप्यनेनैव पथा गच्छामः।

(इति निष्क्रान्तः।)

इत्यार्यकापहरणं नाम सप्तमोऽङ्कः।

—: ० :—

टीका—तदानीं चारुदत्तो दुर्निमित्तोत्पत्तिं वसन्तसेनायाः अदर्शनमूलिकां चिन्तयति —अपश्यत इति। अद्य=अस्मिन् काले, ताम्=पूर्वोक्ताम्, मदीयाम् कान्ताम्=प्रेयसीम्, वसन्तसेनामित्यर्थः, अपश्यतः=अनवलोकयतः मम=चारुदत्तस्य, वामम्=सव्येतरम्, लोचनम्=नेत्रम्, स्फुरति=स्पन्दते, अकारणंपरित्रस्तम्=व्याकुलम्, हृदयम्=चित्तम्, व्यथते=व्यग्रं भवति। विभावनालंकारः, आर्या वृत्तम्॥ ९॥

विमर्श—भावी अनिष्ट के संकेत को चारुदत्त ठीक से नहीं समझ पा रहा है। वह उसे वसन्तसेना के दर्शन न होने के कारण होने वाला मान रहा है। यहाँ कारण के अभाव में कार्योत्पत्ति होने से विभावना अलंकार है॥ ९॥

अर्थ—इस लिये आओ, चलें। (घूम कर) अरे सामने अमङ्गलसूचक इस बौद्ध संन्यासी का दर्शन क्यों? (सोंचकर) यह इस मार्ग से प्रवेश करे, आये। हम लोग इस (दूसरे) मार्ग से चल रहे हैं।

(इस प्रकार सभी निकल जाते हैं।)

"इस प्रकार आर्यक का अपहरण नामक सप्तम अङ्क समाप्त हुआ॥

॥ इस प्रकार जयशङ्करलाल-त्रिपाठि-विरचित 'भावप्रकाशिका, हिन्दी-संस्कृत-व्याख्या में मृच्छकटिक का सप्तम अंक समाप्त हुआ॥



अष्टमोऽङ्कः

(ततः प्रविशति आर्द्रचीवरहस्तो भिक्षुः ।)

भिक्षुः —**अज्ञा ! कलेध धम्मशञ्चअं । (** अज्ञाः ! कुरुत धर्मसञ्चयम् ।)

शञ्जम्मध णिअपोटं णिच्चं जग्गेध झाण-पड़हेण

विशमा इन्दिअ-चोला हलन्ति चिलसञ्चिदं धम्मं ॥ १ ॥

(संयच्छत निजोदरं नित्यं जागृत ध्यानपटहेन ।

विषमा इन्द्रियचौरा हरन्ति चिरसञ्चितं धर्मम् ॥ १ ॥)

(इसके बाद गीला वस्त्र हाथ में लिये हुये भिक्षुक प्रवेश करता है ।)

अन्वयः—निजोदरम्, संयच्छत, ध्यानपटहेन, नित्यम्, जाग्रत, विषमाः, इन्द्रियचौराः, चिरसञ्चितम्, धर्मम्, हरन्ति ॥ १ ॥

शब्दार्थ—निजोदरम्=अपने पेट को, संयच्छत=सीमित करो, ध्यानपटहेन=ध्यानरूपी नगाड़े से, नित्यम्=रोज, सदैव, जाग्रत=जागते रहो, विषमाः=कष्ट-कारक, इन्द्रियचौराः=इन्द्रियरूपी चोर, चिरसञ्चितम्=बहुत समय से एकत्र किये गये, धर्मम्=धर्म को, पुण्य को, हरन्ति=चुरा लेते हैं ॥ १ ॥

अर्थ—**भिक्षु** (=बौद्धसंन्यासी)—अरे अज्ञानियों ! (मूर्खो !) धर्म का संचय करो —

अपने पेट को सीमित करो, [कम खाओ] ध्यानरूपी नगाड़े से सदा जागते रहो । (कारण यह है कि) कष्टकारक इन्द्रियरूपी चोर बहुत समय से सञ्चित धर्म को चुरा लेते हैं, हर लेते हैं ॥ १ ॥

टीका—संयम एव धर्मरक्षणस्य परमोपाय इति प्रतिपादयन्नाह भिक्षुः=बौद्धधर्मावलम्बी संन्यासी—संयच्छतेति । निजोदरम्=निजम्=स्वीयम्, उदरम्=जठरम्, संयच्छत=सङ्कोचयत, केवलमुदरं पूरयितुमेव जीवनं न नाशयतेति भावः । ध्यानपटहेन=ध्यानमेव पटहः=ढक्का, तेन, नित्यम्=सदैव, जाग्रत=विनिद्राः तिष्ठत, जाग्रतः पुंसो न चौर्यादिकं सम्भवतीति भावः । किमर्थमत आह—विषमाः=दुरन्ताः, कष्टकारिण इत्यर्थः इन्द्रियचौराः=इन्द्रियाणि=चक्षुरादीन्येव चौराः=तस्कराः, चिरसञ्चितम्=सुदीर्घकालात् सुरक्षितम्, धर्मम्=पुण्यम्, सुकृतम्, हरन्ति=मुष्णन्ति । अत इन्द्रियनिग्रहार्थं यत्नं कुरुतेति भावः । रूपकमलंकारः, आर्या वृत्तम् ॥ १ ॥

विमर्श—बौद्ध भिक्षु लोगों को सावधान करने के लिये उपर्युक्त बाते कहता है ॥ १ ॥

अवि अ. अणिच्चदाए पेक्खिअ णवलं दाव धम्माणं शलणम्हि ।
(अपि च, अनित्यतया प्रेक्ष्य केवलं तावद्धर्माणां शरणमस्मि ।)

पञ्चजण जेण मालिदा इत्थिअ मालिअ गाम लक्खिदे ।
अबले अ चण्डाल मालिदे अवशंवि शे णले शग्गं गाहदि ॥ २ ॥
(पञ्चजना येन मारिताः स्त्रियं मारयित्वा ग्रामो रक्षितः ।
अबलश्च चाण्डालो मारितः अवश्यं स नरः स्वर्गं गाहते ॥ २ ॥)

अर्थ—और भी, (संसार के सभी पदार्थों को) अनित्यत्व रूप से देख कर धर्म की शरण में आया हूँ।

अन्वयः—येन, पञ्चजनाः, मारिताः, स्त्रियम्, मारयित्वा, ग्रामः, रक्षितः, अबलः, चण्डालः, च, मारितः, सः, नरः, स्वर्गम्, अवश्यम्, गाहते ॥ २ ॥

शब्दार्थ—येन=जिस व्यक्ति ने, पञ्चजनाः=पाँच (कर्मेन्द्रियरूपी) लोगों को, मारिताः,=मार डाला है, स्त्रियम्=अविद्यारूपी स्त्री को, मारयित्वा=मार कर, ग्रामः=आत्मा अथवा शरीर की, रक्षितः=रक्षा की है; च=और, अबलः= दुर्बल, चाण्डालः=चाण्डाल (घमंड) मारितः=मार डाला है, सः= ऐसा वह, नरः=मनुष्य, स्वर्गम्=स्वर्ग को, अवश्यम्=निश्चित ही. गाहते=प्राप्त करता है ॥२॥

अर्थ-जिस व्यक्ति ने पाँच (कर्मेन्द्रिय रूपी) लोगों को मार डाला है, [निष्क्रिय बना दिया है।] अविद्यारूपी स्त्री को मार कर [समाप्त कर] आश्रयभूत ग्राम=शरीर की रक्षा की है। और अबल घमण्डरूपी चाण्डाल को भी मार डाला है, ऐसा व्यक्ति निश्चित रूप से स्वर्ग प्राप्त करता है ॥ २ ॥

टीका—कीदृशो जनः स्वर्गं प्राप्नोतीत्यत्र भिक्षुः मार्गं निर्दिशति-पञ्चेति । येन=जनेन, पञ्चजनाः=पञ्चकर्मेन्द्रियाणि, मारिताः=विनाशिताः, स्वस्वविषयेभ्यो निवार्य स्वाधीनाः कृता इत्यर्थः, स्त्रियम् = अविद्यारूपाम्, मारयित्वा = तत्त्व-ज्ञानेन विनाश्य, ग्रामः=आत्मा, शरीरं वा, रक्षितः—परिपालितः, च = तथा, अबलः=दुर्बलः, चाण्डालः=अहङ्कारः, मारितः=विनाशितः, सः=पूर्वोक्त-वैशिष्टय-युतः, नरः=मनुष्यः, स्वर्गम्=सुरलोकम्, गाहते=प्राप्नोति । अत्र पञ्चजन-स्त्री-ग्राम-चाण्डालशब्दाः लक्षणया इन्द्रियादिपदार्थबोधका इति बोध्यम् । वैतालीयं वृत्तम् ॥ २ ॥

विमर्श—यहाँ 'पञ्चजनाः, यह पाँच कर्मेन्द्रियों को, 'स्त्रियम्' अविद्या को, :ग्रामः' आत्मा या शरीर को, 'चाण्डालः' अहङ्कार को प्रतिपादित करते हैं। इसमें वैतालीय छन्द है. लक्षण—

'षड्विषमेऽष्टौ समे कलास्ताश्च समे स्युर्नोनिरन्तराः ।
न समात्र पराश्रिता कला वैतालीयन्ते रलौ गुरु ॥ २ ॥

शिल मुण्डिदे तुण्ड मुण्डिदे चित्त ण मुण्डिदे कीश मुण्डिदे ।
जाह उण अ चित्त मुण्डिदे शाहु शुट्ठु शिल ताह मुण्डिदे ।। ३ ।।
(शिरो मुण्डितं तुण्डं मुण्डितं चित्तं न मुंडितं किं मुंडितम् ?
यस्य पुनश्च चित्तं मुण्डितं साधु सुष्ठु शिरस्तस्य मुण्डितम् ।। ३ ।।)
गिहिद-काशाओदए एशे चीवले, जाव एदं लट्ठिअ-शालकाहकेलके उज्जाणे पविशिअ पोक्खलिणीए पक्खालिअ लहुं लहुं अवक्कमिश्शं ।

अन्वयः—शिरः, मुण्डितम्, तुण्डम्, मुण्डितम्, (यदि) चित्तम्, न, मुण्डितम्, (तदा) किम्, मुण्डितम्; पुनः, यस्य, च, चित्तम्, साधु, मुण्डितम्, तस्य, शिरः, सुष्ठु, मुण्डितम् ।। ३ ।।

शब्दार्थ—शिरः=शिर, मुण्डितम्=मुड़ा लिया, तुण्डम्=मुंह (दाढ़ी-मूछ), मुण्डितम्=मुड़ा ली, यदि=यदि, चित्तम्=मन, न=नहीं, मुण्डितम्=स्वच्छ कराया, तदा=तब, किम्=क्या, मुण्डितम्=मुड़ाया, स्वच्छ कराया, पुनः च = और फिर, यस्य=जिसका, चित्तम्=चित्त; मुण्डितम्=मुड़ाया हुआ, स्वच्छ करवाया हुआ है, तस्य=उसका, शिरः=सिर, सुष्ठु=अच्छी प्रकार से, मुण्डितम्=मुड़ा हुआ है ।। ३ ।।

अर्थ—शिर मुड़ा लिया, मुख (दाढ़ी मूछ) मुड़ा ली किन्तु यदि चित्त नहीं मुड़ाया तो उसने क्या मुड़ाया । और जिसने चित्त मुड़ाया उसीने शिर भी अच्छी प्रकार मुड़ा लिया ।। ३ ।।

टीका—बाह्यशरीरशुद्धिरेव न पर्याप्ता, किन्तु अन्तःशुद्धिरपीति प्रतिपादयति—शिर इसि । शिरः=मस्तकम्, तत्रास्थाः केशा इत्यर्थः, मुण्डितम्=केशरहितं कृतम्, तुण्डम्=मुखम्, मुण्डितम्=श्मश्र्वादिशून्यं कृतम्, यदि=परन्तु यदि, चित्तम्=अन्तःकरणम्, न=नैव, मुण्डितम्=स्वच्छं कृतम्, किं मुण्डितम्=किं परिष्कृतम्, न किमपीति भावः । पुनश्च, यस्य=जनस्य, चित्तम् = अन्तःकरणम्, मुण्डितम्=स्वच्छं कृतम्, विषयविकारशून्यं सम्पादितम्, तस्य=जनस्य, शिरः=मस्तकम्, साधु=सम्यग् रूपेण, मुण्डितम्=स्वच्छं कृतम् । एवञ्च चित्तशुद्धिरेव तात्त्विकी तदर्थमेव यतनीयमिति तदभिप्रायः । वैतालीयं वृत्तम् ।। ३ ।।

विमर्श—भिक्षु का आशय यह है कि जब तक चित्त की शुद्धि नहीं होती है तब तक शिर, दाढ़ी मूँछ मुड़ाना ढोंग है । कवि की यह व्यङ्ग्योक्ति है । इसमें भी वैतालीय छन्द है । लक्षण पूर्वश्लोक के विमर्श में देखें ।। ३ ।।

शब्दार्थ—गृहीतकषायोदकम्=कसैले रंग के पानी को सोख लेने वाला, चीवरम्=वस्त्र-खण्ड, पुष्करिण्याम्=पोखरी तलैया में, लघु-लघु= बहुत जल्दी, नासिकाम्=नाक को, विदध्वा=छेद कर, अपवाहयति=बाहर निकाल देता है, अशरणः=असहाय ।

(गृहीत-कषायोदकमेतत् चीवरम्, यावदेतत् राष्ट्रियश्यालकस्य उद्याने प्रविश्य पुष्करिण्यां प्रक्षाल्य लघु लघु अपक्रमिष्यामि ।) (परिक्रम्य तथा करोति) ।

(नेपथ्ये)

शकारः—चिट्ठ, ले दुट्टशमणका ! चिट्ठ । (तिष्ठ, रे दुष्टश्रमणक तिष्ठ ।)

भिक्षुः—(दृष्ट्वा सभयम्) **ही अविदमाणहे ! एशे शे लाअशाल-शण्ठाणे आअदे । एक्केण भिक्खुणा अवलाहे किदे अण्णं पि जहिं जहिं भिक्खुं पेक्खदि, तहिं तहिं गोणं विअ णासं विन्धिअ ओवाहेदि । ता कहिं अशलणे शलणं गमिश्शं ? अधवा भट्टालके ज्जेव बुद्धे मे शलणे ।** (आश्चर्यम् । एष स राज-श्याल-संस्थानक आगतः । एकेन भिक्षुणा अपराधे कृते, अन्यमपि यस्मिन् यस्मिन् भिक्षुं प्रेक्षते, तस्मिन् तस्मिन् गामिव नासिकां विद्ध्वा अपवाहयति । तत् कस्मिन् अशरणः शरणं गमिष्यामि ? । अथवा भट्टारक एव बुद्धो मे शरणम् ।)

(प्रविश्य सखड्गेन विटेन सह ।)

शकारः—चिट्ठ, ले दुट्टशमणका ! चिट्ठ आवाणअ-मज्झ-पविट्टश्श विअ लत्तमूलअश्श शीशं दे मोडइश्शं । (तिष्ठ रे दुष्टश्रमणक ! तिष्ठ । आपानक-मध्य-प्रविष्टस्येव रक्तमूलकस्य शीर्षं ते भङ्क्ष्यामि ।) (इति ताडयति ।)

अर्थ—यह वस्त्र कसैले=गेरुआ रंग के पानी को सोख चुका है, (रंग गया है) तो अब राजा के शाले के बगीचे में घुस कर पुष्करिणी पोखरी में धोकर जल्दी ही भाग चलूँगा । (घूमकर वैसा ही करता है ।)

(पर्दे के पीछे से)

अर्थ—शकारः—रुक जा दुष्ट बौद्ध संन्यासी, रुक जा ।

भिक्षु—(देख कर भय के साथ) आश्चर्य है, यह तो राजा का (दुष्ट) शाला संस्थानक आ गया । किसी एक भिक्षुक के अपराध करने पर जहाँ कहीं भी जिस किसी भी भिक्षुक को देखता है वहाँ वहाँ बैल के समान [उसकी] नाक को छेद कर बाहर भगा देता है। इसलिये बेसहारा अब मैं किसकी शरण में जाऊँ ? अथवा स्वामी बुद्ध ही मेरे रक्षक हैं ।

शब्दार्थ—आपानक–मदिरा पीने वालों की गोष्ठी, रक्तमूलकस्य=लाल मूली (ताजी मूली) के, भङ्क्ष्यामि=काट डालूँगा, निर्वेदधृतकषायम्=वैराग्य के कारण गेरुआ रंग के कपड़े पहनने वाले, सुखोपगम्यम्=आनन्दपूर्वक सेवन करने योग्य ।

(तलवारधारी विट के साथ प्रवेश करके)

अर्थ--शकार--रुक जा दुष्ट बौद्ध संन्यासी ! रुक जा । मदिरा पीने वालों के बीच में रखी हुई लाल (ताजी) मूली के समान तेरा शिर काट डालूँगा । [काट डालता हूँ ।] [यह कह कर पीटता है ।]

विटः—काणेलीमातः ! न युक्तं निर्वेद-धृत-कषायं भिक्षुं ताडयितुम्। तत् किमनेन। इदं तावत् सुखोपगम्यमुद्यानं पश्यतु भवान् ।

अशरण-शरण-प्रमोदभूतैर्वनतरुभिः क्रियमाण-चारु-कर्म ।
हृदयमिव दुरात्मनामगुप्तं नवमिव राज्यमनिर्जितोपभोग्यम् ॥ ४ ॥

विट—काणेली के बच्चे ! वैराग्य के कारण गेरुआ रंग के वस्त्र धारण करने वाले संन्यासी को पीटना ठीक नहीं है। तो इससे क्या लाभ ? आनन्दपूर्वक उपभोग करने योग्य इस बगीचे को आप देखिये।

अन्वयः—अशरणशरणप्रमोदहेतुभूतैः, वनतरुभिः, क्रियमाणचारुकर्म, दुरात्मनाम्, हृदयम्, इव, अगुप्तम्, नवम्, राज्यम्, इव, अनिर्जितोपभोग्यम्, [इदम्, उद्यानम्, पश्यतु] ॥ ४ ॥

शब्दार्थ—अशरण-शरण-प्रमोद-हेतुभूतैः = वेघर लोगों के घर और आनन्द-स्वरूप, वनतरुभिः=जगल के वृक्षों के द्वारा, क्रियमाणचारुकर्म=जिसमें सुन्दर कार्य किया जा रहा है ऐसे, दुरात्मनाम्=दुष्टों के, हृदयम् इव=हृदय के समान, अगुप्तम्=अनियन्त्रित, नवम्=नये, राज्यम् इव=राज्य के समान, अनिर्जितोप-भोग्यम्=उपभोगयोग्य सभी वस्तुओं को समुचित रूप से वश में न किये गये, [इदम्=इस, उद्यानम्=बगीचे को, पश्यतु=देखिये] ॥ ४ ॥

अर्थ—बेघर लोभों के घर और आनन्दस्वरूप वन के वृक्षों के द्वारा जिसमें सुन्दर कार्य किया जा रहा है, जो दुष्टों के हृदय के समान अनियन्त्रित [स्वेच्छया विहारयोग्य] है, जो नये [तत्काल-प्राप्त] राज्य के समान उपभोगयोग्य वस्तुओं को अच्छी तरह वश में नहीं किये हुये हैं, अथवा विना जीता हुआ और सभी के उपभोग के योग्य है, ऐसे बगीचे को देखिये ॥ ४ ॥

टीका—विटः उद्यानस्य सुखोपगम्यतां प्रतिपादयति—अशरणेति। अशरणानाम्= गृहरहितानाम्, 'शरणं गृहरक्षित्रोः' इत्यमरः, शरणैः=आश्रयैः, तथा प्रमोदहेतुभूतैः= आनन्दस्वरूपैः वनतरुभिः = उद्यानस्थवृक्षैः, क्रियमाणम् = सम्पाद्यमानम्, चारु= रमणीयम्, कर्म=कार्यम्, [पुष्पफलादिदानात् छायादिदानाच्चेति भावः,] यत्र, तादृशम्, दुरात्मनाम्=दुष्टानाम्, हृदयम्=चित्तम्, इव=तुल्यम्, अगुप्तम्=अनि-यन्त्रितम्, स्वेच्छापूर्वकविहारयोग्यम्, तथा, नवम् = नवीनम्, सद्य एव विजितम्, राज्यम्=साम्राज्यम्, इव=यथा, अनिर्जितम्=शासनेन अनायतीकृतम्, उपभोग्यम्= सर्वजनभोगयोग्यम्, इदम्, उद्यानं पश्यतु भवानिति गद्यस्थेनान्वयः कार्यः। उपमा-लंकारः, पुष्पिताग्रा वृत्तम् ॥ ४ ॥

शब्दार्थ—उपासकः=सेवा करने वाला, बुद्ध का पुजारी, आक्रोशति=गाली दे रहा है, धन्यः=प्रशंसनीय, पुण्यः=पवित्र, श्रावकः=स्तुतिकर्ता चारण, कोष्ठकः=

भिक्षु:—शाअदं। पशीददु उवाशके। (स्वागतम्, प्रसीदतु उपासकः।)

शकार:—भावे ! पेक्ख, पेक्ख, आक्कोशदि मं। (भाव ! प्रेक्षस्व प्रेक्षस्व, आक्रोशति माम्।)

विटः—किं ब्रवीति ?

शकारः—उवाशके त्ति मं भणादि। किं हग्गे णाविदे ? (उपासक इति मां भणति। किमहं नापितः ?)

विटः—बुद्धोपासक इति भवन्तं स्तौति।

शकारः—थुणु, शमणका ! थुणु। (स्तुहि श्रमणक ! स्तुहि।)

भिक्षुः—तुमं धण्णे, तुमं पुण्णे। (त्वं धन्यः, त्वं पुण्यः।)

शकारः—भावे ! धण्णे पुण्णे त्ति मं भणादि। किं हग्गे शलावके, कोश्टके, कोम्भकाले वा ? (भाव ! धन्यः पुण्य इति मां भणति। किमहं श्रावकः, कोष्ठकः, कुम्भकारो वा ?)

विटः—काणेलीमातः ! ननु धन्यस्त्वं पुण्यस्त्वमिति भवन्तं स्तौति।

शकारः—भावे ! ता कीश एशे इध आगदे ? (भाव ! तत् केन एष इहागतः ?)

भण्डारी या जुआरी, कुम्भकारः=कुम्हार, प्रवरम्=श्रेष्ठ, भगिनीपतिना=बहनोई, पुराणकुलत्थयूषशबलानि=पुरानी कुलथी के घोल के समान रंगवाली, दूष्यगन्धीनि=दुर्गन्धयुक्त, चीवराणि=वस्त्रों को, प्रक्षालयसि=धोते हो, अचिरप्रव्रजितेन=शीघ्र ही संन्यासी बना हुआ, एकप्रहारिकम्=एक ही प्रहार से समाप्त होने योग्य।

अर्थ—भिक्षु—आपका स्वागत है, उपासक प्रसन्न हो।

शकार—भाव (श्रीमन्) ! देखो, देखो गाली दे रहा है।

विट—क्या कह रहा है ?

शकार—मुझे उपासक [सेवक] ऐसा कह रहा है। क्या मैं नाई हूँ ?

विट—बुद्ध के उपासक=सेवक–ऐसी स्तुति करता है।

शकार—स्तुति करो, स्तुति करो।

भिक्षु—तुम धन्य हो, तुम पुण्यवान् हो।

शकार—भाव ! मुझे धन्य, पुण्य ऐसा कह रहा है। तो क्या मै स्तुति करने वाला चारण हूँ, या भण्डारी–जुआरी हूँ या कुम्हार हूँ ?

विट—काणेली के बच्चे ! 'तुम धन्य हो, पुण्यवान् हो' ऐसा कह कर तुम्हारी स्तुति करता है।

शकार—भाव ! तो यह किस लिये यहाँ आया ?

भिक्षुः—इदं चीवलं पक्खालिदुं। (इदं चीवरं प्रक्षालयितुम्।)

शकारः—अले दुट्ठशमणका ! एशे मह बहिणीपदिणा शव्वुज्जाणाणं पवले पुप्फकलण्डुज्जाणे, दिण्णे, जहिं दाव शुणहका शिआला पाणिअं पिअन्ति। हग्गे वि पिवलपुलिशे मणुश्शके ण ण्हाआमि। तहिं तुमं पुक्खलिणीए पुलाणकुलुत्थ-जूश-शवलाइं दुश्श-गन्धिआइं चीवलाइं पक्खलेशि। ता तुमं एक्कपहालिअं कलेमि। (अरे दुष्टश्रमणक ! एतन्मम भगिनीपतिना सर्वोद्यानानां प्रवरं पुष्पकरण्डकोद्यानं दत्तम्, यस्मिन् तावत् शुनकाः शृगालाः पानीयं पिबन्ति, अहमपि प्रवरपुरुषो मनुष्यको न स्नामि। तत्र त्वं पुष्करिण्यां पुराण-कुलत्थ-यूष-शबलानि दूष्यगन्धीनि चीवराणि प्रक्षालयसि। तत् त्वामेकप्रहारिकं करोमि।)

विटः—काणेलीमातः ! तथा तर्कयामि, यथा अनेन अचिरप्रव्रजितेन भवितव्यम्।

शकारः—कथं भावे जाणादि ? (कथं भावो जानाति ?)

विटः—किमत्र ज्ञेयम्। पश्य—

अद्याप्यस्य तथैव केशविरहाद् गौरी ललाटच्छविः,
कालस्याल्पतया च चीवरकृतः स्कन्धे न जातः किणः।
नाभ्यस्ता च कषाय-वस्त्र-रचना दूरं निगूढान्तरो
वस्त्रान्तश्च पटोच्छ्रयात् प्रशिथिलं स्कन्धे न सन्तिष्ठते ॥ ५ ॥

भिक्षु—इस वस्त्र को धोने के लिये।

शकार—अरे दुष्ट बौद्ध संन्यासी ! मेरी बहन के पति ने मुझे सभी उद्यानों में श्रेष्ठ यह पुष्पकरण्डक उद्यान दिया है जिसमें कुत्ते और सियार पानी पीते हैं। जिसमें मैं श्रेष्ठ पुरुष भी स्नान नहीं करता हूँ। उसमें पुष्करिणी=पोखरी (तलैया) में पुरानी कुलथी के घोल से रंगे हुये दुर्गन्धयुक्त वस्त्रों को धो रहे हो, इस लिये तुम्हें एक ही प्रहार से मार डालता हूँ।

विट—काणेली के बच्चे ! मैं ऐसा सोचता हूँ कि यह अभी शीघ्र ही संन्यासी बना है।

शकार—भाव ! आप कैसे जानते हैं ?

अन्वयः—अस्य, ललाटच्छविः, अद्य, अपि, केशविरहात्, तथैव, गौरी, कालस्य, अल्पतया, स्कन्धे, चीवरकृतः, किणः, च, न, जातः, कषायवस्त्ररचना, च, न, अभ्यस्ता, दूरम्, निगूडान्तरम्, पटोच्छ्रयात्, प्रशिथिलम्, वस्त्रान्तम्, च, स्कन्धे, न, सन्तिष्ठते ॥ ५ ॥

शब्दार्थ—अस्य=इस बौद्ध भिक्षु की, ललाटच्छविः=मस्तक की कान्ति [रूप], अद्य=आज, अपि=भी, केशविरहात्=बालों के न होने [मूड़े जाने] के कारण, तथैव=पूर्ववत्, गौरी=गोरी [सामान्य रंगवाली] है, कालस्य=समय के, अल्पतया=कम होने के कारण, अर्थात् कुछ ही समय पहले संन्यासी बनने के कारण, स्कन्धे=कन्धे पर, चीवरकृतः=कपड़े [पहनने] के कारण किया गया, किणः=निशान, ढट्‌ठा, च=भी, न=नहीं, जातः=बन पाया है, कषायवस्त्ररचना= गेरुआ रंग के वस्त्र पहनना, च=भी, न=नहीं, अभ्यस्ता=अभ्यास कर पाया है, सीख पाया है, दूरम्=बहुत अधिक, निगूढान्तरम्=शरीर के मध्य भाग को ढकने वाला, पटोच्छ्रयात्=कपड़े की लम्बाई के कारण, प्रशिथिलम्=बहुत ढीला-ढाला, वस्त्रान्तम्=कपड़े का छोर, च=भी, स्कन्धे=कन्धे पर, न=नहीं, सन्तिष्ठते= रुक पा रहा है ॥ ५ ॥

अर्थ—**विट**—इसमें जानना क्या है ? देखिये—

इसके शिर की छवि (रंग) आज भी केशों के न होने से पहले के समान ही गोरी है। [सामान्य रंग वाली है।] थोड़ा ही समय बीतने के कारण इसके कन्धे पर कपड़े [पहनने] के कारण ढट्‌ठा (निशान) भी नहीं बन पाया है, गेरुआ वस्त्र पहनने का भी अभ्यास नहीं है। बहुत दूर तक शरीर के मध्य भाग को ढकने वाला, कपड़े की लम्बाई के कारण बहुत ढीला-ढाला, कपड़े का छोर [किनारा] भी कन्धे पर नहीं रुक पा रहा है ॥ ५ ॥

टीका—विटोऽचिर-प्रव्रजितत्वं प्रदर्शयति—अद्येति। अस्य = पुरोवर्तमानस्य भिक्षुकस्य, ललाटच्छविः=मस्तकस्य कान्तिः, केशविरहात्=केशानां मुण्डनात्, तथैव=संन्यासग्रहणात् पूर्वं यथासीत् तद्वदेव, गौरी=गौरवर्णा, उज्ज्वलेति भावः, इदमचिरमुण्डने एव सम्भवति। कालस्य = संन्यासग्रहणसमयस्य, अल्पतया= अचिरतया, सत्वरमेव प्रव्रजितत्वेनेत्यर्थः, स्कन्धे=अंसदेशे, चीवरकृतः=भिक्षुवस्त्र-विशेषधारणेन कृतः, किणः=चिह्नविशेषः शुष्कव्रणमिति भावः, च, न=नैव, जातः=सम्पन्नः, कषायवस्त्ररचना=कषायवस्त्रधारणम्, वसनानां कषायीकरणं वा, न=नैव अभ्यस्ता=परिशिक्षिता, दूरम्=अत्यधिकम्, निगूढम्=आच्छादितम् अन्तरम्= शरीरमध्यदेशः, येन तादृशम्, वस्त्रान्तम्=चीवरस्य अन्तभागः, पटोच्छ्रयात्= वस्त्रदैर्ध्यात्, प्रशिथिलम्=श्लथत्वं प्राप्तम्, अत एव, स्कन्धे = अंसे, न=नैव, सन्तिष्ठते = स्थातुं प्रभवतीति भावः। अत्रानुमानमलङ्कारः, शार्दूलविक्रीडितं वृत्तम् ॥ ५ ॥

विमर्श—नवीन बौद्ध संन्यासी का सुन्दर चित्रण है ॥ ५ ॥

भिक्षुः—उवाशके ! एव्वं, अचिल-पव्वजिदे हग्गे। (उपासक ! एवम्, अचिरप्रव्रजितोऽहम् ।)

शकारः—ता कीश तुमं जातमेत्तक ज्जेव ण पव्वजिदे ? (तत् केन त्वं जातमात्र एव न प्रव्रजितः ?) (इति ताडयति ।)

भिक्षुः—णमो बुद्धश्श । (नमो बुद्धाय ।)

विटः—किमनेन ताडितेन तपस्विना ? मुच्यतां, गच्छतु ।

शकारः—अले ! चिट्ठ दाव, जाव शम्पधालेमि । (अरे ! तिष्ठ तावत् यावत् सम्प्रधारयामि ।)

विटः—केन सार्द्धम् ?

शकारः—अत्तणो हडक्केण । (आत्मनो हृदयेन ।)

विटः—हन्त ! न गतः ।

शकारः—पुत्तका हडक्का ! भट्टके ! पुत्तके ! एशे शमणके अवि णाम किं गच्छदु, किं चिट्ठदु ? (स्वगतम्) णावि गच्छदु, णावि चिट्ठदु। (प्रकाशम्) भावे ! शम्पधालिदं मए हडक्केण शह। एशे मह हडक्के भणादि। (पुत्रक हृदय ! भट्टारक ! पुत्रक ! एष श्रमणकः अपि नाम किं गच्छतु, किं तिष्ठतु ?) (नापि गच्छतु, नापि तिष्ठतु ।) (भाव ! सम्प्रधारितं मया हृदयेन सह । एतन्मम हृदयं भणति ।)

विटः—किं ब्रवीति ?

अर्थ—भिक्षु—उपासक ! ऐसा ही है, मैंने कुछ ही पहले संन्यास-ग्रहण किया है।

शकार—तो तुम पैदा होते ही संन्यासी क्यों नहीं बन गये ? (ऐसा कह कर पीटने लगता है।)

भिक्षु—बुद्ध भगवान को नमस्कार ।

विट—इस बेचारे संन्यासी को पीटने से क्या लाभ ? छोड़ दीजिये, यहाँ से चला जाय ।

शकार—अरे रुक जा जब तक मैं निश्चय करता हूँ ।

विट—किसके साथ ?

शकार—अपने हृदय के साथ ।

विट—हाय ! नहीं गया ।

शकार—बेटा हृदय ! स्वामी ! पुत्रक ! क्या यह बौद्ध संन्यासी चला जाय अथवा रुका रहे ? (अपने में) न जाये न रुके (प्रकट में) भाव ! मैंने मन के साथ सोच लिया । मेरा मन यह कह रहा है ।

विट—क्या कह रहा है ?

शकारः—मावि गच्छदु, मावि चिट्ठदु, मावि ऊश्शशदु, मावि णीशशदु। इध ज्जेव झत्ति पड़िअ मलेदु। (मापि गच्छतु, मापि तिष्ठतु, मापि उच्छ्वसितु, मापि निःश्वसितु। इहैव झटिति पतित्वा म्रियताम्।)

भिक्षुः—णमो बुद्धश्श। शलणागदेम्हि। (नमो बुद्धाय। शरणागतोऽस्मि।)

विटः—गच्छतु।

शकारः—णं शमएण। (ननु समयेन।)

विटः—कीदृशः समयः ?

शकारः—तधा कद्दमं फेलदु, जधा पाणिअं पङ्काइलं ण होदि। अधवा पाणिअं पुञ्जीकदुअ कद्दमे फेलदु। (तथा कर्दमं क्षिपतु, यथा पानीयं पङ्काविलं न भवति। अथवा पानीयं पुञ्जीकृत्य कर्दमे क्षिपतु।)

विटः—अहो मूर्खता ?

विपर्यस्तमनश्चेष्टैः शिला-शकल-वर्ष्मभिः।
मांसवृक्षैरियं मूर्खैर्भाराक्रान्ता वसुन्धरा॥ ६॥

शकार—न जाय, न रुके, न उच्छ्वास ले, न निश्वास ले, यहीं शीघ्र गिर कर मर जाय।

भिक्षु—भगवान् बुद्ध को प्रणाम। मैं शरण में आया हूँ।

विट—चला जाय।

शकार—शर्त के साथ।

विट—कैसी शर्त ?

शकार—उस प्रकार से कीचड़ फेंके जिससे पानी गन्दा न हो, अथवा पानी को इकट्ठा करके कीचड़ में फेंके।

अन्वयः—विपर्यस्तमनश्चेष्टैः, शिलाशकलवर्ष्मभिः मांसवृक्षैः, मूर्खैः, इयम्, धरा, भाराक्रान्ता, अस्ति॥ ६॥

शब्दार्थ—विपर्यस्तमनश्चेष्टैः=विपरीत=अव्यवस्थित मन और कार्य वाले, शिलाशकलवर्ष्मभिः=पत्थर के टुकड़े के समान [मोटे या बेकार] शरीर वाले, मांसवृक्षैः=मांस के पेड़ों से, मांसमय पेड़ों से, मूर्खै=मूर्खों से, इयम्=यह, धरा=पृथिवी, भाराक्रान्ता=बोझ से दबी हुई, अस्ति=है॥ ६॥

अर्थ—विट—अहो मूर्खता !

[लोक से] विपरीत मन और काम वाले, पत्थर के टुकड़े के समान शरीर वाले, मांस के वृक्ष मूर्खों से यह पृथ्वी बोझ से दबी हुई है॥ ६॥

टीका—शकारस्य मूर्खतामयं वचनमाकर्ण्य विटः खेदं प्रकटयति-विपर्यस्तेति। विपर्यस्ते=विपरीते मनश्चेष्टे येषाम् यद्वा विपरीता=लोकविरुद्धा मनसः चेष्टा=

(भिक्षुः नाट्येन आक्रोशति ।)

शकारः—किं भणादि ? (किं भणति ?)

विटः—स्तौति भवन्तम् ।

शकारः—थुणु थुणु, पुणा वि थुणु । (स्तुहि, स्तुहि पुनरपि स्तुहि,)

(तथा कृत्वा निष्क्रान्तो भिक्षुः ।)

विटः—काणेलीमातः ! पश्योद्यानस्य शोभाम् ।

अमी हि वृक्षाः फल-पुष्प-शोभिताः कठोर-निष्पन्द-लतोपवेष्टिताः ।
नृपाज्ञया रक्षिजनेन पालिता नरा सदारा इव यान्ति निर्वृतिम् ॥ ७ ॥

व्यापारो येषां तादृशैरित्यपि केचिदाहुः तन्न समीचीनम्, चेष्टायाः करचरणादि-व्यापाररूपत्वात्, शिलाशकलानि=पाषाणखण्डानि एव वर्ष्माणि=शरीराणि येषां तैः अतिनिर्दयैरित्यर्थः, मांसवृक्षैः=मासस्य पादपैः मांसमयमहीरुहैः, मूर्खैः=मूढैः, इयम्=पुरो वर्तमाना, वसुन्धरा=रत्नप्रसूः पृथिवी, भाराक्रान्ता=भारेण कष्टयुक्तेति भावः । अत्र रूपकमलङ्कारः, पथ्यावक्त्रं वृत्तम् ॥ ६ ॥

अर्थ—(भिक्षु अभिनय के साथ गाली देता है ।)

शकार—क्या कहता है ?

विट—आपकी स्तुति करता है ।

शकार—स्तुति करो, स्तुति करो, फिर स्तुति करो ।

(वैसा करके भिक्षुक चला जाता है ।)

अन्वयः—फलपुष्पशोभिताः, कठोर-निष्पन्दलतोप-वेष्टिताः, अमी, वृक्षाः, नृपाज्ञया, रक्षिजनेन, पालिताः, सदाराः, नराः, इव, निर्वृतिम्, यान्ति ॥ ७ ॥

शब्दार्थ—फलपुष्पशोभिताः=फल और फूलों से शोभित, कठोरनिष्पन्दलतोप-वेष्टिताः=पुरानी होने से, कठोर=मोटी और निश्चल लताओं से घिरे हुये, अमी=ये, वृक्षाः=पेड़, नृपाज्ञया=राजा की आज्ञा से, रक्षिजनेन=वनरक्षकों के द्वारा, पालिताः=पालित=रक्षित, सदाराः=सपत्नीक, नराः=पुरुषों, इव=के समान, निर्वृतिम्=सुख को, यान्ति=प्राप्त कर रहे हैं ॥ ७ ॥

अर्थ—विट—काणेली के बच्चे ! बगीचे की शोभा देखो—

फल और फूलों से शोभायमान, पुरानी अत एव मोटी तथा निश्चल लताओं के द्वारा घिरे हुये ये वृक्ष, राजा की आज्ञा से रक्षकों द्वारा परिपालित=संरक्षित सपत्नीक पुरुषों के समान सुख प्राप्त कर रहे हैं ॥ ७ ॥

टीका—शृङ्गाररसाभिमुखं शकारं कर्तुमुद्यानस्य शोभां वर्णयति विटः-अमीति । फलैः=ऋतुभवैः फलैः पुष्पैश्च उपशोभिताः=समलंकृताः, कठोराभिः=प्राचीनतया परिपुष्टाभिः, स्थूलाभिरित्यर्थः, लताभिः=व्रततिभिः, उपवेष्टिताः=

शकारः—शुट्ठु भावे भणादि । (सुष्ठु भावो भणति ।)

बहु-कुशुम-विचित्तदा अ भूमी कुशुम-भलेण विणामिदा अ लुक्खा ।
दुम-शिहल-लदा-अ-लम्बमाणा पणश-फला विअ वाणला ललन्ति ॥ ८ ॥

(बहुकुसुमविचित्रिता च भूमिः कुसुमभरेण विनामिताश्च वृक्षाः ।
द्रुम-शिखर-लताव-लम्बमानाः पनसफलानीव वानरा ललन्ति ॥ ८ ॥)

समन्तादालिङ्गिताः, अमी=एते, वृक्षाः=तरवः, नृपाज्ञया=राज्ञोऽनुशासनेन, आदेशेन वा, रक्षिजनेन=रक्षकलोकेन, पालिताः=रक्षिताः, पोषिताः, सदाराः=सपत्नीकाः नराः=पुरुषाः, इव=तुल्याः, निर्वृतिम्=सुखम्, यान्ति=लभन्ते । अत्र वृक्षाणां नरैः सह साम्यबोधनादुपमालंकारः, वंशस्थबिलं वृत्तम् ॥ ७ ॥

अन्वयः—भूमिः, बहुकुसुमविचित्रिता, वृक्षाः, च, कुसुमभरेण, विनामिताः, द्रुमशिखरलतावलम्बमानाः, वानराः, पनसानि, इव, ललन्ति ॥ ८ ॥

शब्दार्थ—भूमिः=पृथ्वी, बहुकुसुमविचित्रिता=[गिरे हुये] बहुत से फूलों से रंग विरंगी, (हो गयी है ।) च=और, वृक्षाः=पेड़, कुसुमभरेण=फूलों के भार से, विनामिताः=झुकाये हुये, (हो गये हैं), द्रुमशिखर-लतावलम्बमानाः=पेड़ों की चोटी की लताओं में लटकने वाले, वानराः=बन्दर, पनसफलानि=कटहल के फल, इव=के समान, ललन्ति=अच्छे लग रहे हैं ॥ ८ ॥

अर्थ—शकार—भाव ! आप ठीक ही कहते हैं—

पृथिवी (गिरे हुये) अनेक फूलों के कारण रंग बिरंगी हो गयी है, और पेड़ फूलों के बोझ से झुकाये हुये हो गये हैं, पेड़ों की चोटियों की लताओं पर लटकने वाले बन्दर कटहल के फल के समान अच्छे लग रहे हैं ॥ ८ ॥

टीका—शकारोऽपि स्वबुद्ध्यनुकूलं सौन्दर्यं वर्णयति—बहुकुसुमेति । भूमिः=उद्यानस्य पृथ्वी, बहुभिः=पतितैरनेकविधैः, पुष्पैः=सुमनोभिः, विचित्रिता=शबलिता, विविधवर्णेति भावः, कुसुमभरेण=पुष्पाणां भारेण, विनामिताः=अवनामिताः, सञ्जाताः, द्रुमाणाम्=वृक्षाणाम्, ये शिखराः=अग्रभागाः, तेषु याः लताः=व्रततयः, तासु अवलम्बमानाः=दोलायमानाः, वानराः=कपयः, पनस-फलानि=कण्टकि-फलानि भाषायाम् 'कटहल' इति प्रसिद्धम्, इव=यथा, ललन्ति=शोभन्ते । उत्प्रेक्षालंकारः, पुष्पिताग्रा वृत्तम् ॥ ८ ॥

विमर्श—'ललन्ति' इस प्राकृत का संस्कृत रूप 'लोलन्ति' ही शुद्ध है । अथवा स्वार्थिक णिच् करके ललयन्ति या लालयन्ति ऐसा भी माना जा सकता है ।

'नम' धातु मित् है अतः ह्रस्व होने से 'विनमिता' यह होना चाहिये ? इसका समाधान यह है कि 'विनामाः कृताः' इस अर्थ में घञन्त 'विनाम' से यह नामधातु का रूप 'तत्करोति तदाचष्टे' इस वार्तिक से सम्भव है । बन्दरों में कटहल की सम्भावना के कारण उत्प्रेक्षा अलंकार है ॥ ८ ॥

विटः——काणेलीमतः ! इदं शिलातलमध्यास्यताम् ।

शकारः——एशे म्हि आशिदे। (इति विटेन सह उपविशति) भावे ! अज्ज वि तं वशन्तशेणिअं शुमलामि; दुज्जण-वअण विअ हडक्कादो ण ओशलदि। (एषोऽस्मि आसितः। भाव ! अद्यापि तां वसन्तसेनां स्मरामि, दुर्जनवचनमिव हृदयान्नापसरति ।)

विटः——(स्वगतम्) तथा निरस्तोऽपि स्मरति ताम् । अथवा——

स्त्रीभिर्विमानितानां कापुरुषाणां विवर्द्धते मदनः ।
सत्पुरुषस्य स एव तु भवति मृदुर्नैव वा भवति ॥ ९ ॥

शकारः——भावे ! कावि वेला थावड़कचेड़श्श भणिदश्श 'पवहणं

अर्थ——विट——काणेली के बच्चे ! इस शिलाखण्ड पर बैठ जाओ ।

शकार——लो बैठ गया। (विट के साथ बैठ जाता है।) भाव ! आज भी उस वसन्तसेना को याद कर रहा हूँ। दुष्ट के वचन के समान वह हृदय से नहीं निकल रही है।

अन्वयः——स्त्रीभिः, विमानितानाम्, कापुरुषाणाम्, मदनः, विवर्धते, तु, सत्पुरुषस्य, सः, एव, मृदुः, भवति, न, वा, भवति ॥ ९ ॥

शब्दार्थ——स्त्रीभिः=स्त्रियों के द्वारा, विमानितानाम्=अपमानित किये गये, कापुरुषाणाम्=कायर या नीच पुरुषों का, मदनः=काम-विकार, विवर्धते=और अधिक बढ़ता है, तु=परन्तु, सत्पुरुषस्य=सज्जन पुरुष का, सः=वह, काम, एव=ही, मृदुः=कमजोर, क्षीण, भवति=हो जाता है; न वा=अथवा नहीं, भवति=होता है ॥ ९ ॥

अर्थ——विट——(अपने में) उस प्रकार से अपमानित (होकर) भी उस (वसन्तसेना) को याद कर रहा है। अथवा——

स्त्रियों द्वारा अपमानित (तिरस्कृत) नीच पुरुषों का कामविकार और अधिक बढ़ता है। लेकिन सज्जन पुरुषों का वही कामविकार क्षीण हो जाता है अथवा नहीं रह जाता है ॥ ९ ॥

टीका——कामविकारविषये शकारस्य निकृष्टत्वमुपपादयति-स्त्रीभिरिति। स्त्रीभिः=कामिनीभिः, विमानितानाम्=तिरस्कृतानाम्, उपेक्षितानामिति भावः, मदनः=कामविकारः, विवर्धते=भृशं वृद्धिं प्राप्नोति, तु=परन्तु, सत्पुरुषस्य=सज्जनस्य, स्त्रीभिरपमानितस्येति भावः, स एव=पूर्वोक्तः कामविकार एव, मृदुः=क्षीणः, भवति=जायते, नवा=अथवा नैव, भवति=उत्पद्यते, समाप्तिमुपगच्छति, तेन वैराग्यादियुताः जायन्ते इति भावः। अप्रस्तुतप्रशंसालंकारः, आर्या वृत्तम् ॥ ९ ॥

अर्थ——शकार——भाव ! (श्रीमन् !) स्थावरक सेवक से यह कहे हुये

गेण्हिअ लहुं लहुं आअच्छे'त्ति। अज्ज वि ण आअच्छदि त्ति, चिलम्हि बुभुक्खिदे। मज्झण्हे ण शक्कीअदि पादेहिं गन्तुं। ता पेक्ख पेक्ख—
(भाव ! कापि वेला स्थावरकचेटस्य भणितस्य प्रवहणं गृहीत्वा लघु लघु आगच्छेति। अद्यापि नागच्छतीति चिरमस्मि बुभुक्षितः। मध्याह्ने न शक्यते पादाभ्यां गन्तुम्। पश्य पश्य—)

णहोमज्झगदे शूले दुप्पेक्खे कुविद-वाणल-शलिच्छे।
भूमीदढ-शन्तत्ता हदपुत्तशदे व्व गन्धाली ॥ १० ॥
(नभोमध्यगतः सूरो दुष्प्रेक्ष्यः कुपितवानरसदृक्षः।
भूमिर्दृढसन्तप्ता हतपुत्रशतेव गान्धारी ॥ १० ॥)

विटः—एवमेतत्—

छायासु प्रतिमुक्तशष्पकवलं निद्रायते गोकुलं
तृष्णार्त्तैश्च निपीयते वनमृगैरुष्णं पयः सारसम्।

कितना समय बीत चुका है कि 'गाड़ी लेकर जल्दी ही आ जाना।' अभी भी नहीं आया है। मैं बहुत देर से भूखा हूँ। दोपहर में पैदल जाया नहीं जा सकता। देखो देखो—

अन्वयः—नभोमध्यगतः, सूर्यः, कुपितवानरसदृक्षः, दुष्प्रेक्ष्यः, [अस्ति], हृतशतपुत्रा, गान्धारी, इव, भूमिः, दृढसन्तप्ता [जाता अस्ति।] ॥ १० ॥

शब्दार्थः—नभोमध्यगतः=आकाश के मध्यभाग में स्थित, सूर्यः=सूरज, कुपित-वानर-सदृक्षः=क्रुद्ध बन्दर के समान, दुष्प्रेक्ष्यः=कष्ट से देखने योग्य [हो गया है], हृतशतपुत्रा=मरे हुये सौ पुत्रों वाली, गान्धारी=दुर्योधन की माता, इव=के समान, भूमिः=जमीन, दृढसन्तप्ता=बहुत तपी हुई [गान्धारीपक्ष में दुःखी] हो गयी है।१०।

अर्थ—आकाश के मध्यभाग में स्थित सूर्य क्रुद्ध वानर के समान कष्ट से देखने योग्य हो गया है। मरे हुये सौ पुत्रों वाली गान्धारी के समान पृथ्वी बहुत सन्तप्त [गरम, गान्धारी-पक्ष में दुखी] हो गई है।। १० ॥

टीका—मध्याह्नस्यासहनीयावस्थां वर्णयति—नभ इति। नभसः=आकाशस्य, मध्ये=मध्यभागे गतः=विद्यमानः, सूर्यः=दिवाकरः, कुपितेन=क्रुद्धेन, वानरेण=कपिना, सदृक्षः=सदृशः, दुष्प्रेक्ष्यः=दुखेन द्रष्टुं योग्यः, जातोऽस्ति, हृतम्=महाभारत-युद्धे मारितं पुत्राणाम्=सुतानाम्, शतम्=शतसंख्याकं यस्याः सा, तादृशी, गान्धारी=दुर्योधनजननी, इव=यथा, भूमिः=पृथ्वी, दृढम्=भृशं सन्तप्ता=उष्णा, गान्धारी-पक्षे- दुःखयुक्ता जातेति भावः। उपमालंकारः, आर्याजातिर्वृत्तम् ॥ १० ॥

अन्वयः—गोकुलम्, छायासु, प्रतिमुक्तशष्पकवलम्, निद्रायते, तृष्णार्त्तैः, वन-मृगैः, च, उष्णम्, सारसम्, पयः, निपीयते, सन्तापात्, अतिशङ्कितैः, नरैः, वलभी-

सन्तापादतिशङ्कितैर्न नगरीमार्गो नरैः सेव्यते
तप्तां भूमिमपास्य च प्रवहणं मन्ये क्वचित् संस्थितम् ॥ ११ ॥

शकारः—भावे !

शिलशि मम णिलीणे भाव ! शुज्जश्श पादे
शउणि-खग-विहङ्गा लुक्खशाहाशु लोणा ।
णल-पुलिश-मणुश्शा उण्हदीहं शशन्ता
घल-शलण-णिशण्णा आदपं णिव्वहन्ति ॥ १२ ॥

मार्गः, न, सेव्यते, [अतः], मन्ये, तप्ताम्, भूमिम्, अपास्य, प्रवहणम्, क्वचित् संस्थितम्, [अस्ति] ॥ ११ ॥

शब्दार्थ—गोकुलम्=गायों का झुण्ड, छायासु=छाया में, प्रतिमुक्तशष्पकवलम्=घास का चरना छोड़ता हुआ, निद्रायते=नीदं ले रहा है, (ऊँघ रहा है ।), च=और, तृष्णार्तैः=प्यास से व्याकुल, वनमृगैः=जंगली जानवरों के द्वारा, उष्णम्=गरम, सारसम्=तालाब का, पयः=पानी, पीयते=पिया जा रहा है । सन्तापात्=गरमी के कारण, अतिशङ्कितैः=अत्यधिक शंकाग्रस्त, नरैः=लोगों के द्वारा, नगरीमार्गः=नगर की सड़क राजपथ, न=नहीं, सेव्यते=प्रयुक्त की जा रही है, अतः, मन्ये=सोंचता हूँ, कि, तप्ताम्=गरम, भूमिम्=पृथ्वी को, अपास्य=छोड़कर, प्रवाहणम्=बैलगाड़ी, क्वचित्=कहीं, ठंण्डी जगह, संस्थितम्=खड़ी हो गयी है ॥ ११ ॥

टीका शकारोक्तं मध्याह्नसन्तापं समर्थयन् विटोऽपि प्रवहणानागमने विलम्बहेतुं प्रतिपादयति—छायास्विति । गोकुलम्=गवां कुलम् गोपदेन स्त्री-पुंसयोरुभयोर्ग्रहणमिति बोध्यम्, छायासु=अनातपेषु, प्रतिमुक्ताः=परित्यक्ताः शष्पकवलाः=अर्धोपभुक्तनवतृणग्रासाः, येन यत्र वा तद् यथा, स्यात् तथा, [क्रियाविशेषणम्] निद्रायते=निद्रामनुभवति, विश्रम्यतीति भावः, तृष्णार्तैः=पिपासितैः, वनमृगैः=आरण्यपशुभिः, उष्णम्=सूर्य-किरण-प्रभावात् तप्तम्, सारसम्=सरोवर्ति, पयः=जलम्, निपीयते=निःशेषेण आस्वाद्यते, सन्तापात्=औष्ण्यात्, अतिशङ्कितैः=अतिशंकाग्रस्तैः, नरैः=लोकैः, नगर्याः=उज्जयिन्याः, मार्गः=पन्थाः, राजपथः, न=नैव, सेव्यते=आश्रीयते, तप्तं मुख्यमार्गं विहाय पथ्यासु गम्यते गृहे एव वा स्थीयते, अतः, मन्ये=सम्प्रधारयामि, तप्ताम्=उष्णाम्, भूमिम्=धराम्, अपास्य=परित्यज्य, प्रवहणम्=शकटयानम्, क्वचित्=कुत्रचित् शीतलस्थाने इति भावः, संस्थितम्=अवस्थितम् । अत्रोत्प्रेक्षास्वभावोक्त्यादीनां सङ्करः, शार्दूलविक्रीडितं वृत्तम् ॥ ११ ॥

अन्वयः—हे भाव !, सूर्यस्य, पादः, मम, शिरसि, निलीनः, (अस्ति), शकुनिखगविहङ्गाः, वृक्षशाखासु, लीनाः, (सन्ति), नर-पुरुष-मनुष्याः, उष्णदीर्घम्, श्वसन्तः, गृह-शरण-निषण्णाः, आतपम्, निर्वहन्ति ॥ १२ ॥

(भाव !
शिरसि मम निलीनो भाव ! सूर्यस्य पादः
शकुनि–खग–विहङ्गा वृक्षशाखासु लीनाः ।
नर–पुरुष–मनुष्या उष्णदीर्घं श्वसन्तो
गृह–शरण–निषण्णा आतपं निर्वहन्ति ॥ १२ ॥)

भावे अज्ज वि शे चेडे णाअच्छदि । अतणो विणोदणणिमित्तं किंपि गाइश्शं । (इति गायति) भावे ! भावे ! शुदं तुए, जं मए गाइदं । (भाव ! अद्यापि स चेटो नागच्छति । आत्मनो विनोदननिमित्तं किमपि गास्यामि ।) (भाव ! भाव ! श्रुतं त्वया यन्मया गीतम् ?)

शब्दार्थ–हे भाव !=श्रीमन्, सूर्यस्य=सूर्य की, पादः=किरण, मम=मेरे (शकार के), शिरसि=शिर पर, निलीनः=पड़ी हुई (अस्ति=है), शकुनिखगविहङ्गाः=पक्षी (खग=विहङ्ग), वृक्षशाखासु=पेड़ों की शाखाओं में, निलीनाः–छिपे हुये, (सन्ति=हैं), नरपुरुषमनुष्याः=मनुष्य (=नर=पुरुष), उष्णदीर्घम्=गरम और लम्बी, श्वसन्तः=सासें लेते हुये, गृहशरणनिषण्णाः=गृह (=शरण) में बैठे हुये, आतपम्=गर्मी को, निर्वहन्ति=बिता रहे हैं ॥ १२ ॥

अर्थ—शकार—भाव !

सूर्य की किरण मेरे शिर पर गिर पड़ी है । (शकुनि, खग,) पक्षी लोग पेड़ों की शाखाओं में छिपे हुये हैं । (नर, पुरुष,) मनुष्य गरम और लम्बी सांसे लेते हुये, घरों में बैठे हुये गर्मी बिता रहे हैं (धूप का समय बिता रहे हैं) ॥ १२ ॥

टीका—शकारोऽपि ग्रीष्मातपस्य प्रभावं वर्णयति–शिरसीति । भाव इति गद्यस्थेन अन्वयो न कार्यः । भाव=श्रीमन्, सूर्यस्य=रवेः, पादः=किरणः, मम=शकारस्य,शिरसि=मूर्ध्नि, निलीनः=निपतितः, अस्ति, शकुनिखगविहङ्गाः–पक्षिणः, त्रयाणामेकत्वेऽपि शकारवचनात् न दोषः, तस्यैतादृशप्रयोगस्वभावात्, वृक्षाणाम्=पादपानाम् शाखासु=शाखास्थितपल्लवादीनां मध्ये इति भावः, लीनाः=ताभिः सह निःशब्दं विद्यमानाः, सुप्ताः वा, सन्ति, नर-पुरुष-मनुष्याः=मनुष्याः, त्रयोऽपि समानार्थाः, उष्णं तप्तं च तत् दीर्घम्=बहुकालव्यापि यथा स्यात् तथा, श्वसन्तः=श्वासं त्यजन्तः, गृहशरणनिषण्णाः = गृहे आसीनाः, गृहस्य शरणस्य च समानार्थता, 'शरणं गृहरक्षित्रो' रिति कोशात्, आतपम् = आतपयुक्तसमयम्, निर्वहन्ति = यापयन्ति । शकारवचनात् पुनरुक्तिदोषः सोढव्यः । मालिनी वृत्तम् ॥ १२ ॥

अर्थ—भाव ! अभी तक वह चेट (नौकर) नहीं आया है । अपना मन बहलाने के लिये कुछ गाऊँगा । (यह कह कर गाने लगता है ।) भाव ! तुमने सुना जो मैंने गाया ।

विटः—किमुच्यते, गन्धर्वो भवान् ?

शकारः—कधं गन्धव्वे ण भविश्शं ? (कथं गन्धर्वो न भविष्यामि ?)
हिङ्गुज्जले जीलक-भद्दमुत्थे वचाह गण्ठो शगुडा अ शुण्ठी ।
एशे मए शेविद गन्धजुत्ती कधं ण हग्गे मधुल-श्शलेत्ति ॥ १३ ॥

(हिङ्गूज्ज्वला जीरक-भद्रमुस्ता वचाया ग्रन्थिः सगुडा च शुण्ठी ।

एषा मया सेविता गन्धयुक्तिः कथं नाहं मधुरस्वर इति ॥ १३ ॥)

भावे ! पुणोवि दाव गाइश्शं । (तथा करोति) भावे ! भावे ! शुदं तुए, जं मए गाइदं ? (भाव ! पुनरपि तावत् गास्यामि ।) (भाव ! भाव ! श्रुतं त्वया यन्मया गीतम् ?)

विटः—क्या कह रहे हो, क्या आप गन्धर्व हैं ?

अन्वयः—हिङ्गूज्ज्वला, जीरकभद्रमुस्ता, वचायाः, ग्रन्थिः, सगुडा, शुण्ठी, च, एषा, गन्धयुक्तिः, मया, सेविता, (तदा), अहम्, कथम्, न, मधुरस्वरः, (भविष्यामि) इति ॥ १३ ॥

शब्दार्थ—हिंगूज्ज्वला=हींग के मिलाने से उज्ज्वल=सफेद, जीरकभद्र-मुस्ता=जीरा, और नागरमोथा से युक्त, वचायाः=वचनामक औषधि की, ग्रन्थिः=गांठ, सगुडा=गुड़ मिली हुई, शुण्ठिः-सोंठ, एषा=यह, गन्धयुक्तिः=गन्धयुक्त औषधियों का योग, मया=मैंने (=शकार ने), सेविता=सेवन की है, खायी है, (तदा=तब), अहम्=मैं, कथम्=क्यों, न=नहीं, मधुरस्वरः=मीठी आवाजवाला, (भविष्यामि=होऊँगा), इति=ऐसा ॥ १३ ॥

अर्थ—**शकार**—क्यों नहीं गन्धर्व होऊँगा —

हींग को मिलाने के कारण सफेद, जीरा सहित नागरमोथा वाली, वचनामक ओषधि की गाँठ और गुड़ मिलाई हुई सोंठ—इस पूर्वोक्त गन्धयुक्त योग का मैंने सेवन किया है, तब मैं मधुर आवाज वाला क्यों नहीं होऊँगा ॥ १३ ॥

टीका—शकार आत्मनो मधुरस्वरवत्त्वस्य साधनमाह-हिङ्गूज्ज्वलेति । हिंगूज्ज्वला=हिङ्गुभिः=पाकोपयोगिद्रव्यविशेषैः 'हींग' इति भाषायां प्रसिद्धैः, उज्ज्वला=गन्धविशिष्टा, जीरकभद्रमुस्ता=जीरक इति मुस्ता इति च सुकण्ठ-सम्पादनौषधिविशेषः, 'मुस्त' 'नागरमोथा' इति हिन्द्याम्, तद्वतीत्यर्थः, 'अर्श आदिभ्योऽच्' इति मत्त्वर्थेऽच्प्रत्ययः, वचायाः=तन्नाम्न्याः, ग्रन्थिः=काण्ठः, सगुडा=गुडविशिष्टा, शुण्ठी=हिन्द्यां 'शोंठ' इति ख्याता शुष्कतां प्रापितमार्द्रकमिति भावः, च, एषा पूर्वोक्ता, गन्धयुक्तिः=गन्धयोगः, सुगन्धिद्रव्यविशेषमिश्रिता, सेविता=उपभुक्ता, अतः, अहम्=शकारः, कथम्=केन हेतुना, न=नैव, मधुरस्वरः=मधुरध्वनिः भविष्यामीति भवेयमिति वा शेषः, उपजातिः वृत्तम् ॥ १३ ॥

अर्थ—भाव ! फिर से गाऊँगा । (ऐसा कह कर गाने लगता है ।) भाव ! भाव ! आपने सुना जो मैंने गाया ?

विटः—किमुच्यते, गन्धर्वो भवान् ?

शकारः—कधं गन्धव्वे ण भवामि ? (कथं गन्धर्वो न भवामि ?)

हिङ्गुज्जले दिण्ण-मरीच-चूण्णे वग्घालिदे तेल्ल-घिएण मिश्शे।
भुत्ते मए पालहुदीअ-मंशे कधं ण हग्गे मधुलश्शलेत्ति ? ॥ १४ ॥

(हिङ्गूज्ज्वलं दत्तमरीचचूर्णं व्याघारितं तैलघृतेन मिश्रम्।
भुक्तं मया पारभृतीयमांसं कथं नाहं मधुरस्वर इति ॥ १४ ॥)

भावे ! अज्जवि चेड़े णाअच्छदि। (भाव ! अद्यापि चेटो नागच्छति।)

विटः—स्वस्थो भवतु भवान्, सम्प्रत्येव आगमिष्यति।)

(ततः प्रविशति प्रवहणाधिरूढा वसन्तसेना चेटश्च।)

विट—क्या कह रहे हो, क्या आप गन्धर्व हैं ?

अन्वयः—हिङ्गूज्ज्वलम्, दत्तमरीच-चूर्णम्, तैलघृतेन, मिश्रम्, व्याघारितम्, पारभृतीयमांसम्, मया, भुक्तम्, अहम्, कथम्, न, मधुरस्वरः, [भविष्यामि, भवेयं वा] ॥ १४ ॥

शब्दार्थ—हिङ्गूज्ज्वलम्=हींग की गन्ध से युक्त (शोभित), दत्तमरीच-चूर्णम्=कालीमिरच के चूर्ण से युक्त, तैलघृतेन=तेल तथा घी से मिश्रम्=मिला हुआ, व्याघारितम्=बघारा गया, पारभृतीयमांसम्=कोयल का मांस, मया=मैंने, (शकार ने) भुक्तम्=खाया है, अहम्=मैं शकार, कथम्=क्यों, न=नहीं, मधुर-स्वरः=मीठी आवाज वाला, (भविष्यामि, भवेयम्=होऊँगा) ॥ १४ ॥

अर्थ—शकार—मैं गन्धर्व क्यों नहीं होऊँगा ?

हींग से (उसकी गन्ध से) सुवासित, काली मिरच के चूर्ण से युक्त, तेल और घी से मिला हुआ, बघारा गया कोयल का मांस मैंने (शकार ने) खाया है मैं क्यों नहीं मधुर आवाज वाला होऊँगा ॥ १४ ॥

टीका—पुनरपि मधुर-स्वरवत्त्वे साधनमाह शकारः—हिङ्गूज्ज्वलेति। हिंगु=पाकद्रव्यविशेषः, तेन उज्ज्वलम्=सुवासितम्, दत्तम्=प्रक्षिप्तम्, मरिचानाम्=श्याम-मरिचानां चूर्णम्=पिष्टं रजः, यस्मिन् तत्, तैलघृतेन=तैलेन आज्येन च, मिश्रम्=सम्मिश्रितम्, व्याघारितम्=शुष्कतासम्पादनाय सुपक्वतां प्रापितम्, पारभृतीय-मांसम्=पिकामिषम्, मया=शकारेण, भुक्तम्=उप-सेवितम्, अहम्=शकारः, कथम्=केन हेतुना, न=नैव, मधुरस्वरः=मधुरध्वनिः, भविष्यामि भवेयं वेति शेषः। उपजातिर्वृत्तम् ॥ १४ ॥

अर्थ—भाव ! चेट (सेवक) अभी तक नहीं आया।

विट—आप घबड़ाइये नहीं, जल्दी ही आयेगा।

(इसके बाद प्रवहण=गाड़ी पर बैठी हुई वसन्तसेना और चेट प्रवेश करते हैं।)

चेटः—भीदे क्खु हग्गे । मज्झण्हिके शुज्जे । मा दाणिं कुविदे लाअ-शाल-शण्ठाणे हुविश्शदि । ता तुलिदं वहामि । जाध, गोणा ! जाध । (भीतः खल्वहम् । माध्याह्निकः सूर्यः । मा इदानीं कुपितो राजश्यालसंस्थानो भविष्यति । तत् त्वरितं वहामि । यातम्, गावौ ! यातम् ।)

वसन्तसेना—हद्धी ! हद्धी ! ण क्खु वड्ढमाणअस्स अअं सरसंजोओ, किं ण्णेदं ? किं ण क्खु अज्जचारुदत्तेण वाहणपरिस्समं परिहरन्तेण अण्णो मणुश्शो अण्णं पवहणं पेसिदं भविस्सदि ? फुरदि दाहिणं लोअणं, वेवदि मे हिअअं, सुण्णाओ दिसाओ, सव्वं ज्जेव विसंठुलं पेक्खामि । (हा धिक् ! हा धिक् ! न खलु वर्द्धमानकस्यायं स्वरसंयोगः । किन्नु इदम् ? किं खलु आर्यचारुदत्तेन वाहनपरिश्रमं परिहरता अन्यो मनुष्योऽन्यत् प्रवहणं प्रेषितं भविष्यति ? स्फुरति दक्षिणं लोचनम्, वेपते मे हृदयम्, शून्याः दिशः, सर्वमेव विसंष्ठुलं पश्यामि ।)

शकारः— (नेमिघोषमाकर्ण्य) **भावे ! भावे ! आगदे पवहणे ।** (भाव ! भाव ! आगतं प्रवहणम् ।)

विटः—कथं जानासि ?

शकारः—किं ण पेक्खदि भावे ? बुड्ढशूअले विअ घुलघुलाअमाणं लक्खीअदि । (किं न प्रेक्षते भावः ? वृद्धशूकर इव घुरघुरायमाणं लक्ष्यते ।)

विटः— (दृष्ट्वा) **साधु लक्षितम् । अयमागतः ।**

शकारः—पुत्तका थावलका, चेड़ा ! आगदे शि ? (पुत्रक, स्थावरक, चेट ! आगतोऽसि ?)

चेट—मैं डर रहा हूँ । दोपहर का सूरज है । इस समय राजश्याल संस्थानक नाराज न हो जाय । अतः शीघ्र ही गाड़ी ले चलता हूँ । चलो बैलो, चलो ।

वसन्तसेना—हाय, हाय ! निश्चित ही यह वर्धमानक की आवाज नहीं है । यह क्या बात है ? क्या आर्य चारुदत्त गाड़ी और गाड़ीवान दोनों के परिश्रम को बचाते हुये [अर्थात् उन्हें विश्राम देने के लिये] दूसरा गाड़ी वाला व्यक्ति और दूसरी गाड़ी भेज दी है ? दाहिनी आँख फड़क रही है, मेरा हृदय कांप रहा है, सारी दिशायें शून्य हैं, सभी कुछ विपरीत दिखाई दे रहा है ।

शकार—(गाड़ी के धुरे की आवाज सुनकर) भाव ! भाव ! गाड़ी आ गई ।

विट—तुम कैसे जानते हो ?

शकार—श्रीमन् आप नहीं रहें हैं, बूढ़े सुअर के समान घुर घुर आवाज करती हुई मालूम पड़ रही है ?

विट—(देखकर) अच्छा समझा । यह आ गया ।

शकार—बेटा, स्थावरक, चेट ! तुम आ गये हो ?

चेटः—अध इं। (अथ किम्।)

शकारः—पवहणे वि आगदे ? (प्रवहणमप्यागतम् ?)

चेटः—अध इं। (अथ किम्।)

शकारः—गोणा वि आगदे ? (गावावपि आगतौ ?)

चेटः—अध इं। (अथ किम्।)

शकारः—तुमं पि आगदे ? (त्वमपि आगतः ?)

चेटः—(सहासम्) भट्टके ! अहंपि आगदे। (भट्टारक ! अहमप्यागतः।)

शकारः—ता पवेशेहि पवहणं। (तत् प्रवेशय प्रवहणम्।)

चेटः—कदलेण मग्गेण ? (कतरेण मार्गेण ?)

शकारः—एदेण ज्जेव पाआलखण्डेण। (एतेनैव प्राकारखण्डेन।)

चेटः—भट्टके ! गोणा मलेन्ति, पवहणे वि भज्जेदि, हग्गे वि चेड़े मलामि। (भट्टारक ! गावौ म्रियेते, प्रवहणमपि भज्यते, अहमपि चेटो म्रिये।)

शकारः—अले लाअशालए हग्गे; गोणा मले, अवले कीणिश्शं, पवहणे भग्गे अवलं घड़ाइश्शं, तुमं मले अण्णे पवहणवाहके हुविश्शदि। (अरे ! राजश्यालकोऽहम्; गावौ मृतौ, अपरौ क्रेष्यामि। प्रवहणं भग्नम्, अपरं घटयिष्यामि; त्वं मृतः, अन्यः प्रवहणवाहको भविष्यति।)

चेटः—शव्वं उववण्णं हुविश्शदि, हग्गे अत्तणकेलके ण हुविश्शं। (सर्वमुपपन्नं भविष्यति, अहमात्मीयो न भविष्यामि।)

चेट—और क्या ?

शकार—गाड़ी भी आ गई ?

चेट—और क्या ?

शकार—दोनों बैल भी आ गये ?

चेट—और क्या ?

शकार—तुम भी आ गये ?

चेट—(हसता हुआ) मालिक ! मैं भी आ गया।

शकार—तब गाड़ी को लाओ।

चेट—किस रास्ते से ?

शकार—इसी चहार दीवारी से।

चेट—मालिक ! बैल मर जायेंगे, गाड़ी टूट जायगी, और मैं चेट भी मर जाऊँगा।

शकार—अरे ! मैं राजा का शाला हूँ, बैल मर गये, दूसरे खरीद लूँगा। गाड़ी टूट गई, दूसरी बनवा लूँगा। तुम मर गये, दूसरा गाड़ीवान बन जायगा।

चेट—सब कुछ ठीक हो जायगा, केवल मैं आपका सेवक (जीवित) नहीं रह सकूँगा।

शकारः—अले ! शव्वं पि णश्शदु पाआलखण्डेण पवेशेहि पवहणं। (अरे ! सर्वमपि नश्यतु, प्राकारखण्डेन प्रवेशय प्रवहणम् ।)

चेटः—विभज्ज ले पवहण ! शमं शामिणा, विभज्ज, अण्णे पवहणे भोदु । भट्टके शदुअ णिवेदेमि (प्रविश्य) कधं ण भग्गे ? भट्टके ! एशे उवत्थिदे पवहणे । (विभज्यस्व, रे प्रवहण ! समं स्वामिना विभज्यस्व, अन्यत् प्रवहणं भवतु, भट्टारकं गत्वा निवेदयामि ।) (कथं न भग्नम् ? भट्टारक ! एतदुपस्थितं प्रवहणम् ।)

शकारः—ण छिण्णा गोणा ? ण मला लज्जू ? तुमं पि ण मले ? (न छिन्नौ गावौ ? न मृता रज्जवः ? त्वमपि न मृतः ?)

चेटः—अध इं । (अथ किम् ।)

शकार—अरे ! सभी कुछ नष्ट हो जाने दो, (किन्तु तुम इसी) चहार दीवारी से गाड़ी लाओ ।

चेट—टूट जा गाड़ी, मालिक के साथ टूट जा । दूसरी गाड़ी बन जायगी, मालिक से जाकर कहता हूँ । (प्रवेश करके) क्या, नहीं टूटी ? मालिक ! यह गाड़ी उपस्थित है ।

शकार—बैल नहीं टूटे ? गाडी नहीं मरी ? और तुम भी नहीं मरे ।

चेट—और क्या ?

टीका—माध्याह्निकः=मध्याह्ने भवः, कुपितः=क्रुद्धः, वहामि=नयामि । स्वरसंयोगः=कण्ठस्वरः, वाहनपरिश्रमम्=वाहनशब्देन वृषभयोश्चालकस्य च ग्रहणं बोध्यम्, उभयोः विश्रामार्थमिति भावः, मनुष्यः=प्रवहणचालकः, विसंष्ठुलम्=विपरीतम्, नेमिघोषम्=चक्राधारध्वनिम् घुरघुरायमाणम्=घुर-घुर-इति ध्वनिम् कुर्वत्, अत्र 'घुर घुर' इत्यव्यक्तशब्दं करोतीत्यर्थे क्यष्-प्रत्ययान्तस्य शानजन्तस्य रूपं बोध्यम् । लक्षितम्=ज्ञातम्, प्राकारखण्डेन=प्राकारभागेन, उपपन्नम्=पुनरपि सम्पन्नम्, विभज्यस्व=विशेषेण भग्नं भव, स्वामिना=शकारेण, समम्=सार्धम् । सहैव द्वावपि म्रियेतामिति तद्भावः ।

शब्दार्थ—पुरस्करणीयः = आगे करने योग्य । वप्रीयम् = पितृसम्बन्धि, प्रवहणस्वामी=गाड़ी का मालिक, अधिरोह=चढ़िये, परिवर्त्तय=घुमाओ, परावर्त्य=घुमा कर, अवतीर्य=उतर कर, अवलम्ब्य=पकड़ कर, मुषितौ=चुरा लिये गये, खादितौ=खा लिये गये । मध्याह्नार्क-ताप-छिन्न-दृष्टेः=दोपहर के सूर्य के सन्ताप से चकाचौंध नेत्रोंवाले, प्रतिवसति=बैठी हुई है ।

शकारः—भाव ! आअच्छ, पवहणं पेक्खामो। भावे ! तुमं पि मे गुलु पलमगुलु पेक्खिअशि शादलके अब्भन्तलके त्ति पुलक्कलणीएत्ति तुमं दाव पवहणं अग्गदो अलिब्ह । (भाव ! आगच्छ, प्रवहणं पश्यावः । भाव ! त्वमपि मे गुरुः परमगुरुः, प्रेक्ष्यसे सादरकः अभ्यन्तरक इति पुरस्करणीय इति त्वं तावत् प्रवहणमग्रतः अधिरोह ।)

विटः— एवं भवतु । (इत्यारोहति)

शकारः—अधवा चिट्ठ तुमं। तुह वप्पकेलके पवहणे ? जेण तुमं अग्गदो अहिलुअशि। हग्गे पवहणशामी अग्गदो पवहणं अहिलुहामि ! (अथवा तिष्ठ त्वम् । तव वप्रीयं (पितुः) प्रवहणम् येन त्वमग्रतः अधिरोहसि । अहं प्रवहणस्वामी, अग्रतः प्रवहणमधिरोहामि ।)

विटः—भवानेवं ब्रवीति ।

शकारः—जइ वि हग्गे एवं भणामि, तधावि तुह एशे आदले अहिलुह भट्टकेत्ति भणिदुं । (यद्यपि अहमेवं भणामि, तथापि तव एष आदरः 'अधिरोह भट्टारक' इति भणितुम् ।)

विटः—आरोहतु भवान् ।

शकारः – एशे शम्पदं अहिलुहामि। पुत्तका ! थावलका ! चेड़ा ! पलिवत्तावेहि पवहणं । (एष साम्प्रतमधिरोहामि । पुत्रक ! स्थावरक ! चेट ! परिवर्त्तय प्रवहणम् ।)

चेटः—(परावर्त्य) **अहिलुहदु भट्टालके ।** (अधिरोहतु भट्टारकः ।)

अर्थ—शकार—भाव ! आओ, हम दोनों गाड़ी देखें। भाव ! तुम भी मेरे गुरु हो, परमगुरु हो। तुम्हें मैं आदर से देखता हूँ, तुम मेरे मन की बात जानने वाले हो, इस लिये तुम आगे चलने योग्य हो अतः पहले तुम्हीं गाड़ी पर चढ़ो।

विट—ऐसा ही हो। (यह कह कर चढ़ता है।)

शकार—अथवा तुम रुक जाओ। तुम्हारे बाप की गाड़ी है जो तुम आगे (पहले) चढ़ रहे हो। मैं गाड़ी का मालिक हूँ, अतः गाड़ी पर पहले मैं चढ़ता हूँ।

विट—आपने ही ऐसा कहा था।

शकार—यद्यपि मैंने ऐसा कहा था किन्तु किन्तु तुम्हें यह आदर प्रदर्शित करना चाहिये था 'स्वामी आप गाड़ी पर चढ़ें।'

विट—आप चढ़िये।

शकार—अब मैं चढ़ता हूँ। बेटा, स्थावरक, चेट ! गाड़ी घुमाओ।

चेट—(गाड़ी घुमाकर) स्वामिन् ! गाड़ी पर चढ़िये।

शकारः—(अधिरुह्यावलोक्य च शङ्कां नाटयित्वा त्वरितमवतीर्य विटं कण्ठे अवलम्ब्य) **भावे ! भावे ! मलेशि मलेशि । पवहणाधिलढा लक्खशी चोले वा पडिवशदि । जइ लक्खशी तदा उभे वि मूशे, अध चोले तदा उभे वि खज्जे ।** (भाव ! भाव ! म्रियसे म्रियसे । प्रवहणाधिरूढा राक्षसी चौरो वा प्रतिवसति । यदि राक्षसी, तदा उभावपि मुषितौ, अथ चौरः तदा उभावपि खादितौ ।)

विटः—न भेतव्यम् । कुतोऽत्र वृषभयाने राक्षस्याः सञ्चारः । मा नाम ते मध्याह्नार्क–ताप–च्छिन्न–दृष्टेः स्थावरकस्य सकञ्चुकां छायां दृष्ट्वा भ्रान्तिरुत्पन्ना ?

शकारः—पुत्तकाः ! थावलका ! चेड़ा । जीवेशि ? (पुत्रक ! स्थावरक ! चेट ! जीवसि ?)

चेट—अध इं । (अथ किम्)

शकारः—भावे ! पवहणाधिलूढा इत्थिआ पड़िवशदि । ता अवलोएहि । (भाव ! प्रवहणाधिरूढा स्त्री प्रतिवसति । तदवलोकय ।)

विटः—कथं स्त्री ! ।

अवनतशिरसः प्रयाम शीघ्रं पथि वृषभा इव वर्षताडिताक्षाः ।
मम हि सदसि गौरवप्रियस्य कुलजनदर्शनकातरं हि चक्षुः ॥ १५ ॥

शकार—(चढ़ कर और देखकर शंका का अभिनय करके तुरन्त उतर कर विट को गले में पकड़कर) भाव ! भाव ! तुम मर गये, मर गये । गाड़ी पर चढ़ी हुई राक्षसी अथवा चोर रहता है । यदि राक्षसी है तब तो हम दोनों चुरा लिये गये, और यदि चोर है तो दोनों खा लिये गये ।

विट—मत डरिये । इस बैलगाड़ी में राक्षसी कहाँ से आ सकती है । दोपहर में सूर्य की धूप से चकाचौंध भरी दृष्टि वाले तुम्हें स्थावरक की कुर्त्तायुक्त परछाईं देख कर भ्रान्ति पैदा हो गई है ।

शकार—बेटा, स्थावरक, चेट ! जीवित हो ।

चेट—और क्या ?

शकार—भाव ! गाड़ी पर चढ़ी हुई स्त्री बैठी है । अतः देखो ।

अन्वयः—पथि, वर्षताडिताक्षाः, वृषभाः, इव, अवनतशिरसः, शीघ्रम्, प्रयामः, हि, सदसि, गौरवप्रियस्य, मम, चक्षुः, कुलजनदर्शनकातरम्, हि ॥ १५ ॥

शब्दार्थ—पथि=रास्ते में, वर्षताडिताक्षाः=वर्षा, जलधारा से प्रताड़ित नेत्रों वाले, वृषभाः=बैलों, इव=के समान, अवनतशिरसः=झुके हुये शिर वाले (हम लोग), शीघ्रम्=जल्दी ही, प्रयामः=भाग चलें, हि=क्योंकि, सदसि=सभा में,

वसन्तसेना—(सविस्मयमात्मगतम्) **कधं मम णअणाणं आआसअरो ज्जेव राअस्सालो। ता संसइदम्हि मन्दभाआ। एसो दाणिं मम मन्दभाइणोए ऊसरक्खेत्तपाड़िदो विअ बीअमुट्ठो णिप्फलो इध आगमणो संवुत्तो। ता किं एत्थ करइस्सम्?** (कथं मम नयनयोरायासकर एव राजश्यालः। तत् संशयिताऽस्मि मन्दभाग्या। एतदिदानीं मन्दभागिन्या ऊषरक्षेत्रपतित इव बीजमुष्टिः निष्फलमिहागमनं संवृत्तम्। तत् किमत्र करिष्यामि?)

शकारः—**कादले क्खु एशे बुड्ढचेड़े पवहणं णावलोएदि। भावे! आलोएहि पवहणं।** (कातरः खल्वेषः बृद्धचेटो प्रवहणं नावलोकयति। भाव! आलोकय प्रवहणम्।)

समाज में, गौरवप्रियस्य=प्रतिष्ठा को चाहने वाले, मम=[विट की], चक्षुः=आँख, कुलजनदर्शनकातरम्=कुलीन स्त्री को देखने में ड़रने वाली है, हि=यह निश्चित है॥ १५॥

अर्थ—क्या स्त्री है?

[यदि स्त्री है तो हम लोग] मार्ग में वर्षा की जलधारा से ताड़ित आँखों वाले बैलों की तरह झुके हुये शिर वाले शीघ्र ही भाग चलें। क्योंकि सभा=समाज में प्रतिष्ठा चाहने वाले मेरे नेत्र कुलीन स्त्रियों के दर्शन में डरने वाले हैं॥ १५॥

टीका—प्रवहणे यदि नाम स्त्री तदाऽऽवाभ्यां किं करणीयमित्यत्राह विटः—अवनतेति। यदि स्त्री अस्ति तदा, पथि=मार्गे, गमनकाले इति भावः, वर्षताडिताक्षाः = वर्षाजलधाराप्रताडितनेत्राः, वृषभाः = बलीवर्दाः, इव=यथा, अवनतम्=नम्रीकृतम् शिरः=मूर्धा यैस्ते, वयम्, शीघ्रम्=तत्कालमेव, प्रयामः=पलायामहे, हि=यतः, सदसि=सभायाम् समाजे वा, गौरवम्-प्रतिष्ठा, प्रियम् यस्य तस्य, मम=विटस्य, चक्षुः=नेत्रम्, कुलजनानाम्=कुलीनस्त्रीणाम्, दर्शने = अवलोकने, कातरम्=भीरु, हि=निश्चयेन। एवञ्च कातरोहं न स्त्रीं द्रक्ष्यामीति तद्भावः। अत्रार्थान्तरन्यासोऽलंकारः, पुष्पिताग्रा वृत्तम्॥ १५॥

शब्दार्थ—सविस्मयम्=आश्चर्यपूर्वक, आयासकरः=कष्ट देने वाला, संशयिता=सन्देह में पड़ी हुई, ऊषर-क्षेत्रपतितः=ऊषर खेत में गिरे हुये, बीजमुष्टिः=बीजों की मुट्ठी, कातर=डरपोक, उड्डीयन्ते=उड़ रहे हैं।

अर्थ—वसन्तसेना—(आश्चर्यसहित अपने में) क्या मेरी आँखों को खटकने वाला राजश्यालक ही है। इस कारण अभागिन मैं सन्देह में पड़ गई हूँ। इसलिये ऊषर क्षेत्र में गिराये गये बीजों की मुट्ठी के समान मेरा यहाँ आना, इस समय, व्यर्थ हो गया। अतः अब क्या करना चाहिये।

शकार—डरपोक यह बूढ़ा चेट गाड़ी नहीं देख रहा है। भाव! गाड़ी देखो।

विटः—को दोषः । भवत्वेवं तावत् ।

शकारः—कधं शिआला उड्डेन्ति वाअशा वच्चेन्ति । ता जाव भावे अक्खीहिं खक्खीअदि, दन्तेहिं पेक्खिअदि, ताव हग्गे पलाइश्शं । (कथं शृगाला उड्डयन्ते, वायसा व्रजन्ति । तद् यावत् भावः अक्षिभ्यां भक्ष्यते, दन्तैः प्रेक्ष्यते, तावदहं पलायिष्ये ।)

विटः—(वसन्तसेनां दृष्ट्वा सविषादमात्मगतम्) कथमये ! मृगी व्याघ्रमनुसरति । भोः कष्टम् ।

शरच्चन्द्रप्रतीकाशं पुलिनान्तरशायिनम् ।
हंसी हंसं परित्यज्य वायसं समुपस्थिता ॥ १६ ॥

विट—क्या बुराई है, ऐसा ही हो ।

शकार—क्यों सियार उड़ रहे हैं, कौवे भाग रहे हैं, अतः जब तक भाव को आँखों से खा नहीं लिया जाता, दाँतों से देख लिया नहीं जाता, तब तक मैं भाग जाता हूँ ।

अन्वयः—हंसी, शरच्चन्द्रप्रतीकाशम्, पुलिनान्तरशायिनम्, हंसम्, परित्यज्य, वायसम्, समुपस्थिता ॥ १६ ॥

शब्दार्थ—हंसी=हंसी, शरच्चन्द्रप्रतीकाशम्=शरत्कालीन [निर्मल] चन्द्रमा के समान, पुलिनान्तरशायिनम् = नदी के किनारे की जमीन पर लेटे हुये, हंसम्=हंस को, परित्यज्य = छोड़कर, वायसम्=कौवा के पास, समुपस्थिता = आ गयी है ॥ १६ ॥

अर्थ—विट—(वसन्तसेना को देखकर खेद-सहित, अपने में) अरे, मृगी व्याघ्र के पीछे क्यों जा रही ? हाय कष्ट है—

हंसी शरत्कालीन चन्द्रमा के समान [उज्वल], नदी के किनारे की जमीन पर लेटे हुये हंस को छोड़कर कौवा के पास आ गयी है ॥ १६ ॥

टीका—चारुदत्तं परित्यज्य वसन्तसेनायाः समागमने आश्चर्यं व्यनक्ति विटः—शरदिति । हंसी=मराली, शरदः=तन्नामकर्तुविशेषस्य निर्मलस्येति भावः, चन्द्रः=शशी, तस्य प्रतीकाशम्=तुल्यम्, पुलिनस्य=नदीसमीपदेशस्य, अन्तरे=अभ्यन्तरे, शायिनम्=विद्यमानम्, हंसम् = मरालम्, परित्यज्य = त्यक्त्वा, वायसम् = काकम्, समुपस्थिता = समुपागता । यशोराशिचारुदत्तं विहाय काकतुल्यं शकारमुपगमनं वसन्तसेनाया अनुचितमेवेति भावः । अत्राप्रस्तुतप्रशंसालंकारः, पथ्यावक्त्रं वृत्तम् ॥ १६ ॥

(जनान्तिकम्) वसन्तसेने ! न युक्तमिदं नापि सदृशमिदम् ।

पूर्वं मानादवज्ञाय द्रव्यार्थे जननीवशात् ।

वसन्तसेना—ण । (इति शिरश्चालयति) (न ।)

विटः—

अशौण्डीर्यस्वभावेन वेशभावेन मन्यते ॥ १७ ॥

ननूक्तमेव मया भवतीं प्रति—'सममुपचर भद्रे ! सुप्रियञ्चाप्रियञ्च' ।

अन्वयः—पूर्वम्, मानात्, अवज्ञाय, [इदानीम्] जननीवशात्, द्रव्यार्थे, [आगतासि, अथवा] अशौण्डीर्यस्वभावेन, वेशभावेन, [वा आगतासीति मया] मन्यते ॥ १७ ॥

शब्दार्थ—पूर्वम्=इससे पहले, मानात्=घमण्ड के कारण, अवज्ञाय=तिरस्कार करके, [इदानीम्=इस समय], जननीवशात् = माता के कारण, द्रव्यार्थे =धन के उद्देश्य से [आगतासि=आई हो, अथवा] अशौण्डीर्यस्वभावेन = अनुदार स्वभाव वाले, वेशभावेन=वेश्यापन के कारण [आगतासि=आई हो, इति=ऐसा, मया=मेरे द्वारा] मन्यते=माना जा रहा है ॥ १७ ॥

अर्थ—(जनान्तिक) यह [यहाँ आना] तुम्हारे लिये उचित नहीं है, योग्य नहीं है —

इससे पहले घमण्ड के कारण तिरस्कार करके [इस समय] माता के कारण [भेजी गई] धन के लिये [आई हुई हो ।]

वसन्तसेना—नहीं । [ऐसा कह कर सिर हिलाती है ।]

विट—(तब) अनुदार स्वभाव वाले [=स्वाभिमानशून्य] वेश्यापन के कारण [आई हुई हो, ऐसा मैं] समझता हूँ ॥ १७ ॥

टीका—वसन्तसेनाया निन्दां कुर्वन् तस्या वेश्यात्वं साधयति विटः– र्वमिति । पूर्वम्=इतः पूर्वम्, यदा शकारो धनाद्विना वशीकर्तुमैच्छत् तदा, मानात्=दर्पात्, अवज्ञाय=तिरस्कृत्य, इदानीम्, जननीवशात् = पालनकर्त्र्याः समादेशेन, द्रव्यार्थे= धनार्थम्, आगतासीति । वसन्तसेना इदं निषेधति–न = नैव, अहं धनार्थमत्र नैवागतास्मि । पुनरपि विटस्तस्या आगमनहेतुं प्रतिपादयति–अशौण्डीर्यम्=गर्वराहित्यम्, अनौदार्यं वा स्वभावः = प्रकृतिः यस्य, तादृशेन वेशभावेन = वेश्यात्वेन, हेतुना आगतासीति मया, मन्यते=स्वीक्रियते ॥ १७ ॥

अर्थ – मैंने आपसे पहले ही कहा था —

'हे भद्रे ! प्रिय अथवा अप्रिय दोनों की समान रूप से सेवा करो (क्योंकि तुम वेश्या हो ।' (इस पद्यांश की व्याख्या प्रथम अंक के ३१वें श्लोक में देखनी चाहिये ।)

वसन्तसेना—पवहणविपज्जासेण आगदा सरणागदम्हि। (प्रवहण-विपर्यासेनागता शरणागताऽस्मि।)

विटः—न भेतव्यं न भेतव्यम्। भवत्वेनं वञ्चयामि। (शकारमुपगम्य) काणेलीमातः! सत्यं राक्षस्येवात्र प्रतिवसति।

शकारः—भावे! भावे! जइ लक्खशी पड़िवशदि, ता कीश ण तुमं मूशेदि? अध चोले, ता किं ण तुमं भक्खिदे? (भाव! भाव! यदि राक्षसी प्रतिवसति, तत् केन न त्वां मुष्णाति? अथ चौरः तत् किं न त्वं भक्षितः?)

विटः—किमनेन निरूपितेन। यदि पुनरुद्यानपरम्परया पद्भ्यामेव नगरीमुज्जयिनीं प्रविशावः, तदा को दोषः स्यात्?

शकारः—एव्वं किदे किं भोदि? (एवं कृते किं भवति?)

विटः—एवं कृते व्यायामः सेवितो धुर्याणाञ्च परिश्रमः परिहृतो भवति।

शकारः—एवं भोदु। थावलआ! चेड़ा। णेह पवहणं। अधवा चिट्ठ चिट्ठ, देवदाणं वम्हणाणं च अग्गदो चलणेण गच्छामि। णहि णहि,

---

शब्दार्थ—प्रवहण-विपर्यासेन=गाड़ी की अदला-बदली के कारण, काणेली माता है जिस की ऐसा अर्थात् काणेली का बेटा, उद्यानपरम्परया= एक बगीचे से दूसरे में, दूसरे से तीसरे में—इसी प्रकार से आगे तक, धुर्याणाम् = बैलों का, परिहृतः=बचत, ओषधीकर्तुम्=औषधि बनाना, दुष्करम्=अति कठिन, अभिसारयि-तुम=अभिसार करने के लिये। रोषिता = नाराज करा दी गई थी, प्रसादयामि= प्रसन्न करता हूँ। विज्ञप्तिम्=निवेदन।

अर्थ—**वसन्तसेना**—गाड़ी की अदला बदली के कारण आ गई हूँ, शरण में आई हूँ।

विट—मत डरो, मत डरो। अच्छा, इसको धोखा देता हूँ। (शकार के पास जाकर) काणेली के बेटे। इस गाड़ी में तो सचमुच राक्षसी बैठी है।

शकार—भाव! भाव! यदि राक्षसी बैठी है तो तुम्हें क्यों नहीं चुराती है? अगर चोर है तो तुम्हें क्यों नहीं खा लिया?

विट—इस विवाद से क्या लाभ? यदि हम दोनों बगीचे-बगीचे होकर पैदल ही उज्जैन शहर में चलें तो क्या बुराई है?

शकार—ऐसा करने से क्या लाभ होगा?

विट—ऐसा करने पर व्यायाम कर लिया जायगा? और बैलों का परिश्रम बच जायगा।

शकार—ऐसा ही हो। स्थावरक चेट! गाड़ी ले जाओ। अथवा रुको, रुको, देवताओं और ब्राह्मणों के आगे पैदल ही चलता हूँ। नहीं, नहीं, गाड़ी पर चढ़कर

पवहणं अहिलुहिअ गच्छामि। जेण दूलदो मं पेक्खिअ भणिश्शन्ति, 'एशे श्चे लट्ठिअशले भट्ठालके गच्छदि।' (एवं भवतु। स्थावरक ! चेट ! नय प्रवहणम्। अथवा तिष्ठ, देवतानां ब्राह्मणानाञ्चाग्रतः चरणेन गच्छामि। नहि, नहि, प्रवहणमधिरुह्य गच्छामि। येन दूरतो मां प्रेक्ष्य भणिष्यन्ति—'एष स राष्ट्रियश्यालो भट्टारको गच्छति।')

विटः—(स्वगतम्) दुष्करं विषमौषधीकर्त्तुम्। भवतु, एवं तावत्। (प्रकाशम्) काणेलीमातः ! एषा वसन्तसेना भवन्तमभिसारयितुमागता।

वसन्तसेना—सन्तं पावं सन्तं पावं। (शान्तं पापं शान्तं पापम्।)

शकारः—(सहर्षम्) भावे ! भावे ! मं पवलपुलिशं मणुश्शं वाशुदेवकं ? (भाव ! भाव ! मां प्रवरपुरुषं मनुष्यं वासुदेवकम् ?)

विटः—अथ किम्।

शकारः—तेण हि अपुव्वा शिली शमाशादिदा, तश्शि काले मए लोशाइदा, शम्पदं पादेशुं पडिअ पशादेमि। (तेन ही अपूर्वा श्रीः समासादिता, तस्मिन् काले मया रोषिता, साम्प्रतं पादयोः पतित्वा प्रसादयामि।)

विटः—साधु अभिहितम्।

शकारः—एशे पादेशुं पड़ेमि। (इति वसन्तसेनामुपसृत्य) अत्तिके। अम्बिके ! शुणु मम विण्णत्तिं। (हे मातः ! अम्बिके ! शृणु मम विज्ञप्तिम्।) (एष पादयोः पतामि।)

एशे पड़ेमि चलणेशु विशालणेत्ते !
हत्थञ्जलिं दशणहे तव शुद्धदन्ति !

चलता हूँ। जिससे लोग दूर से ही मुझको देख कर यह कहेंगे—'यह राजा का शाला संस्थानक स्वामी जा रहा है।

विट—(अपने में) विष को औषधि बनाना बहुत कठिन है। अच्छा, ऐसा हो। (प्रकट रूप में) कणेली के पुत्र ! वह वसन्तसेना आपके साथ अभिसार करने के लिये आई है।

वसन्तसेना—ऐसा मत कहो, मत कहो।

शकार—(हर्षसहित) भाव ! भाव ! मुझ प्रवर पुरुष, मनुष्य वासुदेव के साथ (अभिसार के लिये आयी है) ?

विट—और क्या ?

शकार— तब तो अपूर्व लक्ष्मी प्राप्त कर ली। उस समय मैंने नाराज कर दी थी, इस समय पैरों पर गिर कर मनाता हूँ।

विट—वहुत ठीक कहा।

जं तं मए अवकिदं मदणातुलेण
तं खम्मिदाशि बलगत्ति ! तव म्हि दाशे ॥ १८ ॥

(एष पतामि चरणयोर्विशालनेत्रे !, हस्ताञ्जलिं दशनखे ! तव शुद्धदन्ति !
यत्तन्मयाऽपकृतं मदनातुरेण, तत् क्षामितासि वरगात्रि ! तवास्मि दासः ॥१८॥)

अन्वयः—(हे) विशालनेत्रे ! एषः, अहम् (तव), पादयोः, पतामि, (हे) शुद्धदन्ति ! तव, (पादयोः), दशनखे, हस्ताञ्जलिम्, (करोमि), (हे) वरगात्रि ! मदनातुरेण, मया, तव, यत्, अपकृतम्, तत्, क्षामिता, असि, (अहम्) तव, दासः, अस्मि ॥ १८ ॥

शब्दार्थ—(हे) विशालनेत्रे !=बड़ी-बड़ी आँखों वाली !, एषः = यह, मैं, (तव=तुम्हारे) चरणयोः=पैरों पर, पतामि=गिरता हूँ, (हे) शुद्धदन्ति=शुद्ध= उज्ज्वल दाँतों वाली ! तव= तुम्हारे (पादयोः = पैरों के) दशनखे=दश नाखूनों में, हस्ताञ्जलिम्=हाथों की अञ्जलि, (करोमि = रख रहा हूँ), हे वरगात्रि ! = सुन्दर अङ्गों वाली, मदनातुरेण=कामवासना से व्याकुल, मया=मैंने (शकार ने), तव=तुम्हारा, वसन्तसेना का, यत्=जो, अपकृतम् = अपकार, बुरा किया है, तत्= उसे, क्षामिता=क्षमा करायी गयी, असि=हो, (अहम्=मैं, शकार) तव=तुम्हारा, वसन्तसेना का, दासः=सेवक, अस्मि=हूँ ॥ १८ ॥

अर्थ—शकार—यह मैं तुम्हारे पैरों पर गिरता हूँ । (ऐसा कह कर, वसन्तसेना के पास जाकर) हे माता ! अम्बिके ! मेरी प्रार्थना सुनो—

हे बड़ी-बड़ी आँखोंवाली ! यह मैं (तुम्हारे) पैरों पर गिरता हूँ । हे उज्ज्वल दाँतों वाली ! तुम्हारे (पैरों के) दश नाखूनों में अपने हाथों की अंजलि रखता हूँ । हे सुन्दर शरीर वाली ! कामवासना से व्याकुल मैंने (शकार ने) उस समय तुम्हारे साथ जो बुरा किया था उसको क्षमा करता हूँ, मैं तुम्हारा दास=सेवक हूँ । [अतः क्षमा कर दो ।] ॥ १८ ॥

टीका—शकारः पूर्वं विहितमपराधं क्षन्तुं वसन्तसेनां निवेदयति । एष इति । हे विशालनेत्रे ! = हेदीर्घाक्षि, एषः = पुरो वर्तमानः, अहम् = शकारः, तव, चरणयोः = पादयोः, पतामि = नमामि, हे शुद्धदन्ति = शुद्धाः = उज्ज्वलाः दन्ताः यस्यास्तत्-सम्बुद्धौ, उज्वलदशने, तव = वसन्तसेनायाः, (पादयोः), दशनखे=दशानां नखानां समाहारः दशनखम्, तस्मिन्, दशकररुहे, हस्तयोः= करयोः अञ्जलिम्=सम्पुटम्, करोमि, हे वरगात्रि ! = वरम् उत्कृष्टं गात्रम् = शरीरं यस्यास्तत्सम्बुद्धौ, हे उत्कृष्टशरीरे !, मदनेन=कामवासनया, आतुरेण=व्याकुलेन,

वसन्तसेना—(सक्रोधम्) **अवेहि, अणज्जं मन्तेशि ।** (इति पादेन ताडयति) (अपेहि, अनार्यं मन्त्रयसि)

शकारः—(सक्रोधम्)

जे चुम्बिदे अम्बिकामादुकेहिं गदे ण देवाणं वि जे पणामं ।
शे पाडिदे पादतलेण मुण्डे वणे शिआलेण जधा मुदङ्गे ॥१९॥

(यच्चुम्बितमम्बिकामातृकाभिर्गतं न देवानामपि यत् प्रणामम् ।
तत् पातितं पादतलेन मुण्डं वने शृगालेन यथा मृताङ्गम् ॥१९॥)

मया=शकारेण, तव=वसन्तसेनायाः, यत्=यत्किञ्चिदपि, अपकृतम्=अप्रियमाचरितम्, तत्=तत्सर्वम्, क्षामिता=क्षमां याचितासि, अहम्=शकारः, तव=वसन्तसेनायाः, दासः=सेवकः, अस्मि=वर्ते । अतस्त्वयाऽवश्यं क्षन्तव्य इति भावः । वसन्ततिलकं वृत्तम् ॥ १८ ॥

अर्थ वसन्तसेना (क्रोधपूर्वक) दूर हट जाओ, अनुचित बोल रहे हो । (ऐसा कह कर पैर से मारती है ।)

अन्वयः—यत्, अम्बिकामातृकाभिः, चुम्बितम्, यत्, देवानाम्, अपि, प्रणामम्, न, गतम्, तत्, मुण्डम्, वने, शृगालेन, मृताङ्गम्, यथा, (त्वया), पादतलेन, पातितम् ॥ १९ ॥

शब्दार्थ—यत्=जो, अम्बिकामातृकाभिः=माताओं के द्वारा, चुम्बितम्=चूमा गया था, यत्=जो, देवानाम्=देवताओं के, अपि=भी, प्रणामम्=प्रणाम को, न=नहीं, गतम्=गया था, उनके सामने भी नहीं झुका था, तत्=उस, मुण्डम्=शिर को, बने=वन में, शृगालेन=सियार के द्वारा, मृताङ्गम्=मरे शरीर, यथा=के समान, (त्वया=तुम वसन्तसेना ने), पादतलेन=पैर के तलवे से, पातितम्=गिरा दिया, तिरस्कृत कर दिया ॥ १९ ॥

अर्थ—**शकार**—(क्रोध के साथ)

जिस शिर को माताओं ने चूमा था, जो शिर देवताओं के सामने भी नहीं झुका था उस शिर को वन में शियार द्वारा मरे हुये शरीर के समान तुमने पैर के तलवे से गिरा दिया, तिरस्कृत कर दिया ॥ १९ ॥

टीका—वसन्तसेनया कृतं शरीरपातं दृष्ट्वा शकारः स्वशरीरस्योत्कृष्टत्वं ब्रवीति-यदिति । यत्=पुरो वर्तमानम, अम्बिकामातृकाभिः=जननीभिः, शकारवचनात् पुनरुक्तिः सोढव्या, चुम्बितम्=स्नेहेन मुखादिना चुम्बितम्, यत्=पूर्वोक्तम्, देवानाम् अपि=सुराणामपि, प्रणामम्=प्रणम्रताम्, प्रणतिम्, न=नैव, गतम्=प्रापितम्, तत् मुण्डम्=मम शिरः, वने=अरण्ये, शृगालेन=जम्बूकेन, मृताङ्गम्=मृतदेहम्, यथा=इव, त्वया=वसन्तसेनया, पादतलेन=चरणतलेन, पातितम्=पतनावस्थां प्रापितम्,

अले थावलआ, चेड़ा ! कहिं तुए एशा शमाशादिदा ? (अरे स्थावरक ! चेट ! कस्मिन् त्वया एषा समासादिता ।)

चेटः—भट्टके ! गाम-शअलएहिं लुद्धे लाअमग्गे, तदो चालुदत्तश्श लुक्खवाडिआए पवहणं थाविअ, तहिं ओदलिअ, जाव चक्कपलिवट्टिअं कलेमि, ताव एशा पवहणविपज्जाशेण इह आलूढ़ेत्ति तक्केमि । (भट्टक ! ग्रामशकटैः रुद्धो राजमार्गः, तदा चारुदत्तस्य वृक्षवाटिकायां प्रवहण स्थापयित्वा तस्मिन्नवतीर्य, यावत् चक्रपरिवृत्ति करोमि, तावदेषा प्रवहणविपर्यासेन इह आरूढेति तर्कयामि ।)

शकारः—कधं पवहण-विपज्जाशेण आगदा, ण मं अहिशालिदुं ? ता ओदल, ओदल मम केलकादो पवहणादो । तुमं तं दलिद्दशत्थवाहपुत्तकं अहिशालेशि, मम केलकाइं गोणाइं वाहेशि; ता ओदल ओदल गब्भदाशि ! ओदल ओदल । (कथं प्रवहणविपर्यासेनागता, न मामभिसारयितुम् । तदवतर अवतर मदीयात् प्रवहणात् । त्वं तं दरिद्रसार्थवाह-पुत्रकमभिसारयसि, मदीयौ गावौ वाहयसि; तदवतर अवतर गर्भदासि ! अवतर अवतर ।)

वसन्तसेना—तं अज्जचारुदत्तं अहिसारेसि त्ति जं सच्चं अलङ्किदम्हि इमिणा वअणेण । सम्पदं जं भोदु, तं भोदु । (तमार्यचारुदत्तमभिसारयसि इति यत् सत्यम् अलङ्कृतास्मि अनेन वचनेन । साम्प्रतं यद्भवतु तद्भवतु ।)

ताडितमिति यावत् । एवञ्च तव कृत्यमतीवानुचितमिति बोध्यम् । उपमालङ्कारः, उपजातिर्वृत्तम् ॥ १६ ॥

अर्थ—अरे स्थावरक चेट ! यह तुम्हें कहाँ मिल गयी ।

चेट—स्वामिन् ! गाँव की गाड़ियों से जब रास्ता अवरुद्ध (जाम) हो गया था, तब चारुदत्त की वृक्षवाटिका (बगीचा) में गाड़ी खड़ी करके, वहाँ उतर कर जब तक पहिया बदलने लग गया, तब तक गाड़ी की अदला-बदली के कारण यह इस गाड़ी में बैठ गयी—ऐसा सोंचता हूँ ।

शकार—क्या गाड़ी की अदलाबदली से यहाँ आ गई है, मेरे साथ अभिसार के लिये नहीं आई ? तो मेरी गाड़ी से उतर जा, उतर जा । तुम इस दरिद्र सार्थवाहपुत्र चारुदत्त के साथ अभिसार करती हो और मेरे बैलों को (गाड़ी में अपने ले जाने के लिये) जोतती हो । तो उतर जा, उतर जा, गर्भकाल से ही दासी ! उतर जा, उतर जा ।

वसन्तसेना—'उन चारुदत्त के साथ अभिसार करती हो' यह सच है तो इस कथन से अपने को विभूषित मानती हूँ । अब जो हो, सो हो ।

शकारः—एदेहिं दे दशणहुप्पलमण्डलेहिं
हत्थेहिं चाडुशद–ताड़ण–लम्पड़ेहिं ।
कट्टामि दे वलतणुं णिअ–जाणकादो
केशेशु वालि–दइअं वि जहा जड़ाऊ ॥ २० ॥

(एताभ्यां ते दशनखोत्पलमण्डलाभ्यां हस्ताभ्यां चाटुशतताडनलम्पटाभ्याम् ।
कर्षामि ते वरतनुं निजयानकात् केशेषु वालिदयितामिव यथा जटायुः ॥२०॥

अन्वयः—दशनखोत्पलमण्डलाभ्याम्, चाटुशतताडनलम्पटाभ्याम्, एताभ्याम्, ते, हस्ताभ्याम्, जटायुः, बालिदयिताम्, इव, यथा, केशेषु, (गृहीत्वा) ते, वरतनुम्, निजयानकात्, कर्षामि ॥ २० ॥

शब्दार्थ—दशनखोत्पलमण्डलाभ्याम्=दश नाखून रूपी कमलों के मण्डल (घेरा) वाले, चाटुशतताडनलम्पटाभ्याम्=सैंकड़ों चापलूसी की बातों की तरह पीटने के लालची, एताभ्याम्=इन, ते=तेरे, हस्ताभ्याम्=दोनों हाथों से, जटायुः=जटायु, बालि-दायिताम्=बालि की पत्नी तारा के, इव, यथा=समान, केशेषु=बालों को, (गृहीत्वा पकड़ कर) ते=तुम्हारे, वसन्तसेना के, वरतनुम्=सुन्दर शरीर को, निजयानकात्=अपनी गाड़ी से, कर्षामि=बाहर खीचता हूँ ॥ २० ॥

अर्थ—शकार—

दश नाखूनरूपी कमलों के घेरे वाले, चापलूसी के सैंकड़ों वचनों के समान पीटने के लालची इन दोनों, तेरे हाथों से अपनी गाड़ी से तुम्हारे सुन्दर शरीर को उसी प्रकार बाहर खींच लेता हूँ जिस प्रकार जटायु ने बालि की पत्नी तारा को खींचा था ॥ २० ॥

टीका—स्वोपेक्षामसहमानः शकारः स्वप्रतिक्रियां प्रकटयति–एताभ्यामिति । दश=दशसंख्याकाः, नखाः=कररुहाः, उत्पलमण्डलानि इव=कमलसमूह इव, मण्डल-शब्दः समूहार्थे प्रसिद्ध स्वार्थे वा बोध्यः तथा चाटुशतानि=प्रियवचनशतानि इव ताडनानि=प्रहाराः, तेषु लम्पटाभ्याम्=लुब्धाभ्याम्, कुशलाभ्यामित्यर्थः, एताभ्याम्=पुरो वर्तमानाभ्याम्, ते=तव, वसन्तसेनाया इत्यर्थः, हस्ताभ्याम्=कराभ्याम्, जटायुः=गरुडपुत्रः, रामायणे प्रसिद्धः पक्षिविशेषः, बालिदयिताम्=वालिपत्नीम्, ताराम्, इव, यथा=यद्वत्, केशेषु=कचेषु गृहीत्वा, ते=तव, वसन्तसेनायाः, वरतनुम्=सुन्दरशरीरम्, निजयानमात्=स्वकीयशकटात्, कर्षामि=अवतार्य बहिष्करोमि । अत्र शकारवचनात् प्रसिद्धकथाविरोधः परिहरणीयः उपमालंकारः, वसन्ततिलकं वृत्तम् ॥ २० ॥

विमर्श—'मण्डल' का अर्थ 'घेरा' और 'समूह' दोनो हो सकते हैं । पञ्जों का घेरा बनाकर उसी से खींचकर बाहर कर देगा अथवा कमलसमूहतुल्य नाखूनों से बाहर कर देगा । यहाँ 'कठोरता' अभिव्यक्त करना अभीष्ट है ।

विटः—अग्राह्या मूर्द्धजेष्वेताः स्त्रियो गुणसमन्विताः ।
न लताः पल्लवच्छेदमर्हन्त्युपवनोद्भवाः ॥२१॥

तदुत्तिष्ठ त्वम् । अहमेनामवतारयामि । वसन्तसेने ! अवतीर्यताम् ।
(वसन्तसेना अवतीर्य एकान्ते स्थिता ।)

शकारः—(स्वगतम्) जे शे मम वअणावमाणेण तदा लोशग्गी शन्धुक्खिदे, अज्ज एदाए पादप्पहालेण अणेण पज्जलिदे, त शम्पदं माले-

---

जटायु ने बालि की पत्नी को कहीं से नहीं खींचा था । किन्तु शकार की बातें यों ही अनर्गल होती हैं, इसलिये यह दोष नहीं है । ते, ते, इव, यथा इनकी पुनरुक्ति और असम्बद्धार्थता भी दोष नहीं है ॥ २० ॥

अन्वयः—गुणसमन्विताः, एताः, स्त्रियः, मूर्धजेषु, अग्राह्याः, उपवनोद्भवाः, लताः, पल्लवच्छेदम्, न, अर्हन्ति ॥ २१ ॥

शब्दार्थ—गुणसमन्विताः=विविध गुणों से युक्त, एताः=ये, स्त्रियः=स्त्रियाँ, मूर्धजेषु=बालों को, पकड़ कर, अग्राह्याः=खीचने योग्य नहीं, होती हैं, उपवनोद्भवाः=बगीचे में होने वाली, लताः=लतायें, पल्लवच्छेदम्=पत्तों को तोड़ने, न=नहीं, अर्हन्ति=योग्य होती हैं ॥ २१ ॥

अर्थ—विट—

गुणवती, इन स्त्रियों के बालों को पकड़ कर नहीं खींचना चाहिये । बगीचे में लगने वाली लता पत्ते तोड़ने लायक नहीं होती हैं ॥ २१ ॥

टीका—केशग्रहणायोद्यतं शकारं निषेधन् विटस्तत्र हेतुमाह —अग्राह्या इति । गुणैः=सौन्दर्यादिभिः विविधकलादिभिश्च, समन्विताः=युक्ताः, एताः=वसन्तसेना-सदृश्यः, स्त्रियः=नार्यः, कामिन्यः, मूर्धजेषु=केशेषु, केशावच्छेदेनेत्यर्थः, अवच्छेदार्थे सप्तमीति केचित्, अग्राह्याः = ग्रहीतुमयोग्याः, भवन्ति । इमाः हि सम्मानमर्हन्ति नतु तिरस्कारम् । यतो हि, उपवनोद्भवाः=उपवनेषु समुद्भूताः, लताः=व्रततयः, पल्लवच्छेदम्=किसलयभङ्गम्, न=नैव, अर्हन्ति=योग्याः भवन्तीति भावः । एवञ्च यथा गुणवतीनां सम्यक् परिपालितानां लतानां पत्राणि न छिद्यन्ते तथैव वसन्तसेना-तुल्यानां गुणवतीनां स्त्रीणां केषादिकर्षणं सर्वथाऽनुचितमिति भावः । सादृश्ये पर्यवसानात् दृष्टान्तालंकारः, पथ्यावक्त्रं वृत्तम् ॥ २१ ॥

अर्थ—इसलिये तुम रहो । मैं इसको उतारता हूँ । वसन्तसेना जी ! उतर जाइये ।

(वसन्तसेना उतर कर एकान्त में खड़ी हो जाती है ।)

शकार—(अपने में) उस समय इसके वचनों के कारण अपमान से जो क्रोधाग्नि पहले लगी थी, आज इसके पैर के प्रहार से वह प्रज्वलित हो उठी है ।

मि णं। भोदु, एव्वं दाव (प्रकाशम्) भावे ! भावे ! (योऽसौ मम वचनानापमानेन तदा रोषाग्निः सन्धुक्षितः, अद्य एतस्याः पादप्रहारेणानेन प्रज्वलितः, तत् साम्प्रतं मारयाम्येनाम् । भवतु, एवं तावत् ।) (भाव ! भाव !)

जदिच्छशे लम्बदशा-विशालं
पावालअं शुत्तशदेहिं जुत्तम् ।
मंशं च खादुं तह तुट्ठिं अ कादुं
चुहू चुहू चुक्कु चुहू चुहू त्ति ॥ २२ ॥

(यदीच्छसि लम्बदशाविशालं प्रावारकं सूत्रशतैर्युक्तम् ।)
मासञ्च खादितुं तथा तुष्टिञ्च कर्तुं चुहू चुहू चुक्कु चुहू चुहू इति ॥ २२ ॥

[भभक कर जलने लगी है ।) अतः अब इसको मार डालूँगा । अच्छा ऐसा हो । (प्रकट में) भाव ! भाव !

टीका——त्वम्=शकारः, उत्तिष्ठ=दूरं तिष्ठ, एकान्ते=एकस्मिन् भागे, वचनावमानेन=वचनानां वचनैर्वा अवमानः तिरस्कारः, तेन, तदा=पूर्वस्मिन् काले, रोषाग्निः=क्रोधाग्निः, सन्धुक्षितः=ज्वलनार्थं प्रदीप्तः, पादप्रहारेण=चरणतलताडनेन, प्रज्वलितः=प्रकृष्टरूपेण ज्वलितः, मारयामि=हन्मि ।

अन्वयः——यदि, सूत्रशतैः, युक्तम्, लम्बदशाविशालम्, प्रावरकम्, तथा, चुहू, चुहू, चुक्कु, चुहू, चुहू' इति (ध्वनिं कुर्वन्), मांसम्, खादितुम्, तुष्टिम्, च, कर्तुम्, इच्छसि——॥ २२ ॥

शब्दार्थ——यदि=अगर, सूत्रशतैः=सैकड़ों सूतों-धागों से, युक्तम्=बना हुआ, लम्बदशाविशालम्=लम्बी किनारी होने से विशाल, प्रावरकम्=दुपट्टा को, तथा=और 'चुहू चुहू, चुक्कु चुहू, चुहू=इस प्रकार की आवाज करते हुये, मांसम्=मांस को, खादितुम्=खाना, च=और तुष्टिम्=मन के सन्तोष को, कर्तुम्=करना, इच्छसि=चाहते हो——॥ २२ ॥

अर्थ——यदि सैकड़ों धागों से युक्त (बने हुये), लम्बी किनारी वाले विशाल दुपट्टे को (चाहते हो) तथा 'चुहू, चुहू, चुक्कु चुहू, चुहू' ऐसी आवाज करते हुये मांस खाना और (मन की) सन्तुष्टि करना चाहते हो तो——॥ २२ ॥

टीका——शकारः विटं प्रलोभयितुमाह-यदीति । यदि=चेत्, सूत्रशतैः=सूत्राणाम्=तन्तूनाम्, शतैः, युक्तम्=विशिष्टम्, निर्मितमिति भावः, प्रावरकम्=उत्तरीयम्, प्राप्तुमिच्छसि, तथा, 'चुहू चुहू चुक्कु, चुहू चुहू' इत्याकारकं ध्वनिं कुर्वन्, मांसम्=आमिषम्, खादितुम्=भोक्तुम, च=तथा, तुष्टिम्=मनसः सन्तोषम्, कर्तुम्=विधातुम् इच्छसि=अभिलषसि, अत्राग्रिमवाक्ये-अन्वयं कृत्वा निरपेक्षता सम्पादनीया । उपजातिर्वृत्तम् ॥ २२ ॥

विटः—ततः किम् ?

शकारः—मम पिअं कलेहि । (मम प्रियं कुरु ।)

विटः—बाढं करोमि, वर्जयित्वा त्वकार्यम् ।

शकारः—भावे ! अकज्जाह गन्धे वि णत्थि, लक्खशो कावि णत्थि । (भाव: ! अकार्यस्य गन्धोऽपि नास्ति, राक्षसी कापि नास्ति ।)

विटः—उच्यतां तर्हि ।

शकारः—मालेहि वसन्तशेणिअं । (मारय वसन्तसेनाम् ।)

विटः—(कर्णौ पिधाय)

बालां स्त्रियञ्च नगरस्य विभूषणञ्च
वेश्यामवेश-सदृश-प्रणयोपचाराम् ।
एनामनागसमहं यदि मारयामि
केन डुपेन परलोकनदीं तरिष्ये ॥ २३ ॥

अर्थ—विट—तो क्या करना होगा ?

शकार—मेरा प्रिय करो ।

विट—हाँ करूँगा, लेकिन अनुचित काम को छोड़ कर ।

शकार—अनुचित कार्य की गन्ध (लेश) भी नहीं है, कोई राक्षसी भी नहीं है ।

विट—तब कहिये (क्या करना है) ?

शकार—वसन्तसेना को मार डालो ।

अन्वयः—यदि, अहम्, बालाम्, स्त्रियम्, च, नगरस्य, विभूषणम्, च, अवेशम्दृशप्रणयोपचाराम्, अनागसम्, एनाम्, वेश्याम्, घातयामि, (तर्हि) केन, उडुपेन, परलोकनदीम्, तरिष्ये ॥ २३ ॥

शब्दार्थ—यदि=अगर, अहम्=विट, बालाम् = युवावस्था को प्राप्त करने वाली, च=और, स्त्रियम्=स्त्री, च=और, नगरस्य=उज्जैन नगर की, विभूषणम्=आभूषणस्वरूप, अवेशसदृशप्रणयोपचाराम्=वेश्याओं के अयोग्य प्रेम करने वाली अर्थात् वास्तविक सच्चा प्रेम करने वाली, अनागसम् = निरपराध, एनाम्=इस, वेश्याम्=वेश्या वसन्तसेना को, हन्मि=मार डालता हूँ, (तर्हि=तो) केन=किस, उडुपेन=नौका से, परलोकनदीम् = दूसरे लोक की नदी (वैतरणी नदी) को, तरिष्ये=पार कर सकूँगा ॥ २३ ॥

अर्थ—विट—(कानों को बन्द करके)

यदि मैं, बाला (अल्प अवस्था वाली) स्त्री और इस नगर की आभूषण, वेश्याओं के अयोग्य प्रेम अर्थात् वास्तविक प्रेम करने वाली निरपराध इस वेश्या (वसन्तसेना) को मार डालता हूँ तो किस नौका से परलोक नदी (वैतरणी) को पार कर सकूँगा ॥ २३ ॥

शकारः—अहं ते भेड़कं दइश्शं । अण्णं च विवित्ते उज्जाने इध मालन्तं को तुमं पेक्खिश्शदि । (अहं ते उडुपं दास्यामि । अन्यच्च विविक्ते उद्याने इह मारयन्तं कस्त्वां प्रेक्षिष्यते ?)

विटः—(कर्णौ, पिधाय)

> **पश्यन्ति मां दश दिशो वनदेवताश्च,**
> **चन्द्रश्च दीप्तिकिरणश्च दिवाकरोऽयम् ।**
> **धर्मानिलौ च गगनश्च तथान्तरात्मा**
> **भूमिस्तथा सुकृति-दुष्कृति-साक्षिभूताः ॥ २४ ॥**

टीका—सामान्यप्राणिनामपि हिंसा महदनिष्टकरी, तत्रापीदृश्याः निरपराधायाः हिंसने तु न मे स्वर्गगमनसम्भवः—इति प्रतिपादयति विटः–बालामिति । यदि=चेत्, अहम्=विटः, बालाम्=तारुण्यमुपयान्तीमप्रौढामिति भावः, तत्रापि, स्त्रियम्=नारीम्, तत्रापि नगरस्य=पुरस्य, उज्जयिन्या इत्यर्थः, विभूषणम्=आभूषणस्वरूपाम्, अवेशसदृशः=वेश्याजनानुपयुक्तः, अकृत्रिमः, प्रणयोपचारः=प्रणयव्यवहारः यस्यास्तादृशीम् वेश्यात्वेऽपि कुलस्त्रीणामिव प्रणयव्यवहाररतामिति भावः, अनागसम्=निरपराधाम् एनाम्=पुरोवर्तमानाम्, वेश्याम्=गणिकां वसन्तसेनामित्यर्थः, घातयामि=हन्मि, तर्हि=तदा एतादृशाकार्यानुष्ठाने सति, केन उडुपेन=केन प्लवेन, अल्पनौकयेति भावः, परलोकनदीम्=परलोक-पथमध्यवर्तिनीम् 'वैतरिणीम्' इति प्रसिद्धां सरित्, तरिष्ये=अतिक्रमिष्यामि, न केनापीति भावः । तॄ धातुः भ्वादिगणे परस्मैपदी पठितः, अस्य आत्मनेपदीत्वेन प्रयोगे च्युतसंस्कारता दोषो बोध्यः । परिकरालंकारः, वसन्ततिलकं वृत्तम् ॥ २३ ॥

विमर्श—यहाँ विट का कथन अति महत्त्वपूर्ण है । सामान्य प्राणी की हिंसा भी पापजनक होती है । यहाँ तो पहले बाला=अल्प अवस्थावाली, दूसरे स्त्री, तीसरे उज्जयिनी की आभूषण, चौथे वेश्या होने पर भी वेश्याओं में असम्भव स्वाभाविक प्रेम करने वाली, पांचवे निरपराध वसन्तसेना को मारना महद् अनिष्ट-साधक होगा । यहाँ हिंसा के पाप को बढ़ाने में उत्तरोत्तर कथन का महत्त्व है । अतः विट किसी भी प्रकार वसन्तसेना को मारने के पक्ष में नहीं है । क्योंकि उसे परलोक न जा सकने का भय मन में है ॥ २३ ॥

अर्थ—शकार—मैं तुम्हें नौका दे दूँगा । और फिर इस बगीचे में मारते हुये तुम्हें कौन देखेगा ?

अन्वयः—सुकृतदुष्कृतसाक्षिभूताः, दश, दिशः, वनदेवताः, च, चन्द्रः, च, दीप्तकिरणः, अयम्, दिवाकरः, च, धर्मानिलौ, च, गगनम्, च, तथा, अन्तरात्मा, च, तथा, भूमिः, माम्, पश्यन्ति ॥ २४ ॥

शकारः——तेण हि पडन्तोवालिदं कदुअ मालेहि। (तेन हि पटान्तापवारितां कृत्वा मारय।)

विटः——मूर्ख ! अपध्वस्तोऽसि।

शब्दार्थ——सुकृतदुष्कृतसाक्षिभूताः=पुण्य और पाप के साक्षी (गवाह), दश=दश, दिशः=दिशायें, च=और, वनदेवताः=वन के देवता, च=और चन्द्रः=चन्द्रमा, दीप्तकिरणः=प्रखर किरण वाला, अयम्=यह, दिवाकरः=सूर्य, च=और धर्मानिलौ=धर्म और वायु, च=और, गगनम्=आकाश, च=और, तथा=तथा, अन्तरात्मा, तथा=और, भूमिः=पृथ्वी, माम्=मुझ=पापकर्ता विट को, पश्यन्ति=देखते ॥ २४ ॥

अर्थ - विट——

पुण्य और पाप की साक्षी दश दिशायें, वन के देवता, चन्द्रमा, प्रखर किरणों वाला यह सूर्य, धर्म और वायु, आकाश और अन्तरात्मा तथा पृथ्वी मुझे [पापकर्ता बिट को] देखते हैं ॥ २४ ॥

टीका——विविक्ते कस्त्वां प्रेक्षिष्यते इति शकारवचनस्योत्तरदानायाह विटः—पश्यन्तीति। सुकृतस्य=पुण्यस्य, दुष्कृतस्य=पापस्य च साक्षिभूताः=साक्षाद्द्रष्टारः, दश=दशसंख्याकाः दिशः=आशाः, वनदेवताः=अरण्याधिदेवताः, च=तथा, चन्द्रः=शशी, च=तथा, दीप्तकिरणः=प्रखरकिरणः, अयम्=पुरो दृश्यमानः, दिवाकरः=दिनकरः, धर्मः=सुकृतम्, अनिलः=पवनः, गगनः=आकाशः, तथा, अन्तरात्मा=जीवात्मा, तथा, भूमिः=पृथ्वी, माम्=पापकारिणं विटम्, पश्यन्ति=अवलोकयन्ति। एवञ्चैतेषां साक्षित्वे पापं कर्तुं न प्रभवामीति विटस्याभिप्रायः। तुल्ययोगितालंकारः वसन्ततिलकं वृत्तम् ॥ २४ ॥

विमर्श—इस श्लोक में समुच्चयार्थ अनेक 'च' और 'तथा' शब्द प्रयुक्त हैं। यहाँ अप्रस्तुत दिशा आदि का 'पश्यन्ति' इस एक क्रिया के साथ सम्बन्ध होने से तुल्ययोगिता अलंकार है। 'साक्षिभूताः' यह पुलिङ्ग बहुवचन है। इसमें आवश्यकतानुसार लिङ्ग और वचन का परिवर्तन कर लेना चाहिये ॥ २४ ॥

शब्दार्थ——पटान्तापवारिताम्=कपड़े से छिपी हुई, अपध्वस्त=अधमाधम, वृद्धकोलः=बूढ़ा शूकर, अनुनयामि=मनाता हूँ, परिधास्यामि=पहनूंगा, पीठकम्=चौकी, तख्त, महत्तरक=मेण्ठ, मुखिया, अकार्यम्=अनुचित कार्य, प्रवहणपरिवर्तनेन=गाड़ी बदल जाने से, प्रभवामि=प्रभाव कर पा रहा हूँ, परपिण्डभक्षकः=दूसरे का अन्न खाने वाला।

अर्थ—**शकार**—तब तो कपड़े से छिपाकर मारो।

विट——मूर्ख ! तुम बहुत नीच हो।

शकारः—अधम्मभील एशे बुड्ढकोले। भोदु, थावलअं चेड़ अणुणेमि। पुत्तका ! थावलका ! चेड़ा ! शोवण्णखड़ुआइं दइश्शं (अधर्मभीरुरेष बृद्धकोलः। भवतु, स्थावरकचेटमनुनयामि। पुत्रक ! स्थावरक ! चेट ! सुवर्णकटकानि दास्यामि।)

चेटः—अहं पि पहिलिश्शं। (अहमपि परिधास्यामि।)

शकारः—शोवण्णं दे पीढ़के कालइश्शं। (सौवर्ण ते पीठकं कारयिष्यामि।)

चेटः—अहं उवविशिश्शं। (अहमपि उपवेक्ष्यामि।)

शकारः—शव्वं दे उच्छिट्टं दइश्शं। (सर्वं ते उच्छिष्टं दास्यामि।)

चेटः—अहं पि खाइश्शं (अहमपि खादिष्यामि।)

शकारः—शव्वचेड़ाणं महत्तलकं कलइश्शं। (सर्वचेटानां महत्तरकं करिष्यामि।)

चेटः—भट्टके ! हुविश्शं। (भट्टक ! भविष्यामि।)

शकारः—ता मण्णेहि मम वअणं। (तन्मन्यस्व मम वचनम्।)

चेटः—भट्टके ! शव्वं कलेमि, वज्जिअ अकज्जं। (भट्टक ! सर्वं करोमि वर्जयित्वा अकार्यम्।)

शकारः—अकज्जाह गन्धे वि णत्थि। (अकार्यस्य गन्धोऽपि नास्ति।)

चेटः—भणादु भट्टके। (भणतु भट्टकः।)

शकार—यह बूढ़ा सुअर अधर्म से डरने वाला है। अच्छा, स्थावरक चेट को मनाता हूँ। बेटा, स्थावरक, चेट ! सोने के कड़े दूगा।

चेट—मैं भी पहन लूँगा।

शकार—तुम्हारे लिये सोने का पीठासन बनवा दूँगा।

चेट—मैं भी बैठूँगा।

शकार—मैं तुम्हें बचा हुआ [जूठन] सारा भोजन दे दूगा।

चेट—मैं भी खा लूँगा।

शकार—सभी नौकरों का मुखिया बना दूँगा।

चेट—स्वामिन् ! मैं बन जाऊँगा।

शकार—तो मेरी बात मान लो।

चेट—स्वामिन् ! केवल अनुचित कार्य छोड़कर सभी कुछ करूँगा।

शकार—अकार्य की गन्ध भी नहीं है।

चेट—तो स्वामी कहिये।

शकारः—एणं वशन्तशेणिअं मालेहि। (एनां वसन्तसेनां मारय।)

चेटः—पशीददु भट्टके ! इअं मए अणज्जेण अज्जा पवहणपलिवत्तणेण आणीदा। (प्रसीदतु भट्टकः इयं मया अनार्येण आर्या प्रवहणपरिवर्त्तनेनानीता।)

शकारः—अले चेडा ! तवावि ण पहवामि ? (अरे चेट ! तवापि न प्रभवामि ?)

चेटः—पहवदि भट्टके शलीलाह, ण चालित्ताह। ता पशीददु पशीददु भट्टके। भाआमि क्खु अहं (प्रभवति भट्टकः शरीरस्य, न चारित्रस्य। तत् प्रसीदतु भट्टकः, बिभेमि खलु अहम्।)

शकारः—तुमं मम चेड़े भविअ कश्श भाआशि ? (त्वं मम चेटो भूत्वा कस्मात् बिभेषि ?)

चेटः—भट्टके ! पललोअश्श। (भट्टक ! परलोकात्।)

शकारः—के शे पललोए ? (कः सः परलोकः ?)

चेटः—भट्टके ! शुकिद–दुक्किदश्श पलिणामे। (भट्टक ! सुकृतदुष्कृतस्य परिणामः।)

शकारः—केलिशे शुकिदस्य पालिणामे ? (कीदृशः सुकृतस्य परिणामः ?)

चेटः—जादिशे भट्टके बहु–शोवण्ण-मण्डिदे। (यादृशो भट्टकः बहुसुवर्णमण्डितः।)

शकारः—दुक्किदश्श केलिशे ? (दुष्कृतस्य कीदृशः ?)

शकार—इस वसन्तसेना को मार डालो।

चेट—स्वामी खुश रहें, (नाराज न हों) मैं नीच गाड़ी बदल जाने के कारण पूज्य वसन्तसेना को लाया हूँ।

शकार—अरे चेट ! तुम पर भी मेरा प्रभाव नहीं है।

चेट—स्वामी शरीर पर प्रभाव है, न कि चरित्र पर। इस लिये स्वामी नाराज न हों, मैं डर रहा हूँ।

शकार—तुम मेरे नौकर होकर किससे डर रहे हो ?

चेट—स्वामी ! परलोक से।

शकार—वह परलोक कौन है ?

चेट—स्वामी ! पुण्य और पाप का परिणाम।

शकार—पुण्य का कैसा फल ?

चेट—जैसे स्वामी आप बहुत सोने से अलंकृत हैं।

शकार—पाप का कैसा ?

चेटः—जादिशे हग्गे पलपिण्डभक्षके भूदे। ता, अकज्जं ण कलइश्शं। (यादृशोऽहं परपिण्डभक्षको भूतः। तदकार्यं न करिष्यामि।)

शकारः—अले ! ण मालिश्शशि ? (अरे न मारयिष्यसि ?) (इति बहुविधं ताडयति।)

चेटः—पिट्ठदु भट्टके; मालेदु भट्टके, अकज्जं ण कलइश्शं। (ताडयतु भट्टकः, मारयतु भट्टकः, अकार्यं न करिष्यामि।)

जेण म्हि गब्भदाशो विणिम्मिदे भाअधेअदोशेहिं।
अहिअं च ण कोणिस्सं तेण अकज्जं पलिहलामि ॥ २५ ॥
(येनास्मि गर्भदासो विनिर्मितो भागधेयदोषैः।
अधिकञ्च न क्रेष्यामि तेनाकार्यं परिहरामि ॥ २५ ॥)

चेट—जैसा मैं दूसरे के अन्न को खाने वाला बना। अतः अनुचित कार्य नहीं करूँगा।

शकार—अरे ! नहीं मारोगे ? (यह कह कर अनेक प्रकार से पीटता है।)

चेट—स्वामी पीटो, मार डालो, किन्तु अनुचित कार्य नहीं करूँगा।

टीका पटान्तेन=वस्त्रखण्डेन, अपवारिताम्=आच्छादिताम्, समावृताम् वा, अपध्वस्तः=अधमाधमः, वृद्धकोलः = वृद्धशूकरः, पीठकम्=आसनम्, उच्छिष्टम्=भोजनावशिष्टम्, महत्तरकम्=प्रमुखम्, मन्यस्व=परिपालय, गन्धः=लेशः, प्रवहणस्य=यानस्य, परिवर्तनेन=व्यत्यासेन, प्रभवामि = प्रभुर्भवामि, चारित्रस्य = चरित्रस्य, स्वार्थिकेऽणि प्रत्यये साधुः, परस्य=अन्यस्य, पिण्डानाम् = दीयमानग्रसादीनाम्, भक्षकः=खादकः, ताडयतु=पीडितं कुरोतु।

अन्वयः—येन, भागधेयदोषैः, गर्भदासः, विनिर्मितः, अस्मि, तेन, अधिकम्, न, क्रेष्यामि, अकार्यम्, च, परिहरामि ॥ २५ ॥

शब्दार्थ—येन=जिस (पापकर्म) के कारण, भागधेयदोषैः=भाग्य के दोषों से, गर्भदासः=जन्मकाल से ही दास, विनिर्मितः=बना दिया गया, अस्मि=हूँ, तेन=इस लिये, अधिकम्=और अधिक, न=नहीं, क्रेष्यामि=खरीदूँगा, अकार्यम्=अनुचित काम को, च=भी, परिहरामि=नहीं करूँगा, बचाऊँगा ॥ २५ ॥

अर्थ—जिस कारण भाग्य के दोषों से जन्मकाल से ही दास बना दिया गया हूँ। अतः (वर्जित पाप कर्म करके और) अधिक (पाप) नहीं खरीदूँगा (करूगा)। और अनुचित काम नहीं करूँगा (दूर रखूँगा) ॥ २५ ॥

टीका—अकार्यस्य करणे चेटो हेतुमाह–येनेति। येन=यस्माद्धेतोः, भागधेयदोषैः=पूर्वजन्माचारिताकार्यफलभूतदुरदृष्ट-परिणामवशात्, स्वार्थे धेयप्रत्ययः, गर्भदासः=आजन्म-भृत्यः, विनिर्मितः=विहितः, ब्रह्मणेति शेषः, अस्मि=भवामि, तेन=तस्माद्धेतोः,

वसन्तसेना—भाव ! शरणागदम्हि । (भाव ! शरणागतास्मि ।)

विटः—काणेलीमातः ! मर्षय मर्षय । साधु स्थावरक ! साधु ।

अप्येष नाम परिभूतदशो दरिद्रः
प्रेष्यः परत्र फलमिच्छति नास्य भर्ता ।
तस्मादमी कथमिवाद्य न यान्ति नाशं
ये वर्द्धयन्त्यसदृशं सदृशं त्यजन्ति ॥ २६ ॥

अकार्यम्=अनुचितं कार्यम्, परिहरामि=परित्यजामि, अधिकम्=अनुभूयमानादेतादृश-भोगादधिकम्, न=नैव, क्रेष्यामि=स्वदुष्कृत-कर्म-मूल्यदानेन ग्रहीष्यामीति भावः । आर्या वृत्तम् ॥ २५ ॥

अर्थ—**वसन्तसेना**—भाव ! शरण में आयी हुई हूँ ।

विट—काणेली के पुत्र ! क्षमा करो । क्षमा करो । वाह स्थावरक ! वाह ।

अन्वयः—परिभूतदशः, दरिद्रः, प्रेष्यः, अपि, एषः, परत्र, फलम्, इच्छति, नाम, (परन्तु), अस्य, भर्ता, न, (इच्छति), तस्मात्, ये, असदृशम्, वर्धयन्ति, सदृशम्, त्यजन्ति, ते, अद्य, कथमिव, नाशम्, न, यान्ति ॥ २६ ॥

शब्दार्थ—परिभूतदशः=दयनीय दशावाला, दरिद्रः=निर्धन, प्रेष्यः=सेवक, अपि=भी, एषः=यह चेट, परत्र=परलोक में, फलम्=फल को, इच्छति=चाहता है, नाम वाक्यालंकारार्थं प्रयुक्त है । परन्तु=लेकिन, अस्य=इस का, भर्ता=स्वामी शकार, न=नहीं (इच्छति=चाहता है ।) तस्मात्=इसलिये, ये=जो, असदृशम्=अनुचित को, वर्धयन्ति=बढ़ाते हैं, [और] सदृशम्=उचित को, त्यजन्ति=छोड़ते हैं, अमी=वे लोग, अद्य=आज ही, इसी क्षण, कथमिव,=किस कारण, नाशम्=विनाश को, न=नहीं, यान्ति=प्राप्त करते हैं ॥ २६ ॥

अर्थ—दयनीय दशा में पड़ा हुआ निर्धन सेवक भी यह (चेट) परलोक में फल की इच्छा करता है किन्तु इसका स्वामी (शकार) नहीं (इच्छा करता है) । इसलिये जो अनुचित को बढ़ाते हैं और उचित को छोड़ते हैं, वे आज ही, किस कारण नष्ट नहीं हो जाते हैं ॥ २६ ॥

टीका—अनुचितानुष्ठातुरपि शकारस्य समृद्धि दृष्ट्वा खेदं व्यनक्ति—अपीति । परिभूता=तिरस्कृता अपमानिता दशा=अवस्था यस्य सः, दरिद्रः=निर्धनः, अपि, एषः = पुरोवर्तमानः, प्रेष्यः=सेवकः चेटः, परत्र=परलोके, फलम्= सुकृतदुष्कृत-परिणामम्, इच्छति=वाञ्छति, परन्तु, अस्य=सेवकस्य, भर्ता=स्वामी शकारः, न=नैव, फलमिच्छतीति भावः, तस्मात्=अतो हेतोः, ये=ये जनाः, असदृशम्=अनुचितं कार्यं जनं वा. वर्धयन्ति = एधयन्ति, तथा, सदृशम् = उचितं योग्यं वा, त्यजन्ति= परिहरन्ति, अमी=अनुचितकर्तारः शकारादयः, अद्य=अस्मिन् क्षण एव, कथमिव= कस्मात् कारणात्, नाशम्=क्षयम्, न=नैव, यान्ति=व्रजन्ति । अनुचित-कार्यकर्ता

अपि च—रन्ध्रानुसारी विषमः कृतान्तो
यदस्य दास्यं तव चेश्वरत्वम् ।
श्रियं त्वदीयां यदयं न भुङ्क्ते
यदेतदाज्ञां न भवान् करोति ॥ २७ ॥

शकारोऽद्यापि सम्पन्नः सुखं भुङ्क्ते, धर्माचारपरायणश्चेटोऽद्यापि दास्यतामेव गत इति महदाश्चर्यकरमिति तद्भावः । जगद्धरस्तु-काकुं मत्वा नाशं यान्त्येवेति भाव इत्याह । अत्र विशेषोक्तिः, अप्रस्तुतप्रशंसा वेति बोध्यम् । वसन्ततिलकं वृत्तम् ॥२६॥

अन्वयः—कृतान्तः, रन्ध्रानुसारी, विषमः, यत्, अस्य, दास्यम्, तव, च, ईश्वरत्वम्, (विहितम्), यत्, अयम्, त्वदीयाम्, श्रियम्, न, भुङ्क्ते, यत्, भवान्, एतदाज्ञाम्, न, करोति ॥ २७ ॥

शब्दार्थ—कृतान्तः=ब्रह्मा, भाग्य, रन्ध्रानुसारी=दोष देखने वाला, विषमः= उल्टा, विपरीत कार्य करने वाला, है, यत्=क्योंकि, अस्य=इस चेट की, दास्यम्= नौकरी, तव च=और तुम्हारी, ईश्वरत्वम्=मालिकगीरी, बनाई, यत्=जो कि, अयम्=यह चेट, त्वदीयाम् = तुम्हारी, श्रियम्=लक्ष्मी का, न=नहीं, भुङ्क्ते= उपभोग करता है, यत्=जो कि, भवान्=आप शकार, एतदाज्ञाम्=इस चेट की आज्ञा (पालन) को, न=नहीं, करोति=करते हैं ॥ २७ ॥

अर्थ—और भी —

भाग्य छिद्र=दोष देखने वाला उल्टा काम करने वाला है क्योंकि इसकी नौकरी और तुम्हारी मालिकगीरी बनायी है । क्योंकि यह चेट तुम्हारी धन-सम्पत्ति का उपभोग नहीं करता है और तुम इसकी आज्ञा का पालन नहीं करते हो ॥ २७ ॥

टीका—दैवस्य विपरीतकर्तृत्वं निन्दन्नाह-रन्ध्रेति । कृतान्तः = दैवम्, 'कृतान्तःक्षेमकर्मणि सिद्धान्तयमदैवेषु' इति हेमचन्द्रः, रन्ध्रम्=छिद्रम्, दोषमिति भावः, अनुसारी=अनुसरति=पश्यतीति भावः, छिद्रानुसन्धायी, दोषमात्र-द्रष्टा न तु गुणैकपक्षपातीत्यर्थः, विषमः=फलानुमेयतया विपरीतः, धार्मिकस्य बहु-गुणवतोऽपि क्लेशतावाप्तिः, अधार्मिकस्य दोषवतोऽपि सुखप्राप्तिस्तस्य वैपरीत्ये प्रमाणमिति बोध्यम् । यत्=यस्मात्, अस्य=अमुष्य चेटस्य, दास्यम्=सेवकत्वम्, तव च=तथा शकारस्य, ईश्वरत्वम्=स्वामित्वम्, विहितम्, यत्=यस्मात्, अयम्= चेटः, त्वदीयाम्=शकारसम्बन्धिनीम्, श्रियम्=सम्पत्तिम्, न=नैव, भुङ्क्ते=उपभुङ्क्ते, यत्=यस्मात् च, भवान्=शकारः, एतस्य = चेटस्य, आज्ञाम्=आदेशम्, न=नैव, करोति=पालयति । काव्यलिङ्गमलङ्कारः, उपजातिर्वृत्तम् ॥ २७ ॥

शकारः—(स्वगतम्) **अधम्मभीलुए बुड्ढखोडे, पललोअभीलू एशे गब्भदाशे। हग्गे लट्टिअशाले कश्श भाआमि वल-पुलिश-मणुश्शे ?** (प्रकाशम्) **अले गब्भदाशे चेड़े ! गच्छ तुमं, ओवलके पविशिअ वीशन्ते एअन्ते चिट्ठ।** (अधर्मभीरुको वृद्धशृगालः, परलोकभीरुरेष गर्भदासः। अहं राष्ट्रियश्यालः कस्माद्बिभेमि वर-पुरुष-मनुष्यः ?) (अरे गर्भदास चेट ! गच्छ त्वम्, अपवारके प्रविश्य विश्रान्त एकान्ते तिष्ठ।)

चेटः—**जं भट्टके आणवेदि।** (वसन्तसेनामुपसृत्य) **अज्जए ! एत्तिके मे विहवे।** (यद्भट्टक आज्ञापयति।) (आर्ये ! एतावान् मे विभवः।) (इति निष्क्रान्तः।)

शकारः—(परिकरं बध्नन्) **चिट्ठ वसन्तशेणिए ! चिट्ठ, मालइश्शं।** (तिष्ठ वसन्तसेने ! तिष्ठ, मारयिष्यामि।)

विटः—**आः ! ममाग्रतो व्यापादयिष्यसि ?** (इति गले गृह्णाति।)

शकारः—(भूमौ पतति) **भावे भट्टकं मालेदि।** (इति मोहं नाटयति। चेतनां लब्ध्वा) (भावो भट्टकं मारयति।)

विमर्श—विट यहाँ भाग्य की उलटी क्रिया का वर्णन करता है। जो अच्छा कार्य करने वाला है वह नौकर बना है और जो गलत काम करने वाला है वह मालिक बना है।

यहाँ प्रथमपादगत वाक्यार्थ के प्रति अन्य तीन वाक्यों के अर्थ निष्पादक होते हुये हेतु हैं अतः यहाँ काव्यलिङ्ग अलंकार है ॥ २७ ॥

अर्थ—शकार—(अपने में) यह बूढ़ा सियार [विट] अधर्म से डरने वाला है और यह जन्म से सेवक [चेट] परलोक से डरने वाला है। मैं श्रेष्ठ पुरुष राजा का शाला किससे डरने वाला हूँ। (प्रकट में) अरे जन्मकाल से ही नौकर चेट ! तुम जाओ, छिपने योग्य स्थान पर घुसकर शान्त होकर एकान्त में बैठो।

चेट—स्वामिन् ! जैसी आज्ञा। (वसन्तसेना के पास जाकर) आर्ये ! इतनी ही मेरी शक्ति थी। (यह कह कर निकल जाता है।)

शकार—(कमर कसता हुआ) ठहर जा वसन्तसेना, ठहर जा, तुझे मार डालता हूँ।

विट—आह ! मेरे आगे ही मारोगे ? (यह कह कर गला पकड़ लेता है।)

शकार—(जमीन पर गिर पड़ता है।) भाव ! स्वामी को मारते हो। (मूर्च्छित होने का अभिनय करता है। होश में आकर।)

शव्वकालं मए पुट्टे मंशेण अ घिएण अ ।
अज्ज कज्जे शमुप्पण्णे जादे मे वेलिए कधं ॥ २८ ॥
(सर्वकालं मया पुष्टो मांसेन च घृतेन च ।
अद्य कार्ये समुत्पन्ने जातो मे वैरिकः कथम् ॥ २८ ॥)

(विचिन्त्य) **भोदु, लद्धे मए उवाए । दिण्णा बुड्ढखोड़ेण शिरश्चालण-शण्णा, ता एदं पेशिअ वसन्तशेणिअं मालइश्शं । एव्वं दाव ।** (प्रकाशम्) **भावे ! जं तुमं मए भणिदे, तं कधं हग्गे एव्वं वड्ढकेहिं मल्लकप्पमाणेहिं कुलेहिं जादे अकज्जं कलेमि ? एव्वं एदं अङ्गोकलावेदुं मए भणिदं ।** (भवतु, लब्धो मया उपायः । दत्ता वृद्धशृगालेन शिरश्चालनसञ्ज्ञा, तदेतां प्रेष्य वसन्तसेनां मारयिष्यामि । एवं तावत् ।) (भाव ! यत् त्वं मया

अन्वयः—मया, मांसेन, च, घृतेन, च, सर्वकालम्, पुष्टः, [भवान्] अद्य, कार्ये, समुत्पन्ने, मे, वैरिकः, कथम्, जातः ? ॥ २८ ॥

शब्दार्थ—मया=मेरे (शकार के) द्वारा, मांसेन = मांस से, च=और, घृतेन=घी से, सर्वकालम्=सदैव, पुष्टः=पुष्ट किये गये [भवान्=आप], अद्य= इस समय, कार्ये=काम के, समुत्पन्ने=उपस्थित होने पर, मे=मेरे शकार के, वैरिकः=दुश्मन, कथम्=क्यों, जातः=बन गये ? ॥ २८ ॥

अर्थ—मेरे द्वारा मांस और घी से सदैव परिपुष्ट हुये आप आज काम उपस्थित होने पर मेरे वैरी क्यों बन गये ? ॥ २८ ॥

टीका—विटस्य वैरित्वे शकार आश्चर्यं व्यनक्ति—सर्वेति । मया=शकारेण, मांसेन=आमिषेण, च=तथा, घृतेन=सर्पिषा, सर्वकालम्=सदैव, पुष्टः=सामर्थ्ययुक्तः, कृतः, भवान्=विटः, अद्य=अस्मिन् क्षणे, कार्ये=प्रयोजने, समुत्पन्ने=सम्प्राप्ते सति, मे=मम, शकारस्य, वैरिकः=वैरी एव वैरिकः, स्वार्थे कः, शत्रुः, कथम्=कस्मात्, जातः=भूतः । मया वर्धितस्य ते मम विरोधोऽनुचित इति तद्भावः । पथ्यावक्त्रं वृत्तम् ॥ २८ ॥

विमर्शः—शकार का आशय यह है कि मैंने सदैव मांस, घी आदि खिलाकर तुम्हें इसीलिये शक्तिशाली बनाया था कि मौका पड़ने पर मेरी सहायता करोगे । किन्तु तुम आशा के विपरीत, सहायता करने की अपेक्षा, मेरे ही शत्रु बन बैठे हो, यह कहाँ तक उचित है ॥ २८ ॥

अर्थ—(सोचकर) अच्छा, मुझे उपाय समझ में आ गया बूढ़े सियार ने सिर हिलाकर मुझे सावधान कर दिया है । अतः इस (विट को) भेजकर (हटा कर) वसन्तसेना को मारूँगा । अच्छा ऐसा करता हूँ । (प्रकट में) भाव ! जो तुमसे

भणितः, तत् कथमहमेवं बृहत्तरैः मल्लकप्रमाणैः कुलैर्जातोऽकार्य्यं करोमि ? एवमेतदङ्गीकारयितुं मया भणितम् ।)

विटः—किं कुलेनोपदिष्टेन शीलमेवात्र कारणम् ।
भवन्ति सुतरां स्फीताः सुक्षेत्रे कण्टकिद्रुमाः ॥ २९ ॥

मैंने कहा था, तो पुरवा (शकोरा) के समान बहुत बड़े कुल में पैदा होकर अनुचित काम करूँगा। यह तो मैंने इससे इसलिये कहा था कि यह (वसन्तसेना) मुझे स्वीकार कर ले।

टीका—उपायः=वसन्तसेनायाः हत्योपायः, शिरश्चालनसंज्ञा=शिरः चालयित्वा सावधानता, मम शिरसि आक्रम्येदं सूचितं विटेन यदस्योपस्थितौ वसन्तसेनायाः मारणमसम्भवमिति भावः । केचिदनुमतिप्रदानमित्यर्थं प्रतिपादयन्ति, यत्= वसन्तसेनावधादिविषयकं यत्किमपि, मल्लकप्रमाणैः=चषकतुल्यैरित्यर्थः। महत्त्व-ख्यापनाय समुद्रप्रमाणैरिति वक्तव्ये मौर्ख्यात् मल्लकप्रमाणतया कुलमुपमिनोतीति प्रमाणिकाः । क्वचिद् 'गल्लकप्रमाणैः'=कुक्कुरोपमैरिति पाठः स्वकुलस्य कुक्कुर-तुल्यतां प्रकटयति मौर्ख्यादिति तद्भावः । एतत्=पूर्वोक्तं भयादिजनकमित्यर्थः, अङ्गीकारयितुम्=मां स्वीकर्तुमिति भावः ।

विमर्शः— शिरश्चालनसंज्ञा—इस पद के अर्थ विवादग्रस्त हैं। कुछ लोग—शिर हिलाकर अनुमति देना – अर्थ करते हैं। दूसरे लोग—शिर हिलाकर बुद्धि दे दी—यह अर्थ करते हैं।

वास्तव में यहाँ लाक्षणिक अर्थ लेना चाहिये। मेरा सिर हिलाकर=गर्दन पर हमला करके मुझे सावधान कर दिया है कि उस (विट) की उपस्थिति में वसन्तसेना का वध करना सम्भव नहीं है। यह अर्थ मानने में अग्रिम पंक्ति भी प्रमाण है— 'तदेतं प्रेष्य वसन्तसेनां मारयिष्यामि ।'

मल्लकप्रमाणैः— अपने कुल की महत्ता के लिये समुद्रादि की उपमा न देकर मल्लक=मिट्टी के प्याला के साथ उपमा देना शकार की मूर्खता को प्रकट करता है। कहीं-कहीं 'गल्लकप्रमाणैः' ऐसा पाठ है। गल्लक का अर्थ कुक्कुर है। कुत्तों के समान कुल में पैदा होने वाला—यह भी ठीक ही है। यहाँ भी शकार की मूर्खता प्रकट होती है।

अन्वयः—कुलेन, उपदिष्टेन, किम्, अत्र, शीलम् एव, कारणम्, सुक्षेत्रे, कण्टकिद्रुमाः, सुतराम्, स्फीताः, भवन्ति ॥ २९ ॥

शब्दार्थ—कुलेन=कुल को, उपदिष्टेन = कहने से, किम्=क्या ? अत्र=इस [अनुचित कार्यादि करने] में, शीलम् = स्वभाव, एव = ही, कारणम् = कारण, है,

शकारः—भावे ! एशा तव अग्गदो लज्जाअदि, ण मं अङ्गीकलेदि, ता गच्छ, थावलअचेडे मए पिट्टिदे गदे वि। एशे पलाइअ गच्छदि, ता तं गेण्हिअ आअच्छदु भावे। (भाव ! एषा तवाग्रतो लज्जते, न मामङ्गीकरोति तद् गच्छ, स्थावरकचेटो मया ताडितो गतोऽपि । एष पलाय्य गच्छति, तत् तं गृहीत्वा आगच्छतु भावः ।)

विटः— स्वगतम्)

अस्मत्समक्षं हि वसन्तसेना शौण्डीर्यभावान्न भजेत मूर्खम् ।
तस्मात् करोम्येष विविक्तमस्या विविक्तविस्रम्भरसो हि कामः ।। ३० ।।

सुक्षेत्रे=अच्छे खेत में, कण्टकिद्रुमाः = कांटेदार वृक्ष, भी, सुतराम् = अच्छी तरह, स्फीताः=विकसित, भवन्ति=होते हैं ।। २९ ।।

अर्थ-विट—

कुल को बताने से क्या लाभ ? इस [अनुचित काम को करने] में स्वभाव ही प्रमुख कारण होता है। अच्छे खेत में काटेंदार पौधे भी खूब विकसित होने (बढ़ने) लगते हैं।। २९ ।।

टीका—अकार्यकरणे कुलं नैव, अपितु मानवस्वभाव एव प्रमुखं कारणमस्तीति विटः प्रतिपादयति—किमिति । कुलेन = उच्चवंशेन, उपदिष्टेन = कथनेन, किम्=किं प्रयोजनम्, न किमपीति भावः, अत्र = अनुचितकार्यकरणे, शीलम्= स्वभावः, एव, कारणम्=प्रमुखो हेतुः। दृष्टान्तेन समर्थयते—सुक्षेत्रे=उत्कृष्टभूमिवर्ति क्षेत्रे, कण्टकिद्रुमाः=कण्टकयुताः वृक्षाः अपि, सुतराम्=भृशम्, स्फीताः=विकसिताः, भवन्ति=जायन्ते । एवञ्च सद्वंशे समुत्पन्नोऽपि दुःस्वभावतयाकार्यं कर्तुं शक्नोतीति तद्भावः । अत्रार्थान्तरन्यासोऽलंकारः, पथ्यावक्त्रं वृत्तम् ।। २९ ।।

अर्थ—शकार—भाव ! तुम्हारे आगे यह वसन्तसेना लजा रही है, अतः मुझे नहीं स्वीकार कर रही है, इसलिये जाओ। मेरे द्वारा प्रताडित स्थावरक चेट चला भी गया है। वह भाग कर जा रहा है। अतः भाव उसको पकड़ कर आ जाइये ।

अन्वयः—वसन्तसेना, शौण्डीर्यभावात्, अस्मत्समक्षम्, मूर्खम्, न, भजेत, तस्मात्, एषः [अहम्], अस्याः (कृते), विविक्तम्, करोमि, हि, कामः, विविक्तविश्रम्भरसः, [अस्ति] ।। ३० ।।

शब्दार्थ—वसन्तसेना=वसन्तसेना, शौण्डीर्यभावात्=घमण्डी स्वभाव के कारण, अस्मत्समक्षम्=हम लोगों के सामने, मूर्खम्=मूर्ख शकार को, न=नहीं, भजेत= स्वीकार करे [करती हो], तस्मात्=इस लिये, एषः=यह, [अहम्=मैं विट] अस्याः=इसके, [कृते=लिये], विविक्तम्=एकान्त, करोमि=कर दे रहा हूँ, हि=

(प्रकाशम्) एवं भवतु, गच्छामि ।

वसन्तसेना--(पटान्ते गृहीत्वा) णं भणामि शलणागदम्हि । (ननु भणामि शरणागतास्मि ।)

विट:--वसन्तसेने ! न भेतव्यं न भेतव्यम् । काणेलीमात: ! वसन्तसेना तव हस्ते न्यासः ।

शकार:---एव्वं, मम हत्थ एशा णाशेण चिट्ठदु । (एवम्, मम हस्ते एषा न्यासेन तिष्ठतु ।)

क्योंकि, कामः=कामभाव सम्भोग, विविक्तविश्रम्भरसः=एकान्त में और विश्वस्त में आनन्द देने वाला [अस्ति=होता है ।] ॥ ३० ॥

अर्थ—विट —(अपने में)

वसन्तसेना अपने घमण्डी स्वभाव के कारण, सम्भव है, हमारे सामने इस मूर्ख को स्वीकार न करे । इस लिये इसके लिये एकान्त कर दे रहा हूँ । क्योंकि कामभाव एकान्त में और विश्वस्त [स्थान] में ही आनन्ददायक होता है ॥ ३० ॥

टीका—धनादिलोभेन मातुराज्ञावशेन वा मनसा शकारमिच्छन्त्यपि अन्येषां समक्षं तं न स्वीकुर्यादतः किं करणीयमित्यत्र विटः चिन्तयन्ति—अस्मदिति। वसन्तसेना=गणिकोत्तमा वसन्तसेना, शौण्डीर्यभावात्=उदारस्वभाववत्तया, दर्पयुक्तप्रकृतिमत्तया वा, अस्माकम्=विटादीनाम्, समक्षम्=पुरतः, मूर्खम्=मूढं निर्गुणं शकारम्, न=नैव, भजेत = सुरतभोगप्रदानेन प्रीणीयात्, सम्भावनायां लिङ् । तस्मात्=अस्मत्समक्षं मूर्खस्याङ्गीकारासम्भवात्, एषः, अहम्=विटः, अस्याः=वसन्तसेनायाः, कृते, विविक्तम्=निर्जनत्वम्, करोमि=विदधामि, हि=यतः, कामः=सुरतसम्भोगः, विविक्ते=विजने शून्ये वा, विश्रम्भे=विश्वस्ते, यद्वा, विजने यः विश्रम्भः, तत्र रसः=आनन्दः, यस्य तादृशो भवति । एवञ्चास्माभिरिहैकान्ते वसन्तसेना त्याज्या येन निर्विघ्नं सम्भोगसुखं प्राप्नुयादिति भावः । अर्थान्तरन्यासोऽलंकारः, उपजातिर्वृत्तम् ॥ ३० ॥

अर्थ—(प्रकट रूप में) ऐसा ही हो, तो चलता हूँ ।

वसन्तसेना—(कपड़े का छोर पकड़ कर) मैं कह रही हूँ कि मैं आपकी शरण में आयी हूँ ।

विट—वसन्तसेना, मत डरो, मत डरो । काणेली के पुत्र ! वसन्तसेना तुम्हारे हाथ में मेरी धरोहर है ।

शकार—अच्छा, यह मेरे पास में धरोहर रूप से रहे ।

विटः—सत्यम् ?

शकारः—सच्चं। (सत्यम्।)

विटः—(किञ्चिद् गत्वा) अथवा मयि गते नृशंसो हन्यादेनाम्। तद-पवारितशरीरः पश्यामि तावदस्य चिकीर्षितम्। (इत्येकान्ते स्थितः।)

शकारः—भोदु, मालइश्शं। अधवा कवडकावडिके एशे बम्हणे वुड्ढखोडे कदावि ओवालिद-शलीले गदिअ, शिआले भविअ, हुलुर्मलि कलेदि ! ता एदश्श वञ्चणाणिमित्तं एव्वं दाव कलइश्शं (कुसुमावचयं कुर्वन्नात्मानं मण्डयति।) वाशू ! वाशू ! वसन्तशेणिए ! एहि। (भवतु, मारयिष्यामि। अथवा कपट-कापटिक एष ब्राह्मणो वृद्धश्रृगालः कदापि अपवारितं शरीरो गत्वा श्रृगालो भूत्वा कपटं करोति। तदेतस्य वञ्चनानिमित्तम् एवं तावत् करिष्यामि।) (बाले ! बाले ! वसन्तसेने एहि।)

विटः—अये ! कामी संवृत्तः। हन्त ! निर्वृत्तोऽस्मि। गच्छामि। (इति निष्क्रान्तः।)

शकारः—

शुवण्णअं देमि पिअं वदेमि पडेमि शीशेण शवेट्टणेण।
तधावि मं णेच्छशि शुद्धदन्ति ! किं शेवअं कश्टमआ मणुश्शा ॥ ३१ ॥

विट—सच ?

शकार—सच।

विट—(कुछ दूर जाकर) अथवा मेरे चले जाने पर पापी यह वसन्तसेना को मार सकता है। इस लिये अपने शरीर को छिपाकर इसकी इच्छा (क्या करना चाहता है) को देखता हूँ। (यह कह कर एकान्त में खड़ा हो गया।)

शकार—अच्छा, मार डालूँगा। अथवा यह धूर्त ब्राह्मण बूढ़ा सियार कहीं अपना शरीर छिपाता हुआ सियार बन कर छल कर रहा हो। तो अब इसको धोखा देने के लिये ऐसा करता हूँ। (फूल तोड़ता हुआ अपने को सजाता है।) बाले, बाले, वसन्तसेने, आओ।

विट—अरे ! यह तो कामुक बन गया। हाँ, अब मैं निश्चिन्त हो गया। अब चलता हूँ। (यह कह कर निकल गया।)

अन्वयः—(तुभ्यम्), सुवर्णकम्, ददामि, प्रियम्, वदामि, सवेष्टनेन, शीर्षेण, पतामि, तथापि, हे शुद्धदन्ति !, माम्, सेवकम्, न, इच्छसि, मनुष्याः, कष्टमयाः (भवन्ति) ॥ ३१ ॥

शब्दार्थ—(तुभ्यम्=तुम्हें, वसन्तसेना को), सुवर्णकम्=सोना, ददामि=देता हूँ, प्रियम्=प्रिय, वदामि=कह रहा हूँ, सवेष्टनेन=पगड़ी-सहित, शीर्षेण=

(सुवर्णं ददामि, प्रियं वदामि, पतामि शीर्षेण सवेष्टनेन ।
तथापि मां नेच्छसि शुद्धदन्ति ! किं सेवकं कष्टमया मनुष्याः ॥ ३१ ॥)

वसन्तसेना—को एत्थ सन्देहो ? (कोऽत्र सन्देहः ?) (अवनतमुखी 'खलचरित' इत्यादि श्लोक-द्वयं पठति ।)

खलचरित निकृष्ट ! जातदोषः कथमिह मां परिलोभसे धनेन ।
सुचरितचरितं विशुद्धदेहं न हि कमलं मधुपाः परित्यजन्ति ॥ ३२ ॥

सिर से, पतामि=गिरता हूँ, तथापि=फिर भी, हे शुद्धदन्ति=उज्ज्वल दाँतो वाली !, माम्=मुझ शकार को, सेवकम्=सेवक को, न=नहीं, इच्छसि=चाहतो हो, मनुष्याः=मनुष्य, बहुकष्टमयाः=बहुत कष्टों से युक्त, (भवन्ति होते हैं ।) ॥ ३१ ॥

अर्थ—शकार—

(मैं तुम्हें) सोना देता हूँ, प्यारी बातें बोलता हूँ, पगड़ीसहित सिर से (तुम्हारे पैरों पर) गिरता हूँ । फिर भी हे उज्ज्वल दाँतों वाली वसन्तसेना ! मुझ सेवक को नहीं पसन्द करती हो । हाय ! मनुष्य बहुत कष्टों से युक्त होते हैं ॥ ३१ ॥

टीका—साम्प्रतं विटं वञ्चयितुं शकारश्चाटुवचनैः वसन्तसेनां प्रलोभयन्नाह—सुवर्णकमिति । अहम्, तुभ्यम्, सुवर्णकम्=प्रचुरं हिरण्मयम्, ददामि=प्रयच्छामि, प्रियम् = मनोहरम्, वदामि = भणामि, सवेष्टनेन = सोष्णीषेण, = शीर्षेण=शिरसा, पतामि=नमामि, तव पादयोरिति शेषः, तथापि=एवं कृते सत्यपि, हे शुभ्रदन्ति != उज्ज्वलदशने !, माम्=शकारम्, सेवकम्=दासम्, न=नैव, इच्छसि=कामयसे, मनुष्याः=लोकाः, कष्टमयाः=विविधक्लेशयुताः, मनुष्याणां मनोरथाः महताऽयासेनैव पूर्यन्ते इति तद्भावः । अर्थान्तरन्यासोऽलंकारः उपजातिर्वृत्तम् ॥ ३१ ॥

विमर्श—कुछ लोग 'किं शे बअं कश्टमआ मणुश्शा, इस प्राकृत में पदच्छेद मानकर 'किमस्याः वयं काष्ठमयाः मनुष्याः' यह संस्कृतच्छाया मानते हैं । इसके अनुसार 'अस्याः समक्षं मादृशाः जनाः काष्ठमयाः, काष्ठनिर्मित-पुत्तलिकासदृशाः व्यर्था इति' ऐसा भाव निकलता है । 'कष्टमयाः' यह पाठ मानकर कुछ व्याख्याकार 'निर्दयाः' यह अर्थ करते हैं, वह सामान्यतया असंगत प्रतीत होता है । यदि यह मान लिया जाय कि शकार 'मानवसामान्य के लिये जिसमें वसन्तसेना भी है' को निर्दय='परव्यथानभिज्ञ' मानता है—यह भाव है तब कथञ्चित् संगति हो सकती है । परन्तु आगे वाले वसन्तसेना के कथन 'कोऽत्र सन्देहः' का औचित्य कम सटीक बैठता है ॥ ३१ ॥

अन्वयः—खलचरित !, निकृष्ट ! जातदोषः, (त्वम्), इह, माम्, धनेन, किम्, परिलोभसे ? सुचरितचरितम्, विशुद्धदेहम्, कमलम्, मधुपाः, न, हि, परित्यजन्ति ॥ ३२ ॥

शब्दार्थ—खलचरित !=दुर्जन के समान आचरण करने वाले, निकृष्ट !=नीच, (त्वम्=तुम), जातदोषः=जन्म से ही दूषित, अर्थात् जारज, इह=यहाँ, माम्=मुझ वसन्तसेना को, धनेन=धनसे, किम्=क्यों, परिलोभसे=लुभा रहे हो, सुचरित-चरितम्=सुन्दर आचरण करने वाले, विशुद्धदेहम्=पवित्र शरीरवाले, कमलम्=कमल को, मधुपाः=भौंरे और भौरियाँ, नहि=नहीं, परित्यजन्ति=छोड़ती हैं ॥ ३२ ॥

अर्थ—**वसन्तसेना**—इसमें क्या सन्देह ? (सिर नीचे झुका कर 'खलचरितम्' आदि दो श्लोकों को पढ़ती है–)

दुष्ट के समान आचरण करने वाले ! नीच ! जन्म से ही दोषयुक्त ! तुम मुझे धन से क्यों लुभा रहे हो ? सुन्दर आचरण करने वाले पवित्र शरीर वाले कमल को भौंरे और भौरियाँ नहीं छोड़ते हैं ॥ ३२ ॥

टीका—

गुणिषु गुणज्ञो रमते नागुणिषु हि तस्य परितोषः ।
अलिरेति वनात् कमलं न हि भेकस्त्वेकवासोऽपि ॥

इति न्यायान् सतां सत्स्वेव अनुरागः साहजिकः, न तु निर्गुणेषु इति असति त्वयि मेऽनुरागः सुतरामस्वाभाविक इति मामधिगन्तुं तवेदं धनलोभप्रदर्शनं निष्फलमिति भङ्ग्या आह–खलेति । खलस्य=दुर्जनस्य चरितमिव चरितं यस्य तादृश, निकृष्ट=नीच, यद्वा खल=नीच, चरितनिकृष्ट=आचरेण दुष्ट इत्यपि व्याख्या । जातदोषः=जाते=जनने दोषः यस्य सः जारज इति भावः, यद्वा जातश्चासौ दोषः=समुत्पन्नपापः, निरपराधायाः मम जिघांसयेति भावः । इह=अस्मिन् प्रणय-प्रसङ्गे इति भावः, माम्=गुणैकपक्षपातिनीं वसन्तसेनाम्, धनेन=अर्थेन, द्रव्यादिना, किम्=कथम्=परिलोभसे=प्रलोभयसि, स्वार्थिकोऽत्र णिच् । प्रकृतार्थं दृढयितुमाह–मधुपाः=भ्रमराः, भ्रमर्यश्च, 'पुत्रान् स्त्रिया' पा. सू. १।२।६७ इति सूत्रेण एकशेषे सति उभयोर्बोधः, सुचरितम्=सुष्ठु कृतम्, चरितम्=जनमनोहरणरूपं कार्यं येन तादृशम्, पुरुष—पक्षे, सुचरितम्=सयत्नं रक्षितं चरितम्=स्वभावः येन तादृशम्, विशुद्धः=जन्मादौ सर्वथा निर्दोषः, देहः=शरीरं यस्य तं तादृशम्, कमलम्=पद्मम्, नहि=नैव, परित्यजन्ति = परिहरन्ति । यथा खलु गुणैकपक्षपातिन्यो भ्रमर्यो न कदापि कमलं परिहरन्ति तथैव गुणैकपक्षपातिन्यहमपि न कथमपि तं चारुदत्तं परिहरामीमि तद्भावः ।

अत्र 'परिलोभसे' इत्यत्र परस्मैपदिना भाव्यम् । अतः केचिदत्र 'परिलोभयसि' इति अनुवदन्ति, तन्न सम्यक्, वृत्तलक्षणविरोधात् । एवञ्चात्र व्याकरणलक्षण-च्युतिरिति बोध्यम् । यदि तौदादिकं रूपमुच्यते तदा गुणानुपपत्त्या 'परिलुभसि' इत्यापत्तिः । तस्मादत्र च्युतसंस्कृतिदोषः स्थिर एव । अत्रा प्रस्तुत-प्रशंसा परिकरश्चालंकारौ, पुष्पिताग्रा वृत्तम् ॥ ३२ ॥

यत्नेन सेवितव्यः पुरुषः कुलशीलवान् दरिद्रोऽपि ।
शोभा हि पणस्त्रीणां सदृशजनसमाश्रयः कामः ॥ ३३ ॥
अवि अ। सहआरपादवं सेविअ ण पलास-पादवं अङ्गीकरिस्सं।

विमर्श—'परिलोभसे' यह प्रयोग व्याकरण की दृष्टि से अशुद्ध है । क्योंकि तुदादिगणीय 'लुभ विमोहने' और दिवादिगणीय 'लुभ गार्ध्ये' ये दोनों ही परस्मैपदी धातुयें हैं । अतः आत्मनेपद असंगत है । साथ ही तुदादि में गुण भी सम्भव नहीं है।

कुछ विद्वान् 'परिलोभयसे' ऐसा मानते हैं । यह भी ठीक नहीं है क्योंकि एक अक्षर बढ़ जाने से छन्दोभंग है।

इसकी उपपत्ति के दो मार्ग है (१) अन्तर्भूत णिजर्थ मानकर परस्मैपद अथवा भ्वादिगण में किसी अवान्तरगण में समावेश ।

एक बात और ध्यान देने की है कि वसन्तसेना को प्राकृत बोलनी चाहिये थी। शकार जैसे पात्र के साथ संस्कृत का प्रयोग भी ठीक नहीं लगता है । इसीलिये कहीं कहीं "अवनतमुखी संस्कृतमाश्रित्य 'खलचरित' इत्यादि" पाठ मिलता है । लगता है कि किसी प्रकार प्राकृत अंश छूट गया । और उसकी संस्कृतच्छाया ही चलने लगी। इसीलिये 'परिलोभसे' यह अशुद्ध प्रयोग भी रह गया ॥ ३२ ॥

अन्वयः—दरिद्रः, अपि, कुलशीलवान्, यत्नेन, सेवितव्यः, हि, सदृशजनसमाश्रयः, कामः, पणस्त्रीणाम्, शोभा, [भवति] ॥ ३३ ॥

शब्दार्थ—दरिद्रः=निर्धन, अपि=भी, कुलशीलवान् = उच्चकुल और सत्स्वभाव से युक्त (व्यक्ति), यत्नेन=यत्न से, सेवितव्यः=सेवा करने योग्य होता है, हि=क्योंकि, सदृशजनसमाश्रयः=अपने योग्य व्यक्ति के साथ किया गया, कामः = सुरतव्यवहार, पणस्त्रीणाम् = वेश्या स्त्रियों की, शोभा = प्रशंसनीय कार्य, [भवति= होता है] ॥ ३३ ॥

अर्थ—निर्धन भी कुल-सदाचारयुक्त पुरुष यत्नपूर्वक सेवा करने योग्य होता है, यत्नपूर्वक ऐसे व्यक्ति की सेवा करनी चाहिये क्योंकि अपने योग्य व्यक्ति के साथ किया गया सुरतव्यवहार ही वेश्याओं के लिये शोभा की बात होती है ॥ ३३ ॥

टीका—शकारस्य सेवायामनौचित्यं प्रकटयति—यत्नेनेति । दरिद्रः=निर्धनः, अपि, कुलशीलवान्=उच्चकुलोत्पन्नः सत्स्वभावयुक्तः पुरुषः, यत्नेन = प्रयासपूर्वकम्, सेवितव्यः = सेवनीयः, हि=यतः, सदृशजनः = स्वानुरूपजनः, समाश्रयः = अवलम्बनं यस्य तादृशः, कामः=मदनः, पणेन=धनादिना लभ्याः स्त्रियः=वेश्याः, तासां शोभा= आभूषणम्, प्रशंसनीयं कार्यं भवतीति भावः । अर्थान्तरन्यासोऽलंकारः, आर्या वृत्तम् ॥ ३३ ॥

(अपि च, सहकारपादपं सेवित्वा न पलाशपादपमङ्गीकरिष्यामि ।)

शकारः—दाशीए धीए ! दलिद्द-चालुदत्ताके शहआलपादवे कड़े, हग्गे उण पलाशे भणिदे, किंशुके वि ण कड़े। एव्वं तुमं मे गालिं देन्ती अज्ज वि तं ज्जेव चालुदत्ताकं शुमलेशि ? (दास्याः पुत्रि ! दरिद्र-चारुदत्ताकः सहकारपादपः कृतः, अहं पुनः पलाशो भणितः, किंशुकोऽपि न कृतः । एवं त्वं मे गालिं ददती अद्यापि तमेव चारुदत्तकं स्मरसि ?)

वसन्तसेना—हिअअगदो ज्वेव किं त्ति ण सुमरीअदि ? (हृदयगत एव किमिति न स्मर्य्यते ?)

शकारः—अज्ज वि दे हिअअगदं तुमं च शमं ज्जेव मोडेमि ! ता दलिद्द-शत्थवाहअ-मणुश्श-कामुकिणि ! चिट्ठ चिट्ठ (अद्यापि ते हृदयगतं त्वाञ्च सममेव मोटयामि । तत् दरिद्र-सार्थवाहकमनुष्यकामुकि ! तिष्ठ तिष्ठ ।)

वसन्तसेना—भण भण, पुणो वि भण। सलाहणिआइं एदाइं अक्खराइं। (भण भण, पुनरपि भण । श्लाघनीयानि एतानि अक्षराणि ।)

शकारः—पलित्ताअदु दाशीए पुत्ते दलिद्द-चालुदत्ताके तुमं। (परित्रायतां दास्याः पुत्रो दरिद्र-चारुदत्तकस्त्वाम् ।)

वसन्तसेना—परित्ताअदि जदि मं पेक्खदि । (परित्रायते यदि मां प्रेक्षते ।)

अर्थ—और भी, आम के वृक्ष का सेवन कर पलाश (ढाँक) के वृक्ष को नहीं स्वीकार करूँगी ।

शकार—दासी की बच्ची ! तूने दरिद्र चारुदत्त को आम का वृक्ष बना दिया, और मुझे 'पलाश' कह दिया, किंशुक भी नहीं कहा । इस प्रकार तुम मुझे गाली देती हुई आज भी उसी चारुदत्त को याद कर रही हो ।

वसन्तसेना—हृदय में ही है, उसे क्यों नहीं याद करूँगी ?

शकार—अभी (आज ही) तुम्हें और तुम्हारे हृदय में वर्तमान (चारुदत्त) दोनों को एक ही साथ पीस डालूंगा । इसलिये दरिद्र सार्थवाहक मनुष्य को चाहने वाली ! ठहर जा । ठहर जा ।

वसन्तसेना—कहो, कहो, फिर कहो, ये अक्षर प्रशंसनीय (अच्छे लगने वाले) हैं ।

शकार—दासी का पुत्र दरिद्र चारुदत्त तुम्हारी रक्षा करे ।

वसन्तसेना—यदि देखें तो अवश्य रक्षा करेंगे ।

शकारः—

किं शे शक्के वालिपुत्ते महिन्दे लम्भापुत्ते कालणेमी शुबन्धू ॥
लुद्दे लाआ दीणपुत्ते जडाऊ चाणक्के वा धुन्धुमाले तिशंकू ? ॥ ३४ ॥
(किं स शक्रो बालिपुत्रो महेन्द्रो रम्भापुत्रः कालनेमिः सुबन्धुः ।
रुद्रो राजा द्रोणपुत्रो जटायुश्चाणक्यो वा धुन्धुमारस्त्रिशंकुः ? ॥ ३४ ॥)

अन्वयः—सः, किम्, शक्रः, बालिपुत्रः, महेन्द्रः, रम्भापुत्रः, कालनेमिः, सुबन्धुः, राजा, रुद्रः, दोणपुत्रः, चाणक्यः, धुन्धुमारः, वा, त्रिशङ्कुः, अस्ति ? ॥ ३४ ॥

शब्दार्थ—सः=वह चारुदत्त, किम् = क्या, शक्रः=इन्द्र है ? बालिपुत्रः=बाली का पुत्र अङ्गद है ? महेन्द्रः=देवाधिपति इन्द्र है ? रम्भापुत्रः = रम्भाका पुत्र, कालनेमिः=कालनेमि, रावण का मामा है, सुबन्धुः = सुवन्धु नामक राक्षस है ? रुद्रः= शिव, राजा=राजा, द्रोणपुत्रः=द्रोण का पुत्र अश्वत्थामा, जटायुः=पक्षिराज जटायु, चाणक्यः=नन्दवंश का उच्छेदकर्ता कूटनीतिज्ञ चाणक्य, वा=अथवा, धुन्धुमारः= बृहदश्व का पुत्र, वा=अथवा, त्रिशङ्कुः=इस नाम से प्रसिद्ध सूर्यवंशी राजा विशेष है ? ॥ ३४ ॥

अर्थ—शकार—

वह चारुदत्त क्या इन्द्र है ? बालि का पुत्र अंगद है ? महेन्द्र है ? रम्भा का पुत्र कालनेमि है ? अथवा सुबन्धु राक्षस है ? अथवा राजा रुद्र है ? अथवा द्रोणपुत्र अश्वत्थामा है ? या जटायु है ? अथवा धुन्धुमार है ? अथवा त्रिशंकु है ॥ ३४ ॥

टीका—वसन्तसेनया चारुदत्तकर्तृकरक्षायाः श्रवणं कृत्वा शकारस्तस्य शक्तेः परिहासार्थमाह—किमिति । अत्र श्लोके 'किम्' इति पदं सर्वैः कर्तृपदैरन्वेति । स= चारुदत्तः, शक्रः=इन्द्रः, किम्=इदं प्रश्ने, बालिपुत्रः=बालिसुतः अङ्गदः, अथवा वाली पुत्रो यस्य सः, महेन्द्रः=देवेन्द्रः, यद्वा महेन्द्रः=महैश्वर्यशाली बालिपुत्र इत्यन्वयः, रम्भायाः=एतन्नाम्न्याः वेश्यायाः, पुत्रः=सुतः, कालनेमिः=रावणस्य मातुलः, यद्वा हिरण्यकशिपोः पुत्रो दैत्यविशेषः, सुबन्धुः=एतन्नामा दैत्यविशेषः, रुद्रः= शिवः, राजा=भूपतिः, द्रोणपुत्रः=अश्वत्थामा, जटायुः = गरुडपुत्रः पक्षिविशेषः, चाणक्यः=नन्दवंशोच्छेदकर्ता कूटनीतिविशेषज्ञः, यद्वा, धुन्धुमारः=तन्नामा बृहदश्व- पुत्रः, यद्वा, त्रिशङ्कुः=सूर्यवंश्यः प्रसिद्धो राजा, भवति किम् । एवञ्चैतेषु असम्भव- त्वात् सः चारुदत्तः कथमपि त्वां रक्षितुं न पारयिष्यतीति तद्भावः । शलिनी वृत्तम् ॥ ३४ ॥

विमर्श—यहाँ श्लोक में 'किम्' पद को प्रत्येक कर्तृपद के साथ जोड़ना चाहिये । शकार की बातें असंगत होती ही हैं । शकार की मूर्खता प्रकट करने के लिये कुछ पदों को विशेपण मानना चाहिये । जैसे—बालिपुत्रः महेन्द्रः, अथवा

अथवा एदे वि दे ण लक्खन्ति । (अथवा एतेऽपि त्वां न रक्षन्ति ।)

चाणक्केण जधा शीदा मालिदा भालदे जुए ।
एव्वं दे मोडइश्शामि जडाऊ विअ दोव्वदिं ॥ ३५ ॥

(चाणक्येन यथा सीता मारिता भारते युगे ।
एवं त्वां मोटयिष्यामि जटायुरिव द्रौपदीम् ॥ ३५ ॥)

(इति ताडयितुमुद्यतः ।)

वसन्तसेना—हा अत्ते ! कहिं सि ? हा अज्जचारुदत्त ! एसो जणो असम्पुण्ण-मणोरधो ज्जेव विवज्जदि । ता उद्धं अक्कन्दइस्सं अथवा वसन्तसेना उद्धं अक्कन्ददि त्ति लज्जणीअं क्खु एदं । णमो अज्जचारुदत्तस्स ।

बालिपुत्रः शक्रः, रम्भापुत्रः महेन्द्रः आदि । इनमें से कोई भी चारुदत्त नहीं है—अतः वह तुम्हारी रक्षा नहीं कर सकता, यह भाव है ॥ ३४ ॥

अन्वयः—यथा, भारते, युगे, चाणक्येन, सीता, मारिता, जटायुः, द्रौपदीम्, इव, एवम्, त्वाम्, मोटयिष्यामि ॥ ३५ ॥

शब्दार्थ—यथा=जिस प्रकार, भारते=महाभारत, युगे=युग में, चाणक्येन=चाणक्य द्वारा, सीता=जनकपुत्री, मारिता=मारी गयी थी, जटायुः=जटायु ने, द्रौपदीम्=द्रुपद की पुत्री, इव=के समान, एवम्=इसी प्रकार, त्वाम्=तुम्हें वसन्तसेना को, मोटयिष्यामि=मार डालूँगा ॥ ३५ ॥

अर्थ—अथवा ये (पूर्वोक्त) भी तुम्हारी रक्षा नहीं कर सकते—

महाभारत युग में चाणक्य ने जैसे सीता को मार डाला था, जटायु ने द्रौपदी को, (मार डाला था) उसी प्रकार मैं तुम्हें मार डालूँगा। [मसल डालूँगा] ॥ ३५ ॥

टीका—वसन्तसेनाया वधप्रकारं वर्णयति शकारः—चाणक्येनेति । यथा=येन प्रकारेण, भारते युगे=महाभारत-काले, चाणक्येन=एतन्नामकेन नीतिविशारदेन, सीता=रामपत्नी, मारिता=हता, जटायुः=गरुड़पुत्रः पक्षिविशेषः, द्रौपदीम्=पाण्डवपत्नीम्, इव=यथा, एवम्=अनेनैव प्रकारेण, अहं शकारः, त्वाम्=वसन्तसेनाम्, मोटयिष्यामि=हनिष्यामि । अत्र ऐतिह्यविरोधोऽपि शकारवचनत्वादुपेक्ष्यः । शक्वरीविशेषः वृत्तम् ॥ ३५ ॥

विमर्श—चाणक्य द्वारा सीता का वध और जटायु द्वारा द्रौपदी का वध कहना इतिहास-विरुद्ध है। किन्तु शकार की प्रकृति असंगत बोलने की है। अतः इसे दोष न मान कर गुण मानना चाहिये ।

मोटयिष्यामि—इसका अर्थ 'मसल दूँगा' या 'गला मरोड़ कर मार डालूँगा' ॥ ३५ ॥

(हा मातः ! कस्मिन्नसि ? हा आर्य्यचारुदत्त ! एष जनः असम्पूर्णमनोरथ एव विपद्यते । तदूर्ध्वमाक्रन्दयिष्यामि । अथवा वसन्तसेना ऊर्ध्वमाक्रन्दतीति लज्जनीयं खल्वेतत् । नम आर्य्यचारुदत्ताय ।)

शकारः—अज्जवि गब्भदाशी तश्श ज्जेव पावश्श णामं गेण्हदि ? (इति कण्ठे पीडयन्) शुमल गब्भदाशि ! शुमल (अद्यापि गर्भदासी तस्यैव पापस्य नाम गृह्णाति ?) (स्मर गर्भदासि ! स्मर)

वसन्तसेना—णमो अज्जचारुदत्तस्स । (नम आर्यचारुदत्ताय ।)

शकारः—मल गब्भदाशि ! मल । (म्रियस्व गर्भदासि ! म्रियस्व ।) (नाट्येन कण्ठे निपीडयन् मारयति ।)

(वसन्तसेना मूर्छिता निश्चेष्टा पतति ।)

शकारः—(सहर्षम्)

एदं दोषकलण्डिअं अविणअश्शावासभूदं खलं
लत्तं तश्श किलागदश्श लमणे कालागदं आअदं ।
किं एशे शमुदाहलामि णिअअं बाहूण शलत्तणं
णीशाशे वि मलेइ अम्ब शुमला शीदा जधा भालदे ॥३६॥

(एतां दोषकरण्डिकामविनयस्यावासभूतां खलां
रक्तां तस्य किलागतस्य रमणे कालागतामागताम् ।
किमेष समुदाहरामि निजकं बाह्वोः शूरत्वं
निःश्वासाऽपि म्रियते अम्बा सुमृता सीता यथा भारते ॥ ३६ ॥)

अर्थ—**वसन्तसेना**—हाय माँ ! कहाँ हो ? हाय आर्य चारुदत्त ! अपूर्ण मनोरथवाली ही (आपसे न मिल सकने वाली ही) यह मैं मर रही हूँ। अतः अब जोर से चिल्लाऊँगी । अथवा वसन्तसेना जोर से रो रही है—यह लज्जा की बात है । आर्य चारुदत्त को प्रणाम है ।

शकार—अभी भी गर्भदासी (जन्म से दासी) उसी पापी का नाम ले रही है । (ऐसा कह कर गला दबाता हुआ) याद कर गर्भदासी ! याद कर ।

वसन्तसेना—आर्य चारुदत्त को प्रणाम है ।

शकार—मर जा गर्भदासी ! मर जा । (अभिनय के साथ गला दबाता हुआ मार डालता है ।)

(वसन्तसेना बेहोश=निश्चेष्ट होकर गिर जाती है ।)

अन्वयः—दोषकरण्डिकाम्, अविनयस्य, आवासभूताम्, खलाम्, रक्ताम्, आगतस्य, तस्य, रमणे, आगताम्, कालागताम्, किल, एताम् (मारयित्वा), एषः, (अहम् शकारः), बाह्वोः, निजकम्, शूरत्वम्, किम्, उदाहरामि, यथा, भारते, सीता, सुमृता, (तथैव) निश्वासा, अपि, अम्बा, म्रियते ॥ ३६ ॥

शब्दार्थ—दोषकरण्डिकाम् = दोषों की पिटारी, अविनयस्य = अविनय की, उद्दण्डता की, आवासभूताम् = घरस्वरूप, खलाम्=दुष्टा, रक्ताम् = (चारुदत्त से) प्रेम करने वाली, आगतस्य=आये हुये, तस्य=उस (चारुदत्त) के, रमणे=रमण के लिये, आगताम्=आयी हुई, कालागताम् = मौत के समय के कारण आने वाली, आसन्न मृत्यु वाली, एताम्=इस (सामने खड़ी हुई वसन्तसेना) को, (मारयित्वा=मार कर), एषः=यह (अहम्=मैं शकार), बाह्वोः=भुजाओं की, निजकम्= अपनी, शूरत्वम् = बहादुरी को, किम्=क्या, उदाहरामि=प्रकट करूँ, कहूँ ? यथा= जिस प्रकार, भारते = महाभारत काल में, सीता = राम की पत्नी, सुमृता=अच्छी प्रकार मर गयीं थीं, तथैव=उसी प्रकार, निश्वासा=साँसरहित, अपि=भी, अम्बा= माता, वसन्तसेना, म्रियते=मर रही है ॥ ३६ ॥

अर्थ—दोषों की पिटारी (खजाना), उद्दण्डता का आवास = घर, दुष्ट, (पहले उद्यान में) आये हुये उस चारुदत्त के रमण के लिये आई हुई, उसी में अनुरक्त, मृत्युवश अथवा आसन्नमृत्यु के कारण (इस स्थान पर) आई हुई, इस वसन्तसेना को मारकर अपनी भुजाओं की शूरता को क्या कहूँ ? महाभारत में जिस प्रकार सीता अच्छी तरह मर गयीं थीं उसी प्रकार श्वासरहित भी यह माता मर रही है ॥ ३६ ॥

टीका—वसन्तसेनां मारयित्वा तद्वधादात्मनः शूरत्वं प्रकटयितुमाह=एतामिति । दोषाणाम्=दुराचाराणाम् करण्डिकाम् वंशादिखण्डैर्विरचितः पात्रविशेषः, तम्, दोषाश्रयामित्यर्थः, अविनयस्य=दुर्विनयस्य, आवासभूताम् = वासस्थानतुल्याम्, खलाम्= दुःस्वभावाम्, आगतस्य = पूर्वमेव उद्याने समागतस्य, तस्य = चारुदत्तस्य, रमणे= रमणार्थम्, तं रमयितुमिति भावः, आगताम् = समुपस्थिताम्, रक्ताम् = तस्मिन्नेवानुरागवतीम्, किल=सम्भावयामीत्यर्थः, कालागताम् = कालेन = मृत्युना, आगताम् यद्वाः कालः=मृत्युः आगतः यस्यास्तादृशीम् एताम् =पुरो निपतितां वसन्तसेनामित्यर्थः, मारयित्वेति शेषः, एषः = अहं शकारः, बाह्वोः = भुजयोः, निजकम्= स्वकीयम्, शूरत्वम् = पराक्रमित्वम्, किम् उदाहरामि = प्रकटयामि, न कापि आवश्यकतेति भावः । भारते=महाभारते, यथा=येन प्रकारेण, सीता=रामपत्नी, सुमृता=सुष्ठु मृता, मृत्युमुपगता, तथैव, निश्वासापि=श्वासशून्यापि, अम्बा=माता वसन्तसेनेत्यर्थः, म्रियते=मृत्युमापद्यते इति भावः । अत्र मूर्खतया वसन्तसेनामम्बेति व्याहरति शकारः । भारते सीता यथेत्यत्र हतोपमा । शार्दूलविक्रीडितं वृत्तम् ॥३६॥

विमर्श—करण्डिका=बांस आदि से बनी हुई टोकरी, डलिया । कालागताम्= कालेन=मृत्युना उपस्थिताम्' अथवा कालः=मृत्युः आगतः=उपस्थितः यस्यास्ताम्-ये अर्थ हो सकते हैं । भारते सीता यथा—यहाँ हतोपमा है ॥ ३६ ॥

इच्छन्तं मम णेच्छदि त्ति गणिआ लोशेण मे मालिदा
शुण्णे पुप्फकलण्डके त्ति शहशा पाशेण उत्ताशिदा ।
शे वा वञ्चिद भादुके मम पिदा मादेव शा दोप्पदी
जे शे पेक्खदि णेदिशं ववशिदं पुत्ताह शूलत्तणं ।। ३७ ।।

(इच्छन्तं मां नेच्छतीति गणिका रोषेण मया मारिता
शून्ये पुष्पकरण्डक इति सहसा पाशेन उत्त्रासिता ।
स वा वञ्चितो भ्राता मम पिता मातेव सा द्रौपदी
योऽसौ पश्यति नेदृशं व्यवसितं पुत्रस्य शूरत्वम् ।। ३७ ।।)

अन्वयः---इच्छन्तम्, माम्, गणिका, न, इच्छति, इति, रोषेण, मया, शून्ये, पुष्पकरण्डके, सहसा, पाशेन, उत्त्रासिता, मारिता, च, सः, मम, भ्राता, वा, पिता, वञ्चितः, द्रौपदी, इव, सा, माता, च, यः, आसौ, पुत्रस्य, ईदृशम्, शूरत्वम्, व्यवसितम्, च, न, पश्यति ।। ३७ ।।

शब्दार्थ---इच्छन्तम्=[वसन्तसेना को] चाहने वाले, माम्=मुझ शकार को, गणिका=वैश्या वसन्तसेना, न=नहीं, इच्छति=चाहती है, इति=इसलिये, रोषेण=गुस्सा से, मया=मेरे द्वारा, शकार के द्वारा, शून्ये=निर्जन, पुष्पकरण्डके=इस नाम वाले बगीचे में, सहसा=अचानक, पाशेन=फंन्दे से, उत्त्रासिता=पीडित की गयी, च=और, मारिता=मार डाली गयी, सः=वह, मम=मेरा, भ्राता=भाई, वा=अथवा, पिता=पिता, वञ्चितः=वञ्चित रहे [नहीं देख सके],च =और, द्रौपदी=पाण्डवपत्नी, इव=के समान, सा=वह, माता=मां, [भी वंचित रही], यः=जो, असौ=वह, पुत्रस्य=पुत्र शकार के, ईदृशम्=इस प्रकार की, शूरत्वम्=बहादुरी को, च=और, व्यवसितम्=प्रयास को, न=नहीं, पश्यति=देख रहे हैं, देख पाये हैं ।। ३७ ।।

अर्थ---[वसन्तसेना को] चाहने वाले मुझ शकार को वेश्या [वसन्तसेना] नहीं चाहती है इसलिये गुस्सा के कारण मैंने सूनसान पुष्पकरण्डक उद्यान में फंन्दे से पीडित कर (गला दबाकर) मार डाला । वह मेरे पिता और द्रौपदी के समान मेरी माता [मेरे पराक्रम को देखने से] वंचित रह गये जिन्होंने अपने पुत्र की इस की हुई शूरता को नहीं देखा ।। ३७ ।।

टीका---वसन्तसेनां हत्वा शकारः स्वशूरत्वदर्शनात् वञ्चितं पित्रादिकं स्मरति--इच्छन्तमिति । इच्छन्तम्=अभिलषन्तम्, रन्तुमिति शेषः, माम्=शकारम्, न=नैव, इच्छति=अभिलषति, इति=अतो हेतोः, रोषेण=क्रोधेन, मया=शकारेण, शून्ये=निर्जने, पुष्पकरण्डके=एतन्नाम्ना प्रसिद्धे, राजोद्याने, गणिका=वसन्तसेना उत्त्रासिता=भयं प्रापिता, च=तथा, सहसा=झटिति, पाशेन=रज्जुरूपेण बाहुना, मारिता=हता, सः=प्रसिद्धः, मम=शकारस्य, भ्राता=सहोदरः, वा=अथवा, पिता=

भोदु, सम्पदं बुड्ढशोड़े आगमिश्शदित्ति ता ओशलिअ चिट्ठामि ।

(भवतु, साम्प्रतं वृद्धश्रृगाल आगमिष्यतीति तदपसृत्य तिष्ठामि ।)

(तथा करोति ।) (प्रविश्य चेटेन सह ।)

विटः—अनुनीतो मया स्थावरकश्चेटः । तद् यावत् काणेलीमातरं पश्यामि । (परिक्रम्यावलोक्य च) अये ! मार्ग एव पादपो निपतितः । अनेन च पतता स्त्री व्यापादिता । भोः पाप ! किमिदमकार्यमनुष्ठितं त्वया ? तवापि पापिनः पतनात् स्त्रीवधदर्शनेनातीव पातिताः वयम् । अनिमित्तमेतद्. यत्सत्यं वसन्तसेनां प्रति शङ्कितं मे मनः, सर्वथा देवताः स्वस्ति करिष्यन्ति । (शकारमुपसृत्य) काणेलीमातः ! एवं मया अनुनीतः स्थावरकश्चेटः ।

जनकः, वञ्चितः=प्रतारितः, दर्शनसुखं न प्राप्तवानिति भावः । द्रौपदी=पाण्डवपत्नी, इव=यथा, सा=प्रसिद्धा, माता=जननी, च, वञ्चितेति । लिङ्गव्यत्ययेन सम्बन्धः करणीयः, यः असौ=पूर्वोक्तः भ्राता, पिता, जननी च, पुत्रस्य=सुतस्य, शकारस्य, ईदृशम्=पूर्वोक्तम्, व्यवसितम्=अनुष्ठितम्, शूरत्वम्=पराक्रमम्, न=नैव, पश्यति=अवलोकयति । अतस्तेषां चक्षुषोः वैफल्यमिति तद्भावः । शार्दूलविक्रीडितं वृत्तम् ।। ३७ ।।

शब्दार्थ—वृद्धश्रृगालः=बूढ़ा सियार विट, पादपः=पेड़, व्यापादिता=मार डाली, पाप=पापी, पातिताः=पतित बना दिये गये, स्वस्ति=कल्याण, अनुनीतः=मना लाया, न्यासम्=धरोदर अर्थात् वसन्तसेना, अत्याकुलम्=बहुत घबड़ाकर, शपे=शपथ लेता हूँ, संस्थापय=कड़ा करो, धैर्य रखो, अविचारितम्=बिना सोंच विचार के ।

अर्थ—अच्छा, अब बूढ़ा सियार आता होगा अतः अब अलग हटकर बैठता हूँ । (अलग हट कर बैठ जाता है ।)

(चेट के साथ प्रवेश करके)

विट—मैंने स्थावरक चेट को मना लिया (प्रसन्न कर लिया) है । अतः काणेली के बच्चे (शकार) को देखता हूँ । (घूमकर और देखकर) अरे ! रास्ता में ही पेड़ गिर पड़ा है । और गिरते हुए इसने स्त्री को मार डाला है । अरे पापी ! तूने यह क्या अनुचित काम कर डाला ? तुझ पापी के गिरने से हुये स्त्रीवध को देखने से हम लोग बहुत अधिक पतित बना दिये गये । यह अपशकुन है, सचमुच वसन्तसेना के विषय में मेरा मन शंका से भर गया । देवता लोग हर स्थिति में कल्याण करेंगे । (शकार के पास जाकर) काणेली के पुत्र ! मैं इस प्रकार से चेट को मना कर (प्रसन्न कर) ले आया हूँ ।

शकारः—भावे ! शाअदं दे । पुत्तका ! थावलका ! चेड़ा ! तवावि शाअदं ? (भाव ! स्वागतं ते । पुत्रक, स्थावरक ! चेट ! तवापि स्वागतम् ।)

चेटः—अध इं ? (अथ किम् ?)

विटः—मदीयं न्यासमुपनय ।

शकारः—कीदिशे णाशे ? (कीदृशः न्यासः ?)

विटः—वसन्तसेना ।

शकारः—गदा । (गता ।)

विटः—क्व ?

शकारः— भावरश ज्जेव पिट्टदो । (भावस्यैव पृष्ठतः ।)

विटः—(सवितर्कम्) न गता खलु सा तया दिशा ।

शकारः—तुमं कदमाए दिशाए गड़े ? (त्वं कतमया दिशा गतः ?)

विटः—पूर्वया दिशा ।

शकारः—शा वि दक्खिणाए गडा । (सापि दक्षिणया गता ।)

विटः—अहं दक्षिणया ।

शकारः—शा वि उत्तलाए । (सापि उत्तरया ।)

शकार—भाव ! तुम्हारा स्वागत है । पुत्रक, स्थावरक, चेट ! तुम्हारा भी स्वागत है ।

चेट—बहुत अच्छा । (धन्यवाद)

विट—मेरी धरोहर वापस करो ।

शकार—कैसी ?

विट—वसन्तसेना (धरोहर) ।

शकार—चली गई ।

विट—कहाँ ?

शकार—भाव के ही पीछे ।

विट—(विचारपूर्वक) उस तरफ से तो नहीं गयी ।

शकार—तुम किस ओर से गये थे ?

विट—पूर्व दिशा में ।

शकार—वह दाहिनी ओर गयी ?

विट—मैं दाहिनी ओर गया था ।

शकार—वह भी उत्तर की ओर ।

विटः—अत्याकुलं कथयसि । न शुध्यति मे अन्तरात्मा । तत् कथय सत्यम् ।

शकारः—शवामि भावश्श शीशं अत्तणकेलकेहिं पादेहिं, ता शण्ठा-वेहि हिअअं, एशा मए मालिदा । (शपे भावस्य शीर्षमात्मीयाभ्यां पादाभ्याम्, तत् संस्थापय हृदयम्, एषा मया मारिता ।)

विटः—(सविषादम्) सत्यं त्वया व्यापादिता ?

शकारः—जइ मम वअणे ण पत्तिआअसि, ता पेक्ख पढमं लट्ठिअ-शालसण्ठाणाह शूलत्तणं । (यदि मम वचने न प्रत्ययसे, तत् प्रेक्षस्व प्रथमं राष्ट्रिय-श्याल-संस्थानस्य शूरत्वम् ।) (इति दर्शयति ।)

विटः—हा ! हतोऽस्मि मन्दभाग्यः । (इति मूर्च्छितः पतति ।)

शकारः—ही ही उवलदे भावे । (ही ही ! उपरतो भावः ।)

चेटः—शमश्शशदु शमश्शशदु भावे । अविचालिअं पवहणं आणन्तेण ज्जेव मए पढमं मालिदा (समाश्वसितु समाश्वसितु भावः । अविचारितं प्रवहणमानयतैव मया प्रथमं मारिता ।)

विट—बहुत घबड़ा कर कह रहे हो । मेरा मन शुद्ध नहीं हो रहा है. सन्देह कर रहा है । इसलिये सच-सच बताओ ।

शकार—भाव ! आपके शिर की अपने पैरों से शपथ लेता हूँ । अतः अपने हृदय को कड़ा करो (धीरज रखो) । उसे मैंने मार डाला ।

विट—(दुःख के साथ) सचमुच तुमने मार डाली ?

शकार—यदि मेरी बात पर विश्वास नहीं है तो राजा के साले संस्थान की पहली बहादुरी देख लो । (यह कह कर दिखाता है ।)

विट—हाय, अभागा मैं मारा गया । (मूर्च्छित होकर गिर जाता है ।)

शकार—हा, हा, भाव मर गया ।

चेट—भाव ! आप धीरज रखें, धीरज रखें, बिना सोचे समझे गाड़ी लाते हुये मैंने पहले ही मार डाली थी ।

टीका—अपसृत्य = तत्स्थानं परित्यज्य, अनुनीतः = आनुकूल्यतां प्रापितः, व्यापादिता=मारिता, अकार्यम्=कुकृत्यम्, पातिताः=पापे निपातिताः, अनिमित्तम्=अपशकुनम्, स्वस्ति=कल्याणम्, न्यासम् = वसन्तसेनारूपमित्यर्थः, शुध्यति=निर्दोषतां याति, शङ्कारहितं भवतीति भावः, संस्थापय = दृढं कुरु, धैर्यं धारयेति भावः, व्यापादिता = मारिता, उपरतः = मर गया, अविचारितम् = सम्यग् रूपेणानवलोकितमित्यर्थः ।

विटः—(समाश्वस्य सकरुणम्) हा वसन्तसेने !
दाक्षिण्योदकवाहिनी विगलिता याता स्वदेशं रतिः
हा हालङ्कृतभूषणे ! सुवदने ! क्रीडारसोद्भासिनि ! ।
हा सौजन्यनदि ! प्रहासपुलिने ! हा मादृशामाश्रये !
हा हा नश्यति मन्मथस्य विपणिः सौभाग्यपण्याकरः ।। ३८ ।।

विमर्श—विट को रास्ता में एक पेड़ का गिरा होना और उससे किसी स्त्री की हत्या होना दिखाई देता है। यह आगे के कथानक में सहायक है। शकार वसन्तसेना की हत्या करके यह अपराध निर्दोष चारुदत्त के सिर पर डाल देता है। न्यायालय के निर्देश से जब उद्यान देखा जाता है तब इसी मरी हुई स्त्री को वसन्तसेना मान लिया जाता है। फलस्वरूप चारुदत्त पर वसन्तसेना की हत्या का अपराध सिद्ध हो जाता है और मृत्युदण्ड दे दिया जाता है।

अन्वयः—दाक्षिण्योदकवाहिनी, विगलिता; रतिः, स्वदेशम्, याता, हा, हा, अलङ्कृतभूषणे ! सुवदने ! क्रीडारसोद्भासिनि !, हा प्रहासपुलिने ! सौजन्यनदि ! हा ! मादृशाम् आश्रये !, हा, हा, मन्मथस्य, विपणिः, सौभाग्यपण्याकरः, नश्यति ।। ३८ ।।

शब्दार्थ—दाक्षिण्योदकवाहिनी = उदारतारूपी जल की नदी, विगलिता= समाप्त हो गयी, रतिः = कामदेव की प्रिया, स्वदेशम् = अपने देश (स्वर्ग), याता=चली गयी, हा, हा, अलङ्कृतभूषणे=हाय, हाय ! अलंकारों को भी सजाने-वाली !, सुवदने = सुन्दर शरीर वाली ! या सुमुखी, क्रीडारसोद्भासिनि=कामक्रीडा रस को शोभित करने वाली ! हा प्रहासपुलिने = हाय हाय हंसी रूपी बालू के तटों वालीं !, सौजन्यनदि=सुजनता रूपी नदी !, हा, हा मादृशाम् आश्रये=हाय हाय, हम जैसे लोगों की सहारा !, हा-हा मन्मथस्य = हाय हाय कामदेव की, बिपणिः = बाजार, सौभाग्यपण्याकरः = सौन्दर्यरूपी विक्रेय पदार्थों की खान, नश्यति=नष्ट हो गयी ।। ३८ ।।

अर्थ—**विट**—(धैर्य धारण करके, करुणापूर्वक) हा वसन्तसेने !

उदारतारूपी जल की नदी समाप्त हो गयी। कामदेव की पत्नी रति अपने लोक (स्वर्ग) चली गयी। हाय, हाय ! आभूषणों को भी सुशोभित करने वाली ! सुन्दर मुख (=शरीर) वाली ! हाय ! कामक्रीडा के रस को सुशोभित करने वाली ! हाय सुजनतारूपी नदी ! हाय परिहास का बालुकामय किनारा ! हाय-हाय हमारे जैसे लोगों की सहारा ! हाय हाय ! कामदेव की बाजार, सुन्दरतारूपी विक्रेय पदार्थों की खान नष्ट हो गयी ।। ३८ ।।

(सास्रम्) कष्टं भोः ! कष्टम् ।

किं नु नाम भवेत् कार्यमिदं येन त्वया कृतम् ।
अपापा पापकल्पेन नगरश्रीर्निपातिता ॥ ३९ ॥

टीका—शकारस्य मुखात् वसन्तसेनावधमाकर्ण्य मर्माहतो विटः तस्याः गुणान् वर्णयन् बिलपति—दाक्षिण्येति । दाक्षिण्यम्=औदार्यमेव उदकम्=जलम्, तस्य वाहिनी=नदी, विगलिता=समाप्ता, शुष्कतां गतेत्यर्थः, रतिः=कामदेवस्य पत्नी, स्वदेशम्=स्वर्गलोकम्, याता=प्रस्थिता, अलङ्कृतम्=भूषितम्, भूषणम्=अलङ्कारः यया तत्सम्बुद्धौ रूपम्, अस्याः शरीरसम्पर्कादलङ्काराणां सौन्दर्यवृद्धिर्भवतीत्यर्थः, सुवदने=सुमुखि, शोभनशरीरे, क्रीडायाम्=कामक्रीडायाम्; यो रसः=अनुरागः, तस्य उद्भासिनि=प्रकाशिके !, हा सौजन्यनदि=सुजनतारूपसरित् !, प्रहासः= प्रकृष्टं हास्यम्, एव पुलिनम्=सैकतम्, यस्यास्तादृशि, हासस्य शुभ्रतया वर्णनं सर्वथा शास्त्रसंगतमिति बोध्यम्, हा, मादृशाम्=मत्सदृशानां विटानाम्, आश्रये= धनदानादिना पोषिके !, हा हता इदानीं लोका इति शेषः, मन्मथस्य=कामस्य, विपणिः=पण्यवीथिका, सौभाग्यम्=हावभावविलासादि सौन्दर्यम् एव पण्यम्=विक्रेय-द्रव्यम्, तेषाम् आकरः=निधिः, नश्यति=नाशं गच्छति, नष्टेति भावः, वर्तमान-सामीप्ये लटः प्रयोगः । अत्र रूपकालंकारः, शार्दूलविक्रीडितं वृत्तम् ॥ ३८ ॥

विमर्श—यहाँ कुछ पद प्रथमान्त है और कुछ सम्बोधनान्त । 'हा' इस खेदसूचक अव्यय को सम्बोधनान्त सभी पदों के साथ जोड़ लेना चाहिये । 'विपणि' और 'पण्य' इन दोनों का एक साथ प्रयोग सुन्दर नहीं है ॥ ३८ ॥

अन्वयः—किम्, नु, नाम, कार्यम्, भवेत्, येन, त्वया, इदम्, कृतम्, पाप-कल्पेन, (त्वया), अपापा, नगरश्रीः, निपातिता ॥ ३९ ॥

शब्दार्थ—किम्=कौन सा, नु=प्रश्नवाचकता-द्योतक अव्यय है, नाम=सम्भावना अर्थ में है, कार्यम्=काम, भवेत्=होगा, येन=जिसके कारण, त्वया=तुम्हारे द्वारा= शकार द्वारा, इदम्=यह हत्या रूपी पाप, कृतम्=किया गया, पापकल्पेन=पापतुल्य तुम्हारे द्वारा, अपापा=निष्पाप, नगरश्रीः=उज्जयिनी की लक्ष्मी=सुन्दरता, निपा-तिता=समाप्त कर डाली गयी ॥ ३९ ॥

अर्थ—(आसुओं के साथ) कष्ट है अरे ! कष्ट है । कौन सा काम होगा जिसके कारण तूने यह (वसन्तसेना वध रूपी) काम कर डाला ? पापके समान तूने निष्पाप और उज्जयिनी नगर की लक्ष्मी को मार डाला ॥ ३९ ॥

टीका—वसन्तसेनावधार्थं शकारं विनिन्दन्नाह—किमिति । किम् नु=प्रश्न-बोधकमव्ययम्, नाम=इदं सम्भावनायाम्, कार्यम्=प्रयोजनम्, भवेत्=स्यात्, येन= यस्मात् कारणात्, त्वया=शकारेण, इदम्=वसन्तसेनाहत्यारूपं पापकर्म, कृतम्=

(स्वगतम्) अये ! कदाचिदयं पाप इदमकार्यं मयि संक्रामयेत् । भवतु, इतो गच्छामि । (इति परिक्रामति ।)

(शकारः उपगम्य धारयति ।)

विटः—पाप ! मां मा स्प्राक्षीः । अलं त्वया । गच्छाम्यहम् ।

शकारः—अले ! वशन्तशेणिअं शअं ज्जेव मालिअ मं दुशिअ कहिं पलाअशि ? शम्पदं ईदिशे हग्गे अणाधे पाविदे । (अरे ! वसन्तसेनां स्वयमेव मारयित्वा मां दूषयित्वा कुत्र पलायसे ? साम्प्रतम् ईदृशोऽहमनाथः प्राप्तः ।)

विटः—अपध्वस्तोऽसि ।

शकारः—

अत्थं शदं देमि शुवण्णअं दे कहावणं देमि शवोड़िअं दे ।
एशे दुशेट्ठाणं पलक्कमे शामाण्णए भोदु मणुश्शआणं ॥ ४० ॥
(अर्थम् शतं ददामि सुवर्णकं ते कार्षापणं ददामि सवोडिकं ते ।
एष दोषस्थानं पराक्रमो मे सामान्यको भवतु मनुष्यकाणाम् ॥ ४० ॥)

विहितम्, पापकल्पेन=पापतुल्येन साक्षात्पापरूपेणेति भावः, शकारेण, निष्पापा=निर्दोषा, पापलेशरहिता, अथ च नगरस्य=उज्जयिन्याः, श्रीः=शोभा, लक्ष्मीरित्यर्थः, निपातिता=विनाशिता, हतेति भावः । पापकल्पेनेत्यत्र 'ईषदसमाप्तौ कल्पब्देश्यदेशीयरः' (पा. सू. ५ । ३ ६७) इति कल्पप्प्रत्ययः, अत्र रूपकमलङ्कारः । पथ्यावक्त्रं वृत्तम् ॥ ३९ ॥

अर्थ—(अपने में) यह पापी कहीं इस अपराध को मेरे ऊपर न मढ़ दे । अच्छा, यहाँ से जाता हूँ । (यह कह कर घूमता है ।)

(शकार पास जाकर विट को पकड़ लेता है ।)

विट—अरे पापी ! मत छुओ, मत छुओ । तुम्हारा प्रयास व्यर्थ है । मैं जाता हूँ ।

शकार—अरे ! वसन्तसेना को अपने आप मार कर मुझ पर दोष लगाकर कहाँ भाग जा रहे हो ? अब मैं ऐसा अनाथ हो गया हूँ ।

विट—तुम पतित हो ।

अन्वयः—(अहम्, ते शतम्), सुवर्णकम्, अर्थम्, ददामि, ते, सवोडिकम्, कार्षापणम्, ददामि, दोषस्थानम्, मम, एषः, पराक्रमः, मनुष्याणाम्, सामान्यकः, भवतु ॥ ४० ॥

शब्दार्थ—(अहम्=मैं शकार), ते=तुम्हें, विटको, शतम्=सौ, सुवर्णकम्=सोना (स्वर्णमय), अर्थम्=धन, ददामि=देता हूँ, दूँगा । ते=तुम्हें, सवोडिकम्=कौड़ियों के साथ, कार्षापणम्=तत्कालीन सोने का सिक्का, ददामि=देता हूँ, दूँगा, दोषस्थानम्=अपराध का स्थान=आश्रय, मम=मेरा, शकार का, एषः=यह,

विटः—धिक्, तवैवास्तु ।
चेटः—शान्तं पावं । (शान्तं पापम् ।)
(शकारो हसति ।)

पराक्रमः=पराक्रम, मनुष्याणाम् = मनुष्यों का, सामान्यकः=साधारण, भवतु = हो जाये । [अर्थात् मुझ विशेष से हट कर सामान्यजन पर आ जाय ।] ॥ ४० ॥

अर्थ—शकार—

मैं तुमको सौ सोने के सिक्के [मोहरें वगैरह] दूँगा । मैं तुम्हें कौड़ियों के साथ एक कार्षापण (तत्कालीन सिक्का) दूँगा । अपराध का स्थान मेरा यह पराक्रम (हत्या) मनुष्यों का साधारण कार्य हो जाय । अर्थात् मुझ से हटाकर किसी साधारण व्यक्ति पर यह अपराध लगा दो ॥ ४० ॥

टीका—स्वकृतं वसन्तसेनाहत्यारूपं पापं स्वस्मादपाकृत्य अन्यस्मिन्नारोपयितुं विटं धनादिना प्रलोभयन्नाह शकारः—अर्थमिति । (अहम्=शकारः) ते=तुभ्यम्, विटायेत्यर्थः, शतम्=शतसंख्याकम्, अपरिमितमित्यर्थः, सुवर्णकम्=स्वर्णमयम्, अर्थम्=धनम्, ददामि=दास्यामि, ते=तुभ्यम्, विटायेत्यर्थः, सबोडिकम्=बोडी पणचतुर्थांशः, तत्सहितम् कार्षापणम्=षोडशपणात्मकं ददामि, बोडी विंशतिकपर्दकः गोडे प्रसिद्धः, तच्चतुष्टयं पणः, ते षोडश कार्षापणाः कहावण इत्येके इति पृथ्वीधरः, दोषस्थानम्=अपराधस्य वसन्तसेनावधरूपस्य, स्थानम्=आस्पदम्, कारणमित्यर्थः, मे=मम, शकारस्य, एषः=तदानीमेव कृतः, पराक्रमः=वसन्तसेनाहत्यारूपः, मनुष्याणाम्=लोकानाम्, सामान्यकः=साधारणः, भवतु=अस्तु । मया नैव अपि त्वन्येन केनचिज्जनेन वसन्तसेना हतेति प्रचारं कुर्विति तदाशयः । उपजातिर्वृत्तम् ॥ ४० ॥

विमर्श प्राकृतपाठ की संस्कृतच्छाया इस प्रकार भी की गई है अत्थम्=अर्थान्, शबोडिअं=सतोषणम्, दुशट्ठाण=दुःशब्दानाम्, फलकामे=फलक्रमः । यहाँ 'कार्षापण' और 'बोडिक' के अर्थ में मतभेद है । 'कार्षापण' प्राचीन काल से ही एक सिक्का के लिये प्रसिद्ध है । यह कभी सोने का और कभी चाँदी का बना होता था । प्रसिद्ध टीकाकार पृथ्वीधर के अनुसार बोडी बीस कौड़ियों के समान होता था ।

शकार हर प्रकार के प्रलोभन देकर विट को अनुकूल बनाकर यह अपराध किसी अन्य साधारण पुरुष का बनाना चाहता है ॥ ४० ॥

अर्थ—विट—तुम्हें धिक्कार है, यह धन तुम्हारा ही रहे ।

चेट – ऐसा मत कहो ।

(शकार हसता है ।)

विटः—

अप्रीतिर्भवतु विमुच्यतां हि हासो
धिक् प्रीतिं परिभवकारिकामनार्याम् ।
मा भूच्च त्वयि मम सङ्गतं कदाचि-
दाच्छिन्नं धनुरिव निर्गुणं त्यजामि ।। ४१ ।।

शकारः—भावे ! पशीद पशीद । एहि णलिणीए पविशअ कीलेम्ह ।
(भाव ! प्रसीद प्रसीद । एहि, नलिन्यां प्रविश्य क्रीडावः ।)

अन्वयः—हासः, विमुच्यताम्, अप्रीतिः, भवतु, हि, परिभवकारिकाम्, अनार्याम्, प्रीतिम्, धिक्, त्वयि, मम, सङ्गतम्, कदाचित्, मा भूत्, च, आच्छिन्नम्, निर्गुणम्, धनुः, इव, (त्वाम्) त्यजामि ।। ४१ ।।

शब्दार्थ—हासः=हंसी, विमुच्यताम्=छोड़ दो, अप्रीतिः=शत्रुता, भवतु=हो जाय, हि=क्योंकि, परिभवकारिकाम्=अपमान कराने वाली, अनार्याम्=निन्दनीय, घृणायोग्य, प्रीतिम्=प्रेम, मित्रता को, धिक्=धिक्कार है, त्वयि=तुम्हारे साथ में, मम=मेरा, संगतम्=संग, कदाचित्=कभी, मा भूत्=न हो, आच्छिन्नम्=टूटे हुये, निर्गुणम्=डोरी-रहित, धनुः इव=धनुष के समान, त्वाम्=तुम शकार को, त्यजामि= छोड़ देता हूँ ।। ४१ ।।

अर्थ—विट—

हंसी छोड़ो । (तुम्हारे साथ) मेरी मित्रता न रहे । क्योंकि अपमान कराने वाली निन्दनीय इस मित्रता को धिक्कार है । तुम्हारा मेरा साथ कभी भी न हो । टूटे और डोरीरहित धनुष के समान तुम्हें छोड़ता हूँ । (धनुषपक्ष में-निर्गुण=डोरी रहित, मित्रतापक्ष में गुणों से शून्य) ।। ४१ ।।

टीका—साम्प्रतं विटः शकारेण सह मैत्रीविच्छेदमेवेच्छन्नाह—अप्रीतिरिति । हासः=हसनम्, विमुच्यताम्=त्यज्यताम्, ते हासो न मे रोचते इति भावः, अप्रीतिः= प्रीत्यभावः शत्रुत्वमिति भावः, भवतु=अस्तु, तत्त्यागे हेतुमाह-हि=यतः, परि-भवस्य=अनादरस्य कारिकाम्=सम्पादिकाम्, अनार्याम्=दूषिताम्, प्रीतिम्= मित्रताम्, धिक्=धिगस्तु । त्वयि=दुष्टे शकारे, मम=विटस्य, संगतम्=सम्मेलनम्, कदाचित्=कदाचिदपि मा भूत्=न स्यात्, अतः, आच्छिन्नम्=त्रुटितम्, भग्नम् निर्गुणम्=प्रत्यञ्चारहितम् पक्षे दयादाक्षिण्यादिशून्यम्, त्वाम्=शकारम्, त्यजामि= परिहरामि । प्रहर्षिणी वृत्तम् ।। ४१ ।।

अर्थ—शकार—भाव ! प्रसन्न हो जाओ, प्रसन्न हो जाओ । आओ इस कमलों वाले तालाव में घुस कर स्नान करें ।

विटः—अपतितमपि तावत् सेवमानं भवन्तं
पतितमिव जनोऽयं मन्यते मामनार्यम्।
कथमहमनुयायां त्वां हतस्त्रीकमेनं
पुनरपि नगरस्त्री-शङ्किताद्धक्षिदृष्टम्॥ ४२॥

अन्वयः—अयम्, जनः, अपतितम्, अपि, माम्, भवन्तम् सेवमानम्, पतितम्, इव, अनार्यम्, मन्यते, तावत्, अहम्, हतस्त्रीकम्, नगरस्त्रीशङ्किताद्धक्षिदृष्टम्, एनम्, त्वाम्, पुनरपि, कथम्, अनुयायाम्॥ ४२॥

शब्दार्थ—अयम्=यह पुरवासी, जनः=लोग, अपतितम् = अपतित, अपि=भी, माम्=मुझे, भवन्तम्=आपकी, भजमानम् = सेवा करने वाले को, पतितम्=पतित, इव = के समान, अनार्यम्=दूषित, मन्यते = मानते हैं, तावत् = निश्चित रूप से। अहम् = मैं विट, हतस्त्रीकम्=स्त्री की हत्या करने वाले, नगर-स्त्री-शंकिताद्धक्षि-दृष्टम् = नगर की स्त्रियों द्वारा शङ्कायुक्त आधी खुली हुई आखों के द्वारा देखे गये, एनम्=इस, सामने खड़े हुये, त्वाम् = तुम्हारा, पुनरपि=फिर से, कथम्=किस प्रकार, अनुयायाम्=अनुगमन करें, अर्थात् तुम्हारे पीछे चलना अब मेरे लिये सम्भव नहीं है॥ ४२॥

अर्थ—विट—

नगरवासी लोग अपतित भी मुझे आपकी सेवा करने वाला देखकर (पतित की सेवा करने वाला देखकर) पतित के समान दूषित मानने लगेंगे। मैं स्त्री की हत्या करने वाले, नगर की स्त्रियों की शङ्कायुक्त अध खुली आँखों से देखे गये तुम्हारे पीछे अब फिर कैसे चल सकता हूँ। [अर्थात् तुम्हारे साथ चलना असम्भव है]॥ ४२॥

टीका—दुर्जनसंगत्या सज्जनस्यापि निन्दा लोके दृश्यते इति प्रतिपादयितु-माह–अपतितमिति। अयम्=नगरवासीत्यर्थः, जनः=लोकः, अपतितम्=पापकारि-णम्, अपि, माम्=विटम्, भवन्तम्=त्वाम्, स्त्रीहतकं शकारमित्यर्थः, सेवमानम्=भजन्तम्, पतितम्=पापमनुतिष्ठन्तम्, इव, अनार्यम्=असाधुम्, मन्यते=सम्भावयति, तावत् = इदं निश्चये। अहम् = विटः, समाजे प्रतिष्ठितः, हतस्त्रीकम्=स्त्रीवध-कारिणम् अत एव, नगरस्त्रीभिः = उज्जयिनीनारीभिः, शङ्कितम् = सन्दिग्धं यथा स्यात् तथा, वसन्तसेनामिव मामपि न कदाचिद् हन्यादिति सन्देहपूर्वकमिति भावः, अर्धाक्षिभिः = संकुचितनेत्रैः, दृष्टः=वीक्षितः, यस्तम्, यद्वा शंकितैः = संशयग्रस्तैः, अर्धैः=अर्धोन्मीलितैः अक्षिभिः, दृष्टः=अवलोकितः, तम्, एनम्=पुरोवर्तिनम्, त्वाम्=भवन्तं शकारम्, पुनरपि = भूयोऽपि, पूर्ववदित्यर्थः, कथम् = केन प्रकारेण, अनु-यायाम् = अनुगच्छेयम्? न कथमपि गच्छेयमिति भावः। ईदृशानुचितकार्या-

(सकरुणम्) **वसन्तसेने !**

अन्यस्यामपि जातौ मा वेश्या भूस्त्वं हि सुन्दरि ! ।
चारित्र्यगुणसम्पन्ने ! जायेथा विमले कुले ॥ ४३ ॥

नुष्ठातुः, तवानुगमनं मया कथमपि कर्तुं न शक्यते इति विटस्याभिप्रायः । अत्र पतितत्वस्य अनार्यत्वबोधस्य स्त्रीहत्यायाश्च विशेषणतया अनुगमनाशङ्काहेतुत्वात् काव्यलिङ्गमलङ्कारः । मालिनीवृत्तम् ॥ ४२ ॥

विमर्श—विट का आशय यह है कि यदि अच्छा आदमी भी नीच की सेवा में लग जाता है तो समाज उसके अच्छे होने पर भी बुरी नजर से ही देखता है। अतः वह किसी भी स्थिति में स्त्रीहत्यारे शकार का साथ निभाना नहीं चाहता है ॥ ४२ ॥

अन्वयः—हे सुन्दरि ! अन्यस्याम्, जातौ, अपि, त्वम्, वेश्या, मा भूः, हे चारित्र्यगुणसम्पन्ने, विमले, कुले, जायेथाः ॥ ४३ ॥

शब्दार्थ—हे सुन्दरि ! =हे सुन्दरी !, अन्यस्याम् = दूसरे, जातौ = जन्म में, अपि=भी, त्वम्=तुम, वेश्या=वेश्या, मा भूः = मत होना, चारित्र्यगुणसम्पन्ने ! = चरित्र और गुणों से युक्त !, विमले = पवित्र, निष्कलंक, कुले= वंश में, जायेथाः = उत्पन्न होना ॥ ४३ ॥

अर्थ—(करुणापूर्वक) हे वसन्तसेने !

हे सुन्दरि ! दूसरे जन्म में भी तुम वेश्या मत होना । हे चरित्र और गुणों से युक्त ! पवित्र कुल में जन्म लेना ॥ ४३ ॥

टीका—ईदृशगुण-सम्पन्नायाः वसन्तसेनायाः भावि जन्म वेश्याकुले न भवेदिति आशास्ते विटः—अन्येति । हे सुन्दरि ! = हे सुरूपे !, अन्यस्याम् = अपरस्याम्, जातौ= जन्मनि, 'जातिः सामान्य जन्मनो' रित्यमरः, अपि, वेश्या = गणिका, मा भूः =न भूयाः, माङो योगाल्लुङ्, चारित्र्यम् = शीलत्वम्, गुणाः= दयादाक्षिण्यादयः, तैः सम्पन्ना, तत्सम्बुद्धौ, सुचरित्रे !, सद्गुणशालिनि ! इत्यर्थः, यद्वा, 'चारित्र्यगुण-सम्पन्ने' इदं 'कुले' इत्यस्य विशेषणम्, विमले = पवित्रे, निष्कलंके, कुले=वंशे, जायेथाः=उत्पद्येथाः । एतदतिरिक्तं मया किं प्रार्थनीयमिति तद्भावः ॥ ४३ ॥

विमर्श—'चारित्र्यगुणसम्पन्ने' चरित्र शब्द से स्वार्थ में ष्यञ् होने से दोनों शब्द समानार्थक हैं । कुछ लोग इसे सम्बोधनान्त मानकर 'वसन्तसेना' का विशेषण मानते हैं । कुछ लोग इसे 'कुले' का विशेषण मानते हैं । दोनों ही ठीक हैं ॥ ४३ ॥

शब्दार्थ—आवुत्तस्य = बहनोई का, प्रासाद—बालाग्रप्रतोलिकायाम् =महल के ऊपर नये बने कमरे में, आत्मपरित्राणे = अपनी रक्षा के लिये, निगडपूरितम् =

शकारः––मम केलके पुष्फकलण्डकजिण्णुज्जाणे वशन्तशेणिअं मालिअ कहिं पलाअसि ? एहि, मम आवुत्तश्श अग्गदो ववहालं देहि। (मदीये पुष्पकरण्डक–जीर्णोद्याने वसन्तसेनां मारयित्वा कस्मिन् पलायसे ? एहि, मम आवुत्तस्य अग्रतो व्यवहारं देहि ।) (इति धारयति)

विटः— आः ! तिष्ठ जाल्म ! (इति खड्गमाकर्षति)।

शकारः––(सभयमुपसृत्य) किं ले ! भोदेशि ? ता गच्छ। (किं रे ! भीतोऽसि ? तद्गच्छ ।)

विटः—(स्वगतम्) न युक्तमवस्थातुम्। भवतु, यत्र आर्यशर्विलक–चन्दनकप्रभृतयः सन्ति, तत्र गच्छामि। (इति निष्क्रान्तः ।)

शकारः––णिधणं गच्छ। अले थावलका ! पुत्तका। कीलिशे मए किदे ? (निधनं गच्छ । अरे स्थावरक ! पुत्रक ! कीदृशं मया कृतम् ?)

चेटः– भट्टके ! महन्ते अकज्जे किदे। (भट्टक ! महदकार्यं कृतम् ।)

शकारः––अले चेड ! किं भणाशि अकज्जे किडेत्ति ? भोदु, एव्वं दाव। (नानाभरणान्यवतार्य) गेण्ह एदं अलङ्कालअं, मए दावदिण्णे जेत्तिके वेले अलङ्कलेमि, तेत्तिकं वेलं मम अण्णं तव। (अरे चेट ! किं भणसि अकार्यं कृतमिति ? भवतु, एवं तावत् ।) (गृहाण इममलङ्कारं मया ताव–द्दत्तम्, यावत्यां वेलायामलङ्करोमि, तावतीं वेलां मम अन्यदा तव ।)

बेड़ी पहनाकर, मन्त्रः = हत्यारूपी गुप्त योजना, सुमृता = अच्छी प्रकार मर गई, प्रावारकेण=दुपट्टे से, प्रत्यभिजानाति = पहचान लेता है, वातालीपुञ्जितेन=अन्धड़ से एकत्रित किये गये, व्यवहारम्=मुकदमा, व्यापादिता=मार डाली ।

अर्थ––शकार––मेरे पुष्पकरण्डक नामक जीर्णोद्यान में वसन्तसेना को मार कर कहाँ भाग रहे हो ? चलो, मेरे बहनोई के सामने अपनी सफाई दो। (ऐसा कह कर पकड़ लेता है।)

विट—अरे नीच ! ठहर जा। (यह कह कर तलवार खींच लेता है।)

शकार––(भय के साथ हटकर) अरे ! क्या तुम डर गये ? तो जाओ।

विट––(अपने में) अब (यहाँ) रुकना ठीक नहीं है। अच्छा, जहाँ आर्य शर्विलक चन्दनक आदि हैं, वहीं चलता हूँ। (इस प्रकार निकल जाता है।)

शकार मर जाओ। अरे स्थावरक चेटा ! मैंने कैसा किया ?

चेट–स्वामिन् ! बहुत अनुचित किया।

शकार––अरे चेट ! क्या कह रहे हो––अकार्य = अनुचित कार्य किया है ? अच्छा ऐसा करूँ (अनेक गहने उतार कर) इन गहनों को ले लो। मैंने दे दिये हैं, जब तक पहनता हूँ तब तक मेरे हैं और दूसरे समय में तुम्हारे।

चेटः—भट्टके ज्जेव एदे शोहन्ति, किं मम एदेहिं ? (भट्टके एव एते शोभन्ते, किं मम एतैः ?)

शकारः—ता गच्छ, एदाइं गोणाइं गेण्हिअ मम केलिकाए पाशाद-वालग्गपादोलिआए चिट्ठ, जाव हग्गे आअच्छामि । (तद् गच्छ, एतौ गावौ गृहीत्वा मदीयायां प्रासाद-बालाग्रप्रतोलिकायां तिष्ठ, यावदहमागच्छामि ।)

चेटः—जं भट्टके आणवेदि । (यद्भट्टक आज्ञापयति ।) (इति निष्क्रान्तः ।)

शकारः—अत्तपलित्ताणे भावे गदे अदंशणं, चेडं वि पाशाद-बालग्ग-पदोलिआए णिगलपूलिदं कदुअ थावइश्शं । एव्वं मन्ते लक्खिदे भोदि । ता गच्छामि । अधवा, पेक्खामि दाव एदं, किं एशा मिदा अधवा पुणो वि मालइश्शं । (अवलोक्य) कधं शुमिदा । भोदु, एदिणा पावालएण पच्छादेमि णं । अधवा णामङ्किदे एशे, ता के वि अज्जपुलिशे पच्चहिजा-णेदि । भोदु, एदिणा वादालीपुञ्जिदेण शुक्ख-पण्ण-पुडेण पच्छादेमि । (तथा कृत्वा विचिन्त्य) भोदु, एव्वं दाव, शम्पदं अधिअलणं गच्छिअ ववहालं लिहावेमि । जहा अत्थश्श कालणादो शत्थवाह–चालुदत्ताकेण मम केलकं पुप्फकलण्डकं जिण्णुज्जाणं पवेशिअ वशन्तशेणिआ वावादिदे-त्ति । (आत्मपरित्राणे भावो गतः अदर्शनम् । चेटमपि प्रासादबालाग्रप्रतोलिकायां निगडपूरितं कृत्वा स्थापयिष्यामि । एवं मन्त्रो रक्षितो भवति । तद्गच्छामि । अथवा, पश्यामि तावदेनाम्, किमेषा मृता । अथवा पुनरपि मारयिष्यामि । कथं सुमृता । भवतु, एतेन प्रावारकेण प्रच्छादयामि एनाम् । अथवा नामाङ्कित एषः, तत् कोऽपि आर्यपुरुषः प्रत्यभिजानाति । भवतु, एतेन वातालीपुञ्जितेन शुष्कपर्णपुटेन प्रच्छादयामि । भवतु, एवं तावत् साम्प्रतमधिकरणं गत्वा व्यव-

---

चेट—ये (गहने) स्वामी पर ही अच्छे लगते हैं, मुझसे इनसे क्या ?

शकार—तो जाओ, इन दोनों बैलों को लेकर मेरी क्रीडा के लिये बने महल की अटारीवाली गली में ठहरो, तब तक मैं आता हूँ ।

चेट—स्वामी की जैसी आज्ञा ।

शकार—भाव अपनी रक्षा के लिये चला गया । चेट को भी महल की नवनिर्मित अटारी वाले कमरे में बेड़ियों से जकड़ कर रखूँगा, इस प्रकार से यह गुप्त कार्य सुरक्षित रहेगा । तो चलता हूँ । अथवा, इसको देखूँ कि यह मरी ? अथवा फिर मार डालूँगा । (देखकर) क्या, अच्छी तरह मर गई । अच्छा, इस दुपट्टे से इसे ढक दूँ । अथवा, इसमें नाम लिखा हुआ है, इसलिये कोई भी शिक्षित व्यक्ति पहचान लेगा । अच्छा, अन्धड़ से एकत्रित इन पत्तों के समूह से ढक देता हूँ । (ढक कर और सोंचकर) अब कचहरी में जाकर मुकदमा लिखवा

द्वारं लेखयामि। यथा; अर्थस्य कारणात् सार्थवाहचारुदत्तेन मदीयं पुष्पकरण्डकं जीर्णोद्यानं प्रवेश्य वसन्तसेना व्यापादितेति।)

चालुदत्तविणाशाय कलेमि कवडं णवं।
णअलीए विशुद्धाए पशुघादं व्व दालुणं॥ ४४॥

(चारुदत्तविनाशाय करोमि कपटं नवम्।
नगर्यां विशुद्धायां पशुघातमिव दारुणम्॥ ४४॥)

भोदु, गच्छामि। (इति निष्क्रम्य दृष्ट्वा सभयम्) **अविदमादिके! जेण जेण गच्छामि मग्गेण, तेण ज्जेव एशे दुट्टशमणके गहिदकाशाओदकं चीवलं गेण्हिअ आअच्छदि। एशे मए णशि छिदिअ वाहिदे किदवेले कदावि मं पेक्खिअ 'एदंण मालिदे' त्ति पआशइश्शदि। ता कधं गच्छामि।** (अवलोक्य) **भोदु, एदं अद्धपडिदं पाआलखण्डं उल्लङ्घिअ गच्छामि।**

देता हूँ, इस प्रकार—'सार्थवाह चारुदत्त ने मेरे पुष्पकरण्डक जीर्णोद्यान में धन के लिये ले जाकर वसन्तसेना को मार डाला है।'

टीका—आवुत्तस्य=भगिनीपत्युः, व्यवहारम् = स्वनिर्दोषताप्रमाणम्, देहि=प्रदर्शय, निधनम्=मरणम्, अकार्यम्=अनुचितं कार्यम्, प्रासादबालाग्रप्रतोलिकायाम्=प्रासादस्यान्तरे बाला=नवनिर्मिता या अग्रप्रतोलिका=उत्कृष्टरथ्या, तस्याम्, निगडपूरितम्=निगडबद्धम्, मन्त्रः=वसन्तसेना-वधरूपं जघन्य कृत्यम्, प्रत्यभिजानाति=सम्यग् ज्ञातुं शक्नोतीति भावः, आर्यपुरुषः=शिक्षितो जनः, वातस्य=पवनस्य आलिः=समूहः='बवण्डर' इति भाषायाम्, तया पुञ्जितेन=एकत्रितेन, अधिकरणम्=न्यायालयम्, अर्थस्य=धनस्य, प्रवेश्य=नीत्वा, व्यापादिता=मारिता॥

अन्वयः—(अस्याम्), विशुद्धायाम्, नगर्याम्, दारुणम्, पशुघातम्, इव, चारुदत्त-विनाशाय, नवम्, कपटम्, करोमि॥ ४४॥

शब्दार्थ—(अस्याम्=इस उज्जयिनी), विशुद्धायाम्=पवित्र, नगर्याम=नगरी में, दारुणम्=कष्ट-कारक, भयङ्कर, पशुघातम्=पशुवध, इव=के समान, चारुदत्त-विनाशाय=चारुदत्त के विनाश के लिये, नवम्=नये, कपटम=छल को, करोमि=करता हूँ॥ ४४॥

अर्थ—इस पवित्र उज्जयिनी नगरी में कष्टकारक (भयंकर) पशुवध के समान चारुदत्त का वध करने के लिये नया छल रचाता हूँ॥ ४४॥

टीका—वसन्तसेनां मारयित्वापि चारुदत्तविनाशोपायं चिन्तयति—चारुदत्तेति। अस्याम्, विशुद्धायाम्=पवित्रायाम्, नगर्याम्=पुर्याम्, उज्जयिन्याम् दारुणम्=कष्टकारकम्, भयङ्करम्, पशुघातम्=पशोः वधम् इव, चारुदत्तस्य विनाशाय=वधार्थम् नवम्=नवीनम्, कपटम्=छलम्, करोमि=रचयामि॥ पथ्यावक्त्रं वृत्तम्॥ ४४॥

(भवतु, गच्छामि। अविदमादिके ! येन येन गच्छामि मार्गेण, तेनैव एष दुष्ट-श्रमणकः गृहीतकाषायोदकं चीवरं गृहीत्वा आगच्छति। एष मया नासां छित्वा वाहितः कृतवैरः कदापि मां प्रेक्ष्य 'एतेन मारिता' इति प्रकाशयिष्यति। तत् कथं गच्छामि ? भवतु एतदर्द्धपतितं प्राकारखण्डमुल्लङ्घ्य गच्छामि।)

एशो म्हि तुलिद-तुलिदे लङ्का-णअलीए गअणे गच्छन्ते।
भूमीए पाआले हणूमशिहले विअ महेन्दे ॥ ४५ ॥

(एषोऽस्मि त्वरित-त्वरितो लङ्कानगर्यां गगने गच्छन्।
भूम्यां पाताले हनूमच्छिखरे इव महेन्द्रः ॥ ४५ ॥)

(इति निष्क्रान्तः।)

अर्थ—अच्छा चलता हूँ। (निकलकर, देखकर, भयसहित) ओह; जिस जिस रास्ते से जाता हूँ उसी उसी रास्ते से यह दुष्ट बौद्ध संन्यासी कसैले रंगवाले चीवर को लेकर आ जाता है। इसे मैंने नाक छेद कर बाहर निकाल दिया था अतः शत्रुता बनाने वाला कदाचित् मुझे देखकर 'मैंने मार डाली है' ऐसा प्रकाशित कर देगा। तो कैसे चलूँ ? (देखकर) अच्छा, इस आधी गिरी हुई चहारदीवारी को लांघ कर जाता हूँ।

अन्वयः—एषः, अस्मि, आकाशे, भूम्याम्, पाताले, हनुमच्छिखरे, लंका-नगर्याम्, गच्छन्, महेन्द्रः, इव, त्वरितत्वरितः, [गच्छामि] ॥ ४५ ॥

शब्दार्थ—एषः=यह, अस्मि=(मैं शकार), आकाशे=आकाश में, भूम्याम्=जमीन में, पाताले=पाताल में, हनुमच्छिखरे=हनुमान् की चोटी पर, लंकानगर्याम्=लंका नगरी में, गच्छन्=जाता हुआ, महेन्द्रः=इन्द्र, इव=के समान, त्वरित-त्वरितः=जल्दी-जल्दी, (गच्छामि=जा रहा हूँ।) ॥ ४५ ॥

अर्थ—यह मैं आकाश में, जमीन में, पाताल में हनुमान् की चोटी पर और लंका नगरी में जाता हुआ महेन्द्र के समान जल्दी-जल्दी जा रहा हूँ ॥ ४५ ॥

(ऐसा कह कर निकल जाता है।)

टीका—शकारः स्वगमनस्य हनुमता साम्य प्रतिपादयन्नाह-एष इति। एषः=पूर्वोक्तः, अस्मि=अहम् शकारः, आकाशे=गगने, भूम्याम्=धरायाम्, पाताले=भूमि-तलस्याधोभागे, हनुमच्छिखरे=हनुमच्छृङ्गे, अत्र महेन्द्रश्शृङ्गे इति वक्तव्ये मूर्खतया व्यत्यासं कृत्वाह, लङ्कानगर्याम्=रावणपालितपुर्याम्, महेन्द्रः=महेन्द्रपर्वतः, इव, 'हनुमान् इवे' ति वक्तव्ये मूर्खतया महेन्द्र इवेति वदति स्म, त्वरितत्वरितः=अतित्वरायुक्तः गच्छामि। यथा हनुमान् महेन्द्र-पर्वतस्य शृङ्गं गतवान् इति वक्तव्ये मूर्खतया 'महेन्द्रः हनुमच्छिखरे यथा गतवान्' इति शकारः वदति स्म। तस्य मूर्खता-युक्तानि वचनानि सह्यानीति भावः। आर्या वृत्तम् ॥ ४५ ॥

विमर्श—हनुमान् ने महेन्द्र पर्वत का शिखर लांघा था। किन्तु शकार अपनी मूर्खता के कारण उल्टी बात कहता है 'महेन्द्र ने जैसे हनुमान् पर्वत की चोटी पार की थी।' ॥ ४५ ॥

(प्रविश्य अपटीक्षेपेण)

संवाहको भिक्षुः—पक्खालिदे एश मए चीवलखण्डे, किं णु क्खु शाहाए शुक्खावइश्शं ? इध वाणला विलुम्पन्ति । किं णु क्खु भूमीए ? धूलीदोशे होदि । ता कहिं पशालिअ शुक्खावइश्शं । (दृष्ट्वा) भोदु, इध वादालीपुञ्जिदे शुक्ख–वत्त–शञ्चए पशालइश्शं । (तथा कृत्वा) णमो बुद्धश्श । (इत्युपविशति ।) भोदु, धम्मक्खलाइ उदाहलामि । ('पञ्च जण जेण मालिदा' इत्यादि पूर्वोक्तं पठति ।) अधवा, अलं मम एदेण शग्गेण । जाव ताए वसन्तशेणिआए बुद्धोवाशिआए पच्चुवकालं ण कलेमि, जाए दशाणं शुवण्णकाणं किदे जूदिकलेहिं णिक्कीदे, तदो पहुदि ताए किदं विअ अत्ताणअं अवगच्छामि । (दृष्ट्वा) किं णु क्खु पण्णोदले शमुश्शशदि ? अधवा—

(प्रक्षालितमेतन्मया चीवरखण्डम् । किं नु खलु शाखायां शोषयिष्यामि ? इह वानरा विलुम्पन्ति । किं नु खलु भूम्याम् ? धूलिदोषो भवति । तत् कुत्र प्रसार्य्य शोषयिष्यामि ? भवतु, इह वातालीपुञ्जिते शुष्क–पत्रसञ्चये प्रसारयिष्यामि । नमो बुद्धाय । भवतु, धर्माक्षराणि उदाहरामि । अथवा अलं ममैतेन स्वर्गेण । यावत्तस्या वसन्तसेनायाः बुद्धोपासिकायाः प्रत्युपकारं न करोमि, यया दशानां सुवर्णकानां कृते द्यूतकाराभ्यां निष्क्रीतः, ततः प्रभृति तया क्रीतमिवात्मानमवगच्छामि । किं नु

शब्दार्थ—अपटीक्षेपेण=बिना पर्दा हटाये, चीवरखण्डम्=वस्त्रविशेष का टुकड़ा, धर्माक्षराणि=धर्म के अक्षरों को, तस्याः=उस वसन्तसेनाका, निष्क्रीतः=मुक्त कराया गया, खरीदा हुआ, पर्णोदरे=पत्तों के बीच में ।

(बिना पर्दा हटाये प्रवेश करके)

अर्थ—संवाहक भिक्षु—मैंने यह चीवर (वस्त्र) का टुकड़ा धो लिया है । तो क्या पेड़ की शाखा पर सुखा लूँ ? यहाँ बन्दर लेकर भाग जायेंगे । तो क्या जमीन पर सुखाऊँ ? इससे धूल लग जायगी । तब फिर कहाँ फैलाकर सुखाऊँ ? (देख कर) अच्छा, यहाँ बवण्डर से एकत्रित सूखे पत्तों के ढेर पर सुखाऊँगा । (उसी प्रकार फैलाकर) बुद्ध भगवान् को प्रणाम । (ऐसा कह कर बैठ जाता है ।) अथवा धार्मिक अक्षरों का उच्चारण करता हूँ । ('जिसने पाँच लोगों=इन्द्रियों को मार डाला'—इत्यादि पूर्वोक्त इसी अंक का दूसरा श्लोक पढ़ता है ।) अथवा, मुझे इस स्वर्ग से क्या लेना देना । जब तक उस बुद्धोपासिका (वसन्तसेना) का बदला नहीं चुका लेता हूँ, जिसने दश सोने के सिक्कों के लिये मुझे दोनों जुआरियों से मुक्त कराया था, उस समय से लेकर अपने को उसके द्वारा खरीदा हुआ सा समझ रहा हूँ । (देखकर) अरे पत्तों के बीच में यह कौन सांस ले रहा है ? अथवा—

खलु पर्णोदरे समुच्छ्वसिति ? अथवा—

वादादवेण तत्ता चीवल-तोएण तिम्मिदा पत्ता ।
एदे विथिण्णपत्ता मण्णे पत्तण विअ फुल्लन्ति ॥ ४६ ॥
(वातातपेन तप्तानि चीवरतोयेन स्तिमितानि पत्राणि ।
एतानि विस्तीर्णपत्राणि मन्ये पत्राणीव स्फुरन्ति ॥ ४६ ॥)

टीका—अपटीक्षेपेण=स्वयमेव जवनिकामुद्घाट्य सहसा, चीवरस्य=वस्त्र-विशेषस्य, खण्डम्=भागम्, विलुम्पन्ति=नीत्वाऽन्यत्र प्रयास्यन्तीति भावः, वातालीपुञ्जिते=वात-समूहेनैकत्रिते, धर्माक्षराणि=धर्मजनकशब्दान्, तस्याः=पूर्वोक्तायाः साहाय्यकर्त्र्याः वसन्तसेनाया इत्यर्थः, निष्क्रीतः=मुक्तिं प्रापितः, पर्णोदरे=पत्राणामाभ्यन्तरे, समुच्छ्वसिति=श्वासं गृह्णातीत्यर्थः ।

अन्वयः—वातातपेन, तप्तानि, चीवरतोयेन, स्तिमितानि, एतानि, पत्राणि, विस्तीर्णपत्राणि, पत्राणि, इव, स्फुरन्ति, इति, मन्ये ॥ ४६ ॥

शब्दार्थ—वातातपेन=हवा के साथ धूप से, तप्तानि=सूखे, चीवरतोयेन=चीवर=वस्त्रखण्ड से (निकले हुये) पानी से, स्तिमितानि=सिंचे हुये, एतानि=ये, पत्राणि=पत्ते, विस्तीर्णपत्राणि=फैले हुये पंखो वाले, पत्राणि=पक्षियों (के पंखों), इव=के समान, स्फुरन्ति=हिल रहे हैं, इति=ऐसा, मन्ये=मैं समझता हूँ ॥ ४६ ॥

अर्थ—हवा के साथ धूप से सुखाये गये, (किन्तु) चीवर के निचोड़ने से निकले पानी से सिंचे हुये ये पत्ते फैले हुये पंखों वाले पक्षियों के पखों के समान हिल रहे हैं ॥ ४६ ॥

टीका—पुञ्जितानां पर्णानां स्पन्दनं विलोक्य भिक्षुः इदं सम्भावयन्नाह-वातेति । वातेन सहित आतपः=घर्मः, तेन तप्तानि=शुष्कतां गतानि, किन्तु चीवरतोयेन=यतीनां वस्त्रविशेषखण्डात् निःसृतजलेन, स्तिमितानि=सिक्तानि, एतानि=पुरोविद्यमानानि, पत्राणि=पल्लवानि, विस्तीर्णपत्राणि=विस्तारितानि पक्षाणि येषां तानि, पत्राणि=पक्षिणां पक्षाणि, इव=यथा, स्फुरन्ति=स्पन्दन्ते, इति मन्ये=सम्भावयामि एवञ्चैतानि पत्राण्येव नान्यत् किञ्चिदिति तद्भावः । पृथ्वीधरस्तु-वातातपेन तप्तानि चीवरतोयेन स्तिमितत्वमार्द्रत्वं प्राप्तानि, स्तिमितानीति भाव-प्रधाननिर्देशः, एतानि विस्तीर्णं प्राप्तं प्रसारितं यत्र तानि, मन्ये पत्राण्येव विजृम्भन्ते । उपमालङ्कारः । आर्या वृत्तम् ॥ ४६ ॥

शब्दार्थ—संज्ञाम्=चेतना को, प्रत्यभिजानामि=पहचानता हूँ, वृद्धोपासिका=भगवान् वुद्ध की सेविका, आकाङ्क्षति=मागती है, दीर्घिका=बावड़ी, गालयिष्यामि=निचोड़ दूंगा, पटान्तेन=वस्त्र के किनारे से, बीजयति=हवा करता है । उपरता=मरी हुई, वेशभावस्य=वेश्यापन के, विहारे=बौद्धविहार में, धर्मभगिनी=धर्म की बहिन, शुद्धः=निर्दोष ।

(वसन्तसेना संज्ञां लब्ध्वा हस्तं दर्शयति ।)

भिक्षुः—हा हा ! शुद्धालङ्कालभूशिदे इत्थिआहत्थे णिक्कमदि । कधं दुदिए वि हत्थे ? (बहुविधं निर्वर्ण्य) पच्चभिआणामि विअ एदं हत्थं । अथवा, किं विचालेण ? शच्चं श ज्जेव हत्थे, जेणा मे अभअं दिण्णं । भोदु, पेक्खिश्शं । (नाट्येनोद्घाट्य दृष्ट्वा प्रत्यभिज्ञाय च) शा ज्जेव बुद्धोवाशिआ । (हा हा ! शुद्धालङ्कारभूषितः स्त्रीहस्तो निष्क्रामति ।) (कथं द्वितीयोऽपि हस्तः ? प्रत्यभिजानामीव एतं हस्तम् । अथवा, किं विचारेण, सत्यं स एव हस्तः, येन मे अभयं दत्तम् । भवतु, प्रेक्षिष्ये ।) (सैव बुद्धोपासिका ।)

(वसन्तसेना पानीयमाकाङ्क्षति ।)

भिक्षुः—कधं उदअं मग्गेदि, दूले च दिग्घिआ । किं दाणिं एत्थ कलाइश्शं ? भोदु, एदं चीवलं शे उवलि गालइश्शं । (कथमुदकं याचते दूरे च दीर्घिका । किमिदानीमत्र करिष्यामि ? भवतु, एतच्चीवरमस्या उपरि गालयिष्यामि ।) (तथा करोति ।)

(वसन्तसेना संज्ञां लब्ध्वा उत्तिष्ठति । भिक्षुः पटान्तेन वीजयति ।)

वसन्तसेना—अज्ज ! को तुमं ? (आर्य्य ! कस्त्वम् ?)

भिक्षुः—किं मं ण शुमलेदि बुद्धोवाशिआ दश–शुवण्णणिक्कीदं ? (किं मां न स्मरति बुद्धोपासिका दश–सुवर्ण–निष्क्रीतम् ?)

अर्थ—(वसन्तसेना होश में आकर हाथ दिखाती है ।)

भिक्षु—हाय, हाय, शुद्ध गहनों से सजा हुआ स्त्री का हाथ बाहर निकल रहा है । क्या, दूसरा भी हाथ (निकल रहा है) ? (अनेक प्रकार से देख कर) इस हाथ को पहचानता सा हूँ । अथवा, सोचना क्या, सचमुच वही हाथ है जिसने मुझे अभयदान दिया था । अच्छा, देखता हूँ । (अभिनय के साथ पत्तों को हटा कर देख कर और पहचान कर) वही बुद्धोपासिका (वसन्तसेना) है ।

(वसन्तसेना पानी मांगती है ।)

भिक्षु—क्या, पानी मांग रही है ? और बावड़ी दूर है । अब यहाँ क्या करूँ ? अच्छा, यह चीवर इसके ऊपर निचोड़ता हूँ । (चीवर निचोड़ने लगता है ।)

(वसन्तसेना होश में आकर उठ बैठती है । भिक्षु कपड़े के छोर से हवा करता है ।)

वसन्तसेना—आर्य ? आप कौन है ?

भिक्षु—क्या बुद्धोपासिका आप दश सोने के सिक्कों से खरीदे हुये मुझे नहीं याद कर पा रहीं हैं ?

वसन्तसेना——सुमरामि ण उण जधा अज्जो भणादि। वरं अहं उवरदा ज्जेव। (स्मरामि, न पुनर्यथा आर्यो भणति। वरमहमुपरतैव।)

भिक्षुः——बुद्धोवाशिए ! किं ण्णेद ? (बुद्धोपासिके ! किं नु इदम् ?)

वसन्तसेना——(सनिर्वेदम्) जं सरिसं वेसभावस्स। (यत् सदृशं वेश-भावस्य।)

भिक्षुः——उट्ठेदु उट्ठेदु बुद्धोवासिआ एदं पादव-समीवजादं लदं ओलम्बिअ। (उत्तिष्ठतु उत्तिष्ठतु बुद्धोपासिका एतां पादपसमीप–जातां लतामव-लम्ब्य।) (इति लतां नामयति।) (वसन्तसेना गृहीत्वा उत्तिष्ठति।)

भिक्षुः——एदश्शिं विहाले मम धम्मवहिणिआ चिट्ठदि, तहिं शमश्शशिदमणा भविअ उवाशिआ गेहं गमिश्शदि। ता शेणं शेणं गच्छदु बुद्धोवाशिआ। (इति परिक्रामति। दृष्ट्वा) ओशलध अज्जा ! ओशलध। एशा तलुणी इत्थिआ, एशो भिक्खु त्ति शुद्धे मम एशे धम्मे। (एतस्मिन् विहारे मम धर्मभगिनी तिष्ठति, तस्मिन् समाश्वस्तमना भूत्वा उपासिका गेहं गमिष्यति। तत् शनैः शनैः गच्छतु बुद्धोपासिका।) (अपसरत आर्य्याः ! अपसरत। एषा तरुणी स्त्री, एष भिक्षुरिति शुद्धो मम एष धर्म्मः।)

वसन्तसेना——याद कर रही हूँ, किन्तु जैसा आप कह रहे हैं वैसा नहीं। इससे तो मैं मरी हुई ही ठीक थी।

भिक्षु——बुद्धोपासिके ! यह क्या है ?

वसन्तसेना——(दुख के साथ) जो वेश्यापन के लायक है।

भिक्षु——इस पेड़ के पास निकली हुई लता को पकड़ कर बुद्धोपासिका आप उठिये, उठिये।

(लता को झुकाता है।)

(वसन्तसेना लता को पकड़ कर उठती है।)

भिक्षु——इस बौद्धविहार में मेरी धर्म की बहिन रहती है, वहाँ आप धैर्य धारण कर (निश्चिन्त होकर) घर चली जाना। अतः बुद्धोपासिका आप धीरे-धीरे चलें। (ऐसा कहकर घूमता है और देखकर) सज्जनों ! हटिये, हटिये। यह जवान औरत है। और यह मैं भिक्षु हूँ, इस कारण मेरा धर्म पवित्र=निर्दोष है।

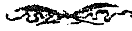
टीका——संज्ञाम्=चेतनाम्, शुद्धैः = निष्कलङ्कैः यद्वा अमिश्रितधातुनिष्पन्नैः, अलङ्कारैः=आभूषणैः, भूषितः=सज्जितः, निष्क्रामति=वातालीपुञ्जात् बहिरागच्छति, प्रत्यभिजानामि=परिचिनोमि, दीर्घिका=वापी, गालयिष्यामि=निष्पीडयिष्यामि, वर्तमानसामीप्ये लट्, पटान्तेन = वस्त्रान्तभागेन, वीजयति = पवनं करोति,

हत्थशञ्जदो मुहशञ्जदो इन्दिअशञ्जदो शे क्खु माणुशे ।
किं कलेदि लाअउले तश्श पललोओ हत्थे णिच्चलो ।। ४७ ।

(हस्तसंयतो मुखसंयत इन्द्रियसंयतः स खलु मनुष्यः ।
किं करोति राजकुलं तस्य परलोको हस्ते निश्चलः ।। ४७ ।।)

(इति निष्क्रान्ताः सर्वे ।)

। इति वसन्तसेनामोटनो नामाष्टमोऽङ्कः ।



दशसुवर्णनिष्क्रीतम्=दशसुवर्णप्रदानेन ऋणाद् मोचयित्वा स्ववशीकृतम्, उपरता=विनष्टा, मृतेति भावः, वेशभावस्य=वेश्यात्वस्य, सदृशम्=अनुरूपम्, नामयति=अवनामयति. गृहीत्वा=आधृत्य; धर्म भगिनी=धर्मवशात्, न जन्मन, भगिनी, भगिनीतुल्येति भावः, समाश्वस्तम्=निश्चिन्ताम्, मनः=चित्तम्, यस्यास्तादृशी एषा=पुरोवर्तमाना वसन्तसेनेत्यर्थः शुद्धः=पवित्रः, भिक्षुः भूत्वा स्त्रीस्पर्शो न करणीय इति स दूरादेव चलतीति तस्य धर्महानिर्नेति भावः ।।

अन्वयः—[यः] हस्तसंयतः, मुखसंयतः, इन्द्रियसंयतः, सः, खलु, मनुष्यः, [अस्ति], राजकुलम्, तस्य, किम्, करोति, तस्य, हस्ते, परलोकः, निश्चलः [वर्तते] ।। ४७ ।।

शब्दार्थ—[यः=जो] हस्तसंयतः=हाथों से संयत है [हाथों से अकार्य नहीं करता है], मुखसंयतः=मुख से संयत [मुख से अनुचित बात नहीं बोलता है], इन्द्रियसंयतः=इन्द्रियों से संयत [चक्षुरादि इन्द्रियों को वश में किये हुये है], सः खलु=वह ही, मनुष्यः=मनुष्य, है, राजकुलम्=राजा से सम्बद्ध लोग, तस्य=पूर्वोक्त पुरुष का, किम्=क्या, करोति=कर सकता है, तस्य=उस [पुरुष] के, हस्ते=हाथ में, परलोकः=स्वर्गलोक, निश्चलः=ध्रुव, है, [उसे कोई रोक नहीं सकता] ।। ४७ ।।

अर्थ—जिसके हाथ संयत हैं, मुख संयत है, इन्द्रियाँ संयत हैं, वही वास्तव में पुरुष है । राजा के लोग उसका क्या कर (बिगाड़) सकते हैं ? उसके हाथ में परलोक ध्रुव (निश्चित) है अर्थात् ऐसे व्यक्ति की स्वर्गप्राप्ति कोई भी नहीं रोक सकता ।। ४७ ।।

(सब निकल जाते हैं ।)

।। इस प्रकार वसन्तसेना का गला मरोड़ना नामक आठवाँ अंक समाप्त हुआ ।।

—: ० :—

टीका—वसन्तसेनामनुगच्छन्तं तं भिक्षुं दृष्ट्वा कश्चित्तस्मिन् सन्देहं कुर्याद्रिति स्वस्य संयतत्वं स्वर्गप्राप्तिध्रुवत्वं च प्रतिपादयन्नाह—हस्तेति । यः मनुष्यः, हस्ताभ्याम् = कराभ्याम् संयतः = नियमितः कराभ्यामकार्यं न करोतीति भावः, मुखेन संयतः = मुखेन आबद्धः, कदाचिदपि परपीडाकरं किञ्चिन्न ब्रूते, इन्द्रियसंयतः=संयतेन्द्रियः, सर्वाणीन्द्रियाणि वशीकृतानि सन्ति, सः = पूर्वोक्तः खलु = एव, मनुष्यः = मानवः, अन्येषां तु मानवजीवनं व्यर्थमिति तद्भावः, राज्ञः = नृपतेः, कुलम् = वंशजाः, सम्बद्धा जना इत्यर्थः, तस्य=पूर्वोक्तस्य संयतस्य, किम्, करोति=कर्तुं शक्नोति ? न किमपीति भावः, हि = यतः, तस्य= पूर्वोक्तस्य पुरुषस्य, हस्ते= करे, परलोकः—स्वर्लोकः, निश्चलः = ध्रुवः । तस्य स्वर्गप्राप्तिः केनापि वारयितुं न शक्येति भावः । एवञ्च वसन्तसेनानुगमनेऽपि तस्मिन् अधर्मशंका न कार्येति बोध्यम् । गीत्युपगीतिमिश्रं वृत्तम् ।। ४७ ।।

।। इस प्रकार जय-शङ्कर-लाल-त्रिपाठि-विरचित 'भावप्रकाशिका' हिन्दी-संस्कृत-व्याख्या में मृच्छकटिक का आठवाँ अंक समाप्त हुआ ।।



नवमोऽङ्कः

(ततः प्रविशति शोधनकः ।)

शोधनकः—आणत्तम्हि अधिअरणभोइएहिं-'अरे सोहणआ ! ववहार-मण्डवं गदुअ आसणाइं सज्जीकरेहि' त्ति । ता जाव अधिअरणमण्डवं सज्जिदुं गच्छामि । (परिक्रम्यावलोक्य च) एदं अधिअरणमण्डवं, एस पविसामि । (प्रविश्य सम्मार्ज्य आसनमाधाय) विवित्त कारिदं मए अधिअरणमण्डवं, विरइदाइं मए आसणाइं, ता जाव अधिअराणिआणं उण णिवेदेमि । (परिक्रम्यावलोक्य च) कधं एसो रट्ठिअस्सालो दुट्ठ-दुज्जण-मणुस्सो इदो एव्व आअच्छदि, ता दिट्ठिपधं परिहरिअ गमिस्सं । (आज्ञप्तोऽस्मि अधिकरणभोजकैः—'अरे शोधनक ! व्यवहारमण्डपं गत्वा आसनानि सज्जीकुरु' इति । तद् यावदधिकरणमण्डपं सज्जितुं गच्छामि । एषोऽधिकरणमण्डपः, एष प्रविशामि । विविक्तः कारितः मया अधिकरणमण्डपः, विरचितानि मया आसनानि । तद् यावदधिकरणिकानां पुनः निवेदयामि । कथमेष राष्ट्रियश्यालो दुष्ट-दुर्जन-मनुष्य इत एव आगच्छति । तदा दृष्टिपथं परिहृत्य गमिष्यामि ।) (इत्येकान्ते स्थितः ।)

शब्दार्थ— शोधनकः=सफाई कर्मचारी, आज्ञप्तः=निर्दिष्ट किया गया, अधिकरणभोजकैः=न्यायालय के अधिकारियों द्वारा, व्यवहारमण्डपम्=मुकदमों के स्थान=न्यायालय को, विविक्तः=(व्यर्थ की चीजों से) रहित, स्वच्छ, अधिकरणिकानाम्=न्यायालय के अध्यक्षों का, दृष्टिपथम्=नजर में आना, परिहृत्य=बचाकर, उज्वलवेशधारी=चमकीले कपड़े पहने ।

(इसके बाद स्वच्छता-कर्मचारी प्रवेश करता है ।)

अर्थ—**शोधनक**—न्यायालयके अधिकारियों ने मुझे यह आज्ञा दी है—'अरे शोधनक ! न्यायालय में जाकर आसनों (= कुर्सियों) को सजा दो ।' इस लिये न्यायालय को सजाने के लिये चलता हूँ । (घूमकर और देखकर) यह न्यायालय है । यह मैं इसमें प्रवेश करता हूँ । (घुसकर, सफाई करके कुर्सियाँ लगा कर) मैंने न्यायालय को साफ=सजा हुआ, करा दिया है । कुर्सियाँ लगवा दीं है । इस लिये अब फिर न्यायाधिकारियों से निवेदन करता हूँ । (घूमकर और देख कर) क्या यह राजा का शाला दुष्ट मनुष्य इधर ही आ रहा है ? तो इसकी आँख बचाकर जाऊँगा ।

(यह कह कर एकान्त=एक ओर खड़ा हो जाता है ।)

(ततः प्रविशति उज्ज्वलवेषधारी शकारः ।)

शकारः—ण्हादेऽह्ं शलिलजलेहिं पाणिएहिं
उज्जाणे उववणकाणण णिशण्णे ।
णालोहिं सह जुवदोहिं इत्थिआहिं
गन्धव्वे विअ शुविदेहिं अङ्गकेहिं ॥ १ ॥

(स्नातोऽहं सलिलजलैः पानीयैरुद्याने उपवनकानने निषण्णः ।
नारीभिः सह युवतीभिः स्त्रीभिः गन्धर्व इव सुविहितैरङ्गकैः ॥ १ ॥)

(इसके बाद स्वच्छ वेषधारी शकार प्रवेश करता है ।)

टीका—शोधनकः=सम्मार्जनादिकर्ता अधिकरणभोजकैः=अधिक्रियते विवादो निर्णयार्थमस्मिन् तदधिकरणम्, तस्य भोजकाः=भोगकारिणः, विचारकारका इति भाव', न्यायविचारकैरिति भावः, व्यवहारः=विवादः, तस्य मण्डपम्=गृहम्, 'विवादो व्यवहारः स्याद्' इत्यमरः । तथा चोक्तं मिताक्षरायाम् —

'विर्नानार्थेऽव सन्देहे हरणं हार उच्यते ।
नानासन्देहहरणाद् व्यवहार इति स्मृतः ॥
परस्परं मनुष्याणां स्वार्थ-विप्रतिपत्तिषु ।
वाक्यात् न्यायात् व्यवस्थानं व्यवहार उदाहृतः ॥''

विविक्तः=विशुद्धः, आसनानि=आसनोपयोगिवस्तूनि, अधिकरणिकानाम्=अधिकरणे नियुक्तानाम्, सम्बन्धसामान्ये षष्ठी, दुष्ट-दुर्जन-मनुष्यः=दुष्टदुर्जनयोः समानार्थतया दुष्टो मनुष्य इत्यर्थः, दृष्टिपथम्=दृष्टिविषयम्, परिहृत्य=परित्यज्य ।

अन्वयः—अहम्, सलिलजलैः, पानीयैः, स्नातः, नारीभिः, युवतीभिः, सह, उद्याने, उपवनकानने, निषण्णः, सुविहितैः, अङ्गकैः, गन्धर्वः, इव, [संवृत्तः अस्मि] ॥ १ ॥

शब्दार्थ—अहम्=मैं शकार, सलिलजलैः=जल से, पानीयैः=पानी से, स्नातः=नहाया हुआ, नारीभिः, युवतीभिः=युवतियों के, सह=साथ, उद्याने=उद्यान में, उपवनकानने=बगीचे में, निषण्णः=बैठा हुआ, सुविहितैः=सजे हुये, अङ्गकैः=अंगों से, गन्धर्वः=गन्धर्व, इव=के समान, [संवृत्तः=हो गया हूँ] ॥ १ ॥

अर्थ—शकार—मैं पानी (जल, सलिल) से नहाया हुआ, युवतियों (स्त्रियों) के साथ, बगीचे (उद्यान, उपवन) में बैठा हुआ गन्धर्व के समान [हो गया हूँ, लग रहा हूँ] ॥ १ ॥

टीका—स्वसौन्दर्यातिशयं प्रकटयन् आत्मनो गन्धर्वतुल्यतामाह शकारः—स्नात इति । अहम्=शकारः, सलिलजलैः=वारिभिः, पानीयैः=उदकैः, त्रयाणामपि समानार्थता, स्नातः=कृतमज्जनः, नारीभिः युवतीभिः=कामिनीभिः, उद्याने=उपवन-कानने=कृत्रिमवने, अरण्ये च, अत्रापि त्रयाणां समानार्थता, निषण्णः=स्थितः,

खणेण गण्ठी खणजूलके मे खणेण वाला खणकुन्तले वा।

खणेण मुक्के खण उद्धचूडे चित्ते विचित्ते हगे लाअशाले ॥ २ ॥

(क्षणेन ग्रन्थिः क्षणजूलिका मे क्षणेन बालाः क्षणकुन्तला वा।

क्षणेन मुक्ताः क्षणमूर्ध्वचूडा चित्रो विचित्रोऽहं राजश्यालः ॥ २ ॥)

आसीनः, सुविहितैः=सुविभूषितैः, अङ्गकैः=अवयवैः, गन्धर्वः=देवगायकः, इव=यथा, संवृत्तः अस्मि। शकारवचनत्वात् पुनरुक्तिर्न दोषायेति बोध्यम्। प्रहर्षिणी वृत्तम् ॥१॥

विमर्श—शकार अपनी प्रशंसा करता हुआ अपने को गन्धर्वतुल्य मानने लगता है। यहाँ 'सलिल जल पानीय' तीनों पर्याय हैं। 'उद्यान उपवन कानन' भी पर्याय हैं। 'नारी युवती' भी अंशतः पर्याय हैं। परन्तु शकार का ऐसा बोलना स्वभाव होने से दोष नहीं है। इसका पाठान्तर भी उपलब्ध होता है ॥ १ ॥

अन्वयः—मे, [केशेषु] क्षणेन, ग्रन्थिः, क्षणजूलिका, [च, भवति], क्षणेन, बालाः, वा, क्षणकुन्तलाः, क्षणेन, मुक्ताः, क्षणम्, ऊर्ध्वचूडाः, [भवन्ति], अहम्, चित्रः, विचित्रः, राजश्यालः [अस्मि] ॥ २ ॥

शब्दार्थ—मे=मेरे, [केशेषु=बालों में], क्षणेन=एक क्षण में, ग्रन्थिः=गाँठ, [बन्ध जाती है], क्षणजूलिका=क्षण में जूड़ा [लग जाता है] क्षणेन=क्षण में, बालाः=सादे बाल, वा=अथवा, क्षणकुन्तलाः=एकक्षण में घुंघराले बाल, क्षणेन=क्षण में, मुक्ताः=बिखरे हुये बाल, क्षणम्=क्षण भर में, ऊर्ध्वचूडाः=ऊपर की ओर जूड़ा वाले [भवन्ति=हो जाते हैं] अहम्=मैं, चित्रः=आश्चर्यकारक, विचित्रः=अद्भुत, राजश्यालः=राजा का शाला, [अस्मि=हूँ] ॥ २ ॥

अर्थ—मेरे [शिर के बालों में] एक क्षण में गाँठ [लग जाती है।] दूसरे क्षण में जूड़ा [बन्ध जाता है।] क्षण भर में सादे बाल [बन जाते हैं।] दूसरे क्षण में घुंघराले बाल हो जाते हैं। दूसरे ही क्षण बिखरे हुये हो जाते हैं, क्षणभर में ऊपर की ओर जूड़ा बन जाते हैं। मैं आश्चर्यकारक अद्भुत राजश्यालक हूँ ॥२॥

टीका—नानाविधकेशविन्यासात् शकारः स्वानुपमं सौन्दर्यं प्रकटयति—क्षणेनेति। मे=मम, शकारस्येत्यर्थः, [केशेषु=शिरस्येषु केशेषु], क्षणेन=क्षणकालम्, ग्रन्थिः=केशबन्धः, क्षणजूलिका=क्षणेन जटाः, क्षणेन=क्षणकालम्, कुन्तलाः=चञ्चलाः, क्षणेन=क्षणकालम्, मुक्ताः=बन्धनशून्याः, क्षणम्, ऊर्ध्वचूडाः=उपरिभागे चूडारूपतां प्राप्ताः, भवन्ति, अहम्=शकारः, चित्रः=आश्चर्यकारकः, विचित्रः=अद्भुतः, राजश्यालः=राष्ट्रियः, अस्मि। उपजातिः वृत्तम् ॥ २ ॥

अवि अ, विश-गण्ठि-गब्भपविट्ठेण विअ कीडएण अन्तलं मग्गमाणेण पाविदं मए महदन्तलं। ता कश्श एदं किविण-चेट्ठिअं पाडइश्शं? (स्मृत्वा) आं शुमलिदं मए--दलिद्द-चालुदत्तश्श एदं किविण-चेट्ठिअं पाडइश्शं। अण्णं च, दलिद्दे क्खु शे, तश्श शव्वं शम्भावीअदि। भोदु, अधिअलणमण्डवं गदुअ अग्गदो ववहालं लिहावइश्शं--जधा चालुदत्तकेण वशन्तशेणोआ मोडिअ मालिदा। ता जाव अधिअलण-मण्डवं ज्जेव गच्छामि। (परिक्रम्यावलोक्य च) एदं तं अधिअलणमण्डवं। एत्थ पविशामि। (प्रविश्यावलोक्य च) कधं आशणाइं दिण्णाइं चिट्ठन्ति। जाव आअच्छन्ति अधिअलणभोइआ, दाव एदश्शिं दुव्वचत्तले मुहुत्तअं उवविशिअ पडिवालइश्शं। (अपि च, विष-ग्रन्थि-गर्भ-प्रविष्टेनेव कीटकेनान्तरं मार्गमाणेन प्राप्तं मया महदन्तरम्। तत् कस्येदं कृपणचेष्टितं पातयिष्यामि ?) (आं, स्मृतं मया, दरिद्रचारुदत्तस्येदं कृपणचेष्टितं पातयिष्यामि। अन्यच्च, दरिद्रः खलु सः, तस्य सर्वं सम्भाव्यते। भवतु, अधिकरणमण्डपं गत्वा अग्रतो व्यवहारं लेखयिष्यामि--यथा चारुदत्तेन मोटयित्वा वसन्तसेना मारिता। तद्यावदधिकरणमण्डपमेव गच्छामि।) (एषोऽधिकरणमण्डपः, अत्र प्रविशामि।) (कथमासनानि दत्तानि तिष्ठन्ति। यावदागच्छन्ति अधिकरणभोजकाः, तावदेतस्मिन् दूर्वाचत्वरे मुहूर्तमुपविश्य प्रतिपालयिष्यामि।) (तथा स्थितः।)

विमर्श--शकार अपने केशों की नाना अवस्थायें बताता है। कहीं कहीं पुनरुक्ति भी है ॥ २ ॥

शब्दार्थ--विषग्रन्थि-गर्भ-प्रविष्टेनेव=विष की गांठ के बीच=भीतर घुसे हुये के समान, अन्तरम्=रास्ता, मार्गमाणेन=खोजने वाले, अन्तरम्=उपाय, कृपणचेष्टितम्=जघन्य कृत्य को, पातयिष्यामि = गिराऊँ, थोपूं। संभाव्यते = माना जा सकता है, अधिकरणमण्डपम्=कचहरी, व्यवहारम् = मुकदमा, मोटयित्वा=गर्दन मरोड़ कर, अधिकरण-भोजकाः = न्याय के अधिकारी लोग, दूर्वाचत्वरे=दूब घास के चबूतरे पर, प्रतिपालयिष्यामि=प्रतीक्षा करूँगा। परिवृतः=सहित, व्यवहार-पराधीनतया=मुकदमा के पराधीन होने के कारण, परचित्तग्रहणम् = दूसरे के मन की बात समझ पाना, दुष्करम्=बहुत कठिन।

अर्थ--और भी, विष की गाँठ के भीतर घुसे हुये कीड़े के समान रास्ता ढूढ़ते हुये मैंने बहुत बड़ा रास्ता पा लिया है। तो यह [अपना] निकृष्ट कृत्य किसके शिर पर थोप दूं। [याद करके] याद आ गया। दरिद्र चारुदत्त पर यह अपराध कृत्य थोप दूंगा। और भी, वह गरीब है। उस पर सभी कुछ सम्भव है। अच्छा, न्यायालय में जाकर सबसे पहले मुकदमा लिखवाऊँगा - "चारुदत्त ने गला

शोधनकः—(अन्यतः परिक्रम्य पुरो दृष्ट्वा) **एदे अधिअरणिआ आअच्छन्ति। ता जाव उवसप्पामि** । (एते अधिकरणिका आगच्छंति। तद् यावदुपसर्पामि ।) (इत्युपसर्पति ।)

(ततः प्रविशति श्रेष्ठि-कायस्थादि-परिवृतोऽधिकरणिकः ।)

अधिकरणिकः—भो भोः श्रेष्ठि-कायस्थौ !।

श्रेष्ठि-कायस्थौ—आणवेदु अज्जो। (आज्ञापयतु आर्यः ।)

अधिकरणिकः—अहो ! व्यवहारपराधीनतया दुष्करं खलु परचित्तग्रहणमधिकरणिकैः ।

दबा कर वसन्तसेना को मार डाला।" तो तब तक न्यायालय ही चलता हूँ। (घूम कर और देखकर) यह न्यायालय है। अतः इसमें प्रवेश करता हूँ। (घुस कर और देखकर) क्या आसन लगा दिये गये ? जब तक न्यायालय के अधिकारी लोग आते हैं तब तक दूब वाले चबूतरे पर बैठकर थोड़ी देर तक प्रतीक्षा कर लेता हूँ।

(उसी प्रकार बैठ जाता है।)

शोधनक—(दूसरी ओर घूम कर सामने देखकर) ये न्यायालय के अधिकारी आ रहे हैं। अतः इनके पास चलता हूँ। (यह कहकर पास चला जाता है।)

(इसके बाद सेठ और कायस्थ आदि से घिरा हुआ न्यायाधिकारी प्रवेश करता है।)

अधिकरणिक—अरे सेठ और कायस्थ !

सेठ और कायस्थ—श्रीमन् ! आदेश दीजिये।

अधिकरणिक—ओह ! मुकदमा के पराधीन होने के कारण दूसरे के मन की बात को समझ पाना बहुत कठिन है। (दूसरों की बातें सुनकर ही निर्णय करना पड़ता है। मुकदमेवाज बहुत कम सच बोलते हैं। अतः सही निर्णय कर पाना अति कठिन होता है।)

टीका—विषस्य = विषवृक्षस्य, ग्रन्थेः = पर्वणः, गर्भे = अभ्यन्तरे, प्रविष्टेन= स्थितेन, अन्तरम्=बहिर्गमनाय छिद्रम् अन्तरम्=उपायः, कृपणचेष्टितम्=नीचकृत्यम्, पातयिष्यामि=स्थापयिष्यामि, आरोपयिष्यामीति भावः, संभाव्यते=युज्यते, मोटयित्वा=निष्पीड्य, व्यवहारम्=विवादम्, व्यवहारस्य=विवादस्य, पराधीनतया=परायत्ततया, वादिप्रभृतीनाम्, चित्तस्य = मनोगतभावस्य, ग्रहणम् = ज्ञानम्, दुष्करम्= अतिकठिनम् ।।

छन्नं कार्यमुपक्षिपन्ति पुरुषा न्यायेन दूरीकृतं
स्वान् दोषान् कथयन्ति नाधिकरणे रागाभिभूताः स्वयम्।
तैः पक्षापरपक्षवर्द्धितबलैर्दोषैर्नृपः स्पृश्यते
संक्षेपादपवाद एव सुलभो द्रष्टुर्गुणो दूरतः ॥ ३ ॥

अन्वयः—पुरुषाः, न्यायेन, दूरीकृतम्, कार्यम्, छन्नम्, उपक्षिपन्ति, स्वयम्, दोषान्, अधिकरणे, न, कथयन्ति, पक्षापर-पक्षवर्द्धित-बलैः, तैः, दोषैः, नृपः, स्पृश्यते, संक्षेपात्, द्रष्टुः, अपवादः, एव, सुलभः, गुणः, दूरतः, [तिष्ठति] ॥ ३ ॥

शब्दार्थः—पुरुषाः=लोग, न्यायेन=न्याय से, दूरीकृतम्=दूर किये हुये, रहित, कार्यम्=कार्य को, बात को, छन्नम्=छिपा हुआ (बना कर), उपक्षिपन्ति=उपस्थित करते हैं, स्वयम् = अपने आप, रागाभिभूताः = विषयासक्ति से आक्रान्त, (होने के कारण), स्वान्=अपने, दोषान् = दोषों को, अधिकरणे = न्यायालय में, न=नहीं, कथयन्ति = कहते हैं, प्रकट करते हैं। पक्षापरपक्षवर्द्धितबलैः=वादी और प्रतिवादी दोनों पक्षों के लोगों द्वारा बढ़ाये गये बल वाले = प्रामाण्यवाले, तैः तैः = उन उन, दोषैः = दोषों से, नृपः=राजा, स्पृश्यते=स्पृष्ट होता है, दूषित होता है, संक्षेपात्= संक्षेप से, (यह कहा जा सकता है कि) द्रष्टुः = मुकदमा देखने वाले, निर्णयकर्ता को, अपवादः = कलंक, एव=ही, सुलभः=सरलतया प्राप्तव्य है, गुणः = यश तो, दूरतः = दूर ही, है ॥ ३ ॥

अर्थ—लोग (वादी प्रतिवादी गवाह आदि) न्याय से रहित अर्थात् गलत काम को छिपा कर [निर्णय के लिये] उपस्थापित करते हैं। स्वयम् विषयासक्त [क्रोध लोभादि के वशीभूत] होते हुये अपने दोषों को न्यायालय में नहीं प्रकट करते हैं। (इस कारण) वादी और प्रतिवादी दोनों पक्षों के द्वारा बढ़ाये गये बल वाले [प्रामाण्य वाले] उन-उन दोषों से राजा छुआ जाता है, [दूषित होता है] संक्षेप में, मुकदमें की सुनवाई करने वाले न्यायाधीश को कलंक मिलना ही सरल है, यश प्राप्त होना दूर की बात ॥ ३ ॥

टीका—निर्णयकर्तुर्निन्दाप्राप्तिहेतुं निर्दिशति—छन्नमिति। पुरुषाः=वादिनः, प्रतिवादिनः, साक्ष्यादयश्च, न्यायेन=नीत्या, औचित्येन वा, दूरीकृतम्=रहितम्, निराकृतम्, कार्यम्=अभियोगविषयीभूतं वस्तु, छन्नम्=शाठ्यादिनाच्छादितम् असत्यावृतम्, उपक्षिपन्ति=आवेदयन्ति, स्वयम्=आत्मना, रागाभिभूताः=विषयासक्त्या आक्रान्ताः, निर्विवेकाः सन्तः, अधिकरणे=न्यायालये, स्वान्=आत्मीयान्, दोषान्=अपराधान्, न=नैव, कथयन्ति=प्रकाशयन्ति। पक्षापरपक्षवर्द्धितबलैः=पक्षः=वादिजनीयपक्षः, अपरपक्षः=प्रतिवादिजनीयपक्षः, ताभ्यामुभाभ्यां वर्द्धितम्=पोषितम्

अपि च—

छन्नं दोषमुदाहरन्ति कुपिता न्यायेन दूरीकृताः
स्वान् दोषान् कथयन्ति नाधिकरणे सन्तोऽपि नष्टा ध्रुवम् ।
ये पक्षापरपक्षदोषसहिताः पापानि संकुर्वते
संक्षेपादपवाद एव सुलभो द्रष्टुर्गुणो दूरतः ॥ ४ ॥

बलम्=प्रामाण्यसाधकत्वम् येषु तादृशैः, तैः=अन्यायाचरणादिसमुत्पन्नैः, दोषैः=अपराधैः, नृपः=राजा, स्पृश्यते=स्पृष्टो भवति, दूष्यते इति भावः । संक्षेपात्=किमधिकवर्णनेन, द्रष्टुः=व्यवहारदर्शकस्य न्यायाधीशस्य अपवादः=निन्दा, एव, सुलभः=सुप्रापः, गुणः=यशः, तु, दूरतः=दूरे, एव । एवञ्च मादृशानां निन्दा-प्राप्तिरेव समाजे वर्तते इति महाकष्टम् । शार्दूलविक्रीडितं, वृत्तम् ॥ ३ ॥

विमर्श—न्यायाधिकारियों का तात्पर्य यह है कि वादी प्रतिवादी आदि सभी चालाकी से सत्यता को छिपाकर असत्य बात कहते हैं। उनकी बातों से ही निर्णय करना पड़ता है। अतः सही निर्णय करना बहुत कठिन हो जाता है। इसके फलस्वरूप समाज में न्यायाधिकारी की निन्दा ही अधिक होती है ॥ ३ ॥

अन्वयः—ये, (पुरुषाः), कुपिताः न्यायेन, दूरीकृताः अधिकरणे, दोषम्, उदाहरन्ति, सन्तः, छन्नम्, अपि, स्वान्, दोषान्, न, कथयन्ति, ते, पक्षापरपक्ष-दोषसहिताः, पापानि, संकुर्वते, ध्रुवम्, नष्टाः, (भवन्ति) संक्षेपात्, द्रष्टुः, अपवादः, एव, सुलभः, गुणः, (तु) दूरतः ॥ ४ ॥

शब्दार्थ—ये=जो लोग, कुपिताः,=क्रोधयुक्त (होते हुये), न्यायेन=न्याय से, दूरीकृताः=रहित होते हुये, अधिकरणे=न्यायालय में, छन्नम्=छिपाये हुये, दोषम्=दोष, अपराध को, उदाहरन्ति=कहते हैं, सन्तः=सज्जन लोग, अपि=भी, स्वान्=अपने, दोषान्=दोषों को, न=नहीं कथयन्ति=कहते हैं, (ते=वेलोग), पक्षापर-पक्षदोषसहिताः=वादी तथा प्रतिवादी दोनों में पक्षों के दोषों से युक्त, पापानि=पापों को, संकुर्वते=करते हैं, (वे), ध्रुवम्=निश्चित ही, नष्टाः=नष्ट, [भवन्ति=होते हैं।] संक्षेपात्=संक्षेप में, द्रष्टुः=मुकदमे के निर्णय करने वाले को, अपवादः=बुराई, एव=ही, सुलभः=सरलतया प्राप्तव्य, है, गुणः=यश, दूरतः=दूर ही रहता है ॥ ४ ॥

अर्थ—और भी,

जो लोग क्रोधयुक्त, नीतिरहित होते हुये न्यायालय में छिपे हुये (गलत ढंग से) दोष का वर्णन करते हैं। सज्जन लोग भी अपने अपराधों को नहीं बताते हैं। वे लोग वादी और प्रतिवादी दोनों पक्षों के दोषों से युक्त होते हुये पाप करते है

यतोऽधिकरणिकः खलु—

शास्त्रज्ञः, कपटानुसारकुशलो वक्ता, न च क्रोधन-
स्तुल्यो मित्र-पर-स्वकेषु, चरितं दृष्ट्वैव दत्तोत्तरः।
क्लीबान् पालयिता, शठान् व्यथयिता, धर्म्यो, न लोभान्वितो
द्वार्भावे परतत्त्वबद्धहृदयो, राज्ञश्च कोपापहः॥ ५॥

अतः वे निश्चित ही नष्ट हो जाते हैं। सक्षेप में, न्यायाधीशों को बुराई [अपयश] मिलना ही सरल है यश तो दूर की बात ॥ ४॥

टीका—पूर्वोक्तमेवार्थं भङ्ग्यन्तरेण पुनराह—छन्नमिति। ये पुरुषाः-इति संयोज्यम्, कुपिताः=क्रोधयुक्ताः, अत एव न्यायेन=नीत्या, दूरीकृताः=नीतिवियुक्ताः, अधिकरणे=न्यायालये, छन्नम्=कदाचित् सत्यम् असत्येन, कदाचित् असत्यं सत्येन आवृतम्, दोषम्=अपराधम्, उदाहरन्ति=वर्णयन्ति, सन्तः=सज्जनाः, अपि, स्वान्=आत्मीयान्, दोषान्=अपराधान्, न=नैव, कथयन्ति=प्रकाशयन्ति, ते, पक्षापरपक्षदोषसहिताः=पक्षाणाम्, अपरपक्षाणाम्=वादिप्रतिवाद्युभयपक्षाणाम् दोषैः= दूषणैः, सहिताः=युक्ताः, सन्तः, पापानि=दुष्कृतानि, संकुर्वते=भृशमाचरन्ति, ते, ध्रुवम्=निश्चितम् नष्टाः=विनष्टाः, भवन्ति, संक्षेपात् = किमधिकवर्णनेन, द्रष्टुः=विवादस्य निर्णयकर्तुः, अपवादः=कलङ्कः, निन्दा एव, सुलभः=सुप्रापः, गुणः=यशः तु, दूरतः=दूरे, एव वर्तते। शार्दूलविक्रीडितं वृत्तम् ॥ ४॥

विमर्श—पूर्वोक्त श्लोक का आशय ही इसमें श्लोक में भी वर्णित है। अतः यह श्लोक प्रक्षिप्त प्रतीत होता है ॥ ४॥

अन्वयः—[अधिकरणिकः खलु—इति गद्यस्थेनान्वयः] शास्त्रज्ञः, कपटानुसारकुशलः, वक्ता, न, च, क्रोधनः, मित्रस्वपरकेषु, तुल्यः, चरितम्, दृष्टवा, एव, दत्तोत्तरः, क्लीबान्, पालयिता, शठान्, व्यथयिता, धर्म्यः, न, लोभान्वितः, द्वार्भावे, परतत्त्वबद्धहृदयः, च, राज्ञः, कोपावहः, च, (भवेत्) ॥ ५॥

शब्दार्थ—(अधिकरणिकः=न्यायाधीश), शास्त्रज्ञः = न्यायशास्त्र को जानने वाला, कपटानुसारकुशलः=कपट को पकड़ने में कुशल, वक्ता=बोलने में चतुर, न च= और न, क्रोधनः=क्रोध करने वाला, मित्रपरस्वकेषु = मित्र, शत्रु और अपने लोगों में, तुल्यः=समान दृष्टि रखने वाला, चरितम्=व्यवहार को, दृष्ट्वा=देखकर, एव= ही, दत्तोत्तरः=उत्तर देने वाला, क्लीबान्=दुर्बल लोगों का, पालयिता=पालन करने वाला, शठान्=दुष्टलोगों को, व्यथयिता=दण्ड देने वाला, धर्म्यः=धार्मिक, न लोभान्वितः=लोभ से रहित, द्वार्भावे=उपाय सम्भव रहने पर, परतत्त्वबद्धहृदयः= दूसरे की बात का सही निष्कर्ष निकालने में सावधान, च=और, राज्ञः=राजा के, कोपावहः=क्रोध को नष्ट=शान्त कराने वाला, [भवेत्=होना चाहिये] ॥ ५॥

श्रेष्ठिकायस्थौ——अज्जस्स वि णाम गुणे दोसो त्ति वुच्चदि। जइ एव्वं ता चन्दालोए वि अन्धआरो त्ति वुच्चदि। (आर्यस्यापि नाम गुणे दोष इत्युच्यते। यद्येवम्, तदा चन्द्रालोकेऽप्यन्धकार इत्युच्यते।)

अर्थ——क्योंकि न्यायाधीश को—

शास्त्रों का जानकार, कपट को पकड़ने में कुशल, वक्ता, क्रोध न करने वाला, मित्र, शत्रु और आत्मीय जनों के बीच में समान भाव रखने वाला [मुकदमा से सम्बद्ध लोगों के] व्यवहार को देखकर ही उत्तर देने वाला, दुर्बलों का रक्षक, धूर्तों को दण्डित करने वाला, धार्मिक, लोभरहित, और उपाय के सम्भव रहने पर सच बात का पता लगाने में सावधान तथा राजा के क्रोध को नष्ट = शान्त करने वाला [होना चाहिये] ॥ ५ ॥

टीका——साम्प्रतं स्वकर्तव्यत्वकथन-प्रसंगेन अधिकरणिकलक्षणं प्रतिपादयति-शास्त्रज्ञ इति। यतः अधिकरणिकः-इति गद्यांशेनान्वयः कार्यः। अधिकरणस्य अयम् इत्यर्थे इक प्रत्ययः, अथवा मतुबर्थे 'अत इनिठनौ' (पा. सू. ५।२।११५) इति ठन् प्रत्ययः। अधिकरण-सम्बन्धी, विचारकर्ता इत्यर्थः। शास्त्रज्ञः = न्यायादि-शास्त्रवेत्ता, कपटस्य=छलस्य, अनुसारे=आविष्कारे, कुशलः=निपुणः, वक्ता=वाग्मी, न च=नैव च, क्रोधनः=क्रोधी, क्रोधरहित इत्यर्थः मित्रपरस्वकेषु=मित्रेषु, शत्रुषु आत्मीयेषु च तुल्यः = समदर्शी, पक्षपातशून्यः, चरितम् = आचरणम्, वादि-प्रति-वादिनोरिति शेषः, दृष्ट्वा एव = ज्ञात्वा एव, दत्तोत्तरः = दत्तम् प्रकटितम्, उत्तरम्=प्रतिवचनं येन तथाभूतः, क्लीबान् = दुर्बलान् पालयिता=रक्षकः, शठान्= धूर्तान् व्यथयिता: = दण्डयिता, धर्म्यः = धर्मादनपेतः, धर्माचारी, न लोभान्वितः= निर्लोभः, द्वार्भावे = उपायसत्त्वे परेषाम्=वादिप्रभृतीनाम्, यत् तत्त्वम् = याथार्थ्यम्, तस्मिन् बद्धहृदयः=व्यासक्तमनाः, सावधान इति भावः, च = तथा, राज्ञः=नृपस्य, कोपावहः = क्रोधस्य शमयिता, भवेत्। शार्दूलविक्रीडितं वृत्तम् ॥ ५ ॥

विमर्श——न्यायाधीश को कैसा होना चाहिये इस विषय में इस श्लोक में बहुत सुन्दर विवेचन है ॥ ५ ॥

शब्दार्थ——चन्द्रालोके = चन्द्रमा के प्रकाश में, कार्यार्थी = मुकदमा वाला, साटोपम्=घमण्ड के साथ, व्यवहारे = मुकदमा के विषय में, उपरागः = सूर्यग्रहण, महापुरुषविनिपातम् = महान् पुरुष के विनाश को, व्याकुलेन = परेशानी के साथ, दृश्यते=देखा जायगा, विचार किया जायगा, आवुत्तम् = बहनोई, स्थापयिष्यामि= नियुक्त करवा दूंगा, कुपितः=नाराज, संभाव्यते=सम्भव है।

अर्थ——**सेठ और कायस्थ**——श्रीमान् के भी गुण में दोष देखा जाता है। यदि ऐसी बात है तब तो चन्द्रमा के प्रकाश में भी अन्धकार है, ऐसा कहा जाता है।

अधिकरणिकः – भद्र शोधनक ! अधिकरणमण्डपस्य मार्गमादेशय ।

शोधनकः––एदु एदु अधिअरणभोइओ एदु । (एतु एतु अधिकरणभो-जक एतु ।)

(इति परिक्रामन्ति ।)

शोधनकः––एदं अधिअरणमण्डवं, ता पविसन्तु अधिअरणभोइआ । (अयमधिकरणमण्डपः, तत्प्रविशन्तु अधिकरणभोजकाः ।)

(सर्वे च प्रविशन्ति ।)

अधिकरणिकः––भद्र शोधनक ! बहिर्निष्क्रम्य ज्ञायताम्–कः कः कार्य्यार्थी इति ।

शोधनकः––जं अज्जो आणवेदि (इति निष्क्रम्य) अज्जा ! अधिअरणिआ भणन्ति––'को को इध कज्जत्थी' त्ति । (यदार्य आज्ञापयति ।) (आर्याः ! अधिकरणिका भणन्ति ––'कः कः इह कार्यार्थी' इति ?)

शकारः––(सहर्षम्) उवत्थिए अधिअलणिए । (साटोपं परिक्रम्य) हग्गे वलपुलिशे मणुश्शे वासुदेवे लट्ठिअशाले लाअशाले कज्जत्थी । (उपस्थिताः अधिकरणिकाः ।) (अहं वरपुरुषः मनुष्यः वासुदेवः राष्ट्रियश्यालः राजश्यालः कार्यार्थी ।)

अधिकरणिक––भद्र शोधनक ! अधिकरणमण्डप (न्यायालय) का मार्ग बतलाइये ।

शोधनक––आइये, आइये न्यायाधीश जी, आइये ।

(सभी लोग घूमते हैं ।)

शोधनक––यह न्यायालय है, अतः न्यायाधिकारी आप लोग इसमें प्रवेश करिये ।

(सभी लोग प्रवेश करते हैं ।)

अधिकरणिक––भद्र शोधनक ! बाहर निकल कर पता लगाओ "कौन-कौन मुकदमा के विचारार्थ आया है ।"

शोधनक––जैसी आर्यकी आज्ञा । (बाहर जाकर) सज्जनों ! न्यायाधिकारी यह कह रहे हैं कि "किस किस का मुकदमा विचारार्थ है ?"

शकार––(हर्ष के साथ) न्यायाधिकारी आ गये । (घमण्ड के साथ घूम-कर) मैं श्रेष्ठ पुरुष, मनुष्य, वासुदेव, राष्ट्रिय शाला, राजा का शाला मुकदमा के विचारार्थ उपस्थित हूँ ।

शोधनकः—(ससम्भ्रमम्) हीमादिके ! पढमं ज्जेव रट्ठिअशालो कज्जत्थी । भोदु. अज्ज ! मुहुत्तं चिट्ठ, दाव अधिअरणिआणं णिवेदेमि । (उपगम्य) अज्ज ! एसो क्खु रट्ठिअशालो कज्जत्थी ववहारे उवत्थिदो । (हन्त ! प्रथममेव राष्ट्रियश्यालः कार्यार्थी । भवतु, आर्य ! मुहूर्तं तिष्ठ, तावदधिकरणिकानां निवेदयामि ।) (आर्याः ! एष खलु राष्ट्रियश्यालः कार्यार्थी व्यवहारे उपस्थितः ।)

अधिकरणिकः—कथं, प्रथममेव राष्ट्रियश्यालः कार्यार्थी । यथा—सूर्योदये उपरागो महापुरुषविनिपातमेव कथयति । शोधनक ! व्याकुलेनाद्य व्यवहारेण भवितव्यम् ! भद्र ! निष्क्रम्य उच्यताम्—'गच्छ, अद्य न दृश्यते तव व्यवहार इति' ।

शोधनकः—जं अज्जो आणवेदि । (इति निष्क्रम्य शकारमुपगम्य) अज्ज ! अधिअरणिआ भणन्ति—'अज्ज गच्छ, ण दीशदि तव ववहारो ।' (यदार्य आज्ञापयति ।) (आर्य ! अधिकरणिका भणन्ति—'अद्य गच्छ, न दृश्यते तव व्यवहारः ।')

शकारः—(सक्रोधम्) आः ! किं ण दीशदि मम ववहाले ? जइ ण दीशदि, तदो आउत्तं लाआणं पालअं वहिणीवदिं विण्णविअ वहिणिं अत्तिकं च विण्णविअ एदं अधिअलणिअं दूले फेलिअ एत्थ अण्णं अधिअलणिअं ठावइश्शं । (इति गन्तुमिच्छति) आः ! किं न दृश्यते मम व्यवहारः ? यदि न दृश्यते, तदा आवुत्तं राजानं पालकं भगिनीपतिं विज्ञाप्य भगिनीं मातरञ्च विज्ञाप्य एतमधिकरणिकं दूरीकृत्य अत्र अन्यमधिकरणिकं स्थापयिष्यामि ।)

शोधनक—(घबड़ाहट के साथ) हाय ! सबसे पहले राजा का शाला ही मुकदमा के लिये आया है । अच्छा, आर्य ! कुछ देर रुकिये जब तक मैं अधिकरणिकों से निवेदन करता हूँ । (पास जाकर) श्रीमन् ! यह राजा का शाला मुकदमा के विचार के लिये आया है ।

अधिकरणिक—क्या, सबसे पहले राजा का शाला ही मुकदमा के लिये आया है ? जैसे सूर्योदय में सूर्यग्रहण महापुरुष के विनाश को कहता है, सूचित करता है । शोधनक ! आज मुकदमा परेशानी से भरा हुआ होगा । भद्र ! निकल कर कह दो —'जाओ, आज तुम्हारे मुकदमा पर विचार नहीं होगा ।'

शोधनक—जैसी आर्य की आज्ञा । (निकल कर शकार के पास जाकर) आर्य ! अधिकरणिक यह कह रहे हैं —'आज जाइये, तुम्हारे मुकदमे पर विचार नहीं होगा ।'

शकार—(क्रोध के साथ) क्या, मेरे मुकदमा पर विचार नहीं होगा ? यदि विचार नहीं होगा तब अपने बहनोई जीजा राजा पालक से कह कर और बहन तथा माता से कह कर इस अधिकरणिक को हटवा कर दूसरे अधिकरणिक को नियुक्त करवाऊँगा ।

शोधनक——अज्ज रट्टिअशालअ ! मुहुत्तअं चिट्ठ, दाव अधिअरणिआणं णिवेदेमि । (अधिकरणिकमुपगम्य) एसो रट्टिअशालो कुविदो भणादि । (आर्य राष्ट्रियश्याल ! मुहूर्तकं तिष्ठ, तावदधिकरणिकानां निवेदयामि ।) (एष राष्ट्रियश्यालः कुपितो भणति ।) (इति तदुक्तं भणति ।)

अधिकरणिकः——सर्वमस्य मूर्खस्य सम्भाव्यते । भद्र ! उच्यताम्——'आगच्छ, दृश्यते तव व्यवहारः ।'

शोधनकः——(शकारमुपगम्य) अज्ज ! अधिअरणिआ भणन्ति——'आअच्छ दीशदि तव ववहारो ! ता पविसदु अज्जो । (आर्य ! अधिकरणिका भणन्ति—'आगच्छ, दृश्यते तव व्यवहारः । तत् प्रविशतु आर्यः ।)

शकारः——पढ़मं भणन्ति——'ण दीशदि, शम्पदं दीशदि' त्ति । ता णाम भीदभीदा अधिअलणभोइआ । जेत्तिअं हग्गे भणिश्शं तेत्तिअं पत्तिआवइश्शं । भोदु, पविशामि । (प्रविश्योपसृत्य) शुशुहं अम्हाणं, तुम्हाणं पि शुहं देमि ण देमि अ । (प्रथमं भणन्ति 'न दृश्यते, साम्प्रतं दृश्यते' इति । तत् नाम भीतभीता अधिकरणभोजकाः ! यावदहं भणिष्यामि, तावत प्रत्याययिष्यामि ।) (सुसुखमस्माकम्, युष्माकमपि सुखं ददामि न ददामि च ।)

अधिकरणिकः——(स्वगतम्) अहो ! स्थिरसंस्कारता व्यवहारार्थिनः । (प्रकाशम्) उपविश्यताम् ।

शोधनक——आर्य राजा के शाले ! कुछ देर रुकिये, जब तक अधिकरणिकों से निवेदन करता हूँ । (अधिकरणिक के पास जाकर) यह राजा का शाला नाराज होकर कह रहा है । (यह कह कर उसके द्वारा कही बात दोहरा देता है ।)

अधिकरणिक——इस मूर्ख के लिये सब कुछ सम्भव है । भद्र ! जाकर कह दो——'आइये, तुम्हारे मुकदमे पर विचार किया जायेगा ।'

शोधनक——(शकार के पास जाकर) आर्य ! अधिकरणिक कह रहे हैं——आइये, तुम्हारे मुकदमे पर विचार किया जायगा । अतः आर्य प्रवेश करें ।

शकार——पहले कहते हैं 'नहीं देखा जायेगा, अब देखा जायगा ।' इसलिये अधिकरणिक बहुत डर गये हैं । जितना कहूँगा, उतना सच मनवा लूंगा । (प्रवेश करके पास जाकर) हमारा अच्छी तरह सुख है । तुम लोगों को भी सुख देता हूँ अथवा नहीं देता हूँ ।

अधिकरणिक——(अपने में) मुकदमा का न्याय चाहने वाले इसकी निर्भीकता आश्चर्यजनक है । (प्रकट रूप में) बैठिये ।

शकारः—**आ ! अत्तणकेलका शे भूमी। ता जहिं मे लोअदि तहिं उवविशामि।** (श्रेष्ठिनं प्रति) **एश उवविशामि।** (शोधनकं प्रति) **णं एत्थ उवविशामि।** (इत्यधिकरणिकमस्तके हस्तं दत्त्वा) **एश उवविशामि।** (इति भूमौ उपविशति।) (आः ! आत्मीया एषा भूमिः, तद् यस्मिन् मे रोचते, तस्मिन्नुपविशामि) (एष उपविशामि।) (नन्वत्र उपविशामि।) (एष उपविशामि।)

अधिकरणिकः—**भवान् कार्यार्थी ?**

शकारः—**अध इं।** (अथ किम् ?)

अधिकरणिकः—**तत् कार्यं कथय।**

शकारः—**कण्णे कज्जं कधइश्शं। एवं वड्ढके मल्लकप्पमाणाह कुले हग्गे जादे।** (कर्णे कार्यं कथयिष्यामि। एवं बृहति मल्लकप्रमाणस्य कुले अहं जातः।)

शकार—ओह ! यह अपनी जमीन है। अतः जहाँ मुझे अच्छा लगेगा वहाँ बैठूंगा। (श्रेष्ठी की ओर) यहाँ बैठता हूँ। (शोधनक की ओर) यहाँ बैठता हूँ। (न्यायाधिकारी के सिर पर हाथ रख कर) यहाँ बैठता हूँ। (ऐसा कर कर जमीन पर बैठ जाता है।)

अधिकरणिक—क्या आप मुकदमा का विचार चाहते हैं ?

शकार—और क्या ?

अधिकरणिक—तो मुकदमा कहिये।

शकार—कान में कहूँगा। क्योंकि मैं मिट्टी के पुरवे [प्याला] के समान विशाल वंश में उत्पन्न हुआ हूँ।

टीका—चन्द्रालोके=चन्द्रस्य प्रकाशे, कार्यार्थी=कार्यस्य व्यवहारस्य अर्थी=प्रार्थी, साटोपम्=सदर्पम्, उपरागः=राहुणा, चन्द्रग्रहणम् 'उपरागो ग्रहो राहुग्रस्ते त्विन्दौ च पूष्णि च' इत्यमरः, महापुरुषस्य=सम्मानितजनस्य, निपातम्=विनाशम्, व्याकुलेन=क्षोभयुक्तेन, आवुत्तम्=भगिनीपतिम्, दृश्यते=विचारार्थं स्वीक्रियते, सामीप्ये लट्, भीतभीताः=अत्यन्तं भयग्रस्ताः, प्रत्याययिष्यामि=विश्वासयोग्यं कारयिष्यामि, स्थिरसंस्कारता=स्थिरः अविचलः, यथा प्राक् तथेदानीमपि इत्यर्थः, संस्कारः=सिद्धान्तः, तस्य भावः, एकरूपमेव ज्ञानम्, अस्मत्समीपेऽपि न किञ्चित् परिवर्तनमिति भावः, मल्लकप्रमाणस्य=क्षुद्र–मृन्मयं–पात्रम् तत्सदृशस्य, क्वचित् 'मल्लकप्रमाणस्ये' त्यपि पाठः। अत्र शकारः स्ववंशस्य महत्त्वे ख्यापयितव्ये मूर्खतया निकृष्टत्वं वदतीति बोध्यम्।

लाअशशुले मम पिदा लाआ तादश्श होइ जामादा ।
लाअशिआले हग्गे ममावि वहिणीवदो लाआ ॥ ६ ॥
(राजश्वशुरो मम पिता राजा तातस्य भवति जामाता ।
राजश्यालोऽहं ममापि भगिनीपती राजा ॥ ६ ॥)
अधिकरणिकः—सर्वं ज्ञायते ।
किं कुलेनोपदिष्टेन शीलमेवात्र कारणम् ।
भवन्ति नितरां स्फीताः सुक्षेत्रे कण्टकिद्रुमाः ॥ ७ ॥
तदुच्यतां कार्यम् ।

अन्वयः—मम, पिता, राजश्वशुरः, राजा, तातस्य, जामाता, भवति, अहम्, राजश्यालः, राजा, अपि, मम, भगिनीपतिः ॥ ६ ॥

शब्दार्थ—मम=मेरे, शकार के, पिता=पिता, राजश्वसुरः=राजा पालक के ससुर हैं, राजा=राजा, पालक, तातस्य=मेरे पिता के, जामाता=दामाद, भवति=हैं, अहम्=मैं, शकार, राजश्यालः=राजा का शाला हूँ, राजा अपि=राजा भी, मम=मेरे, भगिनीपतिः=बहिन के पति=बहनोई हैं ॥ ६ ॥

अर्थ—(शकार—) मेरे पिता राजा पालक के ससुर हैं। राजा मेरे पिता के दामाद हैं। मैं राजा का शाला हूँ। राजा मेरे बहनोई हैं ॥ ६ ॥

टीका—साम्प्रतं स्वप्रभाववृद्धये शकारः स्वपरिचयं ददाति—राजेति । मम=शकारस्य, व्यवहारार्थिन इति भावः, पिता=जनकः, राजश्वशुरः=राज्ञः पालकस्य श्वशुरः, राजा=नृपः, पालकः, तातस्य=शकारजनकस्य, जामाता=दुहितुः पतिः, भवति=वर्तते,अहम्=शकारः, राजश्यालः=राज्ञःपालकस्य श्यालकः, राजा=नृपःपालकः, मम=शकारस्य, भगिनीपतिः=भगिन्याः पतिः, आवुत्तः वर्तते । अत्रैकस्यैव सिद्धसम्बन्धस्य चतुर्धा कथनं शकारस्य मूर्खतां प्रतिपादयतीति बोध्यम् । आर्या वृत्तम् ॥६॥

अन्वयः—कुलेन, उपदिष्टेन, किम् अत्र, शीलम्, एव, कारणम्, सुक्षेत्रे, कण्टकिद्रुमाः, नितराम्, स्फीताः, भवन्ति ॥ ७ ॥

शब्दार्थ—कुलेन=कुल के, उपदिष्टेन=कहने से, किम्=क्या लाभ ? अत्र=यहाँ, शीलम्=चरित्र, एव=ही,कारणम्=कारण, (होता है), सुक्षेत्रे=सुन्दर खेत में, कण्टकिद्रुमाः =कांटेदार पेंड़, नितराम्=बहुत अधिक, स्फीताः=बढ़े हुये, विशाल, भवन्ति=होते हैं ॥ ७ ॥

अर्थ—अधिकरणिक—सब मालूम है।

वंश के कहने से क्या लाभ ? यहाँ (न्यायालय में) चरित्र ही कारण होता है। सुन्दर खेत में कांटेदार [भी] पेड़ बहुत अधिक बड़े-बड़े हो जाते हैं ॥ ७ ॥

तो अपना कार्य=मुकदमा बतलाइये ।

शकारः—एव्वं भणामि—अवलद्धाह् वि ण अ मे किं पि कलइश्शदि। तदो तेण वहिणीपदिणा परितुट्टेण मे कीडिदुं लक्खिदुं शव्वुज्जाणाणं पवलं पुप्फकलण्डके जिण्णुज्जाणे दिण्णे। तहिं च पेक्खिदुं अणुदिअहं शोशावेदुं शोधावेदुं पोत्थावेदुं लुणावेदुं गच्छामि। देव्वजोएण पेक्खामि ण पेक्खामि वा इत्थिआशलीलं णिवडिदं। (एवं भणामि—अपराद्धस्यापि न च मे किमपि करिष्यति। ततस्तेन भगिनीपतिना परितुष्टेन मे क्रीडितुं रक्षितुं सर्वोद्यानानां प्रवरं पुष्पकरण्डकं जीर्णोद्यानं दत्तम्। तत्र च प्रेक्षितुमनुदिवसं शोषयितुं शोधयितुं पोषयितुं लावयितुं गच्छामि। दैवयोगेन प्रेक्षे न प्रेक्षे वा स्त्रीशरीरं निपतितम्।)

टीका—वंशो न्यायालये न किमपि करोतीति तथ्यं प्रकटयति अधिकरणिकः—किमिति। कुलेन=वंशेन, उपदिष्टेन=वर्णितेन, किम्=किं फलम्, न किमपीति भावः, अत्र=न्यायालये, शीलम् = चरित्रम्, एव, कारणम्=निर्णयकारकमिति भावः। सुक्षेत्रे=उर्वरायां भूमौ, कण्टकिद्रुमाः=कण्टकयुक्ताः, द्रुमाः=वृक्षाः, अपि, नितराम्=अत्यधिकम्, स्फीताः=वृद्धाः, विशालाः, भवन्ति,=जायन्ते। उर्वरायां भूमौ यथा सद्वृक्षाः सम्पन्नाः भवन्ति तथैव कण्टकयुक्ताः वृक्षा अपि विशालतां प्राप्नुवन्ति। एवमेव सद्वंशेऽपि सुयोग्या इव दुष्टा अपि पुत्रा उत्पन्ना भवन्तीति भावः। अत्र दृष्टान्तालंकारः। पथ्यावक्त्रं वृत्तम्॥ ७॥

विमर्श—आठवें अंक में २९ वाँ श्लोक भी यही है। वहाँ भी इसकी व्याख्या देखी जा सकती है॥ ७॥

शब्दार्थ—अपराद्धस्य=अपराधी का, प्रवरम्=श्रेष्ठ, अनुदिवसम्=रोजाना, लूनम्=कटाई, दैवयोगेन=संयोगवश, विपन्ना=मरी हुई, नगरमण्डनम्=शहर की अलंकार, अर्थकल्यवर्तस्य=धनरूपी कलेवा, बाहुपाशबलात्कारेण=भुजारूपी पाश के बलात्कार से, आवृणोति=छिपा लेता है, उत्ताम्यता=उतावले होने वाले, पायस-पिण्डारकेण=खीर खाने के लोभी, निर्णाशितः=नष्ट कर डाला, प्रोञ्छति=पोंछता है, व्यापादिता=मार डाली, मोघस्थानया=रिक्त स्थानवाली, ग्रीवालिकया=गले की माला से, प्रत्युज्जीवितः=फिर से जिन्दा।

अर्थ—**शकार**—ऐसा कहता हूँ, अपराधी भी मेरा कोई कुछ नहीं करेगा। इसके बाद प्रसन्न बहनोई ने मेरे विहार के लिये और रक्षा के लिए सभी उद्यानों में श्रेष्ठ पुष्पकरण्डक उद्यान दिया। और उन [उद्यान] में रोज देख भाल करने के लिये, सूखा [सफाई] कराने के लिये, पुष्ट कराने के लिये और [अनावश्यक, घासादि को] कटवाने के लिये जाता हूँ। संयोगवश मैंने (वहाँ) गिरे हुये स्त्री-शरीर को देखा, अथवा नहीं देखा।

अधिकरणिकः—अथ ज्ञायते का स्त्री विपन्नेति ?

शकारः—हंहो अधिअलणभोइआ ! किं त्ति ण जाणामि तं तादिशिं णअलमण्डणं कञ्चणशदभूशणिअं। केण वि कुपुत्तेण अत्थकल्लवत्तश्श कालणादो शुण्णं पुप्फकलण्डकं जिण्णुज्जाणं पविशिअ बाहुपाश-वलक्कारेण वशन्तशेणआ मालिदा, ण मए। (अहो अधिकरणभोजकाः ! किमिति न जानामि तां तादृशीं नगरमण्डनं काञ्चनशतभूषणाम्। केनापि कुपुत्रेण अर्थकल्यवर्त्तस्य कारणात् शून्यं पुष्पकरण्डकं जीर्णोद्यानं प्रवेश्य बाहुपाशबलात्कारेण वसन्तसेना मारिता, न मया।) (इत्यर्द्धोक्ते मुखमावृणोति।)

अधिकरणिकः—अहो नगररक्षिणां प्रमादः ! भोः श्रेष्ठिकायस्थौ ! 'न मयेति' व्यवहारपदं प्रथममभिलिख्यताम्।

कायस्थः—जं अज्जो आणवेदि। (तथा कृत्वा) अज्ज ! लिहिदं। (यदार्य आज्ञापयति।) (आर्य ! लिखितम्।)

शकारः—(स्वगतम्) हीमादिके ! उत्तलाअन्तेण विअ पाअशपिण्डालकेण अज्ज मए अत्ता एव्व णिण्णाशिदो। भोदु, एवं दाव। (प्रकाशम्) अहो अधिअलणभोइआ ! णं भणामि, मए ज्जेव दिट्ठा, किं कोलाहलं कलेध ? (हन्त ! उत्ताम्यतेव पायसपिण्डारकेण अद्य मया आत्मैव निर्णाशितः। भवतु, एवं तावत्)। (अहो अधिकरणभोजकाः ! ननु भणामि—मयैव दृष्टा। किं कोलाहलं कुरुत ?) (इति पादेन लिखितं प्रोञ्छति।)

अधिकरणिक—अच्छा, कुछ मालुम पड़ता है कि वह कौन स्त्री मरी पड़ी है ?

शकार—अहो न्यायाधीश महोदय ! नगर की भूषण, सैकड़ों स्वर्णाभूषणों से युक्त उस सुन्दरी को क्यों नहीं जानूँगा ? किसी दुष्ट व्यक्तिने कलेवा के समान तुच्छ धन के लिये सूने पुष्पकरण्डक बगीचे में लेजाकर बाहुपाश से बलपूर्वक (हाथों से गला दबाकर) वसन्तसेना को मार डाला, मैंने नहीं। [ऐसा आधा कह कर मुख को छिपा लेता है।]

अधिकरणिक—ओह ! नगर के रक्षकों (सिपाहियों) की असावधानी। हे श्रेष्ठी और कायस्थ ! 'मैंने नहीं' ये मुकदमे के पद पहले लिख दो।

कायस्थ—श्रीमान् की जैसी आज्ञा। (लिखकर) आर्य ! लिख लिया।

शकार—(अपने में) हाय ! जल्दीबाजी करते हुये (उतावला होते हुये) मैंने गरम गरम खीर खाने वाले के समान आज अपना ही नाश कर डाला। अच्छा, ऐसा हो। (प्रकट रूप में) हे न्यायाधिकारियो ! कहता हूँ कि मैंने ही देखा है। क्या कोलाहल कर रहे हो ? (ऐसा कह कर लिखी बात को पैर से पोंछ डालता है।)

अधिकरणिकः—कथं त्वया ज्ञातं यथा खल्वर्थनिमित्तं बाहुपाशेन व्यापादिता ?

शकारः—हंहो ! णूणं शूनशूण्णाए मोघट्टाण्णाए गोवालिआए णिशुव-ण्णकेहिं आहलणट्ठाणेहिं तक्केमि । (हंहो ! नूनं शूनशून्यया मोघस्थानया ग्रीवालिकया निःसुवर्णकैराभरणस्थानैस्तर्कयामि ।)

श्रेष्ठिकायस्थौ—जुज्जदि विअ । (युज्यत इव ।)

शकारः—(स्वगतम्) दिट्ठिआ पच्चुज्जीविदम्हि । अविदमादिके ! (दिष्ट्या प्रत्युज्जीवितोऽस्मि । अविदमादिके ।)

अधिकरणिक—तुमने कैसे जाना कि धन के लिये गला दबा कर मार डाला ?

शकार—ओह ! उसकी स्फीत, सूनी और खाली गर्दन के कारण तथा आभूषणों को पहनने के अंगों को आभूषणों से रहित होने के कारण वैसा अनुमान करता हूँ ।

श्रेष्ठी और कायस्थ—ठीक सा ही लगता है ।

शकार—(अपने में) सौभाग्य से मैं फिर जीवित हो गया । सन्तोष की बात है ।

टीका—अपराद्धस्यापि=कृतदोषस्यापि, भगिनीपतिना=आवुत्तेन, क्रीडितुम्=विहारार्थम्, शोधयितुम्=सम्मार्जनादिना स्वच्छं कारयितुम्, दैवयोगेन=संयोगवशात् नगरमण्डनम्=नगरस्याभूषणभूताम्, अर्थकल्यवर्त्तस्य=तुच्छधनस्य, बाहुपाशस्यां बलात्कारः बलपूर्वकं निष्पीडनम्, व्यवहारपदम्=विवादस्य पदम्, 'न मया मरिते'ति कथनेनेदं प्रतीयते यदनेनैव मारितेति तत्तात्पर्यम्, प्रमादः=अनवधानता, उत्ताम्यता=अस्थिरचित्तेन, उत्पूर्वकात् 'तम्' उत्काङ्क्षायाम् इति धातोः दैवादिकात् शतृप्रत्ययान्तात तृतीयैकवचने रूपम्, पायसपिण्डारकेण = पायसपिण्ड-भोजन-लुब्धेन=पयः इदं पायसम्, तस्य पिण्डम् ऋच्छति=प्राप्नोति, भुङ्क्ते इति भावः कर्तरि ण्वुल् प्रत्ययः, निर्णाशितः=विनाशितः, मयैव दृष्टा इत्युक्त्वात्मनो निर्दोषतां प्रतिपादयति । व्यापादिता=मारिता, शूनशूनया=स्फीतस्फीतया, क्वचित् शून्य-शूनया आभरणशून्यया स्फीतया चेत्यर्थः, क्वचित् 'पड़िशूणाए' प्राकृतस्य परिशून्यया' इति संस्कृतम्, मोघस्थानया=मोघम्=विफलम्, स्थानम्=स्थितिः, तादृशालंकार-विरहादिति भावः, यस्यास्तया, ग्रीवालिकया=ग्रीवया, यद्वा ग्रीवामलति=भूषयति या तया, अल्धातोः कर्तरि ण्वुल्, ग्रैवेयकेणेत्यर्थः 'परिशून्ययेति पाठे बोध्यः, निःसुवर्णकैः=निः=न सन्ति सुवर्णकानि=सौवर्णाभरणानि येषु तयाभूतैः, आभरणस्थानैः=हस्तादिभिरित्यर्थः, तर्कयामि=अनुमिनोमि, प्रत्युज्जीवितः=पुनः जीवनं प्रापितः । अविदमादिके इति हर्षसूचकमव्ययम् ।

विमर्श—'अपराद्धस्यापि न च मे किमपि करिष्यति' यह कह कर शकार अपनी प्रभुता प्रकट करना चाहता है । 'न मया मारिता' यह कहने पर उस

श्रेष्ठिकायस्थौ—भो: ! कं एसो ववहारो अवलम्बदि ? (भो: ! कमेष व्यवहारोऽवलम्बते ?)

अधिकरणिक:—इह हि द्विविधो व्यवहार: ।

श्रेष्ठिकायस्थौ—केरिसौ ? (कीदृशौ ?)

अधिकरणिक:—वाक्यानुसारेण अर्थानुसारेण च । यस्तावत् वाक्यानुसारेण, स खल्वर्थिप्रत्यर्थिभ्य:, यश्चार्थानुसारेण, स चाधिकरणिकबुद्धिनिष्पाद्य: ।

श्रेष्ठिकायस्थौ—ता वसन्तसेणामादरं अवलम्बदि ववहारो ? (तद् वसन्तसेनामातरमवलम्बते व्यवहार: ?)

अधिकरणिक:—एवमिदम् । भद्र शोधनक ! वसन्तसेनामातरमनुद्वेजयन्नाह्वय ।

शकार को अपनी गल्ती का आभास हो जाता है कि उसे ऐसा नहीं कहना चाहिये था । ऐसा कह कर अपने को दोषी सूचित कर दिया है । इसी लिये आगे कहता है कि गरम-गरम खीर खाने का लोभी जैसे जल्दबाजी में अपनी जीभ जला डालता है, उसी प्रकार उसने भी गलत बयान देकर अपना विनाश कर डाला है ।

निर्णाशित:—यहाँ णत्व होता है 'उपसर्गादसमासेऽपि' । णत्वरहित प्रयोग अशुद्ध है ।

शब्दार्थ—व्यवहार:=विचारणीय विषय, वाक्यानुसारेण = वादी-प्रतिवादी की बातों के अनुसार, अर्थानुसारेण=बातें सुनकर उनके अभिप्राय को समझ कर निर्णय करना, अनुद्वेजयन् = विना परेशान करते हुये, यौवनम् = यौवनसुख, मोहपरवशम् इव=मूर्च्छित जैसी, भावमिश्राणाम्=सम्मानयोग्य लोगों का, प्रच्छनीय:=पूछने योग्य ।

अर्थ—श्रेष्ठी और कायस्थ—श्रीमन् ! यह मुकदमा किस पर आश्रित है ?

अधिकरणिक—यहाँ दो प्रकार का व्यवहार [विचारणीय] है ।

श्रेष्ठी और कायस्थ—कौन कौन से ?

अधिकरणिक—वाक्यों के अनुसार और अर्थ के अनुसार । जो वाक्यों=बयानों के अनुसार होता है वह वादी-प्रतिवादी के बयानों से समझा जाता है, और जो अर्थ के अनुसार होता है वह अधिकरणिक की बुद्धि से निर्णय करने लायक होता है ।

श्रेष्ठी और कायस्थ—तब तो वसन्तसेना की माता पर यह व्यवहार आश्रित है ।

अधिकरणिक—ऐसा ही है । भद्र शोधनक ! उद्वेगयुक्त न करते हुये वसन्तसेना की माता को बुलाओ ।

शोधनकः——तहा । (इति निष्क्रम्य गणिकामात्रा सह प्रविश्य) **एदु एदु अज्जा** । (तथा ।) (एतु एतु आर्या ।)

वृद्धा——**गदा मे दारिआ मित्तघरअं अत्तणो जोव्वणं अणुभविदुं। एसो उण दीहाऊ भणादि——'आअच्छ, अधिअरणिओ सद्दावेदि ।' ता मोहपरवसंविव अत्ताणअं अवगच्छामि. हिअअं मे थरथरेदि। अज्ज ! आदेसेहि मे अधिअरणमण्डवस्स मग्गं।** (गता मे दारिका मित्रगृहमात्मनो यौवनमनुभवितुम् । एष पुनर्दीर्घायुर्भणति–'आगच्छ, अधिकरणिकः शब्दापयति (आकारयति) ।' तन्मोहपरवशमिवात्मानमवगच्छामि हृदयं थरथरायते (कम्पते) । आर्य ! आदिश मे अधिकरणमण्डपस्य मार्गम् ।)

शोधनकः——**एदु एदु** । (एतु एतु आर्या ।)

(उभौ परिक्रामतः)

शोधनकः——**एदं अधिअरणमण्डवं, एत्थ पविसदु अज्जा** । (अयमधिकरणमण्डपः, अत्र प्रविशतु आर्या ।)

(इत्युभौ प्रविशतः ।)

वृद्धा——(उपसृत्य) **सुहं तुम्हाणं भोदु भावमिस्साणं** । (सुखं युष्माकं भवतु भावमिश्राणाम् ।)

अधिकरणिकः **भद्रे ! स्वागतम् । आस्यताम् ।**

वृद्धा——**तधा** । (तथा ।) (इत्युपविष्टा ।)

शोधनक——जैसी आज्ञा । (यह कहकर निकल कर वसन्तसेना की माता के साथ प्रवेश करके) आइये आर्या आइये ।

वृद्धा——मेरी बेटी (वसन्तसेना) अपने मित्र (चारुदत्त) के घर जवानी का सुख उठाने के लिये गयी है । और यह दीर्घायु कह रहा है 'आइये, अधिकरणिक बुला रहे हैं', इसलिये अपने को बेहोश सी समझ रही हूँ । मेरा दिल कांप रहा है । आर्य ! मुझे कचहरी का रास्ता बताओ ।

शोधनक——आइये आर्या आइये ।

(दोनों घूमते हैं ।)

शोधनक——यह कचहरी है । इसमें आर्या प्रवेश करें ।

(यह कह कर दोनों प्रवेश करते हैं ।)

वृद्धा——(पास जाकर) सम्माननीय सज्जनों ! आपका कल्याण हो ।

अधिकरणिक——भद्रे ! स्वागत है । बैठिये ।

वृद्धा——अच्छा । (ऐसा कह कर बैठ जाती है ।)

शकारः—(साक्षेपम्) आगदाशि वुड्ढकुट्टणि ! आगदाशि । (आगतासि वृद्धकुट्टनि ! आगतासि ?)

अधिकरणिकः—अये ! तत् त्वं किल वसन्तसेनाया माता ?

वृद्धा—अध इं ? (अथ किम् ?)

अधिकरणिकः—अथेदानीं वसन्तसेना क्व गता ?

वृद्धा—मित्तघरअं । (मित्रगृहम् ।)

अधिकरणिकः—किं नामधेयं तस्या मित्रम् ?

वृद्धा—(स्वगतम्) हद्धी हद्धी अदिलज्जणीअं क्खु एदं । (प्रकाशम्) जणस्स पुच्छणीओ अअं अत्थो, ण उण अधिअरणिअस्स । (हा धिक् हा धिक्, अतिलज्जनीयं खल्वेतत् ।) (जनस्य प्रच्छनीयोऽयमर्थः, न पुनरधिकरणिकस्य ।)

अधिकरणिकः—अलं लज्जया, व्यवहारस्त्वां पृच्छति ।

श्रेष्ठिकायस्थौ—ववहारो पुच्छदि, णत्थि दोसो, कधेहि । (व्यवहारः पृच्छति, नास्ति दोषः, कथय ।)

वृद्धा—कधं ववहारो ? जइ एव्वं, ता सुणन्तु अज्जमिस्सा । सो क्खु, सत्थवाह-विणअदत्तस्स णत्तिओ, साअरदत्तस्स तणओ, सुगहिदणामहेओ अज्ज चारुदत्तो णाम सेट्ठिचत्तरे पड़िवसदि; तहिं मे दारिआ जोव्वणसुहं अणुभवदि । (कथं व्यवहारः ? यद्येवं तदा शृण्वन्तु आर्यमिश्राः । स खलु सार्थवाहविनयदत्तस्य नप्ता, सागरदत्तस्य तनयः, सुगृहीतनामधेय आर्यचारुदत्तो नाम श्रेष्ठिचत्वरे प्रतिवसति, तत्र मे दारिका यौवनसुखमनुभवति ।)

शकार—(आक्षेपसहित) आ गयी हो बूढ़ी कुट्टिनी, आ गई हो ?

अधिकरणिक—अरे ! तो तुम क्या वसन्तसेना की माता हो ?

वृद्धा—जी हाँ ।

अधिकरणिक—इस समय वसन्तसेना कहाँ गयी है ?

वृद्धा—मित्र के घर ।

अधिकरणिक—उसके मित्र का क्या नाम है ?

वृद्धा—(अपने में) हाय ! हाय ! यह तो अति लज्जा की बात है । (प्रकट में) यह बात तो साधारण लोगों के द्वारा पूछने की है, न कि न्यायाधिकारियों के द्वारा ।

अधिकरणिक—लजाने की कोई बात नहीं है । यह तो मुकदमा पूछ रहा है ।

श्रेष्ठी और कायस्थ—मुकदमा पुछवा रहा है, कोई दोष नहीं है, कहो कहो ।

वृद्धा—क्या मुकदमा ? यदि ऐसी बात है तो सज्जनों ! सुनिये । सार्थवाह-विनयदत्त के नाती (पौत्र), सागरदत्त के पुत्र, स्वनामधन्य आर्य चारुदत्त श्रेष्ठियों के मुहल्ले में रहते हैं । वहाँ मेरी बेटी जवानी का सुख उठा रही है ।

शकारः—शुदं अज्जेहिं ? लिहीअदु एदे अक्खला। चालुदत्तेण शह मम विवादे। (श्रुतमार्यैः ? लिख्यन्तामेतान्यक्षराणि। चारुदत्तेन सह मम विवादः।)

श्रेष्ठिकायस्थौ—चारुदत्तो मित्तो त्ति णत्थि दोसो। (चारुदत्तो मित्रमिति नास्ति दोषः।)

अधिकरणिकः—व्यवहारोऽयं चारुदत्तमवलम्बते !

श्रेष्ठिकायस्थौ—एव्वं विअ। (एवमिव)

अधिकरणिकः—धनदत्त ! 'वसन्तसेना आर्यचारुदत्तस्य गृहं गतेति' लिख्यतां व्यवहारस्य प्रथमः पादः। कथमार्यचारुदत्तोऽपि अस्माभिराह्वाययितव्यः। अथवा व्यवहारस्तमाह्वयति। भद्र शोधनक ! गच्छ, आर्यचारुदत्तं स्वैरमसम्भ्रान्तमनुद्विग्नं सादरमाहूय 'प्रस्तावेनाधिकरणिकस्त्वां द्रष्टुमिच्छति' इति।

शकार—श्रीमन् ! आप लोगों ने सुना ? इन अक्षरों को लिख लो। चारुदत्त के साथ मेरा मुकदमा है।

टीका—द्विविधः=द्वौ प्रकारौ यस्य तादृशः, वाक्यानुसारेण = श्रुतवाक्य-प्रतिपादितार्थतात्पर्यानुसारेण, अनुद्वेजयन्=वसन्तसेनायाः वधं श्रावयित्वा तस्या उद्वेगं न कारयन्नित्यर्थः, यौवनम् = यौवनजन्यसुखमित्यर्थः, शब्दापयति=आकारयति, अत्र पुगागमश्चिन्त्यः, मोहपरवशम्=किंकर्त्तव्यविमूढम्, थरथरायते=कम्पते, भावमिश्राणाम्=विद्वद्वर्याणाम्, वृद्धकुट्टिनि=वृद्धा=जराग्रस्ता चासौ कुट्टिनी=शम्भली, तत्सम्बुद्धौ रूपम्, परनारीं परपुंसा योजने दक्षेति भावः, प्रच्छनीयः=प्रष्टुं योग्यः, बहुत्र 'पृच्छनीयः' इति सम्प्रसारणघटितप्रयोगो दृश्यते सोऽशुद्धः कितादिपरत्वाभावात् सम्प्रसारणस्याप्राप्तेः, व्यवहारः=विवादः।

शब्दार्थ—आह्वायितव्यः=बुलाना चाहिये। स्वैरम्=मन्द मन्द, असम्भ्रान्तम्=विना घबड़ाहाट के, अनुद्विग्नम्=उद्वेगरहित, प्रस्तावेन=किसी प्रसङ्ग से।

अर्थ—**श्रेष्ठी और कायस्थ**—चारुदत्त मित्र हैं, इसमें कोई दोष नहीं है।

अधिकरणिक—यह विवाद-निर्णय चारुदत्त की अपेक्षा करता है।

श्रेष्ठी और कायस्थ—ऐसा ही है।

अधिकरणिक—धनदत्त ! 'वसन्तसेना आर्य चारुदत्त के घर गयी' यह मुकदमा की [बयान की] पहली पंक्ति लिख लो। क्या हमें चारुदत्त को भी बुलाना चाहिये। अथवा विवादनिर्णय ही उसे बुला रहा है। भद्र शोधनक ! जाओ, आर्य चारुदत्त को धीरे धीरे विना घबड़ाहट के आदरपूर्वक बुला लाओ—'प्रसंगवशात् न्यायाधिकारी आपका दर्शन करना चाहते हैं।'

शोधनकः—जं अज्जो आणवेदि। (यदार्य आज्ञापयति।) (इति निष्क्रान्तश्चारुदत्तेन सह प्रविश्य च) **एदु एदु अज्जो।** (एतु एतु आर्यः।)

चारुदत्तः—(विचिन्त्य)

परिज्ञातस्य मे राज्ञा शीलेन च कुलेन च
यत्सत्यमिदमाह्वानमवस्थामभिशङ्कते ॥ ८ ॥

शोधनक—आपकी जैसी आज्ञा। (यह कह कर निकल कर और चारुदत्त के साथ प्रवेश करके) आइये, आर्य आइये।

टीका—धनदत्त=इदं कायस्थलेखकस्य नाम, व्यवहारस्य=विवादस्य, तद्-विषयककथनस्य इत्यर्थः, पादः=अंशः, आह्वायितव्यः=आकारयितव्यः, स्वैरम्=धीरम्, असम्भ्रान्तम्=अत्वरम्, अनुद्विग्नम्=अव्याकुलम्, तथा वक्तव्यं येन चारुदत्तः स्वाभाविकीं दशां न परित्यजेदिति तद्भावः, सादरम्=ससम्मानम्, प्रस्तावेन=केनचित् प्रसङ्गेन, कुत्रचित् विवादनिर्णये भवदुपस्थितेरपेक्षणादित्यर्थः।

अन्वयः—राज्ञा, कुलेन, शीलेन, च, परिज्ञातस्य, मे, यत्, इदम्, आह्वानम्, तत्, सत्यम्, अवस्थाम्, अभिशङ्कते ॥ ८ ॥

शब्दार्थ—राज्ञा = राजा पालक द्वारा, कुलेन=कुलसे, च=और, शीलेन=स्वभावसे, परिज्ञातस्य=अच्छी तरह जाने गये, मे=मेरा, यत्=जो, इदम्=यह, आह्वानम्=बुलावा है, सत्यम्=निश्चितरूप से, अवस्थाम्=दशाको, दरिद्रता को, अभिशङ्कते=सन्दिग्ध कर रहा है, [दरिद्रता के कारण किसी भी दोष को मुझ पर लगाया जाना सम्भव है।] ॥ ८ ॥

अर्थ—चारुदत्त—(सोंचकर)

राजा (पालक) के द्वारा कुल और आचरण से अच्छी प्रकार परिचित मेरा यह बुलाया जाना सचमुच दरिद्रता के कारण शंका पैदा करता है ॥ ८ ॥

टीका—अकारणे राज्ञाऽऽह्वाने वितर्कमाह चारुदत्तः—राज्ञेति। राज्ञा=नृपेण, शीलेन=चरित्रेण, कुलेन=वंशेन, च, परिज्ञातस्य=सुपरिचितस्य, यत् इदम्=साम्प्रतं क्रियमाणम्, आह्वानम् = अकारणाहूतिः, सत्यम् = निश्चितम्, अवस्थाम् = दशाम्, दारिद्र्यम्, अभिशङ्कते=सन्देग्धि। मम दारिद्र्यमभिलक्ष्य कस्मिन्नपि विषये मदीय-दोषं तर्कयति, यतो हि दोषः सहसा दरिद्रमेवाश्रयति, न तु धनिनम्, दारिद्र्यस्य सर्वदोषैकहेतुत्वादिति तद्भावः। पथ्यावक्त्रं वृत्तम् ॥ ८ ॥

विमर्श—यहाँ 'आह्वानम्' को कर्तृपद समझना चाहिये। राजा चारुदत्त के बारे में सभी कुछ जानता है। फिर भी बुलाया जाना उसकी गरीबी का अनुचित लाभ उठाने के लिये हो सकता है। क्योंकि गरीब पर सभी दोष मढ़े जा सकते हैं, यह शंका चारुदत्त के मन में उठती है ॥ ८ ॥

(सवितर्कं स्वगतम् ।)

ज्ञातो हि किन्नु खलु बन्धनविप्रयुक्तो
मार्गागतः प्रवहणेन मयाऽपनीतः ।
चारेक्षणस्य नृपतेः श्रुतिमागतो वा
येनाहमेवमभियुक्त इव प्रयामि ॥ ९ ॥

अथवा, किं विचारितेन, अधिकरणमण्डपमेव गच्छामि । भद्र शोधनक ! अधिकरणस्य मार्गमादेशय ।

अन्वयः——बन्धनविप्रयुक्तः, मार्गागतः, सः, मया, प्रवहणेन, अपनीतः, खलु, किन्नु, ज्ञातः, वा, चारेक्षणस्य, नृपतेः, श्रुतिम्, आगतः, येन, अहम्, अभियुक्तः, इव, प्रयामि ॥ ९ ॥

शब्दार्थ——बन्धनविप्रयुक्तः–कारागार से भागा हुआ, मार्गागतः=सड़क पर आया हुआ, सः=वह, (आर्यक), मया=मेरे (चारुदत्त) के द्वारा, प्रवहणेन=गाड़ी से, अपनीतः=पहुँचा (भगा) दिया गया, खलु=निश्चित रूप से, किन्नु=क्या, ज्ञातः=(लोगों के द्वारा) जान लिया गया, वा=अथवा, चारेक्षणस्य=गुप्तचररूपी नेत्रोंवाले, नृपतेः=राजा के, श्रुतिम्=श्रवण में, आगतः=आगया, येन=जिससे, मैं=चारुदत्त, अभियुक्तः=अपराधी, इव=के समान, प्रयामि=जा रहा हूँ ॥ ९ ॥

अर्थ——(तर्कपूर्वक अपने में)

जेल से भागा हुआ, सड़क पर आया हुआ वह (आर्यक) मैंने (अपनी) गाड़ी से कहीं भगा दिया––यह क्या लोगों को मालूम हो गया ? अथवा गुप्तचर-रूपी नेत्रोंवाले राजा के कान में (समाचार) पहुँच गया जिसके कारण मैं अपराधी के समान जा रहा हूँ ॥ ९ ॥

टीका—चारुदत्त आह्वानकारणविषये वितर्कते––ज्ञात इति । बन्धनात्=कारागारात्, विप्रयुक्तः=पलायितः, विमुक्तः, ततः, मार्गागतः मार्गे = राजमार्गे, मार्गात् वा, आगतः=उपस्थितः, सः=आर्यकनामा गोपालपुत्रकः, मया=चारुदत्तेन, प्रवहणेन=स्वशकटेन, अपनीतः = अपसारितः, स्थानान्तरं प्रापितः, खलु=निश्चयेन, किं नु ज्ञातः=परिज्ञातः किं नु ? अपि सर्वैः जनैः ज्ञातः, सर्वे जनाः परम्परया ज्ञात्वा राजनं प्रकटितवन्तः किम् ? वा=अथवा, चारेक्षणस्य=चारचक्षुषः, नृपतेः=राज्ञः, श्रुतिम्=श्रवणम्, आगतः=प्राप्तः, चारैर्मदीयाचारितं श्रुतवान् किम् ? येन=येन कारणेन, अहम्=चारुदत्तः, एवम्=अनेन प्रकारेण, अभियुक्तः=अपराधी, इव=यथा, गच्छामि=व्रजामि, न्यायालये इति शेषः । अत्राभियोगसम्भावनायाः स्फुटत्वा-दुत्प्रेक्षालंकार इति बोध्यम् । वसन्ततिलकं वृत्तम् ॥ ९ ॥

अर्थ––अथवा सोचने से क्या लाभ ? न्यायालय की ओर ही जा रहा हूँ । (प्रकटरूप में) भद्र शोधनक ! न्यायालय का रास्ता बतलाओ ।

शोधनकः—एदु एदु अज्जो। (एतु एतु आर्यः।) (इति परिक्रामतः।)

चारुदत्तः—(सशङ्कम्) तत् किमपरम् ?

रूक्षस्वरं वाशति वायसोऽयममात्यभृत्या मुहुराह्वयन्ति।

सव्यञ्च नेत्रं स्फुरति प्रसह्य ममानिमित्तानि हि खेदयन्ति ॥ १० ॥

शोधनकः—एदु एदु अज्जो सैरं असम्भन्तं। (एतु एतु आर्यः स्वैरमसंभ्रान्तम्।)

चारुदत्तः—(परिक्रम्याग्रतोऽवलोक्य च)

शुष्कवृक्षस्थितो ध्वाङ्क्ष आदित्याभिमुखस्तथा।
मयि चोदयते वामं चक्षुर्घोरमसंशयम् ॥ ११ ॥

शोधनक—आइये, आइये श्रीमान्। (दोनों घूमते हैं।)

अन्वयः—अयम्, वायसः, रूक्षस्वरम्, वाशति, अमात्यभृत्याः, मुहुः, आह्वयन्ति, च, मम, सव्यम्, नेत्रम्, च, स्फुरति, अनिमित्तानि, हि, प्रसह्य, खेदयन्ति ॥ १० ॥

शब्दार्थ—अयम्=यह, वायसः=कौवा, रूक्षस्वरम्=रूखी कर्कश आवाज में, वाशति=बोल रहा है, काँव-काँव कर रहा है, अमात्यभृत्याः=सचिवों के नौकर, मुहुः=बार-बार, आह्वयन्ति=बुला रहे हैं, मम=मेरा, चारुदत्त का, सव्यम्=बाँया, नेत्रम्=आँख, स्फुरति=फड़क रही है, हि=निश्चित रूप से, अनिमित्तानि=अपशकुन, खेदयन्ति=दुखी बना रहे हैं ॥ १० ॥

अर्थ—**चारुदत्त**—(शंकासहित) तो यह और क्या ?

कौवा रूखी बोली में आवाज (काँव-काँव) कर रहा है। सचिवों के सेवक बार-बार बुला रहे हैं। मेरी बाँयी आँख फड़क रही है। निश्चित ही अपशकुन मुझे दुखी बना रहे हैं ॥ १० ॥

टीका—गमन-समयेऽपशकुनं दृष्ट्वा उद्वेगं प्रकटयति चारुदत्तः—रूक्षेति। अयम्=पुरो दृश्यमानः, वायसः=काकः, रूक्षस्वरम्=कर्कशम्, वाशति=शब्दं करोति, अमात्यानाम् = सचिवानाम् भृत्याः = सेवकाः, मुहुः = बारम्बारम्, आह्वयन्ति= आकारयन्ति, मम=चारुदत्तस्य, सव्यम् = वामम्, नेत्रम्=चक्षुः, च, स्फुरति=स्पन्दते, हि=निश्चयेन, अनिमित्तानि = अपशकुनानि, खेदयन्ति=उद्वेजयन्ति, मम खेदयन्तीत्यन्वये तु सम्बन्धसामान्ये षष्ठी बोध्या। माम् खेदयन्तीत्यर्थो बोध्यः। पुंसां वामाङ्गस्फुरणमनिष्टसूचकमिति वचनादत्र चारुदत्तस्य चिन्तोत्थानं बाध्यम्, उपजातिर्वृत्तम् ॥ १० ॥

अर्थ—**शोधनक**—आइये आर्य, धीरे-धीरे निश्चिन्त होकर आइये।

अन्वयः—शुष्कवृक्षस्थितः, तथा, आदित्याभिमुखः, ध्वाङ्क्षः, मयि, वामम्, चक्षुः, घोरम्, चोदयते, इति, असंशयम् ॥ ११ ॥

(पुनरन्यतोऽवलोक्य ।) अये ! कथमयं सर्पः ?

मयि विनिहितदृष्टिर्भिन्ननीलाञ्जनाभः
स्फुरित-विततजिह्वः शुक्लदंष्ट्राचतुष्कः ।
अभिपतति सरोषो जिह्मिताध्मातकुक्षि-
भुजगपतिरयं मे मार्गमाक्रम्य सुप्तः ॥ १२ ॥

शब्दार्थ—शुष्कवृक्षस्थितः=सूखे पेड़ पर बैठा हुआ, तथा=और, आदित्याभिमुखः = सूर्य की ओर मुह किये हुये, ध्वाङ्क्षः = कौवा, मयि=मेरे (चारुदत्त के) ऊपर, वामम्=बांयीं, चक्षुः = आँख, घोरम् = घोररूप से, चोदयते = डाल रहा है, इति = यह, असंशयम्=निश्चित है ॥ ११ ॥

अर्थ—**चारुदत्त**—(घूमकर और आगे देख कर)

सूखे पेड़ पर बैठा हुआ और सूर्य की ओर मुख किये हुये कौवा मेरे ऊपर बाँयीं आँख भयानक रूप से डाल रहा है, यह निश्चित है ॥ ११ ॥

टीका - पूर्वश्लोकोक्तमेवापशकुनं भङ्ग्यन्तरेण विशदीकृत्याभिदधाति — शुष्केति । शुष्के=नीरसे, पल्लवादिरहिते, वृक्षे=पादपे, स्थितः = आसीनः, तथा=च, आदित्याभिमुखः = सूर्यस्याभिमुखः, ध्वाङ्क्षः = काकः, मयि = चारुदत्ते, वामम्=सव्यम्, चक्षुः = नेत्रम, घोरम्=भयानकं यथा स्यात् तथा, चोदयते=निक्षिपति, इति, असंशयम्=असन्दिग्धम्, अस्ति । एवञ्च तादृशवायसावलोकनं महदनिष्टकरमिति चारुदत्तस्याशयः । घोरमिदं चक्षुषोऽपि विशेषणं सम्भवतीति बोध्यम् ॥ ११ ॥

अन्वयः—मयि, विनिहितदृष्टिः, भिन्ननीलाञ्जनाभः, स्फुरितविततजिह्वः, शुक्लदंष्ट्राचतुष्कः जिह्मिताध्मातकुक्षिः, मे, मार्गम्, आक्रम्य, सुप्तः, अयम्, भुजगपतिः, सरोषः, अभिपतति ॥ १२ ॥

शब्दार्थ—मयि=मेरे [= चारुदत के] ऊपर, विनिहितदृष्टिः=आँख गड़ाये हुये, भिन्ननीलाञ्जनाभः = घिसे हुये काले काजल के समान कान्तिवाला, स्फुरित-विततजिह्वः=फैली हुई लम्बी जीभ वाला, शुक्लदंष्ट्राचतुष्कः = सफेद [चमकती हुई] चार दाढ़ों वाला, जिह्मिताध्मातकुक्षिः = टेड़े और फूले हुये पेट वाला, तथा, मे=मेरे=चारुदत्त के, मार्गम्=रास्ते को, आक्रम्य = घेर कर, सुप्तः=लेटा हुआ, अयम्=यह, भुजगपतिः=विशाल साँप, सरोषः = गुस्सा के साथ, अभिपतति = मेरी ओर आ रहा है ॥ १२ ॥

अर्थ—(पुनः दूसरी ओर देखकर) अरे ! क्या यह साँप ?

मेरे ऊपर आँख गड़ाये हुये, घिसे हुये काजल के समान नीले रंगवाला, फैली और हिलती हुई जीभ वाला, सफेद चमकती हुई चार दाढ़ों वाला, टेढ़े और फूले

अपि च, इदम्——

स्खलति चरणं भूमौ न्यस्तं न चार्द्रतमा मही
स्फुरति नयनं वामो बाहुर्मुहुश्च विकम्पते ।
शकुनिरपरश्चायं तावद्विरौति हि नैकशः
कथयति महाघोरं मृत्युं न चात्र विचारणा ।। १३ ।।

हुये पेट वाला, मेरे रास्ते को घेर कर लेटा हुआ यह विशाल साँप क्रोध युक्त होकर मेरी ओर आ रहा है ।। १२ ।।

टीका——अन्यदपि अपशकुनमाह–मयीति । मयि=चारुदत्ते, तस्योपरि इत्यर्थः, विनिहिता=पातिता, दृष्टिः = नेत्रम्, येन सः, भिन्नम् = घृष्टम्, नीलम्=नीलवर्णम्, यत् अञ्जनम् = कज्जलम्, तस्य आभा=कान्तिः इव आभा यस्य सः, अतिकृष्ण इति भावः, स्फुरिता=स्पन्दिता, वितता=विस्तृता, च, जिह्वा=रसना यस्य सः, शुक्लम्= उज्वलम् दष्ट्राणां चतुष्कम् = चतुष्टयं यस्य सः, जिह्मितः = वक्रीकृतः, आध्मातः= वायुना पूरितः स्फीत इत्यर्थः, कुक्षिः = उदरं यस्य तादृशः, तथा, मे = चारुदत्तस्य, मार्गम्=पन्थानम्, आक्रम्य = व्याप्य, सुप्तः = शयितः वर्तमान इति भावः, अयम्= पुरोवर्ती, भुजगपतिः = नागराजः, विशालसर्प इति भावः, सरोषः = सक्रोधः, सन्, अभिपतति=सम्मुखमागच्छतीत्यर्थः । एवञ्च तादृशसर्पस्य सम्मुखागमनमतीवानिष्ट-सूचकमिति भावः । अत्र स्वभावोक्त्यलंकारः, मालिनी वृत्तम् ।। १२ ।।

अन्वयः——भूमौ, न्यस्तम्, (इदम्,) चरणम्, स्खलति, मही, च, आर्द्रतमा, न, नयनम्, स्फुरति, वामः, बाहुः, च मुहुः, विकम्पते, अयम्, अपरः, शकुनिः, च, तावत्, नैकशः, विरौति, (इदं सर्वम्) महाघोरम्, मृत्युम्, कथयति, अत्र, च, विचारणा, न, [वर्तते] ।। १३ ।।

शब्दार्थ——भूमौ=पृथ्वी पर, न्यस्तम्=रखा हुआ, (इदम्=यह,) चरणम्=पैर, स्खलति=फिसल रहा है, (किन्तु) च=और, मही=पृथिवी, आर्द्रतमा=अधिक गीली, न=नहीं, है, नयनम्=आँख, (बांयी आँख), स्फुरति=फड़क रही है, च=और, वामः= बाँया, बाहुः = हाथ, मुहुः = बार बार, विकम्पते=कांप रहा है, च =और, अयम्= यह, अपरः = दूसरा, शकुनिः = पक्षी [अमंगलसूचक पक्षी]. तावत् = वास्तव में, नैकशः = बार-बार, विरौति=चिल्ला रहा है, [इदम्=यह, सर्वम् = सभी कुछ] महाघोरम्=भयानक, मृत्यु = मौत, (मृत्युतुल्य कष्ट), कथयति=कह रहा है, अत्र च=और इस विषय में, विचारणा = विचार, न =नहीं (करना है) ।। १३ ।।

अर्थ--और भी, यह——

जमीन पर रखा हुआ (यह) पैर फिसल रहा है, किन्तु जमीन अधिक गीली (फिसलने लायक) नहीं है । और (बाँयी) आँख फड़क रही है, बाँया हाथ भी

सर्वथा देवताः स्वस्ति करिष्यन्ति ।

शोधनकः—एदु एदु अज्जो । इमं अधिअरणमण्डवं पविसदु अज्जो ।
(एतु एतु आर्यः । इममधिकरणमण्डपं प्रविशतु आर्यः ।)

चारुदत्तः—(प्रविश्य समन्तादवलोक्य ।) अहो ! अधिकरणमण्डपस्य परा श्रीः । इह हि—

चिन्तासक्त–निमग्न–मन्त्रि–सलिलं दूतोर्म्मिशङ्खाकुलं
पर्यन्त–स्थित–चार–नक्र–मकरं नागाश्व–हिंस्राश्रयम् ।
नाना–वाशक–कङ्क–पक्षि–रुचिरं कायस्थ–सर्पास्पदं
नीति–क्षुण्ण–तटश्च राज–करणं हिंस्रैः समुद्रायते ॥ १४ ॥

काँप रहा है। और यह [अमंगलसूचक] दूसरा पक्षी भी बार-बार चिल्ला रहा है। (यह सभी कुछ) महाघोर मृत्यु (या तत्तुल्य) कष्ट की सूचना दे रहा है, इसमें विचार करने की कोई बात नहीं है ॥ १३ ॥

टीका—अपरमपि अपशकुनमाह–स्खलतीति । भूमौ = पृथिव्याम्, न्यस्तम्=स्थापितम्, चरणम्=पादः, स्खलति=भ्रश्यति, च=किन्तु, मही–पृथ्वी, आर्द्रतमा=अत्यार्द्रा, न=नैव, वर्तते, पृथिव्या आर्द्रत्वाभावेऽपि चरणस्खलनमनिष्टकारकमिति भावः, नयनम्=वामं चक्षुः, स्फुरति=स्पन्दते, च=तथा, वामः=दक्षिणेतरः, बाहुः=भुजः, मुहुः=बारंबारम्, विकम्पते=स्फुरति, अयम्=पुरोवर्त्ती, अपर=अमङ्गलसूचकोऽन्यः, शकुनिः=पक्षी, तावत्=वस्तुतः, नैकशः=मुहुर्मुहुः, विरौति=कुत्सितं शब्दायते, [इदं सर्वम्], महाघोरम्=अतिदारुणम्, मृत्युम्=मरणम्, तत्तुल्यकष्टं वा, कथयति=सूचयति, अत्र च=अस्मिन् विषये च, विचारणा=विचारणीयता, संशयो वा, न=नैव, वर्तते । एवञ्चैतादृशानिमित्ते सति मम मृत्युर्ध्रुव इति बोध्यम् । अत्रानेकालंकाराणां सांकर्यं बोध्यम् । हरिणी वृत्तम्—न समरसला गः षड्वेदैर्हयैर्हरिणी मता ॥ १३ ॥

अर्थ—देवता लोग हर तरह कल्याण करेंगे ।

शोधनक—आइये आर्य, आइये । आर्य इस न्यायालय में प्रवेश करिये ।

अन्वयः—चिन्तासक्त-निमग्न-मन्त्रि-सलिलम्, दूतोर्मिशङ्खाकुलम्, पर्यन्तस्थित-चारनक्रमकरम्, नागाश्वहिंस्राश्रयम्, नानावाशककङ्कपक्षिरुचितम्, कायस्थसर्पास्पदम्, नीतिक्षुण्णतटम्, च, राजकरणम्, हिंस्रैः, समुद्रायते ॥ १४ ॥

शब्दार्थ—चिन्तासक्त-निमग्नमन्त्रिसलिलम् = [घटना की सत्यता की] चिन्ता में लगे और डूबे हुये मन्त्री ही जिसमें जल है, दूतोर्मिशंखाकुलम्=जो दूत-रूपी लहरों और शङ्खों से व्याप्त है, पर्यन्तस्थित-चारनक्रमकरम्=जिसमें चारों ओर स्थित गुप्तचररूपी घड़ियाल और मगर हैं, नागाश्वहिंस्राश्रयम्=हाथी और घोड़े रूपी हिंसक जीवों का जो आश्रय-स्थान है, नानावाशककंकपक्षिरचितम्=जो

भद्रतु । (प्रविशन् शिरोघातमभिनीय सवितर्कम्) अहह ! इदमपरम् ।

सव्यं मे स्पन्दते चक्षुर्विरौति वायसस्तथा ।
पन्थाः सर्पेण रुद्धोऽयं स्वस्ति चास्मासु दैवतः ।। १५ ।।

अनेक प्रकार से बोलने वाले=वादी-प्रतिवादीरूपी कंकपक्षियों से भरा हुआ है, कायस्थसर्पास्पदम्=जो कायस्थ रूपी साँपों का घर है, नीतिक्षुण्णतटम्=जिसका नीतिरूपी किनारा टूटा हुआ है, ऐसा, राजकरणम्=न्यायालय, हिंस्रैः=हिंसक जीवों से, समुद्रायते=समुद्र के समान प्रतीत हो रहा है ।।१४।।

अर्थ चारुदत्त——(प्रवेशकर चारों ओर देखकर) ओह ! इस न्यायालय की परम सुन्दरता है । क्योंकि यहाँ——

[घटना की सत्यता की जानकारी की] चिन्ता में लगे और डूबे हुये मन्त्री ही जिसमें जल हैं, जो दूतरूपी (सन्देशवाहक लोगरूपी) लहरों तथा शंखों से भरा हुआ है, जिसमें सभी ओर विद्यमान गुप्तचर रूपी घड़ियाल और मगर हैं, जो [अपने-अपने पक्ष के समर्थन में] तरह-तरह से बोलने वाले=वादी-प्रतिवादी रूपी कंक पक्षियों का आश्रय है, जो कायस्थरूपी साँपों का घर है, जिसका नीति रूपी किनारा टट चुका है, ऐसा राजा के न्याय का स्थान=कचहरी हिंसक लोगों के कारण समुद्र के समान प्रतीत हो रहा है ।। १४ ।।

टीका——साम्प्रतं न्यायालयस्य दुष्टत्वं प्रतिपादयति-चिन्तेति । चिन्तायाम्=घटनायास्तत्त्वार्थज्ञानविषये, आसक्ताः=प्रवृत्ताः, अत एव निमग्नाः=गाढनिविष्टाः, मन्त्रिणः=सचिवाः एव सलिलानि=जलानि यस्मिन् तत्, दृढतासम्पादनाय 'आसक्त-निमग्न' इत्युभय-प्रयोगः, दूताः=सन्देशहरा एव ऊर्मयः=तरङ्गाः, शङ्खाः=कम्बवश्च यद्वा ऊर्म्याक्षिप्ताः शङ्खाः, तैराकुलम्=व्याप्तम्, तथा पर्यन्तेषु=प्रान्तभागेषु, मध्यदेशेषु वा, स्थिताः=विद्यमानाः चाराः=गुप्तचरा एव नक्राः=कुम्भीराः, मकराः=एतन्नाम्ना प्रसिद्धाः जलजन्तुविशेषाश्च यत्र तत्, तथा नागाः=गजाः अश्वाः=घोटकाश्च ते एव, हिंस्राः=क्रूरजन्तवः तेषाम् आश्रयम्=आवासस्थानम्, नाना=विविधाः वाशकाः=शब्दं कुर्वाणाः स्वाभीष्टसिद्धयर्थं नानाविधभाषणदक्षाः वादिप्रभृतय एव कङ्कपक्षिणः=समुद्रतटचारिपक्षिविशेषाः तैः, रुचिरम्=मनोहरम्, कायस्थाः=लेखन-कर्मदक्षजातिविशेषोत्पन्नलोका एव सर्पाः=भुजङ्गाः, तेषाम् आस्पदम्=आश्रयस्थानम्, नीतिः=शासनशास्त्रम् एव क्षुण्णम्=भग्नम्, तटम्=कूलं यस्य तत्, हिंस्रैः=हिंसापरैः, स्वार्थसाधने इति शेषः, राजकरणम्=राज्ञः न्यायाधिकरणम्, समुद्रायते=समुद्रवद् आचरतीति भावः । अत्र रूपकमलङ्कारः, शार्दूलविक्रीडितं वृत्तम् ।।१४।।

अन्वयः——मे, सव्यम्, चक्षुः, स्पन्दते, तथा, वायसः, विरौति, अयम्, पन्थाः, च, सर्पेण, रुद्धः, अस्मासु, दैवतः, स्वस्ति (करिष्यति) ।।१५।।

तावत् प्रविशामि । (इति प्रविशति ।)

अधिकरणिकः—अयमसौ चारुदत्तः । य एषः—

घोणोन्नतं मुखमपाङ्गविशालनेत्रं
नैतद्धि भाजनमकारणदूषणानाम् ।
नागेषु गोषु तुरगेषु तथा नरेषु
नह्याकृतिः सुसदृशं विजहाति वृत्तम् ॥ १६ ॥

शब्दार्थ—मे=मेरा, सव्यम्=बाँया, चक्षुः=आँख, स्पन्दते=फड़क रही है, तथा=और, वायसः=कौवा, विरौति=चिल्ला रहा है, च=और, अयम्=यह, पन्थाः=रास्ता, सर्पेण=साँप ने, रुद्धः=घेर लिया है, अस्मासु=हम लोगों पर, दैवतः=भाग्य, स्वस्ति=कल्याण, (करिष्यति=करेगा) ॥१५॥

अर्थ—अच्छा, [प्रवेश करता हुआ शिर की चोट लगने का अभिनय करके सोंच-विचार-पूर्वक] अहह ! यह दूसरा (अपशकुन ।

मेरी बाँयी आँख फड़क रही है तथा कौवा बार-बार चिल्ला रहा है, और इस साँप ने रास्ता घेर लिया है। भाग्य ही कल्याण करेगा ॥१५॥

टीका—शिरोऽवघातेन सहैव पुनरपि अपशकुनं प्रकटयति —सव्यमिति । मे=मम चारुदत्तस्य, सव्यम्=वामम्, चक्षुः=नेत्रम्, स्पन्दते=स्फुरति, तथा, वायसः=काकः, विरौति=कुत्सितं शब्दायते, अयम्=पुरोवर्ती, पन्थाः=मार्गः, च, सर्पेण=विषधरेण, रुद्धः=आक्रान्तः, अस्मासु=चारुदत्तसम्बन्धिषु, दैवतः=भाग्यम् यद्वा, देवताः, स्वस्ति=कल्याणम्, करिष्यति=विधास्यतीति शेषः । देव एव देवता, स्वार्थे तल् ततः स्वार्थिक एव अण् प्रत्ययः । यद्वा देवतानां समूहः—इत्यर्थेऽण् प्रत्ययो बोध्यः । देवसमूहो मम कल्याणं विधास्यतीति तद्भावः । पथ्यावक्त्रं वृत्तम् ॥१५॥

विमर्श—दैवतः—यह 'दैवतानि पुंसि वा' इस अमरकोष के अनुसार पुलिङ्ग है। अथवा 'देवता एव दैवतः' यहाँ 'देवता' शब्द से 'प्रज्ञादिभ्योऽण्' सूत्र से पुनः स्वार्थिक अण् प्रत्यय है। अथवा देवतानां समूहः—इस अर्थ में अण् प्रत्यय करके 'देवसमूह' यह अर्थ करना चाहिये ॥१५॥

अर्थ—तो तबतक प्रवेश करता हूँ। (ऐसा कहकर प्रवेश करता है ।)

अन्वयः—घोणोन्नतम्, अपाङ्गविशालनेत्रम्, एतत्, मुखम्, अकारण-दूषणानाम्, भाजनम्, न, हि, [भवितुम् अर्हति,] हि, नागेषु, गोषु, तुरगेषु, तथा नरेषु, आकृतिः, सुसदृशम्, वृत्तम्, न, विजहाति ॥१६॥

शब्दार्थ—घोणोन्नतम्=ऊँची नाकवाला, अपाङ्गविशालनेत्रम्=कोणभाग तक लम्बी आँखोंवाला, एतत्=यह, मुखम्=मुख, अकारणदूषणानाम्=बिना कारण के अपराध करने का, भाजनम्=पात्र, न हि=नहीं, [भवितुम् अर्हति=हो सकता है ।]

चारुदत्तः—भोः ! अधिकृतेभ्यः स्वस्ति । हंहो नियुक्ताः ! अपि कुशलं

हि=क्योंकि, नागेषु=हाथियों में, गोषु=गायों और बैलों में, तुरगेषु=घोड़ों में, तथा=और, नरेषु=मनुष्यों में, आकृतिः=आकार, स्वरूप, सुसदृशम्=अपने समान, वृत्तम्=आचरण को, न=नहीं, विजहाति=छोड़ती है ॥१६॥

अर्थ—अधिकरणिक—यही वे चारुदत्त हैं। जो यह—

ऊँची नाकवाला, किनारों तक लम्बे नेत्रों वाला यह मुख विना किसी कारण के अपराधों का पात्र=करने वाला नहीं हो सकता। क्योंकि हाथियों में, गायों, बैलों में, घोड़ों में और मनुष्यों में सुन्दर आकार अपने योग्य आचरण को नहीं छोड़ता है। [अर्थात् सुन्दर मुंहवाला यह चारुदत्त वसन्तसेना की हत्यारूपी घृणित काम को नहीं कर सकता।] ॥१६॥

टीका—'यत्राकृतिस्तत्र गुणाः वसन्ती'ति प्रसिद्धसिद्धान्तेन सुरूपस्य चारुदत्तस्यायं वसन्तसेनाहत्यारूपोऽपराधो भवितुं नार्हतीति वक्तुमाह—घोणेति। उन्नता=उद्गता, घोणा=नासिका यस्मिन् तत् 'वाऽहिताग्न्यादिषु' इति सूत्रेण विशेषणस्य परनिपातः, उन्नतनासिकमिति भावः, अपाङ्गयोः=नेत्रप्रान्तयोः, विशाले=आयते, नेत्रे=चक्षुषी यस्य तादृशम्, आकर्णविशालनेत्रम्, एतत्=पुरोवर्ति, मुखम्=आननम्, अकारणदूषणानाम्=अहैतुकापराधानाम्, भाजनम्=पात्रम्, कर्तृ इति भावः, न हि=नैव, भवितुमर्हति, हि=यतो हि, नागेषु=गजेषु, गोषु=धेनुषु वृषभेषु च, गोशब्द उभयोरर्थयोः वाचीति बोध्यम्, तुरगेषु=अश्वेषु, तथा=एवम्, नरेषु=मनुष्येषु, आकृतिः=स्वरूपम्, सुसदृशम्=स्वानुरूपम्, वृत्तम्=आचरणम्, न=नैव, जहाति=परित्यजति। एवञ्चास्य चारुदत्तस्य सुन्दराकृतिरेवास्य निर्दोषत्वं प्रतिपादयतीति तद्भावः।

अत्र प्रस्तुताप्रस्तुतानां नरनागादीनाम् आकृत्यनुरूपस्वभावापरित्यागरूपैकधर्माभिसम्बन्धात् दीपकालंकारः, अपि च पूर्वार्द्धप्रतिपादित-विशेषनरस्यैव चारुदत्तस्य परार्द्धगतेन 'नरेषु' इति कृत्वा सामान्येन समर्थनात्, सामान्येन विशेषसमर्थनरूपोऽर्थान्तरन्यासश्च इत्यनयोरन्योन्यसापेक्षतया संकर इति जीवानन्दः। शार्दूलविक्रीडितं वृत्तम् ॥१६॥

शब्दार्थ—अधिकृतेभ्यः=निर्णय करने के लिये नियुक्त न्यायाधीशों के लिये, नियुक्ताः=कर्मचारी, ससम्भ्रमम्=घबड़ाहट के साथ, स्त्रीघातकः=औरत का हत्यारा, न्याय्यः=न्याययुक्त, धर्म्यः=धर्मयुक्त, व्यवहारः=आचरण, प्रसक्तिः=लगाव, प्रणयः=साधारण प्रेम, प्रीतिः=विशेष प्रेम, सुनिक्षिप्तम्=अच्छी तरह लगाया, यौवनम्=जवानी।

अर्थ—चारुदत्त—हे अधिकारियों ! आपका कल्याण हो। अरे कर्मचारियों !

भवताम् ?

अधिकरणिकः –(ससम्भ्रमम्) स्वागतमार्यस्य । भद्र शोधनक ! आर्यस्यासनमुपनय ।

शोधनकः—(आसनमुपनीय) एदं आसणं, एत्थ उववसिदु अज्जा । (इदमासनम्, अत्रोपविशतु आर्यः ।)

(चारुदत्त उपविशति ।)

शकारः—(सक्रोधम्) आगदेशि ले इत्थिआघादआ ! आगदेशि ? अहो ! णाए ववहाले ! अहो ! धम्मे ववहाले ! जं एदाह–इत्थिआ-घादकाह आशणे दीअदि (सगर्वम्) भोदु, णं दीअदु । (आगतोऽसि रे स्त्रीघातक ! आगतोऽसि ? अहो ! न्याय्यो व्यवहारः ! अहो ! धर्म्यो व्यवहारः, यदेतस्मै स्त्रीघातकाय आसनं दीयते । भवतु, ननु दीयताम् ।)

अधिकरणिकः—आर्यचारुदत्त ! अस्ति भवतोऽस्या आर्याया दुहित्रा सह प्रसक्तिः, प्रणयः प्रीतिर्वा ?

चारुदत्तः– कस्याः ?

अधिकरणिकः—अस्याः । (इति वसन्तसेनामातरं दर्शयति ।)

चारुदत्तः—(उत्थाय) आर्ये ! अभिवादये ।

वृद्धा—जाद ! चिरं मे जीव । (स्वगतम्) अअं सो चारुदत्तो । सुणि-क्खित्तं क्खु दारिआए जोव्वणं ।

(जात ! चिरं मे जीव ।) (अयं स चारुदत्तः । सुनिक्षिप्तं खलु दारिकया यौवनम् ।)

आप लोगों का कुशल तो है ?

अधिकरणिक—(घबड़ाकर, जल्दी से) आर्य का स्वागत है । भद्र शोधनक ! आर्यचारुदत्त के लिये आसन (कुर्सी) लाओ ।

शोधनक—(आसन लाकर) यह आसन है । श्रीमान् ! इस पर बैठिये ।

(चारुदत्त बैठ जाता है ।)

शकार—(गुस्सा के साथ) अरे, औरत के हत्यारे ! आ गये हो, आ गये हो ? यह न्याययुक्त व्यवहार है जो इस औरत के हत्यारे को बैठने का आसन दिया जा रहा है ? (घमण्ड से) अच्छा, दे दीजिये ।

अधिकरणिक—आर्य चारुदत्त ! इस वृद्धा की लड़की के साथ आपका लगाव, प्रेम या विशेष अनुराग है ?

चारुदत्त—किस की ?

अधिकरणिक—इसकी । (यह कहकर वसन्तसेना की माता को दिखाता है ।)

चारुदत्त—(उठकर) आर्ये ! प्रणाम करता हूँ ।

वृद्धा—बेटा ! चिरंजीवी रहो । (अपने में) यही वे चारुदत्त हैं । मेरी

अधिकरणिकः—आर्य ! गणिका तव मित्रम् ?

(चारुदत्तो लज्जां नाटयति ।)

शकारः—

लज्जाए भीलुदाए या चालित्तं अलिए ! णिगूहिदुं ।
शअं मालिअ अत्थकालणा दाणिं गूहदि ण तं हि भट्टके ।। १७ ।।

(लज्जया भीरुतया वा चारित्रमलीक ! निगूहितुम् ।)
स्वयं मारयित्वा अर्थकारणादिदानीं गूहति न तद्धि भट्टकः ।। १७ ।।)

लड़की ने अच्छी जगह अपनी जवानी लगाई ।

अधिकरणिक—आर्य ! गणिका आपकी मित्र है ?

(चारुदत्त लज्जा का अभिनय करता है ।)

अन्वयः—अलीक ! अर्थकारणात्, स्वयम्, मारयित्वा, इदानीम्, लज्जया, भीरुतया, वा, चारित्रम्, निगूहितुम्, (चेष्टसे) भट्टकः, तत्, न हि, निगूहति ।।१७।।

शब्दार्थः—रे अलीक !=रे असत्यवादी, अर्थकारणात्=धन के कारण, स्वयम्=अपने आप, मारयित्वा=मार कर, लज्जया=लज्जा से, वा=अथवा, भीरुतया=डर के कारण, चारित्रम्=आचरण=अपने दुष्कृत को, इदानीम्=इस समय (न्यायालय में), निगूहितुम्=छिपाने के लिये (चेष्टसे=चेष्टा कर रहे हो) किन्तु, भट्टकः=स्वामी अथवा अधिकरणिक, तत्=उस (तुम्हारे पाप कर्म) को, न हि=नहीं, गूहति=छिपाता है, (तुम्हारा पापाचरण छिपा कर मुक्त करना नहीं चाहता है ।) ।।१७।।

अर्थ—शकार—

अरे झूठे ! धन के [लोभ के] कारण स्वयं (वसन्तसेना को) मार कर लज्जा के कारण अथवा भय के कारण (अपने) पाप कर्म को छिपाने के लिये चेष्टा कर रहे हो । किन्तु स्वामी (राजा, या न्यायाधिकारी) उसे नहीं छिपाता है । (तुम्हारा पाप चरित्र छिपा कर छोड़ना नहीं चाहता है ।) ।।१७।।

टीका—गणिकया सह प्रेमप्रकाशने लज्जमानं चारुदत्तमधिक्षिपति शकारः — लज्जयेति । रे अलीक ! = मिथ्यावादिन् !, अर्थस्य = धनस्य, कारणात् = हेतोः, स्वयम्=आत्मना, मारयित्वा=हत्वा, लज्जया=त्रपया, वा=अथवा, भीरुतया=भयशीलत्वेन, इदानीम्=साम्प्रतं न्यायालये इत्यर्थः, चारित्रम्=चरित्रमेव चारित्रम्, स्वार्थे प्रज्ञादित्वादण् बोध्यः, वसन्तसेनाहत्यारूपं पापकर्म, निगूहितुम्=गोपायितुम्, चेष्टसे=यतसे इति शेषः । भट्टकः=राजा, अधिकरणिको वा, तत्=त्वदीय पापकर्म, न हि=नैव, निगूहति=आवृणोति, तव पापाचरणं गोपायित्वा नैव त्वां

श्रेष्ठिकायस्थौ——अज्जचारुदत्त ! भणाहि, अलं लज्जाए, ववहारो क्खु एसो। (आर्यचारुदत्त ! भण, अलं लज्जया, व्यवहारः खल्वेषः ।)

चारुदत्तः——(सलज्जम्) **भो अधिकृताः ! मया कथमीदृशं वक्तव्यं यथा गणिका मम मित्रमिति । अथवा यौवनमत्रापराध्यति, न चारित्रम् ।**

अधिकरणिकः——

व्यवहारः सविघ्नोऽयं त्यज लज्जां हृदि स्थिताम् ।
ब्रूहि सत्यमलं धैर्यं छलमत्र न गृह्यते ॥ १८ ॥

मोचयितुं यतते इति भावः । 'अलीकम्' इति पाठे तु 'चारित्रम्' इत्यस्य विशेषणं बोध्यम् । अत्र वैतालीयं वृत्तम् ॥१७॥

अर्थ—**श्रेष्ठी और कायस्थ**—आर्य चारुदत्त ! कहो, लज्जा की कोई बात नहीं है यह मुकदमा है ।

चारुदत्त ए न्यायाधिकारियों ! मैं ऐसा कैसे कह सकता हूँ कि गणिका मेरी मित्र है । अथवा यहाँ यौवन [जवानी] अपराधी है न कि चरित्र ।

अन्वयः——अयम्, व्यवहारः, सविघ्नः, अतः, हृदि, स्थिताम्, लज्जाम्, त्यज, सत्यम्, ब्रूहि, धैर्यम्, अलम्, अत्र, छलम्, न गृह्यते ॥ १८ ॥

शब्दार्थ——अयम्=यह, व्यवहारः=मुकदमा, सविघ्नः=परेशानियों से भरा हुआ है, (अतः=इस लिये), हृदि=हृदय में, स्थिताम्=विद्यमान, लज्जाम्=लाज को, त्यज=छोड़ दो, सत्यम्=सच, ब्रूहि=बोलो, धैर्यम्=धैर्य, अलम्=व्यर्थ है, अत्र=यहाँ न्यायालय में, छलम्=कपट, न=नहीं, गृह्यते=माना जाता है ॥ १८ ॥

अर्थ——अधिकरणिक——

यह मुकदमा परेशानियों से भरा हुआ है, अतः हृदय में विद्यमान लज्जा को छोड़ दो । सच बोलो । धैर्य अनावश्यक है । [अतः चुप रहना ठीक नहीं है ।] इस न्यायालय में छलकपट नहीं माना जाता है ॥ १८ ॥

टीका——चारुदत्तं वक्तुं प्रेरयन्नाह-व्यवहारेति । अयम्=साम्प्रतं प्रचलितः, व्यवहारः=विवादः अभियोगविचारः, सविघ्नः=बहुविधसंकट-परिपूर्णः, अस्ति, अतः हृदि=मनसि, स्थिताम्=वर्तमानाम् लज्जाम्=त्रपाम्, त्यज=जहि, सत्यम्=यथार्थम्, ब्रूहि=वद, धैर्यम्=गाम्भीर्यम्, मौनावलम्बनमिति भावः, अलम्=अनावश्यकम्, हानिकरमिति यावत्, अत्र=न्यायालये, छलम्=कपटादिकम्, न=नहि, गृह्यते=स्वीक्रियते । एवञ्च त्वया वास्तविकी घटना वर्णनीया येन शकारकृतारोपस्य तत्त्वनिर्णये समर्थाः स्याम इति तदभिप्रायः । पथ्यावक्त्रं वृत्तम् ॥ १८ ॥

अलं लज्जया, व्यवहारस्त्वां पृच्छति।

चारुदत्तः—अधिकृत ! केन सह मम व्यवहारः ?

शकारः—(साटोपम्) अले ! मए शह ववहाले। (अरे ! मया सह व्यवहारः।)

चारुदत्तः—त्वया सह मम व्यवहारः सुदुःसहः।

शकारः—अले इत्थिआघादआ ! तं तादिशिं लअणशदभूशणिअं वशन्तशेणिअं मालिअ, शम्पदं कवड़कावड़िके भविअ णिगूहेशि ? (अरे स्त्री-घातक ! तां तादृशीं रत्न-शत-भूषणिकां वसन्तसेनां मारयित्वा, साम्प्रत कपटकापटिको भूत्वा निगूहसि।)

चारुदत्तः—असम्बद्धः खल्वसि।

अधिकरणिकः—आर्य चारुदत्त ! अलमनेन। ब्रूहि सत्यम्। अपि गणिका तव मित्रम् ?

चारुदत्तः—एवमेव।

अधिकरणिकः—आर्य ! वसन्तसेना क्व ?

चारुदत्तः—गृहं गता।

श्रेष्ठिकायस्थौ—कधं गदा ? कदा गदा ? गच्छन्ती वा केण अणुगदा ? (कथं गता ? कदा गता ? गच्छन्ती वा केन अनुगता ?)

अर्थ—लजाने की कोई बात नहीं है। विचारणीय अभियोग तुमसे पूछ रहा है।

चारुदत्त—न्यायाधिकारिन् ! किसके साथ मेरा मुकदमा है ?

शकार—(घमण्ड से) अरे ! मेरे साथ तुम्हारा मुकदमा है।

चारुदत्त—तुम्हारे साथ मेरा मुकदमा अति कष्ट से सहन करने योग्य है अर्थात् मैं नहीं सह सकता।

शकार—अरे औरत के हत्यारे ! अरे, उस प्रकार की सैंकड़ों रत्नों से सजी हुई वसन्तसेना को मार कर इस समय कपटपूर्वक छिपाने वाले बनकर [अपना अपराध] छिपा रहे हो।

चारुदत्त—तुम ऊटपटांग बोलने वाले हो।

अधिकरणिक—आर्य चारुदत्त ! इन बेकार की बातों से क्या ? सच सच बताइये, गणिका आपकी मित्र है ?

चारुदत्त—हाँ, ऐसा ही है।

अधिकरणिक—आर्य ! वसन्तसेना कहाँ है ?

चारुदत्त—घर गयी है।

श्रेष्ठी और कायस्थ—कैसे गयी ? कब गयी ? और किसके साथ साथ गयी ?

चारुदत्तः—(स्वगतम्) किं प्रच्छन्नं गतेति ब्रवीमि ?

श्रेष्ठिकायस्थौ—अज्ज ! कधेहि । (आर्य कथय ।)

चारुदत्तः—गृहं गता । किमन्यत ब्रवीमि ।

शकारः—ममकेलकं पुप्फकलण्डकंजिण्णुज्जाणं पवेशिअ, अत्थणिमित्तं बाहु-पाश-बलक्कालेण मालिदा । अए ! शम्पदं वदशि घलं गदेत्ति । (मदीयं पुष्पकरण्डकजीर्णोद्यानं प्रवेश्य अर्थनिमित्तं बाहुपाशबलात्कारेण मारिता । अये ! साम्प्रत वदसि—गृहं गतेति ।)

चारुदत्तः—आः असम्बद्धप्रलापिन् !

अभ्युक्षितोऽसि सलिलैर्न बलाहकानां
चाषाग्रपक्षसदृशं भृशमन्तराले ।
मिथ्यैतदाननमिदं भवतस्तथापि
हेमन्तपद्ममिव निष्प्रभतामुपैति ।। १९ ।।

चारुदत्त—(अपने में) क्या यह कह दूँ कि छिपी हुयी गयी ?

श्रेष्ठी और कायस्थ—आर्य ! बताइये ।

चारुदत्त—घर गई । और क्या बताऊँ ।

शकार—मेरे पुष्पकरण्डक नामक जीर्ण उद्यान में ले जाकर धन के (लोभ के) कारण हाथों से गला दबाकर मार डाला । अरे ! इस समय कह रहे हो—'घर गयी है ।'

अन्वयः—अन्तराले, बलाहकानाम्, सलिलैः, चाषाग्रपक्षसदृशम्, भृशम्, न अभ्युक्षितः, असि, तथापि, भवतः, इदम्, आननम्, हि, हेमन्तपद्मम, इव, निष्प्रभताम्, उपैति, अतः, एतत्, मिथ्या, अस्ति ।। १९ ।।

शब्दार्थ—अन्तराले=अन्तरीक्ष में, बलाहकानाम्=बादलों के, सलिलैः=पानी से, चाषाग्रपक्षसदृशम्=चातक पक्षी के पंख के अग्रभाग के समान, भृशम्=अच्छी तरह, न=नहीं, अभ्युक्षितः=भीगे हुये, असि=हो, तथापि=फिर भी, भवतः=आपका, इदम्=यह, आननम्=मुंह, चेहरा, हि=निश्चितरूप से, हेमन्तपद्मम्=हेमन्त ऋतु के कमल, इव=के समान, निष्प्रभताम्=कान्तिहीनता को, उपैति=प्राप्त कर रहा है।। १९ ।।

अर्थ—चारुदत्त—ओह अनर्गलवकवादी !

अन्तरीक्ष में बादलों के पानी से चातक पक्षी के पंख के अग्रभाग की तरह खूब नहीं भीगे हो, फिर भी तुम्हारा यह मुंह हेमन्त ऋतु में कमल के समान मुरझाया हुआ हो रहा है अतः तुम्हारा यह कहना झूठ है ।। १९ ।।

टीका—शकारस्य निष्प्रभं मुखं तस्यापराधित्वं व्यनक्तीति प्रतिपादयति चारुदत्तः—अभ्युक्षितेति । अन्तराले=अन्तरीक्षे, बलाहकानाम्=मेघानाम, सलिलैः=

अधिकरणिकः—(जनान्तिकम्)

तुलनश्चाद्रिराजस्य समुद्रस्य च तारणम् ।
ग्रहणञ्चानिलस्येव चारुदत्तस्य दूषणम् ॥ २० ॥

जलैः, चाषस्य=स्वर्णवातकस्य अग्रपक्षः=पक्षाग्रम्, तस्य, सदृशम्=तुल्यम्, यथा स्यात् तथा, भृशम्=अत्यधिकम्, न=नैव, अभ्युक्षितः=सिक्तः असि, तथापि=पूर्वोक्तस्थितौ सत्यामपि, भवतः = शकारस्य, इदमाननम्, हेमन्तपद्ममिव = हेमन्ताख्यर्तुसम्भवं कमलमिव, निष्प्रभताम्=मलिनताम्, उपैति=गच्छति । अतः, एतत्=शकारोक्तमभियोगादिकं सर्वम्, मिथ्या=असत्यमिति तद्भावः । वसन्ततिलकं वृत्तम् ॥ १९ ॥

विमर्शः—इस श्लोक का अभिप्राय कुछ अस्पष्ट है । घबड़ाहट के कारण शकार के माथे पर पसीने की बूंदे निकल आयीं हैं और चेहरा मुरझा गया है । अतः उसका कथन असत्य प्रतीत होता है । क्योंकि विना वर्षा के माथे पर बूंदें होना अस्वाभाविक है । इसी लिये चारुदत्त कहता है कि स्वर्ण चातक के समान तुम आकाश में नहीं उड़ रहे थे जिससे चेहरे पर पानी की बूंदें दिखाई पड़तीं । अतः अकारण पसीना आना और मुख का मुरझा जाना ही तुम्हारे कथन की असत्यता बता रहे हैं ।

कहीं कहीं 'तथापि' के स्थान पर 'तथाहि' ऐसा पाठ है । उसके अनुसार ऐसा अन्वय करना चाहिये—एतत् मिथ्या अस्ति, तथाहि—बलाहकानाम्, सलिलैः, न, अभ्युक्षितः, असि, अन्तराले, चाषाग्रपक्षसदृशम्, भवतः, इदम्, आननम्, हेमन्तपद्मम्, इव, निष्प्रभताम्, उपैति ॥ १९ ॥

अन्वयः—अद्रिराजस्य, तुलनम्, समुद्रस्य, तारणम्, अनिलस्य, च, ग्रहणम्, इव, चारुदत्तस्य, दूषणम् ॥ २० ॥

शब्दार्थ—अद्रिराजस्य=हिमालय को, तुलनम्=तौलना, समुद्रस्य=समुद्र को, तारणम्=तैरना, च=और, अनिलस्य=वायु को, ग्रहणम्=पकड़ना, इव=के समान, चारुदत्तस्य=चारुदत्त को, दूषणम्=दूषित करना है ॥ २० ॥

अर्थ—अधिकरणिक—(जनान्तिक)

हिमालय को तौलने, समुद्र को तैरकर पार करने और हवा को पकड़ने के समान चारुदत्त को दोषी बनाना है । [अर्थात् जैसे ये तीनों असम्भव हैं वैसे ही चारुदत्त का अपराधी होना भी असम्भव है] ॥ २० ॥

टीका—चारुदत्तस्य दोषित्वमसम्भवमिदं प्रतिपादयति—तुलनमिति । अद्रिराजस्य=हिमालयस्य, तुलनम्=तुलया गुरुत्वनिरूपणमिति भावः, समुद्रस्य=सागरस्य, तारणम्=सन्तरणेन अपरपारगमनम्, तथा, अनिलस्य=वायोः, ग्रहणम्=हस्तादिना संयमनम्, इव=तुल्यम्, चारुदत्तस्य, दूषणम्=दोषारोपणम् । एवञ्च यथैतत् त्रितयं

(प्रकाशम्) आर्यचारुदत्तः खल्वसौ कथमिदमकार्यं करिष्यति ?
(घोणेत्यादि ९।१६ श्लोकं पठति ।)

शकारः––किं पक्खवादेण ववहाले दीशदि ? (किं पक्षपातेन व्यवहारो दृश्यते ?)

अधिकरणिकः––अपेहि मूर्ख !।

वेदार्थान् प्राकृतस्त्वं वदसि न च ते जिह्वा निपतिता
मध्याह्ने वीक्षसेऽर्कं न तव सहसा दृष्टिर्विचलिता ।
दीप्ताग्नौ पाणिमन्तः क्षिपसि स च ते दग्धो भवति नो
चारित्र्याच्चारुदत्तं चलयसि न ते देहं हरति भूः ॥२१॥

लोकेऽसम्भवं तथैव चारुदत्तस्योपरि हत्यारोपणमपि असम्भवमेवेति तद्भावः । अत्र मालोपमालंकारः । पथ्यावक्त्रं वृत्तम् ॥२०॥

विमर्श––जैसे कोई हिमालय को नहीं तौल सकता, तैर कर समुद्र नहीं पार कर सकता, हाथ से हवा नहीं पकड़ सकता उसी प्रकार चारुदत्त पर दोष नहीं लगाया जा सकता। अतः शकारकृत आरोप झूठा है ॥२०॥

अर्थ––(प्रकट रूप में) ये आर्य चारुदत्त इस अनुचित काम को कैसे कर सकते हैं। ("ऊँची नाक वाला, अपाङ्ग तक विशाल नेत्र वाला" आदि पूर्वोक्त ९।१६ वाँ श्लोक पढ़ता है ।)

शकार––क्या पक्षपातपूर्ण ढंग से मुकदमा विचारा जा रहा है ?

अन्वयः––त्वम्, प्राकृतः, [सन्] वेदार्थान्, वदसि, ते, जिह्वा, न च, निपतिता, मध्याह्ने, अर्कम्, वीक्षसे, तव, दृष्टिः, सहसा, न, विचलिता, दीप्ताग्नौ, अन्तः, पाणिम्, क्षिपसि, ते, स, च, दग्धः, नो, भवति, चारुदत्तम्, चारित्र्यात्, चलयसि, भूः, ते, देहम्, न, हरति ॥२१॥

शब्दार्थ––त्वम्=तू शकार, प्राकृतः=नीच, सन्=होता हुआ, वेदार्थान्=वेदप्रतिपादित अर्थों को, वदसि=कह रहे हो, ते=तुम्हारी, जिह्वा=जीभ, न च=नहीं, निपतिता=गिरी, मध्याह्ने=दोपहर में, अर्कम्=सूर्य को, वीक्षसे=देख रहे हो, तव=तुम्हारी, दृष्टिः=आँख, सहसा=अचानक, न=नहीं, विचलिता=चौंधिया गई है, दीप्ताग्नेः=जलती आग के, अन्तः=बीच में, पाणिम्=हाथ, क्षिपसि=डाल रहे हो, ते=तुम्हारा, स च=वह, हाथ, दग्धः=जला हुआ, नो=नहीं, भवति=होता है, चारुदत्तम्=चारुदत्त को, चारित्र्यात्=सदाचार से, चलयसि=गिराते हो, भूः=पृथ्वी, ते=तुम्हारी, देहम्=शरीर को, न=नहीं, हरति=हर रही है ॥२१॥

अर्थ––अधिकरणिक––दूर हट जा मूर्ख !

आर्यचारुदत्तः कथमकार्यं करिष्यति ।

कृत्वा समुद्रमुदकोच्छ्रयमात्रशेषं
दत्तानि येन हि धनान्यनपेक्षितानि ।
स श्रेयसां कथमिवैकनिधिर्महात्मा
पापं करिष्यति धनार्थमवैरिजुष्टम् ? ॥ २२ ॥

तुम नीच होकर वेद के अर्थों को कह रहे हो किन्तु तुम्हारी जीभ नहीं गिर गयी। दोपहर में सूर्य को देख रहे हो, किन्तु तुम्हारी आँख नहीं चौंधिया गयी। जलती हुई आग के बीच में हाथ डाल रहे हो, किन्तु वह जल नहीं रहा है। चारुदत्त को सच्चरित्र से गिरा रहे हो, यह पृथ्वी तुम्हारा हरण नहीं कर लेती है ॥२१॥

टीका—चारुदत्तं दूषयतस्तव शरीरं न नश्यतीति आश्चर्यं व्यनक्ति–वेदार्थेति । त्वम्=शकारः, वेदार्थान्=वेदप्रतिपाद्यार्थान्, वदसि=कथयसि, ते=तव, शकारस्य, जिह्वा=रसना, न च=न हि, निपतिता=स्खलिता, पृथग्भूय भूमौ पतितेति भावः, मध्याह्ने=मध्यन्दिने, अर्कम्=सूर्यम्, वीक्षसे=पश्यसि, तव=शकारस्य, दृष्टिः=चक्षुः, सहसा=अकस्मादेव, न=नैव, विचलिता=उपहता, तथा, दीप्ताग्नेः=प्रज्वलिताग्नस्य, अन्तः=मध्ये, पाणिम्=हस्तम्, क्षिपसि=पातयसि, ते=तव, स च=तादृशोऽग्नि-मध्यस्थो हस्तः, न=नैव, दग्धः=भस्मीभूतः, भवति=जायते । चारुदत्तम्=एतन्नामकं निर्मलचरित्रम्, चारित्र्यात्=सदाचारात्, चलयसि=भ्रंशयसि, तथापि, भूः=धरा, ते=तव,शकारस्य, देहम्=शरीरम्, नो=नैव, हरति=मुष्णाति । चलधातोर्मित्त्वेन ह्रस्वतया 'चलयसि' इत्येव रूप शुद्धं बोध्यम् ॥२१॥

अन्वयः—हि, येन, समुद्रम्, उदकोच्छ्रयमात्रशेषम्, कृत्वा, अनपेक्षितानि, धनानि, दत्तानि, श्रेयसाम्, एकनिधिः, सः, महात्मा, धनार्थम्, अवैरिजुष्टम्, पापम्, कथम् इव, करिष्यति ॥२२।

शब्दार्थ—हि=क्योंकि, येन=जिस चारुदत्त ने, समुद्रम्=समुद्र को, उदकोच्छ्रय-मात्रशेषम्=जल का पुञ्जमात्र, कृत्वा=बना कर, अनपेक्षितानि=बिना याचना किये गये, बिन मांगे, धनानि=धन, सम्पत्ति, दत्तानि=दे दिये, बांट दिये, श्रेयसाम्=कल्याणों का, एकनिधिः=एक आश्रय, सः=वह, महात्मा=महान् आत्मा वाला, अति उदार, चारुदत्त, धनार्थम्=धन के लिये, अवैरिजुष्टम्=शत्रुओं द्वारा भी न करने योग्य, पापम्=वसन्तसेना की हत्यारूपी घृणित कर्म, कथम् इव=किस प्रकार, करिष्यति=करेगा ? ॥२२॥

अर्थ—आर्य चारुदत्त अकार्य कैसे कर सकते हैं —

वृद्धा--हृदास ! जो तदाणिं णासीकिदं सुवण्णभण्डअं रत्तिं चोरेहिं अवहिदं त्ति तस्स कारणादो चदुस्समुद्दसारभूदं रअणावलिं देदि, सो दाणिं अत्थकल्लवत्तस्स कारणादो इमं अकज्जं करेदि ? हा जादे ! एहि मे पुत्ति !। (इति रोदिति ।) हताश ! यस्तदानीं न्यासीकृतं सुवर्णभाण्डकं रात्रौ चौरैरपहृतमिति तस्य कारणात् चतुःसमुद्रसारभूतां रत्नावलीं ददाति, स इदानीमर्थकल्यवर्त्तस्य कारणादिदमकार्यं करोति ? हा जाते ! एहि मे पुत्रि !)

अधिकरणिकः—आर्यचारुदत्त ! किमसौ पद्भ्यां गता ? उत प्रवहणेनेति ?

क्योंकि जिसने [समस्त रत्नों का दान करके] समुद्र को केवल पानी का पुंज ही बना कर [याचकों द्वारा] विना मागें ही धन सम्पत्तियाँ दे डालीं। कल्याणों का सबसे बड़ा आश्रय वह महात्मा धन के लिये शत्रुओं द्वारा भी न करने योग्य [स्त्री-हत्यारूपी] पाप कर्म कैसे कर सकता ॥२२॥

टीका—विविधगुणालंकृतेन चारुदत्तेन वसन्तसेनाया वधः कर्तुं न शक्य इति प्रतिपादयति—कृत्वेति । हि=यतः, येन=चारुदत्तेन, समुद्रम्=सागरम्, उदकानाम्=जलानाम्, उच्छ्रायः=प्राचुर्यम्, पुञ्जम्=तन्मात्रम्, शिष्यते इति शेषः अवशिष्टो यस्य तम्, जलाधारमात्रमित्यर्थः, कृत्वा=विधाय, तदुद्भूतसर्वरत्नानां दानं कृत्वेति भावः, अनपेक्षितानि=अविचारितानि, धनानि=वित्तानि दत्तानि=सुहृद्भ्यो याचकेभ्यश्च समर्पितानि, श्रेयसाम्=कल्याणानाम् एकनिधिः=एकमात्राश्रयः, महात्मा=महाशयः, सः=चारुदत्तः, उदारचेताः, अवैरिजुष्टम्=शत्रुणापि न सेवितम्, पापम्=वसन्तसेनावधरूपम् कुकर्म, धनार्थम्=धनापहरणार्थम्, कथमिव=कस्मादिव, करिष्यति=विधास्यति, कथमपि नैव विधास्यतीति भावः । अत्रातिशयोक्तिरलंकारः, वसन्ततिलकं वृत्तम् ॥२२॥

विमर्श—न्यायाधिकारी चारुदत्त की उदारता से सुपरिचित है। चारुदत्त द्वारा धन के लिये वसन्तसेना का वध किया जाना सर्वथा असंभव है ॥२२॥

अर्थ--वृद्धा—अभागे ! जिसने उस समय धरोहर में रखे गये सोने के भाण्ड को 'रात में चोरों ने चुरा लिया' इस कारण चारों समुद्रों (से घिरी पृथ्वी) की सारभूत रत्नावली दे दी, वही इस समय कलेवातुल्य धन के लिये इस अनुचित काम को कैसे कर सकता है ? हाय बेटी ! आओ, मेरी पुत्री ! । (ऐसा कहकर रोने लगती है ।)

अधिकरणिक—आर्य चारुदत्त ! वह वसन्तसेना क्या पैदल गयी अथवा गाड़ी से ?

चारुदत्तः--ननु मम प्रत्यक्षं न गता; तन्न जाने किं पद्भ्यां गता, उत प्रवहणेनेति ।

(प्रविश्य सामर्षो वीरकः ।)

पादप्पहार–परिभव–विमाणणा–बद्धगुरुअ–वेरस्स ।
अणुसोअन्तस्स इअं कधं पि रत्ती पभादा मे ।। २३ ।।

(पाद-प्रहार-परिभव–विमानना–बद्ध–गुरुक–वैरस्य ।
अनुशोचत इयं कथमपि रात्रिः प्रभाता मे ।। २३ ।।)

ता जाव अधिअरणमण्डवं उवसप्पामि । (प्रवेष्टकेन) **सुहं अज्जमिस्साणं ?** (तद् यावदधिकरणमण्डपमुपसर्पामि ।) (सुखम् आर्यमिश्राणाम् ?)

अधिकरणिकः--अये ! नगररक्षाधिकृतो वीरकः । वीरक ! किमाग-

चारुदत्त--वास्तव में मेरे सामने नहीं गयी, अतः मैं यह नहीं जानता हूँ कि पैदल गयी अथवा गाड़ी से ?

अन्वयः--पादप्रहारपरिभवविमाननाबद्धगुरुकवैरस्य, अनुशोचतः, मे, इयम्, रात्रिः, कथमपि, प्रभाता ।।२३।।

शब्दार्थ--पादप्रहारपरिभवविमाननाबद्धगुरुकवैरस्य=पैर से मारने के अनादर से होने वाली अवज्ञा से जनित बहुत बड़ी शत्रुता वाले, **अनुशोचतः**=लगातार सोच करने वाले, **मे**=मेरी (वीरक की), इयम्=यह, रात्रिः=रात, **कथमपि**=किसी प्रकार, प्रभाता=सवेरा बन गयी ।।२३।।

अर्थ--(क्रोध के साथ प्रवेश करके)

वीरक--(चन्दनक के) पैर के मारने के अनादर से होने वाली अवज्ञा से जनित बहुत बड़ी शत्रुता वाले निरन्तर सोचने वाले मेरी (वीरक भी) यह रात (ही) किसी प्रकार सवेरा बन गयी ।।२३।।

टीका--चन्दनपादप्रहारापमानितो वीरको न्यायालये समागत्य स्वव्यथां प्रतिपादयति-पादेति । पादप्रहारेण=चरणाघातेन चन्दनकस्येति शेषः, यः परिभवः= अनादरः, तेन या विमानना=अवज्ञा, तया बद्धम्=उत्पादितम् गुरुकम्=महत्, वैरम्= शत्रुत्वं यस्य तादृशस्य, अनुशोचतः=तद्विषयेऽनवरतं चिन्तयतः, मे=मम, वीरकस्येत्यर्थः, इयम्=तदैव व्यतीता, रात्रिः=निशा, प्रभाता=अतीता, सूर्योदयोऽभवदिति भावः । गाथा नाम वृत्तम् ।।२३।।

अर्थ--तो अब न्यायालय में जाता हूँ । (प्रवेश करके) विद्वानों ! आप लोगों का कल्याण है ।

अधिकरणिक--अरे ! नगर की रक्षा के लिये नियुक्त वीरक । वीरक !

मनप्रयोजनम् ?

वीरकः——ही ही ! बन्धण–भेअण–सम्भमे अज्जकं अण्णेसन्तो ओवारिदं पवहणं वच्चदित्ति विआर करन्तो अण्णेसन्तो 'अरे ! तुए वि आलोइदे मए वि आलोइदव्वो' त्ति भणन्तो ज्जेव चन्दणमहत्तरएण पादेण ताडिदो म्हि । एदं सुणिअ अज्जमिस्सा पमाणं । (ही ही ! बन्धनभेदनसम्भ्रमे आर्यकमन्वेषयन् अपवारितं प्रवहणं व्रजतीति विचार कुर्वन् अन्वेषयन्--'अरे ! त्वयापि आलोकिते मयापि आलोकयितव्यम्' इति भणन्नेव, चन्दनमहत्तरकेण पादेन ताडितोऽस्मि । एतत श्रुत्वा आर्यमिश्राः प्रमाणम् ।)

अधिकरणिकः——भद्र ! जानीषे कस्य तत् प्रवहणमिति ?

वीरकः——इमस्स अज्जचारुदत्तस्स । वसन्तसेणा आरूढा, पुप्फकरण्डकजिण्णुज्जाणं कीलिदुं णीअदि त्ति पवहणवाहएण कहिदं । (अस्य आर्यचारुदत्तस्य । वसन्तसेना आरूढा, पुष्पकरण्डकजीर्णोद्यानं क्रीडितुं नीयत इति प्रवहणवाहकेन कथितम् ।)

शकारः——पुणोवि शुदं अज्जेहिं ? (पुनरपि श्रुतमार्यैः ?)

अधिकरणिकः——

> एष भो ! निर्म्मलज्योत्स्नो राहुणा ग्रस्यते शशी ।
> जलं कूलावपातेन प्रसन्नं कलुषायते ॥ २४ ॥

तुम्हारे आने का क्या प्रयोजन है ?

वीरक——हथकड़ी बेड़ी तोड़ने से हुयी घबड़ाहट में आर्यक को खोजता हुआ 'ढकी हुई गाडी जा रही है', यह सोचकर उसकी जानकारी (तलाशी) लेते हुये 'अरे तुम्हारे (चन्दनक के) द्वारा देखी जाने पर मुझे भी देखना चाहिये' ऐसा कहते हुये ही मुझे सेनापति चन्दनक ने पैर से मारा है । यह सुनकर आप विद्वान ही प्रमाण हैं । (उचित निर्णय करने वाले हैं ।)

अधिकरणिक——श्रीमन् ! जानते हो कि वह गाड़ी किसकी थी ?

वीरक——इसी आर्य चारुदत्त की । वसन्तसेना चढ़ी हुई थी, 'रमण के लिये पुष्पकरण्डकजीर्णोद्यान में ले जायी जा रही है'- ऐसा गाड़ीवान ने कहा था ।

शकार—श्रीमन् आपलोगों ने फिर सुन लिया ?

अन्वयः——भोः, निर्मलज्योत्स्नः, एषः, शशी, राहुणा, ग्रस्यते, कूलावपातेन, प्रसन्नम्, जलम्, कलुषायते ॥२४॥

शब्दार्थ——भोः=कष्ट है, निर्मलज्योत्स्नः=निर्मल चांदनीवाला, एषः=यह, शशी=चन्द्रमा, राहुणा=राहु के द्वारा, ग्रस्यते=निगला जा रहा है, कूलावपातेन=

वीरक ! पश्चादिह भवतो न्यायं द्रक्ष्यामः। एषोऽधिकरणद्वारि अश्वस्तिष्ठति, तमेनमारुह्य गत्वा पुष्पकरण्डकोद्यानं दृश्यताम्—अस्ति तत्र काचिद्विपन्ना स्त्री न वेति ?

वीरकः—जं अज्जो आणवेदि। (इति निष्क्रान्तः, प्रविश्य च) गदो म्हि तहिं, दिट्ठं च मए इत्थिआकलेवरं सावदेहिं विलुप्पन्तं। (यदार्य आज्ञापयति।) (गतोऽस्मि तस्मिन्, दृष्टञ्च मया स्त्रीकलेवरं श्वापदैर्विलुप्यमानम्।)

श्रेष्ठिकायस्थौ—कधं तुए जाणिदं इत्थिआकलेवरं त्ति ? (कथं त्वया ज्ञातं स्त्रीकलेवरमिति ?)

वीरकः—सावसेसेहिं केस–हत्त–पाणि–पादेहिं उवलक्खिदं मए। (सावशेषैः केश–हस्त–पाणि–पादैरुपलक्षितं मया।)

अधिकरणिकः—अहो ! धिक् वैषम्यं लोकव्यवहारस्य।

तट के गिरने के कारण, प्रसन्नम्=निर्मल, जलम्=पानी, कलुषायते=मलिन हो रहा है ॥२४॥

अर्थ—अधिकरणिक—

दुख है, निर्मल चान्दनी वाला यह चन्द्रमा राहु द्वारा निगला जा रहा है। तट के गिरने के कारण निर्मल जल कलुषित (मैला) हो रहा है ॥२४॥

टीका—वीरकस्य वचनानि शकारकृतारोपस्य साधकानीति दुःखं प्रकटयति. अधिकरणिकः—एष इति। भोः=इदं दुःखसूचकमव्ययं तत्रस्थानामामन्त्रणायेति बोध्यम्. निर्मला=शुभ्रा, ज्योत्स्ना=कौमुदी यस्य तादृशः एषः=पुरोवर्तमानः, शशी=चन्द्रः चारुदत्तरूप इत्यर्थः, राहुणा=सिंहिकापुत्रेण ग्रहविशेषेण, ग्रस्यते=कवलीक्रियते, प्रसन्नम्=निर्मलम्, जलम्=वारि, कूलस्य=तटस्य, अवपातेन=भङ्गेन, कलुषायते=मलिनायते। अकलुषं कलुषं क्रियते इत्यर्थे साधु। पथ्यावक्त्रं वृत्तम् ॥२४॥

अर्थ—वीरक ! आपका न्याय बाद में देखेंगे, न्यायालय के दरवाजे पर जो घोड़ा खड़ा है उस पर चढ़ कर जाकर पुष्पकरण्डक उद्यान में देखिये —'क्या वहाँ कोई स्त्री मरी पड़ी है।'

वीरक—श्रीमान् की जैसी आज्ञा। (ऐसा कह कर निकला और प्रवेश करके) वहाँ गया था, वहाँ जंगली जानवरों द्वारा खाया जाता हुआ स्त्री का शरीर देखा।

श्रेष्ठी और कायस्थ—तुमने यह कैसे जाना कि वह स्त्री का शरीर है ?

वीरक—बचे हुये केश, हाथ और पैर से मैंने जाना (कि स्त्री का शरीर है)।

यथा यथेदं निपुणं विचार्यते तथा तथा सङ्कटमेव दृश्यते ।
अहो ! सुसन्ना व्यवहारनीतयो मतिस्तु गौः पङ्कगतेव सीदति ॥२५॥

चारुदत्त —(स्वगतम्)

यथैव पुष्पं प्रथमे विकासे समेत्य पातुं मधुपाः पतन्ति ।
एवं मनुष्यस्य विपत्तिकाले छिद्रेष्वनर्था बहुलीभवन्ति ॥ २६ ॥

अन्वयः—इदम्, यथा, यथा, निपुणम्, विचार्यते, तथा, तथा, संकटम्, एव, दृश्यते, अहो ! व्यवहारनीतयः, सुसन्नाः, (भवन्ति), तु, मतिः, पङ्कगता, गौः, इव, सीदति ॥२५॥

शब्दार्थ—इदम्=यह मुकदमा, यथा यथा=जैसे जैसे, निपुणम्=गम्भीरता-पूर्वक, विचार्यते=विचारित किया जाता है, तथा तथा=वैसे, वैसे, संकटम्=संकट, परेशानी, एव=ही, दृश्यते=दिखाई देती है, अहो=आश्चर्य है, व्यवहारनीतयः=मुकदमें की प्रक्रिया या प्रमाण, सुसन्नाः=अच्छी तरह परिपुष्ट, भवन्ति=हो रही हैं, तु=लेकिन, मतिः=बुद्धि, पंकगता=कीचड़ में फँसी हुई, गौ=गाय, इव=के समान, सीदति=दुखी, परेशान हो रही है ॥२५॥

अर्थ—**अधिकरणिक**—ओह ! लोकव्यवहार की विषमता को धिक्कार है —
इस मुकदमा को जैसे जैसे सावधानी से विचारा जा रहा है वैसे वैसे परेशानी ही दिखाई दे रही है। ओह ! मुकदमा के प्रमाण परिपुष्ट हो रहे हैं किन्तु (हमारी) बुद्धि कीचड़ में फसी हुई गाय के समान दुखी हो रही है ॥२५॥

टीका—अधिकरणिकः लोकव्यवहारस्य विषमत्वमेव विशदयन्नाह-यथेति । इदम्=व्यवहाररूपं वस्तु, यथा यथा=येन येन प्रकारेण, निपुणम्=गम्भीरं सम्यग् वा, विचार्यते=निर्णीयते, तथा तथा=तेन तेन प्रकारेण, संकटम्=सुदारुणम्, दृश्यते=लक्ष्यतेऽस्माभिरिति शेषः, यावत्-सूक्ष्मतयाऽस्मिन् चारुदत्तस्य निर्दोषतासाधनाय विचार्यते तावदेव विपरीतं परिणमतीति चारुदत्तस्य रक्षा न शक्यते कर्तुमिति तदभिप्रायः । अहो=इदं विषादे, व्यवहारस्य=व्यवहाराङ्गभूतविचारस्य, नीतयः=नियमपद्धतयः, सुसन्नाः=सुलग्नाः जायन्ते, तु=किन्तु, मतिः=मदीया बुद्धिः, पंकगता=कर्दमे निपतिता, गौः=सौरभेयी, इव=यथा, सीदति=अवसादं प्राप्नोति । अत्रोपमालंकारः, वंशस्थबिलं वृत्तम् ॥२५॥

अन्वयः—प्रथमे, विकासे, पुष्पम्, पातुम्, भ्रमराः, यथैव, समेत्य, पतन्ति, एवम्, मनुष्यस्य, विपत्तिकाले, छिद्रेषु, अनर्थाः, बहुलीभवन्ति ॥२६॥

शब्दार्थ—प्रथमे=पहले, विकासे=खिलने (के समय) में, पुष्पम्=फूल (के रस) को, पातुम्=पीने के लिये, भ्रमराः=भौंरे, यथैव=जिस प्रकार से, पतन्ति=गिरते हैं, टूट पड़ते हैं, एवम्=इसी प्रकार, मनुष्यस्य=मनुष्य के, विपत्तिकाले=

अधिकरणिकः——आर्यचारुदत्त ! सत्यमभिधीयताम् ।

चारुदत्तः——

दुष्टात्मा परगुणमत्सरी मनुष्यो
रागान्धः परमिह हन्तुकामबुद्धिः ।
किं यो यद्वदति मृषैव जातिदोषात्
तद् ग्राह्यं भवति न तद्विचारणीयम् ।। २७ ।।

विपत्ति के समय में, छिद्रेषु=छिद्रों में, छोटे छोटे दोषों में भी, अनर्थाः=अनिष्ट, बहुलीभवन्ति=बहुत अधिक हो जाते हैं ।।२६।।

अर्थ चारुदत्त—(अपने में)—

पहले खिलने के समय में ही फूल (के रस) को पीने के लिये जिस प्रकार भौंरे टूट पड़ते हैं, उसी प्रकार मनुष्य की विपत्ति के समय छोटे छोटे दोषों में भी बड़े-बड़े अनिष्ट हो जाते हैं ।।२६।।

टीका——निर्धनतावशात् शकारकृतारोपे मत्येव वीरकस्य वचनानि अपि ममानिष्टकराण्येवेति प्रतिपादयन्नाह चारुदत्तः=यथैवेति । प्रथमे=आदिकालिके, विकासे=विकसनावसरे, पुष्पम्=पुष्परसमिति भावः, पातुम्=आस्वादयितुम्, भ्रमराः=अलयः, यथैव=येन प्रकारेण, पतन्ति=आक्राम्यन्ति, एवम्=तथैव, मनुष्यस्य=विपद्ग्रस्तस्य जनस्य, विपत्तिकाले=आपत्तिकाले, छिद्रेषु=तुच्छेष्वपि दोषेषु, अनर्थाः=अनिष्टानि, बहुलीभवन्ति=भृशीभवन्ति । तस्य लघुदोषेऽपि महती अनिष्टपरम्परा जायते इति तदभिप्रायः । अत्रोपमालंकारः, उपजतिः वृत्तम् ।।२६।।

अर्थ——अधिकरणिक-आर्य चारुदत्त ! सच सच बतलाइये ।

अन्वयः——इह, दुष्टात्मा, परगुणमत्सरी, रागान्धः, परम्, हन्तुकामबुद्धिः, यः, मनुष्यः, जातिदोषात्, मृषा, एव, यत्, वदति, किम्, तत्, ग्राह्यम्, भवति ? तत्, विचारणीयम्, न, [भवति किम्] ? ।। २७ ।।

शब्दार्थ——इह=यहाँ [न्यायालय में या समाज में], दुष्टात्मा=दुष्ट प्रकृतिवाला, परगुणमत्सरी=दूसरे के गुणों के प्रति ईर्ष्या रखने वाला, रागान्धः=कामान्ध, परम्=दूसरे को, हन्तुकामबुद्धिः=मारने का विचार रखने वाला, यः=जो मनुष्यः=आदमी, जातिदोषात्=अपनी स्वाभाविक दुष्टता के कारण, मृषा=झूठ, एव=ही, यत्=जो, वदति=बोलता है, किम्=क्या, तत्=वह, ग्राह्यम्=स्वीकार करने योग्य, भवति=होता है ? तत्=वह, विचारणीयम्=विचार करने योग्य, न=नहीं [भवति किम्=होता है क्या] ? ।। २७ ।।

अर्थ——चारुदत्त——

यहाँ दुष्टस्वभाव वाला, दूसरे के गुणों के प्रति ईर्ष्या रखने वाला, कामभाव

अपि च--

> योऽहं लतां कुसुमितामपि पुष्पहेतो-
> राकृष्य नैव कुसुमावचयं करोमि ।
> सोऽहं कथं भ्रमरपक्षरुचौ सुदीर्घे
> केशे प्रगृह्य रुदतीं प्रमदां निहन्मि ? ।। २८ ।।

से अन्धा (विवेकशून्य), दूसरे को मारने का विचार रखने वाला जो व्यक्ति अपनी स्वाभाविक दुष्टता के कारण झूठ ही बोलता है, क्या वह स्वीकार करने योग्य ही होता है ? वह विचार करने योग्य नहीं होता है ? ।। २७ ।।

टीका---दुर्जनवचनानि प्रमाणीकृत्य कस्यापि अपराधित्वस्वीकारणमनुचितमिति प्रतिपादयति---इहेति । इह=अत्र, न्यायालये लोके वा, परगुणेषु=अन्यगुणेषु, मत्सरी=विद्वेषी, परगुणासहनशील इत्यर्थः, दुष्टात्मा=नीचप्रकृतिः, मनुष्यः=नरः, रागान्धः=कामिन्यादिविषयासक्त्या अन्धः=सदसद्विवेकशून्यः, सन्, परम्=अन्यम्, हन्तुकामबुद्धिः=हन्तुम्=नाशयितुम्, कामः=इच्छा यस्यास्तादृशी बुद्धिः=मतिः यस्य सः, जातिदोषात्=नीचप्रकृतिदोषात्, मृषा=असत्यम्, एव, यत्, वदति=कथयति, तत्=दुष्टवचनम्, ग्राह्यम्=स्वीकार्यम्, भवति किम् ? नैव स्वीकार्यमिति भावः, तत्=तादृशवचनम्, न=नैव, विचारणीयम्=विचारयोग्यम् ? अपि तु विचारणीयमेव । विचारं कृत्वैव तत्र निर्णयो विधेय इति तद्भावः । अत्राप्रस्तुतप्रशंसालंकारः, प्रहर्षिणी वृत्तम् ।। २७ ।।

अन्वयः---यः, अहम्, कुसुमिताम्, लताम्, अपि, पुष्पहेतोः, आकृष्य, पुष्पावचयम्, न, करोमि, सः, अहम्, भ्रमरपक्षरुचौ, सुदीर्घे, केशे, प्रगृह्य, रुदतीम्, प्रमदाम्, कथम्, निहन्मि ।। २८ ।।

शब्दार्थ---यः=जो, अहम्=मैं, चारुदत्त, कुसुमिताम्=फूली हुई, लताम्=लता को, अपि=भी, पुष्पहेतोः=फूल (तोड़ने) के लिये, आकृष्य=खींचकर, पुष्पावचयम्=फूलों का चयन, न=नहीं, करोमि=करता हूँ, सः=वह, [इतना अधिक भावुक], अहम्=मैं, चारुदत्त, भ्रमरपक्षरुचौ=भौरों के पंखों की कान्ति के समान कान्ति वाले, सुदीर्घे=बहुत लम्बे, केशे=बालों में (बालों को), प्रगृह्य=खींचकर, पकड़कर, रुदतीम्=रोती हुई, प्रमदाम्=नवयुवती को, निहन्मि=बलपूर्वक मारता हूँ ? अर्थात् नहीं मार सकता हूँ ।। २८ ।।

अर्थ---और भी

जो मैं फूली हुई लता को भी फूल [तोड़ने] के लिये खींचकर फूल नहीं तोड़ता हूँ वही मैं भौरों के पंखों के समान कान्ति वाले काले लम्बे लम्बे बालों को पकड़ कर रोती हुई नवयुवती को कैसे मार सकता हूँ ? अर्थात् नहीं मार सकता हूँ ।। २८ ।।

शकारः—हंहो अधिअलणभोइआ ! किं तुम्हे पक्खवादेण ववहालं पेक्खध, जेण अज्जवि एशे हदाशचालुदत्ते आशणे धालीअदि ? (हंहो अधिकरणभोजकाः ! किं यूयं पक्षपातेन व्यवहारं पश्यत, येन अद्यापि एष हताश-चारुदत्त आसने धार्यते ?)

अधिकरणिकः—भद्र शोधनक ! एवं क्रियताम् ।

(शोधनकस्तथा करोति ।)

चारुदत्तः—विचार्यतां भो अधिकृताः ! विचार्यताम् । (इत्यासनादवतीर्य भूमावुपविशति ।)

शकारः—(स्वगतम् । सहर्षं नर्तित्वा) **हो अणेण मए कडे पावे अण्णश्श**

टीका—आत्मनो निर्दोषतां साधयितुमाह - य इति । यः=दयालुस्वभावः, अहम्=चारुदत्तः, कुसुमिताम्=सञ्जातपुष्पाम्, लताम्=व्रततिम्, अपि, पुष्पहेतोः=पुष्पग्रहणार्थम्, आकृष्य=आकृष्टां कृत्वा, पुष्पावचयम्=पुष्पाणां चयनम्, नैव=न, करोमि=विदधामि, सः=पूर्वोक्तदयालुस्वभावः, भ्रमरपक्षरुचौ=अलिपंखतुल्यनीले, सुदीर्घे=अतिविशाले, केशे=कुन्तले, अवच्छेद्यार्थे आश्लेषार्थे वा सप्तमी, प्रगृह्य=बलपूर्वकमाकृष्य, रुदतीम्=विलपन्तीम्, प्रमदाम्=नवयुवतिम्, कथम्=केन प्रकारेण, निहन्मि=घातयामि, न कथमपीति तद्भावः । अत्र काव्यलिङ्गमलंकारः, वसन्ततिलकं वृत्तम् ।। २८ ।।

विमर्श—चारुदत्त अपनी अतिकोमल प्रकृति का वर्णन करते हुये सिद्ध करना चाहता है जो व्यक्ति लता तक को नहीं खींच सकता वह कोमलांगी नवयौवना वसन्तसेना को, बालों को खींचकर, मार डालेगा, यह सम्भावना ही नहीं करनी चाहिये ।। २८ ।।

शब्दार्थ—पक्षपातेन=पक्षपात के साथ, धार्यते=बैठाया हुआ है, नर्तित्वा=नाच कर, निपातितम्=लगा दिया, सिद्ध कर दिया ।

अर्थ—शकार—हे मान्यवर न्यायाधिकारियों ! क्या आप लोग पक्षपात करके मुकदमा का विचार कर रहे है, जिससे अभी भी यह अधम चारुदत्त कुर्सी पर बैठाया गया है ?

अधिकरणिक—भद्र शोधनक ! ऐसा करो अर्थात् चारुदत्त को आसन से उतार दो ।

(शोधनक वैसा ही करता है, चारुदत्त को आसन से हटा देता है ।)

चारुदत्त—न्यायाधिकारियो ! विचार करिये ।

(यह कह कर आसन से उतर कर जमीन पर बैठ जाता है ।)

शकारः—(अपने में, हर्षपूर्वक नाच कर) हा, हा, मैंने अपना किया हुआ

मत्थके णिवड़िदे ता जहिं चालुदत्ताके उववविशदि, तहिं हग्गे उववविशामि। (तथा कृत्वा) चालुदत्ता ! पेक्ख पेक्ख मं, ता भण भण मए मालिदे त्ति। (ही, अनेन मया कृतं पापमन्यस्य मस्तके निपातितम्। तद् यत्र चारुदत्त उपविशति, तस्मिन्नहमुपविशामि।) (चारुदत्त ! प्रेक्षस्व, प्रेक्षस्व माम्, तद् भण भण मया मारितेति।)

चारुदत्तः—**भो अधिकृताः !** । ("दुष्टात्मा" इति ९।२७ पूर्वोक्तं पठति । सनिःश्वासं स्वगतम्)

> **मैत्रेय भोः ! किमिदमद्य ममोपघातो**
> **हा ब्राह्मणि ! द्विजकुले विमले प्रसूता ।**
> **हा रोहसेन ! नहि पश्यसि मे विपत्ति**
> **मिथ्यैव नन्दसि परव्यसनेन नित्यम् ॥ २९ ॥**

पाप दूसरे (चारुदत्त) के सिर पर लगा दिया। इस लिये जहाँ चारुदत्त बैठा था, वहाँ मैं बैठता हूँ। (वहाँ बैठ कर) चारुदत्त ! मुझे देखो, देखो, और कहो, कहो कि मैंने मार डाली।

अन्वयः—भो मैत्रेय !, इदम् किम् ? अद्य, मम, उपघातः, [समागतः], हा, ब्राह्मणि !, विमले, द्विजकुले, प्रसूता, [असि], हा रोहसेन ! मे, विपत्तिम्, न हि, पश्यसि, परव्यसनेन, नित्यम्, मिथ्या, एव, नन्दसि ॥२९॥

शब्दार्थ—भो मैत्रेय !=हे मित्र मैत्रेय !, इदम्=यह (सामने होने वाला), किम्=क्या है ? अद्य=आज, मम=मेरा, उपघातः=अनिष्टपात, विनाश, (समागतः=आ गया है।), हा=हाय, ब्राह्मणि=ब्राह्मणि ! (मेरी प्रिय पत्नि), विमले=निष्कलंक, कुले=वंश में, प्रसूता=उत्पन्न हुई हो, हा रोहसेन !=हाय बेटा रोहसेन !, मे=मुझ चारुदत्त की, विपत्तिम्=प्राणदण्डरूप कष्ट को, न हि=नहीं, पश्यसि=देख रहे हो, परव्यसनेन=केवल बालकसुलभ खेलकूद से, नित्यम्=रोजाना, मिथ्या एव=झूठ ही, नन्दसि=खुश रहते हो ॥ २९ ॥

अर्थ—**चारुदत्त**—हे न्यायाधीशो ! ('दुष्टात्मा परगुणमत्सरी' इत्यादि पूर्वोक्त २७ वां श्लोक पढ़ता है। निःश्वासपूर्वक अपने आप में'—)

हे मैत्रेय ! यह क्या ? आज मेरा विनाश (आ गया है)। हाय ब्राह्मणि ! तुम निष्कलंक ब्राह्मणकुल में पैदा हुई हो। (किन्तु तुम्हारा पति कलंकी होकर मारा जा रहा है।) हाय बेटा रोहसेन ! मेरी (मृत्युदण्डरूप) विपत्ति को नहीं देख रहे हो। रोजाना केवल खेलकूद से ही झूठ में आनन्दित होते हो। (तुम्हें आने वाले कष्ट का आभास नहीं है।) ॥२९॥

टीका—साम्प्रतं विपत्तिसागरे निमग्नश्चारुदत्तः स्वजनसम्बोधनपूर्वकं विलपन्नाह—**मैत्रेयेति**। **भो मैत्रेय=मित्र मैत्रेय !, इदम्**=समक्षमुपस्थितमकल्पितम्,

प्रेषितश्च मया तद्वार्त्तान्वेषणाय मैत्रेयो वसन्तसेनासकाशं शकटिका-निमित्तञ्च तस्य प्रदत्तान्यलङ्करणानि प्रत्यर्पयितुम् । तत् कथं चिरयते ?

(ततः प्रविशति गृहीताभरणो विदूषकः ।)

विदूषकः—पेसिदोम्हि अज्जचारुदत्तेण वसन्तसेणासआसं तहिं अलङ्करणाइं गेण्हिअ, जधा—'अज्जमित्तेअ ! वसन्तसेणाए वच्छो रोहसेणो अत्तणो अलङ्कारेण अलङ्करिअ जणणीसआसं पेसिदो; इमस्स आहरणं दादव्वं, ण उण गेण्हिदव्वं, ता समप्पेहि त्ति ! ता जाव वसन्तसेणासआसं ज्जेव गच्छामि । (परिक्रम्यावलोक्य च, आकाशे) कधं भावरेभिलो ?

किम्=कथमागतम्, तदेव विवृणोति, अद्य=अस्मिन् दिवसे, मम=मे, सर्वथा निर्दोषस्येत्यर्थः, उपघातः=अनिष्टपातः मृत्युरूपः समागत इति शेषः, एवं मम पतनं भविष्यतीति तु मया पूर्वं न कदापि चिन्तितमासीत्, हा=इदं विषादसूचकमव्ययम्, ब्राह्मणि=इदं स्वपत्न्याः धूतायाः सम्बोधनम्, विमले=निष्कलंके, द्विजकुले=विप्रवंशे, प्रसूता=जाता असि, किन्तु तव पतिः साम्प्रतं कलंकीभूतः मृत्युमुखमुपगच्छतीति कष्टकरमिति भावः, हा=इदमपि विषादसूचकमव्ययम्, रोहसेन=प्रिय पुत्र रोहसेन !, मे=स्वपितुः चारुदत्तस्य, विपत्तिम्=प्राणदण्डरूपां विपदम्, न हि=नैव, पश्यसि=अवलोकयसि त्वं स्वपितुर्मरणविषये न किमपि जानासीति भावः, परव्यसनेन=केवलेन क्रीडनादिना, नित्यम्=प्रत्यहम्, मिथ्या एव=मुधा एव, नन्दसि=सुखमनुभवसि यदा त्वं निजपितुरपराधविषये तद्दण्डविषये च ज्ञास्यसि तदा परमदुःसहदुःखसागरे पतिष्यसीति तद्भावः । एवञ्च मित्रं पत्नीं सुतं च सम्बाधयन् स्वव्यथां प्रकटयतीति बोध्यम् । वसन्ततिलकं वृत्तम् ।।२९।।

शब्दार्थ—तद्वार्तान्वेषणाय=उस वसन्तसेना का समाचार मालूम करने के लिये, शकटिकानिमित्तम्=गाड़ी बनवाने के लिये, प्रत्यर्पयितुम्=वापस करने के लिये, चिरयते=देर कर रहा है, गृहीताभरणः=गहने लिये हुये, जननीसकाशम्=माता धूता के पास, समुद्विग्नः=बहुत दुखी, लक्ष्यसे= दिखाई पड़ रहे हो, अधिकरणमण्डपे=न्यायालय में, शब्दायितः=बुलाया गया है, अल्पेन कार्येण=छोटा काम, साधारण बात, स्वस्ति=कल्याण, क्षेम=कुशल, उद्विग्न उद्विग्नः=बहुत अधिक परेशान ।

अर्थ—मैंने उसका समाचार जानने के लिये वसन्तसेना के पास मैत्रेय को भेजा है और गाड़ी बनवाने के लिये उसके द्वारा दिये गये गहनों को वापस करने के लिये [भेजा है] । तो वह क्यों देर कर रहा है ।

(इसके बाद गहने पकड़े हुए विदूषक का प्रवेश होता है ।)

अर्थ—विदूषक—आर्य चारुदत्त के द्वारा मुझे आभूषणों को लेकर वहाँ वसन्तसेना के पास भेजा गया है [और यह कहा गया है]—'आर्य मैत्रेय ! वसन्तसेना द्वारा

भो भावरेभिल ! किं णिमित्तं तुमं उव्विग्गो उव्विग्गो विअ लक्खोअसि ? (आकर्ण्य) किं भणासि ? 'पिअवअस्सो चारुदत्तो अधिअरणमण्डवे सद्दाइदो त्ति ? ।' ता णहु अप्पेण कज्जेण होदव्वं । (विचिन्त्य) ता पच्छा वसन्तसेणासआसं गमिस्सं । अधिअरणमण्डवं दाव गमिस्सं । (परिक्रम्या-वलोक्य च) इदं अधिअरणमण्डवं, ता जाव पविसामि । (प्रविश्य) सुहं अधिअरणभोइआणं ? कहिं मम पिअवअस्सो ? (प्रेषितोऽस्मि आर्य-चारुदत्तेन वसन्तसेनासकाशम्, तस्मिन्नलङ्करणानि गृहीत्वा, यथा—'आर्यमैत्रेय ! वसन्तसेनया वत्सो रोहसेन आत्मनोऽलङ्कारेणालंकृत्य जननीसकाशं प्रेषितः, अस्या आभरणं दातव्यम् न पुनर्ग्रहीतव्यम् तत् समर्पये'ति । तद्यावत् वसन्तसेनासकाशमेव गच्छामि ।) (कथं भावरेभिलः ? भो भाव रेभिल ! किं निमित्तं त्वमुद्विग्न उद्विग्न इव लक्ष्यसे ? किं भणसि ? प्रियवयस्यश्चारुदत्तः अधिकरणमण्डपे शब्दायित इति । तत् न खलु अल्पेन कार्येण भवितव्यम् । तत् पश्चात् वसन्तसेनासकाशं गमिष्यामि । अधिकरणमण्डपं तावत् गमिष्यामि । अयमधिकरणमण्डपः, तद्यावत् प्रविशामि ।) (सुखमधिकरणभोजकानाम् ? कस्मिन् मम प्रियवयस्यः ?)

अधिकरणिकः—नन्वेष तिष्ठति ।

विदूषकः—वअस्स ! सोत्थि दे ? (वयस्य ! स्वस्ति ते ?)

चारुदत्तः—भविष्यति ।

विदूषकः—अवि क्खेमं दे ? । (अपि क्षेमं ते ?)

वत्स रोहसेन को अपने गहनों से सजाकर उसकी माता (धूता) के पास भेजा गया था, इस (वसन्तसेना) को गहने देने चाहिये न कि लेने चाहिये, अतः इसे वापस दे दो ।' अतः अब वसन्तसेना के पास जाता हूँ । (चलकर और देखकर आकाश की ओर) क्या भाव रेभिल ? हे मित्र रेभिल ? किस कारण तुम बहुत परेशान से दिखाई दे रहे हो ? (सुनकर) क्या कह रहे ह —'प्रिय मित्र आर्य चारुदत्त को न्यायालय में बुलाया गया है ।' तो यहाँ निश्चित ही कोई बड़ा कारण होना चाहिये । (सोचकर) तो वसन्तसेना के पास बाद में जाऊँगा । पहले न्यायालय चलता हूँ । (घूमकर और देख कर) तो यह न्यायालय है । अतः इसमें प्रवेश करता हूँ । (प्रवेश करके) माननीय न्यायाधिकारियों का कल्याण हो । मेरे प्रिय मित्र चारुदत्त कहाँ है ?

अधिकरणिक—ये बैठे हुये हैं ।

विदूषक—मित्र ! तुम्हारा कल्याण है ?

चारुदत्त—होगा ।

विदूषक—आप का कुशल तो है ?

चारुदत्तः—एतदपि भविष्यति।

विदूषकः—भो वअस्स ! किं णिमित्तं उव्विग्गो उव्विग्गो विअ लक्खोअसि ? कुदो वा सद्दाइदो ? (भो वयस्य ! किं निमित्तमुद्विग्न उद्विग्न इव लक्ष्यसे ? कुतो वा शब्दायितः ?)

चारुदत्तः—वयस्य !

मया खलु नृशंसेन परलोकमजानता।
स्त्री रतिर्वाऽविशेषेण शेषमेषोऽभिधास्यति ॥ ३० ॥

चारुदत्त—यह भी होगा।

विदूषक—हे मित्र ! किस कारण बहुत परेशान दिखाई दे रहे हो ? और यहाँ किस लिये बुलाये गये हो ?

अन्वयः—परलोकम्, अजानता, नृशंसेन, मया, खलु, स्त्री, वा, अविशेषेण, रतिः, शेषम्, एषः, अभिधास्यति ॥ ३० ॥

शब्दार्थ—परलोकम्=परलोक को, अजानता=न जानने वाले, नृशंसेन=क्रूर, मया=मुझ चारुदत्त के द्वारा, खलु=निश्चित, स्त्री=सामान्य औरत, वा=अथवा, अविशेषेण=अभेद से, साक्षात्, रतिः=कामदेव की पत्नी, शेषम्=आगे की और बात, अर्थात् मार डाली, एषः=यह, (शकार) अभिधास्यति=कहेगा ॥ ३० ॥

अर्थ—चारुदत्त —मित्र !

परलोक को न जानने वाले क्रूर मैंने एक स्त्री अथवा साक्षात् कामदेव की पत्नी रति—शेष बात [अर्थात् मार डाली] —यह [शकार] बतायेगा ॥ ३० ॥

टीका—मैत्रेयकृत-प्रश्नस्योत्तरप्रदानाय यतमानश्चारुदत्तः स्वमुखादपराधं स्वीकर्तुमक्षमोऽत अंशत उत्तरं ददाति —परेति। परलोकम्=स्वर्गलोकम्, अजानता=अविदता, नृशंसेन=क्रूरेण, मया=चारुदत्तेन, खलु=निश्चितम्, स्त्री=सामान्या नारी, वा=अथवा, अविशेषेण=अभेदेन, रतिरिति भावः किं कृतेति जिज्ञासायामाह—शेषम्=अग्रे वक्तव्यम् घातितादि-पदमिति भावः, एषः=पुरो वर्तमानः शकारः, अभिधास्यति=कथयिष्यति। अत्र रूपकालंकारः, पथ्यावक्त्रं वृत्तम् ॥ ३० ॥

विमर्शः—विदूषक जब चारुदत्त से न्यायालय में आने और दुखी होने का कारण पूछता है तो उस समय सिद्ध हो चुकने वाले अपने अपराध की चर्चा तो करता है। किन्तु वह यह नहीं कहता कि उसने वसन्तसेना का वध किया है। वह शकार द्वारा ही उक्त आरोप लगाया गया बताता है। किन्तु स्पष्टतया कह भी नहीं सकता क्योंकि अब तक की सारी कार्यवाही चारुदत्त को ही दोषी सिद्ध करती है ॥ ३० ॥

शब्दार्थ—संज्ञया=इशारे से, तपस्वी=बेचारा, हेतुभूतः=कारण बना है,

विदूषकः—किं किं ? (कि किम् ?)

चारुदत्तः—(कर्णे) एवमेवम् ।

विदूषकः—को एव्वं भणादि ? (क एवं भणति ?)

चारुदत्तः—(संज्ञया शकारं दर्शयति) नन्वेष तपस्वी हेतुभूतः, कृतान्तो मां व्याहरति ।

विदूषकः—(जनान्तिकम्) एवं कीस ण भणीअदि गेहं गदे त्ति ? (एवं किमर्थं न भण्यते गेहं गतेति ?)

चारुदत्तः—उच्यमानमप्यवस्थादोषान्न गृह्यते ।

विदूषकः—भो भो अज्ज ! जेण दाव पुरट्ठावणविहारारामदेअउल-तडागकूव-जूवेंहि अलङ्किदा णअरी उज्जइणी, सो अणीसो अत्थकल्लवत्त-कारणादो एरिसं अकज्जं अणुचिट्ठ त्ति ? (सक्रोधम्) अरे रे काणेली-सुदा ! राअस्साल-सण्ठाणआ ! उस्सुङ्खलआ ! किद-जण-दोसभण्डआ ! बहुसुवण्णमण्डिद-मक्कड़आ ! भण भण मम अग्गदो, जो दाणिं मम पिअवअस्सो कुसुमिदं माधवीलदं पि आकिट्टिअ कुसुमावचअं ण करेदि, कदावि आकिट्टिदाए पल्लवच्छेदो भोदित्ति, सो कधं एरिसं अकज्जं उहअलोअविरुद्धं करेदि ? चिट्ठ रे कुट्टणिपुत्ता ! चिट्ठ, जाव एदिणा

कृतान्तः=यमराज, व्याहरति=बुलाता है । अवस्थादोषात्=गरीबी रूप दोष के कारण, गृह्यते=मानी जाती है, अनीशः=निर्धन, अर्थकल्यवर्तकारणात्=धनरूपी तुच्छ कलेवा के कारण, कृतजनदोषभाण्ड=दूसरे पर अपने दोष को मढ़ने वाले, हृदयकुटिलेन=हृदय के समान टेढ़े, काकपदशीर्षमस्तकः=कौवा के पैर के समान शिरवाला, प्रतीपम्=उल्टा, कक्षदेशात्=काँख से, ससाध्वसम्=घबड़ाकर,

अर्थ—विदूषक—क्या क्या ?

चारुदत्त—(कान में) ऐसे ऐसे ।

विदूषक—कौन ऐसा कहता है ?

चारुदत्त—(इशारे से शकार को दिखाता है) यह बेचारा तो कारण बना है वास्तव में यमराज ही मुझे बुला रहा है ।

विदूषक—(जनान्तिक) ऐसा क्यों नहीं कह देते—'वह घर गयी है ।'

चारुदत्त—कहा जाता हुआ भी गरीबी दोष के कारण नहीं माना जाता है ।

विदूषक—हे सम्मानीय लोगों ! जिसके द्वारा (नये) नगर बनाने, विहार, बगीचे, बाग, मन्दिर, तालाब, कुआं तथा यज्ञीय स्तम्भों [के निर्माण] से यह उज्जयिनी नगरी अलंकृत की गयी है, वही निर्धन हो कर धनरूपी तुच्छ कलेवा के लिये ऐसा अनुचित कार्य करेगा ? (क्रोध के साथ) अरे रे ! कुलटा के बच्चे ! राजा

तव हिअअकुडिलेण दण्डकट्टेण मत्थअं दे सदखण्डं करेमि। (भो भो आर्याः! येन तावत् पुरस्थापन-विहाराराम-देवकुल-तड़ागकूपयूपैरलङ्कृता नगरी उज्जयिनी, सोऽनीशोऽर्थकल्यवर्त्तकारणादीदृशमकार्यमनुतिष्ठतीति ? अरे रे काणेली-सुत। राजश्यालसंस्थानक! उच्छृङ्खलक! कृतजनदोषभाण्ड! वहुसुवर्णमण्डित मर्कटक! भण भण ममाग्रतः, य इदानीं मम प्रियवयस्यः कुसुमितां माधवीलता-मप्याकृष्य कुसुमावचयं न करोति आकृष्टतया पल्लवच्छेदो भवतीति, सः कथमीदृशम-कार्यमुभयलोकविरुद्ध करोति ? तिष्ठ रे कुट्टनीपुत्र! तिष्ठ यावदेतेन तव हृदयकुटि-लेन दण्डकाष्ठेन मस्तकं ते शतखण्डं करोमि।)

शकारः—(सक्रोधम्) सुणन्तु सुणन्तु अज्जमिश्शा! चालुदत्ताकेण शह मम विवादे ववहाले वा, ता कीश एशं काकपदशीशमत्थका मम शिले शदखण्ड कलेदि ?। मा दाव ले दाशीए पुत्ता! टुट्टवडुका!। (श्रृण्वन्तु श्रृण्वन्तु आर्यमिश्रः! चारुदत्तेन सह मम विवादो व्यवहारो वा, तत् केन एष काकपदशीर्षमस्तको मम शिरः शतखण्डं करोति ? मा तावत रे दास्याः पुत्र! दुष्टवटुक!)

(विदूषको दण्डकाष्ठमुद्यम्य पूर्वोक्तं पठति। शकारः सक्रोधमुत्थाय ताडयति। विदूषकः प्रतीपं ताडयति। अन्योन्यं ताडयतः। विदूषकस्य कक्षदेशादाभरणानि पतन्ति।)

शकारः—(तानि गृहीत्वा दृष्ट्वा ससाध्वसम्) पेक्खन्तु पेक्खन्तु अज्जा! एदे क्खु ताए तवश्शिणीएकेलका अलङ्काला। (चारुदत्तमुद्दिश्य) इमश्श

के शाले संस्थानक! उच्छृङ्खल! अपने दोष दूसरे पर मढ़नेवाले! बहुत सोने से सजे हुये बन्दर! बोल, मेरे सामने बोल। जो मेरा प्रिय मित्र फूली हुई लता को भी खींचकर फूल नहीं तोड़ता है क्योंकि खींचने से पल्लव टूट सकते हैं, वह इस समय कैसे दोनों लोकों से विरुद्ध ऐसा अनुचित कार्य करेगा! ठहर जा, कुट्टिनी के बच्चे! जब तक तुम्हारे हृदय के समान कुटिल [टेढ़े] इस लकड़ी के डण्डे से तुम्हारे मस्तक के सौ टुकड़े करता हूँ।

शकार—(क्रोध के साथ) सम्मानीय महानुभावों! सुनिये-सुनिये। चारुदत्त के साथ मेरा मुकदमा या विवाद है तो फिर कौवा के पैर के समान शिरवाला यहमेरे शिर के सौ टुकड़े क्यों करेगा! अरे दासी के बच्चे! दुष्ट ब्राह्मण ऐसा मत कर।

(विदूषक दण्डे की लकड़ी उठाकर पूर्वोक्त को पढ़ता है। शकार भी क्रोध से उठकर पीटता है। विदूषक उल्टा मारता है। एक दूसरे को मारते हैं। विदूषक की काँख से गहने गिर जाते हैं।)

शकार—(उन्हें लेकर देखकर घबड़ाहट के साथ) महानुभावों! देखिये,

अत्थकल्लवत्तश्श कालणादो एशा मालिदा वावादिता अ। (प्रेक्षन्तां प्रेक्षन्तामार्याः ! एते खलु तस्यास्तपस्विन्या अलंकाराः।) (अस्य अर्थकल्यवर्त्तस्य कारणादेषा मारिता व्यापादिता च।)

(अधिकृताः सर्वेऽधोमुखाः स्थिताः।)

चारुदत्तः—(जनान्तिकम्)

अयमेवंविधे काले दृष्टो भूषणविस्तरः।
अस्माकं भाग्यवैषम्यात् पतितः पातयिष्यति ॥ ३१ ॥

विदूषकः—भो ! कीस भदत्थं ण णिवेदीअदि ? (भोः ! किमर्थं भूतार्थो न निवेद्यते ?)

चारुदत्तः—वयस्य !

दुर्बलं नृपतेश्चक्षुर्नैतत् तत्त्वं निरीक्षते।
केवलं वदतो दैन्यमश्लाघ्यं मरणं भवेत् ॥ ३२ ॥

देखिये—ये ही उस बेचारी (बसन्तसेना) के गहने हैं। (चारुदत्त को लक्षित करके) इसी धनरूपी तुच्छ कलेवा के कारण वह मारी गयी, मारी गयी।

(सभी न्यायाधिकारी मुख नीचा करके बैठ जाते हैं।)

अन्वयः—एवम्बिधे, काले, अस्माकम्, भाग्यवैषम्यात्, पतितः, दृष्टः, अयम्, भूषणविस्तरः पातयिष्यति ॥ ३१ ॥

शब्दार्थः—एवम्बिधे=इस प्रकार के, काले=समय में, अस्माकम्=हमलोगों के, भाग्यवैषम्यात्=भाग्य के विपरीत होने से, पतितः=गिरा हुआ, दृष्टः=[सभी के द्वारा] देखा गया, अयम्=यह, भूषणविस्तरः=गहनों का समूह, पातयिष्यति=[हम लोगों को] गिरा देखा ॥ ३१ ॥

अर्थ–चारुदत्त–(जनान्तिक)

ऐसे समय में हमलोगों के भाग्य के विपरीत होने से [तुम्हारी काँख से] गिरा हुआ [सभी के द्वारा] देखा गया यह गहनों का समूह [हमलोगों को] गिरादेगा ॥३१॥

टीका—विदूषकस्य कक्षात्पतितमाभूषणसमूहं दृष्ट्वा चारुदत्तः स्वविनाशस्यापशकुनं चिन्तयन् खेदं व्यनक्ति–अयमिति। एवम्बिधे=ईदृशे, काले=समये, अस्माकं भाग्यवैषम्यात्=दौर्भाग्यात, पतितः=विदूषकस्य कक्षदेशात् भूमौ निपतितः, अतएव, दृष्टः=विलोकितः, सर्वैरिति शेषः, अयम्=पुरो दृश्यमानः, भूषणविस्तरः=अलङ्कारसमूहः, पातयिष्यति=विनाशयिष्यति मामित्यर्थः। एवञ्च निरपराधस्यापि मे विनाशाय इमानि भूषणानि हेतुत्वमुपगतानीति तद्भावः, पथ्यावक्त्रं वृत्तम् ॥ ३१ ॥

अर्थ–विदूषक–अरे ! बीती बात क्यों नहीं कह देते ?

अन्वयः—नृपतेः, चक्षुः, दुर्बलम्, एतत्, तत्त्वम्, न, निरीक्षते, (अतः), केवलम्, दैन्यम्, वदतः, [मम], अश्लाघ्यम्, मरणम्, भवेत् ॥ ३२ ॥

अधिकरणिकः—कष्टं भोः ! कष्टम् ।

अङ्गारकविरुद्धस्य प्रक्षीणस्य बृहस्पतेः ।
ग्रहोऽयमपरः पार्श्वे धूमकेतुरिवोत्थितः ॥ ३३ ॥

शब्दार्थः—नृपतेः=राजा की [राजा के पुरुषों की], चक्षुः= आँख, दुर्बलम्= कमजोर होती है, एतत्=यह, तत्त्वम्=वास्तविकता, न=नहीं, निरीक्षते=देखती है, (अतः=इसलिये) केवलम्=केवल, दैन्यम्=दीनता [से युक्त], वदतः=बोलते हुये [मम=मेरा], अश्लाघ्यम्=निन्दनीय, मरणम्=मौत, भवेत्=हो जायगी ॥ ३२ ॥

अर्थ—चारुदत्त-मित्र !

राजा [से सम्बद्ध व्यक्तियों] की आँख कमजोर होती है । वह इस वास्तविकता को नहीं देख पाती है । केवल दीनतायुक्त वचन बोलना तो मेरा मरण ही होगा । [अतः दीन वचन नहीं बोलूंगा] ॥ ३२ ॥

टीका—तत्त्वनिरीक्षणासमर्थस्य राज्ञः तत्सम्बधिनां च पुरतो दीनवचनं मृत्युतुल्यं भवति, अतोनाहं तादृशं वच्मीति प्रतिपादयितुमाह—दुर्बलमिति । नृपतेः=राज्ञस्तत्सम्बधिनश्च, चक्षुः=नेत्रम्, दुर्बलम्=अशक्तम्, अत एतत्=राजचक्षुः, यद्वा भूतं वास्तविकं घटनाक्रमम्, तत्त्वम्=याथार्थ्यम्, न=नैव, निरीक्षते=पश्यति, दैन्यम्= दीनतामयम्, वदतः=कथयतः, मम केवलम अश्लाघ्यम्=निन्दनीयम्, मरणम्=मृत्युः, भवेत्=सम्पद्येत । एवञ्च एतेषां समक्षं दीनभाषणानि केवलं निन्दाजनकानि मृत्युतुल्यानि एव सन्ति, न तु तत्त्वज्ञान-साधकानीति बोध्यम् । पथ्यावक्त्रं वृत्तम् ॥३२॥

अन्वयः—अङ्गारकविरुद्धस्य, प्रक्षीणस्य, बृहस्पतेः, पार्श्वे, धूमकेतुः, इव, अयम्, अपरः, ग्रहः उत्थितः ॥ ३३ ॥

शब्दार्थ—अङ्गारकविरुद्धस्य=मंगल जिसका विरोधी है ऐसे, प्रक्षीणस्य= दुर्बल, बृहस्पतेः=बृहस्पति के, पार्श्वे= समीप में, धूमकेतुः, इव=धूमकेतु के समान, अयम्=यह, अपरः=दूसरा ग्रहः=ग्रह, उत्थितः=निकला, प्रकट हुआ, है ॥३३॥

अर्थ—अधिकरणिक— हाय ! कष्ट है कष्ट ।

मंगल जिसका विरोधी है ऐसे अतिक्षीण शक्तिवाले बृहस्पति के समीप में धूमकेतु [ग्रहविशेष] के समान यह दूसरा ग्रह प्रकट हुआ है ॥३३॥

टीका—पूर्वमेव सिद्धापराधस्य चारुदत्तस्य मृत्युदण्डसाधने विदूषककक्षपतिताभूषणानि हेतुभूतानीति प्रतिपादयत्यधिकरणिकः—अङ्गारकेति । अङ्गारकः= मङ्गलग्रहः, विरुद्धः=विरोधिभूतः यस्य तस्य 'वाऽऽहिताग्न्यादिषु' इति सूत्रेण 'विरुद्ध' शब्दस्य परनिपातः, प्रक्षीणस्य=दुर्बलस्य, रवेरस्तांशगतत्वेन नीचस्थत्वेन वा स्वशक्तिहीनस्येत्यर्थः, बृहस्पतेः=सुरगुरोः, पार्श्वे=समीपे, धूमकेतुः इव=उत्पातसूचकग्रहविशेष इव, अयम्=पुरोवर्ती, अपरः=अन्यः कश्चिद् ग्रहः उत्थितः=उद्गतः ।

श्रेष्ठिकायस्थौ—(विलोक्य वसन्तसेनामातरमुद्दिश्य) **अवहिता दाव अज्जा एदं सुवण्णभण्डअं अवलोएदु, सो ज्जेव एसो ण वेत्ति।** (अवहिता तावत् आर्या एतत् सुवर्णभाण्डकमवलोकयतु तदेवेदं न वेति।)

वृद्धा—(अवलोक्य) **सरिसो एसो, ण उण सो।** (सदृशमेतत्, न पुनस्तत्।)

शकारः- **आं बुड्ढकुट्टिणि! अक्खीहिं मन्तिदं वाआए मूकिदं।** (आं वृद्धकुट्टनि! अक्षिभ्यां मन्त्रितं वाचा मूकितम्।)

वृद्धा हदास! अवेहि। (हताश! अपेहि।)

श्रेष्ठिकायस्थौ—**अप्पमत्तं कधेहि, सा ज्जेव एसो ण वेत्ति।** (अप्रमत्तं

अत्र शकारो भौमेन, चारुदत्तो बृहस्पतिना, विदूषककक्षपतिताभूषणानि धूमकेतुना तुल्यानि प्रतीयन्ते इति भावः। अत्र न्यायाधिकरणिकाः प्रयतमाना अपि चारुदत्त-रक्षणेऽसमर्था इति तन्मरणमवश्यम्भावि मन्यन्ते इति बोध्यम्। अत्राप्रस्तुतेनानेन अङ्गारकविरुद्धबृहस्पतेः पार्श्वे धूमकेतुग्रहसदृशग्रहान्तरोदयवर्णनेन प्रस्तुतस्य शकारा-भियुक्तचारुदत्तस्य वसन्तसेनाऽलङ्कारपातरूपप्रमाणोप-स्थितिबोधादप्रस्तुतप्रशंसेय-मलङ्कृतिः, सा च धूमकेतुरिवेत्युपमया सङ्कीर्यते—इति जीवानन्दः। पथ्यावक्त्र वृत्तम्॥ ३३॥

विमर्श—यहाँ ज्योतिषशास्त्रोक्त दुर्योग का वर्णन है। मंगल विरोधी हो, बृहस्पति क्षीण हो पास में धूमकेतु का उदय हो तो अनिवार्यतया अनिष्ट होता है। यहाँ क्रूरस्वभाववाला शकार मंगल और सात्त्विक वृत्ति वाला चारुदत्त क्षीणशक्ति वाला बृहस्पति माना गया है। विदूषक की काँख से अचानक गहनों का गिर जाना धूमकेतु ग्रह का उदय माना गया है। प्रबल कुयोग में चारुदत्त का मृत्युदण्ड सुनिश्चित है, यह भाव है॥ ३३॥

शब्दार्थ—अवहिता=सावधान, मन्त्रितम्=धीरे से कह दिया, मूकितम्=नहीं कहा, छिपा दिया, अप्रमत्तम्=ठीक तरह, साफ साफ, अवबध्नाति=आकृष्ट करता है, अनभिज्ञातः=न जाना हुआ।

अर्थ—**श्रेष्ठी और कायस्थ**—(देखकर वसन्तसेनाकी माता को लक्षित करके) आर्या आप सावधान होकर इस सुवर्ण-आभूषणसमूह को देखिये, क्या वही है अथवा नहीं?

वृद्धा—(देखकर) समान तो है लेकिन वही नहीं है।

शकार—अच्छा बूढ़ी कुट्टिनी! आँखों से कह दिया किन्तु वाणी से छिपा लिया। [नहीं कहा।]

वृद्धा—अभागे! दूर हट जा।

कथय, स एव एष न वेति ।)

वृद्धा—अज्ज ! सिप्पिकुशलदाये ओबन्धेदि दिट्टिं, ण उण सो। (आर्य ! शिल्पिकुशलतया अवबध्नाति दृष्टिम्, न पुनस्तत् ।)

अधिकरणिकः—भद्रे ! अपि जानासि एतान्याभरणानि ?

वृद्धा—णं भणामि,—णहु णहु अणभिजाणिदो अहवा कदावि सिप्पिणा घड़िदो भवे। (ननु भणामि—न खलु न खलु अनभिज्ञातः, अथवा कदापि शिल्पिना घटितो भवेत् ।)

अधिकरणिकः—पश्य श्रेष्ठिन् ! ।

वस्त्वन्तराणि सदृशानि भवन्ति नूनं
रूपस्य भूषणगुणस्य च कृत्रिमस्य ।
दृष्ट्वा क्रियामनुकरोति हि शिल्पिवर्गः
सादृश्यमेव कृतहस्ततया च दृष्टम ॥ ३४ ॥

श्रेष्ठी और कायस्थ—सावधान होकर कहिये—यह वही है अथवा नहीं।

वृद्धा—मान्यवर ! कारीगर की कुशलता के कारण आँख को आकृष्ट करता है किन्तु वही नहीं है।

अधिकरणिक—भद्रे ! आप इन गहनों को जानती हैं ?

वृद्धा—मैं कहती हूँ कि अपरिचित नहीं है अथवा कदाचित् कारीगर ने बना दिया होगा।

अन्वयः—कृत्रिमस्य, रूपस्य, भूषणगुणस्य, च, सदृशानि, वस्त्वन्तराणि नूनम्, भवन्ति, हि, शिल्पिवर्गः, दृष्ट्वा, क्रियाम्, अनुकरोति, कृतहस्ततया, एव, च, सादृश्यम्, दृष्टम् ॥ ३४ ॥

शब्दार्थ—कृत्रिमस्य=बनावटी, रूपस्य=रूप के, च=और, भूषणगुणस्य=गहने की सुन्दरता आदि गुण के, सदृशानि=समान, वस्त्वन्तराणि=दूसरी चीजें, नूनम्=निश्चित रूप से, भवन्ति=होतीं ही हैं, हि=क्योंकि, शिल्पिवर्गः=कारीगरों का समुदाय, दृष्ट्वा=देखकर, क्रियाम्=बनावट का, अनुकरोति=नकल कर लेता है, च=और, कृतहस्ततया=हाथ के कौशल के कारण, एव=ही, सादृश्यम्=समानरूपता, दृष्टम्=देखी जाती है ॥ ३४ ॥

अर्थ—**अधिकरणिक**—सेठ जी ! देखिये—

बनावटी [बनाये गये] रूप और गहने की सुन्दरता के समान दूसरी चीजें [गहने आदि] होतीं ही हैं [क्योंकि कारीगर लोग बनाये गये काम [आभूषण आदि] को देखकर उसकी नकल कर लेते हैं। और हाथ की कुशलता के कारण ही सादृश्य देखा जाता है ॥ ३४ ॥

श्रेष्ठिकायस्थौ——अज्जचारुदत्तस्स केरकाइं एदाइं ? (आर्य-चारुदत्तीय-न्येतानि ?)

चारुदत्तः——न खलु न खलु ।

श्रेष्ठिकायस्थौ——ता कस्स ? (तदा कस्य ?)

चारुदत्तः——इहात्रभवत्याः दुहितुः ।

श्रेष्ठिकायस्थौ——कधं एदाइं ताए विओअं गदाइं ? (कथमेतानि तस्याः वियोगं गतानि ?)

चारुदत्तः——एवं गतानि । आं, इदम् ।

श्रेष्ठिकायस्थौ——अज्जचारुदत्त ! एत्थ सच्चं वत्तव्वं । पेक्ख पेक्ख ।

(आर्य चारुदत्त ! अत्र सत्यं वक्तव्यम् । प्रेक्षस्व प्रेक्षस्व ।)

सच्चेण सुहं क्खु लब्भइ सच्चालाविण ण होइ पादई ।
सच्चं त्ति दुवेवि अक्खरा मा सच्चं अलिएण गूहेहि ।। ३५ ।।

टीका——वसन्तसेनायाः मात्रोक्तं साम्यं समर्थयमानोऽधिकरणिक आह=वस्त्विति । कृत्रिमस्य=क्रियया निर्वृत्तस्य, मानवनिर्मितस्येत्यर्थः, रूपस्य=आकारस्य, भूषणगुणस्य=अलंकारस्य सौन्दर्यादेः, च, सदृशानि=तुल्यानि, वस्त्वन्तराणि=अन्यानि वस्तूनि, नूनम्=निश्चितरूपेण भवन्ति=जायन्ते, हि=यतः, शिल्पिवर्गः=कारुजन-समूहः, क्रियाम्=कार्यम्, रचनाकौशलमित्यर्थः, दृष्ट्वा=विलोक्य, अनुकरोति=तादृशमेव निर्मिमीते इति भावः, कृतः=अभ्यस्तः, हस्तः=कटकादिनिर्माणे हस्तपाटवं यैः तस्य भावः——कृतहस्तता, तया, हस्तकौशलेन, एव, सादृश्यम्=समानरूपत्वम्, दृष्टम्=विलोकितम् ।

यद्वा क्रियां दृष्ट्वा कृतहस्ततया अनुकरोति, तत्र सादश्यं दृष्टमेवेत्यपि अन्वयः । एवञ्चैते अलंकारा न वसन्तसेनायाः, अपि तु, तत्तुल्या इति भाव । अत्रा-र्थान्तरन्यासोऽलंकारः, वसन्ततिलकं वृत्तम् ।। ३४ ।।

अर्थ——**श्रेष्ठी और कायस्थ**——ये गहने चारुदत्त के हैं ?

चारुदत्त——नहीं, नहीं ।

श्रेष्ठी और कायस्थ——तो फिर किसके हैं ?

चारुदत्त——सम्माननीया वृद्धा की पुत्री के हैं ।

श्रेष्ठी और कायस्थ——ये उस [वसन्तसेना] से अलग कैसे हुये ?

चारुदत्त——इस प्रकार [अलग हो] गये । हाँ, यह—

अन्वयः——सत्येन, सुखम्, लभ्यते, खलु, सत्यालापी, पातकी, न, भवति, सत्यम्, इति, द्वे, अपि, अक्षरे, अलीकेन, मा, गूहय ।। ३५ ।।

शब्दार्थ—सत्येन=सच (बोलने) से, सुखम्=सुख, लभ्यते=प्राप्त होता है,

(सत्येन सुखं खलु लभ्यते सत्यालापी न भवति पातकी ।
सत्यमिति द्वे अपि अक्षरे मा सत्यमलीकेन गूहय ।। ३५ ।।)

चारुदत्तः—आभरणानि आभरणानीति न जाने, किन्त्वस्मद्गृहा-दानीतानीति जाने ।

शकारः—उज्जाणं पवेशिअ पढमं मालेशि, कवड़—कावेड़ि-आए शम्पदं णिगूहेशि । (उद्यान प्रवेश्य प्रथमं मारयसि, कपट—कापटिकया साम्प्रतं निगूहसि ।)

अधिकरणिकः—आर्यचारुदत्त ! सत्यमभिधीयताम् ।

इदानीं सुकुमारेऽस्मिन् निःशङ्कं कर्कशाः कशाः ।
तव गात्रे पतिष्यन्ति सहास्माकं मनोरथः ।। ३६ ।।

खलु=यह निश्चित है, सत्यालापी=सच बोलने वाला, पातकी=पापी, न=नहीं, भवति होता है, सत्यम्=सत्य, इति—ये, द्वे अपि=दो भी, अक्षरे=अक्षरों को, अली-केन=असत्य से, मा=मत, गूहय=छिपाओ ।। ३५ ।।

अर्थ—श्रेष्ठी और कायस्थ—आर्य चारुदत्त ! यहाँ सच बोलना चाहिये । **देखो**, देखो—

सच [बोलने] से सुख मिलता है, यह निश्चित है । सच बोलने वाला पाप में नहीं गिरता है । 'सत्य' इन दो भी अक्षरों को असत्य से मत छिपाओ ।। ३५ ।।

टीका—चारुदत्तेनोक्तम् 'एवं गतानि, आं इदम्' इति अस्पष्टं वचनमाकर्ण्य तौ सत्यं भाषयितुं प्रेरयन्तावाहतुः—सत्येनेति । सत्येन=सत्यभाषणेनेत्यर्थः, सुखम्=आनन्दः, लभ्यते=प्राप्यते, जनैरिति शेषः, खलु=इदं निश्चितम्, सत्यालापी=सत्य-वक्ता, पातकी=पापग्रस्तः, न=नैव, भवति=जायते, सत्यम् इति=इदं स्वरूपबोधकम्, द्वे अपि=द्व्यक्षरमात्रम्, अपि, अलीकेन=असत्येन, मा=नैव, गूहय=गोपाय । एवञ्च न्यायालये भय परित्यज्य सत्यमेव वक्तव्यमिति तद्भावः । वैतालीयं वृत्तम् ।। ३५ ।।

अर्थ—चारुदत्त—गहने, गहने [वे ही] हैं—यह तो नहीं जानता हूँ किन्तु हमारे घर से लाये गये हैं—यह जानता हूँ ।

शकार—पहले तो बगीचे में ले जाकर मार डाली है और अब कपटपूर्वक छिपा रहे हो ?

अन्वयः—इदानीम्, सुकुमारे, अस्मिन्, तव, गात्रे, कर्कशाः, कशाः, अस्माकम्, मनोरथैः, सह, निःशङ्कम्, पतिष्यन्ति ।। ३६ ।।

शब्दार्थः—इदानीम्=इस समय, सुकुमारे=अति कोमल, अस्मिन्=इस, तव=तुम्हारे, गात्रे=शरीर पर, कर्कशाः=कठोर, कशाः=कोड़े, अस्माकम्=हम लोगों के, मनोरथैः=मनोरथों के, सह=साथ, निःशङ्कम्=निश्चितरूप से, पतिष्यन्ति=गिरेंगे, पड़ेंगे ।। ३६ ।।

चारुदत्तः—

अपापानां कुले जाते मयि पापं न विद्यते ।
यदि सम्भाव्यते पापमपापेन च किं मया ॥ ३७ ॥

अर्थ—श्रेष्ठी और कायस्थ—आर्यचारुदत्त ! सच बोलिये —

इस समय तुम्हारे सुकोमल शरीर पर कठोर कोड़े हम लोगों के मनोरथों के साथ साथ निश्चितरूप से गिरेंगे । अर्थात् हमारी अभिलाषाओं और तुम्हारे ऊपर दण्ड रूप में कोड़ों का गिरना साथ साथ होगा ।। ३६ ।।

टीका—न्यायालये मिथ्याभाषणस्य भयानकं फलं प्रतिपादयतः-इदानीमिति । इदानीम्=अधुना, अतिशीघ्रमेवेत्यर्थः सुकुमारे=सुकोमले, अस्मिन्=पुरोवर्तिनि, तव=चारुदत्तस्येत्यर्थः, गात्रे=शरीरे, कर्कशाः=कठोराः, कशाः=अश्वादेस्ताडन्यः, अस्माकम्=न्यायाधिकारिणाम्, मनोरथैः=अभिलाषैः, तव निर्दोषताप्रमाणानुसन्धानार्थं सततमेव व्याकुलैः, सह=साद्धम्, निःशङ्कम्=शंकारहितम्, अन्यत्र निर्दयमित्यर्थः, पतिष्यन्ति=तवोपरि निक्षिप्ता भविष्यन्ति, अस्माकं मनोरथा विफलाः भविष्यन्तीति भावः । एवञ्च तवास्माकञ्च सममेव कष्टोत्पत्तिरिति तद्भावः । सहोक्तिरलकारः, पथ्यावक्त्रं वृत्तम् ।।३६।।

अन्वयः—अपापानाम्, कुले, जाते, मयि, पापम्, न, विद्यते, यदि, [मयि] पापम्, सम्भाव्यते, (तदा) अपापेन, च, मया, किम् ।।३७।।

शब्दार्थ—अपापानाम्=पापरहित लोगों के, कुले=वंश में, जाते=पैदा होने वाले, मयि=मुझ चारुदत्त में, पापम्=पाप, न=नहीं, विद्यते=वर्तमान है, यदि=अगर, (मयि=मुझ में) पापम्=पाप, सम्भाव्यते=सम्भावित किया जाता है, सोंचा जाता है, (तदा=तब), अपापेन=निष्पाप, च=भी, मया=मेरे द्वारा, किम्=क्या (लाभ) ? ।।३७।।

अर्थ—चारुदत्त—

पापरहित लोगों के कुल में उत्पन्न होने वाले मुझ में पाप नहीं है । यदि (लोगों द्वारा मुझ पर) पाप सोंचा जाता है तब पापरहित भी मुझसे क्या (लाभ) ? अर्थात् निष्पाप होना ही पर्याप्त नहीं, लोगों द्वारा निष्पाप समझा जाना ही उचित होता है ।।३७।।

टीका—स्वस्य दोषरहितत्वेऽपि लोकैर्यदि दोषवत्त्वमुच्यते तदा जीवनं व्यर्थमिति प्रतिपादयति—अपापानामिति । अपापानाम्=पापरहितानाम्, पुण्यवतामित्यर्थः, कुले=वंशे, जाते=उत्पन्ने, मयि=चारुदत्ते, पापम्=कल्मषम्, न=नैव विद्यते=वर्तते, एवंस्थितौ सत्यामपि यदि लोकैः मयि, पापम्=अधर्मम्, सम्भाव्यते=

(स्वगतम्) न च मे वसन्तसेनाविरहितस्य जीवितेन कृत्यम्। (प्रकाशम्) भोः ! किं बहुना ।

मया किल नृशंसेन लोकद्वयमजानता ।
स्त्रीरत्नञ्च विशेषेण शेषमेषोऽभिधास्यति ।।३८।।

मन्यते, कल्प्यते वा, तदा अपापेन=पापशून्येन मया=चारुदत्तेन, किम् ? न किमपि प्रयोजनमिति भावः । अतो भवद्भिर्यदि मम अपराधो मन्यते तदा वस्तुतोऽनपराद्धस्यापि मम जीवनस्य वैफल्यं सुनिश्चितमिति तद्भावः । अत्र चारुदत्ते पापासत्वं प्रति प्रथमपादार्थस्य हेतुतया उपन्यासात् काव्यलिङ्गमलंकारः । पथ्यावक्त्रं वृत्तम् ।।३७।।

विमर्श—चारुदत्त कहता है मैं ही नहीं, अपि तु मेरे कुल में किसी ने भी पाप नहीं किया है। ऐसे निष्कलंक कुल में पैदा हुआ हूँ। फिर भी यदि आप लोग मुझे वसन्तसेना की हत्या का अपराधी मानते हैं तो वस्तुतः निरपराधी भी मेरा जीवन व्यर्थ है। क्योंकि लोगों द्वारा अपराधी समझा जाना अति कष्टकारक होता है ।।३७।।

अन्वयः—लोकद्वयम्, अजानता, नृशंसेन, मया, किल, विशेषेण स्त्रीरत्नम्, च, ··· शेषम्, एषः, अभिधास्यति ।।३८।।

शब्दार्थ—लोकद्वयम्=इस लोक और परलोक दोनों को, अजानता=न जानने वाले, नृशंसेन=क्रूर, मया=मेरे द्वारा, किल=निश्चित रूप से, विशेषेण=विशेषरूप से, स्त्रीरत्नम्=स्त्रीरत्न वसन्तसेना-(मार डाली गयी यह-) शेषम्=शेष बात, एषः=यह शकार, अभिधास्यति=कहेगा ।।३८।।

अर्थ—(अपने में) और वसन्तसेना से रहित मेरे जीने से क्या लाभ ? (प्रकट रूप में) अरे ! अधिक क्या—

इस लोक और परलोक दोनों को न जानने वाले क्रूर मेरे द्वारा विशेषरूप से स्त्रीरत्न (वसन्तसेना मार दी गयी–यह)–इस शेष बात को यह शकार कहेगा ।।३८।।

टीका—वसन्तसेनाविरहितं जीवनमसह्यं मत्वा प्राणत्यागमेव वरं मन्यमानश्चारुदत्त आह–मयेति । लोकद्वयम्–इहलोकं परलोकं च, इह राजदण्डादिभयं परत्र यमादिदण्डभयं नरकादिगमनं च, अजानता=अविदता, नृशंसेन=क्रूरेण, मया=चारुदत्तेन, विशेषेण, स्त्रीरत्नम्=रत्नरूपा वसन्तसेनेत्यर्थः, 'मारितेति' शेषम्=अवशिष्टं वचनम्, एषः=पुरोवर्ती शकारः, अभिधास्यति=कथयिष्यति । अत्र 'स्त्रीरतिश्च' इत्यपि पाठः, अत्र साक्षाद् रतिरूपा वसन्तसेनेत्यर्थः । इदं पद्यं यत्किञ्चिद्भेदेन पूर्वमपि उपन्यस्तम् । तत्रापि व्याख्यातमिति बोध्यम् ।।३८।।

शकारः——वावादिदा । अले ! तुमं पि भण——'मये वावादिता' त्ति । (व्यापादिता । अरे ! त्वमपि भण——'मया व्यापादिता' इति)

चारुदत्तः——त्वयैवोक्तम् ।

शकारः——शुणेध शुणेध भट्टालका ! एदेण मालिदा, एदेण ज्जेव शंशए छिण्णे । एदश्श दलिद्दचालुदत्तश्श शालीले दण्डे धालीअदु । (शृणुत, शृणुत भट्टारकाः ! एतेन मारिता, एतेनैव संशयश्छिन्नः । एतस्य दरिद्र-चारुदत्तस्य शारीरो दण्डो धार्यताम् ।)

अधिकरणिकः—शोधनक ! यथाह राष्ट्रियः । भो राजपुरुषाः ! गृह्यता-मयं चारुदत्तः ।

(राजपुरुषाः गृह्णन्ति ।)

वृद्धा——पसीदन्तु पसीदन्तु अज्जमिस्सा (जो तदाणिं चोरेहिं अवहिदस्स इत्यादिपूर्वोक्तं पठति ।) ता जदि वावादिदा मम दारिआ, वावादिदा, जीवदु मे दीहाऊ । अण्णं च——अत्थि-पच्चत्थिणं ववहारो, अहं अत्थिणी, ता मुञ्चध एदं । (प्रसीदन्तु, प्रसीदन्तु आर्यमिश्राः ! तद् यदि व्यापादिता मम

विमर्श——इसी नवम अंक में श्लोक संख्या ३० में भी यही श्लोक है । दोनों में कुछ पाठभेद हैं । वहाँ भी इस की व्याख्या की जा चुकी है । 'परलोकम्' के स्थान पर 'लोकद्वयम्' यह पाठ अधिक अच्छा है । क्योंकि स्त्रीवध का दण्ड यहाँ भी मिलना है और परलोक में भी । 'स्त्रीरत्नञ्च' के स्थानपर 'स्त्री रतिश्च' ऐसा भी पाठ है । यहाँ चारुदत्त मृत्यु की इच्छा करने लगता है । अतः पद्य में कुछ अन्तर स्वाभाविक है ।।३८।।

शब्दार्थः—व्यापादिता=मार डाली, छिन्नः=दूर कर दिया, शारीरः=शरीर-सम्बन्धी, आरा आदि से शरीर को काटना, दारिका=कन्या, अर्थिप्रत्यर्थिनोः=वादी-प्रतिवादी का, आत्मनः सदृशम्=अपनी इच्छा के अनुरूप ।।

अर्थ—**शकार**—मार दिया । अरे तुम भी कहो 'मैंने मार दिया ।'

चारुदत्त—तुम्हीं ने कहा है ।

शकार——महाशयों ! सुनिये सुनिये ! इसीने मार डाला । इसी ने संदेह (भी) दूर कर दिया । इस दरिद्र चारुदत्त को शारीरिक दण्ड दीजिये ।

अधिकरणिक——शोधनक ! जैसा राजा के शाले ने कहा है (वैसा करो) । इस चारुदत्त को पकड़ लो ।

(सिपाही पकड़ लेते हैं ।)

वृद्धा—माननीय विद्वानों ! प्रसन्न हो जाइये, प्रसन्न ही जाइये । यदि मारा है तो मेरी पुत्री को मारा है । मेरा दीर्घायु जीवित रहे । दूसरी बात यह है कि

दारिका, व्यापादिता, जीवतु मे दीर्घायुः। अन्यच्च अर्थिप्रत्यर्थिनोर्व्यवहारः अहमर्थिनी, तत् मुञ्चत एनम्।)

शकारः—अवेहि गब्भदाशि ? गच्छ, किं तव एदिणा ? (अपेहि गर्भदासि ! गच्छ, किं तव एतेन ?)

अधिकरणिकः—आर्ये ! गम्यताम्। हे राजपुरुषाः ! निष्क्रामयतैनाम्।

वृद्धा—हा जाद ! हा पुत्तअ !। (हा जात ! हा पुत्रक !) (इति रुदती निष्क्रान्ता।)

शकारः—(स्वगतम्) किदं मए एदश्श अत्तणो शलिशं। शम्पदं गच्छामि। (कृतं मया एतस्य आत्मनः सदृशम्। साम्प्रतं गच्छामि।) (इति निष्क्रान्तः।)

अधिकरणिकः—आर्यचारुदत्त ! निर्णये वयं प्रमाणम्, शेषे तु राजा। तथापि शोधनक ! विज्ञाप्यतां राजा पालकः—

अयं हि पातकी विप्रो न वध्यो मनुरब्रवीत्।
राष्ट्रादस्मात्तु निर्वास्यो विभवैरक्षतैः सह ॥३९॥

वादी और प्रतिवादी का मुकदमा है। मैं वादी हूँ। अतः इसको छोड़ दीजिये।

शकार—अरे गर्भदासी ! दूर हट जा, चली जा, तुच्छे इससे क्या ?

अधिकरणिक—आर्ये ! आप जाइये। हे सिपाहियो ! इसको बाहर करो।

वृद्धा—हाय बेटी ! हाय बेटा ! (ऐसा कहती हुई रोती हुई निकल गयी।)

शकार—(अपने में) मैंने इस चारुदत्त के लिये अपनी इच्छानुसार काम कर लिया है। अब चलता हूँ। (यह कहकर चला जाता है।)

अन्वयः—अयम्, विप्रः, पातकी, (तथापि) वध्यः, न, इति, मनुः, अब्रवीत्, तु, अक्षतैः, विभवैः, सह, अस्मात्, राष्ट्रात्, निर्वास्यः ॥ ३९ ॥

शब्दार्थ—अयम्=यह, विप्रः=ब्राह्मण, पातकी=पापी है. (तथापि=फिर भी) वध्यः=वधयोग्य, न=नहीं है, इति=ऐसा, मनुः=मनु ने, अब्रवीत्=कहा है, तु=लेकिन अक्षतैः=विना हानि के सम्पूर्ण, विभवैः=धनादि के, सह=साथ, अस्मात्=इस, राष्ट्रात्=राष्ट्र से, निर्वास्यः=बाहर करने योग्य है ॥ ३९ ॥

अर्थ—**अधिकरणिक**—आर्य चारुदत्त ! निर्णय करने में हम प्रमाण (अधिकारी) हैं, शेष में अर्थात् दण्ड देने में राजा। तथापि शोधनक ! राजा पालक से निवेदन कर दो—

यह ब्राह्मण पातकी है फिर भी वधयोग्य नहीं है—ऐसा मनु ने कहा है किन्तु सम्पूर्ण सम्पत्ति के साथ यह इस राष्ट्र (राज्य) से बाहर करने योग्य है अर्थात् इसे सम्पूर्ण सम्पत्ति के साथ राज्य से बाहर निकाल दीजिये ॥ ३९ ॥

शोधनकः—जं अज्जो आणवेदि। (इति निष्क्रम्य पुनः प्रविश्य सास्रम्) अज्जा ! गदम्हि तहिं। राआ पालओ भणादि—'जेण अत्थकल्लवत्तस्स कालणादो वसन्तसेणा वावादिदा, तं ताइं ज्जेव आहरणाइं गले बन्धिअ डिण्डिमं ताडिअ दक्खिण–मसाणं णइअ सूले भज्जेध त्ति। जो को वि अवरो एरिसं अकज्जं अणुचिट्ठदि, सो एदिणा सणिआरदण्डेण सासाअदि।' (यदार्य आज्ञापयति।) (आर्याः ! गतोऽस्मि तस्मिन्। राजा पालको भणति 'येन अर्थकल्यवर्त्तस्य कारणात् वसन्तसेना व्यापादिता, तं तान्येव आभरणानि गले बद्ध्वा डिण्डिमं ताडयित्वा, दक्षिण–श्मशानं नीत्वा, शूले भङ्क्त' इति। यः कोऽपि अपर ईदृशमकार्यमनुतिष्ठति, स एतेन सनिकारदण्डेन शिष्यते।)

चारुदत्तः—अहो ! अविमृश्यकारी राजा पालकः। अथवा—

ईदृशे व्यवहाराग्नौ मन्त्रिभिः परिपातिताः।
स्थाने खलु महीपाला गच्छन्ति कृपणां दशाम् ॥४०॥

टीका—वधकर्त्रे मृत्युदण्डविधाने सत्यपि ब्राह्मणविषये न तथाऽचारणीयमिति मनूक्तां दण्डव्यवस्थां राजानं सूचयितुमाह—अयमिति। अयम्=पुरोवर्ती, अभियुक्तः विप्रः=ब्राह्मणः, चारुदत्तः, पातकी=वसन्तसेनाहत्यारूपपापकर्ता, अस्ति, तथापि, न=नैव, वध्यः=प्राणदण्डार्हः, इति=इत्थम्, मनुः=धर्मशास्त्रप्रणेता, अब्रवीत्=उक्तवान्, तु=परन्तु, अक्षतै=अविनष्टैः, सम्पूर्णैरित्यर्थः, विभवैः=धनादिभिः, सह=सार्द्धम्, अस्मात्=भवदधिकृतात्, राष्ट्रात्=राज्यात्, निर्वास्यः=बहिष्करणीयः। तथा चोक्तं मनुना—

'न जातु ब्राह्मणं हन्यात् सर्वपापेष्वपि स्थितम्।
राष्ट्रादेनं बहिष्कुर्यात् समग्रधनमक्षतम् ॥ मनु० ८।३८० ॥

एवञ्च चारुदत्तो राज्याद् बहिष्करणीय इति न्यायाधिकारिणां सम्मतिः। पथ्यावक्त्रं वृत्तम् ॥ ३९ ॥

शब्दार्थ—सास्रम्=आसुओं के साथ, अर्थकल्यवर्त्तस्य=धनरूपी कलेवा के कारण, व्यापादिता=मार डाली, ताडयित्वा=पीटकर बजाकर, भङ्क्त=चढ़ा दो, मार दो, सनिकारदण्डेन=अपमानसहित दण्ड से, शास्यते=दण्डित किया जायगा।

शोधनक—श्रीमान् की जैसी आज्ञा। (यह कहकर निकलकर, पुनः प्रवेश करके आसुओं के साथ) आर्यों ! वहाँ (राजा के पास) गया था। राजा पालक कहते हैं—'जिसने कलेवातुल्य धन के कारण वसन्तसेना को मारा है उसे वे ही गहने गले में बांधकर, ढिंढोरा पीटकर दक्षिण श्मशान में ले जाकर शूली पर चढ़ा दो।' जो कोई दूसरा भी इस प्रकार का अनुचित काम करेगा उसे इसी प्रकार अपमानसहित दण्डित किया जायगा।

अपि च—ईदृशैः श्वेतकाकीयैः राज्ञः शासनदूषकैः।
अपापानां सहस्राणि हन्यन्ते च हतानि च ॥४१॥

अन्वयः—मन्त्रिभिः, ईदृशे, व्यवहाराग्नौ, परिपातिताः, महीपालाः, कृपणाम्, दशाम्, गच्छन्ति, स्थाने, खलु ॥ ४० ॥

शब्दार्थ—मन्त्रिभिः=मन्त्रियों के द्वारा, ईदृशे=इस प्रकार के, व्यवहाराग्नौ=मुकदमारूपी आग में, परिपातिताः=गिराये गये, झोंके गये, महीपालाः=राजा लोग, कृपणाम्=शोचनीय, दशाम्=अवस्था को, गच्छन्ति=प्राप्त करते हैं, इति=यह, स्थाने=ठीक, खलु=निश्चितरूप से, है ॥ ४० ॥

अर्थ—**चारुदत्त**—ओह ! राजा पालक बिना विचारे काम करने वाला है। अथवा—

मन्त्रियों के द्वारा इस प्रकार की मुकदमाविचाररूपी आग में झोंके गये राजा लोग शोचनीय स्थिति को प्राप्त करते हैं, यह ठीक ही है ॥ ४० ॥

टीका—कुमन्त्रिपरामर्शाद् राज्ञो दूषणमाह—ईदृशे इति। मन्त्रिभिः=कुत्सितपरामर्शदातृभिः, ईदृशे=एवम्प्रकारे, व्यवहाराग्नौ=विवादनिर्णय-रूपवह्नौ परिपातिताः=सर्वतोभावेन निक्षिप्ताः, अधोगमिता इत्यर्थः, महीपालाः=राजानः, कृपणाम्=शोच्याम्, दीनामित्यर्थः, दशाम्=अवस्थाम्, गच्छन्ति=प्राप्नुवन्ति, इति यत् तत् स्थाने खलु=युक्तमेव 'युक्ते द्वे साम्प्रतं स्थाने' इत्यमरः। मन्त्रिणां समुचित-निर्णयासमर्थत्वात् निर्दोषजनानां दण्डप्रदानेन राज्ञां पतनमवश्यम्भावीति तद्भावः। रूपकमलङ्कारः। पथ्यावक्त्रं वृत्तम् ॥ ४० ॥

अन्वयः—श्वेतकाकीयैः, ईदृशैः, राज्ञः, शासनदूषकैः, अपापानाम्, सहस्राणि, हतानि, च, हन्यन्ते, च ॥ ४१ ॥

शब्दार्थ—श्वेतकाकीयैः=श्वेतवर्ण के कौवों के तुल्य, ईदृशैः=ऐसे, राज्ञः=राजा के, शासनदूषकैः=शासन को दूषित करने वालों के द्वारा, अपापानाम्=पाप-रहित, निरपराध व्यक्तियों के, सहस्राणि=हजारों, हतानि=मारे गये हैं, च=और, हन्यन्ते=मारे जा रहे हैं ॥ ४१ ॥

अर्थ—और भी—

सफेद कौवे के समान [बाहर सफेद किन्तु भीतर से काले] इस प्रकार के राजा के शासन [दण्डविधान] को दूषित करने वालों के द्वारा हजारों लोग मारे गये हैं और मारे जा रहे हैं ॥ ४१ ॥

टीका—अपराधरहितानामपि दण्डविधाने ईदृशानां कुमन्त्रिणां न्यायाधिक-रणिकानामेव दोष इति प्रतिपादयितुमाह—ईदृशैरिति। श्वेतकाकीयैः=श्वेत-वर्णकाकतुल्यैः, बहिः, श्वेतैरन्तर्मलिनैः, यद्वा अविद्यमानमपि श्वेतकाकं स्वीकुर्वद्-

सखे मैत्रेय ! गच्छ, मद्वचनादम्बामपश्चिममभिवादयस्व। पुत्रञ्च मे रोहसेनं परिपालयस्व।

विदूषकः—मूले छिण्णे कुदो पादवस्स पालणं ? (मूले छिन्ने कुतः पादपस्य पालनम् ?)

चारुदत्तः—मा मैवम्।

नृणां लोकान्तरस्थानां देहप्रतिकृतिः सुतः।
मयि यो वै तव स्नेहो रोहसेने स युज्यताम् ॥४२॥

भिरविवेकिभिरिति भावः, ईदृशेः=एवम्प्रकारैः, राज्ञः=नृपस्य, शासनम्=दण्डादिविधानम्, दूषयन्ति=ये तैः, अयथाव्यवहारदर्शिभिः मन्त्रिभिरित्यर्थः, अपापानाम्=पापरहितानाम्, सहस्राणि=बहूनि, हतानि=घातितानि, च, हन्यन्ते=मार्यन्ते, प्राग् इदानीं चेति शेषः। पथ्यावक्त्रं वृत्तम् ॥ ४१ ॥

विमर्श—श्वेतकाकीयैः—(१) श्वेतवर्ण का कौवा नहीं होता है फिर भी लोगों के कहने पर ऐसा ही स्वीकार करने वाले अर्थात् वास्तविकता से अनभिज्ञ। (२) बाहर तो हंसके समान उज्ज्वल वेशधारी हैं किन्तु भीतर से कौवा के समान काले अर्थात् कलुषित वृत्ति वाले। इस पद की व्याख्या करते हुये जगद्धर ने यह लिखा है—

"ईदृशैः श्वेतकाकीयैः श्वेतः काक इति वितथार्थं वाक्यं श्वेतकाकीयम्। 'इवे प्रतिकृतौ' (पा. सू. ५।३।९६) इत्यधिकारस्थितेन 'समासाच्च तद्विषयात्' (पा. सू. ५।३।१०६) इत्यनेन छ प्रत्ययः। तद्वादिनः श्वेतकाकीयाः वितथार्थदर्शिनस्तैः।" ॥ ४१ ॥

अर्थ—सखे मैत्रेय ! जाओ, मेरी ओर से माता को अन्तिम प्रणाम कह देना। और मेरे बेटे रोहसेन का पालन करना।

विदूषक—मूल कट जाने पर पेड़ का पालन कैसे ?

अन्वयः—सुतः, लोकान्तरस्थानाम्, नृणाम्, देहप्रतिकृतिः, [भवति], मयि, तव, यः, स्नेहः, सः, रोहसेने, युज्यताम् ॥ ४२ ॥

शब्दार्थ—सुतः=पुत्र, लोकान्तरस्थानाम्=परलोक में गये हुये, नृणाम्=मनुष्यों का, देहप्रतिकृतिः=शरीर का प्रतिनिधि अथवा दूसरा शरीर ही, (भवति=होता है), मयि=मेरे ऊपर, तव=तुम्हारा, यः=जो, स्नेहः=प्रेम, (है), सः=उसे, रोहसेने=रोहसेन पर, युज्यताम्=लगा देना ॥ ४२ ॥

अर्थ—चारुदत्त—नहीं, ऐसा मत कहो।

विदूषकः—भो वअस्स ! अहं ते पिअवअस्सो भविअ, तुए विरहिदाइं पाणाइं धारेमि ? । (भो वयस्य ! अहं ते प्रियवयस्यो भूत्वा त्वया विरहितान् प्राणान् धारयामि ?)

चारुदत्तः—रोहसेनमपि तावद्दर्शय ।

विदूषकः - एव्वं जुज्जदि । (एवं युज्यते ।)

अधिकरणिकः—भद्र शोधनक ! अपसार्य्यतामयं बटुः ।

(शोधनकस्तथा करोति ।)

अधिकरणिकः—कः कोऽत्र भोः ! चाण्डालानां दीयतामादेशः ।

(इति चारुदत्तं विसृज्य निष्क्रान्ताः सर्वे राजपुरुषाः ।)

शोधनक—इदो आअच्छदु अज्जो । (इत आगच्छतु आर्यः ।)

चारुदत्तः—(सकरुणम् 'मैत्रेय भोः ! 'किमिदमद्य' ९।२९ इत्यादि पठति । अकाशे)

पुत्र दूसरे लोक में गये हुये लोगों [पिता] का दूसरा शरीर या प्रतिनिधि होता है अतः तुम्हारा जो प्रेम मुझ पर है उसे (मेरे पुत्र) रोहसेन पर लगा देना, करना ॥ ४२ ॥

टीका—'छिन्ने मूले' इत्यादिकं विदूषकवचनमाकर्ण्य तन्निराकुर्वन् पुत्रं स्वप्रतिरूपमेव प्रतिपादयति-नृणामिति । सुतः=पुत्रः, लोकान्तरस्थानाम्=परलोके गतानाम्, नृणाम्=पुरुषाणाम्, देहस्य=शरीरस्य, प्रतिकृतिः=प्रतिरूपम्, पुत्रः पितुः द्वितीयं शरीरमिति भावः, 'आत्मा वै जायते पुत्रः' इत्यादौ तथोक्तेरिति बोध्यम्, अतः, मयि=चारुदत्ते, तव=विदूषकस्य, यः=यावान्, स्नेहः=अनुरागः, सः= तावान्, रोहसेने=एतन्नामके मम पुत्रे, युज्यताम्=समर्प्यताम् । एवञ्च मम मरणेऽपि तव स्नेहो मम पुत्रेऽवश्यमेव भवितव्य इति तद्भावः । पथ्यावक्त्रं वृत्तम् ॥४२॥

अर्थ—विदूषक—हे मित्र ! तुम्हारा प्रिय मित्र हो कर तुम्हारे विना प्राणों को धारण करूँगा ?

चारुदत्त - तब तक रोहसेन को भी दिखा दो ।

विदूषक --यह ठीक ही है।

अधिकरणिक—भद्र शोधनक ! इस ब्राह्मण को हटा दो ।

(शोधनक ब्राह्मण चारुदत्त को हटाता है ।)

अधिकरणिक—यहाँ कौन है ? चाण्डालों को आदेश दे दो ।

(चारुदत्त को छोड़कर सभी राजपुरुष निकल गये ।)

शोधनक— आर्य इधर आइये ।

विष-सलिल-तुलाग्नि-प्रार्थिते मे विचारे
क्रकचमिह शरीरे वीक्ष्य दातव्यमद्य।
अथ रिपुवचनात्त्वं ब्राह्मणं मां निहंसि
पतसि नरकमध्ये पुत्रपौत्रैः समेतः ॥४३॥

अयमागतोऽस्मि ।

(इति निष्क्रान्ताः सर्वे ।)

॥ इति व्यवहारो नाम नवमोऽङ्कः ॥



अन्वयः——विषसलिलतुलाग्निप्रार्थिते, मे, विचारे, (सति), वीक्ष्य, अद्य, इह, शरीरे, क्रकचम्, दातव्यम्, अथ रिपुवचनात् वा, ब्राह्मणम्, माम्, निहंसि, (तदा), पुत्रपौत्रैः, समेतः, नरकमध्ये, पतसि ॥४३॥

शब्दार्थः——विषसलिलतुलाग्निप्रार्थिते=विष, जल, तराजू और आग के द्वारा परीक्षा करने योग्य, मे=मेरे (चारुदत्त के), विचारे=मुकदमा का निर्णय, (सति= रहने पर) वीक्ष्य=अच्छी तरह देख कर, समझ कर, अद्य=आज, इह=इस, (मेरे) शरीरे=देह पर, क्रकचम्=आरा, दातव्यम्=चलाना चाहिये, देना चाहिये । अथ=अगर, रिपुवचनात्=शत्रु शकार के कहने से, वा=ही, ब्राह्मणम्=ब्राह्मण. माम्=मुझ चारुदत्त को, निहंसि=मार डालते हो, (तदा=तब) पुत्रपौत्रैः=पुत्र तथा पौत्रों के, समेतः=साथ, नरकमध्ये=नरक के बीच में, पतसि=गिरते हो, गिरोगे ॥ ४३ ॥

अर्थ——चारुदत्त——(करुणापूर्वक 'मैत्रेय भोः ! किमिदमद्य' इत्यादि (९।२९) श्लोक पढ़ता है । आकाश की ओर —)

विष, पानी, तराजू और आग से (मेरे द्वारा) परीक्षा के लिये प्रार्थित मेरे मुकदमे के निर्णय में ठीक प्रकार से विचार करके आज मेरे शरीर पर आरा चलवाना चाहिये । यदि शत्रु शकार के वचन से ही मुझ ब्राह्मण को मार डालते हो तो पुत्र तथा पौत्र आदि के साथ नरक के बीच में गिरोगे ॥ ४३ ॥

यह मैं आ गया ।

(इस प्रकार सभी निकल जाते हैं ।)

॥ व्यवहार-नामक नवम अंक समाप्त हुआ ॥

टीका——निरपराद्धस्यापि स्वस्य मृत्युदण्डविधाने सर्वेषां नरकपतनमिति आक्रोशं प्रकटयन्नाह —विषेति । विषेण=गरलेन, गरलपानेनेत्यर्थः, सलिलेन=जलेन, जलनिमज्जनेनेत्यर्थः, तुलया=तुलाख्यपरिमापकयन्त्रेण, तुलोपरि समारोपणेनेत्यर्थः,

अग्निना=वह्निना, अग्निमध्ये निक्षेपेण अग्निग्रहणेन वेत्यर्थः प्रार्थितः=याचितः, परीक्षणार्थं मया इति शेषः, तादृशे, पूर्वोक्तपदार्थैः ममापराधस्य निर्णयो विधेय इति मया प्रार्थिते, मे=मम, चारुदत्तस्य, विचारे=मयि आरोपितस्यापराधस्य तत्त्वनिर्णये सतीत्यर्थः, यदि मयि पापं न स्यात्तदा पूर्वोक्तैः परीक्षितोऽहं न मरिष्यामीति तद्भावः, वीक्ष्य=विशेषेण विचार्य, अद्य=अस्मिन् दिने, इह=अस्मिन्, शरीरे=मम देहे, क्रकचम्=करपत्रम्, काष्ठकर्तनयन्त्रविशेषः 'आरा' इति हिन्द्याम्, दातव्यम्=दातुमुचितम्, तेन मम शरीरं कर्तनीयमिति भावः। यदि सम्यक् परीक्षामकृत्वैव मृत्युदण्डविधानं क्रियते तदाऽऽक्रोशं व्यनक्ति--अथ=यदि, रिपुवचनात्=रिपोः शकारस्य कथनात्, वा=एव, ब्राह्मणम्=सदाचारिण निरपराध विप्रम्, माम्=चारुदत्तम्, निहंसि=मारयसि, तदा, पुत्रपौत्रैः=पुत्रैः तत्पुत्रैश्चेत्यर्थः भाविसन्ततिभिरिति भावः समेतः=सहितः, नरकमध्ये=नरकस्याभ्यन्तरे, पतसि=गच्छसि, गमिष्यसीत्यर्थः, वर्तमानसामीप्ये लटः प्रयोगः। निरपराद्धस्य दण्डदाने नरकपतनमाह मनुः--

'अदण्ड्यान् दण्डयन् राजा दण्ड्यांश्चैवाप्यदण्डयन्।
अयशो महदाप्नोति नरकं चैव गच्छति ॥' मनुः ८।१२८॥

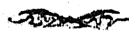
अत्र काव्यलिङ्गमलङ्कारः, मालिनी वृत्तम् ॥ ४३ ॥

॥ इति नवमोऽङ्कः ॥

विमर्श प्राचीनकाल में अपराधी का निर्णय करने के लिये दिव्य परीक्षा प्रचलित थी। (१) विष खिलाने पर भी मृत्यु का न होना। (२) पानी में डुबाने पर भी न मरना। (३) बराबर का वजन रखने पर भी उसके द्वारा चढ़ा हुआ पलड़ा ऊपर हो जाना (४) हाथ पर पीपल आदि के पत्ते रखकर जलता हुआ आग का गोला रखने पर भी हाथ का न जलना---ये किसी के निर्दोष होने में प्रमाण माने जाते थे। चारुदत्त के कथनानुसार उसने इनके द्वारा अपनी परीक्षा की प्रार्थना की थी। किन्तु शकार की बातों को ही सब कुछ मान कर उसे मृत्युदण्ड दे दिया गया है। वह अपने को निर्दोष मानता है। अतः उसे दण्ड देने वाले राजा की तीनी पीढ़ियाँ तक नरक भोगेंगी---यह शाप देता है।

तत्कालीन न्याय-प्रणाली और आज की न्यायप्रणाली समान सी प्रतीत होती है। गम्भीरतापूर्वक निर्णय लेना उस समय भी सम्भव नहीं था ॥ ४३ ॥

॥ इस प्रकार जय-शङ्कर-लाल-त्रिपाठि-विरचित संस्कृत-हिन्दी-व्याख्या में मृच्छकटिक का नवम अंक समाप्त हुआ ॥



दशमोऽङ्कः

(ततः प्रविशति चाण्डालद्वयेनानुगम्यमानश्चारुदत्तः ।)

उभौ——तक्कि ण कलअ कालणं णव–वह–बन्ध–णअणे णिउणा ।
अचिलेण शीश-च्छेअण शूलालोवेशु कुशलम्ह ॥१॥

(तत् किं न कलय कारणं नव-वध-बन्ध-नयने निपुणौ ।
अचिरेण शीर्षच्छेदनशूलारोपेषु कुशलौ स्वः ॥१॥)

ओशलध अज्जा ! ओशलध । एशे अज्जचालुदत्त । (अपसरत आर्याः ! अपसरत । एष आर्यचारुदत्तः ।)

(इसके बाद दो चाण्डालों द्वारा पीछा किया जाता हुआ चारुदत्त प्रवेश करता है ।)

अन्वयः——तत्, कारणम्, किम्, न, कलय, (आवाम्), नववध-बन्धनयने, निपुणौ, अचिरेण, शीर्षच्छेदनशूलारोपेषु, कुशलौ, स्वः ॥ १ ॥

शब्दार्थ——तत्=उस, कारणम्=प्रयोजन को, किम्=क्या, न=नहीं, कलय=समझते हो, (आवाम्=हम दोनों), नववधबन्धनयने=नये वध और बन्धन के लिये ले जाने में, निपुणौ=अच्छे जानकार, हैं, अचिरेण=शीघ्र ही, शीर्षच्छेदनशूलारोपेषु=शिर काटने और शूली पर चढ़ाने में, कुशलौ=चतुर, स्वः=हैं ॥ १ ॥

अर्थ——दोनों (चाण्डाल)——

क्या उस (श्मशान जाने के) कारण को नहीं जानते हो ? (हम दोनों चाण्डाल) नये वध और बन्धन के लिये (अपराधी व्यक्ति को) ले जाने में चतुर हैं और शिर काटने तथा शूली पर चढ़ाने में दक्ष हैं ॥ १ ॥

टीका——वधार्थं चारुदत्तं नयन्तावुभौ चाण्डालौ गमन-कारणमजानन्तं कंचित् प्रत्याहतुः——तदिति । तत्=सर्वविदितम्, प्रसिद्धमित्यर्थः, कारणम्=हेतुम्, किम् न कलय=किं न जानासि, जानीहि तत् । नवे=नूतने, वधे=मारणे, तथा बन्धे=बन्धने, नयने=प्रापणे अपराधिनमिति शेषः, निपुणौ=विज्ञौ, स्वः, अचिरेण=शीघ्रमेव, शीर्ष्णः=शिरसः, छेदनेषु=कर्तनेषु तथा शूलेषु=शूलस्योपरि आरोपेषु=आरोपणेषु वध्यस्येति शेषः, कुलशौ=दक्षौ, स्वः=भवावः । 'आयुक्तकुशलाभ्याम्, (पा, सू. २।३।४०) इति कुशलयोगे सप्तमी । 'कलय' इति लोटः प्रयोगोऽसमीचीनः, उपगीतिः छन्दः ॥ १ ॥

दिण्ण–कलवील–दामे गहिदे अम्हेहिं बज्झपुलिसेहिं ।
दीवे व्व मन्दणेहे थोअं थोअं खअं जादि ॥ २ ॥
(दत्त-करवीर-दामा गृहीत आवाभ्यां वध्यपुरुषाभ्याम् ।
दीप इव मन्दस्नेहः स्तोकं स्तोकं क्षयं याति ॥ २ ॥)

चारुदत्तः––(सविषादम्)

नयनसलिलसिक्तं पांशुरुक्षीकृताङ्गं
पितृवनसुमनोभिर्वेष्टितं मे शरीरम् ।

अन्वयः––दत्त-करवीरदामा, वध्यपुरुषाभ्याम्, आवाभ्याम्, गृहीतः, [एष आर्यचारुदत्तः–इति गद्यस्थेनान्वयः] मन्दस्नेहः, दीपः, इव, स्तोकम्, स्तोकम्, क्षयम्, याति ॥ २ ॥

शब्दार्थ––दत्तकरवीरदामा=पहनायी गयी कनेर पुष्प की माला वाला, आवाभ्याम् वध्यपुरुषाभ्याम्=वधयोग्य पुरुषों के लिये नियुक्त हम दोनों, के द्वारा गृहीतः=पकड़ा गया, [एष आर्यचारुदत्तः=यह आर्य चारुदत्त], मन्दस्नेहः=अल्प तेल वाले, दीपः=दीपक, इव=के समान, स्तोकम् स्तोकम्=धीरे-धीरे, क्षयम्=विनाश को, याति=प्राप्त कर रहा है ॥ २ ॥

अर्थ––हटिये सज्जनों ! हटिये । यह आर्य चारुदत्त ––

पहनायी गई कनेर फूलों की मालावाला, वधयोग्य पुरुषों के लिये नियुक्त हम दोनों (चाण्डालों) के द्वारा पकड़ा गया, [यह आर्य चारुदत्त] थोड़े तेल वाले दीपक की तरह धीरे-धीरे विनाश [मृत्यु] को प्राप्त कर रहा है ॥ २ ॥

टीका––हत्यापराधज्ञापकवेशं वर्णयन् वध्यत्वेनास्य स्वयमेव क्रमशः क्षयित्वमाहतुः—दत्तेति । दत्तम्=ग्रीवादौ अर्पितम्, करवीरस्य=रक्तवर्णपुष्पविशेषस्य 'कनेर' इति हिन्द्यां ख्यातस्य, दाम=माला यस्मै सः, करवीरपुष्पनिर्मित-मालालिङ्गित इत्यर्थः, वध्यपुरुषाभ्याम्—वधे=हत्यायाम्, साधू=समर्थौ वधनिपुणौ इत्यर्थः, 'तत्र साधुः' (पा. सू. ४।४।९८) इति यप्रत्ययः तौ च पुरुषौ च, ताभ्याम्, हन्तृभ्याम्, आवाभ्याम्=चाण्डालाभ्याम्, गृहीतः=धृतः, 'एष आर्यचारुदत्तः' इति गद्यस्थेनान्वयः, मन्दः=अल्पः, स्नेहः=तैलम् पक्षे प्रेमा, यस्य तादृशः, दीपः=प्रदीपः, इव=यथा, स्तोकम् स्तोकम्=शनैः शनैः, अल्पमल्पं वा, क्षयम्=विनाशम्, याति=गच्छतीत्यर्थः । यथा खलु अल्पतैलः दीपः शनैः शनैः स्वयमेव नष्टो भवति तथैवायं चारुदत्तोऽपि अपराधिवेषधारेण मृत्युदण्डनिश्चयेन स्वयमेव मृत्युमुखमुपगच्छतीति भावः ॥ आर्या वृत्तम् ॥ २ ॥

अन्वयः––इह, विरसम्, रटन्तः, वायसाः, नयनसलिलसिक्तम्, पांशुरुक्षीकृता-

विरसमिह रटन्तो रक्तगन्धानुलिप्तं
बलिमिव परिभोक्तुं वायसास्तर्कयन्ति ॥ ३ ॥

चाण्डालौ—ओशलध अज्जा ! ओशलध । (अपसरत आर्याः ! अपसरत ।)

किं पेक्खध छिज्जन्तं शप्पुलिशं काल-पलशु-धालाहिं ।
शुअण-शउणाधिवाशं सज्जणपुलिश-द्दुमं एदं ॥ ४ ॥

ङ्गम्, पितृवनसुमनोभिः, वेष्टितम्, रक्तगन्धानुलिप्तम्, मे, शरीरम्, बलिम्, इव, परिभोक्तुम्, तर्कयन्ति ॥ ३ ॥

शब्दार्थ—इह=यहाँ, विरसम्=कर्कश, रटन्तः=आवाज करते हुये, वायसाः=कौवे, नयनसलिलसिक्तम्=आँसुओं के पानी से भीगे हुये, पांशुरुक्षीकृताङ्गम्=धूलि लगने से रूखे अंगों वाले, पितृवनसुमनोभिः=श्मशान भूमि में पैदा हुये फूलों के द्वारा, वेष्टितम्=लिपटे हुये, रक्तगन्धानुलिप्तम्=लाल चन्दन से लिप्त, मे=मेरे, चारुदत्त के, शरीरम्=शरीर को, बलिम्=बलि, इव=के सामान, परिभोक्तुम्=खाने के लिये, तर्कयन्ति=सोचते हैं ॥ ३ ॥

अर्थ—**चारुदत्त**—(विषादपूर्वक)—

यहाँ कर्कश आवाज करते हुये कौवे आँसुओं से गीले, धूलि से धूसरित अवयवों वाले, श्मशान भूमि में पैदा हुये फूलों से लिपटे हुये, लाल चन्दन से पोते हुये मेरे शरीर को बलि (पूजनादि में समर्पित तथा पक्षियों आदि को दी जाने वाली वस्तु) के समान समझ रहें हैं, अर्थात् —मेरे शरीर को बलि के समान भक्षणीय पदार्थ समझ रहे हैं ॥ ३ ॥

टीका—तत्र वध्यवेश-धारिणमात्मानं दृष्ट्वा व्यथां व्यनक्ति—नयनेति । इह=अस्मिन् स्थाने, विरसम्=कर्कशम्, रटन्तः=शब्द कुर्वन्तः, वायसाः=काकाः, नयनसलिलेन=अश्रुजलेन, सिक्तम्=क्लिन्नम्, तथा पांशुभिः=धूलिभिः, रुक्षीकृतानि=धूसरितानि अङ्गानि=अवयवाः, यस्य, तत्, पितृवनम्=श्मशानम् 'श्मशानं स्यात् पितृवनम्' इत्यमरः, तत्र भवैः सुमनोभिः=पुष्पैः, वेष्टितम्=परिवृत्तम्, रक्तगन्धेन=रक्तवर्णेन घृष्टचन्दनेन, अनुलिप्तम्=सर्वतो व्याप्तम्, मे=चारुदत्तस्य, शरीरम्=देहम्, बलिम् इव=काकादिभ्यः प्रदेयं बलीयद्रव्यम् इव, परिभोक्तुम्=भक्षयितुम्, तर्कयन्ति=सम्भावयन्ति । तत्र चारुदत्तः स्वकीयं शरीरं काकादिभिः भक्ष्यं चिन्तयति । उपमालंकारः, मालिनी वृत्तम् ॥ ३ ॥

अन्वयः—सज्जनाः !, सुजनशकुनाधिवासम्, एतम्, सज्जनपुरुषद्रुमम्, कालपरशुधाराभिः, छिद्यमानम्, किम्, पश्यत ? ॥ ४ ॥

शब्दार्थ—सज्जनाः !=हे सज्जनों !, सुजनशकुनाधिवासम्=सज्जनरूपी पक्षियों के निवास-स्थल, एतम्=इस, सज्जन पुरुषद्रुमम्=सज्जनपुरुषरूपी वृक्ष को,

(किं प्रेक्षध्वे छिद्यमानं सत्पुरुषं कालपरशु–धाराभ्याम् ।
सुजन-शकुनाधिवासं सज्जन-पुरुषद्रुममेतम् ॥ ४ ॥)

आअच्छ ले चालुदत्त ! आअच्छ । (आगच्छ रे चारुदत्त ! आगच्छ ।)

चारुदत्तः—पुरुषभाग्यानामचिन्त्याः खलु व्यापाराः; यदहमीदृशीं दशामनुप्राप्तः ।

सर्वगात्रेषु विन्यस्तैः रक्तचन्दनहस्तकैः ।
पिष्टचूर्णावकीर्णश्च पुरुषोऽहं पशूकृतः ॥ ५ ॥

कालपरशुधाराभिः=कालरूपी फरसे की धाराओं से, छिद्यमानम्=काटे जाते हुये, किम्=क्यों, प्रेक्षध्वे=देख रहे हो ? ॥ ४ ॥

अर्थ—दोनों चाण्डाल—हटो सज्जनों ! हटो ।

हे सज्जनों ! सज्जनरूपी पक्षियों के निवास-स्थल, इस सज्जनरूपी वृक्ष को कालरूपी फरसे की धाराओं से काटे जाते हुये क्यों देख रहे हो ? अर्थात् इस सज्जन चारुदत्त का वध मत देखो ॥ ४ ॥

टीका—सज्जनस्य मृत्युर्न दर्शनीय इति कृत्वाऽग्रान् वारयन्तावाहतुः-किमिति । हे सज्जनाः=हे सत्पुरुषाः !, चारुदत्तस्य वधं श्रुत्वा तत्रैकत्रीभूता इति भावः. सुजनाः=साधवः एव शकुनाः=पक्षिणः तेषाम् अधिवासः=आश्रयः, तम्, एतम्=पुरोवर्त्तिनम्, सज्जनपुरुषः एव द्रुमः=वृक्षस्तम्, यथा शोभने वृक्षे शोभनाः पक्षिणस्तिष्ठन्ति तथैव सज्जनं चारुदत्तं सत्पुरुषा एवाश्रयन्तीति तद्भावः, कालपरशुधाराभ्याम्=कालः=कृतान्तः एव, यद्वा कालः=कृतान्तः इव, परशुः=कुठारस्तस्यधा राभ्याम्=तीक्ष्णाग्रभागाभ्याम्: [अत्र चाण्डालस्य द्वित्वात् द्विवचनमिति तत्त्वविदः] छिद्यमानम्=भिद्यमानम्, किं पश्यत=कथमवलोकयत, नावलोकनीयमिति भावः । अत्र सुजन-सज्जन-पुरुषपदयोरावृत्तिर्न शोभनेति बोध्यम् । एवमेव 'सज्जनद्रुमम्' इत्यनेनैवाभीष्टार्थसम्भवे पुनः 'पुरुष'-पद प्रयोगात् पुनरुक्तता दोषः । रूपकमलङ्कारः, आर्या वृत्तम् ॥४॥

विमर्श—यहाँ 'सुजन' 'सज्जन' इनकी आवृत्ति ठीक नहीं है । इसके अतिरिक्त 'सज्जनद्रुमम्' इसी से अभीष्ट अर्थ सम्भव है पुनः 'पुरुष' पद के प्रयोग से पुनरुक्तता दोष भी है ॥४॥

अर्थ—आ रे चारुदत्त ! आ ! ।

अन्वयः—सर्वगात्रेषु, विन्यस्तैः, रक्तचन्दनहस्तकैः, पिष्टचूर्णावकीर्णः, च, अहम्, पुरुषः, पशूकृतः ॥५॥

शब्दार्थ—सर्वगात्रेषु=सभी अवयवों में, विन्यस्तैः=लगाये गये, रक्तचन्दनहस्तकैः=लाल चन्दन के हाथ के छापों से, च=और, पिष्टचूर्णावकीर्णः=पीसे गये

(अग्रतो निरूप्य) अहो ! तारतम्यं नराणाम् । (सकरुणम्)

अमी हि दृष्ट्वा मदुपेतमेतन्मर्त्यं धिगस्त्वित्युपजातबाष्पाः ।
अशक्नुवन्तः परिरक्षितुं मां स्वर्गं लभस्वेति वदन्ति पौराः ॥ ६ ॥

(तिल चावलादि) के चूर्ण से व्याप्त, अहम्=मैं, चारुदत्त, पुरुषः=पुरुष, पशूकृतः= जानवर बना दिया गया हूँ ॥५॥

अर्थ—चारुदत्त—मनुष्यों के भाग्यों के क्रिया-कलाप अचिन्तनीय होते हैं, जो कि मैं ऐसी दशा को प्राप्त हुआ हूँ ।

समस्त अंगों में लगाये गये लाल चन्दन के हाथ के छापों से तथा पीसे हुये (तिल चावल आदि) के चूरे से व्याप्त मैं पुरुष पशु बना दिया गया हूँ ॥५॥

टीका—भाग्येन विहितां स्वदुर्दशामवलोक्य खेदं प्रकटयन्नाह-सर्वेति । सर्व-गात्रेषु=समस्ताङ्गेषु, विन्यस्तैः=रचितैः, अर्पितैः रक्तचन्दनस्य=लोहितचन्दनस्य हस्तकैः=हस्ताकारचिह्नैरुपलक्षितः सर्वशरीरे रक्तचन्दनद्वारा निर्मितहस्ताकृति-युक्त इत्यर्थः, तथा पिष्टम्=पाषाणदिना पिष्टम्, यत् चूर्णम्=तिलतण्डुलादीनां विकारः तेन अवकीर्णः अनुलिप्तः, यद्वा पिष्टम्=तिलादीनां विकारः, चूर्णम्= कुंकुमादिद्रव्याणां रजश्च ताभ्यामवकीर्णः सन्, अहम्=चारुदत्तः, पुरुषः=मनुष्यः, अपि, पशूकृतः=छागादितुल्यो विहितः । यथा देवतोद्देश्येन दीयमानं पशुं रक्तचन्दना-दिना लेपयित्वा तण्डुलादिचूर्णैरवकीर्य बलिरूपेण समर्पयन्ति तथैवाहमपि कृत इति भावः । अत्र रूपकमलंकारः, पथ्यावक्त्रं वृत्तम् ॥५॥

अन्वय—हि, अमी, पौराः, मदुपेतम्, एतत्, दृष्ट्वा, मर्त्यम्, धिक्, अस्तु, इति (भणित्वा), उपजातवाष्पाः, (सन्तः) माम्, परिरक्षितुम्, अशक्नुवन्तः, स्वर्गम्, लभस्व, इति, वदन्ति ॥६॥

शब्दार्थ—हि=क्योंकि, अमी=ये, पौराः=पुरवासी लोग, मदुपेतम्=मेरे साथ वर्तमान, एतत्=यह [वध्यचिह्नादि], दृष्ट्वा=देख कर, मर्त्यम्=मनुष्य को, धिक्=धिक्कार, अस्तु=हो, इति=ऐसा, [भणित्वा=कहकर] उपजातवाष्पाः= आँखों में निकले हुये आसुओं से भरे हुये, (सन्तः=होते हुये), माम्=मुझ चारुदत्त को, परिरक्षितुम्=रक्षा करने में, अशक्नुवन्तः=समर्थ न होते हुये, 'स्वर्गम्= स्वर्गको, लभस्व=प्राप्त करो, इति=ऐसा, वदन्ति=कहते हैं ॥६॥

अर्थ—(आगे देखकर) ओह ! लोगों की विशाल भीड़ । (करुणापूर्वक)

ये नगरवासी लोग मुझे प्राप्त हुई इस दुर्दशा (मरणचिह्नादि) को देख कर 'मनुष्य (मरणधर्मा) को धिक्कार है,' ऐसा कहते हुये, आखों में आसुओं को

चाण्डालौ—ओशलध अज्जा ! ओशलध । किं पेक्खध ? (अपसरत आर्याः ! अपसरत । किं प्रेक्षध्वे ?)

इन्दे प्पवाहिअन्ते, गोप्पसवे संकमं च तालाणं ।
शुपुलिश-पाण-विपत्ती चत्तालि इमे ण दट्ठव्वा ।। ७ ।।
(इन्द्रः प्रवाह्यमाणो गोप्रसवः संक्रमश्च ताराणाम् ।
सुपुरुषप्राणविपत्तिः चत्वार इमे न द्रष्टव्याः ।। ७ ।।)

भरे हुये, [किन्तु] मुझे बचाने में असमर्थ होते हुये 'तुम स्वर्ग प्राप्त करो' ऐसा कह रहे हैं ।।६।।

टीका—स्वस्य वधदर्शनार्थं समागतजनानां मार्मिकीमवस्थां प्रकटयन्नाह-अमीति । हि=यतः, अमी=इतस्ततः समवेताः दृश्यमानाः, पौराः=पुरवासिनः, मदुपेतम्=मयि=मद्विषये उपेतम्=उपस्थितम्, यद्वा मया उपेतम्=प्राप्तम्, एतत्=अकारणवधदण्डरूपम्, यद्वा मृत्युचिह्नादिकम्, दृष्ट्वा=विलोक्य, मर्त्यम्=मानवम्=मरणधर्माणमित्यर्थः, धिक्=निन्दा, अस्तु=भवतु, इति=इत्थम्, (भणित्वा=कथयित्वा), उपजातवाष्पाः=समुत्पन्नाश्रुविन्दवः, सन्तः, माम्=चारुदत्तम्, परिरक्षितुम्=परित्रातुम् अशक्नुवन्तः=असमर्थाः सन्तः, 'स्वर्गम्=सुरपुरम्, लभस्व=प्राप्नुहि, मरणानन्तरमिति शेषः, इति=इदम् वदन्ति= कथयन्ति । उपजातिवृत्तम् ।। ६ ।।

विमर्श—मदुपेतम्-इस के (१) मयि=मेरे विषय में उपेतम्=उपस्थित, (२) मया=मेरे द्वारा, उपेतम्-प्राप्त, धारण किये गये-ये दो अर्थ हो सकते हैं । 'एतत्' इस सर्वनाम के द्वारा (१) मरणचिह्न अथवा (२) दारुण दुख-इत्यादि अर्थ सम्भव हैं ।।६।।

अन्वयः—प्रवाह्यमाणः, इन्द्रः, गोप्रसवः, ताराणाम्, संक्रमः, च, सुपुरुषप्राणविपत्तिः च, इमे, चत्वारः, न, द्रष्टव्याः ।।७।।

शब्दार्थ—प्रवाह्यमाणः=बहाया जाता हुआ, (नदी आदि में प्रवाहित करने के लिये ले जाया जाता हुआ), इन्द्रः=इन्द्रध्वज, गोप्रसवः=गाय का बच्चा पैदा करना, बियाना, च=और, ताराणाम्=ताराओं का, संक्रमः=गिरना, च=तथा, सुपुरुषप्राणविपत्तिः=सज्जन के प्राणों का वध, इमे=ये, चत्वारः=चार, न=नहीं, द्रष्टव्याः=देखने चाहिये ।।७।।

अर्थ—दोनों चाण्डाल—सज्जनों ! हटो, हटो ! क्या देखते हो ?
(नदी आदि में बहाने के लिये) ले जाया जाता हुआ इन्द्रध्वज, गाय का बियाना

एकः——हण्डे आहोन्ता ! पेक्ख, पेक्ख । (अरे आहीन्त ! प्रेक्षस्व, प्रेक्षस्व ।)

णअली-पधाणभूदे वज्झअन्ते कदन्तआण्णाए ।
किं लुअदि अन्तलिक्खे आदु अणब्भे पडदि वज्जे ? ॥ ८ ॥
(नगरीप्रधानभूते बध्यमाने कृतान्ताज्ञया ।
किं रोदिति अन्तरिक्षमथवा अनभ्रे पतति वज्रम् ? ॥ ८ ॥)

(बच्चा पैदा करना), तथा ताराओं का गिरना, और सज्जन के प्राणों का वध—ये चार नहीं देखने चाहिये ॥७॥

टीका——चारुदत्तवधदर्शनार्थं समागतान् तद्दर्शनात् वारयितुं शास्त्रोक्तमाह-इन्द्र इति । प्रवाह्यमाणः=नद्यादिषु विसर्जनार्थं नीयमानः, इन्द्रः=इन्द्रदेवतासम्बन्धो ध्वजः, गोः प्रसवः=सन्तत्युत्पत्तिः, ताराणाम्=नक्षत्राणाम्, संक्रमः=अधः पतनम्, च=तथा, सुपुरुषस्य=सज्जनस्य, प्राणविपत्तिः=प्राणनाशः, इमे=पूर्वोक्ताः एते चत्वारः=इन्द्रध्वजादयः न=नैव, द्रष्टव्याः=अवलोकनीयाः । साधुजनैरेतेषां दर्शनं वर्जनीयमिति भावः । आर्या वृत्तम् ॥७॥

विमर्श——प्राचीन काल में अकालादि पड़ने पर राजा लोग इन्द्र को प्रसन्न करने के लिये यज्ञादि करते थे । उसमें एक ध्वज गाड़ा जाता था । प्रारम्भ में सभी लोग देखते थे किन्तु नदी आदि में विसर्जन के समय देखना अशुभ मानते थे । कालिकापुराण का उद्धरण टीकाओं में प्राप्त होता है --

"उत्थापयेत्तूर्यरवैः सर्वलोकस्य वै पुरः ।
रहो विसर्जयेत् केतुं विशेषोऽयं प्रपूजने ॥ ७ ॥

अन्वयः——कृतान्ताज्ञया, नगरी-प्रधानभूते, वध्यमाने, किम्, अन्तरीक्षम्, रोदिति, अथवा, अनभ्रम्, वज्रम्, पतति ॥ ८ ॥

शब्दार्थ——कृतान्ताज्ञया=यमराज की आज्ञा से, नगरी-प्रधानभूते=उज्जयिनी नगरी के प्रधान (चारुदत्त) के, वध्यमाने=मारे जाने पर, किम्=क्या, अन्तरीक्षम्=आकाश, रोदिति=रो रहा है ? अथवा=अथवा, अनभ्रम्=बिना बादलों वाला, वज्रम्=वज्र, बिजली, पतति=गिर रहा है ॥ ८ ॥

अर्थ——**एक चाण्डाल**——अरे आहीन्त ! देखो, देखो——

यमराज की आज्ञा से उज्जयिनी नगरी के प्रधानभूत (पुरुष चारुदत्त) के मारे जाने पर क्या आकाश रो रहा है ? अथवा बिना बादलों का वज्र=(बिजली) गिर रहा है ? ॥ ८ ॥

टीका——चारुदत्तवधावसरे तत्रत्यं दारुणं दुःखमुपवर्णयति—नगरीति । कृतान्ताज्ञया=यमतुल्यस्य राज्ञः पालकस्य आदेशेन, नगर्याः=उज्जयिन्याः, प्रधानभूते=

द्वितीयः—अले गोहा ! (अरे गोह !)

ण अ लुअदि अन्तलिक्खे णेअ अणब्भे पड़दि वज्जे ।
महिलाशमूहमेहे णिवड़दि णअणम्बुधाराहिं ॥ ९ ॥
(न च रोदित्यन्तरिक्षं नैवानभ्रं पतति वज्रम् ।
महिलासमूहमेघान्निपतति नयनाम्बु धाराभिः ॥ ९ ॥)

अवि अ—वज्झम्मि णोअमाणे जणश्श सव्वश्श लोदमाणश्श ।
णअणशलिलेहिं शित्ते लच्छातो ण उण्णमइ लेणू ॥१०॥
(अपि च—वध्ये नीयमाने जनस्य सर्वस्य रुदतः ।
नयनसलिलैः सिक्तो रथ्यातो न उन्नमति रेणुः ॥ १० ॥)

अतिमहत्त्वमुपगते पुरुषे, चारुदत्ते इत्यर्थः, वध्यमाने=हन्यमाने, हन्तुं नीयमाने इत्यर्थः, अन्तरीक्षम्=गगनम्, रोदिति किम्=विलपति किम् ? अथवा=किं वा, अनभ्रम्=मेघरहितम्, मेघसम्बन्धरहितमित्यर्थः, वज्रम्=अशनिः, विद्युदिति भावः, पतति=अधोदेशमायाति । अत्र सन्देहालंकारः, आर्या वृत्तम् ॥ ८ ॥

अन्वयः—न च, अन्तरीक्षम्, रोदिति, नैव, अनभ्रम्, वज्रम्, पतति, महिला-समूह-मेघात्, धाराभिः, नयनाम्बु, पतति ॥ ९ ॥

शब्दार्थ—न च=न तो, अन्तरीक्षम्=आकाश, रोदिति=रो रहा है, नैव=और न ही, अनभ्रम्=बिन बादलों के, वज्रम्=वज्र, बिजली, पतति=गिर रहा है, महिलासमूहमेघात्=स्त्रीसमुदायरूपी मेघ, से, धाराभिः=धाराओं के साथ, नयनाम्बु=अश्रुजल, निपतति=गिर रहा है ॥ ९ ॥

अर्थ—दूसरा चाण्डाल—अरे गोह !

न तो आकाश रो रहा है और न ही बिना बादलों के वज्र (बिजली) गिर रहा है (परन्तु) स्त्रियों के समूहरूपी बादल से धाराओं के साथ अश्रुजल गिर रहा है ॥ ९ ॥

टीका—प्रथमचाण्डालकल्पितं खण्डयितुं द्वितीयश्चाण्डालस्तत्रत्यां वस्तुस्थितिं वर्णयति—न चेति ! न च=न तु, अन्तरीक्षम्=आकाशम्, रोदिति=विलपति, नैव=न वा, अनभ्रम्=मेघसम्बन्धरहितम्, वज्रम्=अशनिः, पतति=अधो गच्छति । तर्हि किमेतदित्याशंकायामाह—महिलानाम्=नगर-स्त्रीणाम्, समूहः=समुदाय एव मेघः=वारिदः, तस्मात्, धाराभिः=प्रवाहैः, नयनाम्बु=अश्रुजलम्, निपतति=स्रवति । एवञ्च चारुदत्तवधविषयकसमाचारमाकर्ण्य नगर्याः सर्वा अपि स्त्रियः अश्रुजलेन सर्वान् आर्द्रीकुर्वन्तीति भावः । रूपकमलङ्कारः, उपगीतिः वृत्तम् ॥ ९ ॥

अन्वयः—वध्ये, नीयमाने, रुदतः, सर्वस्य, जनस्य, नयनसलिलैः, सिक्तः, रेणुः, रथ्यातः, न, उन्नमति ॥ १० ॥

चारुदत्तः—(निरूप्य सकरुणम्)

एताः पुनर्हर्म्यगताः स्त्रियो मां वातायनार्द्धेन विनिःसृतास्याः ।
हा ! चारुदत्तेत्यभिभाषमाणा बाष्पं प्रणालीभिरिवोत्सृजन्ति ॥११॥

शब्दार्थ—वध्ये=वधयोग्य (चारुदत्त) के, नीयमाने=ले जाये जाने पर (ले जाते समय), रुदतः=विलाप करते हुये, सर्वस्य=सारे, जनस्य=लोगों के, नयनसलिलैः=अश्रुजलों से, सिक्तः=गीला किया गया, रेणुः=धूलि, रथ्यातः=गली से, न=नहीं, उन्नमति=उठ रही है ॥ १० ॥

अर्थ—और भी —

वधयोग्य (चारुदत्त) के ले जाये जाने पर (उसके वध होने से) विलाप करते हुये सभी लोगों की आँखों के आँसुओं से गीली की गयी राह (रास्ता) की धूलि नहीं उड़ रही है ॥ १० ॥

टीका—समग्रजानानामक्षिभिः निःसरन्त्या अश्रुजलधारायाः प्रभावमाह—वध्य इति । वध्ये=वधार्थमादिष्टे चारुदत्ते इत्यर्थ, नीयमाने=श्मशानभूमौ वधस्थाने प्राप्यमाणे, सतीति शेषः, तमवलोक्य, रुदतः=विलपतः, सर्वस्य=सकलस्य, जनस्य=लोकस्य, नयनसलिलैः=अश्रुजलैः, सिक्तः=आर्द्रीकृतः, रेणुः=धूलिः, रथ्यातः=प्रतोलीतः, न=नैव, उन्नमति=उत्तिष्ठति । उज्जयिनीनिवासिनां जनानां शोकातुराणामश्रुजलप्रवाहेण सर्वत्र धूलिकणाः पंकीभूता अतो न आकाशादावुत्तिष्ठन्तीति भावः । अतिशयोक्तिरलंकारः, आर्या वृत्तम् ॥ १० ॥

अन्वयः—हर्म्यगताः एताः, स्त्रियः, पुनः, वातायनार्द्धेन, विनिःसृतास्याः, माम्, (उद्दिश्य), 'हा चारुदत्त', इति, अभिभाषमाणाः, प्रणालीभिः इव, बाष्पम्, उत्सृजन्ति ॥ ११ ॥

शब्दार्थः—हर्म्यगताः=महलों में खड़ी हुई, एताः=ये, स्त्रियः=महिलायें, पुनः=फिर, वातायनार्द्धेन=आधे झरोखे या खिड़की से, विनिःसृतास्याः=मुखको बाहर निकाले हुये, माम्=मुझे, (उद्दिश्य=लक्ष्यकरके) हा चारुदत्त !=हाय चारुदत्त !, इति=ऐसा, अभिभाषमाणाः=कहती हुई, प्रणालीभिः=परनालों से, इव=मानों, वाष्पम्=आँसू, उत्सृजन्ति=बहा रहीं हैं ॥ ११ ॥

अर्थ—चारुदत्त—(देखकर करुणापूर्वक)

महलों में खड़ी हुई ये स्त्रियाँ फिर आधे झरोखे या खिड़की से मुंह बाहर करती हुई मुझ (चारुदत्त) को लक्षित करके 'हाय चारुदत्त !' ऐसा कहती हुई परनालों से मानों आँसू बहा रहीं है ॥ ११ ॥

टीका—चारुदत्तस्य वधमाकर्ण्य दुःखयुतानां नगरमहिलानामश्रुजलप्रवाहं वर्णयन्नाह—एता इति । हर्म्यगताः=धनिकानामुत्कृष्टभवनेषु संस्थिताः, एताः=ईषत्

चाण्डालौ—आअच्छ ले चालुदत्ता ! आअच्छ। इमं घोशणट्ठाणं, आहणेध डिण्डिमं, घोशेध घोशणं। (आगच्छ रे चारुदत्त ! आगच्छ। इदं घोषणास्थानम्, आहत डिण्डिमम्, घोषयत घोषणाम्।)

उभौ—शुणाध अज्जा ! शुणाध। एशे शत्थवाहविणअदत्तश्श णत्तिके शाअलदत्तश्श पुत्तके अज्जचालुदत्ते णाम। एदिणा किल अकज्जकालिणा गणिआ वशन्तशेणा अत्थकल्लवत्तश्श कालणादो शुण्णं पुष्फकलण्डअजिण्णुज्जाणं पवेशिअ बाहुपाशवलक्कालेण मालिदेत्ति, एशे शलोत्ते गहिदे, शअं च पड़िवण्णे। तदो लण्णा पालएण अम्हे आणत्ता एदं मालेदुं। जदि अवले ईदिशं उअलोअविरुद्धं अकज्जं कलेदि, तं पि लाआ पालए एवं ज्जेव शाशदि। (शृणुत आर्याः ! शृणुत, एष सार्थवाह-विनयदत्तस्य नप्ता सागरदत्तस्य पुत्रक आर्यचारुदत्तो नाम। एतेन किल अकार्यकारिणा गणिका वसन्तसेना अर्थकल्यवर्त्तस्य कारणात् शून्यं पुष्पकरण्डकजीर्णोद्यानं प्रवेश्य बाहुपाशबलात्कारेण मारितेति, एष सलोप्त्रो गृहीतः, स्वयञ्च प्रतिपन्नः, ततो राज्ञा पालकेन वयमाज्ञप्ता एतं मारयितुम्। यद्यपर ईदृशमुभयलोकविरुद्धमकार्यं करोति, तमपि राजा पालक एवमेव शास्ति।)

परिदृश्यमानाः, स्त्रियः=नार्यः, पुनः=अनन्तरम्, वातायनस्=गवाक्षः, तस्य अर्द्धेन=अर्धांशेन, तस्यैकदेशेनेत्यर्थः, विनिःसृतानि=विनिर्गतानि, आस्यानि=मुखानि यासां ताः, माम्=चारुदत्तमित्यर्थः, उद्दिश्येति शेषः, 'हा चारुदत्त !=हा इदं खेदसूचकमव्ययम्, केवलमियन्मात्रमेव, अभिभाषमाणाः=अश्रुरूपजलप्रवाहधाराभिः, जलनिःसरणमार्गैरित्यर्थः, वाष्पम्=अश्रुजलम् उत्सृजन्ति=परित्यजन्ति। मामवलोक्य न केवलं सामान्यजनानां दुःखातिरेकः, प्रत्युत धनिकानामपि स्त्रियः दुःखमाविष्कुर्वन्ति। अत्रोत्प्रेक्षालंकारः, इन्द्रवज्रा वृत्तम् ॥ ११ ॥

शब्दार्थ—घोषणास्थानम्=अपराधी के अपराध और उसके दण्ड की घोषणा का स्थान, आहत=पीटो, बजाओ, नप्ता=पौत्र, अर्थकल्यवर्तस्य=तुच्छ धनरूपी कलेवा के, सलोप्त्रः=चोरी के धन के साथ, प्रतिपन्नः=स्वीकार कर लिया, उभयलोकविरुद्धम्=इस लोक और स्वर्गलोक दोनों के विरुद्ध अर्थात् दण्डनीय।

अर्थ—**दोनों चाण्डाल**—आ रे चारुदत्त ! आ। यह घोषणा की जगह है, नगाड़ा बजाओ, घोषणा घोषित करो।

दोनों—सुनिये सज्जनों ! सुनिये। यह सार्थवाह विनयदत्त का पौत्र, सागरदत्त का पुत्र आर्य चारुदत्त नाम वाला है। पापकर्म करने वाले इसने तुच्छ धनरूपी कलेवा के लिये पुष्पकरण्डक जीर्णोद्यान में ले जाकर हाथों के फन्दे से गला दबा कर गणिका वसन्तसेना को मार डाला है। यह चोरी के धन के साथ पकड़ लिया

चारुदत्तः—(सनिर्वेदं स्वगतम्)

मख-शत-परिपूतं गोत्रमुद्भासितं मे
सदसि निबिडचैत्यब्रह्मघोषैः पुरस्तात् ।
मम मरणदशायां वर्तमानस्य पापै-
स्तदसदृशमनुष्यैर्घुष्यते घोषणायाम् ॥ १२ ॥

गया और स्वयं भी इसने अपराध स्वीकार कर लिया है। इसके बाद राजा पालक ने इसको मारने के लिये हम दोनों को आदेश दिया है। यदि कोई दूसरा भी ऐसा दोनों लोकों के विरुद्ध पापकर्म करेगा तो राजा पालक उसे भी इसी प्रकार दण्ड देगा।

अन्वयः—पुरस्तात्, मे, मखशतपरिपूतम्, गोत्रम्, सदसि, निबिडचैत्यब्रह्मघोषैः, उद्भासितम्, [आसीत्], मरणदशायाम्, वर्तमानस्य, मम, तत्, पापैः, असदृशमनुष्यैः, घोषणायाम्, घुष्यते ॥ १२ ॥

शब्दार्थ—पुरस्तात्=पहले, मे=मेरा, मखशतपरिपूतम्=सैकड़ों यज्ञों से खूब पवित्र किया गया, गोत्रम्=वंश, सदसि=सभा में, निबिडचैत्यब्रह्मघोषैः=लोगों से भरे हुये यज्ञस्थलों पर वेदों के उद्घोषों से, उद्भासितम्=प्रकाशित, [आसीत्=हुआ करता था], मरणदशायाम्=मरने की अवस्था में वर्तमान, मम=मेरा, तत्=वही (कुल), पापैः=पापी, असदृशमनुष्यैः=अयोग्य=नीच लोगों के द्वारा, घोषणायाम्=घोषणा (के स्थान) में, घुष्यते=घोषित किया जा रहा है ॥ १२ ॥

अर्थ—चारुदत्त—(ग्लानिके साथ अपने में) —

पहले सैकड़ों यज्ञों से खूब पवित्र किया गया मेरा जो कुल सभास्थल में जन-संकुलित यज्ञस्थानों में वेदों के पाठों से प्रकाशित हुआ था, मरण की अवस्था में वर्तमान मेरा वही कुल पापी, अयोग्य व्यक्तियों द्वारा घोषणा (के स्थान) में घोषित किया जा रहा है ॥ १२ ॥

टीका—घोषणास्थले चाण्डालानां वचनान्याकर्ण्य स्वपूर्वजानां कीर्त्यादिकं संस्मृत्य विषादं प्रकटयन्नाह—मखेति। पुरस्तात्=पूर्वस्मिन् काले, मखानाम्=यज्ञानाम्, शतैः परिपूतम्=भृशं पवित्रम्, यत्=लोकविश्रुतम् गोत्रम्=कुलम् सदसि=सभास्थले, निबिडानि=निमन्त्रितजनसंकुलानि यानि चैत्यानि = यज्ञानुष्ठानादि-स्थानानि तेषु ये ब्रह्मघोषाः=वेदमन्त्राणामुच्चारणम्, तैः, उद्भासितम्=प्रकाशितम्, आसीदिति शेषः, साम्प्रतम्, मरणदशायाम्=मरणावस्थायाम्, वर्तमानस्य=विद्यमानस्य, मम=चारुदत्तस्येत्यर्थः, तत्=लोकप्रसिद्धं पवित्रं कुलम्, पापैः=पापपरायणैः, असदृशमनुष्यैः=अयोग्यैः—नीचैः जनैः, चाण्डालैरित्यर्थः, घोषणायाम्=घोषणा-

(उद्वीक्ष्य कर्णौ पिधाय) हा प्रिये ! वसन्तसेने !

शशि-विमल-मयूख-शुभ्र-दन्ति ! सुरुचिर–विद्रुम–सन्निभाधरोष्ठि ।
तव वदनभवामृतं निपीय कथमवशो ह्ययशोविषं पिबामि ॥ १३ ॥

स्थले इत्यर्थः, घुष्यते=उच्चस्वरेण कथ्यते । पूर्वं पूर्वजाचरितैर्मम कुलस्य कियन्महत्त्वमासीत् साम्प्रतमिमे नीचाः केन प्रकारेण कलुषीकृत्योच्चारयन्तीत्यर्थः, मालिनी वृत्तम् ॥ १२ ॥

अन्वयः—हे शशिविमलमयूखशुभ्रदन्ति !, हे सुरुचिर-विद्रुमसन्निभाधरोष्ठि !, तव, वदनभवामृतम्, निपीय, (इदानीम्), अवशः, (सन्, अहम्,) अयशोविषम्, कथम्, पिबामि ॥ १३ ॥

शब्दार्थ—हे शशि-विमल-मयूखशुभ्रदन्ति=हे चन्द्रमा की किरणों के समान चमकते हुये उज्ज्वल दाँतोंवाली !, हे सुरुचिर-विद्रुमसन्निभाधरोष्ठि=हे अति सुन्दर मूंगे के समान लाल लाल अधरोष्ठ वाली !, तव=तुम्हारे (वसन्तसेना के), वदनभवामृतम्=मुख में होने वाले अमृत को, निपीय=पीकर, (इदानीम्=इस समय), अवश=विवश (सन्=होता हुआ, अहम्=मैं चारुदत्त), अयशोविषम्=अपकीर्तिरूपी जहर को, कथम्=किस प्रकार, पिबामि=पी रहा है, अनुभव कर रहा हूँ ॥ १३ ॥

अर्थ—(ऊपर देख कर, कानों को बन्द करके) हाय प्रिये वसन्तसेने !

हे चन्द्रकिरणों के तुल्य उज्ज्वल दाँतों वाली ! तथा अति सुन्दर मूंगे के समान लाल लाल ओष्ठवाली वसन्तसेना ! तुम्हारे मुख में होनेवाले अमृत का पान करके (इस समय) मजबूर होता हुआ अपशरूपी जहर को किस प्रकार पी रहा हूँ । अर्थात् मजबूर होने से सुन रहा हूँ, अन्यथा नहीं सुनता ॥१३॥

टीका—पूर्वमनेकधा वसन्तसेनायाः वचनामृतान्याकर्ण्य भृशं सन्तुष्टिमवाप्तवानह साम्प्रतं चाण्डालानां वचनविषं पातुं विवशीकृत इति स्वव्यथां व्यनक्ति—शशीति । शशिनः=चन्द्रस्य, विमलाः=उज्ज्वलाः ये मयूखाः=किरणाः, ते इव शुभ्राः=विशदाः, कान्तियुक्ताः दन्ताः यस्याः तत्सम्बुद्धौ समुज्ज्वल-चन्द्रकिरणसदृशविशददशने इत्यर्थः, तथा सुरुचिराः=अतिमनोहरः यः विद्रुमः=प्रबालः, तस्य सन्निभम्=तत्तुल्यम् अधरोष्ठम् यस्यास्तत्सम्बुद्धौ, रमणीयप्रवालसदृशरक्तिमाधरोष्ठे इत्यर्थः, तव=वसन्तसेनायाः, वदने=मुखे, भवम्=उत्पन्नम्, अमृतम्=पीयूषम्, मुखोच्चारितवचनपीयूषम्, निपीयम्=आस्वाद्य, श्रुत्वेत्यर्थः, इदानीम्, अवश=विवशः, पराधीन इत्यर्थ, अयशोविषम्=‘अह वसन्तसेनां हतवान्, इति अपकीर्तिरूप गरलम्, यद्वा विषम् इव अयश इत्यर्थः, कथम्=केन प्रकारेण विबामि=आस्वादयामि । पूर्वमनेकबार त्वया सह तव वचनामृतानि आस्वादितानि किन्तु साम्प्रत नीचैरारोपितापराधो विवशः

उभौ—ओशलध अज्जा ! ओशलध । (अपसरत आर्याः ! अपसरत ।)

एशे गुण-लअणणिही शज्जणदुक्खाणं उत्तलणशेदू ।

अशुवण्ण—मण्डणअं अवणीअदि अज्ज णअलीदो ।। १४ ।।

(एष गुणरत्ननिधिः सज्जनदुःखानामुत्तरणसेतुः ।

असुवर्णमण्डनकमपनीयतेऽद्य नगरीतः ।। १४ ।।)

अण्णं च—

शव्वे क्खु होइ लोए लोओ शुहशण्ठिदाणं तत्तिल्ला ।

बिणिबड़िदाणं णलाणं पिअकाली दुल्लहो होदि ।। १५ ।।

(अन्यच्च —

सर्वः खलु भवति लोके लोकः सुखसंस्थितानां चिन्तायुक्तः ।

विनिपतितानां नराणां प्रियकारी दुर्लभो भवति ।। १५ ।।)

सन् विषतुल्यानि दुष्कीर्तिप्रतिपादिकानि वचनानि केनापि प्रकारेण शृणोमीति भावः । अत्रोपमा, रूपकम्, विषमः—एतेषां संकरः । पुष्पिताग्रा वृत्तम् ।। १३ ।।

अन्वयः—गुणरत्ननिधिः, सज्जनदुःखानाम्, उत्तरणसेतुः, असुर्णमण्डनकम्, एषः, अद्य नगरीतः, अपनीयते ।। १४ ।।

शब्दार्थ—गुण-रत्ननिधिः=गुणरूपी रत्नों का सागर, सज्जन-दुःखानाम्=सज्जनों के दुःखों का, उत्तरणसेतुः=पार कराने वाला पुल, असुवर्णमण्डनकम्=विना सोने का आभूषण, एषः=यह चारुदत्त, अद्य=आज, नगरीतः=उज्जयिनी नगरी से, अपनीयते=हटाया जा रहा है, मारा जा रहा है ।। १४ ।।

अर्थ—दोनों हटो सज्जनों ! हटो —

(दया, परोपकार आदि) गुणों का सागर, सज्जनों के दुःखों को पार कराने वाला पुल, विना सोने का आभूषण यह चारुदत्त आज इस उज्जयिनी नगरी से दूर किया जा रहा है, मारा जा रहा है ।। १४ ।।

टीका—चारुदत्तस्यापराधमुद्घोष्य साम्प्रतं तस्य गुणानपि वर्णयितुमाह-तुश्चाण्डालौ—एष इति । गुणाः=दयापरोपकारादय एव रत्नानि=मण्यादीनि, तेषां निधिः=सागरः, सज्जनदुःखानाम्=सत्पुरुषकष्टानाम्, उत्तरणे=अतिक्रमणे, सेतुः=पारं गमनस्य साधनम्, असुवर्णमण्डनकम्=नास्ति सुवर्णमण्डनम्=कांचनभूषणम् यस्मिन् तद् यथा, एवम्भूतः, अद्य=अस्मिन् दिने, नगरीतः=उज्जयिनीतः, अपनीयते=दूरीक्रियते विनाश्यते इति भावः । रूपकमलंकारः, आर्या वृत्तम् ।। १४ ।।

अन्वयः—लोके, सर्वः, लोकः, खलु, सुखसंस्थितानाम्, चिन्तायुक्तः, भवति, (परन्तु) विनिपतितानाम्, नराणाम्, प्रियकारी, दुर्लभः, भवति ।। १५ ।।

चारुदत्तः—(सर्वतोऽवलोक्य)

अमी हि वस्त्रान्तनिरुद्धवक्त्राः प्रयान्ति मे दूरतरं वयस्याः ।
परोऽपि बन्धुः समसंस्थितस्य मित्रं न कश्चिद्विषमस्थितस्य ॥ १६ ॥

शब्दार्थ—लोके=संसार में, सर्वः=सभी, लोकः=लोग, खलु=निश्चितरूप से, सुखसंस्थितानाम्=सुखपूर्वक रहने वालों का, चिन्तायुक्तः=चिन्ता करने वाला, भवति=होता है, [परन्तु=लेकिन] विनिपतितानाम्=कष्ट में फंसे हुये, नराणाम्=पुरुषों का, प्रियकारी,=प्रिय करने वाला, दुर्लभः=दुर्लभ, भवति=होता है ॥ १५ ॥

अर्थ : और भी—

संसार में सुखपूर्वक रहनें वालों की चिन्ता करने वाले सभी लोग होते हैं। किन्तु दुःख में पड़े हुये लोगों का प्रिय करने वाला दुर्लभ होता है ॥ १५ ॥

टीका—दुःखे निमग्नानां विषये कोऽपि चिन्तां न करोति प्रियं वा न करोतीति प्रतिपादयति—सर्व इति । लोके=संसारे, सर्वः=सकलः, लोक=जनः, सुखे=आनन्दे, सस्थितानाम्=विराजमानानाम्, सम्पन्नानामित्यर्थः, चिन्तायुक्तः=कष्टादिविषये चिन्तनपरो भवन्ति, परन्तु, विनिपतितानाम्=विपत्तौ निमग्नानाम्, नराणाम्=पुरुषाणाम्, प्रियकारी=इष्ट-सम्पादकः, दुर्लभः=दुष्प्रापो भवति । एवञ्च दुःखे निपतितस्य चारुदत्तस्य प्रियं हितं सम्पादयितुं न कोपि चेष्टते इति भावः । अत्राप्रस्तुतप्रशंसालङ्कारः । गाथा वृत्तम् ॥ १५ ॥

अन्वयः—अमी, मे, वयस्याः, वस्त्रान्तनिरुद्धवक्त्राः, दूरतरम्, प्रयान्ति, हि, सुखसंस्थितस्य, परः, अपि, बन्धुः, [जायते किन्तु] विषमस्थितस्य कश्चित्, मित्रम्, न, (भवति) ॥१६॥

शब्दार्थ—अमी=ये, मे=मेरे (चारुदत्त के), वयस्याः=मित्र लोग, वस्त्रान्तनिरुद्धवक्त्राः=दुपट्टा आदि कपड़े के छोर से मुंह ढके हुये, दूरतरम्=बहुत दूर दूर, अलग, प्रयान्ति=भाग रहे हैं, हि=क्योंकि सुखसंस्थितस्य=सुख की स्थिति में रहने वाले का, परः=दूसरा, अपरिचित, अपि=भी, बन्धुः=बन्धु, [जायते=बन जाता है, किन्तु=लेकिन] विषमस्थितस्य=कष्ट में फसे हुये का, कश्चित्=कोई भी, मित्रम्=मित्र, न=नहीं, (भवति=होता है ।) ॥१६॥

अर्थ—चारुदत्त - (सभी ओर देखकर)

मेरे ये मित्र लोग कपड़े के छोर से अपने मुँह छिपाये हुए दूर दूर भागे जा रहे हैं, क्योंकि सुख की स्थिति में रहने वाले का दूसरा व्यक्ति भी बन्धु बन जाता है किन्तु दुःख में फँसे हुये का कोई भी मित्र नहीं होता है ॥१६॥

टीका—दूरे पलायमानान् वयस्यान् विलोक्य स्वविपदवस्थायां कस्यापि सहायकत्वं नेति प्रतिपादयति–अमीति । अमी=पुरो दृश्यमानाः, मे=मम, चारुदत्त-

चाण्डालौ—ओशालणं किदं, विवित्तं लाअमग्गं, ता आणेध एदं दिण्णवज्झचिण्हं। (अपसारणं कृतम्, विविक्तो राजमार्गः, तदानयतैनं दत्त-वध्यचिह्नम्।)

(चारुदत्तो निःश्वस्य 'मैत्रेय भोः ! किमिदमद्य' ९।२९ इत्यादि पठति।)

(नैपथ्ये—)

हा ताद ! हा पिअवअस्स !! (हा तात ! हा प्रियवयस्य।)

चारुदत्तः—(आकर्ण्य सकरुणम्) भोः स्वजातिमहत्तर ! इच्छाम्यहं भवतः सकाशात् प्रतिग्रहं कर्त्तुम्।

चाण्डालौ—किं अम्हाणं हत्थादो पड़िग्गहं कलेशि ? (किमस्माकं हस्तात् प्रतिग्रहं करोषि ?)

चारुदत्तः—शान्तं पापम्। नापरीक्ष्यकारी दुराचारः पालक इव

स्येत्यर्थः, वयस्याः=सुहृदः, सखायः, वस्त्रस्य अन्तेन=अन्तभागेन निरुद्धानि=आच्छादितानि=आवृतानि वक्त्राणि यैस्तादृशाः, सन्तः, दूरतरम्=अतिदूरम्, मम दृष्टिपथमनागच्छन्त इत्यर्थः, प्रयान्ति=पलायन्ते, हि=यतः, सुखे=सुखावस्थायाम्, संस्थितस्य=विद्यमानस्य, जनस्य, परः अन्यः असम्बन्धीत्यर्थः, अपि, बन्धुः=आत्मीयः, भवति किन्तु विषमे=विषमावस्थायाम्, स्थितस्य=विद्यमानस्य, जनस्य, कश्चिद्=स्वकीयः, परकीयो वा जनः, मित्रम्=सुहृद्, सहायक इत्यर्थः, न=नैव, भवतीत्यर्थः। एवञ्च साम्प्रतं कश्चिज्जनः मे साहाय्य न विधातुमिच्छतीति तद्भावः। अप्रस्तुतप्रशंसालंकारः, आर्या वृत्तम् ॥१६॥

शब्दार्थ—विविक्तः=खाली, दत्तवध्यचिह्नम्=वधयोग्य व्यक्ति के चिह्नों से युक्त, स्वजातिमहत्तर=अपनी जातिके प्रमुख पुरुष, प्रतिग्रहम्=दान को, अपरीक्ष्यकारी=बिना सोंचे समझे काम करने वाला, अभ्यर्थये=प्रार्थना करता हूँ, अन्तरम्=खाली जगह, दारकम्=बच्चे को, त्वरताम्=जल्दी करो, प्रेक्षितव्यः=देखना चाहिये।

अर्थ—दोनों चाण्डाल—(सबको) भगा दिया, राजमार्ग खाली है, अतः वधयोग्य चिह्नों वाले इस (चारुदत्त) को ले आओ।

(चारुदत्त निःश्वास लेकर "हे मैत्रय ! क्या आज" ९।२९ इत्यादि पढ़ना है।)

(नेपथ्य में)

हाय पिताजी, हाय मित्र !

चारुदत्त—(सुनकर करुणा के साथ) हे अपनी जाति के प्रधान पुरुष (मुखिया) ! आपके पास से कुछ दान लेना चाहता हूँ।

दोनों चाण्डाल-क्या हम लोगों से दान लोगे ?

चारुदत्त—ऐसा मत कहो। बिना सोचे समझें काम करने वाले दुराचारी

चाण्डाल: । तत् परलोकार्थं पुत्रमुखं द्रष्टुमभ्यर्थये ।

चाण्डालौ——**एव्वं कलोअदु** । (एवं क्रियताम् ।)

(नेपथ्ये)

हा ताद ! हा आवुक ! (हा तात ! हा पित: !)

(चारुदत्त: श्रुत्वा सकरुणम् 'भो: स्वजातिमहत्तर !' इत्यादि पठति ।)

चाण्डालौ——**अले पउला ! खणं अन्तलं देध । एशे अज्जचालुदत्ते पुत्तमुहं पेक्खदु** । (नेपथ्याभिमुखम्) **अज्ज इदो इदो, आअच्छ ले दालआ ! आअच्छ** । (अरे पौरा: ! क्षणमन्तरं दत्त । एष आर्यचारुदत्त: पुत्रमुखं प्रेक्षताम् ।) (आर्य ! इत इत: । आगच्छ रे दारक ! आगच्छ ।)

(तत: प्रविशति दारकमादाय विदूषक: ।)

विदूषक:——**तुवरदु तुवरदु भद्दमुहो, पिदा दे मारिदुं णीअदि** । (त्वरतां त्वरतां भद्रमुख: पिता ते मारयितुं नीयते ।)

दारक:——हा ताद ! हा आवुक ! । (हा तात ! हा पित: ।)

विदूषक:——हा पिअवअस्स ! ! **कहिं मए तुमं पेक्खिदव्वो ?** (हा प्रियवयस्य ! कस्मिन् मया त्वं प्रेक्षितव्य: ?)

पालक के समान चाण्डाल नहीं है । इस लिये परलोक के लिये पुत्र का मुख देखने की प्रार्थना करता हूँ ।

दोनों चाण्डाल——ऐसा ही करिये ।

(नेपथ्य में)

हाय पिता जी ! हाय मित्र !

(चारुदत्त सुनकर करुणासहित "हे अपनी जाति के प्रमुख पुरुष !' इत्यादि पढ़ता है ।)

दोनों चाण्डाल——अरे नगरवासियों ! कुछ खाली जगह दो । यह आर्य चारुदत्त पुत्र का मुख देख ले । (नेपथ्य की ओर देख कर) आर्य ! इधर आओ इधर, आ लड़के ! आ ।)

(इसके बाद बच्चे को लेकर विदूषक प्रवेश करता है ।)

विदूषक——भद्रमुख ! जल्दी करो, जल्दी करो, तुम्हारे पिता मारे जाने के लिये ले जाये जा रहे हैं ।

लड़का——हाय तात ! हाय जनक ! ।

विदूषक——हाय प्रिय मित्र ! (अब) तुम्हें मैं कहाँ देख पाऊँगा ?

चारुदत्तः—(पुत्रं मित्रञ्च वीक्ष्य) **हा पुत्र ! हा मैत्रेय !** (सकरुणम्) **भोः ! कष्टम् ।**

चिरं खलु भविष्यामि परलोके पिपासितः ।
अत्यल्पमिदमस्माकं निवापोदकभोजनम् ।। १७ ।।

किं पुत्राय प्रयच्छामि ? (आत्मानमवलोक्य । यज्ञोपवीतं दृष्ट्वा) **आं, इदं तावदस्ति मम च ।**

अमौक्तिकमसौवर्णं ब्राह्मणानां विभूषणम् ।
देवतानां पितॄणाञ्च भागो येन प्रदीयते ।। १८ ।।

अन्वयः—(अहम्), परलोके, खलु, चिरम्, पिपासितः, भविष्यामि, अस्माकम्, इदम्, निवापोदकभोजनम् अत्यल्पम्, (अस्ति) ।।१७।।

शब्दार्थ -परलोके=परलोक में, खलु=निश्चित रूप से, चिरम्=बहुत समय तक, पिपासितः=प्यासा, भविष्यामि=रहूँगा, (क्योंकि) अस्माकम्=हमारा, निवापोदकभोजनम्=निवाप=पितरों का तर्पण, उसका उदक=पानी, उसका भोजन=पान जिससे होने वाला है वह, इदम्=यह (रोहसेन रूपी सन्तान) अत्यल्पम्=बहुत छोटा, है ।। १७ ।।

अर्थ--**चारुदत्त** --(पुत्र और मित्र को देखकर) हाय बेटा ! हाय मित्र ! (करुणा-सहित) हाय ! कष्ट है ।

(मैं) परलोक में बहुत समय तक प्यासा रहूँगा । क्योंकि हमारा तर्पण का पानी देने वाला यह बालक बहुत छोटा है ।। १७ ।

टीका—अल्पवयस्कं परिपोषणीयं पुत्रं दृष्ट्वा विषादं प्रकटयन्नाह—चिरमिति । परलोके=लोकान्तरे, खलु=निश्चयेन, चिरम्=दीर्घकालम्, पिपासितः=तृष्णार्तः, भविष्यामि=वर्तिष्ये, यतोहि, अस्माकम्=मम पित्रादीनां च, निवापः=पितॄणां तर्पणम्, तस्य उदकम्=जलम्, तस्य भोजनम्=पानं यस्मात् तत्, पितृपुरुषेभ्यो जल-प्रदायि इत्यर्थः, इदम्=पुरोवर्ति रोहसेनरूपम् अपत्यम्, अत्यल्पम्=अल्पवयस्कमिति भावः । एवञ्चायं यावत् पर्याप्त जलं प्रदातुं समर्थो भविष्यति तावदहं मम पूर्वजाश्च पिपासिता एव स्थास्यन्तीति भावः । पथ्यावक्त्रं वृत्तम् ।। १७ ।।

विमर्श—निवापोदकभोजनम् -निवापस्य उदकस्य भोजनं यस्मात् तत्-ऐसा बहुव्रीहि समझना चाहिये । भोजन=पीना अर्थ है । यह पद 'इदम्' का विशेषण है 'इदम्' 'अपत्यम्' का ।। १७ ।।

अन्वयः—[यज्ञोपवीतम्], ब्राह्मणानाम्, अमौक्तिकम्, असौवर्णम्, विभूषणम्, अस्ति, येन, देवतानाम्, पितॄणाम्, च, भागः, प्रदीयते ।। १८ ।।

(इति यज्ञोपवीतं ददाति ।)

चाण्डालः—आअच्छ ले चालुदत्ता ! आअच्छ । (आगच्छ रे चारुदत्त ! आगच्छ ।)

द्वितीयः—अले ! अज्जचालुदत्तं णिलुववदेण णामेण आलवशि ? अले ! पेक्ख । (अरे ! आर्यचारुदत्तं निरुपपदेन नाम्ना आलपसि ? अरे ! प्रेक्षस्व ।)

अब्भुदए अवशाणे तहेअ लत्तिन्दिवं अहदमग्गा ।
उद्दामे व्व किशोली णिअदी क्खु पडिच्छिदुं जादि ॥ १६ ॥

(अभ्युदयेऽवसाने तथैव रात्रिन्दिवमहतमार्गा ।
उद्दामेव किशोरी नियतिः खलु प्रतीष्टं याति ॥ १९ ॥)

शब्दार्थ—(यज्ञोपवीतम्=जनेऊ), ब्राह्मणानाम्=ब्राह्मणों का, अमौक्तिकम्=मोतियों से नहीं बनाया गया, असौवर्णम्=सोने से नहीं बनाया गया, विभूषणम्=गहना, है, येन=जिसके द्वारा, देवतानाम्=देवताओं का, च=और, पितृणाम्=पितरों का, भागः=अंश, प्रदीयते=दिया जाता है ॥ १८ ॥

अर्थ—बेटे को क्या दूँ ? (अपने को देखकर, जनेऊ को देख कर) हाँ, यह तो है । और मेरा—

(यह जनेऊ) ब्राह्मणों का बिना मोतियों के बनाया गया, बिना सोने के बनाया गया गहना है जिससे देवताओं और पितरों का भाग प्रदान किया जाता है ॥ १८ ॥

(यह कह कर जनेऊ दे देता है ।)

टीका:—यज्ञोपवीतं नाम ब्राह्मणानां सर्वस्वं तदेव पुत्राय दातव्यमिति प्रतिपादयन्नाह —अमौक्तिकमिति । ब्राह्मणाम्=विप्राणाम्, अमौक्तिकम्=मुक्ताद्यनिर्मितम्, असौवर्णम्=सुवर्णादिनाऽनिष्पन्नम्, विभूषणम्=आभूषणम् अस्ति यज्ञोपवीतमिति शेषः । येन=यद्द्वारा, देवतानाम्=सुराणाम्, पितृणाम्=पूर्वजानाम्, च, भागः=अंशः, प्रदीयते=समर्प्यते । उपनयनानन्तरमेव द्विजत्वमवाप्य दैवकर्मसु पितृकर्मसु चाधिकारो लभ्यत इति भावः । अतः यज्ञोपवीतं विप्रस्य परमोपकारकं वस्त्विति इदं पुत्राय ददामीत्यर्थः, पथ्यावक्त्रं वृत्तम् ॥ १८ ॥

अर्थ—**चाण्डाल**—आ रे चारुदत्त ! आ ।

अन्वयः—अभ्युदये, तथैव, अवसाने, रात्रिन्दिवम्, अहतमार्गा, नियतिः, उद्दामा, किशोरी, इव, खलु, इष्टम्, प्रति, याति ॥ १६ ॥

शब्दार्थ—अभ्युदये=सम्पत्ति में, तथैव=उसी प्रकार, अवसाने=विपत्ति में, रात्रिन्दिवम्=दिन रात, अहतमार्गा=बिना रोक टोक के चलने वाली, नियतिः=

अण्णं च--शुक्खा ववदेशा शे किं पणमिअ मत्थए ण काअव्वं ।
लाहुगहिदे वि चन्दे ण वन्दणीए जणपदश्श ? ।। २० ।।
(अन्यच्च--शुष्का व्यपदेशा अस्य किं प्रणम्य मस्तके न कर्त्तव्यम् ।
राहुगृहीतोऽपि चन्द्रो न वन्दनीयो जनपदस्य ? ।। २० ।।)

भाग्य, उद्दामा=स्वच्छन्दचारिणी, किशोरी=नव युवती, इव=के समान, खलु=निश्चितरूप से, इष्टम्=मन चाहे के, प्रति=समीप, याति=जाती है ।। १६ ।।

अर्थ--दूसरा चाण्डाल-अरे ! चारुदत्त को विना उपाधि लगाये बुला रहा है । अरे, देख, देख --

सम्पत्ति में और उसी प्रकार विपत्ति में दिनरात विना रोक टोक चलने वाली किस्मत (भाग्य) स्वच्छन्दचारिणी नवयुवती के समान निश्चितरूप से इष्ट (मन चाहे) के पास चली जाती है ।। १९ ।।

टीका---सर्वगुणसम्पन्नमपि नियतिवशाद् दुखमापन्नं चारुदत्तं सावज्ञं न सम्बोधनीयमित्याह द्वितीयश्चाण्डालः -अभ्युदय इति । अभ्युदये=सम्पत्तौ, तथैव=तद्वदेव, अवसाने=अभ्युदयनाशे, विपत्ताविस्यर्थः, रात्रिन्दिवम्=अहर्निशम्, अहतमार्गा=अप्रतिहतगतिका, नियतिः=भाग्यम्, उद्दामा=उच्छृङ्खला, स्वच्छन्दचारिणीत्यर्थः. किशोरी=नवयुवतिः, इव=यथा इष्टम्=अभीष्टं स्थानम् पक्षे पुरुषं प्रति याति=गच्छति । अतः नियतिवशादधुना विपन्नस्य चारुदत्तस्यानादरोऽस्माभिर्नो विधेय इति तद्भावः । उपमालंकार, आर्या वृत्तम् ।। १६ ।।

अन्वय---अस्य, व्यपदेशाः, शुष्काः, किम्, प्रणम्य, मस्तके, न, कर्तव्यम् ? चन्द्रः, राहुगृहीतः, अपि, जनपदस्य, वन्दनीयः, न ? ।। २० ।।

शब्दार्थ---अस्य=इस (चारुदत्त) के, व्यपदेशाः=कुलनाम आदि, शुष्काः=सूख गये, किम्=क्या ? प्रणम्य=प्रणाम करके, झुककरके, मस्तके=मस्तक पर, शिर पर, न=नहीं, करणीयम्=करना चाहिये ? चन्द्रः=चन्द्रमा, राहुगृहीतः=राहु से पकड़ा गया, ग्रसित हुआ, अपि=भी, जनपदस्य=जनपद के लोगों का, वन्दनीयः=वन्दना करने योग्य, न=नहीं, होता है ? अर्थात् अवश्य होता है ।। २० ।।

अर्थ--और भी--

इस (चारुदत्त) के कुलनाम आदि भी सूख गये (नष्ट हो गये) क्या ? अर्थात् नष्ट नहीं हुये । प्रणाम करके इस (इसके गुणों) को सिर पर नहीं करना चाहिये क्या ? अर्थात् इसे अवश्य सम्मान देना चाहिये । चन्द्रमा राहु द्वारा पकड़ा जाने पर क्या जनपद के लोगों के लिये वन्दनीय नहीं होता है अर्थात् होता है ।।२०।।

टीका---पूर्वश्लोकोक्तमेवाभिप्रायं शब्दान्तरेण प्रतिपादयन्नाह---शुष्का इति । अस्य=अमुष्य चारुदत्तस्येत्यर्थः, व्यपदेशाः=कुलनामादयः, शुष्काः=नष्टाः, किम् ?

बालकः—अरे रे चाण्डाला ! कहिं मे आवुकं णेध ? (अरे रे चाण्डालाः ! कुत्र मम पितरं नयथः ?)

चारुदत्तः—वत्स !

अंसेन बिभ्रत् करवीरमालां स्कन्धेन शूलं हृदयेन शोकम् ।
आघातमद्याहमनुप्रयामि शामित्रमालब्धुमिवाध्वरेऽजः ।। २१ ।।

नैव लुप्ता इत्यर्थः, प्रणम्य=नत्वा, अस्य गुणादिकमिति शेषः, मस्तके=शिरसि, न=नैव, कर्तव्यम्=करणीयम्, अपि तु अवश्यमेव करणीयमित्यर्थः । राहुणा=सैंहिकेयेन, गृहीतः=ग्रस्तः, समाक्रान्तः अपि, चन्द्रः—शशी, जनपदस्य=प्रदेशस्य लोकसमूहस्य, वन्दनीयः=वन्द्यः, स्तुत्यः, न=नैव ? अवश्यमेव स्तवनीयो भवतीति भावः ।

अस्य श्लोकस्य पूर्वार्द्धस्य पाठान्तरमपि उपलभ्यते —

'शुष्का अपि प्रदेशा अस्य विनमितमस्तकेन कर्तव्यम्, प्रदेशाः=अङ्गानि, यशोनामादिकमित्यर्थः, प्रणम्य कर्तव्यम्=न व्यवहरणीयं किम् ? शेषं पूर्वोक्तमेवेति बोध्यम् । एवञ्च यथा राहुग्रस्तोऽपि चन्द्रः सर्वैजनैः प्रणम्यते तथैव साम्प्रतं विपन्नोऽपि चारुदत्तोऽस्माभिः प्रणम्य एव, न तु तिरस्करणीय इति भावः । दृष्टान्तालंकारः, आर्या वृत्तम् ।।२०।।

अर्थ—**बालक**—अरे रे चाण्डालो ! मेरे पिता को कहाँ ले जा रहे हो ?

अन्वयः—अंसेन, करवीरमालाम्, स्कन्धेन, शूलम्, हृदयेन, शोकम्, बिभ्रत्, अहम्, अध्वरे, आलब्धुम्, शामित्रम्, अजः, इव, अद्य, आघातम्, अनुप्रयामि ।।२१।।

शब्दार्थ—अंसेन=गले से [अर्थात् गले में) करवीरमालाम्=कनेर के फूलों की माला को, स्कन्धेन=कन्धे से [अर्थात् कन्धे पर], शूलम्=शूल को, हृदयेन=हृदय से (अर्थात् हृदय में), शोकम्=शोक को, बिभ्रत्—धारण करता हुआ, अहम्=मैं चारुदत्त, अध्वरे=यज्ञ में, आलब्धुम्=आलम्भन=वध करने के लिये, शामित्रम्=यज्ञीय पशु बाँधने की जगह पर (पहुँचाये जाने वाले), अजः=बकरे, इव=के सामान, अद्य=आज इस समय, आघातम्=वध की जगह, अनुप्रयामि=पीछे पीछे जा रहा हूँ ।।२१।।

अर्थ—**चारुदत्त**—बेटा !

गले में कनेर के फूलों की माला, कन्धे पर शूल और हृदय में शोक को धारण करता हुआ मैं आज यज्ञ में मारने के लिये यज्ञीयपशुबन्धन के स्थान पर लेजाये जाते हुये बकरे के समान वधस्थान पर पीछे पीछे जा रहा हूँ ।। २१ ।।

टीका—पुत्रेण पृष्टस्य स्वयमेवोत्तरं ददत् चारुदत्तः स्वावस्थां प्रतिपादयति-अंसेनेति । असेन=स्कन्धसमीपवर्ति-गलप्रदेशेनेत्यर्थः, करवीरमालाम्=करवीरनामक-

चाण्डालः—दालआ ! । (दारक !)

ण हु अम्हे चाण्डाला चाण्डालउलम्मि जादपुब्बा वि ।
जे अहिभवन्ति शाहुं ते पाबा ते अ चाण्डाला ॥ २२ ॥

(न खलु वयं चाण्डालाः चाण्डालकुले जातपूर्वा अपि ।
ये अभिभवन्ति साधुं ते पापास्ते च चाण्डालाः ॥ २२ ॥)

पुष्पविशेषविनिर्मितमालाम्, स्कन्धेन=स्कन्धदेशेन, शूलम्=हत्यापराधिनां हननसाधनीभूतम्, शस्त्रम्, हृदयेन=चेतसा, चेतसीत्यर्थः, शोकम्=मिथ्यापवादजनित दुःखमित्यर्थः, बिभ्रत्=धारयन्, अहम्=चारुदत्तः, अध्वरे=यज्ञे, आलब्धुम्=हन्तुम्, शामित्रम्=पशुबन्धनस्थानम्, नीयमान इति शेषः, अजः=छागः, इव=यथा, आघातम्=वध्यभूमिम्, अनुप्रयामि=अनुगच्छामि । यथा खलु निरपराधोऽपि पशुः यज्ञादौ हन्यते तथैवाहमपि निरपराधः वधस्थानं नीत्वा मृत्युं लप्स्ये इति भावः । दीपकालंकारः, इन्द्रवज्रा वृत्तम् ॥२१॥

अन्वयः—चाण्डालकुले, जातपूर्वाः, अपि, वयम्, खलु, चाण्डालाः, न, ये, साधुम्, अभिभवन्ति, ते, पापाः, ते, चाण्डालाः, च ॥२२॥

शब्दार्थः—चाण्डालकुले=चाण्डाल-वंश में, जातपूर्वाः=पहले जन्म लेने वाले, अपि=भी, वयम्=हमलोग, खलु=निश्चित ही, चाण्डालाः=चाण्डाल, न=नहीं, हैं, ये=जो लोग, साधुम्=सज्जन पुरुष को, अभिभवन्ति=अपमानित करते हैं, मारते हैं, ते=वे, पापाः=पापी हैं, च=और, ते=वे, ही, चाण्डालाः=चाण्डाल हैं ॥२२॥

अर्थ—चाण्डाल—बच्चे !

चाण्डालों के कुल में पहले पैदा हुये भी हम लोग चाण्डाल नहीं हैं । जो सज्जन व्यक्ति को अपमानित करते हैं [मारते हैं] वे पापी हैं, और वे ही चाण्डाल हैं ॥२२॥

टीका—रोहसेनादिना कथितमपमानजनकं 'चाण्डाल' इति सम्बोधनमाकर्ण्य दुःखं प्रकटयन् स्वनिर्दोषतां प्रतिपादयितुमाह चाण्डालः—न खल्विति । चाण्डाला-नाम्=एतन्नाम्ना प्रसिद्धानामन्त्यजानां कुले=वंशे, जातपूर्वाः=उत्पन्नपूर्वाः, अपि, वयम्=अस्मिन् कर्मणि नियुक्ताः मादृशाः जनाः, न=नैव, चाण्डालाः=कर्मणा गर्हिताः, ये=ये जनाः, साधुम्=सत्पुरुषम्, अभिभवन्ति=तिरस्कुर्वन्ति, मिथ्यारोपादिना घातयन्तीत्यर्थः, ते=तादृशाः, पापाः=पापिनः, च=तथा, चाण्डालाः=कर्मणा गर्हिताः सन्ति । वयन्तु केवलं जन्मनैव चाण्डालाः, अस्माकमाचरणं तु न कदापि सत्पुरुषाव-

दारकः—ता कीस मारेध आवुकं ? (तत् केन मारयथः पितरम् ?)

चाण्डालः—दीहाओ ! अत्त लाअणिओओ क्खु अबलज्झदि, ण क्खु अम्हे । (दीर्घायुः ! अत्र राजनियोगः खलु अपराध्यति, न खलु आवाम् ।)

दारकः—वावादेध मं, मुञ्चध आवुकं । (व्यापादयतं माम्, मुञ्चतं पितरम् ।)

चाण्डालः—दीहाओ ! एवं भणन्ते चिलं मे जीव । (दीर्घायुः ! एवं भणन् चिरं मे जीव ।)

चारुदत्तः—(सास्रं पुत्रं कण्ठे गृहीत्वा)

इदं तत् स्नेहसर्वस्वं सममाढ्यदरिद्रयोः ।
अचन्दनमनौशीरं हृदयस्यानुलेपनम् ।। २३ ।।

मानाय भवति । अतो न वयं निन्द्याः । निन्द्यास्तु राजपुरुषा एव, यैर्निरपराधोपि सज्जनः चारुदत्तः साम्प्रतं वधस्थानं संप्रेष्य वधायादिष्ट इति तद्भावः ।।२२।।

विमर्श—चारुदत्त के पुत्र रोहसेन के मुख से 'रे रे चाण्डालाः' ऐसा सम्बोधन सुन कर चाण्डाल दुःखी हो जाता है और यह कहना चाहता है कि हम लोग तो केवल चाण्डालकुल में पैदा होने से ही चाण्डाल कहे जाते हैं । हमारे काम दूसरों को कष्ट देना नहीं है । वास्तव में चाण्डाल वे ही हैं । पापी भी वे ही हैं जो निरपराध सत्पुरुष को अपमानित करते हैं । झूठा आरोप लगा कर मृत्युदण्ड आदि देते या दिलवाते हैं । अतः हम लोग निर्दोष हैं ।।२२।।

अर्थ—बालक—तो पिता को क्यों मारते हो ?

चाण्डाल—चिरञ्जीविन् ! यहाँ राजा की आज्ञा ही अपराधी है न कि हम लोग ।

बालक—तो मुझे मार डालो, मेरे पिता को छोड़ दो ।

चाण्डाल—दीर्घायु ! ऐसा कहते हुये तुम बहुत दिनों तक जीवित रहो ।

अन्वयः—तत्, इदम्, आढ्यदरिद्रयोः, समम्, स्नेहसर्वस्वम्, हृदयस्य, अचन्दनम्, अनौशीरम्, अनुलेपनम् ।।२३।।

शब्दार्थ—तत्=वह लोकप्रसिद्ध, इदम्=यह सामने विद्यमान पुत्ररूपी वस्तु, आढ्यदरिद्रयोः=धनी और गरीब का, समम्=बराबर का, स्नेहसर्वस्वम्=वात्सल्यरस का सारभूत, है, हृदयस्य=हृदय का, अचन्दनम्=विना चन्दन का, अनौशीरम्=विना खस का, अनुलेपनम्=विलेपन की चीज है ।।२३।।

अर्थ—चारुदत्त—(आँसुओं के साथ पुत्र को गले लिपटा कर)—

वह (लोकप्रसिद्ध) यह (पुत्र रूपी वस्तु) धनी और गरीब दोनों का समानरूप से वात्सल्यरस का सारभूत है, हृदय का, विना चन्दन और विना खस का, लेपन द्रव्य है ।।२३।।

('अंसेन बिभ्रत्' १०।२१ इत्यादि पुनः पठति । अवलोक्य स्वगतम् । 'अमी हि वस्त्रान्तनिरुद्धवक्त्राः' १०।१६ इत्यादि पुनः पठति ।)

विदूषकः—भो भद्दमुहा ! मुञ्चध पिअवअस्सं चारुदत्तं, मं वावादेध ।
(भो भद्रमुखौ ! मुञ्चतं प्रियवयस्यं चारुदत्तम्, मां व्यापादयतम् ।)

चारुदत्तः—शान्तं पापम् । (दृष्ट्वा स्वगतम्) अद्य अवगच्छामि ।
('परोऽपि बन्धुः समंसस्थित' १०।१६ इत्यादि पठति । प्रकाशम् । 'एताः पुनर्हर्म्यगताः स्त्रियो माम्' १०।११ इत्यादि पुनः पठति ।)

चाण्डालः—ओशलध अज्जा ! ओशलध । (अपसरत आर्याः ! अपसरत ।)

कि पेक्खध शप्पुलिशं अजशवशेण प्पणट्ठजीवाशं ।
कूवे खण्डिदपाशं कञ्चणकलशं विअ डुब्बन्तं ॥ २४ ॥
(किं प्रेक्षध्वे सत्पुरुषमयशोवशेन प्रणष्टजीवाशम् ।
कूपे खण्डितपाशं काञ्चनकलशमिव मज्जन्तम् ॥ २४ ॥)

टीका—बालपुत्रस्य तादृशं मुग्धं वचनमाकर्ण्य द्रवितहृदयः पुत्रमालिङ्ग्य चारुदत्तः स्वशोकं व्यनक्ति-इदमिति । तत्=लोकप्रसिद्धम्, इदम्=पुरो दृश्यमानम् अपत्यरूपं वस्तु, आढ्यस्य=धनिनः, दरिद्रस्य=निर्धनस्य, च, समम्=समानम्, स्नेहसर्वस्वम्=प्रेम्णः वात्सल्यस्य वा सारभूतम्, धनी निर्धनश्चोभौ समानरूपेणैव पुत्रस्य स्नेहं कुर्वन्तीत्यर्थः । हृदयस्य=चित्तस्य, अचन्दनम्=चन्दनरससम्पर्कशून्यम्, अनौशीरम्=वीरणसारतत्त्वसम्पर्करहितम्, अनुलेपनम्=शैत्याह्लादकत्वाद्याधायकद्रव्यमित्यर्थः । एवञ्च पूर्वं यथाऽस्मिन् स्नेह आसीत् विपदवस्थायां साम्प्रतमपि तथैव मम स्नेहः अस्मिन् वर्तते इति भावः । रूपकमलंकारः, पथ्यावक्त्रं वृत्तम् ।।२३।।

अर्थ –('गर्दन में धारण करता हुआ' इत्यादि १०/२१ वां पद्य फिर पढ़ता है । देखकर अपने में 'ये कपड़े से अपना मुह ढँके हुये' इत्यादि १०/१६ पद्य फिर से पढ़ता है ।)

विदूषक—हे कल्याणकारी सज्जनों ! मेरे प्यारे मित्र को छोड़ दो (इसके बदले में) मुझे मार डालो ।

चारुदत्त—ऐसा मत कहो । (देखकर अपने में) आज समझ गया 'साधारण अवस्था में विद्यमान का दूसरा भी बन्धु बन जाता है ।' इत्यादि १०/१६ वां पद्य पढ़ता है । (प्रकटरूप में 'ये महलों में रहने वाली स्त्रियाँ' इत्यादि १०/११ वां श्लोक फिर पढ़ता है ।)

अन्वयः—खण्डितपाशम्, कूपे, मज्जन्तम्, कञ्चनकलशम्, इव, अयशोवशेन, प्रणष्टजीवाशम्, सत्पुरुषम्, किम्, पश्यत ? ।।२४।।

शब्दार्थ—खण्डितपाशम्=टूटी हुई रस्सी वाले, कूपे=कुआँ में, मज्जन्तम्=

चारुदत्तः—(सकरुणम् । 'शशिविमलमयूख' १०।१३ इत्यादि पठति ।)

अपरः—अले ! पुणो बि घोशेहि । (अरे ! पुनरपि घोषय ।)

(चाण्डालस्तथा करोति)

चारुदत्तः—

प्राप्तोऽहं व्यसनकृशां दशामनार्यां
यत्रेदं फलमपि जीवितावसानम् ।
एषा च व्यथयति घोषणा मनो मे
श्रोतव्यं यदिदमसौ मया हतेति ॥ २५ ॥

डूबते हुये, कञ्चनकलशम्=सोने के कलश, इव=के समान, अयशोवशेन=अपकीर्ति के कारण, प्रणष्टजीवाशम्=समाप्त हो गयी है जीने की आशा जिसकी ऐसे अर्थात् सज्जन (चारुदत्त) को, किम्=क्यों, पश्यत=देख रहे हो ॥२४॥

अर्थ—चाण्डाल—हटो सज्जनों ! हटो !

टूटी हुई रस्सी वाले, कुआँ में डूबते हुये सोने के कलश के समान, अपकीर्ति के कारण जीवन की आशा से रहित सत्पुरुष (चारुदत्त) को क्यों देख रहे हो ? ॥२४॥

टीका—चारुदत्तस्य वधं श्रुत्वा समागतान् जनान् तद्दर्शनाद् वारयन्नाह—किमिति । खण्डितः=छिन्नः, पाशः=बन्धनरज्जुः यस्य तादृशम्, अतएव, कूपे=भूमिस्थ-जले, मज्जन्तम्=निमग्नीभवन्तम्, कञ्चनकलशम्=सौवर्णघटम्, इव=यथा, अयशोव-शेन=वसन्तसेनावधाभियोगजनितकलङ्कसामर्थ्येन, प्रनष्टा=समाप्ता, जीवस्य जीवनस्य आशा यस्य तं तथाविधम्, सत्पुरुषम्=सज्जनम्, चारुदत्तमित्यर्थः, किम्=कथम्, पश्यत=अवलोकयत ? नैवावलोकनीयमिति भावः । उपमालंकारः, आर्या वृत्तम् ॥२४॥

अर्थ—चारुदत्त—(करुणा के साथ । 'चन्द्रमा की उज्वल किरणों के समान दाँतवाली । इत्यादि १०/१३ पद्य को पढ़ता है ।)

दूसरा चाण्डाल—अरे ! फिर से घोषणा करो ।

(चाण्डाल घोषणा करता है ।)

अन्वय—अहम्, व्यसनकृशाम्, अनार्याम्, दशाम्, प्राप्तः, यत्र, इदम्, जीवितावसानम्, फलम्, अपि, (जातम्), एषा, च, घोषणा, मे, मनः, व्यथयति, यत्, इदम्, श्रोतव्यम् 'असौ मया हता' इति ॥२५॥

शब्दार्थ—अहम्=मैं, व्यसनकृशाम्=विपत्ति के कारण शोचनीय, अनार्याम्=निन्दित, दशाम्=अवस्था को, प्राप्तः=प्राप्त हुआ हूँ, यत्र=जिस अवस्था में, इदम्=यह, जीवितावसानम्=जीवन की समाप्ति, फलम्=परिणाम, (जातम्=हुआ है) एषा च=और यह, घोषणा=दण्ड आदि का कहना, मे=मेरे, मनः=मन

(ततः प्रविशति प्रासादस्थो बद्धः स्थावरकः ।)

स्थावरकः—(घोषणामाकर्ण्य सवैक्लव्यम्) कधं अपावे चालुदत्ते वावादीअदि ! हग्गे णिअलेण शामिणा बन्धिदे । भोदु, आक्कन्दामि । शुणाध अज्जा ! शुणाध, एस्थ दाणि मए पावेण पवहणपलिवत्तेण पुप्फकलण्डअजिण्णुज्जाणं वशन्तशेणा णीदा, तदो मम शामिणा 'मं ण कामेशि' त्तिकदुअ बाहुपाशवलक्कालेण मालिदा, ण उण एदिणा अज्जेण । कधं विदूलदाए ण कोवि शुणादि ? ता किं कलेमि ? अत्ताणअं पाडेमि । (विचिन्त्य) जइ एव्वं कलेमि, तदा अज्जचालुदत्ते ण वावादीअदि । भोदु, इमादो पाशा-

---

को, व्यथयति=व्यथित कर रही है, यत्=कि, इदम्=यह, श्रोतव्यम्=सुनना पड़ रहा है 'असौ=यह, (वसन्तसेना), मया=मैंने (चारुदत्तने) हता'=मार डाली ॥२५॥

अर्थ—चारुदत्त—

मैं विपत्ति के कारण इस गर्हित दशा को प्राप्त हुआ हूँ जिसमें जीवन की समाप्ति यह फल भी हुआ है और यह घोषणा मेरे मन को व्यथित कर रही है कि "मैंने वसन्तसेना मारी है।" ॥ २५ ॥

टीका—'चारुदत्तेनार्थकल्यवर्त्तस्य कारणात् वसन्तसेना हता' इत्यादिघोषणां श्रोतुमसमर्थश्चारुदत्तो विलपन्नाह—प्राप्त इति । अहम्=चारुदत्तः, व्यसनेन=विपदा कृशाम्=क्षीणाम्, शोचनीयामित्यर्थः, दशाम्=अवस्थाम्, दुर्दशामित्यर्थः, प्राप्तः=उपगतः यत्र=यस्यां दशायाम्, इदम्=एतत् अनुभवविषयीभूतम्, जीवितावसानम्=जीवनस्य परिसमाप्तिः, प्राणदण्डरूपम्, फलमपि=परिणामोऽपि, जात इति शेषः, एषा च=सर्वैः श्रूयमाणा, च, घोषणा=अपवादकथनपूर्वकं दण्डकथनम्, मे=मम, मनः=चित्तम्, व्यथयति=पीडयति, यत्=यस्मात्, इदम्=इत्थम्, श्रोतव्यम्=श्राकर्णनीयम्, वसन्तसेना=तन्नाम्नी गणिका मया=चारुदत्तेन, हता=मारिता । या मम प्राणभूता आसीत् सा मयैव हतेति श्रोतुमसमर्थोऽपि विवशतया शृणोमीति भावः । प्रहर्षिणी वृत्तम् ॥ २५ ॥

शब्दार्थ—प्रासादस्थः=महल में स्थित, बन्द, सवैक्लव्यम्=विकलता के साथ, अपापः=पापरहित, निरपराध, आक्रन्दामि=चिल्लाता हूँ । प्रवहणपरिवर्तनेन=गाड़ी बदल जाने से, विदूरतया=बहुत दूर होने के कारण, निक्षिपामि=गिराता हूँ, उपरतः=मरा हुआ, वासपादपः=रहने का वृक्ष=स्थान, दण्डनिगडः=बन्धन की बेड़ियाँ, अन्तरम् अन्तरम्=जगह, जगह (दीजिये) ।

अर्थ—(इसके बाद प्रासाद में स्थित बंधा हुआ स्थावरक प्रवेश करता है ।)

स्थावरक—(घोषणा सुनकर व्याकुलता के साथ) क्या निष्पाप (निरप-

दवालग्ग-पदोलिकादो एदिणा जिण्णगवक्खेण अत्ताणअं णिक्खिवामि। वलं हग्गे उवलदे, ण उण एशे कुलपुत्तविहगाणं वाशपादवे अज्जचालदत्ते। एव्वं जइ विवज्जामि, लद्धं मए पललोए। (इत्यात्मानं पातयित्वा) **ही ही! ण उवलदम्हि। भग्गे मे दण्डणिअले। ता चाण्डालघोशं शमण्णेशामि।** (दृष्ट्वा उपसृत्य) **हंहो चाण्डाला! अन्तलं अन्तलं।** (कथमपापश्चारुदत्तो व्यापाद्यते? अहं निगडेन स्वामिना बद्धः। भवतु, आक्रन्दामि। शृणुत आर्याः! शृणुत, अत्र इदानीं मया पापेन प्रवहणपरिवर्तेन पुष्पकरण्डकजीर्णोद्यानं वसन्तसेना नीता, ततो मम स्वामिना 'मां न कामयसे' इति कृत्वा बाहुपाशबलात्कारेण मारिता, न पुनरेतेन आर्येण। कथं विदूरतया न कोऽपि शृणोति? तत् किं करोमि? आत्मानं पातयामि।) (यद्येवं करोमि, तदा आर्यं चारुदत्तो न व्यापाद्यते। भवतु, अस्याः प्रासादबालाग्रप्रतोलिकातः एतेन जीर्णगवाक्षेण आत्मानं निक्षिपामि। वरमहमुपरतो न पुनरेष कुलपुत्रविहगानां वासपादप आर्यचारुदत्तः। एवं यदि विपद्ये, लब्धो मया परलोकः।) (ही ही! नोपरतोऽस्मि। भग्नो मे दण्डनिगडः। तच्चाण्डालघोषं समन्विष्यामि।) (हंहो चांडालौ! अन्तरमन्तरम्।)

चाण्डालौ—अले! के अन्तलं मग्गेदि? (अरे! कः अन्तरं याचते?)

(चेटः शुणाध—इति पूर्वोक्तं पठति।)

राध) चारुदत्त मारा जा रहा है? मैं स्वामी शकार के द्वारा बेड़ियों से बाँध दिया गया हूँ। अच्छा चिल्लाता हूँ। सुनिये सज्जनों! सुनिये, मुझ पापी ने गाड़ी बदल जाने के कारण वसन्तसेना पुष्पकरण्डक जीर्णोद्यान में पहुँचा दी थी। इसके बाद मेरे मालिक शकार ने 'मुझे नहीं चाहती हो' ऐसा कह कर बाहुपाश द्वारा बलपूर्वक [गला दबा कर] मार डाली थी, इस सज्जन (चारुदत्त) ने नहीं। क्या, बहुत अधिक दूरी के कारण कोई नहीं सुन पा रहा है? तो क्या करूँ? अपने आप को (यहाँ से) गिराता हूँ। (सोच कर) यदि ऐसा करता हूँ तो आर्य चारुदत्त नहीं मारा जायगा। अच्छा, इस महल की नई बनी हुई ऊँची अट्टालिकावाली गली से इस पुरानी खिड़की (झरोखे) से अपने को [नीचे] गिराता हूँ, मैं मरा हुआ ही अच्छा, न कि कुलपुत्ररूपी पक्षियों के रहने का स्थान [वृक्ष] यह आर्य चारुदत्त [मरा हुआ]। यदि ऐसे मर जाता हूँ तो स्वर्गलोक प्राप्त करूँगा। (अपने आपको गिरा कर) ओह, मैं नहीं मरा। मेरी बन्धन की बेड़ियाँ टूट गयीं। अतः चाण्डलों की घोषणा-स्थान का पता लगाता हूँ। (देख कर और पास जाकर) हे हे चाण्डालो! जगह दो जगह दो।'

दोनों चाण्डाल—कौन खाली जगह माँग रहा है?

(चेट—'सुनिये सज्जनों!' इत्यादि पूर्वोक्त वचन कहता है।)

चारुदत्तः—अये !

कोऽयमेवंविधे काले कालपाशस्थिते मयि ।
अनावृष्टिहते सस्ये द्रोणमेघ इवोदितः ? ॥ २६ ॥

अन्वय----[अये ! इति गद्यांशेनान्वयः], अनावृष्टिहते, सस्ये, द्रोणमेघः, इव, एवंविधे, काले, मयि, कालपाशस्थिते, अयम्, कः, उदितः ॥ २६ ॥

शब्दार्थ----[अये !=ओह्-] अनावृष्टिहते=सूखा पड़ने से सूखते हुये, सस्ये= धान पर, द्रोण-मेघः=द्रोणनामक मेघ, इव=के समान, एवंविधे=इस प्रकार के, काले=समय में, यदि मेरे, कालपाशस्थिते=मृत्यु के जाल [फन्दा] में फस जाने पर, अयम्=यह, कः=कौन, [मेरी रक्षा के लिये]उदितः=प्रकट हो गया, ॥२६॥

अर्थ---चारुदत्त---अये !

वर्षा न होने से [सूखा पड़ जाने से] सूखते हुये धान [के खेतों] पर द्रोण नामक मेघ के समान इस विपत्ति के समय में मृत्यु के फन्दे में मेरे फस जाने पर [मेरी रक्षा के लिये] कौन प्रकट हो गया है ॥ २६ ॥

टीका---स्थावरकचेटस्य वचनेन निजनिर्दोषतां शकारस्यापराधित्वं चाकर्ण्य मुदितः सन्तोषं प्रकटयन्नाह्-क इति । अनावृष्ट्या=अवर्षणेन, हते=नष्टप्राये, सस्ये=क्षेत्रस्थिते धान्यवृक्षसमूहे इत्यर्थः, द्रोणमेघः=सस्यप्रपूरकः मेघविशेषः, इव= यथा, एवंविधे=विपत्तिमये, काले=समये, मयि=चारुदत्ते, कालस्य=मृत्योः पाशे= जाले, स्थिते=विद्यमाने मृत्युमुखमुपगते, सति, अयम्=तथ्यवक्ता मम निर्दोषत्व-प्रतिपादयिता, कः=सज्जनः, उदितः=प्रकटीभूतः, समागतः इत्यर्थः । यथा अनावृष्ट्या सर्वस्मिन् सस्ये शुष्कतां गच्छति सति अभीष्टजल-प्रदायको द्रोणनामको मेघ उदितो भूत्वा सस्यरक्षणं करोति तथैव मृत्युमुखं प्रयाते मयि को महान् पुरुषः मम रक्षार्थं वास्तविकीं घटनां प्रतिपादयितुं समक्षं समागत इति भावः । उपमा-लंकारः, पथ्यावक्त्रं वृत्तम् ॥२६॥

विमर्श---जीवानन्द के अनुसार ज्योतिष्तत्त्व ग्रन्थ में मेघों के विषय में निम्न वचन है —

त्रियुते शाकवर्षे तु चतुर्भिः शेषितः क्रमात् ।
आवर्त्तं विद्धि संवर्त्तं पुष्करं द्रोणमुत्तमम् ॥
आवर्त्तो निर्जलो मेघः संवर्त्तश्च बहूदकः ।
पुष्करो दुष्करजलो द्रोणः सस्यप्रपूरकः ॥२६॥

भोः ! श्रुतं भवद्भिः ?

न भीतो मरणादस्मि केवलं दूषितं यशः।
विशुद्धस्य हि मे मृत्युः पुत्रजन्मसमो भवेत् ॥ २७ ॥

अन्यच्च—

तेनास्म्यकृतवैरेण क्षुद्रेणात्यल्पबुद्धिना।
शरेणेव विषाक्तेन दूषितेनापि दूषितः ॥ २८ ॥

अन्वयः—[अहम्], मरणात्, भीतः, न, अस्मि, केवलम्, यशः, दूषितम्, हि, विशुद्धस्य, मे, मृत्युः, पुत्रजन्मसमः, भवेत् ॥२७॥

शब्दार्थ—[अहम्=मैं चारुदत्त], मरणात्=मौत से, भीतः=डरा हुआ, न=नहीं, अस्मि=हूँ, केवलम्=केवल, यशः=कीर्ति, दूषितम्=दूषित हुई है, हि=क्योंकि, विशुद्धस्य=कलंकरहित, मम=मेरी, मृत्युः=मौत, पुत्रजन्मसमः=पुत्रजन्म के समान [आनन्दप्रद], भवेत्=होती ॥२७॥

अर्थ—चारुदत्त—हे सज्जनों ! सुना आपने ?

मैं मौत से नहीं डरा हूँ। मेरा केवल यश दूषित हुआ है। निष्कलंक मेरी मौत पुत्रजन्म के समान आनन्ददायक होती ॥२७॥

टीका—मरणं तु ध्रुवं तदा कथमेतत्कृते दुखितो भवसीत्याशंकायां प्रतिपादयति—नेति। मरणात्=मृत्योः, भीतः=भययुक्तः, न=नैव, अस्मि=भवामि, किन्तु केवलम्, यशः=कीर्तिः, यत् सकलं जीवनं सञ्चितम्, दूषितम्=कलंकितम्, स्त्रीवधाभियोगेन मे यश एव कलंकितम्। हि=यतः, विशुद्धस्य=निरपराद्धस्य, निष्कलंकस्य, मे=मम, चारुदत्तस्य, मृत्युः=मरणम्, पुत्रजन्मसमः=पुत्रोत्पत्तितुल्यः, महदानन्दप्रदः, भवेत्=स्यात्। एवञ्च नाहं मृत्योर्बिभेमि केवलमपयशस एव मे भयम्। यतो हि मया यावज्जीवनं यशसे प्रयतितम्। तद्यदि मम यश एव विनष्टं तदा सर्वमेव नष्टमिति तद्भावः। उपमालंकारः, पथ्यावक्त्रं वृत्तम् ॥२७॥

अन्वयः—अकृतवैरेण, क्षुद्रेण, अत्यल्पबुद्धिना, दूषितेन, अपि, तेन, विषाक्तेन, शरेण, इव, दूषितः, अस्मि ॥२८॥

शब्दार्थ—अकृतवैरेण=कभी भी वैर न किये गये, क्षुद्रेण=तुच्छ, अत्यल्पबुद्धिना=अति छोटी बुद्धिवाले, अपि=भी, तेन=उस [शकार] के द्वारा, विषाक्तेन=विष से बुझे हुये, शरेण=वाण, इव=के समान, दूषितः=दोषयुक्त, कलंकित, अस्मि=कर दिया गया हूँ ॥२८॥

अर्थ—और भी,

जिससे कभी भी वैर नहीं किया गया है ऐसे तुच्छ अति अल्प बुद्धिवाले उस

चाण्डालौ—थावलअ ! अवि शच्चं भणाशि ? (स्थावरक ! अपि सत्यं भणसि ?)

चेटः—शच्चं । हग्गे वि, 'मा कश्श वि कधइश्शशि' त्ति पाशादवालग्गप-दोलिकाए दण्डणिअलेण बन्धिअ णिक्खित्ते । (सत्यम् । अहमपि, 'मा कस्यापि कथयिष्यसी'ति प्रासादबालाग्र-प्रतोलिकायां दण्डनिगडेन बद्ध्वा निक्षिप्तः ।)

शकारः—(प्रविश्य सहर्षम् ।)

मंशेण तिक्खामिलिकेण भत्ते शाकेण शूपेण शमच्छकेण ।
भुत्तं मए अत्तणअश्श गेहे शालिश्श-कूलेण गुलोदणेण ॥ २९ ॥
(मांसेन तिक्ताम्लेन भक्तं शाकेन सूपेन समत्स्यकेन ।
भुक्तं मया आत्मनो गेहे शालीयकूरेण गुडौदनेन ॥ २९ ॥)

(शकार) के द्वारा विष से बुझाये गये वाण के समान दूषित (कलंकित) कर दिया गया हूँ ॥२८॥

टीका—सर्वेषां पुरतः आत्मनो निर्दोषत्वं प्रतिपादयति—तेनेति । न कृतम्=विहितम् वैरम्=शत्रुत्व यस्य तेन, मया कदापि अननुष्ठितविरोध्याचरणेनेत्यर्थः, क्षुद्रेण=तुच्छेन, अत्यल्पा=अतिमन्दा बुद्धिः=मतिः, यस्य तेन, अतिमन्दमतिना मूर्खेणेत्यर्थः, दूषितेन=दोषयुक्तेन, अपि, तेन=शकारेण कर्त्रा, विषाक्तेन=विष-दग्धेन, शरेण=वाणेन, इव=यथा, दूषितः=कलङ्कितः, अस्मि=जातोऽस्मीत्यर्थः । यद्वा—'अस्मि' इदमहमर्थे अस्मि=अहम् दूषितः=कलङ्कित इत्यर्थः, अकारणमेव वैरिभूतेन अज्ञानिना तेन शकारेणाहं मिथ्यैव दोषी साधित इति भावः । अत्रोपमा-लंकारः, पथ्यावक्त्रं वृत्तम् ॥२८॥

अर्थ—दोनों चाण्डाल—स्थावरक ! सही कह रहे हो क्या ?

स्थावरक—सच । 'किसी से मत कहना' इस लिये मुझे भी महल की नयी अटारीवाली गली के ऊपर, डण्डों की बेड़ी से बांधकर डाल दिया था ।

अन्वयः—मया, आत्मनः, गेहे, तिक्ताम्लेन, मांसेन, शाकेन, समत्स्यकेन, सूपेन, शालीयकूरेण, गुडौदनेन, भक्तम्, भुक्तम् ॥२९॥

शब्दार्थ—मया=मैंने (शकार ने) आत्मनः=अपने, गेहे=घर में, तिक्ता-म्लेन=कड़वे और खट्टे, मासेन=मांस से, शाकेन=सब्जी से, समत्स्यकेन=मछली के साथ, सूपेन=दाल से, शालीयकूरेण=अगहन में पैदा होने वाले धान के चावल के भात से, गुडौदनेन=गुड़ और चावल से, भक्तम्=भात, भुक्तम्=खाया है ॥२९॥

अर्थ—शकार—(प्रवेश करके हर्षसहित)

मैंने अपने घर में कड़वे और खट्टे मांस, शाक, मछलीसहित दाल, अगहनी धान के चावल का भात तथा गुड़ से मिले हुये भात को खाया है ॥२९॥

(कर्णं दत्वा) भिण्ण-कंश-शङ्खणाए चाण्डालवाआए शलशंजोए, जधा अ एशे उक्खालिदे वज्झडिण्डिमशद्दे पड़हाणं अ शुणीअदि, तधा तक्केमि, दलिद्द-चालुदत्ताके, वज्झठ्ठाणं णीअदि त्ति। ता पेक्खिश्शं शत्तुविणाशे णाम महन्ते हलक्कश्श पलिदोशे होदि। शुदं अ मए, जेवि किल शत्तुं वावादअन्तं पेक्खदि तश्श अण्णंशि जम्मन्तले अक्खिलोगे ण होदि। मए क्खु विशगण्ठिगब्भपविट्टेण विअ कीड़एण किं पि अन्तलं मग्गमाणेण उप्पाड़िदे ताह दलिद्द-चालुदत्ताह विणाशे। शम्पदं अत्तण-केलिकाए पाशादवालग्ग-पदोलिकाए अहिलुहिअ अत्तणो पलक्कमं पेक्खामि। (तथा कृत्वा दृष्ट्वा च) हीही ! एदाह दलिद्द-चालुदत्ताह वज्झं णीअमाणाह एवड्डे जणशम्मद्दे, ज वेलं अम्हालिशे पवले वलमणुश्शे वज्झं णीअदि, तं वेलं कीदिशे भवे ? (निरीक्ष्य) कधं एश शे णव-बलद्दके विअ मण्डिदे दक्खिणं दिशं णीअदि। अध किं णिमित्तं मम केलिकाए पाशाद-वालग्गपदोलिकाए शमीवे घोषणा णिवड़िदा णिवालिदा अ ? (विलोक्य)

टीका——चारुदत्तस्य मृत्युदण्डमाकर्ण्य अतिहृष्टः शकारः साम्प्रतं स्वप्रसन्नतां सम्पन्नतां च प्रकटयितुमाह —मांसेनेति। मया=शकारेण आत्मनः=स्वस्य, गेहे=गृहे, तिक्तेन=तिक्तरसेन, आम्लेन=आम्लरसेन च, शाकेन=पत्रादि-रूपेण भोज्य-पदार्थ-विशेषेण समत्स्यकेन=मत्स्यसहितेन, सूपेन=द्विदलेन, शालीयकूरेण=शालितण्डुलविशेषप्रभवेण, अन्नविशेषेण, गुडौदनेन=गुडमिश्रितेनौदनेन सह, भक्तम्=अन्नपरिणामविशेषः, भुक्तम्=खादितम्। अत्र सहार्थे तृतीया बोध्या। पुनरुक्तिदोषस्तु शकारस्य वचनेषु सोढव्य एव। एवञ्चेदृशविविधव्यञ्जनानामास्वादं गृहीत्वाऽहं सर्वत उत्कृष्ट इति दर्पं प्रकटयतीति भावः। इन्द्रवज्रा वृत्तम्॥२९॥

शब्दार्थ—भिन्नकांस्यवत्=फूटे हुये कांसे के समान, स्वरसंयोगः=स्वरों का मेल अर्थात् आवाज, उद्गीतः=ऊपर उठा हुआ, वध्यस्थानम्=वध करने की जगह, विषग्न्थिगर्भ-प्रविष्टकेन=विषवृक्ष की गांठ के भीतर घुसे हुये, उत्पादितः=बना दिया, जनसंमर्दः=लोगों की भीड़, नवबलीवर्दः=नये बैल, निपतिता=की गयी, अवतीर्य=नीचे उतर कर।

अर्थ—(कान लगाकर) फूटे हुये कांसे के (वर्तन के) समान खन खन करती हुयी चाण्डालों की वाणी की आवाज [सुनाई दे रही है] और जिस प्रकार यह वध के समय की तेज ढोल की आवाज तथा नगाड़ों की आवाज सुनाई दे रही है, उससे मैं यह अनुमान करता हूँ कि चारुदत्त को वध के स्थान [श्मशान] पर ले जाया जा रहा है। तो देखूंगा। दुश्मन के मरने पर हृदय को बहुत आनन्द

कधं थावलके चेडे वि णत्थि इध ? मा णाम तेण इदो गदुअ मन्तभेदे किदे भविश्शदि ? ता जाव णं अण्णेशामि। (भिन्नकांस्यवत् खङ्खनाया-श्चाण्डालवाचायाः स्वरसंयोगः, यथा च एष उद्गीतो बध्यडिण्डिमशब्दः पटहानाञ्च श्रूयते, तथा तर्कयामि, दरिद्रचारुदत्तो वध्यस्थानं नीयत इति। तत् प्रेक्षिष्ये। शत्रुविनाशो नाम महान् हृदयस्य परितोषो भवति। श्रुतञ्च मया, योऽपि किल शत्रुं व्यापाद्यमानं प्रेक्षते, तस्य अन्यस्मिन् जन्मान्तरे अक्षिरोगो न भवति। मया खलु विषग्रन्थिगर्भप्रविष्टेनेव कीटकेन किमपि अन्तरं मार्गयता उत्पादितस्तस्य दरिद्र-चारुदत्तस्य विनाशः। साम्प्रतमात्मीयायां प्रासाद–बालाग्र–प्रतोलिकायामधिरुह्य आत्मनः पराक्रमं प्रेक्षे।) (हीही ! एतस्य दरिद्र-चारुदत्तस्य वध्यं नीयमानस्य एतावान् जनसंमर्दः; यस्यां वेलायामस्मादृशः प्रवरो वरमनुष्यो वध्यं नीयते, तस्यां वेलायां कीदृशो भवेत् ?) (कथमेष स नव–बलीवर्द इव मण्डितो दक्षिणां दिशं नीयते। अथ किं निमित्तं मदीयायाः प्रासादबालाग्र–प्रतोलिकायाः समीपे घोषणा निपतिता निवारिता च ? कथं स्थावरकश्चेटोऽपि नास्तीह ? मा नाम तेन इतो गत्वा मन्त्रभेदः कृतो भविष्यति। तद् यावदेनमन्विष्यामि।)

(इति अवतीर्य उपसर्पति।)

चेटः—(दृष्ट्वा) भट्टालआ ! एशे शे आगदे। (भट्टारकाः ! एष स आगतः।)

मिलता है। और मैंने सुना है–मारे जाते हुये शत्रु को जो देखता है उसे अगले दूसरे जन्म में आँखों का रोग नहीं होता है। विषवृक्ष की गाँठ में घुसे हुये कीड़े के समान कोई मार्ग (उपाय) ढूढ़ते हुये मैंने उस दरिद्र चारुदत्त की मौत बना दी। अब अपनी महल की ऊँची अटारी में बैठकर अपना पराक्रम देखूंगा। (वैसा करके और देख कर) ओह ! इस दरिद्र चारुदत्त को फाँसी की जगह ले जाते समय लोगों की इतनी भारी भीड़, जिस समय मेरा जैसा महान श्रेष्ठ पुरुष फांसी की जगह ले जाया जायगा उस समय कितनी अधिक भीड़ होगी ? (देखकर) क्या वह चारुदत्त नये बैल (साँड़) की तरह सजाया हुआ दक्षिण दिशा की ओर ले जाया जा रहा है। लेकिन मेरे महल के नवीन अग्रभाग के पास घोषणा हुई और क्यों बन्द हो गयी ? (देख कर) क्या, यहाँ (महल के ऊपरी कमरें में) स्थावरक चेट भी नहीं है ? कहीं ऐसा न हो कि वह यहाँ से जाकर रहस्य खोल दे, तो तब तक इस की खोज करता हूँ।

(ऐसा कह कर उतर कर पास में जाता है।)

चेट –(देखकर) मालिको ! यह वह [शकार] आ गया।

चाण्डालौ —

ओशलध, देध मग्गं, दालं ढक्केध, होध तुण्हीआ।
अविणअ–तिक्ख–विशाणे दुट्ठवइल्ले इदो एदि ॥ ३० ॥

(अपसरत, दत्त मार्गम्, द्वारं पिधत्त, भवत तूष्णीकाः।
अविनयतीक्ष्णविषाणो दुष्टबलीवर्द्द इत एति ॥ ३० ॥)

शकारः—अले ! अले ! अन्तलं अन्तलं देध। (उपसृत्य) **पुत्तका ! थावलका ! चेडा। एहि, गच्छम्ह।** (अरे ! अरे ! अन्तरमन्तरं दत्त। पुत्रक ! स्थावरक ! चेट ! एहि गच्छावः।)

चेटः—ही ही ! अणज्ज ! वशन्तशेणिअं मालिअ ण पलितुट्टेशि, शम्पदं पणइजण–कप्पपादवं अज्जचालुदत्तं मालइदुं ववशिदे शि।

(ही ही ! अनार्य ! वसन्तसेनिकां मारयित्वा न परितुष्टोऽसि ? साम्प्रतं प्रणयिजनकल्पपादपम् आर्यचारुदत्तं मारयितुं व्यवसितोऽसि।)

अन्वयः—अपसरत, मार्गम्, दत्त, द्वारम्, पिधत्त, तूष्णीकाः, भवत, अविनयतीक्ष्णविषाणः, बलीवर्दः, इतः, एति ॥३०॥

शब्दार्थ—अपसरत=हट जाओ, मार्गम्=रास्ता, दत्त=दो, द्वारम्=दरवाजे, पिधत्त=बन्द कर लो, तूष्णीकाः=चुप, भवत=हो जाओ, अविनयतीक्ष्णविषाणः=उद्दण्डतारूपी तीखे सींगों वाला, दुष्टबलीवर्दः=दुष्ट बैल, इतः=इधर ही, एति=आ रहा है ॥ ३० ॥

अर्थ—दोनों चाण्डाल—

हट जाओ, रास्ता दो, (घरों के) दरवाजे बन्द कर लो, चुप हो जाओ, उद्दण्डतारूपी तीखे सींगों वाला दुष्ट बैल इधर ही आ रहा है ॥ ३० ॥

टीका—चारुदत्तवधमवलोकयितुमागच्छन्तं शकारं दृष्ट्वा चाण्डालौ सर्वान् सावधानान् कुर्वन्तावाहतुः—अपसरतेति। अपसरत=पलायध्वम्, मार्गम्=पन्थानम्, दत्त=प्रयच्छत, द्वारम्=गृहप्रवेशस्थानम्, पिधत्त=आवृत्त कुरुत, तूष्णीकाः=मौनाः, भवत=जायध्वम्, अविनयः=उद्दण्डता एव तीक्ष्णः=निशितः, विषाणः=शृङ्गम्, यस्य तादृशः दुष्टः=असाधुः, बलीवर्दः=वृषभः, शकारः, इतः=अस्यामेव दिशि, एति=आगच्छति। आर्या वृत्तम् ॥ ३० ॥

अथ—शकार—अरे अरे ! रास्ता दो, रास्ता दो। बेटा, स्थावरक, चेट ! आओ चलें।

चेट—अरे नीच ! **वसन्तसेना को** मार कर (भी) नहीं सन्तुष्ट हुये हो। इस समय प्रणयी (प्रिय तथा याचक) जनों के लिये कल्पवृक्ष के समान आर्य चारुदत्त को मारने का प्रयास कर रहे हो।

शकारः—णहि लअणकुम्भशदिशे हग्गे इत्थिअं वावादेमि। (नहि रत्नकुम्भसदृशोऽहं स्त्रियं व्यापादयामि !)

सर्वे—अहो ! तुए मारिदा, ण अज्जचारुदत्तेण। (अहो ! त्वया मारिता, न आर्यचारुदत्तेन।)

शकारः—के एव्वं भणादि ? (क एवं भणति ?)

सर्वे—(चेटमुद्दिश्य) णं एशो साहु। (नन्वेष साधुः।)

शकारः—(अपवार्य सभयम्) अविदमादिके अविदमादिके ! । कधं थावलके चेड़े सुट्ठु ण मए शञ्जदे। एशे क्खु मम अकज्जश्श शक्खी। (विचिन्त्य) एव्वं दाव कलइश्श। (प्रकाशम्) अलिअं भट्टालका ! हंहो ! एशे चेड़े शुवण्णचोलिआए मए गहिदे, पिट्टिठदे, मालिदे वद्धे अ। ता किदवेले एशे जं भणादि, किं शच्चं ! (अपवारितकेन चेटस्य कटकं प्रयच्छति। स्वैरकम्) पुत्तका ! थावलका ! चेड़ा ! एदं गेण्हिअ अण्णधा भणाहि। (हन्त ! कथं स्थावरकश्चेटः सुष्ठु न मया संयतः। एष खलु मम अकार्यस्य साक्षी। एवं तावत् करिष्यामि। अलीकं भट्टारकाः ! अहो ! एष चेटः सुवर्णचोरिकया मया गृहीतः, पीडितः, मारितः, बद्धश्च। तत् कृतवैर एष यद्भणति किं सत्यम् ?) (पुत्रक ! स्थावरक ! चेट ! एतद् गृहीत्वा अन्यथा भण।)

चेटः—(गृहीत्वा) पेक्खध पेक्खध भट्टालका ! हंहो ! शुवण्णेण मं पलोभेदि। (प्रेक्षध्वं प्रेक्षध्वं भट्टारकाः ! । आश्चर्यं, सुवर्णेन मां प्रलोभयति।)

शकार—रत्नों के घट के समान मैं स्त्री को नहीं मारता हूँ।

सभी—तुम्हीं ने (वसन्तसेना) मारी है, न कि आर्यचारुदत्त ने।

शकार—कौन ऐसा कहता है ?

सभी लोग—(चेट को लक्षित करके) यह सज्जन (कह रहा है)।

शकार—(अपवारित, भयपूर्वक) हाय ! मैंने स्थावरक चेट को अच्छी तरह क्यों नहीं बांधा था ? यह मेरे कुकृत्य (वसन्तसेना की हत्या) का साक्षी है। (सोंच कर) तो, ऐसा करता हूँ। (प्रकटरूप में) महानुभावो ! यह झूठ (बोलता है)। इस चेट को सोने की चोरी के कारण मैंने पकड़ा, पीटा, मारा और बांध दिया था। तो दुश्मनी मानने वाला ही यह जो कह रहा है क्या वह सच है ? (छिपा कर चेट को कंगन देता हुआ धीमी आवाज में) बेटा स्थावरक चेट ! इस (कंगन) को लेकर दूसरी तरह (झूठ) बोल दो।

चेट—(लेकर) महानुभावो ! देखिये, देखिये। हाय, हाय ! सोने से मुझे लुभा रहा है। [झूठ बोलने के लिये कह रहा है।]

शकार:—(कटकमाच्छिद्य) एशे शे शुवण्णके जश्श कालणादो मए वड्ढे । (सक्रोधम्) हंहो चाण्डाला ! मए क्ख एशे शुवण्णभण्डाले णिउत्ते, शुवण्णं चोलअन्ते मालिदे, पिट्टिदे, ता जदि ण पत्तिआअध, ता पिट्ठिं दाव पेक्खध । (एतत् तत् सुवर्णकं यस्य कारणात् मया बद्धः । रे रे चाण्डालौ ! मया खल्वेष सुवर्णभाण्डागारे नियुक्तः सुवर्णं चोरयन् मारितः पीडितः । तद् यदि न प्रत्ययध्वे, तदा पृष्ठं तावत् प्रेक्षध्वम् ।)

चाण्डालौ—(दृष्ट्वा) शोहणं भणादि । वितत्ते चेड़े किं ण प्पलवदि ? (शोभनं भणति । वितप्तश्चेटः किं न प्रलपति ?)

चेट:—हीमादिके ! ईदिशे दाशभावे, जं शच्चं कं पि ण पत्तिआआदि । (सकरुणम्) अज्जचालुदत्त ! एत्तिके मे विहवे । (हन्त ! ईदृशो दासभावः यत् सत्यं कमपि न प्रत्याययति ।) (आर्यचारूदत्त ! एतावान् मे विभवः ।) (इति पादयोः पतति ।)

चारुदत्त:—(सकरुणम्)

> उत्तिष्ठ भोः ! पतित–साधुजनानुकम्पिन्,
> निष्कारणोपगतबान्धव ! धर्मशील ! ।
> यत्नः कृतोऽपि सुमहान् मम मोक्षणाय
> दैवं न संवदति किं न कृतं त्वयाऽद्य ।। ३१ ।।

शकार—(कड़ा छीन कर) यह वही सोना है, जिसके कारण मैंने बांधा था । (क्रोधसहित) अरे चण्डालो ! मेरे द्वारा सुवर्णभण्डार (खजाने) में नियुक्त किया गया यह सोना चुराते हुये मारा गया, पीटा गया । यदि विश्वास न हो तो इसकी पीठ देख लो ।

दोनों चाण्डाल—(देखकर) ठीक कहता है । मार खाने से व्याकुल चेट क्या झूठ नहीं बोल सकता ? अर्थात् झूठ बोलता है ।

चेट—हाय ! नौकर होना इतना खराब है कि सच कहना भी किसी को विश्वास नहीं करा पाता । (करुणासहित) आर्य चारुदत्त ! (आपकी रक्षा करने की) मेरी इतनी ही शक्ति थी । (यह कहकर चारुदत्त के पैरों पर गिर पड़ता है ।)

अन्वय:—भोः ! पतितसाधुजनानुकम्पिन् !, निष्कारणोपगतबान्धव !, धर्मशील !, उत्तिष्ठ, मम, मोक्षणाय, (त्वया), सुमहान्, यत्नः, कृतः, अपि, दैवम्, न, संवदति, अद्य, त्वया, किम्, न, कृतम् ।। ३१ ।।

शब्दार्थ—भोः=हे !, पतितसाधुजनानुकम्पिन्=कष्ट में फंसे हुये सज्जनों पर कृपा करने वाले, निष्कारणोपगतबान्धव !=विना किसी कारण के आये हुये

चाण्डालौ—भट्टके। पिट्टिअ एदं चेडं णिक्खालेहि। (भट्टक। पीडयित्वा एतं चेटं निष्कासय।)

शकारः—णिक्कम ले!। (इति निष्क्रामयति।) अले चाण्डाला! किं विलम्बेध? मालेध एदं। (निष्क्रम रे!।) (अरे चाण्डालौ! कि विलम्बेथे? मारयतमेनम्।)

चाण्डालौ—जदि तुवलाशि, ता शअं ज्जेव मालेहि। (यदि त्वरयसे, तत् स्वयमेव मारय।)

बान्धव!, धर्मशील!=धर्माचरणपरायण!, उत्तिष्ठ=उठ जाओ, मम=मेरे (चारुदत्त के), मोक्षणाय=छुड़वाने के लिये, (त्वया=तुम्हारे द्वारा) सुमहान्=बहुत अधिक, यत्नः=प्रयास, अपि=भी, कृतः=किया गया, किन्तु दैवम्=भाग्य, न=नहीं, संवदति=अनुकूल हो रहा है, अद्य=आज, त्वया=तुमने, किम्=क्या, न=नहीं, कृतम्=किया है अर्थात् सभी कुछ किया है॥ ३१॥

अर्थ—चारुदत्त—(करुणासहित)

हे विपत्ति में फंसे सज्जनों पर कृपा करने वाले! अकारण आये हुये बान्धव! धर्माचरणपरायण! उठो। मुझे छुड़वाने के लिये तुमने बहुत अधिक प्रयास किया किन्तु भाग्य अनुकूल नहीं है, अन्यथा तुमने आज क्या नहीं किया अर्थात् सभी कुछ किया॥ ३१॥

टीका—मम रक्षार्थं प्रासादादात्मानं निपात्य सत्यं प्रकटय्यापि त्वया मे रक्षार्थं बहु प्रयतितम्। किन्तु भाग्यदोषात् तत्सर्वं विफलतां गतमिति प्रतिपादयति—उत्तिष्ठेति। भोः पतितानाम्=विपत्तिनिमग्नानां साधुजनानाम् उपकारिन्=उपकारक! निष्कारणम्=अहेतुकं यथा स्यात्तथा उपगतः=प्राप्तः यो बान्धवः, तत्सम्बुद्धौ रूपम्, धर्मशील!=धर्माचारपरायण!, उत्तिष्ठ=पादौ परित्यज्य उत्तिष्ठ, मम=चारुदत्तस्य, मोक्षणाय=प्राणदण्डाद् विमुक्तये, (त्वया=चेटेन), सुमहान्=अत्यधिकः, यत्नः=प्रयासः, कृतः=विहितः, अपि, परम्, दैवम्=भाग्यम्, न=नैव, संवदति=अनुकूलं भवति, अन्यथा, अद्य=अस्मिन् दिने, त्वया=चेटेन, किं न, कृतम्=विहितम् अपितु सर्वमपि विहितं केवलं भाग्यदोषादेव न तत् मम मोक्षणाय जातमिति भावः। परिकरालंकारः, वसन्ततिलक वृत्तम्॥ ३१॥

अर्थ—दोनों चाण्डाल—स्वामिन्! इसे पीटकर बाहर निकाल दीजिये।

शकार—निकल रे! (यह कह कर निकाल देता है।) अरे चाण्डालों! क्यों देर लगा रहे हो? इसको मार डालो।

दोनों चाण्डाल—यदि जल्दीबाजी करते हो तो तुम्हीं मार डालो।

रोहसेनः—अले चाण्डाला ! मं मारेध, मुञ्चध आवुकं। (अरे चाण्डालौ ! मां मारयतम्, मुञ्चतं पितरम्।)

शकारः—शपुत्तं ज्जेव एदं मालेध। (सपुत्रमेव एतं मारयतम्।)

चारुदत्तः—सर्वमस्य मूर्खस्य सम्भाव्यते। तद् गच्छ पुत्र ! मातुः समीपम्।

रोहसेनः—किं मए गदेण कादव्वं ? (किं मया गतेन कर्त्तव्यम् ?)

चारुदत्तः—आश्रमं वत्स ! गन्तव्यं गृहीत्वाद्यैव मातरम्।
मा पुत्र ! पितृदोषेण त्वमप्येवं गमिष्यसि ॥ ३२ ॥

तद्वयस्य ! गृहीत्वैनं व्रज।

रोहसेन—अरे चाण्डालो ! मुझे मार डालो, पिता जी को छोड़ दो।

शकार—पुत्रसहित ही इस (चारुदत्त) को मार डालो।

चारुदत्त—इस मूर्ख के लिये सभी कुछ सम्भव है। अतः हे बेटा ! माता के पास जाओ।

रोहसेन—मैं जाकर क्या करूँगा ?

अन्वयः—वत्स ! मातरम्, गृहीत्वा, अद्य, एव, आश्रमम्, गन्तव्यम्, पुत्र ! मा, पितृदोषेण, त्वम्, अपि, एवम्, गमिष्यसि ॥ ३२ ॥

शब्दार्थ—वत्स !=बेटा, मातरम्=अपनी माता को, गृहीत्वा=लेकर, अद्य=आज, इस समय, एव=ही, आश्रमम्=घर, गन्तव्यम्=चले जाना, पुत्र !=हे बेटा !, मा=यह न हो जाय कि, पितृदोषेण=पिता के अपराध से, त्वम्=तुम, अपि=भी, एवम्=इसी प्रकार, गमिष्यसि=चले जाओ अर्थात् मार डाले जाओ ॥ ३२ ॥

अर्थ—चारुदत्त—

बेटा ! (अपनी) माता को लेकर आज (इसी समय) ही घर चले जाना। कहीं ऐसा न हो कि पिता के दोष से तुम भी इसी प्रकार मार डाले जाओ ॥३२॥

अतः हे मित्र ! इस रोहसेन को लेकर जाओ।

टीका—शकारस्य वचनमाकर्ण्य पुत्रस्यापि वधशंकया तं ततः शीघ्रमेव गन्तुं प्रेरयन्नाह—आश्रममिति। हे वत्स !=हे आयुष्मन् !, मातरम्=स्वजननीं धूर्तामित्यर्थः, गृहीत्वा=नीत्वा, अद्य एव=अस्मिन् दिवसे एव, इदानीमेवेत्यर्थः, आश्रमम्=गृहम्, गन्तव्यम्=व्रजितव्यम्, हे पुत्र !=हे सुत !, पितृदोषेण=जनकाभियोगेन, त्वम्=रोहसेनः, अपि, एवम्=अनेनैव प्रकारेण, वध्यरूपेणेत्यर्थः, मा गमिष्यसि=मा व्रजिष्यसि। यथा मिथ्याभियोगेन मम वधो भवति तथैव तवापि न स्यादिति विचार्य त्वं सत्वरमेवास्मात् स्थानात् गृहं व्रजेति भावः। पथ्यावक्त्रं वृत्तम् ॥ ३२ ॥

विदूषकः—भो वअस्स ! एव्वं तुए जाणिदं, तुए बिणा अहं पाणाइं धारेमि त्ति ? (भो वयस्य ! एवं त्वया ज्ञातम्, त्वया बिना अहं प्राणान् धारयामीति ?)

चारुदत्तः—वयस्य ! स्वाधीनजीवितस्य न युज्यते तव प्राणपरित्यागः ।

विदूषकः—(स्वगतम्) जुत्तं ण्णेदं तधावि ण सक्कुणोमि पिअवअस्सविरहिदो पाणाइं धारेदुं त्ति । ता वम्हणीए दारअं समप्पिअ पाणपरिच्चाएण अत्तणो पिअवअस्सं अणुगमिस्सं । (प्रकाशम्) भो वअस्स ! पराणेमि एदं लहुं । (युक्तं न्विदम् । तथापि न शक्नोमि प्रियवयस्यविरहितः प्राणान् धारयितुमिति । तत् ब्राह्मण्यै दारकं समर्प्य प्राणपरित्यागेनात्मनः प्रियवयस्यमनुगमिष्यामि ।) (भो वयस्य ! परानयामि एनं लघु ।) (इति सकण्ठग्रहं पादयोः पतति ।)

(दारकोपि रुदन् पतति ।)

शकारः—अले ! णं भणामि शपुत्ताकं चालुदत्ताकं वावादेध त्ति । (अरे ! ननु भणामि सपुत्रकं चारुदत्तकं व्यापादयतमिति ।)

(चारुदत्तो भयं नाटयति ।)

चाण्डालौ—णहि अम्हाणं ईदिशी लाआण्णत्ती, जधा शपुत्तं चालुदत्तं वावादेध त्ति । ता णिक्कम ले दालआ ! णिक्कम (इति निष्क्रामयतः ।)

अर्थ—विदूषक—हे मित्र ! क्या तुमने ऐसा समझ लिया कि मैं तुम्हारे विना प्राणों को धारण रख सकता हूँ ? अर्थात् नहीं ।

चारुदत्त—जिसका जीवन अपने हाथ (वश) में है ऐसे तुम्हारा प्राण त्यागना ठीक नहीं है ।

विदूषक—(अपने आप में) यद्यपि यह ठीक नहीं है फिर भी प्यारे मित्र के विना मैं प्राणों को नहीं धारण रख सकता । इस लिये ब्राह्मणी (धूता) को (गोद में) बालक को देकर अपने प्राण छोड़ कर अपने मित्र का अनुगमन करूँगा । (प्रकट में) हे मित्र ! मैं इसे शीघ्र ही वापस कराता हूँ । (घर लौटा देता हूँ ।)

(ऐसा कह कर गले में लिपट कर पैरों पर गिर पड़ता है ।)

(बालक भी रोता हुआ पैरों पर गिरता है ।)

शकार—अरे ! मैं कह रहा हूँ कि पुत्र के साथ ही इस चारुदत्त को मार डालो ।

(चारुदत्त भय का अभिनय करता है ।)

दोनों चाण्डाल—हम लोगों को राजा की ऐसी आज्ञा नहीं है कि पुत्रसहित

इमं तइअ घोशणट्ठाणं। ताडेध डिण्डिमं। नहि अस्माकमीदृशी राजाज्ञप्तिः, यथा सपुत्रं चारुदत्तं व्यापादयतमिति। तत् निष्क्रम रे दारक! निष्क्रम।) (इदं तृतीयं घोषणास्थानम्, ताडयत डिण्डिमम्।) (पुनर्घोषयतः।)

शकारः—(स्वगतम्) कधं एशे ण पत्तिआअन्ति पौला। (प्रकाशम्) हंहो चालुदत्ता! वडुका! ण पत्तिआअदि एश पौलजणे। ता अत्तणके-लिकाए जीहाए भणाहि 'मए वशन्तशेणा मालिदे' त्ति। (कथमेते न प्रत्ययन्ते पौराः। अरे चारुदत्त बटुक! न प्रत्ययते एष पौरजनः, तदात्मीयया जिह्वया भण—'मया वसन्तसेना मारिता' इति।)

(चारुदत्तः तूष्णीमास्ते।)

शकारः—अले चाण्डालगोहे! ण भणादि चालुदत्तवडुके; ता भणा-वेध इमिणा जज्जल-वंशखण्डेण शङ्कलेण तालिअ तालिअ। (अरे चाण्डाल गोह! न भणति चारुदत्तवटुकः। तद् भणयत अनेन जर्जरवंशखण्डेन शङ्कलेन ताडयित्वा ताडयित्वा।)

चाण्डालः—(प्रहारमुद्यम्य) भो चारुदत्त! भणाहि। (भोः चारु-दत्त! भण।)

चारुदत्तः—(सकरुणम्)

प्राप्यैतद्व्यसनमहार्णवप्रपातं
न त्रासो न च मनसोऽस्ति मे विषादः।
एको मां दहति जनापवादवह्नि-
र्वक्तव्यं यदिह मया हता प्रियेति॥ ३३॥

चारुदत्त को मार डालो। अत: ए लड़के! निकल जा, निकल जा। (यह कह कर निकालते हैं।) यह तीसरा घोषणास्थान है, नगाड़ा बजाओ। (फिर घोषणा करते हैं।)

शकार—(अपने में) अरे! नगरवासी इस (घटना) का विश्वास क्यों नहीं करते हैं? (प्रकटरूप में) अरे चारुदत्त! ब्राह्मण! ये पुरवासी विश्वास नहीं कर रहे हैं, अतः अपनी जीभ से कहो—"मैंने वसन्तसेना को मार डाला है।"

(चारुदत्त चुपचाप खड़ा रहता है।)

शकार—अरे चाण्डाल गोह! यह ब्राह्मण चारुदत्त [मेरी बात] नहीं कह रहा है। इस लिये इसको नगाड़े बजाने वाले फटे बांस के टुकड़े से पीट कर कहलाओ।

चाण्डाल—(डण्डा उठाकर) हे चारुदत्त! कहो।

अन्वयः—एतद्व्यसनमहार्णवम्, प्राप्य, अपि, मे, मनसः, न, त्रासः, न च,

(शकारः पुनस्तथैव)

चारुदत्तः—भो भोः पौराः ! ('मया खलु नृशंसेन' इत्यादि ९।३० पुनः पठति ।)

शकारः—वावादिदा । (व्यापादिता ।)

चारुदत्तः—एवमस्तु ।

विषादः अस्ति, एकः, जनापवादवह्निः, माम्, दहति, यत्, इह 'मया, प्रिया, हता' इति वक्तव्यम् ।। ३३ ।।

शब्दार्थ—एतद्व्यसनमहार्णवम्=इस विपत्तिरूपी समुद्र को, प्राप्य=पाकर, अपि=भी, मे=मेरे, मनसः=मन को, न=न तो, त्रासः=भय है, न च=और न, विषादः=दुःख, क्लेश है, एकः=अकेली, जनापवादवह्निः=लोकापवादरूपी आग, माम्=मुझे, दहति=जला रही है, यत्=कि, इह=यहाँ 'मया=मैंने, प्रिया=वसन्तसेना, मारिता=मारी' इति=ऐसा, वक्तव्यम्=कहना पड़ रहा है ।। ३३ ।।

अर्थ—चारुदत्त—(करुणापूर्वक)—

इस विपत्तिरूपी समुद्र को पाकर भी मेरे मन को न तो भय है और दुःख । अकेली लोकापवादरूपी आग मुझे जला रही है कि यहाँ "मैंने वसन्तसेना मारी", ऐसा कहना पड़ रहा है ।। ३३ ।।

टीका—प्राणवधादपि अभीतः सः सर्वेषां समक्षं वसन्तसेनावधस्वीकृतिकथनादेव दुःखित्वमाविष्करोति—प्राप्येति । एतत्=अनुभूयमानम्, व्यसनमेव=विपत्तिरेव महार्णवः, तस्मिन् प्रपातम्=प्रपतनम्=निमज्जनमित्यर्थः, प्राप्य=लब्ध्वा, अपि, मे=मम चारुदत्तस्येत्यर्थः, मनसः=चित्तस्य, न=नैव, त्रासः=भयम्, नच=नापि विषादः=दुःखम्, एकः=केवलः, जनानाम्=लोकानाम् अपवादः=निन्दावादः 'अनेनैव वसन्तसेना हता' इत्याकारकः स एव वह्निः=अग्निः, माम्=चारुदत्तम्, दहति=तापयति, यत्=यतः, इह=अस्मिन् स्थाने सर्वेषां समक्षमित्यर्थ, मया=चारुदत्तेन, वसन्तसेना=प्रेयसी गणिका, हता=मारिता, इति वक्तव्यम्=कथितव्यम् । एवञ्च सर्वेषां पुरतः स्वयं प्रियाया वधस्य स्वीकारस्य कथनमेव मां सर्वतोऽधिकं दुःखाकरोतीति भावः । रूपकालंकारः, वसन्ततिलकं वृत्तम् ।। ३३ ।।

अर्थ—(शकार फिर वैसा ही कहता है ।)

चारुदत्त—ए नगरवासियो ! ('मुझ क्रूरने' इत्यादि ९।३०, ३८ पद्य को पुनः पढ़ता है ।)

शकार—मार डाला ।

चारुदत्त—ऐसा ही सही ।

प्रथमः—अले ! तव अत्त वज्झवालिआ। (अरे ! तवात्र वध्यपालिका।)

द्वितीयः—अले ! तव। (अरे ! तव।)

प्रथमः—अले ! लेक्खअं कलेम्ह। (इति बहुविधं लेखकं कृत्वा) अले ! जदि ममकेलिका वज्झपालिआ, ता चिट्ठदु दाव मुहुत्तअं। (अरे ! लेखकं कुर्मः।) (अरे ! यदि मदीया वध्यपालिका, तदा तिष्ठतु तावन्मुहूर्त्तकम्।)

द्वितीयः—किं णिमित्तं ? (किं निमित्तम् ?)

प्रथमः—अले ! भणिदोम्हि पिदुणा शग्गं गच्छन्तेण जधा 'पुत्त वीरअ ! जइ तुह वज्झवालिआ होदि, मा शहशा वावादअशि वज्झं। (अरे ! भणितोऽस्मि पित्रा स्वर्गं गच्छता यथा 'पुत्र वीरक ! यदि तव वध्यपाली भवति, मा सहसा व्यापादयसि वध्यम्।)

द्वितीयः—अले ! किं णिमित्तं ? (अरे ! किं निमित्तम् ?)

प्रथमः—कदावि कोवि शाहू अत्थं दइअ वज्झं मोआवेदि। कदावि लण्णो पुत्ते होदि, तेण वद्धावेण शव्ववज्झाणं मोक्खे होदि। कदावि हत्थी बन्धं खण्डेदि, तेण शम्भमेण वज्झे मुक्के होदि। कदावि लाअपलिवत्ते होदि, तेण शव्ववज्झाणं मोक्खे होदि। (कदापि कोऽपि साधुरर्थं दत्त्वा वध्यं मोचयति। कदापि राज्ञः पुत्रो भवति, तेन वृद्धिमहोत्सवेन सर्ववध्यानां मोक्षो भवति। कदापि हस्ती बन्धं खण्डयति, तेन सम्भ्रमेण वध्यो मुक्तो भवति। कदापि राजपरिवर्त्तो भवति, तेन सर्ववध्यानां मोक्षो भवति।)

प्रथम चाण्डाल—अरे, आज वध करने की तुम्हारी पारी है।

दूसरा चाण्डाल—अरे, तुम्हारी है।

प्रथम चाण्डाल—अरे लिखकर देखते हैं। (ऐसा कह कर अनेक प्रकार से लिखकर) अरे, यदि मेरी पारी है तो कुछ देर के लिये रुक जा।

दूसरा चाण्डाल—किस लिये ?

प्रथम चाण्डाल—अरे, स्वर्ग जाते समय [मरते समय] पिता जी ने यह कहा था—हे बेटा वीरक ! यदि तुम्हारी वध करने की पारी होती है तब अचानक [शीघ्र ही] वध्य [वधयोग्य व्यक्ति] को मत मार डालना।

दसरा चाण्डाल—अरे, किस लिये ?

प्रथम चाण्डाल—कभी कोई सज्जन धन देकर वध्य को छुड़ा ले। कभी राजा का पुत्र हो जाय जिस कारण वृद्धिमहोत्सव से सभी वध्य लोगों की मुक्ति हो जाय। कभी हाथी अपना बन्धन तोड़ दे [जिस कारण] घबड़ाहट से वध्य मुक्त हो जाय। कभी राजा का परिवर्तन होता है जिससे सभी वध्य लोगों का मोक्ष हो जाता है।

शकारः—किं किं लाअपलिवत्ते होदि ? (किं किं राजपरिवर्त्तो भवति ?)

चाण्डालः —अले ! वज्झवालिआए लेक्खअं कलेम्ह । (अरे ! बध्यपालिकाया लेखकं कुर्मः ।)

शकारः —अले ! शिग्घं मालेध चालुदत्तं । (अरे ! शीघ्रं मारयतं चारुदत्तम् ।) (इत्युक्त्वा चेटं गृहीत्वा एकान्ते स्थितः ।)

चाण्डालः —अज्ज चालुदत्त ! लाअणिओओ क्खु अवलज्झदि, ण क्खु अम्हे चाण्डाला । ता शुमलेहि जं शुमलिदव्वं । (आर्यचारुदत्त ! राजनियोगः खलु अपराध्यति, न खलु वयं चाण्डालाः । तत् स्मर यत् स्मर्त्तव्यम् ।)

चारुदत्तः—प्रभवति यदि धर्मो दूषितस्यापि मेऽद्य
प्रबलपुरुषवाक्यैर्भाग्यदोषात् कथञ्चित् ।
सुरपतिभवनस्था यत्र तत्र स्थिता वा
व्यपनयतु कलङ्कं स्वस्वभावेन सैव ॥ ३४ ॥

शकार—क्या, क्या राजा का परिवंतन होता है ?

चाण्डाल—अरे, हम लोग वध करने की पारी का हिसाब लिख रहे हैं।

शकार —अरे, चारुदत्त को जल्दी ही मार डालो।

(यह कह कर चेट को लेकर एकान्त में खड़ा हो जाता है।)

चाण्डाल —आर्य चारुदत्त ! राजा का आदेश अपराधी है, न कि हम चाण्डाल लोग, इसलिये जो याद करना चाहते हो याद कर लो।

अन्वयः—भाग्यदोषात्, अद्य, प्रबलपुरुषवाक्यैः, दूषितस्य, अपि, मे, धर्मः, यदि, कथञ्चित्, प्रभवति, (तदा) सुरपतिभवनस्था, यत्र, तत्र, स्थिता, वा, सा, एव, स्वस्वभावेन, कलंकम्, व्यपनयतु ॥३४॥

शब्दार्थ—भाग्यदोषात्=भाग्यदोष के कारण, अद्य=आज, प्रबलपुरुषवाक्यैः=शक्तिशाली पुरुष (शकार) के वचनों से, दूषितस्य=दूषित अपराधी, अपि=भी, मे=मेरा, चारुदत्तका, धर्मः=धर्म, सुकृत्यका परिणाम, यदि=अगर, कथञ्चित्=किसी प्रकार, प्रभवति,=प्रभाववाला होता है, (तदा=तब) सुरपतिभवनस्था=इन्द्र के भवन में स्थित, वा=अथवा, यत्र तत्र=जहाँ कहीं, स्थिता=स्थित, सा=वह वसन्तसेना, एव=ही, स्वस्वभावेन=अपने निर्दोष स्वभाव से, कलंकम्=[मेरा] कलंक मिथ्यापराध, व्यपनयतु=दूर करेगी ॥३४॥

अर्थ—**चारुदत्त**—

भाग्यदोष के कारण आज शक्तिसम्पन्न पुरुष [राजा के शाला] के वाक्यों से दूषित [अपराधी] भी मेरा धर्म यदि किसी प्रकार प्रभाववाला होता है तब इन्द्रभवन में विद्यमान अथवा जहाँ कहीं भी रहने वाली वह [वसन्तसेना]

भो: ! क्व तावन्मया गन्तव्यम् ?

चाण्डाल:——(अग्रतो दर्शयित्वा) अले ! एदं दीशदि दक्खिणमशाणं, जं पेक्खिअ वज्झा झत्ति पाणाइं मुञ्चन्ति । पेक्ख पेक्ख । (अरे ! एतत् दृश्यते दक्षिणश्मशानम्, यत् प्रेक्ष्य वध्या झटिति प्राणान् मुञ्चन्ति । प्रेक्षस्व प्रेक्षस्व ।)

अद्धं कलेवलं पडिवुत्तं कट्टन्ति दीहगोमाआ ।
अद्धं पि शूललग्गं वेशं विअ अट्टहाशश्श ।। ३५ ।।
(अर्द्धं कलेवरं प्रतिवृत्तं कर्षन्ति दीर्घगोमायवः ।
अर्द्धमपि शूललग्नं वेश इवाट्टहासस्य ।। ३५ ।।)

ही (मेरे) कलंक को दूर करेगी ।।३४।।

अरे, मुझे कहाँ चलना है ?

टीका——राष्ट्रियश्यालकवचनैर्दूषितश्चारुदत्तः तदापि आत्मनो निर्दोषतामेव स्वीकरोति । तत्र प्रामाण्यसाधनाय स्वप्रेयसीमेव स्मरन्नाह——प्रभवतीति । भाग्यदोषात्=दुर्दैववशात्, अद्य=अस्मिन् दिने, प्रबलपुरुषस्य=राज्ञः प्रभावेण शक्तिसम्पन्नस्य शकारस्य, वाक्यैः=वचनैः, मिथ्याभियोगप्रतिपादकैरिति भावः, दूषितस्यापि=अपराद्धस्यापि, मे=मम, धर्मः=सुकृत्यपरिणामः, यदि=चेत्, कथचित=केनापि प्रकारेण, प्रभवति=प्रभाववान् भवति, मम धर्मस्य प्रभावो भवतीत्यर्थः, तदा सुरपतेः=इन्द्रस्य, भवनस्था=गृहे विराजमाना, वेश्यात्वेन मरणानन्तरमिन्द्रपुरगमनमेवोचितमिति बोध्यम्, वा=अथवा, यत्र तत्र=यस्मिन् कस्मिन् लोके स्थाने वा, स्थिता, सा=वसन्तसेना, एव, स्वस्वभावेन=निजया निर्दोषप्रकृत्या, कलंकम्=मिथ्याभियोगजनितं कालिमानमित्यर्थः, ममेति शेषः, व्यपनयतु=दूरीकरोतु, अपसारयतु । एवञ्च यदि मम सुकृतानां स्वल्पोऽपि प्रभावो भविष्यति तदा सा वसन्तसेनैव स्वोदारस्वभावेन मम मिथ्याभियोगं दूरीकरिष्यतीति भावः । एतेन वसन्तसेनायाः शीघ्रमेवागमनं सूचितमिति बोध्यम् । मालिनी वृत्तम् ।।३४।।

अर्थ——**चाण्डाल**——(आगे दिखा कर) अरे ! यह दक्षिण (दिशा) में श्मशान दिखाई दे रहा है जिसे देख कर वध्य [वध-योग्य] प्राणी प्राणों को शीघ्र हीं छोड़ देते हैं, मर जाते हैं । देखो, देखो,—

अन्वय:——दीर्घगोमायवः, प्रतिवृत्तम्, अर्धम् कलेवरम्, कर्षन्ति, शूललग्नम्, अर्धम्, अपि, अट्टाहासस्य, वेशः, इव [दृश्यते] ।।३५।।

शब्दार्थ—दीर्घगोमायवः=ऊपर उठाये लम्बे शरीर वाले सियार, प्रतिवृत्तम्=शूल से नीचे लटकने वाले, अर्धम्=आधे, कलेवरम्=शरीर, लाश को, कर्षन्ति=खींचते हैं, (खींच कर खाते हैं ।) शूललग्नम्=शूल में लटकता हुआ, **अर्धम्**=

चारुदत्तः—हा ! हतोऽस्मि मन्दभाग्यः। (इति सावेगमुपविशति।)

शकारः—ण दाव गमिश्शं, चालुदत्ताकं वावादअन्तं दाव पेक्खामि। (परिक्रम्य दृष्ट्वा) कधं उपविट्ठे ? (न तावद् गमिष्यामि, चारुदत्तं व्यापाद्यमानं तावत् प्रेक्षे।) (कथमुपविष्टः ?)

चाण्डालः—चालुदत्ता ! किं भीदेशि ? (चारुदत्त ! किं भीतोऽसि ?)

चारुदत्तः—(सहसोत्थाय) मूर्ख ! ('न भीतो मरणादस्मि केवलं दूषितं यशः।' १०।२७ इत्यादि पुनः पठति।)

चाण्डालः—अज्ज चालुदत्त ! गअणदले पडिवशन्ता चन्दशुज्जा वि विपत्तिं लहन्ति, किं उण जणा मलणभीलुआ माणवा वा। लोए कोवि उट्ठिदो पडदि, को वि पडिदो उट्ठेदि। (आर्य चारुदत्त ! गगनतले प्रतिवसन्तौ चन्द्रसूर्यावपि विपत्तिं लभेते; किं पुनर्जना मरणभीरुका मानवा वा। लोके

आधा, अपि=भी, अट्टहासस्य=खूब तेज हँसी के, वेशः=आधार-स्थान, इव=के समान, [दृश्यते=दिखाई पड़ रहा है] ॥३५॥

अर्थ—ऊपर उठाये लम्बे शरीरवाले सियार शूल से नीचे लटकने वाले आधे शरीर (मृतदेह) को खींच रहे हैं [खींच कर खा रहे हैं] शूल में आधा लटकता हुआ शरीर [मृत देह] भी अट्टहास के आधार-स्थान के समान [सफेद] दिखाई दे रहा है ॥३५॥

टीका—श्मशानस्य भीषणत्वं दर्शयन्नाह-अर्द्धमिति। दीर्घाः=लम्बमानावयवाः उन्नतावयवा वा, ये गोमायवः=शृगालाः, प्रतिवृत्तम्=शूलाद् अधो लम्बमानम्, कलेवरम्=मृतदेहम्, कर्षन्ति=आकृष्य भक्षयन्तीत्यर्थः, शूले लग्नम्=संसक्तम्, अर्द्धम्=अपरभागः, अपि ,अट्टहासस्य=अत्युच्चहासस्य, वेशः=आधारस्थानम्, विशति अस्मिन् इत्यधिकरणे घञ्, इव=तुल्यः, आर्या वृत्तम् ॥३५॥

अर्थ—चारुदत्त—हाय ! अभागा मैं मारा गया। (यह कर आवेग के साथ बैठ जाता है।)

शकार—अभी नहीं जाऊँगा। मारे जाते हुये चारुदत्त को देखूंगा। (घूम कर देखकर) क्या [चारुदत्त] बैठ गया ?

चाण्डाल—चारुदत्त ! क्या डर गये हो ?

चारुदत्त—(अचानक उठकर) मूर्ख ! ("मैं मृत्यु से नहीं डरता हूँ केवल यश दूषित हुआ है।" इत्यादि १०/२७ वां श्लोक फिर पढ़ता है।)

चाण्डाल—आर्य चारुदत्त ! आकाश में रहने वाले सूर्य और चन्द्रमा भी विपत्ति प्राप्त करते हैं फिर मृत्यु से डरने वाले मनुष्यों की क्या बात है ? संसार

कोऽपि उत्थितः पतति, कोऽपि पतित उत्तिष्ठति ।)

उट्ठन्तपडन्ताह वशणपाड़िआ शवश्श उण अत्थि ।
एदाइं हिअए कदुअ सन्धालेहि अत्ताणअं ॥ ३६ ॥
(उत्तिष्ठत्पततो वसनपातिका शवस्य पुनरस्ति ।
एतानि हृदये कृत्वा सन्धारयात्मानम् ॥ ३६ ॥)

में कोई उठा हुआ गिरता है कोई गिरा हुआ उठता है ।

अन्वयः—उत्तिष्ठत्पततः, शवस्य, पुनः, वसनपातिका, अस्ति, एतानि, हृदये, कृत्वा, आत्मानम्, सन्धारय ॥३६॥

शब्दार्थ—उत्तिष्ठत्पततः=कभी ऊपर उठने वाले कभी नीचे जाने वाले, शवस्य=मृत देह, लाश की, पुनः=फिर, वसनपातिका=वस्त्र के समान पतन-क्रिया, अस्ति=होती है [अथवा जीवन और मृत्यु होती है ।] एतानि=ये बातें, हृदये=हृदय में, निधाय=रखकर, आत्मानम्=अपने को, सन्धारय=सन्तुलित रखो, ढांढ़स दो ॥३६॥

अर्थ—कभी ऊपर जाने वाले और कभी नीचे जाने वाले मृतदेह की फिर से वस्त्र के समान क्रिया होती है अथवा जीवन-मरण होते हैं । इन बातों को हृदय में सोंच कर अपने को ढाढ़स दो, धैर्य धारण करो ॥३६॥

टीका—जीवनमरणचक्रं सर्वदैव चलतीति ज्ञात्वा मृत्योर्न भेतव्यमिति चारुदत्त सान्त्वयितुमाह—उत्तिष्ठदिति । उत्तिष्ठत्पततः=कदाचित् उद्गच्छतः कदाचिच्च अधो गच्छतः, शवस्य=मृतदेहस्य, अपि, पुनः वसनपातिका वसनम्=अवस्थानम्, जीवनमित्यर्थः, पातिका=पतनम्, यद्वा वसनस्य=वस्त्रस्य इव पात-क्रिया=परित्यागः, 'वासांसि जीर्णानि विहाय देही' इत्यादि–गीतोक्तवचनमनुसृत्येदं बोध्यम्, यद्वा पताकादौ वस्त्रं कदाचित् ऊर्ध्वं प्रयाति कदाचिच्चाधः, तद्वदेव जीवनमपि भवतीति भावः । एतानि=पूर्वोक्तानि तथ्यानि, हृदये=चित्ते, कृत्वा=विचार्य, आत्मानम्=स्वम्, सन्धारय=संस्थापय । मृत्युभयं परित्यज्य यथानिर्दिष्टं परिपालयेति बोध्यम् । आर्या वृत्तम् ॥ ३६ ॥

विमर्शः—उत्तिष्ठत्पततः—इसके साधुत्व की उपपत्ति के सम्बन्ध में तत्त्व-बोधिनी व्याख्याकार का कथन द्रष्टव्य है—

"उत्तिष्ठंश्च पतंश्चेति तयोः समाहारे एकत्वे क्लीबत्वे च प्राप्ते, 'उत्तिष्ठत्पतत' इति क्लीबैकवचनान्तं पदं सिद्धम् । ततश्च 'द्वन्द्वश्च प्राणितूर्ये' ति प्रकरणबहिर्भूतानामपि समाहारद्वन्द्वो भवत्येव, तेन सर्वो द्वन्द्वो विभाषैकवद् भवतीति ।"

वसनपातिका—वसनम्=अवस्थान=जीवन और पतन । पत् धातु से भाव

(द्वितीयचाण्डालं प्रति) **एदं चउट्ठं घोशणट्ठाणं। ता उग्घोशम्ह।** (एतत् चतुर्थं घोषणास्थानम्। तदुद्घोषयावः।)

(पुनस्तथैव उद्घोषयतः।)

चारुदत्तः— **हा प्रिये वसन्तसेने!** ('शशिविमलमयूख' इत्यादि १०।१३ पुनः पठति।)

(ततः प्रविशति ससम्भ्रमा वसन्तसेना भिक्षुश्च।)

भिक्षुः—**हीमाणहे! अट्ठाणपलिश्शन्तं शमश्शाशिअ वशन्तशेणिअं णअन्ते अणुग्गहिदम्हि पव्वज्जाए। उवाशिके! कहिं तुमं णइश्शं?** (हन्त! अस्थानपरिश्रान्तां समाश्वास्य वसन्तसेनां नयन् अनुगृहीतोऽस्मि प्रव्रज्यया। उपासिके! कुत्र त्वां नेष्यामि?)

वसन्तसेना—**अज्जचारुदत्तस्स ज्जेव गेहं। तस्स दस्णेण मिअलांछणस्स विअ कुमुदिणिं आणंदेहि मं।** (आर्यचारुदत्तस्यैव गेहम्। तस्य दर्शनेन मृगलाञ्छनस्येव कुमुदिनीमानन्दय माम्।)

भिक्षुः—(स्वगतम्) **कदलेण मग्गेण पविशामि?** (विचिन्त्य)

अर्थ में घञ् करके 'पात' बनाकर पुनः स्वार्थ में 'क' प्रत्यय और टाप प्रत्यय आदि जोड़कर बनता है।

वसनस्येव पातिका—पताकादि के वस्त्र के समान पतनक्रिया। जैसे पताका का कपड़ा ऊपर और नीचे उड़ता रहता है वैसे ही जीवन-मृत्यु का चक्र चलता रहता है॥ ३६॥

अर्थ—(दूसरे चाण्डाल से) यह चौथा घोषणा-स्थान है। अतः अब घोषणा करें।

(फिर उसी प्रकार घोषणा करते हैं।)

चारुदत्त—हाय प्रिये वसन्तसेने! ("चन्द्रमा की उज्वल किरणों के समान दाँतोंवाली!" इत्यादि १०।१३ पद्य को फिर पढ़ता है।)

(इसके बाद घबड़ाई हुई वसन्तसेना और भिक्षु प्रवेश करते हैं।)

भिक्षु—अनुचितरूप से [या अनुचित स्थान में] थकी हुयी वसन्तसेना को समाश्वस्त करके ले जाते हुये मैं इस संन्यास द्वारा अनुगृहीत हुआ हूँ। उपासिके! तुम्हें कहाँ ले चलूँ?

वसन्तसेना—आर्य चारुदत्त के ही घर [ले चलो], उन्हीं के दर्शन से, चद्रमा के दर्शन से कुमुदिनी के समान, मुझे आनन्दित करो।

भिक्षु—(अपने आप में) किस रास्ते से प्रवेश करू, चलूँ? (सोच कर)

लाअमग्गेण ज्जेव पविशामि । उवाशिके ! एहि, इमं लाअमग्गं; (आकर्ण्य) किं णु हु एशे लाअमग्गे महंते कलअले शुणीअदि ? (कतरेण मार्गेण प्रविशामि ? राजमार्गेणैव प्रविशामि । उपासिके ! एहि, अयं राजमार्गः ।) (किं नु खल्वेष राजमार्गे महान् कलकलः श्रूयते ?)

वसन्तसेना—(अग्रतो निरूप्य) कधं पुरदो महाजणसमूहो ? अज्ज ! जाणाहि दाव किं ण्णेदं त्ति । विसमभरक्कंत्ता विअ वसुन्धरा एअबासोण्णदा उज्जइणी वट्टदि । (कथं पुरतो महाजनसमूहः ? आर्य ! जानीहि तावत्किन्विदमिति । विषमभराक्रान्तेव वसुन्धरा एकवासोन्नतोज्जयिनी वर्तते ।)

चाण्डालः—इमं अ पच्छिमं घोशणट्ठाणं, ता तालेध डिंडिमं उग्घोशेध घोशणं । (तथा कृत्वा) भो चालुदत्त ! पडिवालेहि । मा भाआहि, लहुं ज्जेव मालीअशि ! (इदं च पश्चिमं घोषणास्थानम्, तत्ताडयत डिण्डिमम् । उद्घोषयत घोषणाम् ।) (भोश्चारुदत्त ! प्रतिपालय । मा भैषीः, शीघ्रमेव मार्यसे ।)

चारुदत्तः—भगवत्यो देवताः ! ।

भिक्षुः—(श्रुत्वा, ससंभ्रमम्) उवासिके ! तुमं किल चालुदत्तेण मालिदाशि त्ति चालुदत्तो मालिदुं णीअदि । (उपाशिके ! त्वं किल चारुदत्तेन मारितासीति चारुदत्तो मारयितुं नीयते ।)

वसन्तसेना—(ससंभ्रमम्) हद्धी हद्धी, कधं मम मंदभाइणीए किदे अज्जचालुदत्तो वावादीअदि ? भो ! तुरिदं तुरिदं आदेसेहि मग्गं । (हा धिक्

राजमार्ग से ही चलता हूँ । उपासिका जी ! आइये, यह राजमार्ग है । (सुनकर) राजमार्ग पर महान् कलकलध्वनि क्यों सुनाई पड़ रही है ?

वसन्तसेना—(आगे देख कर) आगे लोगों की भारी भीड़ किस लिये है ? आर्य ! जानते हो यह क्या है ? एक ओर बोझ से दबी हुई पृथिवी के समान उज्जयिनी नगरी एक स्थान पर एकत्रित [उमड़ी हुई] हो रही है ।

चाण्डाल—यह अन्तिम घोषणास्थान है, अतः नगाड़ा पीटो, घोषणा घोषित करो, (नगाड़ा पीट कर घोषणा कर के) हे चारुदत्त ! प्रतीक्षा करो । मत डरो, जल्दी ही मार डाले जाओगे ।

चारुदत्त—भगवती देवियों ! ।

भिक्षु—(सुन कर घबड़ाहट के साथ) उपासिके ! 'तुम्हें चारुदत्त ने मारा है', अतः चारुदत्त को (वध के स्थान पर) मारने के लिये ले जाया जा रहा है ।

वसन्तसेना—(घबड़ाहट के साथ) हाय मुझे धिक्कार है, धिक्कार है । मुझ

हा धिक्, कथं मम मन्दभागिन्याः कृते आर्य-चारुदत्तो व्यापाद्यते ? भोः ! त्वरितं त्वरितमादिश मार्गम् ।)

भिक्षुः—तुवलदु तुवलदु बुद्धोवाशिआ अज्जचालुदत्तं जीअंतं शमश्शाशिदुं । अज्जा ! अंतलं अंतलं देध । (त्वरतां त्वरतां बुद्धोपासिकाऽऽर्य-चारुदत्तं जीवन्तं समाश्वासयितुम् । आर्याः ! अन्तरमन्तरं दत्त ।)

वसन्तसेना—अंतलं अंतलं । (अन्तरमन्तरम् ।)

चाण्डालः—अज्जचालुदत्त ! शामिणिओओ अवलज्झादि । ता शुमलेहि जं शुमलिदव्वं । (आर्यचारुदत्त ! स्वामिनियोगोऽपराध्यति । तत्स्मर यत्स्मर्तव्यम ।)

चारुदत्तः—किं बहुना । ('प्रभवति–' इत्यादि १०।३४ श्लोकं पठति ।)

चाण्डालः—(खडगमाकृष्य) अज्जचालुदत्तं ! उत्ताणे भविअ समं चिट्ठ । एक्कप्पहालेण मालिअ तुमं शग्गं णेम्ह । (आर्यचारुदत्त ! उत्तानो भूत्वा समं तिष्ठ । एकप्रहारेण मारयित्वा त्वां स्वर्गं नयावः ।)

(चारुदत्तस्तथा तिष्ठति ।)

चाण्डालः—(प्रहर्तुमीहते, खड्गपतनं हस्तादभिनयन्) ही, कधं (ही, कथम्)

आअट्ठिदे शलोशं मुट्ठीए मुट्टिणा गहीदे वि ।
धलणीए कीश पडिदे दालुणके अशणिशण्णिहे खग्गे ।। ३७ ।।

अभागिनी के कारण आर्य चारुदत्त का वध किया जा रहा है । अरे सज्जनों ! जल्दी जल्दी रास्ता बताइये ।

भिक्षु—बुद्धोपासिका ! आर्य चारुदत्त को जीवितरूप में समाश्वस्त करने के लिये जल्दी कीजिये, जल्दी कीजिये । सज्जनों ! रास्ता दीजिये, रास्ता दीजिये ।

वसन्तसेना—रास्ता रास्ता (दीजिये) ।

चाण्डाल—आर्य चारुदत्त ! राजा की आज्ञा अपराधी है । अतः जिसको याद करना है याद कर डालो ।

चारुदत्त—अधिक क्या ? ("यदि किसी प्रकार मेरा धर्म प्रभाववाला हो जाता है"—इत्यादि १०।३४ पद्य को पढ़ता है ।)

चाण्डाल—(तलवार खींच कर) आर्य चारुदत्त ! ऊपर की ओर होकर सीधे खड़े हो जाओ । एक ही प्रहार से मार कर तुम्हें स्वर्ग ले जाते हैं ।

(चारुदत्त उसी प्रकार खड़ा हो जाता है ।)

अन्वयः—मुष्टौ, मुष्टिना, गृहीतः, अपि, सरोषम्, आकृष्टः, अशनिसन्निभः, दारुणः, खड्गः, धरण्याम्, किमर्थम्, पतितः ।। ३७ ।।

(आकृष्टः सरोष मुष्टौ मुष्टिना गृहीतोऽपि।
धरण्यां किमर्थं पतितो दारुणकोऽशनिसंनिभः खड्गः ॥ ३७॥)

जधा एदं शंवुत्तं, तधा तक्केमि ण विवज्जदि अज्जचालुदत्ते त्ति। भअवदि शज्झवाशिणि ! पशीद पशीद । अबि णाम चालुदत्तश्श मोक्खे भवे, तदो अणुगहीदं तुए चाण्डालउलं भवे ।

(यथैतत्संवृत्तम्, तथा तर्कयामि न विपद्यत आर्यचारुदत्त इति। भगवति सह्यवासिनि ! प्रसीद प्रसीद। अपि नाम चारुदत्तस्य मोक्षो भवेत्, तदानुगृहीतं त्वया चाण्डालकुलं भवेत् ।)

अपरः—जधाणत्तं अणुचिट्ठम्ह । (यथाज्ञप्तमनुतिष्ठावः ।)

शब्दार्थ—मुष्टौ=मूठ पर, मुष्टिना=मुट्ठी से, गृहीतः=[कस कर] पकड़ी गयी, अपि=भी, सरोषम्=क्रोधपूर्वक खींची गयी, अशनिसन्निभः=वज्र के समान, दारुणः=भयंकर, खड्गः=तलवार, धरण्याम्=जमीन में, किमर्थम्=किस लिये, पतितः=गिर गयी ? ॥ ३७ ॥

अर्थ—चाण्डाल—(प्रहार करना चाहता है, हाथ से तलवार गिरने का अभिनय करता हुआ)

मूठ में मुट्ठी से [अच्छी तरह] पकड़ी गयी, क्रोध से खींची गयी, वज्र के तुल्य भयकर तलवार जमीन पर किसलिये गिर गयी ? ॥ ३७ ॥

टीका—हस्तात् खड्गपतनं विलोक्य वध्यस्य शुभं विचार्य प्रसन्नतामनुभवन् आश्चर्यं व्यनक्ति—आकृष्ट इति। मुष्टौ=खड्गमुष्टौ, मूलदेशे इति भावः, मुष्टिना=चाण्डालस्य बद्धहस्तेन, गृहीतः=धृतः, अपि, अशनिसन्निभः=वज्रतुल्यः, दारुणः=भयंकरः, खड्गः=असिः, धरण्याम्=पृथिव्याम्, किमर्थम्=केन कारणेन, पतितः=निपतितः, सावधानतया धृतोऽपि खड्गो मम हस्ताद् भूमौ निपतित इति महदाश्चर्यकरमिति भावः। एतेन चारुदत्तस्य वधो न भविष्यतीति सूचितम्। गीतिर्वृत्तम् ॥३७॥

अर्थ—जिस प्रकार यह हो गया है उससे यह सोचता हूँ कि आर्य चारुदत्त नहीं मरेगा। भगवती सह्यवासिनी ! प्रसन्न हो जाओ, प्रसन्न हो जाओ। यदि चारुदत्त की मुक्ति हो जाय [मृत्यु दण्ड न दिया जाय] तब तुम चाण्डालकुल को अनुगृहीत करोगी।

दूसरा चाण्डाल—हम दोनों राजा की आज्ञा का पालन करें।

प्रथमः---भोदु, एव्वं कलेम्ह । (भवतु, एवं कुर्वः ।)

(इत्युभौ चारुदत्तं शूले समारोपयितुमिच्छतः ।)

(चारुदत्तः 'प्रभवति–' १०।३४ इत्यादि पुनः पठति ।)

भिक्षुर्वसन्तसेना च---(दृष्ट्वा) अज्जा ! मा दाव मा दाव । अज्जा ! एसा अहं मंदभाइणी, जाए कारणादो एसो वावादीअदि । (आर्याः ! मा तावन्मा तावत् । आर्याः ! एषाहं मन्दभागिनी यस्याः कारणादेष व्यापाद्यते ।)

चाण्डालः--(दृष्ट्वा)

का उण तुलिदं एशा अंशपडंतेण चिउलभालेण ।
मा मेत्ति वाहलंतो उट्ठिदहत्था इदो एदि ॥ ३८ ॥

(का पुनस्त्वरितमेषांऽसपतता चिकुरभारेण ।
मा मेति व्याहरन्त्युत्थितहस्तेत एति ॥ ३८ ॥)

पहला चाण्डाल---अच्छा, ऐसा ही करते हैं ।

(यह कह कर दोनों चारुदत्त को शूल पर चढ़ाना चाहते हैं ।)

(चारुदत्त—"यदि मेरा धर्म प्रभावशाली होता है"—१०/३४ पद्य फिर पढ़ता है ।)

भिक्षु और वसन्तसेना (देखकर) महानुभावो ! ऐसा मत करो, ऐसा मत करो । महानुभावों ! मैं ही वह अभागिनी हूँ जिसके कारण इनको मारा जा रहा है ।

अन्वयः - अंसपतिता, चिकुरभारेण, उत्थितहस्ता, मा, मा–इति व्याहरन्ती, एषा, का, पुनः, त्वरितम्, इतः, एति ॥३८॥

शब्दार्थः—अंसपतिता=कन्धे पर गिरे हुये, चिकुरभारेण=केशकलाप से उपलक्षित, उत्थितहस्ता=उठाये हुये हाँथोंवाली, मा मा इति=ऐसा नहीं, ऐसा नहीं (करो) इस प्रकार, व्याहरन्ती=चिल्लाती हुई, एषा=यह, का पुनः= कौन सी स्त्री, त्वरितम्=अति शीघ्र, इतः=इधर, एति=आ रही है ? ॥३८॥

अर्थ---**चाण्डाल**--(देखकर)

कंधों पर गिरने वाले केशकलाप से युक्त, हाथ ऊपर उठाये हुये 'ऐसा नहीं, ऐसा नहीं' (करो) यह कहती हुई कौन सी स्त्री इधर ही जल्दी-जल्दी आ रही है ? ॥३८॥

टीका---ससम्भ्रममागच्छन्तीं वसन्तसेनां दृष्ट्वा चाण्डालस्तर्कयति—केति । अंसयोः=स्कन्धयोः, पतता=पतनशीलेन, चिकुरभारेण=शिरस्थकेशकलापेन उपलक्षिता सती, उत्थितौ=उद्गतौ हस्तौ=करौ यस्यास्तादृशी, मा मा=नहि नहि,

वसन्तसेना—अज्जचालुदत्त ! किं ण्णेदं ? (आर्य चारुदत्त ! किं न्विदम् ?)

(इत्युरसि पतति ।)

भिक्षुः—अज्जचालुदत्त ! किं ण्णेदं ? (आर्य चारुदत्त ! किं न्विदम् ?)

(इति पादयोः पतति ।)

चाण्डालः—(सभयमुपसृत्य) कधं वशंतशेणा ? णं खु अम्हेहिं शाहु ण वावादिदे । (कथं वसन्तसेना ? ननु खल्वस्माभिः साधुर्न व्यापादितः ।)

भिक्षुः—(उत्थाय) अले, जीवदि चालुदत्ते ? (अरे, जीवति चारुदत्तः ?)

चाण्डालः—जीवदि वश्शशदं । (जीवति वर्षशतम् ।)

वसन्तसेना—(सहर्षम्) पच्चुज्जीविदम्हि । (प्रत्युज्जीवितास्मि ।)

चाण्डालः—ता जाव एदं वुत्तं लाइणो जण्णवाडगदश्श णिवेदेम्ह । (तद्यावदेतत् वृत्तं राज्ञो यज्ञवाटगतस्य निवेदयावः ।)

(इति निष्क्रामतः ।)

शकारः—(वसन्तसेनां दृष्ट्वा, सत्रासम्) हीमादिके, केण गब्भदाशी जीवाविदा ? उक्कंताइ मे पाणाइं । भोदु, पलाइश्शं । (आश्चर्यम्, केन गर्भदासी जीवनं प्रापिता ? उत्क्रान्ता मे प्राणाः । भवतु, पलायिष्ये ।)

(इति पलायते ।)

इदं कुर्विति शेषः, इति=इत्थम्, व्याहरन्ती=आलपन्ती, एषा=पुरो दृश्यमाना, का पुन=का स्त्री, त्वरितम्=अतिशीघ्रम्, इतः=अस्यां दिशि, एति=आगच्छतीत्यर्थः। आर्या वृत्तम् ॥३८॥

अर्थ—**वसन्तसेना**—आर्य चारुदत्त ! यह क्या है ? (ऐसा कहती हुई उसके उरस्थल पर गिर जाती है ।)

भिक्षु—आर्य चारुदत्त ! यह क्या है ? (यह कर कर पैरों पर गिर जाता है ।)

चाण्डाल—(भयसहित पास आकर) क्या वसन्तसेना ? बहुत अच्छा हुआ जो हम लोगों ने इस सज्जन का वध नहीं कर दिया ।

भिक्षु—(उठकर) अरे, चारुदत्त जीवित हैं ।

चाण्डाल—सौ वर्षों तक जीवित रहें ।

वसन्तसेना—(हर्षपूर्वक) मैं पुनर्जीवित हो गयी हूँ ।

चाण्डाल—तब तो यह वृत्तान्त यज्ञशाला में गये राजा को सूचित कर दें ।

(यह कह कर दोनों निकल जाते हैं ।)

शकार—(वसन्तसेना को देखकर भयसहित) हाय, किसने यह गर्भदासी जिन्दा कर दी ? मेरे प्राण निकल गये । अच्छा, भाग चलूं ।

(यह कह कर भागता है ।)

चाण्डालः——(उपसृत्य) अले, णं अम्हाणं ईदिशी लाआणत्ती——जेण शा वावादिदा, त मालेध त्ति । ता लट्टिअशालअं ज्जेव अण्णेशम्ह ।

(अरे, नन्वावयोरीदृशी राजाज्ञप्तिः – येन सा व्यापादिता, तं मारयतमिति । तद्राष्ट्रियश्यालमेवान्विष्यावः ।)

(इति निष्क्रान्तौ ।)

चारुदत्तः——(सविस्मयम्)

> केयमभ्युद्यते शस्त्रे मृत्युवक्त्रगते मयि ।
> अनावृष्टिहते सस्ये द्रोणवृष्टिरिवागता ॥ ३९ ॥

(अवलोक्य च)

> वसन्तसेना किमियं द्वितीया समागता सैव दिवः किमित्थम् ।
> भ्रान्तं मनः पश्यति वा ममैनां वसन्तसेना न मृताऽथ सैव ॥ ४० ॥

चाण्डाल——(पास जाकर) अरे ! हम लोगों को राजा की ऐसी आज्ञा है 'जिसने उस (वसन्तसेना) को मारा है, उसे मार डालो ।' इस लिये अब राजा के शाले को ही खोजें ।

(यह कह कर दोनों निकल जाते हैं ।)

अन्वय.——अनावृष्टिहते, सस्ये, द्रोणवृष्टिः, इव, शस्त्रे, अभ्युद्यते, मृत्युवक्त्रगते, मयि, आगता, इयम्, का ? ॥३९॥

शब्दार्थ——अनावृष्टिहते=सूखा पड़ने से नष्ट हो रहे, सस्ये=हरे धान्य में, द्रोणवृष्टिः=द्रोणनामक मेघ की वर्षा, इव=के समान, शस्त्रे=शस्त्र [तलवार आदि] के, अभ्युद्यते=उठा लिये जाने पर, मृत्युवक्त्रगते=मौत के मुंह में चले गये, मयि=मेरे लिये, आगता=आयी हुई, इयम्=यह स्त्री, का=कौन है ? ॥३९॥

अर्थ——**चारुदत्त**——(आश्चर्यसहित)

सूखा पड़ने से हरे धान्य के सूखने पर [अभीष्ट वर्षा करने वाले] द्रोण नामक मेघ की वर्षा के समान, शस्त्र उठा लिये जाने पर मौत के मुख में मेरे पहुँच जाने पर आयी हुई यह स्त्री कौन है ? ॥ ३९ ॥

टीका——मृत्युमुखगतमात्मानं रक्षितुं समागतां तां द्रोणवृष्टिमिव चिन्तयन्नाह – केयमिति । अनावृष्ट्या=अवर्षणेन, हते=नश्यमाने, शुष्कप्राये, शस्ये=हरितधान्ये, द्रोणः=सस्यप्रप्ररको मेघविशेषः, तस्य वृष्टिः=अपेक्षितवर्षा, इव=यथा, शस्त्रे=वधसाधने=खड्गादौ, अभ्युद्यते=मामभिलक्ष्य उत्थापिते सति, मृत्योः=कालस्य, वक्त्रम्=मुखम्, गते=आपन्ने, मयि=चारुदत्ते, आगता=मम रक्षणार्थं समागता, इयम्=पुरो वर्तमाना स्त्री, का=किन्नामधेया। अत्रोपमालंकारः, पथ्यावक्त्रं वृत्तम् ॥३९॥

अन्वयः——इयम्, वसन्तसेना, किम् (अथवा) द्वितीया, किम्वा, इत्थम्, दिवः,

अथवा---

> किं नु स्वर्गात्पुनः प्राप्ता मम जीवातुकाम्यया ।
> तस्याः रूपानुरूपेण किमुतान्येयमागता ॥ ४१ ॥

समागता ? वा, मम, भ्रान्तम्, मनः, एनाम्, पश्यति, अथ, वसन्तसेना न, मृता, सा, एव, [इयम्] ॥ ४० ॥

शब्दार्थ---इयम्=यह सामने खड़ी, वसन्तसेना=वसन्तसेना, है, किम्=क्या ? (अथवा) द्वितीया=दूसरी कोई है ? किम्वा=अथवा क्या, इत्थम्=इस प्रकार, दिवः=स्वर्ग से, समागता=आयी है, वा=अथवा, भ्रान्तम्=भ्रम में पड़ा हुआ, मम=मेरा, चारुदत्त का, मनः=मन, एनाम्=इसे वसन्तसेना को, पश्यति=देख रहा है ? अथ=अथवा, वसन्तसेना=वसन्तसेना, न=नहीं, मृता=मरी है, सा=वह, एव=ही, [इयम्=यह, है ।] ॥४०॥

(और देखकर)

अर्थ---यह क्या वसन्तसेना है, अथवा कोई दूसरी स्त्री है ? क्या वही इस प्रकार [मुझे बचाने के लिये] स्वर्ग से आयी ? अथवा भ्रम में पड़ा हुआ मेरा मन उसे [वसन्तसेना को] देख रहा है ? अथवा वसन्तसेना नहीं मरी है, यह वहीहै ॥४०॥

टीका---मूर्तिमतीं पुरोवर्तमानां स्त्रियमवलोक्य चारुदत्तस्तद्विषये वितर्कते-वसन्तसेनेति । इयम्=पुरो दृश्यमाना, वसन्तसेना=मम प्रेयसी, किम् ? अथवा, द्वितीया=अपरा, वसन्तसेनाभिन्ना काचन स्त्री ? किम्वा, सैव=मत्प्रेयसी वसन्तसेना एव, इत्थम्=एवं प्रकारेण, मरणानन्तरमपि मम रक्षणार्थमिति भावः, दिवः=स्वर्गात्, समागता=अत्रोपस्थिता किम् ? वा=अथवा, भ्रान्तम्=भ्रमपतितम्, मे=चारुदत्तस्य, मनः=चित्तम्, एनाम्=पुरोवर्तिनीम् स्त्रियम्, वसन्तसेनातः भिन्नामपि तद्रूपेण, पश्यति=अवलोकयति किम् ? अथ=अथवा, वसन्तसेना=मम प्रेयसी वसन्तसेना, न=नैव, मृता, सा=पूर्वानुभूता, एव, इयं स्त्रीति बोध्यम् । एवञ्चैकस्यामेव विविध-सन्देहसत्त्वात् सन्देहालंकारः, स च निश्चयान्त इति । उपजातिर्वृत्तम् ॥४०॥

अन्वयः---मम, जीवातुकाम्यया, स्वर्गात्, पुनः, प्राप्ता, किम्, नु ? उत, तस्याः, रूपानुरूपेण, इयम्, अन्या, आगता, किम् ? ॥ ४१ ॥

शब्दार्थ---मम=मुझ (चारुदत्त) को, जीवातुकाम्यया=जिन्दा कराने की इच्छा से, स्वर्गात्=स्वर्ग से, पुनः=फिर, प्राप्ता=(यहाँ) आई हुई है, किम् नु=क्या ? अन्या=अथवा, तस्याः=उसके, रूपानुरूपेण=रूप के समान रूप से, इयम्,=यह, अन्या=दूसरी, आगता=आई है, किम=क्या ? ॥ ४१ ॥

अर्थ---अथवा---

मुझे जिन्दा कराने की इच्छा से यह स्वर्ग से फिर (वापस) आ गयी है

वसन्तसेना—(सास्रमुत्थाय, पादयोर्निपत्य) **अज्ज चालुदत्त ! सा ज्जेव्व अहं पावा, जाए कारणादो इअ तुए असरिसी अवत्था पाविदा।** (आर्य-चारुदत्त ! सैवाहं पापा, यस्याः कारणादियं त्वयाऽसदृश्यवस्था प्राप्ता ।)

(नेपथ्ये)

अच्चरिअं, अच्चरिअं, जीवदि वसन्तशेणा। (आश्चर्यमाश्चर्यम्, जीवति वसन्तसेना ।) (इति सर्वे पठन्ति ।)

चारुदत्तः—(आकर्ण्य सहसोत्थाय स्पर्शसुखमभिनीय निमीलिताक्ष एव हर्षगद्गदाक्षरम्) **प्रिये ! वसन्तसेना त्वम् ?**

वसन्तसेना—**सा ज्जेवाहं मंदभाआ।** (सैवाहं मन्दभाग्या ।)

चारुदत्तः—(निरूप्य सहर्षम्) **कथं वसन्तसेनैव ?** (सानन्दम्)

कुतो वाष्पाम्बुधाराभिः स्नपयन्ती पयोधरौ ।
मयि मृत्युवशं प्राप्ते विद्येव समुपागता ॥ ४२ ॥

क्या ? अथवा उस (वसन्तसेना) के रूप के समान रूप से यह कोई दूसरी स्त्री आई है क्या ? ॥ ४१ ॥

टीका—पूर्वश्लोकोक्तमेवार्थं भङ्ग्यन्तरेण प्रतिपादयति—किमिति । मम=स्वप्रियस्य चारुदत्तस्य. जीवातोः=जीवनस्य, काम्या=इच्छा तया, मम जीवनरक्षणेच्छया, स्वर्गात्=सुरपुरात्, पुनः=द्वितीयवारम्, प्राप्ता=भूमौ समागता, किं नु ? न्विति वितर्के, उत=अथवा, तस्याः=वसन्तसेनायाः, रूपस्य=अवयवसंस्थानस्य, अनुरूपेण साम्येन, तदाकृतितुल्याकृत्येत्यर्थः, इयम्=पुरोवर्तमाना, अन्या=वसन्तसेनातः भिन्ना, आगता=समागता, किम् ? अत्र सन्देहालंकारः, पथ्यावक्त्रं वृत्तम् ॥ ४१ ॥

अर्थ—**वसन्तसेना**—(आंसुओं सहित उठकर चारुदत्त के पैरों पर गिर) आर्य चारुदत्त ! मैं ही वह अभागिनी हूँ जिसके कारण आपको यह अनुचित दशा [मृत्युदण्ड] प्राप्त हुई ।

(नेपथ्य में)

आश्चर्य है, आश्चर्य, वसन्तसेना जीवित है । (ऐसा सभी लोग बोलते हैं ।)

चारुदत्त—(सुनकर अचानक उठकर स्पर्श सुख का अभिनय करके आँखे बन्द किये हुये ही हर्ष से गद्‌गद वाणी में) प्रिये ! वसन्तसेना तुम ?

वसन्तसेना—हाँ, मैं ही वह अभागिनी हूँ ।

अन्वयः—मयि, मृत्युवशम्, प्राप्ते, वाष्पाम्बुधाराभिः, पयोधरौ, स्नपयन्ती, [त्वम्], विद्या, इव, कुतः समागता ? ॥ ४२ ॥

शब्दार्थ—मयि=मेरे, मृत्युवशम्=मौत के वश को, प्राप्ते=पा लेने पर, वाष्पा-

प्रिये वसन्तसेने !

त्वदर्थमेतद्विनिपात्यमानं देहं त्वयैव प्रतिमोचितं मे।
अहो प्रभावः प्रियसंगमस्य मृतोऽपि को नाम पुनर्ध्रियेत ? ॥ ४३ ॥

म्बुधाराभिः,=आँसुओं की धाराओं से, पयोधरौ=स्तनों को, स्नपयन्ती=नहलाती हुई, [त्वम्=तुम], विद्या=विद्या, इव=के समान, कुतः=कैसे या कहाँ से, समागता=आ गयी हो ? ॥ ४२ ॥

अर्थ चारुदत्त—(देखकर, हर्षसहित) क्या वसन्तसेना ही हो ? (आनन्दपूर्वक) मेरे मौत के मुंह में चले जाने पर आँसुओं की धाराओं से स्तनों को नहलाती हुई तुम [भूली हुई या सञ्जीवनी] विद्या के समान कहाँ से आ गयी हो ? ॥४२॥

टीका—स्वप्रेयसीं वसन्तसेना जीवन्तीं विलोक्य हर्षं प्रकटयन्नाह—कुत इति। मयि=चारुदत्ते इत्यर्थः, मृत्युवशम्=मरणाधीनताम्, गते=प्राप्ते सति, वाष्पाम्बुधाराभिः=मद्दुःखद्रवितचेतसा विनिःसृताश्रुसमूहैः, पयोधरौ=स्तनौ, स्नपयन्ती=अभिषिञ्चन्ती, त्वम्, विद्या=मूर्तिमती सञ्जीवनी विद्या, इव=यथा, कुतः=कस्मात् स्थानात्, समागता=इहागता। यथा खलु कस्यचिज्जीवनरक्षणार्थं सञ्जीवनी विद्या एव स्वयमुपस्थिता भूत्वा रक्षां करोति तथैव त्वमपि स्वतः उपस्थिता भूत्वा मम रक्षां करोषीति भावः। यद्वा विस्मृता काचिद् विद्या कदाचित् स्मृतिपथमागत्य कार्यं साधयति तथैव त्वमपि सहसोपसृत्य मम प्राणरक्षणमकार्षीरिति भावः। अत्रोपमालंकारः ॥ ४२ ॥

अन्वयः—त्वदर्थम्, विनिपात्यमानम्, मे, देहम्, त्वया, एव, प्रतिमोचितम्, प्रियसङ्गमस्य, अहो !, प्रभावः, कः, मृतः, नाम, पुनः ध्रियेत ॥ ४३ ॥

शब्दार्थ—त्वदर्थम्=तुम्हारे लिये या तुम्हारे कारण, विनिपात्यमानम्=विनष्ट किया जाता हुआ, मारा जाता हुआ, मे=मेरा, देह=शरीर, त्वया=तुमने, एव=ही प्रतिमोचितम्=बचा लिया, प्रियसङ्गमस्य=प्रियमिलन का, अहो=आश्चर्यजनक, प्रभावः=प्रभाव, फल, है, मृतः=मरा हुआ, अपि=भी, को नाम=कौन, पुनः=फिर, ध्रियेत=जीवित हो सकता है ! ॥ ४३ ॥

अर्थ—प्रिये वसन्तसेने !

तुम्हारे लिये या तुम्हारे कारण नष्ट किया जाता [मारा जाता] हुआ मेरा शरीर तुम्हारे द्वारा ही बचा लिया गया, प्रियमिलन का आश्चर्यजनक प्रभाव ही है। अन्यथा मरा हुआ भी कोई पुनः जिन्दा हो सकता है ॥ ४३ ॥

टीका—वसन्तसेना—निमित्ताद् मृत्युदण्डं प्राप्तः, पुनः तयैव प्रकटीभूय

अपि च, प्रिये ! पश्य,--

रक्तं तदेव वरवस्त्रमियं च माला
कान्तागमेन हि वरस्य यथा विभाति।
एते च वध्यपटहध्वनयस्तथैव
जाता विवाहपटहध्वनिभिः समानाः ॥ ४४ ॥

संरक्षित इति प्रियसङ्गमस्य प्रभावं प्रतिपादयति-त्वदर्थेति। त्वदर्थम्=त्वम्=वसन्तसेना एव अर्थः=निमित्तं यस्मिन् तद् यथा, क्रियाविशेषणम्, विनिपात्यमानम्=घातकैः त्वरितमेव विनाश्यमानम्, मे=मम, चारुदत्तस्येत्यर्थः, देहम्=शरीरम्, [कायदेहौ क्लीबपुंसावित्यमरानुरोधेन देहशब्दस्य क्लीबत्वं समीचीनं बोध्यम्।] त्वया=वसन्तसेनया, एव, प्रतिमोचितम्=रक्षितम्। तव कारणादेव मृत्युदण्डः निर्दिष्टः, तवोपस्थित्या एव च पुनर्जीवनमिति भावः। प्रियसंगमस्य=प्रियायाः समागमस्य, अहो=आश्चर्यकरः, प्रभावः=माहात्म्यम्, कः=को जनः, नाम=इदं सम्भावनायाम्, मृतः=गतप्राणः सन्नपि, पुनः=भूयः, ध्रियेत=जीवेत इति भावः। साम्प्रतं प्रियायाः संगमेनैव मम प्राणरक्षा कृतेति भावः। उपजातिवृत्तम् ॥४३॥

अन्वयः---कान्तागमेन, तदेव, रक्तम्, वरवस्त्रम्, इयम्, माला, च, वरस्य, यथा, हि, विभाति, तथैव, च, एते, वध्यपटहध्वनयः, विवाहपटहध्वनिभिः, समानाः, जाताः ॥ ४४ ॥

शब्दार्थः---कान्तागमेन=प्रेयसी वसन्तसेना के आ जाने से, तदेव=वही, रक्तम्=लाल, वरवस्त्रम्=श्रेष्ठ कपड़ा, च=और, इयम्=यह, माला=माला, वरस्य=दूल्हे के, यथा=समान, हि=निश्चितरूप से, विभाति=शोभित हो रही है, च=और, तथैव=उसी प्रकार, वध्यपटहध्वनयः=वध करने के लिये बजाये जाने वाले नगाड़े की आवाजें, विवाहपटहध्वनिभिः=विवाह में बजनेवाले नगाड़ा की आवाज के, समानाः=समान, जाताः=हो गयी हैं ॥४४॥

अर्थ---और भी, प्रिये ! देखो---

प्रेयसी के [तुम्हारे] आजाने से वही लाल कपड़ा श्रेष्ठ वस्त्र और यह माला (विवाह के लिये जाते हुये) दूल्हे के समान शोभित हो रही है। और उसी प्रकार वध के लिये बजने वाले नगाड़ा की आवाजें विवाह में बजने वाले नगाड़े के समान हो गयीं हैं ॥४४॥

टीका---परिस्थितिवशात् कदाचिदप्रियं वस्त्वपि प्रियरूपेण परिवर्तते इति प्रतिपादयति-रक्तमिति। कान्तायाः=प्रेयस्याः, आगमेन=उपस्थित्या हेतुनेत्यर्थः, तदेव=इदमेव, रक्तम्=रक्तवर्णम्, वरवस्त्रम्=उत्कृष्टवस्त्रम्, च=तथा, इयम्=मम ग्रीवायां लम्बमाना, माला=माल्यम्, वरस्य=उद्वोढुः यथा=इव, विभाति=शोभते,

वसन्तसेना--अदिदक्खिणदाए किं ण्णेदं ववसिदं अज्जेण ? (अतिदक्षिणतया किं न्विदं व्यवसितमार्येण ?)

चारुदत्तः--प्रिये । 'त्वं किल मया हतेति'--

पूर्वानुबद्धवैरेण शत्रुणा प्रभविष्णुना ।
नरके पतता तेन मनागस्मि निपातितः ॥ ४५ ॥

वसन्तसेना--(कर्णौ पिधाय) संतं पावं, तेण म्हि राअसालेण वावादिदा ।
(शान्तं पापम्, तेनास्मि राजश्यालेन व्यापादिता ।)

चारुदत्तः (भिक्षुं दृष्ट्वा) अयमपि कः ?

च, तथैव=तद्वदेव, एते=श्रूयमाणा इमे, वध्यपटहध्वनयः=वध्यस्य कृते क्रियमाणाः वाद्यविशेषध्वनयः, विवाहपटहध्वनिभिः=उद्वाहादौ वाद्यमानानां पटहानाम्=ढक्कादीनाम्, ध्वनिभिः समाना । पूर्वं ये पदार्थाः कष्टकारिण आसन् त एव साम्प्रतं वसन्तसेनायाः समागमने प्रीतिकराः परिवृत्ता इति भावः । वसन्ततिलकं वृत्तम् ॥४४॥

अर्थ--वसन्तसेना--अति उदारता के कारण आर्य आपने यह क्या कर डाला ?

अन्वयः--पूर्वानुबद्धवैरेण, प्रभविष्णुना, नरके, पतता, शत्रुणा, मनाक्, निपातितः, अस्मि ॥ ४५ ॥

शब्दार्थ--पूर्वानुबद्धवैरेण=पहले से ही दुश्मनी रख लेने वाले प्रभविष्णुना=सामर्थ्यशाली, नरके=नरक में, पतता=गिरने वाले, शत्रुणा=शत्रु शकार के द्वारा, मनाक्=थोड़ा, निपातितः=गिरा, कलंकित कर दिया गया, अस्मि=हूँ, था ॥ ४५ ॥

अर्थ--चारुदत्त--प्रिये ! 'तुम्हें मैंने मार दिया' --

पहले से ही दुश्मनी रखने वाले [राजा का शाला होने से] शक्तिशाली [किन्तु] नरक में गिरने वाले उस शत्रु शकार द्वारा कुछ गिरा दिया गया हूँ। [कलंकित कर दिया गया था ।] ॥ ४५ ॥

टीका--प्राप्तदशायाः हेतुं स्वप्रियायै निवेदयति--पूर्वेति । पूर्वानुबद्धवैरेण=पूर्वतः एव अनुबद्धं=मनसि दृढीकृतं वैरं=शत्रुत्वं येन तादृशेन, प्रभविष्णुना=राज्ञः श्यालत्वेन सामर्थ्यवता, नरके=निरये, पतता=आत्मानं निक्षिपता, तेन=प्रसिद्धेन दुष्टेन, शकारेणेत्यर्थः, मनाक्=प्रायशः, स्वल्पं वा, निपातितः=विनाशितः, मिथ्यापवादे निक्षिप्तः, अस्मि=भवामि । 'त्वं मया हता' इति मिथ्याभियोगेनाहं कलंकित इति भावः । पथ्यावक्रं वृत्तम् ॥ ४५ ॥

अर्थ--वसन्तसेना--(कान बन्द करके) ऐसा मत कहिये । उस राजश्यालक शकार ने मारा था ।

चारुदत्त--(भिक्षु को देखकर) यह कौन है ?

वसन्तसेना—तेण अणज्जेण वावादिदा, एदिणा अज्जेण जीआविदम्हि ।
(तेनानार्येण व्यापादिता; एतेनार्येण जीवं प्रापितास्मि ।)

चारुदत्तः- कस्त्वमकारणबन्धुः ?

भिक्षुः--ण पच्चभिजाणादि मं अज्जो ? अहं शे अज्जश्श चलणशंवाहचिन्तए शंवाहके णाम जूदिअलेहिं गहिदे एदाए उवाशिकाए अज्जश्श केलके त्ति अलंकालपणणिक्कीदेम्हि । तेण अ जूदणिव्वेदेण शक्कशमणके शंवुत्ते म्हि । एशा वि अज्जा पवहणविपज्जाशेण पुप्फकलंडकजिण्णुज्जाणं गदा । तेण अ अणज्जेण ण मं बहु मण्णेशि त्ति बाहुपाशबलक्कालेण मालिदा मए दिट्ठा । (न प्रत्यभिजानाति मामार्यः ? अहं स आर्यस्य चरणसंवाहचिन्तकः संवाहको नाम द्यूतकरैर्गृहीत एतयोपासिकयाऽऽर्यस्यात्मीय इत्यलङ्कारपणनिष्क्रीतोऽस्मि । तेन च द्यूतनिर्वेदेन शाक्यश्रमणकः संवृत्तोऽस्मि । एषाप्यार्या प्रवहणविपर्यासेन पुष्पकरण्डकजीर्णोद्यानं गता । तेन चानार्येण न मां बहु मन्यसे इति बाहुपाशबलात्कारेण मारिता मया दृष्टा ।)

(नेपथ्ये कलकलः)

जयति वृषभकेतुर्दक्षयज्ञस्य हन्ता
तदनु जयति भेत्ता षण्मुखः क्रौञ्चशत्रुः ।
तदनु जयति कृत्स्नां शुभ्रकैलासकेतुं
विनिहतवरवैरी चार्यको गां विशालाम् ॥ ४६ ॥

वसन्तसेना—उस नीच ने मार डाला था इस सज्जन ने जीवन दे दिया, जिन्दा कर दिया ।

चारुदत्त—अकारणबन्धु तुम कौन हो ?

भिक्षु—आर्य ! आप मुझे नहीं पहचानते हैं ? मैं आर्य के चरण दबाने की चिन्ता करने वाला संवाहक जुआरियों द्वारा पकड़ लिया गया था इस उपासिका ने 'आपका अपना आदमी हूँ' यह मानकर आभूषण द्वारा मुझे मुक्त करा दिया था । उस जुआ खेलने की ग्लानि से बौद्ध संन्यासी बन गया । यह आर्या भी गाड़ी बदल जाने के कारण पुष्पकरण्डक उद्यान में पहुँच गयी थी । और उस नीच ने 'मुझे अधिक नहीं मानती हो' यह कहकर भुजपाश द्वारा जबरदस्ती मार डाला, मैंने देखा ।

अन्वयः—दक्षयज्ञस्य, हन्ता, वृषभकेतुः, जयति, तदनु, भेत्ता, क्रौञ्चशत्रुः, षण्मुखः, जयति, तदनु, विनिहतवरवैरी, आर्यकः, च, शुभ्रकैलाशकेतुम्, कृत्स्नाम्, विशालाम्, गाम्, जयति ॥ ४६ ॥

शब्दार्थ—दक्षयज्ञस्य=दक्ष के यज्ञ का, हन्ता=विध्वंस करने वाला, वृषभकेतुः=बैल के चिह्नवाली पताका वाले शंकर जी, जयति=जय प्राप्त कर रहे हैं, तदनु=

(प्रविश्य, सहसा)

शर्विलकः—

हत्वा तं कुनृपमहं हि पालकं भो-
स्तद्राज्ये द्रुतमभिषिच्य चार्यकं तम् ।
तस्याज्ञां शिरसि निधाय शेषभूतां
मोक्ष्येऽहं व्यसनगतं च चारुदत्तम् ॥ ४७ ॥

इसके बाद, भेत्ता=(दुश्मनों का) दलन करने वाले, क्रौञ्चशत्रुः=क्रौञ्च नामक दैत्य के दुश्मन, षण्मुखः=स्वामिकार्तिकेय, जयति=जय प्राप्त कर रहे हैं, च=और तदनु=इसके बाद, विनिहतवरवैरी=प्रधान शत्रु (राजा पालक) को मार डालने वाला, आर्यकः=अहीर का बेटा आर्यक, शुभ्रकैलाशकेतुम्=धवल कैलाश पर्वतरूपी पताकावाली, कृत्स्नाम्=सम्पूर्ण, विशालाम्=विशाल, गाम्=पृथ्वी को, जयति=जीत रहा है ॥ ४६ ॥

(नेपथ्य में कोलाहल)

अर्थ—दक्ष प्रजापति के यज्ञ का विध्वंस करने वाले वृषभध्वज=शंकर की जय हो। इसके बाद शत्रुओं का दलन करने वाले, क्रौञ्च राक्षस के शत्रु स्वामिकार्तिकेय की जय हो। और इसके बाद प्रधान शत्रु राजा पालक को मारने वाला [अहीर का पुत्र] आर्यक धवल कैलाशपर्वतरूपी पताकावाली सम्पूर्ण विशाल पृथ्वी को जीत रहा है, जीत लें ॥ ४६ ॥

टीका—प्रियमित्रस्यार्यकस्य राज्यप्राप्त्याऽतीवप्रसन्नः शर्विलकः स्वेष्ट-देवतास्तुतिपूर्वकं तस्य राजसिंहासनारूढत्वं सूचयति—जयतीति । दक्षस्य=एतन्नामक-प्रजापतेः, यः यज्ञः=यागः, तस्य हन्ता=विध्वंसकर्ता, वृषभध्वजः=शिवः, जयति=सर्वोत्कर्षेण वर्तताम्, तदनु=एतदनन्तरम्, भेत्ता=शत्रुसमूहभेदनकरः, क्रौञ्चस्य=तदाख्यस्य दैत्यस्य, शत्रुः=विनाशकः, षण्मुखः=स्वामिकार्तिकेयः, जयति=सर्वोत्कर्षेण वर्तताम्, तदनु=तदनन्तरम्, विनिहतः=विनाशितः, वरः=प्रधानः, शत्रुः=रिपुः, पालको राजा येन सः, आर्यकः=एतन्नामकः गोपालपुत्रकः, शुभ्रः=धवलः, कैलासः=एतन्नामकः पर्वतविशेषः, केतुः=पताका यस्यास्ताम्, कृत्स्नाम्=सम्पूर्णाम्, विशालाम्=विस्तीर्णाम्, गाम्=पृथिवीम्, जयति=स्वायत्तीकरोतु इत्यर्थः, यद्वा पृथिव्यां सर्वतोत्कर्षेण वर्ततामित्यर्थः । मालिनी वृत्तम् ॥ ४६ ॥

अन्वयः—भोः ! अहम्, हि, तम्, कुनृपतिम्, हत्वा, तद्राज्ये, च, तम्, आर्यकम्, द्रुतम्, अभिषिच्य, तस्य, च, शेषभूताम्, आज्ञाम्, शिरसि, निधाय, अहम्, व्यसन-गतम्, चारुदत्तम्, मोक्ष्ये ॥ ४७ ॥

शब्दार्थ—भोः=अरे सज्जनों !, अहम्=मैं, हि=निश्चितरूप से, तम्=उस,

हत्वा रिपुं तं बलमन्त्रिहीनं पौरान्समाश्वास्य पुनः प्रकर्षात् ।
प्राप्तं समग्रं वसुधाधिराज्यं राज्यं बलारेरिव शत्रुराज्यम् ॥४८॥

कुनृपतिम्=दुष्ट राजा पालक को, हत्वा=मारकर, च=और, तद्राज्ये=उसके राज्य में [सिंहासन पर], तम्=उस, आर्यकम् =आर्यक को, द्रुतम्,=शीघ्र ही, अभिषिच्य=अभिषिक्त करके, च=और, तस्य=उस राजा (आर्यक) की, शेषभूताम्=अन्तिम, आज्ञाम्=आदेश को, शिरसि=सिर पर, निधाय=रखकर, अहम्=मैं, शर्विलक, व्यसनगतम्=आपत्ति में पड़े हुये, चारुदत्तम्=चारुदत्त को, मोक्ष्ये=मुक्त करूँगा, अर्थात् करवाऊँगा ॥ ४७ ॥

अर्थ--(प्रवेश करके, अचानक)

शर्विलक--हे सज्जनों ! उस दुष्ट राजा पालक को मारकर और उसके राज्य पर आर्यक को शीघ्र ही अभिषिक्त करके उस राजा आर्यक की अन्तिम=प्रधान आज्ञा को शिर से धारण करके विपत्ति में पड़े हुये चारुदत्त को मुक्त करूँगा, अर्थात् छुड़वा दूँगा ॥ ४७ ॥

टीका--पालकस्य वधं पौराणां समाश्वासनं चारुदत्तस्य मुक्तिं च सूचयति शर्विलकः -हत्वेति । भोः=इदं सम्बोधनम्, अहम्=शर्विलकः, तम्=सर्वविदितम्, कुनृपतिम्=कुत्सितं राजानम्, पालकम्, हत्वा=मारयित्वा, तम् च=पूर्वं सिद्धादेशेन निर्दिष्टं भाविनं राजानम्, आर्यकम्=गोपालपुत्रकम्, तद्राज्ये=पालकराज्ये, द्रुतम्=शीघ्रम्, अभिषिच्य=अभिषिक्तं कृत्वा, तस्य=आर्यकस्य, शेषभूताम्=अवशिष्टाम्, प्रमुखां वा, आज्ञाम्=आदेशम्, शिरसि=मस्तके, निधाय=कृत्वा, व्यसनगतम्=विपद्ग्रस्तम्, चारुदत्तम्=तन्नामकं सज्जनम्, अहम्=शर्विलकः, मोक्ष्ये=मोचयिष्यामि । इदं भाविघटनायाः सूचकम् । प्रहर्षिणी वृत्तम् ॥ ४७ ॥

अन्वयः--बलमन्त्रिहीनम्, तम्, रिपुम्, हत्वा, पुनः, प्रकर्षात्, पौरान्, समाश्वास्य बलारेः, राज्यम्, इव, वसुधाधिराज्यम्, समग्रम्, शत्रुराज्यम्, प्राप्तम् ॥ ४८ ॥

शब्दार्थ--बलमन्त्रिहीनम्=सेना और मन्त्रियों से रहित, तम्=उस, रिपुम्=शत्रु (राजा पालक) को, हत्वा=मारकर, पुनः=फिर, प्रकर्षात्=अपने प्रभाव का आश्रय लेकर, पौरान्=पुरवासियों को, समाश्वास्य=समाश्वस्त करके, बलारेः=बलासुर के शत्रु इन्द्र के, राज्यम्=राज्य के, इव=समान, वसुधाधिराज्यम्=पृथिवी के साम्राज्य, समग्रम्=समस्त, शत्रुराज्यम्=शत्रु के राज्यको, प्राप्तम्=पा लिया है ॥ ४८ ॥

अर्थ--सेना और मन्त्रियों से रहित उस शत्रु [पालक] को मार कर [अपने] प्रभाव का आश्रय लेकर पुरवासियों को पुनः समाश्वस्त करके, बल नामक दैत्य के

(अग्रतो निरूप्य) भवतु, अत्र तेन भवितव्यम्, यत्रायं जनपदसमवायः। अपि नामायमारम्भः क्षितिपतेरार्यकस्यार्यचारुदत्तस्य जीवितेन सफलः स्यात्। (त्वरिततरमुपसृत्य) अपयात जाल्माः ! । (दृष्ट्वा, सहर्षम्) अपि ध्रियते चारुदत्तः सह वसन्तसेनया ? संपूर्णाः खल्वस्मत्स्वामिनो मनोरथाः।

दिष्टया भो व्यसनमहार्णवादपारा-
　　दुत्तीर्णं गुणधृतया सुशीलवत्या।
नावेव प्रियतमया चिरान्निरीक्षे
　　ज्योत्स्नाढ्यं शशिनमिवोपरागमुक्तम् ॥ ४९ ॥

शत्रु इन्द्र के राज्य [स्वर्गपुरी] के समान सम्पूर्ण पृथिवी के शासन वाले शत्रु के सारे राज्य को अपने अधिकार में कर लिया है ॥ ४८ ॥

टीका—सैन्यमन्त्रिशक्तिहीनस्य राज्ञः पालकस्य वधं, पुरवासिनां शासन-परिवर्तनेन जातभीतिनिराकरणं सम्पूर्णे राज्ये आर्यकस्य आधिपत्यं च सूचयितुमाह—हत्वेति। बलानि=सैन्यानि, मन्त्रिणश्च=अमात्याश्च तैः हीनः=रहितः, तम्, रिपुम्=शत्रुम्, पालकमित्यर्थः, हत्वा=मारयित्वा, प्रकर्षात्=प्रभावमाश्रित्य, ल्यब्लोपे पञ्चमी बोध्या, पौरान्=पुरवासिलोकान्, समाश्वास्य=सान्त्वयित्वा, बलारेः=बलनामकदैत्यशत्रोः, इन्द्रस्येत्यर्थः, राज्यम्=स्वर्गम्, यद्वा इन्द्रत्वमित्यर्थः, इव=तुल्यम्, वसुधायाः=पृथिव्याः, अधिराज्यम्=साम्राज्यम्, समग्रम्=सम्पूर्णम्, शत्रुराज्यम्=रिपोः पालकस्य राज्यम्, प्राप्तम्=अधिगतम्। अत्रोपमालंकारः, इन्द्रवज्रा वृत्तम् ॥४८॥

विमर्शः—शर्विलक का तात्पर्य यह है कि राजा पालक का साथ देने के लिये न तो सेना थी और न मन्त्री। सभी उसकी मूर्खता और दुष्टता से परेशान थे। उसका साम्राज्य इन्द्रपुरी के समान अति सम्पन्न था। उसे विप्लव करके प्राप्त किया है। किन्तु सामान्य प्रजा को समाश्वस्त कर दिया गया है कि उन्हें कोई कष्ट नहीं होगा ॥ ४८ ॥

अर्थ—(आगे देखकर) अच्छा, उन (चारुदत्त) को यहाँ होना चाहिये जहाँ जनपद के लोगों की भीड़ है। राजा आर्यक का यह कार्य [राज्याभिषेक] आर्य चारुदत्त के जीवित रह जाने से सफल हो जाता। (बहुत जल्दी पास जाकर) अरे धूर्तो ! हटो। (देखकर हर्षसहित) क्या वसन्तसेना के साथ आर्य चारुदत्त जीवित हैं ? हमारे राजा (आर्यक) के सभी मनोरथ सफल हो गये।

अन्वयः—भोः, नावा, इव, गुणधृतया, सुशीलवत्या, प्रियतमया, अपारात्, व्यसनमहार्णवात्, उत्तीर्णम्, उपरागमुक्तम्, ज्योत्स्नाऽढ्यम्, शशिनम्, इव, दिष्टया, चिरात्, निरीक्षे ॥४९॥

तत्कृतमहापातकः कथमिवैनमुपसर्पामि ? अथवा, सर्वत्रार्जवं शोभते। (प्रकाशमुपसृत्य बद्धाञ्जलिः) आर्यचारुदत्त !

चारुदत्तः—ननु को भवान् ?

शब्दार्थ—भोः=हे सज्जनों !, नावा=नौका, इव=के समान, गुणधृतया= गुण=अनुरागादि से आकृष्ट, [नौकापक्ष में—गुण=रस्सी आदि से खींची गयी], सुशीलवत्या=सच्चरित्रवाली, प्रियतमया=प्रेयसी वसन्तसेना द्वारा, अपारात्=पार न कर सकने योग्य, व्यसनमहार्णवात्=विपत्तिरूपी समुद्रसे, उत्तीर्णम्=पार किये गये [आर्य चारुदत्त] को, उपरागमुक्तम्=राहु के ग्रास से निकले हुये, ज्योत्स्नाढ्यम्= चांदनी से युक्त, पूर्णमासी वाले, शशिनम्=चन्द्रमा, इव=के समान, दिष्ट्या= भाग्यवश, चिरात्=बहुत समय के पश्चात्, निरीक्षे=देख रहा हूँ ॥४९॥

अर्थ—हे सज्जनों ! नौका के समान, अनुरागादि गुणयुक्त, सच्चरित्रा प्रियतमा वसन्तसेना के द्वारा, पार न कर सकने योग्य विपत्तिरूपी महासागर से पार निकाले गये [प्रिय मित्र चारुदत्त] को, राहुग्रास से मुक्त चान्दनी से युक्त चन्द्रमा के समान, भाग्यवश बहुत समय बाद देख रहा हूँ ॥४९॥

टीका—वसन्तसेनासहितं चारुदत्तं दृष्ट्वाऽतीवप्रसन्नः शर्विलकः स्वहर्षा- तिरेकं प्रकटयति—दिष्ट्येति। भोः=हे नागरजना इति शेषः, नावा=नौकया, इव= तुल्यया, गुणधृतया=गुणः=अनुरागादिः, नौकापक्षे—गुणः=रज्जुः, तेन, धृतया= आकृष्टया, एकत्र प्रियतमस्य उज्जीवनार्थम् अन्यत्र च वाहनार्थमिति भावः, सुशील- वत्या=सच्चरित्रया, प्रियतमया=प्रेयस्या वसन्तसेनयेत्यर्थः, कर्त्र्या, अपारात्=पारं कर्तुमयोग्यात्, व्यसनम्=मृत्युवधादिरूपा विपद् एव, महार्णवः=महासागरः, तस्मात्= उत्तीर्णम् पारं गतमिति भावः, आर्यचारुदत्तमिति शेषः, उपरागात्=ग्रासात्, मुक्तम्= परित्यक्तम्, ज्योत्स्नया=चन्द्रिकया, आढ्यम्=युक्तम्, सम्पूर्णमण्डलम्, शशिनम्= पौर्णमासीचन्द्रम्, इव, दिष्ट्या=भाग्यवशात्, चिरात्=बहुकालात् परम्, निरीक्षे= पश्यामि। यथा राहुणा ग्रस्तस्य चन्द्रस्य मुक्तिः लोकानामानन्ददायिनी भवति तथैव मृत्युमुखात् मुक्तस्य प्रियतमासहितस्य चारुदत्तस्य दर्शनमपि ममातीवानन्दकर- मिति बोध्यम्। अत्र रूपकोपमादीनां संसृष्टिरलंकारः, प्रहर्षिणी वृत्तम् ॥४९॥

अर्थ—तो महापाप (चारुदत्त के घर वसन्तसेना के धरोहर के गहनों को चुराने) वाला मैं इसके पास कैसे चलूं ? अथवा, [इनकी] सरला सर्वत्र शोभित होती है। (प्रकट रूप में, पास जाकर हाथ जोड़कर) आर्य चारुदत्त !

चारुदत्त—अरे, आप कौन है ?

शर्विलक:——

येन ते भवनं भित्वा न्यासापहरणं कृतम् ।
सोऽहं कृतमहापापस्त्वामेव शरणं गत: ।। ५० ।।

चारुदत्त:——सखे ! मैवम् । त्वयाऽसौ प्रणय: कृत: । (इति कण्ठे गृह्णाति ।)

शर्विलक:——अन्यच्च ।

आर्यकेणार्यवृत्तेन कुलं मानञ्च रक्षता ।
पशुवद्यज्ञवाटस्थो दुरात्मा पालको हत: ।। ५१ ।।

अन्वय:——येन, ते, भवनम्, भित्वा, न्यासापहरणम्, कृतम्, कृतमहापाप:, स:, अहम्, त्वाम्, एव, शरणम्, गत: ।।५०।।

शब्दार्थ——येन=जिसने, ते=तुम्हारे, भवनम्=घर को, भित्वा=फोड़ कर, सेंध लगाकर, न्यासापहरणम्=धरोहर के गहनों का अपहरण, चोरी, कृतम्=किया था, कृतमहापाप:=महान् पाप करने वाला, स:=वह, अहम्=मैं, शर्विलक, त्वाम्=तुम्हारी, एव=ही, शरणम्=शरण में, गत:=प्राप्त हुआ हूँ ।।५०।।

अर्थ——शर्विलक——

जिसने आपके घर का भेदन करके (सेंध फोड़ कर के) धरोहर के गहनों को चुराया था । महापाप करने वाला वह मैं तुम्हारी ही शरण में आया हूँ ।।५०।।

टीका——झटिति स्वपरिचयं प्रदातुं स्वकीयं निन्दितमपि कर्म निवेदयति–येनेति । येन=मया शर्विलकेनेत्यर्थ:, ते=तव, चारुदत्तस्य, भवनम्=गृहम्, भित्वा=विदार्य, तत्र सन्धि कृत्वेत्यर्थ:, न्यासस्य=वसन्तसेनया निहितालंकार-समूहस्य, अपहरणम्=चौर्यम्, कृतम्=विहितम्, महापापम्=न्यासापहरणरूपं पातकं येन तादृश:, स:=पूर्वोक्त:, अहम्=शर्विलक: पापकर्मकर्ता त्वाम्=चारुदत्तम्, एव, शरणम्=रक्षितारम्, गत:=प्राप्त: । एवञ्च तवान्तिकं ममागमनं नोचितं तथापि शरण-प्रदत्वेन त्वयाहं रक्षितव्य इति भाव: । पथ्यावक्त्रं वृत्तम् ।।५०।।

अर्थ——चारुदत्त——मित्र ! ऐसा मत कहो । तुमने तो यह स्नेह किया था । (यह कह कर गले में लिपट जाता है ।)

अन्वय:——आर्यवृत्तेन, कुलम्, मानम्, च, रक्षता, आर्यकेण, यज्ञवाटस्थ:, दुरात्मा, पालक:, पशुवत्, हत: ।।५१।।

शब्दार्थ——आर्यवृत्तेन=प्रशस्त चरित्रवाले, कुलम्=कुल, च=और, मानम्=सम्मान की, रक्षता=रक्षा करने वाले, आर्यकेण=आर्यक [गोपालपुत्र] ने, यज्ञवाटस्थ:=यज्ञशाला में विद्यमान, दुरात्मा=दुष्ट प्रकृतिवाले, पालक:=पालक (राजा) को, पशुवत्=पशु के समान, हत:=मार डाला ।।५१।।

चारुदत्तः——किम् ?

शर्विलकः——

त्वद्यानं यः समारुह्य गतस्त्वां शरणं पुरा।
पशुवद्वितते यज्ञे हतस्तेनाद्य पालकः ॥ ५२ ॥

अर्थ—**शर्विलक**——और भी,

प्रशस्त चरित्रवाले कुल तथा मान की रक्षा करने वाले आर्यक ने यज्ञशाला में स्थित दुष्ट प्रकृति वाले [राजा] पालक को पशु के समान मार डाला ॥५१॥

टीका——साम्प्रतं चारुदत्तस्य तोषाय आर्यकेण पालकस्य वधं विज्ञापयति— आर्यकेणेति। आर्यम्=प्रशस्तं, वृत्तम्=चारित्रं यस्य तेन, कुलम्=स्ववंशम्, मानम्= आत्मगौरवं, च, रक्षता=अवता, आर्यकेण=एतन्नामकेन आभीरपुत्रेण, यज्ञवाटस्थः= यज्ञशालास्थितः, दुरात्मा=दुष्टप्रकृतिकः, पालकः=एतन्नामकः तत्रत्यो राजा, पशुवत्=यज्ञीयवध्यपशुतुल्यः, हतः=मारितः। एवञ्च यथा यज्ञीयपशुवधे किमपि कष्टं न भवति तथैव तस्य पालकस्यापि वधे आर्यकस्य किमपि कष्टं न जातमिति बोध्यम्। अत्र पथ्यावक्त्रं वृत्तम् ॥ ५१ ॥

विमर्श——'हत्वा तं कुनृपमहं हि पालकं भोः' इत्यादि पूर्वोक्त १०।४७ पद्य में शर्विलक ने अपने द्वारा पालक का वध करना कहा है। और इसमें तथा आगे श्लोक में पालक द्वारा वध कह रहा है। इसमें विरोध प्रतीत हो रहा है। इसका समाधान यह है कि राज्यपरिवर्तन केवल शर्विलक या आर्यक नहीं कर सकते थे। इन्हें भी सहायकों की अपेक्षा थी। अब कार्य सम्पन्न हो जाने पर हर्षातिरेक में सभी अपनी २ प्रशंसा कर रहे हैं। परन्तु वास्तव वधकर्ता तो आर्यक ही है क्योंकि उसी को राजा बनाने की भविष्यवाणी है। अतः पूर्वापर-विरोध का अवसर नहीं है ॥ ५१ ॥

अर्थ—**चारुदत्त**——क्या ?

अन्वयः——यः पुरा, त्वद्यानम्, समारुह्य, त्वाम्, शरणम्, गतः [आसीत्], तेन, अद्य, वितते, यज्ञे, पालकः, पशुवत्, हतः ॥ ५२ ॥

शब्दार्थ——यः=जो, पुरा=पहले, त्वद्यानम्=तुम्हारी गाड़ी पर, समारुह्य= चढ़कर, त्वाम्=तुम्हारी, शरणम्=शरण में, गतः=गया था [रक्षा की प्रार्थना की थी], तेन=उस आभीरपुत्र आर्यक ने, अद्य=आज, वितते=विशाल [अनेक लोगों से भरे हुये], यज्ञे=यज्ञ [शाला] में, पशुवत्=वध्य पशु के समान, पालकः=पालक राजा को, हतः=मार डाला ॥ ५२ ॥

चारुदत्तः—शर्विलक ! योऽसौ पालकेन घोषादानीय निष्कारणं कूटागारे बद्ध आर्यकनामा त्वया मोचितः ?

शर्विलकः—यथाह तत्रभवान् ।

चारुदत्तः—प्रियं नः प्रियम् ।

शर्विलकः—प्रतिष्ठितमात्रेण तव सुहृदा आर्यकेण उज्जयिन्यां वेणातटे कुशावत्यां राज्यमतिसृष्टम् । तत् प्रतिमान्यतां प्रथमः सुहृत्प्रणयः । (परिवृत्य) अरे रे ! आनीयतामयं पापो राष्ट्रियशठः ।

अर्थ—शर्विलक—

पहले जो आपकी गाड़ी पर चढ़ कर [आत्मरक्षार्थ] आपकी शरण में पहुँचा था, उसी आर्यक ने आज विशाल यज्ञ [-शाला] में राजा पालक को पशु के समान मार डाला ॥ ५२ ॥

टीका—चारुदत्तस्य झटिति स्मरणाय पूर्वघटितं वृत्तान्तमुपवर्ण्यार्यकं स्मारयति – त्वद्यानेति । यः=भवदपरिचितः आभीरपुत्रः आर्यकः, पुरा=पूर्वस्मिन् काले कदाचित्, त्वद्यानम्=तव शकटम्, समारुह्य=अज्ञातरूपेणारुह्य स्थित्वा, त्वाम्=दयालुं चारुदत्तम्, शरणम्=रक्षितारम्, गतः=प्राप्तः, भवता च दयालुस्वभावेन निगडादिनिर्मुक्तः कृतः सन् स्वाभीष्टं स्थानं प्रस्थितः आसीत्, अद्य=अस्मिन् दिने, तेन=भवदनुगृहीतेन तेनाभीरपुत्रेणार्यकेण, वितते=विशाले बहुजनसंकुले, यज्ञे=यज्ञमण्डपे इत्यर्थः, पशुवत्=यज्ञीयपशुतुल्यः, पालकः=एतन्नामा दुरात्मा राजा, हतः=मारितः । एवञ्च साम्प्रतं यो राजा जातः स भवतानुगृहीत आसीत् अतो न भवता कथमपि भेतव्यमिति तद्भावः । उपमालंकारः, पथ्यावक्त्रं वृत्तम् ॥ ५२ ॥

अर्थ—चारुदत्त—शर्विलक ! वह आर्यक नाम वाला जिसे पालक ने अहीरों की बस्ती से विना कारण पकड़ कर घोर कैदखाने में बन्द कर दिया था, तुमने छुड़ाया था ?

शर्विलक—हाँ, जैसा आप कह रहे हैं ।

चारुदत्त—हमारे लिये बहुत अच्छी खबर है, बहुत अच्छी खबर ।

शर्विलक—राज्यसिंहासन पर बैठते ही आपके मित्र आर्यक ने उज्जयिनी में वेणा नदी [कुशावती] के तट पर राज्य आपको दान कर दिया । अतः मित्र की यह पहली प्रार्थना स्वीकार करें । (घूम कर) अरे, इस दुष्ट पापी राजा के साले को ले आओ ।

(नेपथ्ये)

यथाज्ञापयति शर्विलकः ।

शर्विलकः––आर्य ! नन्वयमार्यको राजा विज्ञापयति; इदं मया युष्मद्-गुणोपार्जितं राज्यम, तदुपयुज्यताम् ।

चारुदत्तः––अस्मद्गुणोपार्जितं राज्यम् ?

(नेपथ्ये)

अरे रे राष्ट्रियश्यालक ! एह्येहि स्वस्याविनयस्य फलमनुभव ।

(ततः प्रविशति पुरुषैरधिष्ठितः पश्चाद्बाहुबद्धः शकारः ।)

शकारः––हीमादिके (हन्त !)

एव्वं दूलमदिक्कन्ते उद्दामे विअ गद्दहे ।
आणीदे क्खु हगे बद्धे हुडं अण्णे व्व दुक्कले ।। ५३ ।।

(एवं दूरमतिक्रान्तः उद्दाम इव गर्द्दभः ।
आनीतः खल्वहं बद्धः कुक्कुरोऽन्य इव दुष्करः ।। ५३ ।।)

(नेपथ्य में)---

शर्विलक की जैसी आज्ञा ।

शर्विलक––आर्य ! ये राजा आर्यक विज्ञापित (निवेदित) करते हैं कि आपके गुणों [दया दाक्षिण्यादि] के कारण यह राज्य प्राप्त हुआ है, अतः [आप] उपभोग करें ।

चारुदत्त––क्या हमारे गुणों से उपार्जित राज्य ?

(नेपथ्य में)—

(अरे, राजा के शाले ! आओ आओ, अपनी धूर्तता का फल भोगो ।)

(इस के बाद लोगों द्वारा पकड़ा गया, पीछे बन्धे हुये हाथों वाला शकार प्रवेश करता है ।)

अन्वयः––उद्दामः, गर्दभः, इव, एवम्, दूरम्, अतिक्रान्तः, अहम्, खलु, आनीतः, दुष्करः, अन्यः, कुक्कुरः, इव, बद्धः ।। ५३ ।।

शब्दार्थ––उद्दामः=रस्सी से रहित (निकले हुये), गर्दभः=गधा, इव=के समान, एवम्=इतनी, दूरम्=दूर तक, अतिक्रान्तः=भगा हुआ, अहम्=मैं, खलु=निश्चय ही, आनीतः=ले आया गया हूँ, दुष्करः=दुष्ट, असाध्य, अन्यः=दूसरे, कुक्कुरः=कुत्ता, इव=के समान, बद्धः=बाँध दिया गया हूँ ।।५३।।

अर्थ––**शकार**––हाय !

रस्सी से छूटे हुये गधे के समान इतनी दूर तक भागा हुआ मैं ले आया गया हूँ । दुष्ट (असाध्य) दूसरे कुत्ते के समान बाँध दिया गया हूँ ।।५३।।

(दिशोऽवलोक्य) **शमन्तदो उवट्ठिदे एशे लट्ठिअबन्धे ता कं दाणि अशलणे शलणं वजामि ?** (विचिन्त्य) **भोदु, तं ज्जेव अब्भुववण्ण-शलण-वत्सलं गच्छामि । (इत्युपसृत्य) अज्जचालुदत्त ! पलित्ताआहि ।** (समन्तत उपस्थित एष राष्ट्रियबन्धः तत् कमिदानीमशरणः शरणं व्रजामि ?) (भवतु, तमेव अभ्युपपन्नशरणवत्सलं गच्छामि ।) (आर्यचारुदत्त ! परित्रायस्व परित्रायस्व ।) (इति पादयोः पतति ।)

(नेपथ्ये)

अज्जचालुदत्त ! मुञ्च मुञ्च, वावादेम्ह एदं । (आर्यचारुदत्त ! मुञ्च, मुञ्च, व्यापादयाम एतम् ।)

शकारः—(चारुदत्तं प्रति) **भो अशलणशलणे ! पलित्ताआहि ।** (भो अशरणशरण ! परित्रायस्व ।)

चारुदत्तः—(सानुकम्पम्) अहह ! अभयमभयं शरणागतस्य ।

शर्विलकः—(सावेगम्) आः, अपनीयतामयं चारुदत्तपार्श्वात् । (चारुदत्तं प्रति) ननु उच्यतां किमस्य पापस्यानुष्ठीयतामिति ।

टीका—शकारः साम्प्रतमात्मानं गर्दभरूपेण कुक्कुररूपेण च प्रतिपादयति-एवमिति । उद्दामः=उद्गतः दाम=बन्धनरज्जुः यस्य तादृशः, गर्दभः=रासभः, इव=यथा, एवम्=पूर्वोक्तरूपेण, अत्र पर्यन्तं वा, अतिक्रान्तः=पलायितः, तथा, दुष्करः=दुष्टः, असाध्यो वा, अन्यः=अपरः, कुकुकरः=श्वा, इव=यथा, अहम्=शकारः, बद्धः=संयमितः, अस्मि । एवञ्च साम्प्रतमहं गर्दभः कुक्कुरश्च सञ्जातः । पथ्यावक्त्रं वृत्तम् ॥५३॥

अर्थ—(चारो ओर देखकर) सभी ओर से राष्ट्रिय (राजश्यालक) का शत्रुवर्ग या बन्धन उपस्थित है । तो अब शरणहीन मैं किसकी शरण में जाऊँ ? (सोंचकर) शरण में आये हुये से प्रेम करनेवाले उन्हीं चारुदत्त की शरण में चलता हूँ । (यह कह कर पास जाकर) आर्य चारुदत्त ! रक्षा करो, रक्षा करो । (यह कह कर पैरों पर गिर पड़ता है ।)

(नेपथ्य में)

आर्य चारुदत्त ! छोड़ दो, छोड़ दो, हमलोग इसे मार डालते हैं ।

शकार—(चारुदत्त की ओर) हे अशरणों के शरण ! मेरी रक्षा करो ।

चारुदत्त—(अनुकम्पा के साथ) अहह ! शरण में आये हुये का अभय, अभय हो ।

शर्विलक—(आवेगपूर्वक) ओह ! इसको चारुदत्त के पास से हटाओ । (चारुदत्त की ओर) अरे, बताइये इस पापी का क्या किया जाय ?

आकर्षन्तु सुबध्यैनं ? श्वभिः संखाद्यतामथ ? ।
शूले वा तिष्ठतामेषः पाटचतां क्रकचेन वा ? ॥ ५४ ॥

चारुदत्तः——किमहं यद् ब्रवीमि तत् क्रियते ?

शर्विलकः——कोऽत्र सन्देहः ?

शकारः——भट्टालआ चालुदत्त ! शलणागदेम्हि, ता पलित्ताआहि पलित्ताआहि । जं तुए शलिशं, तं कलेहि । पुणो ण ईदिशं कलिश्शं । (भट्टारक चारुदत्त ! शरणागतोऽस्मि, तत् परित्रायस्व परित्रायस्व । यत्तव सदृशम्, तत् कुरु, पुनर्न ईदृशं करिष्यामि ।)

अन्वयः——एनम्, सुबध्य, [लोकाः], आकर्षन्तु, अथ, श्वभिः, संखाद्यताम्, वा, एषः, शूले, तिष्ठताम्, वा, क्रकचेन, पाट्यताम् ॥५४॥

शब्दार्थ——एनम्=इस शकार को, सुबध्य=अच्छी तरह बाँध कर, (लोकाः= लोग) आकर्षन्तु=खींचें, अथ=अथवा, श्वभिः=कुत्तों द्वारा, संखाद्यताम्=खा डाला जाय, वा=अथवा, एषः=यह, शूले=शूली पर, तिष्ठताम्=बैठ जाय, वा=अथवा, क्रकचेन=आरा से, पाटचताम्=काट डाला जाय ॥५४॥

अर्थ——(लोग) इसे अच्छी तरह बाँधकर खींचें । अथवा कुत्तों द्वारा खा लिया जाय अथवा शूली पर चढ़ जाय (चढ़ा दिया जाय) अथवा आरा से काट डाला जाय ? ॥५४॥

टीका——शकारस्य मृत्युं विधातुमनेकोपायान् प्रतिपादयति शर्विलकः आकर्षन्त्विति । एनम्=शकारम्, सुबध्य=सम्यग्रूपेण पादादिषु बद्ध्वेत्यर्थः, आकर्षन्तु=आकृष्य लोकाः मारयन्त्विति भावः, अथ=अथवा, श्वभिः=कुक्कुरैः, संखाद्यताम्=भक्ष्यताम्, एषः=शकारः, शूले=मारणसाधनभूते लौह-यन्त्र-विशेषे, तिष्ठताम्=वर्तताम्, तत्रारोप्यैनं घ्नन्तु इति भावः, वा=अथवा, क्रकचेन=करपत्रेण, लौहस्य विदारणयन्त्रविशेषेणेत्यर्थः, पाट्यताम्=विदार्यताम् ।

क्वचित् 'सुबध्वा' इति पाठः, सोऽशुद्धः, समासे सति क्त्वः ल्यपो दुर्वारत्वात्, 'सुबध्य' इत्येव भवितव्यम् । 'तिष्ठताम्' इत्यपि चिन्त्यम् ॥५४॥

अर्थ——चारुदत्त——क्या मैं जो कहूँगा वह किया जायगा ?

शर्विलक——इसमें क्या सन्देह ?

शकारः——स्वामी चारुदत्त ! मैं आपकी शरण में आया हूँ, अतः बचाइये बचाइये । जो आपके [व्यक्तित्व] के योग्य है वह करिये, अब फिर ऐसा कभी नहीं करूँगा ।

(नेपथ्ये पोराः—वावादेध, किं णिमित्तं पादकी जीवावीअदि ?)
(व्यापादयत, किं निमित्तं पातकी जीव्यते ?)

(वसन्तसेना वध्यमालां चारुदत्तस्य कण्ठादपनीय शकारस्योपरि क्षिपति ।)

शकारः—गब्भदाशीधीए ! पशीद पशीद, ण उण मालइश्शं, ता पलित्ताआहि । (गर्भदासीपुत्रि ! प्रसीद प्रसीद, न पुनर्मारयिष्यामि, तत् परित्रायस्व ।)

शर्विलकः—अरे रे ! अपनयत । आर्यचारुदत्त ! आज्ञाप्यताम्—किमस्य पापस्यानुष्ठीयताम् ।

चारुदत्तः—किमहं यद् ब्रवीमि तत् क्रियते ?

शर्विलकः—कोऽत्र सन्देहः ।

चारुदत्तः—सत्यम् ?

शर्विलकः—सत्यम् ।

चारुदत्तः—यद्येवम्; शीघ्रमयम्—

शर्विलकः—किं हन्यताम् ?

चारुदत्तः—नहि नहि, मुच्यताम् ।

शर्विलकः—किमर्थम् ?

(नेपथ्य में)

पुरवासी लोग—मार डालो, यह पापी क्यों जीवित है ?

(वसन्तसेना चारुदत्त के गले से बध्यमाला को हटाकर शकार के ऊपर फेंक देती है ।)

शकार—अरे गर्भकाल से ही दासी की बच्ची ! खुश हो जा, खुश हो जा, अब फिर नहीं मारूँगा । इस लिये रक्षा करो ।

शर्विलक—अरे रे ! हटाओ [इसे] । आर्य चारुदत्त ! आज्ञा दीजिये—इस पापी का क्या किया जाय ?

चारुदत्त—क्या जो मैं कहूँगा, वह किया जायगा ?

शर्विलक—इसमें क्या सन्देह ?

चारुदत्त— सच ?

शर्विलक—सच ।

चारुदत्त—यदि ऐसी बात है तब तो इसे शीघ्र······

शर्विलक—क्या मार डाला जाय ?

चारुदत्त—नहीं, नहीं, छोड़ दिया जाय ।

शर्विलक—किस लिये ?

चारुदत्तः —

शत्रुः कृतापराधः शरणमुपेत्य पादयोः पतितः ।
शस्त्रेण न हन्तव्यः··· ··· ·· ··· ··· ··· ·· ॥

शर्विलकः—एवम् तर्हि श्वभिः खाद्यताम् ।

चारुदत्तः—

नहि ।
······ ···उपकारहतस्तु कर्त्तव्यः ॥ ५५ ॥

शर्विलकः—अहो ! आश्चर्यम् । किं करोमि, वदत्वार्यः ।

चारुदत्त—अपराध कर चुकने वाले शरण में आकर पैरों पर गिरे हुये शत्रु को शस्त्र से नहीं मारना चाहिये ।

शर्विलक—ऐसा है तो कुत्तों द्वारा खिलवा दें ।

चारुदत्तः—नहीं, उपकार द्वारा मरा हुआ करना चाहिये ।

अन्वयः—[यदि], कृतापराधः, शत्रुः, शरणम्, उपेत्य, पादयोः, पतितः, (तदा), शस्त्रेण, न, हन्तव्यः, तु, उपकारहतः, कर्तव्यः ॥५५॥

शब्दार्थ—[यदि=यदि] कृतापराधः=अपराध कर चुकने वाला अपराधी, शत्रु=दुश्मन, शरणम्=शरण में, उपेत्य=आकर, पादयोः=पैरों पर, पतितः=गिर पड़ा हो, [तदा=तब] शस्त्रेण=शस्त्र से, न=नहीं, हन्तव्यः=मारना चाहिये, तु=परन्तु, उपकारहतः=उपकार से मारा हुआ, कर्तव्यः=कर देना चाहिये ॥५५॥

अर्थ—**चारुदत्त** –

अपराधी भी शत्रु यदि शरण में आकर पैरों पर गिर पड़ा हो तो उसे शस्त्र से नहीं मारना चाहिये अपितु उपकार द्वारा मारा हुआ कर देना चाहिये अर्थात् उसका इतना उपकार कर देना चाहिये कि एहसान से ही मर जाय ॥५५॥

टीका—कृतापराधिनं शत्रुं प्रति कथमाचरणीयमिति प्रतिपादयितुकामश्चारुदत्तः शकारस्य मुक्तये निर्दिशन्नाह—शत्रुरिति । कृतापराधः=पूर्वं विहितापराधः, शत्रुः=रिपुः, यदि=चेत्, शरणम्=रक्षकम्, उपेत्य=प्राप्य, पादयोः=चरणयोः, पतितः=लुठितः, जीवनदानभिक्षयेति भावः, तदा, शस्त्रेण=आयुधेन, न=नैव, हन्तव्यः=विनाश्यः, उपकारेण=अनुग्रहप्रदर्शनेन, हतः=मारितः, कर्तव्यः=विधेयः, तस्मिन् एतावाननुग्रहो विधेयो येन स स्वयमेव लज्जामनुभूय स्वापराधं प्रति दुःखितो भूत्वा प्राणान् त्यजेदिति भावः । पथ्यावक्त्रं वृत्तम् ॥५५॥

विमर्शः—यहाँ चारुदत्त के चरित्र का उत्कर्ष अवर्णनीय है ॥५५॥

शर्विलक—अहो ! आश्चर्य है । आर्य ! बताइये मैं क्या करूँ ।

चारुदत्तः—तन्मुच्यताम् ।

शर्विलकः—मुक्तो भवतु ।

शकारः—हीमादिके । पच्चुज्जीविदेम्हि ।
(हन्त । प्रत्युज्जीवितोऽस्मि ।) (इति पुरुषैः सह निष्क्रान्तः ।)

(नेपथ्ये कलकलः)

पुनर्नेपथ्ये—एसा अज्जचारुदत्तस्स बहुआ अज्जा धूदा पदे वसणाञ्चले विलग्गन्तं दारअं आक्खिवन्ती वाप्फभरिद-णअणेहिं जणेहिं णिवारिज्जमाणा पज्जलिदे पावए पविसदि । (एषा आर्यचारुदत्तस्य बधूरार्या धूता पदे वसनाञ्चले विलगन्तं दारकमाक्षिपन्ती वाष्पभरित-नयनैर्जनैर्निवार्यमाणा प्रज्वलिते पावके प्रविशति ।)

शर्विलकः—(आकर्ण्य नेपथ्याभिमुखमवलोक्य) कथं चन्दनकः ? चन्दनक ! किमेतत् ?

चन्दनकः—(प्रविश्य) किं ण पेक्खदि अज्जो ? महाराअप्पासादं दक्खिणेण महन्तो जणसंमद्दो वट्ठदि । (एसा-इत्यादि पुनः पठति) कधिदं अ मए तीए, जधा—अज्जे ! मा साहसं करेहि, जीवादि अज्जचारुदत्तो त्ति । परन्तु दुक्ख-व्वावुड़दाए को सुणेदि ? को पत्तिआअदि ! (किं न प्रेक्षते आर्यः ? महाराजप्रासादं दक्षिणेन महान् जनसम्मर्दो वर्त्तते ।)(कथितञ्च मया तस्यै

चारुदत्त—तब छोड़ दीजिये ।

शर्विलक—मुक्त हो जाय । (छोड़ दिया जाय ।)

शकार—ओह ! फिर से जीवित हो गया । (ऐसा कह कर लोगों के साथ निकल गया ।)

(नेपथ्य में—कोलाहल)

फिर नेपथ्य में–यह आर्य चारुदत्त की धर्मपत्नी आर्या धूता पैरों पर वस्त्रों पर लिपटने वाले बालक को अलग करती हुई, आसुओं से पूरित नेत्रों वाले लोगों के द्वारा रोकी जाती हुई (भी) जलती आग में घुस रही है ।

शर्विलक—(सुनकर नेपथ्य की ओर देख कर) क्या चन्दनक ? चन्दनक ! यह क्या है ?

चन्दनक—(प्रवेश करके) श्रीमान् नहीं देख रहे हैं क्या ? महाराज के महल की दाहिनी ओर लोगों की विशाल भीड़ है । (यह आर्य चारुदत्त की पत्नी आग में प्रवेश कर रही है–इत्यादि दुबारा कहता है ।) मैंने उससे यह

यथा--'आर्ये ! मा साहसं कुरु, जीवति आर्यचारुदत्त' इति । परन्तु दुःखव्यापृततया कः शृणोति ? कः प्रत्ययते ?)

चारुदत्तः-- (सोद्वेगम्) हा प्रिये ! जीवत्यपि मयि किमेतत् व्यवसितम् ?
(उद्ध्र्वमवलोक्य दीर्घं निश्वस्य च)

न महीतलस्थितिसहानि भवच्चरितानि चारुचरिते ! यदपि ।
उचितं तथापि परलोकसुखं न पतिव्रते ! तव विहाय पतिम् ॥ ५६ ॥

(इति मोहमुपगतः ।)

कहा "आर्ये ! दुस्साहस मत करो, आर्य चारुदत्त जीवित हैं।" लेकिन दुःख से अति व्याकुल होने के कारण कौन सुनता है ? कौन विश्वास करता है ?

अन्वयः--हे चारुचरिते ! यदपि, भवच्चरितानि, महीतलस्थितिसहानि, न, तथापि, हे पतिव्रते ! पतिम्, विहाय, तव, परलोकसुखम्, न, उचितम् ॥५६॥

शब्दार्थ--हे चारुचरिते=हे सुन्दर चरित्रवाली [प्रिये], यदपि=यद्यपि, भवच्चरितानि=आपके चरित्र, महीतलस्थितिसहानि=पृथ्वी लोक में रहने के योग्य, न=नहीं हैं, अर्थात् स्वर्ग में रहने योग्य हैं, तथापि=फिर भी, हे पतिव्रते=हे पतिव्रता, पतिम्=(मुझ) पति को, विहाय=छोड़कर, तव=तुम्हारा, परलोकसुखम्=परलोक का सुख, न=नहीं, उचितम्=ठीक है ॥५६॥

अर्थ--चारुदत्त--(उद्वेगसहित) हाय प्रिये ! मेरे जीवित रहने पर भी (तुमने) यह क्या कर डाला ? (ऊपर देख कर और लम्बी सासें लेकर)--

हे सुन्दर चरित्रवाली ! आपके चरित्र यद्यपि पृथिवीलोक में रहने के योग्य नहीं हैं अर्थात् स्वर्गादियोग्य हैं। फिर भी, हे पतिव्रते ! मुझ पति को छोड़ कर तुम्हारा (अकेला) स्वर्गसुख (प्राप्त करना) उचित नहीं है ॥५६॥

(ऐसा कह कर मूर्च्छित हो जाता है।)

टीका--स्वमृत्युवधं श्रुत्वा आत्मदाहाय प्रयतमानां पत्नीमाकर्ण्य तद्गुणान् स्मरन् विलपति-नेति । हे चारुचरिते ! =चारु=सुन्दरम्, प्रशस्यम् चरितम्=आचरणम्, यस्यास्तत्सम्बुद्धौ रूपम्, हे प्रशस्याचरणवति !, भवच्चरितानि=भवत्याः चरितानि=आचरणानि, यदपि=यद्यपि, महीतलस्थितिसहानि=महीतले=पृथ्वीतले, स्थितिम्=अवस्थानम्, तां सहन्ते=योग्यानि भवन्ति, पृथ्वीलोकनिवास-योग्यानि, न=नैव, सन्ति=वर्तन्ते, तथापि=एवं सत्यपि, हे पतिव्रते=पतिः=भर्ता, भर्तृशुश्रूषा एव व्रतम्=नियमः यस्यास्तत्सम्बुद्धौ, यद्वा पतिः व्रतमिव, यस्यास्तत्सम्बुद्धौ रूपम्, पतिम्=भर्तारम् अग्न्यादिसाक्ष्येण पतिरूपेणांगीकृतम्, मामिति शेषः, विहाय=त्यक्त्वा, तव=भवत्याः, धूताया इत्यर्थः, परलोकसुखम्=परलोकसुखोपभोग इति भावः, न=नैव, उचितम्=प्रशंसनीयम् । एवञ्च मया सहैव त्वया प्राणा हातव्याः,

शर्विलकः—अहो ! प्रमादः ।

त्वरया सर्पणं तत्र मोहमार्योऽत्र चागतः ।
हा धिक् प्रयत्नवैफल्यं दृश्यते सर्वतोमुखम् ॥ ५७ ॥

येन आवयोः सहैव स्वर्गसुखप्राप्तिः स्यादिति भावः । प्रमिताक्षरा वृत्तम्, एतल्लक्षणम्—"प्रमिताक्षरा सजससैः कथिता ॥५६॥

विमर्श—अपनी पत्नी के आचरण से अत्यन्त प्रसन्न और सन्तुष्ट रहने वाला चारुदत्त उसी की मृत्यु का समाचार सुनकर अति व्याकुल हो जाता है। वसन्तसेना उसे मिल चुकी है फिर भी वह अपनी पतिव्रता पत्नी को किसी भी स्थिति में छोड़ना सहन नहीं कर सकता । वह उसे पतिव्रता के धर्मों का संकेत करके अकेले स्वर्ग-सुख-प्राप्ति का निषेध करता है । हारीत ने पतिव्रता का यह लक्षण किया है—

आर्त्तार्त्ते, मुदिता हृष्टे, प्रोषिते मलिना कृशा ।
मृते म्रियेत या पत्यौ सा स्त्री ज्ञेया पतिव्रता ॥५६॥

अन्वयः—तत्र, त्वरया, सर्पणम्, (अपेक्षितम्) अत्र, च, आर्यः, मोहम्, आगतः, हा धिक्, सर्वतोमुखम्, प्रयत्नवैकल्यम्, दृश्यते ॥५७॥

शब्दार्थ—तत्र=वहाँ [आर्या धूता के पास), त्वरया=जल्दीसे, सर्पणम्=पहुँचना, (अपेक्षितम्=अपेक्षित, है) च=और, अत्र=यहाँ, आर्यः=श्रीमान्, चारुदत्त, मोहम्=मूर्च्छा को, आगतः=प्राप्त हो गये, मूर्छित हो गये, हा धिक् !=हाय धिक्कार है, सर्वतोमुखम्=सभी ओर, प्रयत्नवैफल्यम्=प्रयासों की विफलता, दृश्यते=दिखाई पड़ रही है ॥५७॥

अर्थ—शर्विलक—हाय ! बहुत बड़ी असावधानी (हो गयी) ।

वहाँ (आर्या धूता के पास) जल्दी जाना (अपेक्षित) है और यहाँ आर्य (चारुदत्त) मूर्छित हो गये हैं। हाय धिक्कार है, सभी ओर प्रयासों की विफलता दिखाई दे रही है ॥५७॥

टीका—मूर्च्छितस्य चारुदत्तस्य धूर्तासमीपे गमनमतिदुष्करमिति तस्याः प्राणरक्षणं दुःशकमिति विचिन्त्य शर्विलकः स्वप्रयासवैफल्यं विलोकयन् आह—त्वरयेति । तत्र=तस्मिन् स्थाने यत्रार्या धूता अग्नौ प्रविश्य स्वप्राणान् परित्यक्तुं प्रयतमानाऽस्ति, त्वरया=अतिशीघ्रमेव, सर्पणम्=गमनम्, अपेक्षितम्, च=किन्तु, अत्र=अस्मिन् स्थाने, आर्यः=श्रीमान् चारुदत्तः, मोहम्=मूर्च्छाम्, आगतः=उपगतः, एवञ्च मूर्च्छितः सः स्वपत्न्याः रक्षणं कथं करिष्यतीति भावः, हा धिक्=हा कष्टम्, सर्वतोमुखम्=सर्वस्मिन् वस्तुनि, मुखम्=प्रारम्भः, प्रसक्तिर्वा यस्य तत्, सर्वतो-

वसन्तसेना––समस्ससिदु अज्जो। तत्थ गदुअ जीवावेदु अज्जां। अण्णधा अधीरत्तणेण अणत्थो सम्भावीअदि। (समाश्वसितु आर्यः। तत्र गत्वा जीवयतु आर्याम्। अन्यथा अधीरत्वेन अनर्थः सम्भाव्यते।)

चारुदत्तः––(समाश्वस्य सहसोत्थाय) हा प्रिये! क्वासि? देहि मे प्रतिवचनम्।

चन्दनकः––इदो इदो अज्जो। (इत इत आर्यः।)

(इति सर्वे परिक्रामन्ति।)

(ततः प्रविशति यथानिर्दिष्टा धूता चेलाञ्चलमाकर्षन् विदूषकेणानुगम्यमानो रोहसेनो रदनिका च।)

धूता––(सास्रम्) जाद! मुञ्चेहि मं, मा विग्घं करेहि। भोआमि अज्जउत्तस्स अमङ्गलाकण्णणादो। (जात! मुञ्च माम्, मा विघ्नं कुरु, बिभेमि आर्यपुत्रस्य अमङ्गलाकर्णनात्।) (इत्युत्थाय अञ्चलमाकृष्य पावकाभिमुखं परिक्रामति।)

रोहसेनः––माद अज्जए! पड़िवालेहि मं, तुए विणा ण सक्कुणोमि जीविदं धारेदुं। (मातरार्ये! प्रतिपालय माम्, त्वया विना न शक्नोमि जीवितं धारयितुम्।) (इति त्वरितमुपसृत्य पुनरञ्चलं गृह्णाति।)

गामीत्यर्थः, प्रयत्नानाम्=मम प्रयासानाम्, वैफल्यम्=विफलता, दृश्यते=विलोक्यते। एवञ्चात्र मया किंकरणीयमिति विचारयितुं न शक्यते। पथ्यावक्त्रं वृत्तम् ॥५७॥

अर्थ––वसन्तसेना––आर्य धैर्य धारण करें। वहाँ जाकर आर्या [धूता] को जीवनदान करें। नहीं तो अधीर होने से अनर्थ [मृत्यु] की सम्भावना है।

चारुदत्त––(धैर्य धारण करके अचानक उठकर) हा प्रिये! कहाँ हो? मुझे उत्तर दो।

चन्दनक––इधर, इधर आइये आर्य!

(यह कहकर सभी घूमते हैं।)

(इसके बाद पहले बतलायी गयी अवस्थावाली धूता, वस्त्र के छोर को खींचता हुआ और विदूषक द्वारा अनुसरण किया जाता हुआ रोहसेन तथा रदनिका प्रवेश करते हैं।)

धूता––(आंसुओं के सहित) बेटा! मुझे छोड़ दो, विघ्न मत करो, आर्यपुत्र के अमङ्गल [मृत्युसमाचार] को सुनने से डरती हूँ। (ऐसा कहकर उठकर आँचल छुड़ाकर आग की ओर बढ़ती है।)

रोहसेन––माँ आर्ये! मुझे पालो (या मेरी प्रतीक्षा करो।) तुम्हारे बिना मैं जीवनधारण नहीं कर सकता। (ऐसा कह कर शीघ्र ही पास जाकर फिर आँचल पकड़ लेता है।)

विदूषकः—भोदीए दाव बम्हणीए भिण्णत्तणेण चिदाधिरोहणं पावं उदाहरन्ति रिसीओ। (भवत्यास्तावत् ब्राह्मण्या भिन्नत्वेन चिताधिरोहणं पापमुदाहरन्ति ऋषयः।)

धूता—वरं पावाचरणं, ण उण अज्जउत्तस्स अमङ्गलाकण्णणं। (वरं पापाचरणम्, न पुनरार्यपुत्रस्य अमङ्गलाकर्णनम्।)

शर्विलकः—(पुरोऽवलोक्य) आसन्नहुतवहा आर्या। तत् त्वर्यतां त्वर्यताम्।

(चारुदत्तः त्वरितं परिक्रामति।)

धूता—रअणिए! अवलम्ब दारअं, जाव अहं समीहिदं करेमि। (रदनिके! अवलम्बस्व दारकम्, यावदहं समीहितं करोमि।)

चेटी—(सकरुणम्) अहं पि जधोपदेसिणि म्हि भट्टिणीए। (अहमपि यथोपदेशिन्यस्मि भर्त्र्याः।)

धूता—(विदूषकमवलोक्य) अज्जो दाव अवलम्बेदु। (आर्यस्तादवलम्बताम्।)

विदूषकः—(सावेगम्) समीहिद-सिद्धिए पउत्तेण बम्हणो अग्गदो कदव्वो। अदो भोदीए अहं अग्गणी होमि। (समीहितसिद्धये प्रवृत्तेन ब्राह्मणः अग्रतः कर्त्तव्यः। अतो भवत्या अहमग्रणीर्भवामि।)

विदूषक—आप ब्राह्मणी का (पति से) अलग होकर अर्थात् अकेले चिता पर चढ़ना ऋषि लोग पाप कहते हैं।

धूता—पाप कर लेना अच्छा है न कि आर्यपुत्र का अमंगल (मृत्युसमाचार) सुनना।

शर्विलक—(सामने देखकर) आर्या आग के समीप (जा चुकी) हैं। अतः जल्दी करो जल्दी करो।

(चारुदत्त जल्दी-जल्दी चलने लगता है।)

धूता—रदनिका! बच्चे को पकड़ो, तब तक मैं अपना अभीष्ट (अग्नि प्रवेश) कर लूं।

चेटी—(करुणापूर्वक) आप जैसा कह रही हैं वैसा ही मैं भी आपसे कहने वाली हूँ। अर्थात् मुझे पहले आग में प्रवेश कर लेने दो, आप बच्चे को पकड़िये।

धूता—(विदूषक की ओर देखकर) तो आर्य! आप ही पकड़ लीजिये।

विदूषक—(घबड़ाहट के साथ) अभीष्ट की सिद्धि के लिये ब्राह्मण को आगे करना चाहिये। अतः मैं आपके आगे-आगे चलता हूँ।

धूता—कधं पच्चादिट्ठ म्हि दुवेहि। (बालकमालिङ्ग्य) जाद ! तुमं ज्जेव पज्जवट्ठावेहि अत्ताणं अम्हाणं तिलोदअदाणाअ अदिक्कन्ते किं मणोरहेहिं। (सनिःश्वासम्) ण क्खु अज्जउत्तो तुमं पज्जवट्ठाविस्सदि। (कथं प्रत्यादिष्टास्मि द्वाभ्याम्।) (जात ! त्वमेव पर्यवस्थापय आत्मानम् अस्माकं तिलोदकदानाय। अतिक्रान्ते किं मनोरथैः।) (न खल्वार्यपुत्रस्त्वां पर्यवस्थापयिष्यति।)

चारुदत्तः—(आकर्ण्य सहोपसृत्य) अहमेव पर्यवस्थापयामि बालिशम्।

(इति बालकं बाहुभ्यामुत्थाप्य वक्षसाऽऽलिङ्गति।)

धूता—(विलोक्य) अम्महे ! अज्जउत्तस्य ज्जेव स्सरसञ्जोओ। (पुनर्निपुणं निरूप्य सहर्षम्) दिट्ठिआ अज्जउत्तो ज्जेव एसो। पिअं मे पिअं (अहो ! आर्यपुत्रस्यैव स्वरसंयोगः।) (दिष्टया आर्यपुत्र एवैषः। प्रियं मे प्रियम्।)

बालकः—(विलोक्य सहर्षम्) अम्हो ! आवुको मं परिस्सजदि। (धूतां प्रति) अज्जए ! वड्ढवीअसि आवुको ज्जेव मं पज्जवट्ठावेदि ! (इति प्रत्यालिङ्गति) (अहो ! तातो मां परिष्वजति।) (आर्ये ! वर्द्धसे, तात एव मां पर्यवस्थापयति।)

चारुदत्तः—(धूतां प्रति)

हा प्रेयसि ! प्रेयसि विद्यमाने कोऽयं कठोरो व्यवसाय आसीत्।
अम्भोजिनी लोचनमुद्रणं किं भानावनस्तंगमिते करोति ? ॥५८॥

धूता—क्या दोनों ने अस्वीकार कर दिया ? (बच्चे का अलिङ्गन करके) बेटा ! हम लोगों को तिलजल देने के लिये तुम्हीं अपने पर संयम रक्खो, अर्थात् जीवित रहने का धैर्य रखो। (तुम्हारे) मर जाने पर हम लोगों के मनोरथ व्यर्थ हो जायेंगे। आर्यपुत्र तुम्हारा पालन (रक्षा) नहीं कर पायेंगे।

चारुदत्त—(सुनकर अचानक पास पहुँचकर) मैं ही बालक की रक्षा करूँगा।

(यह कह कर बच्चे को हाथों से उठाकर हृदय से आलिंगन कराता है।)

धूता—(देखकर) अरे, यह तो आर्यपुत्र की ही आवाज है। (फिर अच्छी तरह देखकर हर्षसहित) भाग्यवशात् यह आर्यपुत्र ही हैं। हमारा प्रिय है प्रिय है।

बालक—(देखकर हर्षसहित) अहो ! पिता जी मेरा आलिंगन करते हैं। (धूता की ओर) आर्ये ! वृद्धि हो रही है, पिता ही मेरा पालन कर रहे हैं। (ऐसा कह-कह बदले में आलिगन करता है।)

अन्वयः—हा प्रेयसि ! प्रेयसि, विद्यमाने, (अपि), कः, अयम्, कठोरः, व्यवसायः, आसीत्, किम्, भानौ, अनस्तङ्गमिते, (अपि), अम्भोजिनी, लोचनमुद्रणम्, करोति ? ॥ ५८ ॥

धूता—अज्जउत्त ! अदो ज्जेव सा अचेतणेत्ति चुम्बीअदि [उच्चीअदि]। (आर्यपुत्र ! अतएव सा अचेतनेति चुम्ब्यते [उच्यते]।)

विदूषकः—(दृष्ट्वा सहर्षम्) ही ही भो ! एदेहिं ज्जेव अच्छीहिं पिअवअस्सो पेक्खीअदि। अहो ! सदीए पहवो जदो ज्जलणप्पवेश-व्ववसाएण ज्जेव पिअसमागमं पाविदा। (चारुदत्तं प्रति) जेदु जेदु पिअवअस्सो। (आश्चर्यं भोः ! एताभ्यामेवाक्षिभ्यां प्रियवयस्यः प्रेक्ष्यते। अहो ! सत्याः प्रभावः यतो ज्वलनप्रवेश-व्यवसायेनैव प्रियसमागमं प्राप्तिता।)(जयतु जयतु प्रियवयस्यः।)

शब्दार्थ—हा प्रेयसि=हाय प्रियतमे !, प्रेयसि=प्रियतम अर्थात् मेरे, विद्यमाने=जीवित रहने पर भी, कः=कौन सा, अयम्=यह, कठोरः=कठोर, व्यवसायः=प्रयास, कार्य करने का विचार, आसीत्=था, किम्=क्या, भानौ=सूर्य के, अनस्तंगमिते=अस्त न होने पर, (अपि=भी) अम्भोजिनी=कमलिनी, लोचनमुद्रणम्=(पुष्परूपी) नेत्र को बन्द, करोति=करती है ? ॥ ५८ ॥

अर्थ—**चारुदत्त**—(धूता की ओर) —

हाय प्रियतमे ! मुझ प्रियतम के जीवित रहने पर भी यह कौन सा कठोर निर्णय या काम था। क्या सूर्य के अस्त न होने पर भी कमलिनी अपनी आखें बन्द करती है ? ॥ ५८ ॥

टीका—प्रियतमस्य मृत्युदण्डं श्रुत्वा तद्विरहमसहमाना सहसैव स्वान् प्राणान् परित्यक्तुमिच्छन्तीं धूतामविमृश्यकारित्वेन सादरमनुयुङ्क्ते—हा प्रेयसीति। हा=इद शोकसूचकमव्ययम्, प्रेयसि=प्रियतमे, प्रेयसि=प्राणादपि प्रेयसि पत्यौ मयि, विद्यमाने=वर्तमाने, जीवति सतीत्यर्थः, कः=कीदृशः अयम्=एषः, त्वयाऽनुष्ठीयमानः, व्यवसायः=उद्योग अग्निप्रवेशरूप इत्यर्थः, आसीत् ? सर्वथानुचितोऽविवेकपूर्णश्चास्ति, भानौ=सूर्ये, अनस्तङ्गमिते=अस्ताचलशिखरे अनधिष्ठिते, यद्वा विधिना तत्र अप्रापिते सत्व, अम्भोजिनी=कमलिनी, लोचनमुद्रणम्=नेत्रनिमीलनम्, पद्मसङ्कोचमित्यर्थः, करोति किम्=विदधाति किम् ? नैव करोतीति भावः। एवमेव मयि जीवत्यपि त्वया प्राणपरित्यागस्य व्यवसायः सर्वथाऽविवेकपूर्ण एवेति त्वया ज्ञेयम्। 'अनस्तंगमिते' इत्यत्र नञः समस्तप्रयोगे तदर्थस्य प्राधान्यानवगमाद् अविमृष्टविधेयांशरूपो दोष इति जीवानन्दः। दृष्टान्तालंकारः, इन्द्रवज्रा वृत्तम् ॥ ५८ ॥

अर्थ—**धूता**—आर्यपुत्र ! इसी लिये तो वह अचेतन ऐसा कही जाती है।

विदूषक—(देखकर, हर्षसहित) हा, हा, अरे ! इन्हीं आखों से प्रिय मित्र को देख रहा हूँ। अहो ! सती का प्रभाव, जो अग्नि में प्रवेश के उपक्रम से ही प्रियसमागम को प्राप्त करा दी गई। (चारुदत्त के प्रति) प्रिय मित्र की जय हो, जय हो।

चारुदत्तः—एहि मैत्रेय ! (इत्यालिङ्गति ।)

चेटी—अहो ! संविधाणअं । अज्ज ! वन्दामि । (अहो ! संविधानकम् । आर्य ! वन्दे ।) (इति चारुदत्तस्य पादयोः पतिता ।)

चारुदत्तः—(पृष्ठे करं दत्वा) रदनिके ! उत्तिष्ठ । (इत्युत्थापयति ।)

धूता—(वसन्तसेनां दृष्ट्वा) दिट्ठिआ कुसलिणो वहिणोआ ? (दिष्ट्या कुशलिनी भगिनी ?)

वसन्तसेना—अहुणा कुसलिणो संवुत्तम्हि । (अधुना कुशलिनी संवृत्तास्मि ।) (इत्यन्योन्यमालिङ्गतः ।)

शर्विलकः—दिष्टया जीवितसुहृद्वर्ग आर्यः ।

चारुदत्तः—युष्मत्प्रसादेन ।

शर्विलकः—आर्ये वसन्तसेने ! परितुष्टो राजा भवतीं वधूशब्देनानुगृह्णाति ।

वसन्तसेना—अज्ज ! किदत्थम्हि । (आर्य ! कृतार्थास्मि ।)

शर्विलकः—(वसन्तसेनामवगुण्ठ्य चारुदत्तं प्रति) आर्य ! किमस्य भिक्षोः क्रियताम् ?

चारुदत्तः—भिक्षो ! किं तव बहुमतम् ?

चारुदत्त—आओ मैत्रेय ! (यह कहकर आलिंगन करता है ।)

चेटी—अहो ! कैसा शुभ संयोग बना है । आर्य ! प्रणाम करती हूँ । (यह कहकर चारुदत्त के पैरों पर गिर जाती है ।)

चारुदत्त—(पीठ पर हाथ रखकर) रदनिका ! उठो । (यह कह कर उठाता है ।)

धूता—(वसन्तसेना को देखकर) सौभाग्यवश बहिन कुशलतायुक्त हैं ?

वसन्तसेना—अब कुशलयुक्त हो गयी हूँ । (यह कह कर एक दूसरे का आलिंगन करती हैं ।)

शर्विलक—सौभाग्यवश आर्य सुहृद्वर्गसहित जीवित हैं ।

चारुदत्त—तुम्हारी अनुकम्पा से ।

शर्विलक—सम्माननीय वसन्तसेना जी ! प्रसन्न राजा (आर्यक) आपको 'वधू' शब्द से अनुगृहीत (अलंकृत) कर रहे हैं ।

वसन्तसेना—आर्य ! मैं कृतार्थ हो गयी हूँ ।

शर्विलक—(वसन्तसेना को घूंघट युक्त बनाकर चारुदत्त की ओर) आर्य ! इस भिक्षु का क्या किया जाय ?

चारुदत्त—भिक्षु ! तुम्हारा सबसे अधिक अभीष्ट क्या है ?

भिक्षुः—इमं ईदिशं अणिच्चत्तणं पेक्खिअ दिउणे मे पव्वज्जाए बहुमाणे संवुत्तो। (इदमीदृशमनित्यत्वं प्रेक्ष्य द्विगुणो मे प्रव्रज्यायां बहुमानः संवृत्तः।)

चारुदत्तः—सखे ! दृढोऽस्य निश्चयः। तत्पृथिव्याः सर्वविहारेषु कुलपतिरयं क्रियताम्।

शर्विलकः यथाह आर्य ।

भिक्षुः—पिअं णो पिअं। (प्रियं नः प्रियम्।)

वसन्तसेना—सम्पदं जीवाविदम्हि। (साम्प्रतं जीवापितास्मि।)

शर्विलकः—स्थावरकस्य किं क्रियताम् ?

चारुदत्तः—सुवृत्त अदासो भवतु। ते चाण्डालाः सर्वचाण्डालानामधिपतयो भवन्तु। चन्दनकः पृथिवीदण्डपालको भवतु। तस्य राष्ट्रियश्यालस्य यथैव क्रिया पूर्व्वमासीत्, वर्त्तमाने तथैवास्तु।

शर्विलकः—एवं यथाह आर्यः। परमेनं मुञ्च मुञ्च, व्यापादयामि।

चारुदत्तः—(अभयं शरणागतस्य। 'शत्रुः कृतापराधः' १०।५५ इत्यादि पद्यं पठति।)

शर्विलकः—तदुच्यतां किं ते भूयः प्रियं करोमि ?

भिक्षु—इस ऐसी अनित्यता को देखकर संन्यास में मेरा दुगुना अनुराग बढ़ गया है।

चारुदत्त—मित्र ! इसका दृढ़ निश्चय है। इसलिये इसे पृथिवी पर सभी बौद्ध-विहारों का कुलपति बना दिया जाय।

शर्विलक—आर्य की जैसी आज्ञा।

भिक्षु—हमारे लिये प्रिय है, प्रिय है।

वसन्तसेना—अब मैं जीवित करा दी गयी हूँ।

शर्विलक—स्थावरक का क्या किया जाय ?

चारुदत्त—सदाचारी यह नौकर न रहे। (धनवान् बना दिया जाय।) वे चाण्डाल सभी चाण्डालों के अधिपति (राजा) बना दिये जाँय। चन्दनक सारी पृथिवी के अपराधियों को दण्ड देने का अधिकारी बना दिया जाय। उस राजा के शाले शकार की गतिविधियाँ जैसी पहले थीं वैसी ही अब भी रहें।

शर्विलक—श्रीमान् जैसा कहते हैं वैसा ही होगा, लेकिन इस (शकार) को छोड़ दीजिये, छोड़ दीजिये, मार डालता हूँ।

चारुदत्त—शरण में आये हुये को अभयदान है।

(अपराधी शत्रु शरण में आया हो उसे शस्त्र से नहीं मारना चाहिये अपि तु उपकार द्वारा मारा हुआ कर देना चाहिये। इत्यादि १०।५५ वाँ पद्य पढ़ता है।)

शर्विलक—तो बताइये आपका और कौन सा प्रिय करूँ ?

चारुदत्तः—अतः परमपि प्रियमस्ति ?

लब्धा चारित्रशुद्धिश्चरणनिपतितः शत्रुरप्येष मुक्तः
प्रोत्खातारातिमूलः प्रियसुहृदचलामार्यकः शास्ति राजा।
प्राप्ता भूयः प्रियेयं प्रियसुहृदि भवान् सङ्गतो मे वयस्यो
लभ्यं किञ्चातिरिक्तं यदपरमधुना प्रार्थयेऽहं भवन्तम् ॥५९॥

अन्वयः—चारित्रशुद्धिः, लब्धा, चरणनिपतितः, एषः, शत्रुः, अपि, मुक्तः, प्रोत्खातारातिमूलः, प्रियसुहृत्, आर्यकः, राजा, (सन्), अचलाम्, शास्ति, इयम्, प्रिया, भूयः, प्राप्ता, मे, वयस्यः, भवान्, प्रियसुहृदि, संगतः, अतिरिक्तम्, च, किम्, लभ्यम्, यत्, अपरम्, अधुना, अहम्, भवन्तम्, प्रार्थये ॥ ५९ ॥

शब्दार्थ—चारित्रशुद्धिः=चरित्र की शुद्धता, निर्दोषता, लब्धा=प्राप्त हो गयी, चरणनिपतितः=पैरों पर गिरा हुआ, एषः=यह, शत्रुः=दुश्मन, शकार, अपि=भी, मुक्तः=छूट गया, प्रोत्खातारातिमूलः=शत्रु के मूल=राजा पालक को नष्ट कर देने वाला, प्रियसुहृद्=प्रिय मित्र, आर्यकः=आर्यक, राजा=राजा, शासक, (सन्=होता हुआ), अचलाम्=पृथिवी का, शास्ति=शासन कर रहा है, इयम्=यह, प्रिया=प्रेयसी (वसन्तसेना), भूयः=फिर, प्राप्ता=मिल गयी, मे=मेरे, वयस्यः=प्रिय, भवान्=आप, प्रियसुहृदि=प्रिय मित्र आर्यक अथवा मेरे (साथ) में, संगतः=मिल गये, च=और, अतिरिक्तम्=बाकी, अधिक, किम्=क्या, लभ्यम्=प्राप्त करने योग्य है, यत्=जो, अपरम्=दूसरा, अधुना=इस समय, अहम्=मैं, भवन्तम्=आपसे, प्रार्थये=मागूँ ॥ ५९ ॥

अर्थ—चारुदत्त—इससे अधिक प्रिय भी कुछ है ?

(झूठे आरोप से दूषित) चरित्र की शुद्धता (निर्दोषता) प्राप्त हो गयी। पैरों पर गिरा हुआ यह शत्रु (शकार) भी छोड़ दिया गया। शत्रुओं के मूलभूत राजा पालक को नष्ट कर देने वाला प्रिय मित्र आर्यक राजा होकर पृथिवी का शासन कर रहा है। यह प्रेयसी (वसन्तसेना) फिर से मिल गयी। मेरे मित्र आप प्रिय मित्र (आर्यक अथवा मेरे) के साथ मिल गये। और अब क्या प्राप्त करना शेष है जो दूसरा इस समय मैं आपसे मागूँ ॥ ५९ ॥

टीका—अभीप्सितानि सर्वाण्यपि वस्तूनि लब्धानि भाग्यवशात्। अतो नाधुना किमप्यवशिष्टं प्रार्थनीयमिति प्रतिपादयति—लब्धेति। चारित्रस्य=चरित्रमेव चारित्रम्, स्वार्थेऽण्, तस्य शुद्धिः=मिथ्या-वसन्तसेनावधाभियोगात् मुक्तिरिति भावः, लब्धा=प्राप्ता, वसन्तसेनाप्राप्त्या तद्वधकलंकात् मुक्तो जात इति भावः, चरणयोः=पादयोः, निपतितः=विलुण्ठितः प्राणरक्षार्थमिति भावः, एषः=पुरोवर्तमानोऽयम्, शत्रुः=रिपुः, शकार इत्यर्थः, अपि, मुक्तः=परित्रातः, मृत्युदण्डविधानमकृत्वैव

कांश्चित्तुच्छयति प्रपूरयति वा कांश्चिन्नयत्युन्नतिं
कांश्चित् पातविधौ करोति च पुनः कांश्चिन्नयत्याकुलान् ।
अन्योन्यं प्रतिपक्षसंहतिमिमां लोकस्थितिं बोधय-
न्नेष क्रीडति कूपयन्त्रघटिकान्यायप्रसक्तो विधिः ॥६०॥

परित्यक्तः, प्रोत्खातम्=उत्पादितम् अरातीनाम्=शत्रूणाम्, मूलम्=आदिः, आश्रयस्थानमित्यर्थः, येन, सः, विनाशितरिपुमूलभूतपालकादिरिति भावः, प्रियसुहृत्=प्रियं मित्रम्, आर्यकः=एतन्नामा आभीरपुत्रः, राजा=शासकः सन्, अचलाम्=पृथिवीम्, शास्ति=भुनक्ति, इयम्=एषा पुरोविद्यमाना, प्रिया=प्रियतमा, वसन्तसेना, भूयः=पुनः, प्राप्ता=सम्मिलिता, मे=मम, वयस्यः=सुहृद्, भवान्=त्वं शर्विलकः, प्रियसुहृदि=प्रियमित्रे आर्यके मयि वा, संगतः=मिलितः, अतिरिक्तम्=पूर्वोक्तादेः भिन्नम्, किं लभ्यम्=किं प्राप्यम्, न किमपि प्राप्यमिति भावः, यत् अपरम्=अन्यत्, अधुना=इदानीम्, अहम्, भवन्तम्=त्वाम्, उपकारिणं शर्विलकमित्यर्थः, प्रार्थये=याचे। सर्वाभीष्टसिद्ध्या न किमपि प्रार्थनीयमधुनावशिष्टमिति भावः। स्रग्धरा वृत्तम् ॥५९॥

अन्वयः—कूपयन्त्रघटिका-न्यायप्रसक्तः, एषः, विधिः, अन्योऽन्यम्, प्रतिपक्षसंहतिम्, इमाम्, लोकस्थितिम्, बोधयन्, क्रीडति, [एषः], कांश्चित्, तुच्छयति, कांश्चित्, वा, प्रपूरयति, कांश्चित्, उन्नतिम्, नयति, कांश्चित् पातविधौ, करोति पुनः, कांश्चित्, च, आकुलान्, नयति ॥६०॥

शब्दार्थ—कूपयन्त्रघटिका-न्याय-प्रसक्तः=कूपयन्त्र (रेंहट) की बाल्टियों की [ऊपर नीचे जाने की] पद्धति की नकल करने में लगा हुआ, एषः=यह, विधिः=भाग्य, अन्योऽन्यम्=परस्पर, प्रतिपक्षसंहतिम्=शत्रुओं अर्थात् धनवत्ता-निर्धनता, ऊँचापन-नीचापन आदि विरोधी धर्मों की, संहतिम्=समुदायरूप, इमाम्=इस, लोकस्थितिम्=संसार की स्थिति को, बोधयन्=बतलाता हुआ, क्रीडति=खेलता है, (एषः=यह), कांश्चित्=किन्हीं को, तुच्छयति=तुच्छ=रिक्त बना देता है, वा=अथवा, कांश्चित्=किन्हीं को, प्रपूरयति=खूब पूर्ण कर देता है, कांश्चित्=किन्हीं को, उन्नतिम्=उत्थान की ओर, नयति=ले जाता है, कांश्चित्=किन्हीं को, पातविधौ=पतन के मार्ग में, नीचे, करोति=कर देता है, पहुँचा देता है, च=और, पुनः=फिर, कांश्चित्=किन्हीं को आकुलान्=व्याकुल, नयति=कर देता है ॥६०॥

अर्थ—कुआँ के रेंहट की बाल्टियों की पद्धति को नकल करने वाला यह भाग्य परस्पर विरोधी धर्मों (धनवत्ता और निर्धनता, ऊँचापन और नीचापन आदि) की समूहरूप इस लोकस्थिति को बतलाता हुआ खेला करता है। यह किन्हीं को रिक्त (तुच्छ) बनाता है किन्हीं को भरा (पूर्ण) कर देता है।

तथापीदमस्तु

भरतवाक्यम्—

क्षीरिण्यः सन्तु गावो, भवतु वसुमती सर्वसंपन्नसस्या,
पर्जन्यः कालवर्षी, सकलजनमनोनन्दिनो वान्तु वाताः।

किन्हीं को उन्नति की ओर ले जाता है, किन्हीं को पतन के रास्ते में नीचे पहुँचा देता है और किन्हीं को व्याकुल कर देता है ॥६०॥

टीका—स्वजीवनेऽपि विधेर्विविधप्रभावाननुभूय सर्वत्रैव तस्य माहात्म्यं निरूपयन् तस्य क्रीडनतुल्यत्वं प्रतिपादयति-कांश्चिदिति। कूपयन्त्रम्=कूपाज्जलनिःसारणार्थं प्रयुज्यमानं विविधघटिकायुक्तं यन्त्रम् "रहट" इति हिन्दीभाषायाम्, तस्य याः घटिकाः=क्षुद्रघटाः, तासां न्यायः=आचरणम्, पद्धतिर्वा तत्र प्रसक्तः=प्रवृत्तः, तद्वद्व्यवहारकर्तेति भावः, "कूपयन्त्रम्=वार्युद्धरणयन्त्रं तस्य या घटिकास्तासां न्यायः=एकस्या अधोमज्जनमेकस्या रिक्तीभावः, एकस्या जलपूरणमिति रूपः, तत्र प्रसक्तः, विधिः क्रीडति" इति पृथिवीधरः। एषः=अयम्, विधिः=दैवम्, अन्योन्यम्=परस्परम् प्रतिपक्षाणाम्=विरोधिनाम्=धनिकत्वनिर्धनत्वादिधर्माणाम्, संहतिम्=समूहरूपाम्, इमाम्=एताम्, सर्वैरेवानुभूयमानाम्, लोकस्थितिम्=संसारव्यवहारम्, बोधयन्=ज्ञापयन्, क्रीडति=दीव्यति, खेलतीति भावः। अयं विधिः, कांश्चित्=कियतो जनान्, तुच्छयति=रिक्तीकरोति, धनाद्यपहारेण सर्वविधशून्यं करोति 'तुच्छं करोतीत्यर्थे 'तत्करोति तदाचष्टे' इति णिच्, वा=अथवा, कांश्चित् जनान् प्रपूरयति=पूर्णान् करोति, धनादिभिरिति शेषः, कांश्चित्=कियतो जनान्, उन्नतिम्=उन्नतपदम्, उन्नतावस्थाम्, नयति=प्रापयति, कांश्चित्=कियतो जनान्, पातविधौ=पतनमार्गे, करोति=विदधाति, अधः पातयतीति भावः, स्रग्धरा वृत्तम् ॥६०॥

विमर्श—खेती आदि के काम के लिये कुआँ से पानी निकालने के लिये 'रहट' का प्रयोग किया जाता है। इसमें परस्पर अनेक बाल्टियाँ जुड़ी रहती हैं। जब पहिया चलता है तो कुछ ऊपर आ जाती हैं और उनका पानी गिर कर खेतों में जाता है। वही बाद में खाली हो कर नीचे जाती हैं और पहले गयी हुयी खाली बाल्टियाँ भरकर ऊपर आ जाती हैं। यही क्रम चलता रहता है। भाग्य भी संसार की यही दशा करता रहता है। किसी को खाली करता है, किसी को भरापूरा करता है, किसी को ऊपर लाता है तो किसी को नीचे गिरा देता है। चारुदत्त अपने जीवन में भाग्य की इस विलक्षणता का स्वयम् अनुभव कर चुका है। अतः वह अब इन घटनाओं से अति दुःखी या अति प्रसन्न नहीं होना चाहता ॥६०॥

अन्वयः—गावः, क्षीरिण्यः, सन्तु, वसुमती, सर्वसस्यसम्पन्ना, भवतु, पर्जन्यः, कालवर्षी, (भवतु) वाताः, सकलजनमनोनन्दिनः, [सन्तः], वान्तु, जन्मभाजः,

मोदन्तां जन्मभाजः, सततमभिमता ब्राह्मणाः सन्तु सन्तः
श्रीमन्तः, पान्तु पृथ्वीं प्रशमितरिपवो धर्मनिष्ठाश्च भूपाः ॥६१॥

(इति निष्क्रान्ताः सर्वे ।)

संहारो नाम दशमोऽङ्कः ।

समाप्तं मृच्छकटिकम्

—o—

सततम्, मोदन्ताम्, ब्राह्मणाः, अभिमताः, सन्तु, सन्तः, श्रीमन्तः, सन्तु, भूपाः, च, प्रशमितरिपवः, धर्मनिष्ठाः, पृथिवीम्, पान्तु ॥६१॥

शब्दार्थ—गावः=गायें, क्षीरिण्यः=दूधवाली, सन्तु=हों, वसुती=पृथिवी, सर्वसस्यसम्पन्ना=सभी प्रकार के धान्यों से परिपूर्ण, भवतु=हो, पर्जन्यः=मेघ, कालवर्षी=समय पर वर्षा करने वाला, [भवतु=हो], वाताः=हवायें, सकलजनमनोनन्दिनः=समस्तलोगों के मन को आनन्द देनेवाली, (सन्तः=होती हुयीं) वान्तु= बहें, चलें, जन्मभाजः=जन्म लेने वाले सभी प्राणी, सततम्=सदैव, मोदन्ताम्=खुश रहें, ब्राह्मणाः=ब्राह्मणलोग, अभिमताः=सब के प्रिय, सन्तु=हों, सन्तः=सदाचारी लोग, श्रीमन्तः=धनादिसम्पन्न, सन्तु=रहें, च=और, भूपाः=राजालोग, प्रशमितरिपवः=शत्रुओं का शमन [नाश] करनेवाले, धर्मनिष्ठाः=धर्मपरायण, (सन्तः=होते हुये) पृथिवीम्=पृथ्वी का, पान्तु=पालन करें ॥ ६१ ॥

अर्थ—फिर भी, यह हो—

(भारतवाक्य)

गायें खूब दूध देने वालीं हों । पृथिवी (सर्वविध) धान्यों से परिपूर्ण हो। मेघ समय पर वर्षा करने वाला हो । हवायें सभी के मन को आनन्द देने वाली होती हुयी बहें । जन्म लेने वाले सभी प्राणी सदैव आनन्द प्राप्त करें, सुखी रहें। ब्राह्मण लोग सबके प्रिय बनें । सदाचारी लोग धनवान बनें । राजा लोग शत्रुओं का शमन करने वाले और धर्मपरायण होते हुये पृथिवी का पालन करें ॥ ६१ ॥

(यह कह कर सभी निकल जाते हैं ।)

॥ इस प्रकार 'संहार' नामक दशम अंक समाप्त हुआ ॥

॥ इस प्रकार मृच्छकटिक समाप्त हुआ ॥

—: o :—

टीका—गावः=सौरभेय्यः, क्षीरिण्यः=बहुदुग्धमत्यः, भूमार्थे इनिः, सन्तु=भवन्तु, दुग्धनिष्पन्नघृतादिभिरेवाज्यस्य निष्पादनात् यज्ञोपकारित्वम्, यज्ञेन च मेघादिसमुत्पत्तिः, तया च वृष्टया सस्योत्पत्तिरिति बोध्यम्, तदेवाह—वसुमती=रत्नगर्भा पृथिवी, सर्वसस्यैः=सर्वविधधान्यैः, सम्पन्ना=समृद्धिमती, विविधिशस्यपरिपूर्णेत्यर्थः, भवतु=जायताम्, पर्जन्यः=मेघः, कालवर्षी=अपेक्षितकाले वृष्टिकारकः, भवतु, वाताः=पवनाः, सकलजनमनोनन्दिनः=सकलजनानाम्=समस्तलोकानाम्, मनांसि=चित्तानि, नन्दयन्ति=आनन्दयन्तीति तादृशाः, सन्तः, वान्तु=प्रवहन्तु, जन्मभाजः=उत्पत्तिमन्तः, जाताः प्राणिन इत्यर्थः, सततम्=निरन्तरम्, मोदन्ताम्=हृष्यन्तु, सुखिनो भवन्तु, सन्तः=सज्जनाः, श्रीमन्तः=धनादिसम्पन्नाः, सन्तु=भवन्तु, भूपाः=राजानः, प्रशमिताः=विनाशिताः, रिपवः=शत्रवः, यैस्तादृशाः, तथा, धर्मनिष्ठाः=धर्मपरायणाः पराक्रमिणः धार्मिकाश्च, सन्तः, पृथिवीम्=धरणीम्, स्वपाल्यभूमिमित्यर्थः, पान्तु=रक्षन्तु । दण्ड्यान् दण्डयन् सज्जनान् रक्षन् परिपालयन्त्वित्यर्थः । अनेन प्रशस्तिर्नाम निर्वहण-सन्ध्यङ्गमुपक्षिप्तम् । तदुक्तमादिभरते—'देवद्विजनृपादीनां प्रशस्तिः स्यात् प्रशंसनम् ।' 'आदि-मध्यावसाने च कुर्यान्मङ्गलमि'ति वचनमनुसृत्य नाटकस्यान्ते मङ्गलं विहितमिति बोध्यम् । परिसंख्यालंकारः, स्रग्धरावृत्तम् ॥ ६१ ॥

विमर्श—प्रस्तुत श्लोक इस नाटक का अन्तिम वाक्य है । इसे भरतवाक्य कहा जाता है । इसमें सभी के कल्याण की कामना व्यक्त की जाती है । नाटक की समाप्ति हो जाने पर नट अपनी भूमिका को छोड़कर आचार्य भरत का रूप धारण कर मंगलवाक्य पढ़ता है । इसका विधान नाट्यशास्त्र में है—

'अन्ते काव्यस्य नित्यत्वात् कुर्यादाशिषमुत्तमाम्' ॥६१॥

॥ इस प्रकार जयशङ्कर-लाल-त्रिपाठि-विरचित 'भाव-प्रकाशिका' हिन्दीसंस्कृत-व्याख्या में मृच्छकटिक का दशम अङ्क समाप्त हुआ ॥

यत्प्रसादात् समाप्तेयं व्याख्या 'भावप्रकाशिका' ।
विश्वनाथाय साम्बाय तस्मै भक्त्याहमर्पये ॥

॥ शुभं भूयात् ॥



मृच्छकटिकस्थ-सुभाषितानि

गद्यानि

श्लोकाः	अङ्काः/श्लोकाः	
न शक्या हि स्त्रियो रोद्धुं प्रस्थिता दयितं प्रति ।।	५	३१
न हि कमलं मधुपाः परित्यजन्ति ।	८	३२
न ह्याकृतिः सुसदृशं विजहाति वृत्तम् ।।	९	१६
निवासश्चिन्तायाः परपरिभवो वैरमपरं जुगुप्सा मित्राणां स्वजनजनविद्वेषकरणम् । वनं गन्तुं बुद्धिर्भवति च कलत्रात् परिभवः हृदिस्थः शोकाग्निर्न च दहति सन्तापयति च ।।	१	१५
निशायां नष्टचन्द्रायां दुर्लभो मार्गदर्शकः ।।	४	२१
नृणां लोकान्तरस्थानां देहप्रतिकृतिः सुतः ।।	९	४२
पक्षविकलश्च पक्षी शुष्कश्चतरुःसरश्च जलहीनम् । सर्पश्चोद्धृतदंष्ट्रस्तुल्यं लोके दरिद्रस्य ।।	५	४१
पंचजना येन मारिता अविद्यां मारयित्वा ग्रामो रक्षितः । अबलः क्व चाण्डालो मारितोऽवश्यमपि स नरः स्वर्गं गाहते ।।	८	२
बहुदोषा हि शर्वरी ।	१	५८
भीताभयप्रदानं ददतः परोपकाररसिकस्य । यदि भवति भवतु नाशस्तथापि खलु लोके गुण एव ।।	६	१९
मा दुर्गत इति परिभवो नास्ति कृतान्तस्य दुर्गतो नाम । चारित्रेण विहीन आढ्योऽपि च दुर्गतो नाम ।।	१	४३
य आत्मबलं ज्ञात्वा भारं तुलितं वहति मनुष्यः । तस्य स्खलनं न जायते न च कान्तारगत. विपद्यते ।।	२	१४
यथैव पुष्पं प्रथमे विकाशे समेत्य पातुं मधुपाः पतन्ति । एवं मनुष्यस्य विपत्तिकाले छिद्रेष्वनर्थाः बहुलीभवन्ति ।।	९	२६
यदा तु भाग्यक्षयपीडितां दशां नरः कृतान्तोपहितां प्रपद्यते । तदाऽस्य मित्राण्यपि यान्त्यमित्रतां चिरानुरक्तोऽपि विरज्यते जनः ।।	१	५३
यदि संभाव्यते पापमपापेन च किं मया ।	९	३७
येऽभिभवन्ति साधुं ते पापास्ते च चाण्डाला ।	१०	२२
राहुगृहीतोऽपि चन्द्रो न वन्दनीयो जनपदस्य ।	१०	२०
वरं व्यायच्छतो मृत्युर्न गृहीतस्य बन्धने ।	६	१७
विपर्यस्तमनश्चेष्टैः शिलाशकलवर्ष्मभिः । मांसवृक्षैरियं मूर्खैर्भाराक्रान्ता वसुन्धरा ।।	८	६

श्लोकाः	अङ्काः	/श्लोकाः
सर्वः खलु भवति लोके लोकः सुखसंस्थितानां चिन्तायुक्तः ।		
विनिपतितानां नराणां प्रियकारी दुर्लभो भवति ॥	१०	१५
सस्यलम्पटबलीवर्दो न शक्यो वारयितु—		
मन्यकलत्रप्रसक्तो न शक्यो वारयितुम् ।		
द्युतप्रसक्तमनुष्यो न शक्यो वारयितुं		
योऽपि स्वाभाविकदोषो न शक्यो वारयितुम् ॥	३	२
सुखं हि दुःखान्यनुभूय शोभते घनान्धकारेष्विव दीपदर्शनम् ।		
सुखात्तु यो याति नरो दरिद्रतां धृतः शरीरेण मृतः स जीवति ॥	१	१०
सुजनः खलु भृत्यानुकम्पकः स्वामी निर्धनकोऽपि शोभते ।		
पिशुनः पुनर्द्रव्यगर्वितो दुष्करः खलु परिणामदारुणः ॥	३	१
स्त्रियो हि नाम खल्वेता निसर्गादेव पण्डिताः ।		
पुरुषाणां तु पाण्डित्यं शास्त्रैरेवोपदिश्यते ॥	४	१६
स्त्रीभिर्विमानितानां कापुरुषाणां विवर्धते मदनः ।		
सत्पुरुषस्य स एव भवति मृदुर्नैव वा भवति ॥	८	९
स्त्रीषु रागो न कार्यो रक्तं पुरुषं स्त्रियः परिभवन्ति ।		
रक्तैव हि रन्तव्या विरक्तभावा तु हातव्या ॥	४	१३
स्वात्मापि विस्मर्यते ॥	७	७
हस्तसंयतो मुखसंयत इन्द्रियसंयतः स खलु मनुष्यः ।		
किं करोति राजकुलं तस्य परलोको हस्ते सुनिश्चलः ॥	८	४७



श्लोकानुक्रमणिका



परिशिष्ट

छन्दोविवेचन

छन्द:शास्त्र के अनुसार संस्कृत के प्रत्येक श्लोक में चार पाद या चरण होते हैं। इन छन्दों के दो भेद हैं—(१) वर्णवृत्त और (२) मात्रिक। वर्णवृत्तों में प्रत्येक चरण के वर्णों की गणना की जाती है और मात्रिक छन्दों में प्रत्येक चरण की मात्राओं की गणना की जाती है। वर्णवृत्तों को **वृत्त** और मात्रिक छन्दों को **जाति** कहा जाता है, ये तीन प्रकार के होते हैं—(१) **समवृत्त**—इसके चारों चरणों में वर्णों की संख्या बराबर-बराबर होती है। (२) **अर्धसमवृत्त**—इसमें प्रथम और तृतीय चरण में तथा द्वितीय और चतुर्थ चरण में वर्णों की संख्या समान रहती है। (३) **विषमवृत्त**—इसमें सभी चरणों में समानता नहीं रहती है। इसका प्रयोग कम मिलता है।

गणपरिचय—

वर्णवृत्तों में वर्णों की गणना के लिये 'गण' का उपयोग होता है। एक गण में तीन वर्ण होते हैं। ये गण आठ हैं—(१) यगण, (२) मगण, (३) तगण, (४) रगण, (५) जगण, (६) भगण (७) नगण, (८) सगण। इनमें लघु वर्ण के लिये '।' ऐसा और गुरु के लिये 'ऽ' ऐसा चिह्न प्रयुक्त होता है। किस गण में कौन ह्रस्व और कौन गुरु होता है इनके लिये निम्न सूत्र प्रसिद्ध है—

'यमाताराजभानसलगा।'

इसका स्पष्ट ज्ञान इस श्लोक से होता है—

"आदिमध्यावसानेषु य-र-ता यान्ति लाघवम्।
भजसा गौरवं यान्ति, मनौ तु गुरुलाघवम्॥

जो सामान्यतया दीर्घ=गुरु प्रसिद्ध हैं उनके अतिरिक्त अनुस्वार वाला, विसर्ग वाला तथा संयुक्त अक्षर के पूर्व का लघु वर्ण भी गुरु माना जाता है। पाद के अन्त का लघु वर्ण विकल्प से गुरु माना जा सकता है—

"सानुस्वारश्च दीर्घश्च विसर्गी च गुरुर्भवेत्।
वर्णः संयोगपूर्वश्च तथा पादान्तगोऽपि वा॥"

छन्दों के लक्षणों में यति=विराम का भी निर्देश रहता है।

मृच्छकटिक में प्रयुक्त छन्द—

मृच्छकटिक में विविध छन्दों का सुन्दर प्रयोग किया गया है यहाँ उनका संक्षिप्त परिचय दिया जा रहा है।

(१) अनुष्टुप् या श्लोक—

श्लोके षष्ठं गुरु ज्ञेयं सर्वत्र लघु पंचमम्।
द्विचतुःपादयोर्ह्रस्वं सप्तमं दीर्घमन्ययोः॥

अथवा

पंचमं लघु सर्वत्र सप्तमं द्विचतुर्थयोः।
षष्ठं गुरु विजानीयाच्छेषेषु नियमो न हि॥

इसके चार चरणों में आठ-आठ अक्षर होते हैं। इनमें पंचम लघु और षष्ठ गुरु होता है। द्वितीय और चतुर्थ चरण में सप्तम लघु होता है। शेष के लिये कोई नियम नहीं है। उदा० प्रथम अंक में २, १६, ३४ आदि।

(२) आर्या—

यस्याः प्रथमे पादे द्वादशमात्रास्तथा तृतीयेऽपि।
अष्टादश द्वितीये चतुर्थके पंचदश साऽर्या॥

यह मात्रिक वृत्त है। इसके प्रथम पाद में १२ मात्रायें, द्वितीय में १८, तृतीय में १२ और चतुर्थ में १५ मात्रायें होती हैं। यह छन्द भी सरलतया समझा जाता है। मृच्छकटिक में इसका पर्याप्त प्रयोग है। उदा० प्रथम अंक में ८, ११, ३३ आदि श्लोक हैं।

(३) इन्द्रवंशा—

तच्चेन्द्रवंशा प्रथमाक्षरे गुरौ।

यह वंशस्थ के समान है। इसका प्रथम वर्ण गुरु होता है। यह स्वतन्त्ररूप से नहीं प्रयुक्त है। यह उपजाति के रूप में प्रयुक्त है। प्रथम अंक का ४६ और तृतीय का ७ श्लोक इसका उदा० है।

(४) इन्द्रवज्रा—

स्यादिन्द्रवज्रा यदि तौ जगौ गः।

प्रत्येक चरण में तगण तगण जगण और दो गुरु वर्णों के क्रम से ११ वर्ण होते हैं। उदा० चतुर्थ अंक का १६, पंचम का ४६ और दशम का ११, २१, ४८, ५८ श्लोक हैं।

(५) उपजाति—

स्यादिन्द्रवज्रा यदि तौ जगौ गः। उपेन्द्रवज्रा जतजास्ततो गौ।

"अनन्तरोदीरितलक्ष्मभाजो पादौ यदीयावुपजातयस्ताः।
इत्थंकिलान्यास्वपि मिश्रितासु वदन्ति जातिष्विदमेव नाम।"

इन्द्रवज्रा और उपेन्द्रवज्रा के दो-दो पादों के मिलने पर इसी प्रकार अन्य छन्दों के मिलने पर 'उपजाति' भेद माना जाता है। इस छन्द का पर्याप्त प्रयोग किया गया है। उदा० प्रथम अंक का ३८, ४६, तृतीय अंक का ६, चतुर्थ अंक का १, १२, १५, ३२, पंचम अंक का २१, २९, ४०, ४७, ५२, अष्टम अंक का २७, ३०, नवम अंक का १० २६, और दशम अंक का ६, १६, ४०, ४३ श्लोक।

(६) **उपेन्द्रवज्रा**—

उपेन्द्रवज्रा जतजास्ततो गौ।

इसमें जगण, तगण, जगण के बाद दो गुरु वर्ण होते हैं। यह प्रथम अंक में ६ चतुर्थ में २३ और षष्ठ में ३ श्लोक में है।

(७) **गीति**—

आर्यापूर्वार्धसमं द्वितीयमपि यत्र भवति हंसगते।
छन्दोविदस्तदानीं गीतिंताममृतवाणि भाषन्ते॥

यह आर्या के समान होता है केवल अन्तिम पाद में १५ के स्थान पर १८ मात्रायें होती हैं। यह चतुर्थ अंक के ३४ वें श्लोक में है। इसे 'उद्गाथा' भी कहते हैं।

(८) **पथ्यावक्र**—

युजोश्चतुर्थतो जेन पथ्यावक्त्रं प्रकीर्तितम्।

अनुष्टुप् छन्द के द्वितीय और चतुर्थ चरण में जब चतुर्थ अक्षर के बाद जगण आता है तब यह छन्द होता है। वास्तव में यह अनुष्टुप् का भेद हैं। मृच्छकटिक में इसका प्रचुर प्रयोग है। प्रथम अंक के—२, ५४, ५८, द्वितीय अंक के १२, तृतीय अंक के १६, २४, २५, २७, २८, २९, चतुर्थ अंक के ५, ७, ८, १८, १९, २१, पंचम अंक के ७, १६, ३९, षष्ठ अंक के १७, २६, सप्तम अंक के ६, अष्टम अंक के ६, १६, १७, २१, २८, २९, ३९, नवम अंक के ७, ८, ११, १८, २०, २४, ३०, ३१, ३२, ३३, ३६, ३७, ३८, ३९, ४२, दशम अंक के ५, १७, १८, २३, २६, २७, २८, ३२, ३९, ४१, ४२, ४५, ५०, ५१, ५२, ५६।

(९) **पुष्पिताग्रा**—

अयुजि नयुगरेफतो यकारो युजि च नजौ जरगाश्च पुष्पिताग्रा।

यह अर्धसम वृत्त है। इसके प्रथम और तृतीय चरण में नगण, नगण रगण, यगण—इस क्रम से १२ अक्षर होते हैं। और द्वितीय तथा चतुर्थ चरण में नगण, जगण, जगण, रगण और अन्त में एक गुरु—इस क्रम से १३ अक्षर होते हैं। यह प्रथम अंक के २४, ५६, द्वितीय अंक के ७, तृतीय अंक के १०, २१, २२, चतुर्थ अंक के ४, २७, २८, अष्टम अंक के ४, ८, १५, ३२ और दशम अंक का १३ श्लोक।

(१०) प्रमिताक्षरा—

प्रमिताक्षरा सजससैः कथिता।

इसके पाद में सगण, जगण, सगण, सगण—इस क्रम से १२ अक्षर होते हैं। यह दशम अंक के ५६ श्लोक में हैं।

(११) प्रहर्षिणी—

त्र्याशाभिर्मनजरगा प्रहर्षिणीयम्।

इसके प्रत्येक पाद में मगण, नगण, जगण, रगण और एक गुरु—इस क्रम से १३ अक्षर होते हैं। इसमें ३ और १० पर यति होती है। यह चतुर्थ अंक के २, पञ्चम के ५०, षष्ठम् के १, सप्तम के ८, अष्टम के ४१, नवम के २७ और दशम के २५, ३३, ४७, ४९, श्लोक में है।

(१२) मालभारिणी—

विषमे ससजा गुरू समे चेत् सभरा यैन तु मालभारिणीयम्।

इसे औपच्छन्दसिक भी कहा जाता है। इसमें प्रथम तथा तृतीय पादों में सगण, सगण, जगण और दो गुरु—इस क्रम में ११, ११ अक्षर होते हैं। द्वितीय और चतुर्थ पादों में सगण, भगण, रगण और यगण—इस क्रम से १२, १२ अक्षर होते हैं। यह अर्ध समवृत्त है। यह प्रथम अंक के ३, ५० श्लोक में है।

(१३) मालिनी—

ननमययुतेयं मालिनी भोगिलोकैः।

इसमें नगण, नगण, मगण, यगण, यगण इस क्रम से १५ अक्षर प्रत्येक पाद में होते हैं। ८ और ७ वर्णों पर यति होती है। यह प्रथम अंक के ३१, ५७, चतुर्थ अंक के २०, पंचम अंक के १७, सप्तम अंक के ३, ५, अष्टम अंक के ४२, नवम अंक के १२, ४३, दशम अंक के ३, १२, ३४, ४६ श्लोक में है।

(१४) वंशस्थ—

जतौ तु वंशस्थमुदीरितं जरौ।

इसके प्रत्येक पाद में जगण, तगण, जगण, रगण—इस क्रम से १२ अक्षर होते हैं। यह प्रथम अंक के ९, १०, ५३, तृतीय अंक के ८, १७, पंचम अंक के ३७,

सप्तम अंक के ४, अष्टम अंक के ७, नवम अंक के २५ श्लोक में है। इसे वंशस्थ बिल भी कहा जाता है।

(१५) वसन्ततिलका--

उक्ता वसन्ततिलका त-भ-जा जगौ गः।

इसके प्रत्येक चरण में तगण, भगण, जगण, जगण और दो गुरु—इस क्रम से १४-१४ वर्ण होते हैं। यह छन्द प्रचुर रूपेण प्रयुक्त है। प्रथम अंक के ९, १२, १३, १७, २०, २२, २७, ३५, ४६, तृतीय अंक के ३, ४, ९, १४, १६, चतुर्थ अंक के ६, १४, २६, पंचम अंक के १, २, ४, ८, १३, १५, ३२, ३६, ४२, ४५, षष्ठ अंक के २, अष्टम अंक के २३, २४, २६, नवम अंक के ६, १६, १६, २२, २८, २६, ३४, दशम अंक के ३१, ३४, श्लोक में हैं।

(१६) विद्युन्माला--

मो मो गो गो विद्युन्माला।

इसके प्रत्येक पाद में मगण, मगण और दो गुरु-इस क्रम से ८, ८ अक्षर होते हैं। यह द्वितीय अंक के ८ श्लोक में है।

(१७) वैश्वदेवी--

वाणाश्वैश्छिन्ना वैश्वदेवी ममौ यौ।

इसके प्रत्येक पाद में मगण, मगण, यगण, यगण,--इस क्रम से १२ वर्ण होते हैं। पंचम वर्ण के बाद यति होती है। यह तृतीय अंक के १३ वें श्लोक में है।

(१८) शार्दूलविक्रीडित –

सूर्याश्वैर्यदि मः सजौ सततगाः शार्दूलविक्रीडितम्।

इसके प्रत्येक पाद में क्रमशः मगण, सगण, जगण, सगण, तगण, तगण और अन्त में एक गुरु वर्ण मिलाकर १६ वर्ण होते हैं। इसमें १२ और ७ वर्ण पर यति होती है। इसका पर्याप्त प्रयोग किया गया है। यह प्रथम अंक के १, १४, ३२, ३६ ३७, द्वितीय अंक के १२, तृतीय अक के ५, ११, १२, १८, २०, २३, चतुर्थ अंक के ६, पंचम अंक के ५, ६, १४, १८, २०, २३, २४, २७, ३५, ४३, सप्तम अंक के २, ७, अष्टम अंक के ५, ११, ३८, नवम अक के ३, ४, ५, १४, दशम अंक के ६० श्लोक में है।

(१९) शिखरिणी--

रसैः रुद्रैश्छिन्ना यमनसभलागः शिखरिणी।

इस छन्द के प्रत्येक पाद में यगण, मगण, नगण, सगण, भगण और अन्त में लघु और एक गुरु—इस क्रम से १७-१७ वर्ण होते हैं। इसमें ६ और ११ वर्ण

पर यति होती है। यह प्रथम अंक के १५, पञ्चम अंक के १२, २२, २५, षष्ठ अंक के ४ श्लोक में है।

(२०) सुमधुरा—

म्रौ म्नौ मो नो गुरुश्चेद् हयऋतुरसैरुक्ता सुमधुरा।

इस छन्द के प्रत्येक पाद में मगण, रगण, मगण, नगण, मगण, नगण, और एक गुरु—इस क्रम से १९ वर्ण होते हैं। इसमे ७ और १३ वर्ण पर यति होती है। यह नवम अंक के २१ श्लोक में है।

(२१) स्रग्धरा—

म्रभ्नैर्यानां त्रयेण त्रिमुनि-यतियुता स्रग्धरा कीर्तितेयम्।

इस छन्द के प्रत्येक पाद में मगण, रगण, भगण, नगण, यगण, यगण, यगण, इस क्रम से २१ वर्ण होते हैं। इसमें ७, ७, ७ वर्ण पर यति होती है। सामान्यतया प्रयुक्त छन्दों में यह सबसे बड़ा है। यह प्रथम अंक के १, ४, ४८ और दशम अंक के ५९, ६१ श्लोक में है।

(२२) हरिणी—

नसमरसलागा षड् वेदैर्हयैर्हरिणी मता।

इस छन्द के प्रत्येक पाद में नगण, सगण, मगण, रगण, सगण और लघु तथा अन्त में गुरु—इस क्रम से १७, १७ वर्ण होते हैं। इसमें ६, ४, ७ पर यति होती है। यह चतुर्थ अंक के ३ और नवम अंक के १३ श्लोक में है।

प्राकृत छन्द—

प्राकृत भाषा के विभिन्न रूपों का प्रयोग मृच्छकटिक में हुआ है। इस पर भूमिका में लिखा जा चुका है। प्राकृत के अनेक छन्द भी इसमें प्रयुक्त हैं। इनकी संस्कृतच्छाया भी मूल में दी गयी है। प्राकृतच्छन्दों के विषय में विशेष ज्ञान के लिये 'प्राकृत-पिंगल' आदि ग्रन्थ देखने चाहिये। यहाँ गाथा, आर्या, वैतालीय आदि छन्द प्रयुक्त हैं।

उपसंहार—

ऊपर यह प्रस्तुत किया जा चुका है कि मृच्छकटिक में लगभग २२ प्रकार के संस्कृत छन्दों का और कुछ प्राकृत छन्दों का प्रयोग किया गया है। परिशीलन से यह ज्ञात होता है कि इसके रचनाकार को (१) पथ्यावक्त्र, (२) वसन्ततिलका और (३) शार्दूलविक्रीडित छन्द अधिक प्रिय थे।

—:०:—